राजनीति-शास्त्र

एडी आशीर्वादम्, पी-एच० डी०
प्रधानाध्यापक
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

अनुवादक
गंगा रत्न पाडेय, एम० ए०, एलएल० बी०

संशोधित संस्करण

लखनऊ
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड,
१९५४

अंग्रेजी संस्करण

१	पहला संस्करण	१९३६
२	दूसरा संस्करण	१९४०
३	तीसरा संस्करण	१९४४
४	पुनर्मुद्रण	१९४६
५	पुनर्मुद्रण	१९४८
६	पुनर्मुद्रण	१९४९
७	चौथा संस्करण	१९५०
८	पांचवा संस्करण	१९५२

हिन्दी संस्करण

१	पांचवां संस्करण	१९५३
२	संशोधित पांचवा संस्करण	१९५४

मोनोटाइप १२ पॉइंट में
दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड ने अपने प्रेसमें कम्पोज किया
पायनियर प्रेस, जनता प्रेस और प्रेम प्रिंटिंग प्रेस ने मशीन वर्क किया

संशोधित-संस्करण की भूमिका

'राजनीति-शास्त्र' के प्रथम हिन्दी-सस्करणका जैसा स्वागत पाठको ने किया उसके लिए हम उनके आभारी है। कुछ पाठको ने हमारी प्रार्थना पर ध्यान दिया और अपने सुझाव देकर हमें अनुगृहीत किया है। ऐसे सुझावोमें यह सुझाव प्राय सबका रहा कि 'राजनीति-शास्त्र' की भाषा सरल करनेका प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस सस्करणमें यह प्रयत्न किया गया है। पर भाषाकी सरलताका प्रश्न इतना सरल भी नही है। विवेच्य विषय, विवेचनाका स्तर, मूल-लेखकके साथ औचित्य और पुस्तक का कलेवर—यह चार बातें अनुवादक व प्रकाशकके हाथ-पैर बाँध देती हैं। फिर भी हमारा विश्वास है कि इस सस्करणमें भाषा सरल हुई है।

पिछले सस्करणकी अन्य अशुद्धियोको भी इस सस्करणमें दूर कर दिया गया है। अपने कृपालु पाठको से हमारा निवेदन है कि इस सस्करणके सम्बन्धमें अन्य अपेक्षित सुधारोका सुझाव देनेकी कृपा करे। अगले सस्करणमे हम उन सबको यथोचित रूपमें कार्यान्वित करने का प्रयत्न करेंगे।

—अनुवादक और प्रकाशक

पांचवें संस्करण की भूमिका

'पोलिटिकल थियरी' का यह हिन्दी सस्करण जनताकी सेवा में उपस्थित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। श्री आशीर्वादम् जैसे अधिकारी लेखककी अधिकारपूर्ण-रचनाका हिन्दी रूपान्तर अत्यन्त आवश्यक था। आज राजनीति जन-जीवन पर व्यापक रूपसे छा रही है। आशा है कि सैद्धान्तिक राजनीतिके अध्ययनमें सहायक बनकर 'राजनीति-शास्त्र' व्यावहारिक राजनीतिका मार्ग प्रशस्त और मगलमय बनानेमें समुचित योग देगा।

अनुवाद एक टेढ़ा काम है। एक भाषाकी अभिव्यक्तिकी शक्ति और शैलीको दूसरी भाषा में यथावत् उतार सकना उतना ही असाध्य है जितना एक व्यक्तिकी मन शक्तिको किसी दूसरे व्यक्तिमें प्रतिष्ठित कर सकना। यहा योगबल भी सहायक नहीं बनता। फिर हिन्दीकी पारिभाषिक शब्दावली अभी स्थिर नहीं है। आदर्श-हिन्दीका रूप अभी बहस किये जा रहा है। पारिभाषिक पाठ्य पुस्तकोंके सम्बन्धमें केवल सरल हिन्दी और शुद्ध हिन्दीका ही झगड़ा नहीं हो सकता क्योंकि भाषाको प्रतिपाद्य विषयके अनुकूल बनाना पड़ता है। आज इन विषयोका सामान्य विद्यार्थी जैसी भाषा को मान्य करता है उसका विचार करते

समय हमें यह भी ध्यानमें रखना होगा कि भविष्यमें समूचे भारतकी एक स्थायी भाषा का आधार और रूप क्या-कैसा होगा। आज हमें उसी भाषाकी नीव दृढ करनी चाहिए।

अनुवाद और छपाईका काम बडी तत्परता और तेजीसे करना पडा है। अनुवादकी पाडुलिपि दोहरानेका भी अवसर नही मिला। यद्यपि इस बातका पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है कि यथासम्भव कोई भूल न होने पाये फिर भी हमें आशका है कि हम अपने इस उद्देश्यमें पूर्ण रूपसे सफल नही हो पाये। जो भी भूलें रह गई हो उनके लिए हम पाठकोंसे क्षमा मागते है। अगले सस्करणमें उन सबका सुधार हो जायगा। इस सम्बन्धमें हम पाठकोके सुझावोका स्वागत-सम्मान करेंगे।

—अनुवादक और प्रकाशक

विषय-सूची

राजनीति-शास्त्र का स्वरूप, व्याप्ति और पद्धतियां
(The Nature, Scope and Methods of Political Science)

राजनीति-शास्त्र वह विज्ञान है जिसमें राज्य और शासन-सम्बन्धी समस्याओंका अध्ययन होता है। शास्त्रीय रूपमें पश्चिमके देशोंकी राजनीतिक विचारधाराका प्रारम्भ प्राचीन यूनानके नगर-राज्योंमें हुआ था। पूर्वके लोगोंने राज्य और उससे सम्बन्धित समस्याओं पर यूनानियोंसे भी पहले विचार किया था। पर उनकी राजनीतिक विचारधाराका विकास एक शुद्ध संगठित राजनीति-शास्त्रके रूपमें न हो सका। राजनीति, पुराण और अन्ध-विश्वासका एक सम्मिलित घोल-सा बन गया। धर्म और राजनीति कुछ इस प्रकार घुल-मिल गये कि राजनीतिको एक स्वतंत्र विज्ञानके रूपमें विकसित करनेका प्रयत्न ही न हो पाया। समाज-शास्त्र तो धर्म-शास्त्रका अंग मान लिया गया। राजनीति-शास्त्रको धर्म-शास्त्र, अन्धविश्वास और पुराणोंसे पृथक् करनेका उत्तरदायित्व सर्वप्रथम यूनानियों पर आया। इस प्रकार यूनानियोंने ही सर्वप्रथम राजनीति-शास्त्रको एक शुद्ध और व्यवस्थित विज्ञानके रूपमें विकसित किया। अपनी विचारधारामें एकान्त युक्ति-युक्त (Rational) और सामाजिक दृष्टिकोण रखनेके कारण वह इस कार्यके लिए नितान्त उपयुक्त भी थे।

अपने प्रारम्भिक चिन्तन-कालमें हिन्दुओंने राजपद, ग्राम-गणतंत्र, सरकारके संगठन और शासक तथा शासितके कर्तव्योंके सम्बन्धमें बहुत अधिक सोचा-समझा है। पर उन सबको मिलाकर भी कोई व्यापक राजनैतिक सिद्धान्त नहीं बन पाता। चीनके कन्फ्यूशियस और भारतके कौटिल्य राज्य-सिद्धान्तकी अपेक्षा शासन-कलाके सम्बन्धमें कहीं अधिक चिन्तनशील दिखाई देते हैं।

पारिभाषिक-शब्दावली (Terminology)

राजनीति-शास्त्रका अध्ययन प्रारम्भ करते ही जो कठिनाई हमारे सामने आती है, वह है राजनीति, राजनीति-शास्त्र और तुलनात्मक सरकार जैसे शब्दोंके शुद्ध सटीक अर्थ-बोध की। जब तक इन शब्दोंका शुद्ध अर्थ स्पष्ट न हो जाय तब तक हम राज्य-सम्बन्धी समस्याओंके अध्ययनमें आगे बढ़ ही नहीं सकते। यद्यपि राजनीति-विज्ञानका प्रारम्भ यूनानके प्राचीन इतिहासमें है फिर भी अपने वर्तमान रूपमें वह एक आधुनिक विज्ञान ही है। फलतः अभी इस शास्त्रकी एक निश्चित पारिभाषिक शब्दावली नहीं बन पाई। फिर भी आंग्ल-सैक्सनी देशोंकी अपेक्षा फ्रान्स और जर्मनीमें यह शब्दावली अधिक परिपूर्ण हो गई है।

प्रारम्भिक लेखकोंने समूचे शास्त्र-विज्ञानका बोध करानेके लिए केवल एक 'राजनीति' शब्दका ही प्रयोग किया है। अरस्तूने इस विषयके महान् ग्रन्थका [illegible] नाम है

'पॉलिटिक्स' अर्थात् 'राजनीति'। इस शब्दकी व्युत्पत्ति है 'पोलिस' अर्थात् 'नगर-राज्य' और 'पोलिटिया'। यूनानियोके दृष्टिकोणसे 'पॉलिटिक्स' या राजनीतिमें वह सब कुछ सम्मिलित है, जिसका सम्बन्ध राज्यके जीवनसे है। इस अर्थमें प्रयुक्त होने पर 'राजनीति' शब्द 'राजनीति-विज्ञान' का ही समानार्थी हो जाता है। जेलिनेक, हाजेनडार्फ और सिजविक जैसे एक पीढी पहलेके लेखक आज-कलके प्रचलित 'राजनीति-विज्ञान' शब्दकी अपेक्षा 'राजनीति' शब्दको ही अधिक पसन्द करते है। पर आधुनिक लेखकोमें 'राजनीति' शब्दके ऐसे व्यापक प्रयोगके प्रति स्पष्ट अरुचि है जिसमें राज्य और सरकारसे सम्बन्ध रखने वाले सभी तत्त्वोका विवेचन समा जाय। साधारणत आधुनिक प्रयोगमें 'राजनीति' का अर्थ है

१ राजनीति (Politics)

(१) व्यावहारिक राजनीति, अर्थात् किसी दल-विशेषके नियमन, सचालन, निर्वाचन या नामजदगी (मनोनयन) अथवा किसी पद विशेषके लिए व्यक्ति विशेषकी नियुक्ति आदिमें सफलता पानेका कौशल, और या फिर

(२) शासन-कला अर्थात् सरकारकी नीतिको किसी लक्ष्य-विशेषकी ओर सचालित करनेका कौशल।

सर फ्रेडरिक पोलकने 'राजनीति' शब्दका व्यापक प्रयोग करते हुए उसे दो भागोमें बाटा है

(क) सैद्धान्तिक राजनीति और (ख) व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक राजनीति। सैद्धान्तिक राजनीतिमें उन्होने निम्नलिखितका समावेश किया है

(क) राज्य-सिद्धान्त (Theory of the State),
(ख) शासन-सिद्धान्त (Theory of Government),
(ग) विधान-शास्त्र (Theory of Legislation), और
(घ) कृत्रिम राज्य-व्यक्तित्व-सिद्धान्त (Theory of the State as an artificial person)।

व्यावहारिक राजनीतिमें सम्मिलित है

(क) राज्य—सरकारके वास्तविक स्वरूप या विभेद (The State—actual form of Government),
(ख) सरकार—शासन व सरकारकी कार्य-पद्धति आदि (Governmen —The working of Government Administration etc),
(ग) कानून और विधान-निर्माण—कार्य-प्रणाली व अदालतें आदि (Law and Legislation—Procedure, Courts, etc), और
(घ) राज्य-व्यक्तित्व—कूटनीति, सन्धि-विग्रह और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (The State personified—diplomacy, peace, wa and international dealings)।

सर अर्नस्ट बेन 'राजनीति' की परिहास भरी परिभाषा देते हुए कहते है 'राजनीि कठिनाइयोका आवाहन करने, उन्हे खोज निकालने (भले ही उनका अस्तित्व हो न हो), उनका गलत कारण बताने और फिर उनका गलत हल ढूढ निकालनेकी कला है

सैद्धान्तिक राजनीतिका सम्बन्ध राज्यकी मौलिक समस्याओंसे है, उसका सम्बन्ध न तो किसी सरकार-विशेषके कार्य-कलापोंसे है और न उन साधनोंसे ही जिनके द्वारा किसी राष्ट्र-विशेषके उद्देश्योंकी सिद्धि होती है। इसके विपरीत व्यावहारिक राजनीतिका सम्बन्ध उस वास्तविक कार्य-पद्धतिसे है जिसके द्वारा सरकारें राजनीतिक जीवनके विभिन्न विभागों और विभिन्न संस्थाओंको सक्रिय और सफल बनाती हैं। निस्सन्देह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीतिका यह विभाजन सुविधाजनक और उपयोगी है पर अधिकांश लोग इस सम्बन्धमें 'राजनीति' शब्दकी अपेक्षा 'राजनीति-शास्त्र' शब्दको ही अधिक पसन्द करेंगे।

२ राजनीति-शास्त्र (Political Science)

आधुनिक प्रयोगमें 'राजनीति-शास्त्र' शब्द 'राजनीति' की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक और अर्थपूर्ण है। इसमें राज्य-सम्बन्धी हमारे समस्त ज्ञानका बोध होता है, समूचा राज्य सिद्धान्त इसमें समाहित है। सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक राजनीति दोनों ही इसमें सम्मिलित हैं। सिद्धान्त-पक्षमें राज्यके उद्भव, स्वरूप, उद्देश्य और उपादेयता जैसे प्रश्नोंसे उसका सम्बन्ध है और इस सन्दर्भमें इसे राज्य-सिद्धान्त या राजनीति-दर्शन कहते हैं। व्यावहारिक या प्रयोगात्मक पक्षमें उसका सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओंके संगठन, कार्यों और विभेदोंसे है और वहां इसे तुलनात्मक राजनीति या वैधानिक शासन कहते हैं। राजनीति-शास्त्रकी एक सूत्र-रूपी परिभाषा फ्रांसके विशिष्ट लेखक श्री पॉल जेनेट ने दी है जिनका कहना है कि राजनीति-शास्त्र 'समाज विज्ञानका वह अंग है जो राज्यके मूल-आधार और शासन-सिद्धान्तोंकी विवेचना करता है (That part of Social science which treats of the foundations of the State and the principles of Government)। गेटेलके अनुसार राजनीति-शास्त्र 'राज्यके अतीत स्वरूपका ऐतिहासिक विवेचन है, उसके वर्तमान स्वरूपका विश्लेषण है और उसके भावी आदर्श-स्वरूपका नीति परक राजनीतिक चिन्तन (Politico ethical discussion) है (A historical investigation of what the State has been, an analytical study of what the State is, and a Politico ethical discussion of what the State should be)।'

३. राजनैतिक दर्शन (Political Philosophy)

राज्य-तत्त्व (Phenomenon of the State) के अध्ययनमें भ्रम उत्पन्न करने वाला एक दूसरा शब्द है 'राजनैतिक दर्शन (Political Philosophy)। कुछ अंग्रेज-विचारकोंकी सम्मतिमें राजनैतिक दर्शन राजनीति-शास्त्र (Political Science) का प्रधान अंग है। राजनैतिक दर्शन, दर्शन-शास्त्रकी वह शाखा है जिसमें राज्यके सम्बन्धमें विवेचन होता है। राज्य इस समग्र विश्वका एक अंग है और विश्वका विवेचन दर्शन-शास्त्रका विषय है। इस दृष्टिकोणका मूल इस सिद्धान्तमें है कि दर्शन शास्त्रमें मनुष्यके समस्त ज्ञानका समन्वय है — एकीकरण (union) है और इसलिए राज्य-तत्त्वके अध्ययनको उसका एक उप-विभाग मानना चाहिए। हमारा इस दृष्टिकोणसे मतभेद है, इसलिए कि वर्तमान युग विशेषाध्ययन (Specialisation) का है इस युगमें ज्ञान-क्षेत्रके समन्वय या एकीकरण

(Synthesis or union) की नही उसके विश्लेषण (Analysis) की माग है। अन्य विषयोकी भाति राजनैतिक चिन्तनमें विकास करनेके लिए भी विशेषाध्ययनकी — विभिन्न क्षेत्रोंके सीमा-निर्धारणकी — आवश्यकता है।

अपने ग्रन्थ 'वर्तमान राजनैतिक चिन्तनकी प्रमुख धाराए' — ('मेन करेंट्स इन मॉटर्न पॉलिटिकल थॉट') में श्री जे० एच० हैलोवेल ठीक ही कहते है कि राजनैतिक दर्शन का सम्बन्ध राजनैतिक-सस्थाओसे उतना अधिक नही है जितना उन विचारो और आकाक्षाओमे जो इन सस्थाओंमें सन्निहित है। उन्हीके शब्दोमें 'राजनैतिक दर्शनका सम्बन्ध इस विवेचनसे उतना अधिक नही है कि तथ्य कैसे घटित होते है, जितना इस विवेचनमे कि क्या घटित होता है और क्यो।'

योरोपके लेखकोने प्राय राजनीति-शास्त्र तथा राज्य-शास्त्र या राजनैतिक दर्शनके अन्तरकी ओर सकेत किया है, यद्यपि इस विभेदका स्पष्ट निर्देश कर सकना कठिन है। अपने वर्तमान प्रयोगमें राजनीति-शास्त्र राजनैतिक दर्शनकी अपेक्षा अधिक व्यापक है और उसका अर्थ भी अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित है। 'राजनैतिक दर्शन राज्यके स्वरूप की मूलभूत समस्याओ — नागरिकता, अधिकार और कर्त्तव्यके प्रश्नो तथा राजनैतिक आदर्शोका विवेचन करता है।' एक प्रकारसे यह राजनीति-शास्त्रसे प्राचीन भी है क्योकि उसकी मौलिक मान्यताए राजनीति-शास्त्रका मूल-आधार बनती है। फिर भी यदि राजनैतिक दर्शनको कल्पनात्मक और अस्पष्ट नही बन जाना है तो राजनीति शास्त्रकी विचार-विभूतिका उपयोग उसमें करना ही होगा। राजनीति-शास्त्र और वास्तविक राजनैतिक परिस्थितियोका पारस्परिक प्रभाव एक दूसरे पर निरन्तर पडता रहता है।

दोनोंमें विषय-साम्य होते हुए भी राजनैतिक दर्शनकी अपेक्षा 'राज्य-सिद्धान्त' शब्द बहुधा अधिक ग्राह्य है। 'राजनैतिक-दर्शन' से एक भाव-परक कल्पनात्मक तत्त्व (Abstract and Speculative) का बोध होता है पर 'राज्य-सिद्धान्त' अथवा 'राजनीति-शास्त्र' अत्यधिक स्पष्ट और सुनिश्चित है। न तो राज्य-सिद्धान्त विभिन्न सरकारोंके स्वरूप-सगठनका ही अध्ययन है और न वह विविध सरकारोका तुलनात्मक विवेचन है। यह विषय तो राजनीति-शास्त्रकी उस शाखाके अन्तर्गत है जिसे 'तुलनात्मक राजनीति' कहते है। इसी प्रकार राज्य-सिद्धान्त राज्य अथवा कानूनके ऐतिहासिक विकासका अध्ययन भी नही है। वह राज्यके आदर्श स्वरूप का चित्रण भी नही है और न वह शासन कला अथवा व्यवस्था कौशलका ही अध्ययन है। निस्सन्देह राज्य-सिद्धान्तकी भूमिकाके रूपमे इन सब विषयोका साधारण ज्ञान आवश्यक है पर किसी भी राज्य-विशेषके स्वरूप सगठन अथवा कार्य-कलापोंसे इसका कोई सम्बन्ध नही है। राज्य सिद्धान्त विवेचन करता है राज्यके मूलभूत तत्त्वोका और उसका आधार है राज्यके अतीत और वर्तमान स्वरूपका अध्ययन।

४ राज्य-सिद्धान्त (Theory of the State)

राजनैतिक चिन्तनका महत्त्व (Value of Political Thought)

[illegible] में राजनीति-शास्त्रके अध्ययनका महत्त्व कम करनेकी प्रवृत्ति दिखाई [illegible] राजनीति-शास्त्रके अध्ययनका [illegible] भाव-सूक्ष्म (Abstract)

और व्यर्थका अध्ययन बतलाते है। इस प्रकारके हीन मूल्याकनका कारण है सिद्धान्त-मात्र की खिल्ली उडाने वाली आदत और यह आदत आजके वस्तु-वादी, यान्त्रिक और व्यावसायिक समाजकी एक विशेषता जान पडती है। श्री आइवर ब्राउन के इस कथनसे हम सहमत हैं कि सामाजिक जीवनके वास्तविक महत्त्वके प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते हुए राजनीति-शास्त्र का युक्ति-युक्त अध्ययन सफल भी है और सार-पूर्ण भी।

अपनी पुस्तक 'राजनैतिक चिन्तनका इतिहास'--(हिस्ट्री ऑफ् पोलीटिकल थॉट) में श्री गेटेलने बडी युक्तिपूर्वक राजनीति-शास्त्र के अध्ययनके पक्ष तथा विपक्षमें तर्क सग्रह किये हैं। इन तर्कोकी चर्चा हम सक्षेपमें करेंगे। प्राय यह कहा जाता है कि राजनीति-शास्त्र का वास्तविकताने बहुत कम सम्बन्ध रहता है, व्यवहारमें इसका प्रयोग हो ही नही सकता, कि इसका विचार-क्षेत्र वैधानिक कल्पनाओ और रूढ धाराओ (Absolute concepts) तक ही सीमित है, कि यह अशुद्ध शास्त्र है और विवाद-ग्रस्त प्रश्नोका निश्चित समाधान देनेमें असमर्थ है और यह कि व्यावहारिक राजनीतिके लिए यह कभी-कभी घातक सिद्ध होता है। राजनीति-शास्त्रके विरोधी इमर्सन की इस उक्तिका भी प्रयोग कर सकते हैं कि इस शास्त्रमे 'कुछ भी नवीन, सत्य और सार-पूर्ण नही है।'

ऊपर लिखे आरोपोका खडन करनेके लिए राजनीति-शास्त्रके अध्ययनकी उपयोगिताओकी भी चर्चा आवश्यक है। राजनीति-शास्त्रका अध्ययन राजनैतिक शब्दावलीको सटीक और सुनिश्चित अर्थ देता है और हमारे विचारोको खरा और सुस्पष्ट बनाता है। इससे इतिहासकी व्याख्यामें सहायता मिलती है। वर्तमान राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोको ठीक-ठीक समझनेमें विगत काल (Past) की राजनैतिक विचार-धाराओका ज्ञान बहुमूल्य सहायता देता है। रचनात्मक राजनैतिक उन्नति (Constructive Political Progress) का आधार एक ऐसा व्यापक राजनीति शास्त्र ही है जिसका उपयोग वर्तमान आवश्यकताओ और परिस्थितियोमें किया जा सके। राजनैतिक चिन्तन मनुष्यकी बौद्धिक सफलता (Intellectual achievement) का एक बहुत ऊचा साधन है। और फिर यदि शासन और सरकारका सगठन और विकास मनुष्यकी शक्ति और कल्पना-शक्तिसे सम्भव है तो राजनीति-शास्त्रके अध्ययनसे बढकर अन्य किसी भी विषयका अध्ययन इसमें सफल और सहायक नही हो सकता। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र नितान्त व्यावहारिक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह एक ठोस—व्यावहारिक विषयका सैद्धान्तिक अध्ययन है।

यह आरोप सत्य नही है कि राजनीति-शास्त्र वास्तविक परिस्थितियोंसे बिल्कुल परे है। आवश्यकता है एक सटीक परिभाषा (Accurate Definition) और गम्भीर विश्लेषण की। विवेकपूर्ण राज्य-सचालनाके लिए स्पष्ट और प्राय पत्थर दिलो [illegible] प्रेरणाओ (Intuitions) से कुछ और अधिक सामर्थ्य चाहिए, उसके लिए चाहिए गम्भीर दर्शन (Sound Philosophy) नैतिक मूल्यो और मान्यताओकी एक योजना (Scheme of moral values) और राजनीति-शास्त्र इसमें बडी सहायता [illegible] है। [illegible] राजनीतिका सर्व-प्रथम एक नैतिक आधार (moral task) है। यदि राजनीतिज्ञ कुछ सैद्धान्तिक-विवेचक और क्रिया-दर्शी होना चाहते है तो इसी आधार पर उनके राजनीति-शास्त्रकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी नही है। [illegible]

विवादोंमें भी इससे मतैक्य भले ही न हो सके पर कमसे कम, पारस्परिक सम्मान और सहनशीलता तो उत्पन्न होती ही है। और यदि यह सत्य है कि जहा व्यवहार-पक्ष है, वहा उसका सिद्धान्त-पक्ष भी होना चाहिए तो व्यावहारिक राजनीतिके लिए राजनीति-शास्त्र का अध्ययन नितान्त उपयोगी है।

राजनीति-शास्त्रकी व्यापकता (Scope of Political Science)

प्रोफेसर गुडनॉउ का कहना है कि राजनीति-शास्त्र तीन स्पष्ट विभागोमें बट जाता है

(१) राज्येच्छाका प्रकाशन (The expression of the State will),
(२) प्रकाशित राज्येच्छाका विषय-वस्तु (The contents of the State will as expressed), और
(३) राज्येच्छाका कार्यान्वय (The execution of the State will)।

प्रथम विभागमें राज्य-सिद्धान्त और वह सभी विधान-बाह्य परम्पराए (Extra-legal customs) और सस्थाए सम्मिलित रहती है जो किसी देशकी राजनैतिक पद्धतिको प्रभावित करती है। दूसरा विभाग वस्तुत विधानका ही पर्याय है। तीसरे विभागमें शासन व्यवस्थाके सही सिद्धान्तोंका निर्धारण और उनका व्यावहारिक प्रयोग सम्मिलित रहता है।

सक्षेपमें राजनीति-शास्त्रके सम्बन्धमें प्रोफेसर गुडनाउकी धारणा कुछ सकीर्ण-सी है। उनके विवेचनमें राज्यके स्वरूप और उसकी विशेषताओ तथा अधिकारो और कर्त्तव्योंके पारस्परिक सम्बन्ध जैसे प्रश्नोको कोई स्थान नही मिल पाता।

राजनीति-शास्त्रका अन्य शास्त्रोंसे सम्बन्ध

राजनीति-शास्त्र ही एक ऐसा अकेला शास्त्र नही है जिसका सम्बन्ध मनुष्यके सामाजिक जीवनसे हो, और इसीलिए वह अन्य शास्त्रोसे निरपेक्ष भी नही है। मानव-मात्रके पारस्परिक सम्बन्धोंका विवेचन करने वाले अनेक शास्त्रोमें से एक होनेके कारण अन्य सामाजिक शास्त्रोसे इसका गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए पॉल जेनेट का कहना है कि राजनीति शास्त्रका 'गहरा सम्बन्ध है अर्थशास्त्रके साथ, विधानके साथ—चाहे वह प्राकृतिक विधान हो और चाहे सिद्ध या विध्यात्मक विधान (Law, either natural or positive) जिनका विवेच्य विषय है नागरिकोंके पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र, इतिहासके साथ, जो उसके लिए आवश्यक तथ्य सुलभ बनाता है, दर्शन-शास्त्रके साथ और विशेषकर नीति-शास्त्रके साथ जिससे उसे अपने कुछ सिद्धान्त प्राप्त होते है (२३,२६)'।

१ राजनीति-शास्त्र और इतिहास (Political Science and History)

इन दोनो विद्याओमें बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री सीलेने कहा है 'बिना राजनीति-शास्त्रके इतिहास निष्फल है और बिना इतिहासके राजनीति-शास्त्र निर्मूल है (Politics without History has no root, History without politics has no fruit)। उन्हीके शब्दोंमें 'इतिहासके उदार प्रभावसे वचित रहकर राजनीति-शास्त्र बर्बर हो जाता है और राजनीति-शास्त्रके साथ अपना सम्बन्ध भुला देनेसे इतिहास कोरमकोर भाव-साहित्यमात्र (Mere literature) रह जाता है। इतिहास

राजनीति-शास्त्रके लिए आधार-भूत सामान्य तथ्य संग्रह करता है। श्री सीले के अनुसार इतिहास और राजनीति-शास्त्र अन्ततोगत्वा एक सम हो जायेंगे। पर ऐसा होना यदि असम्भव नहीं तो कठिन और असंगत अवश्य जान पडता है। यद्यपि दोनो विद्याएं एक दूसरेकी पूरक और अन्योन्याश्रित (Interdependent) है फिर भी उनमें कुछ मौलिक अन्तर है

(क) विवेचना-पद्धतिका अन्तर—इतिहास प्रबन्धात्मक होता है और इसलिए उसमें घटनाएं काल-क्रमके अनुसार दी जाती है। इसके विपरीत राजनीति-शास्त्र में केवल उन्ही घटनाओंको लिया जाता है जिनका राजनीतिके विकाससे सम्बन्ध होता है। राजनीति-शास्त्रकी पद्धति चिन्तनमूलक है। इतिहास द्वारा प्रस्तुत सामग्रीका उपयोग करते हुए यह शास्त्र सामान्य सिद्धान्तो और विधानोंकी खोज करता है।

(ख) व्यापकताका अन्तर (Difference in Scope)—राजनीति-शास्त्रकी अपेक्षा इतिहासका क्षेत्र अधिक व्यापक है। इतिहासमें आर्थिक, धार्मिक और सैनिक आदि सामाजिक जीवनके सभी पहलुओं पर विचार-वर्णन रहता है, पर राजनीति-शास्त्रको इन सब विषयोंमे वहीं तक रुचि रहती है, जहा तक राज्यके स्वरूप और राजनैतिक नियमनके विकास (Development of Political Control) पर इनसे कुछ प्रकाश पडता है।

(ग) उद्देश्यका अन्तर (Difference in their End)—इतिहास राजनीति-शास्त्रकी अपेक्षा कुछ कम दार्शनिक विषय है। इतिहासका सम्बन्ध ठोस तथ्योंसे रहता है, जब कि राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध रहता है आदर्शो और सूक्ष्म प्रकारान्तरो (Abstract types) से। राजनीति-शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है राज्यका आदर्श स्वरूप, जब कि इतिहासका प्रतिपाद्य है राज्यका अतीत और वर्तमान रूप।

तो निष्कर्ष यह हुआ कि राजनीति-शास्त्रको इतिहासकी सामग्रीका उपयोग करना होता है उसीका अतिक्रमण कर जानेके लिए (To transcend it)। इतिहासकारका कार्य नैतिक निर्णय देना नही, पर राजनीति-शास्त्रके विद्वान्को ऐसे निर्णय देने ही होते है और इसी क्षेत्रमें राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्रका सहगामी बन जाता है और अर्थ-शास्त्र तथा समाज-शास्त्रसे अलग हो जाता है।

लॉर्ड ग्राउनका कहना है कि 'राज्य-विज्ञान इतिहास और राजनीतिके मध्यकी—अतीत और वर्तमानके बीचकी चीज है। अतीतसे—इतिहाससे तथ्योंका संग्रह करके वर्तमान पर वह उसी सामग्रीका प्रयोग करता है।'

२ राजनीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र (Political Science and Economics)

राजनीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्रका बड़ा गहरा सम्बन्ध है। दोनोंका एक दूसरे पर काफी प्रभाव पडता है और दोनोंका विषय-क्षेत्र भी कुछ मिला जुला है। सम्पत्तिका उत्पादन और उसका समाज में बटवारा राज्यके विधानोंसे प्रभावित होता है। राज्यके समस्त आर्थिक क्रिया-कलाप राज्यके कानूनों द्वारा निर्धारित विधि-विधानोंके अनुसार ही हो पाते हैं। इसी प्रकार राजनैतिक प्रगति और राजनैतिक आन्दोलनोंपर आर्थिक कारणोंका गहरा प्रभाव पडता है। राजनैतिक परिस्थितियों और विचारोंका आर्थिक जीवन पर प्रभाव पडता है। वर्तमान राज्यमें हुए अत्यन्त महत्वपूर्ण राजनैतिक

प्रश्नोका सीधा मौलिक सम्बन्ध अर्थ-शास्त्रसे भी है—जैसे प्रशुल्क-विधान (Tariff laws), श्रमिक-विधान (Labour legislation) और शासन-स्वामित्व (Government ownership) की समस्याए। दोनों विद्याओका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि एक शती (Century) पहलेके वैज्ञानिक लेखक अर्थ-शास्त्रको राजनीति-शास्त्रकी ही एक शाखा मानते थे,—अर्थ-शास्त्रका नाम ही राजनैतिक अर्थ-शास्त्र (Political economy) रख लिया गया था। अठारहवी शती तक अर्थ-शास्त्र राजनीतिज्ञताका एक अग माना जाता था।

यद्यपि दोनो शास्त्रोका इतना नजदीकी सम्बन्ध है, फिर भी दोनोमें कुछ मौलिक अन्तर है। ऑइवर ब्राउनका कहना है कि अर्थ-शास्त्रका सम्बन्ध वस्तुओंसे—सम्पत्तिसे है और राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध व्यक्तियोसे—समाजसे है, एक का सम्बन्ध भावो और दामो (Prices) से है और दूसरेका सम्बन्ध मान और महत्त्व (Values) से। अर्थ-शास्त्रका सम्बन्ध व्यक्तियोसे यदि है भी तो उनका कोई अपना स्वत महत्त्व या उद्देश्य (End in themselves) अर्थ-शास्त्रमें नही है। अर्थ-शास्त्रमें व्यक्तियोका महत्त्व उन वस्तुओंके नाते हैं जिन्हें वह उत्पन्न करते, बेचते और उपयोगमें लाते हैं—अर्थात् उत्पादक, विक्रेता और उपभोक्ताके रूपमें। इसी भाति वस्तुओका—सम्पत्तिका महत्त्व राजनीति-शास्त्रमें भी है पर वहा इनका विचार केवल इस नाते और उतने ही अशमें होता है जितना कि इनका सम्बन्ध मनुष्योसे और आचार-नीतिके मानदडोसे है। यही कारण है कि राजनीति शास्त्र एक सैद्धान्तिक आदर्श-परक (Normative science) विज्ञान हो जाता है जब कि अर्थ-शास्त्र एक व्याख्यात्मक विज्ञान (Descriptive science) के रूपमें ही रह जाता है। किसीने विनोद भरे ढगसे ठीक ही कहा है कि अर्थ-शास्त्री वह व्यक्ति है जो दाम तो सब वस्तुओंके जानता है पर मूल्य या महत्त्व एक का भी नही।

इस युगका यह एक शुभ सकेत है कि अर्थ-शास्त्र भी उत्तरोत्तर रूपमें एक आदर्श-परक सैद्धान्तिक विज्ञान (Normative science) बनता जा रहा है और केवल सम्पत्तिके उत्पादनका ही विवेचन न करके उसके उचित वितरणका भी विवेचन करने लगा है।

३ राजनीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र (Political Science and Sociology)

जो स्थान दर्शन-शास्त्रका मानसिक विज्ञानोमें है, वही स्थान समाज-शास्त्रका सामाजिक विज्ञानोमें है। दोनो हीका उद्देश्य सम्बन्धित (Related) विविध विषयोकी विवेच्य-सामग्रीका एकीकरण है। इस प्रकार दोनो हीकी एक अपनी विशेषता है सार्वभौम व्यापकता। राजनीति-शास्त्र समाज-शास्त्रकी अपेक्षा सकीर्ण है और साधारणतया समाज-शास्त्रका एक उपाग ही माना जाता है। समाज-शास्त्र तो मौलिक, सामाजिक विज्ञान है। समाज-शास्त्रका क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है कि आधुनिक लेखक उसका अध्ययन-क्षेत्र सामाजिक जीवनके कुछ विशेष पहलुओ तक ही सीमित कर देना उचित समझते हैं राजनैतिक पक्षको अलग करके।

(ख) अपने व्यापक अर्थोंमें समाज-शास्त्र समाजके समस्त स्वरूपो और पक्षोका अध्ययन है, जब कि राजनीति-शास्त्रमें केवल राज्य और शासन व सरकारका अध्ययन किया जाता है। इसी बातको हम दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते है कि समाज-शास्त्र

मानवके समस्त सामाजिक सम्बन्धोंकी विवेचना करता है जब कि राजनीति-शास्त्र केवल राजनैतिक सम्बन्धोंकी विवेचना करता है। राज्यकी प्रारम्भिक अवस्थाओंके सम्बन्धमें यह भले ही सत्य न हो पर वर्तमान राज्यके सम्बन्धमें यह नितान्त सत्य है। अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें राज्य एक राजनैतिक संस्थाकी अपेक्षा एक सामाजिक संस्थाके रूपमें अधिक था। गिल्क्राइस्ट के शब्दोंमें. 'समाज-शास्त्र समाजका विज्ञान है, राजनीति-शास्त्र राज्यका अथवा राजनैतिक समाजका विज्ञान है। समाज-शास्त्रमें मनुष्यका एक सामाजिक प्राणीके रूपमें अध्ययन होता है और चूंकि राजनैतिक-संगठन एक विशेष प्रकारका सामाजिक संगठन है इसलिए राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्रकी अपेक्षा एक अधिक विशिष्ट शास्त्र है।' अथवा जैसे श्री कोनेनवर्ग ने कहा है, 'जबकि समाज-शास्त्रमें समाजके विभिन्न वर्गों और संघोंके संघठन और कार्यकलापोंका विवेचन होता है, राजनीति-शास्त्रका विवेच्य विषय एक विशिष्ट-संघ अर्थात् राज्य होता है।'

(ख) समाज-शास्त्र (Sociology) केवल संगठित समुदायोंकी ही विवेचना नहीं करता, वह असंगठित समुदायोंका भी अध्ययन करता है। पर राजनीति-शास्त्रका सम्बन्ध केवल संगठित समाजसे ही रहता है। वह केवल ऐसे समुदायोंका ही अध्ययन करता है जिन पर राजनैतिक संगठनका प्रभाव पड चुका होता है। इस प्रकार समाज-शास्त्रकी अपेक्षा राजनीति-शास्त्रका जन्म बादमें हुआ है।

(ग) समाज-शास्त्र नागरिकोंके वैधानिक तथा विधियामी (Legal) या शक्ति-साध्य (Coercive) सम्बन्धोंके साथ-साथ परम्पराओं, आचारों (Customs, manners) तथा धर्म और आर्थिक जीवनके विकासका भी अध्ययन करता है। राजनीति-शास्त्रमें केवल प्रथम विषय—वैधानिक तथा शक्ति-साध्य सम्बन्धों (Legal or coercive relationships)—की ही विवेचना होती है।

(घ) राजनीति-शास्त्रमें मनुष्यके जान बूझ कर सायास (Conscious) किए हुए कार्योंका ही अध्ययन किया जाता है, समाज-शास्त्रमें इनके साथ-साथ अनजानमें अनायास किए गए कार्योंका भी विवेचन होता है।

(ङ) राजनीति-शास्त्रका प्रारम्भ-बिन्दु (Starting point) या प्रारम्भ ही इस धारणाके साथ है कि मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है। समाज-शास्त्र इस धारणासे पहलेकी स्थिति तक दृष्टि डालता है और इस बातकी विवेचना करता है कि मनुष्य कैसे और क्यों राजनैतिक प्राणी बन गया।

(च) समाज-शास्त्र केवल इस बातका अध्ययन करता है कि समाजमें क्या हो चुका है और क्या हो रहा है [illegible] क्या होना चाहिए, [illegible] वह नहीं करता। राजनीति-शास्त्र [illegible] एक वस्तु इस प्रश्नका विवेचन करता है कि क्या किया जाना चाहिए।'[1]

[1] इसके विपरीत है हैरिस का मत, जिसका उल्लेख [illegible] ने दिया है। उनका कहना है [illegible] समाज-शास्त्र [illegible] स्थान पर सारे तथ्यों और पृथक् [illegible] स्थान पर [illegible] नहीं देता, [illegible] ही भिन्न-भिन्न [illegible] है कि [illegible] नहीं है [illegible] आदर्श [illegible] हमारे [illegible] हैं।

राजनीति-शास्त्रमें राजनैतिक व्यवस्थाका विश्लेषण विवेचन होता है नीति या आचार-शास्त्र (Ethics) में नैतिक व्यवस दोनो ही में न्याय-अन्याय, उचित और अनुचितका विचार है। दोनोका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि प्लैटो राजनीति को आचार या नीति-शास्त्रकी ही एक शाखा मानते थे। धारणा थी कि राज्यको चाहिए कि वह अपने नागरि सद्वृत्तियोमें दीक्षित करे। प्लैटो की विचारधारास अरस्तू (Aristotle) की प्रधान प्रगति (Ca advance) इस बातमें मानी जाती है कि उन्होने राज शास्त्र और आचार-शास्त्रको अलग-अलग कर दिया। पर यह पृथक्करण भी तात्विक विभाजन (Substantial separation) न होकर अधिकाशमें व्याख्या-पद्ध रीति (Methodology) का ही विभाजन सिद्ध हुआ। अरस्तू भी राजनीति- और आचार-शास्त्रमें परस्पर बहुत नजदीकका सम्बन्ध मानते है और उन्हें भ स्वीकार है कि राजनैतिक समस्याओ पर मनुष्यके परम नैतिक विवेकका प्रभाव उनकी सम्मतिमें भी राज्यका उद्देश्य और उसकी उपादेयता सार्वजनिक कल्याण सुन्दर जीवनमें है। माकियावेली (Machiavelli) पश्चिमके पहले महान् लेख जिन्होने राजनीति-शास्त्रको स्पष्टरूपमें नीति-शास्त्र से अलग कर दिया। अनुसार धर्म और शीलाचार (Religion and Morality) न केवल र नियामक (Masters) नही है बल्कि वह विश्वसनीय पथ-निर्देशक भी नही है केवल उपयोगी सेवक और घटक या एजेंट-मात्र है।

४. राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्र या नीति-शास्त्र (Political Science and Ethics)

आधुनिक विचारधारा सामान्यत राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्र में घ सम्बन्ध बनाए रखनेके पक्षमें है।[1] लार्ड ऐक्टन तो यहा तक कहते है कि 'इस व खोज व विश्लेषण कि सरकारें क्या निश्चित-निर्धारित करती है (Prescribe) भी महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वका प्रश्न तो यह है कि सरकारोको क्या कैसा निर्धारित चाहिए।' एक दूसरे लेखकका मत है कि राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्रको करना दोनो हीके लिए घातक है। आचार-शास्त्र से अलग होकर राजनीति- बालूकी अस्थिर नींव पर टिकनेकी कोशिश करता है, और आचार-शास्त्र राजनीतिसे होकर सकीर्ण और भाव-सूक्ष्म हो जाता है। आइवर ब्राउन का मत है कि राजन शास्त्र और आचार-शास्त्रके बीच परिमाणका—मात्राका अन्तर है न कि प्रकार गुणका,—क्योकि 'राजनीति आचार-शास्त्रका ही व्यापक स्वरूप है।' और वह कहते है 'आचार-शास्त्र राजनीति-शास्त्रके बिना अपूर्ण है क्योकि मनुष्य सामाजिक जीव है और नितान्त एकाकीपनमें वह रह सकता ही नही, राजनीति-श आचार-शास्त्रके बिना व्यर्थ है, क्योकि उसके अध्ययन और उसकी सफलताका मूल आ हमारी नैतिक मानदण्डोकी व्यवस्था—न्याय-अन्याय, उचित और अनुचितकी हम धारणाए।

[1] ... जो बात नैतिक दृष्टिसे अनुचित है वह कभी राजनैतिक दृ ... नहीं सकती।

राजनीति-शास्त्रको महात्मा गाधीकी एक शाश्वत देन है और वह है राजनीतिके अध्यात्मीकरणका उनका आग्रह अर्थात् उनका यह आग्रह कि मनुष्यके सामाजिक जीवन में सत्य, अहिंसा, प्रेम और अपरिग्रह जैसे नैतिक और आध्यात्मिक नियमोका पालन हो। राज्यकी उपादेयता (Utility) का अन्तिम निर्णय इसी बातसे हो पाता है कि नैतिक उद्देश्यो और लक्ष्योकी पूर्ति उससे कहा तक हुई। इस प्रकार आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्रके आदर्शोमें सामजस्य होना ही चाहिए। फिर भी दोनो शास्त्रोकी विषय-सामग्रीमें स्पष्ट अन्तर है। कैटलिनका कहना है कि नीति-शास्त्रसे एक राजनीतिज्ञ यह सीखता है कि अनेक रीतियो और मार्गोमेंसे कौन वाछनीय और ग्राह्य है और राजनीति-शास्त्रसे वह यह सीखता है कि कौन सुकर और साध्य है।

४. राजनीति-शास्त्र और मनोविज्ञान (Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान, जैसा हम आज उसे जानते है, अपेक्षाकृत रूपमें एक नवीन विज्ञान है और उसके समर्थक व पोषक मनुष्यके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनके हर पहलूमें मनोवैज्ञानिक रीतियोका प्रयोग करनेका प्रयत्न कर रहे है। श्री ई० बार्कर ने ठीक ही कहा है 'मनुष्यके क्रिया कलापोकी गुत्थी सुलझानेमें मनोवैज्ञानिक सकेतोका प्रयोग आजकलका एक फैशन हो गया है। यदि हमारे पूर्वज जैविकीय दृष्टिकोणसे (बॉयलॉजिकली) सोचते थे तो अब हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे सोचते है।' इसमें तो कोई सन्देह नही है कि आजकल राजनीतिमें जिस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणके प्रयोग पर इतना आग्रह किया जा रहा है वह है अत्यन्त उपादेय। यह कहा जा सकता है कि राजनीति-शास्त्र बहुत समय तक दर्शन-शास्त्रके प्रभावमें रहा है और मनुष्यके व्यवहार और स्वभाव-सम्बन्धी तथ्योकी ओर उचित ध्यान नही दिया गया। अब हमें 'अपने मस्तिष्कको स्वय अपने निरीक्षण द्वारा स्फूर्ति और सचित-सम्पन्न बनानेकी' जरूरत है। जब तक हम यह न समझले कि मनुष्य व्यक्ति रूपमें और समाजके सदस्यके रूपमें विभिन्न प्रेरक और उद्दीपक परिस्थितियोके प्रभावमें किस प्रकार व्यवहार करता है, तब तक राजनीति-शास्त्रके अध्ययनमें हम बहुत अधिक प्रगति नही कर सकते। यदि मनुष्यके स्वभावको ठीक-ठीक समझना है तो फिर प्रकृति, प्रवृत्ति, अनुकरण और सकेत (Habit and instinct, imitation and suggestion) जैसे मानव-स्वभावके तत्त्वोको भी समझनेकी जरूरत पडेगी। 'किसी भी सरकारको स्थायी और वस्तुत जनप्रिय बननेके लिए यह जरूरी है कि वह उन लोगोके मानसिक विचारो और नैतिक भावनाओंको प्रतिबिंबित करे जो उसके अधिकार-क्षेत्रमें है', सक्षेपमें, लास्कीके शब्दोमें सरकारको 'जातिके मानसिक-विधान के अनुकूल होना चाहिए—दोनोमें सामजस्य होना चाहिए (२८,३८)। जन-मनोविज्ञान, दलित-वर्गका मनोविज्ञान और सम्मान-भावना जैसे मानव-स्वभावके तत्त्वोके अध्ययनसे हमें योरोपमें होने वाली हालकी घटनाओंके समझनेमें काफी सहायता मिल सकती है।

साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि राजनीति-शास्त्रमें मनोविज्ञानके महत्त्वको बहुत अधिक बढा-चढाकर कर जाना भी आसान है। श्री ई० बार्कर ने अपनी पुस्तक इगलैड का राजनैतिक-चिन्तन स्पेंसर से आज तक (पॉलिटिकल थॉट इन इगलैड स्पेंसर टु प्रेजेंट डे) में मनोवैज्ञानिक रीतिकी उपयोगिताकी स्पष्ट सीमा निर्धारित किया

(१) मनोवैज्ञानिक वस्तुओका मूल्याकन न करता है और न कर सकता है, वह महत्त्व और मानदडकी भाषामें नही सोचता। मूल्याकन तो नीति-शास्त्रका काम है। मनोविज्ञान वस्तुओके यथावत् रूपसे सम्बन्ध रखता है और नीति-शास्त्र उनके आदर्श-रूपसे। इसलिए राजनीति-शास्त्रको रचनात्मक सहायताके लिए आचार-शास्त्रकी ओर झुकना चाहिए न कि मनोविज्ञानकी ओर।

(२) मनोविज्ञान सभ्य जीवनकी व्याख्या असभ्य प्रवृतियोकी शब्दावलीमें करना चाहता है—जो उच्चतर है उसकी व्याख्या निम्नतर माध्यमसे करनेका प्रयास करता है। यह सही-सही विकासकी पद्धति नही मालूम होती। सही ढग तो यह होता कि जो निम्नतर हो उसकी व्याख्या उच्चतर माध्यमसे की जाय। मनुष्य बन्दरका विश्लेषण करता है न कि बन्दर मनुष्यका। आजके सभ्य जीवनकी व्याख्या प्रागैतिहासिक कालके जीवनकी परिस्थितियोंसे करना युक्ति सगत नही जान पडता। युक्ति और तर्क चेतन-अध्याहार या सायास अनुमिति (Conscious inference) न होनेसे कुछ बदल नही जाते। प्रकृति, प्रवृत्ति, सकेत और अनुकरण है सही पर इनका अस्तित्व मनुष्यकी बुद्धिके नाते है। कोई भी बात आदिकालीन होनेसे ही अन्तिम बात नही हो जाती—आदि रूपमें होनेसे ही सर्वश्रेष्ठ रूपमें नही हो जाती।

(३) मैकडूगल जैसे विख्यात मनोवैज्ञानिकने उन प्रवृत्तियोके मूल उद्गमका पूरा वर्णन किया है जो समाजमें काम करती है, पर वह यह नही दिखा पाये कि समाजके भीतर उन प्रवृत्तियोका सचार होता कैसे है। 'लगता है कि वह एक ऐसी यात्राकी भारी-भरकम तैयारी करते है जिस पर वह एक कदम भी कभी आगे नही बढाते।' सभी [illegible] मनोवैज्ञानिक तथ्योका सकलन कर लेनेके बाद भी एक मौलिक प्रश्न यह रह जाता है कि आखिर इन सब तथ्योका किया क्या जाय? और इस प्रश्नके सम्बन्धमें मनोविज्ञान मौन है।

(४) रैटलिनके अनुसार मनोविज्ञानका सम्बन्ध मानसिक क्रियाओसे है और उनका अध्ययन व्यक्तिके मन-मस्तिष्कको ध्यानमें रखकर, उसीके सम्बन्धमें हो सकता है। राजनीति-शास्त्रका विषय है प्रवृत्तिसे उत्पन्न होने वाला या इच्छा-जनित सम्बन्ध-क्षेत्र (Impulsive or willed relations), अर्थात् राजनीति-शास्त्रमें व्यक्तिका [illegible] रूपमें नही, सामाजिक जीवके रूपमें अध्ययन होना है।

६ राजनीति-शास्त्र और विधान या कानून (Political Science and Law)

राज्य एक सामाजिक अनुबन्ध और वैधानिक सस्था दोनो ही है। इसलिए राज्यकी सागोपाग-व्याख्यामें इन दोनो ही दृष्टिकोणोका समावेश करना होगा। वैधानिक दृष्टिकोणसे राज्य एक व्यक्ति है इस अर्थमें कि वह भी अधिकारो और कर्त्तव्योका विषय है। राज्य द्वारा भी और राज्यके ऊपर भी अदालतोमें मुकदमे चलाये जा सकते है। परिभाषाके रूपमें इसी बातको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि 'राज्य किसी निश्चित भू-खडमें बसने वाले मनुष्योका सस्थान (Corporation) है जिसे शासनके [illegible] अधिकार और शक्ति प्राप्त है (१६)।

[illegible] परिभाषाके रूपमें कानूनकी—विधानकी विद्या कहा जा सकता [illegible] विधान-शास्त्र राजनीति-शास्त्रकी ही एक शाखा है, फिर भी अपनी

व्यापकताके कारण और अपने विशिष्ट पारिभाषिक स्वरूपके कारण उसका अध्ययन एक पृथक् शास्त्रके रूपमें होता है।

संविधान-शास्त्र राज्यके विभिन्न अंगोकी परिभाषा व सीमाका निर्धारण करता है, उनके पारस्परिक सम्बन्धो तथा राज्य और व्यक्तिके सम्बन्धोको निश्चित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान राज्योंके एक दूसरेके साथ पारस्परिक सम्बन्धोका नियमन करता है। स्टोइक[1] के आत्म-निग्रहके सिद्धान्त और रोमके न्याय-शास्त्रने पाश्चात्य विधान-शास्त्रके विकासमें बहुत अधिक सहायता दी है। श्री हैलोवेल का कहना है कि स्टोइक के आत्म निग्रह-परक दार्शनिक सिद्धान्तने पाश्चात्य सभ्यताको विश्व-बन्धुत्व (Universal brotherhood) और विवेक-विधान या बुद्धि-परक सार्वभौम विधान (Universal law of reason) को महान देन दी है। उन्हीका कथन है कि रोम वालोंके विचारानुसार राज्य एक वैधानिक साझेदारी है पर ईसाई मतके अनुसार पारस्परिक प्रेमजन्य साझेदारी है।

७ राजनीति-शास्त्र और भूगोल (Political Science and Geography)

मनुष्य पर उन भौतिक परिस्थितियों और भौगोलिक दशाओंका काफी प्रभाव पड़ता है जिनके बीच वह रहता है। किसी देशके जलवायु प्राकृतिक विभागों और स्थानीय विशेषताओंके उस प्रभावको बढ़ा चढ़ाकर भी आसानीसे बताया जा सकता है जो वहा के जातीय चरित्र संस्थाओं तथा सिद्धियों, सफलताओं पर पड़ता है। यद्यपि मनुष्यके जीवनमें इन बाहरी परिस्थितियोंका एक महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि सभ्य मनुष्य प्रकृतिके हाथोंका एक निष्क्रिय साधनमात्र नहीं है। निम्नकोटिके जीवोंकी भांति वह प्रकृतिका अन्ध-अनुकरण नहीं करता, इसके विपरीत अपनी बुद्धि और दूरदर्शिताके बल वह प्रकृतिको ही अपने प्रयोजनों और उद्देश्यों (Purposes) के अनुकूल बना लेता है।

लोगोंके जातीय चरित्र और राजनैतिक संस्थाओं पर पड़ने वाले भौगोलिक प्रभावों का विचार करने वाले प्रारम्भिक लेखकोंमें से अरस्तू एक है। आधुनिक लेखकोंमें से इस विषय पर विचार करने वाले एक लेखक हैं सोलहवीं शतीके श्री बॉडिन। उनके बाद रूसो ने सरकारके विविध भेदों तथा जलवायुके बीच रहने वाले पारस्परिक सम्बन्धका विश्लेषण किया। उन्होंने यह परिणाम निकाला कि स्वेच्छाचारिता या तानाशाही उष्ण जलवायुके लिए नितान्त स्वाभाविक है बर्बरता शीत जलवायुके लिए और अच्छी सुसम-राजपद्धति (Good polity) समशीतोष्ण जलवायुके लिए स्वाभाविक है। रूसो का यह भी मत था कि छोटे-छोटे देशोंके लिए प्रजातन्त्रीय पद्धति सर्वश्रेष्ठ है और बड़े देशोंके लिए राजतन्त्रीय पद्धति।

[illegible] शतीके मध्यमें बॉकल [illegible] ग्रन्थ लिखा 'सभ्यताका इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन)। इस ग्रन्थमें इन्होंने जातीय चरित्र और प्राकृतिक परिस्थितियोंके बीचके सम्बन्धको अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताया और पूरी शक्तिसे यह सिद्ध करना चाहा कि लोगोंके जातीय चरित्रों और संस्थाओंके निर्माणमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

[1] [illegible]

प्रभाव भौगोलिक परिस्थितिका पडता है। उन्होने जलवायु, भोजन, धरती और 'प्रकृति के सामान्य स्वरूपो' द्वारा पडने वाले प्रभाव पर विशेष ध्यान दिया। उनकी इस अतिवादी विचारधारासे आजकल बहुत अधिक लोग सहमत नही है।

पर, अत्युक्तिकी बात हम छोडे, फिर भी यह निस्सन्देह सत्य है कि भौगोलिक परिस्थितियोने जातियोंके नीति-निर्धारणमें बहुत अधिक प्रभाव डाला है, कुछ अशो तक यह प्रभाव जातीय चरित्र और राजनैतिक सस्थाओके निर्माण पर भी पडा है। (२३, ४२-६६) इसके साथ ही हम यह भी बिना किसी आपत्तिकी आशकाके कह सकते है कि सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओके निर्माणमें भूगोल आज उतना महत्त्वपूर्ण उपकरण नही है जितना प्रारम्भिक युगमें था।

राजनीति-शास्त्रकी पद्धतिया (Methods of Political Science)

सभी लेखक इस बातको स्वीकार करते है कि राजनीति-शास्त्र एक अनिर्दिष्ट (inexact) और अशुद्ध विज्ञान है। उसका लक्ष्य परम सत्य नही है, यह आपेक्षिक सत्यकी खोज करता है। और इसलिए प्राय सभी राजनैतिक प्रश्नोके सम्बन्धमें मत भेद होना अवश्यम्भावी है। जो बात आज युक्ति-सगत जान पडती है, सम्भव है आजसे सौ वर्ष बाद वह असगत जान पडे। राज्य सम्बन्धी कोई भी सिद्धान्त-शास्त्र अन्तिम सत्यके रूपमें नही स्वीकार किया जा सकता।

इन्हीं प्रतिबन्धोके कारण कुछ विचारक राजनैतिक सिद्धान्तोके अध्ययनको 'विज्ञान' या 'शास्त्र' का नाम भी देना स्वीकार नही करते। यह तो सत्य है कि राजनीति-शास्त्र उस रूपमें शुद्ध और सटीक शास्त्र नही है जिस रूपमें गणित, भौतिक शास्त्र अथवा रसायन-शास्त्र शुद्ध और सटीक है। पागलखानेको छोड दुनिया भरमें और सब कहीं दो और दो मिलकर चार ही होते है। जब कभी दो अणु उद्जन (हाइड्रोजन) और एक अणु जारक (ऑक्सीजन) का रासायनिक सयोग होगा तभी जलकी उत्पत्ति होगी। यह सार्वभौम और शाश्वत—अविचल विधान है। पर समाज-शास्त्रोके अध्ययनमें हमें ऐसे विधान नहीं मिलते और इसका कारण है मनुष्यके स्वभाव और व्यवहारकी परिवर्तनशीलता। राजनैतिक तथ्योसे परिशुद्ध निष्कर्षोका निकाल लेना अथवा भविष्यके सम्बन्ध में सटीक भविष्यवाणी कर सकना यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। फिर भी राजनैतिक तत्वों और तथ्योंके व्यापक और गहरे अध्ययन द्वारा हम ऐसे सामान्य विधान और सिद्धान्त निर्धारित कर सकते है जिनसे शासनकी क्रियात्मक समस्याओके सुलझानेमें हमें पर्याप्त सहायता मिल सके।

भौतिक और रासायनिक द्रव्योंके साथ एक वैज्ञानिक जिस ढगके प्रयोग करता है उस ढगके प्रयोग हम मानव-समाज या राजनैतिक व्यवस्थाके साथ तो नही कर सकते। हम [illegible] विभिन्न शासन-पद्धतियोंके प्रभावोंका अध्ययन करनेके उद्देश्यसे किसी एक [illegible] दूसरे देशमें कुलीन तन्त्रकी स्थापना तो नही कर सकते। प्राकृतिक-[illegible] सामाजिक तथ्योमें मौलिक अन्तर होता है। फिर भी विभिन्न देशोमें पास [illegible] विधान का प्रयोग हो [illegible] है और राजनीतिका कोई भी सतर्क विद्यार्थी इन [illegible] के आधार पर सामान्य निष्कर्षों तक पहुच सकता है। इस प्रकार राजनीति,

शास्त्रके अध्ययन से हम जिन निष्कर्षो पर पहुंचते है उनमें गणितकी-सी परिशुद्धता तो नही हो सकती। फिर भी ऐसे अध्ययनके फलस्वरूप हमें सम्भाव्य सत्यो (Probable truths) की खोजमें तो सहायता मिलती ही है, और सैमुएल बटलर के अनुसार 'सम्भाव्यका ज्ञान जीवनका सुन्दर पथ-प्रदर्शक है।' 'भौतिक-शास्त्र' में भविष्यवाणी निश्चयात्मक हो सकती है, पर राजनीतिके क्षेत्रमें भविष्यवाणी सर्वाधिक रूपमें भी सम्भाव्यसे कुछ भी अधिक नही हो सकती (७)।

अनेक आधुनिक विचारकोने व्यावहारिक निष्कर्षोकी प्राप्तिके उद्देश्यसे उन अनेक रीतियों-पद्धतियों पर विचार किया है जिनके द्वारा राजनैतिक तथ्योका सकलन और वर्गीकरण किया जा सके। अगस्टस कॉम्टे के मतानुसार प्रधान रीतियां है पर्यवेक्षण, प्रयोग और तुलनात्मक पद्धतियां। ब्लश्ली का मत है कि सही पद्धतियां है दार्शनिक पद्धति (Philosophical method) और ऐतिहासिक पद्धति (Historical method)। अनेक आधुनिक विचारकोके मतमें अनुमानात्मक (Inductive) या व्याप्ति मूलक (Pragmatic) रीति और व्यावहारिक मूल्याकनकी पद्धति द्वारा राजनीति-शास्त्र के क्षेत्रमें यथार्थ और अस्तिमूलक परिणामो (Positive results) और निष्कर्षोकी प्राप्ति होती है, नियोजक या निगमन-रीति (Deductive) और स्वत तुष्ट-सैद्धान्तिक पद्धति (Dogmatic method) द्वारा नही। जिन पद्धतियोंको यह विचारक साधारणत पसन्द करते है वह यह है

(१) प्रयोगात्मक पद्धति (The experimental method),
(२) ऐतिहासिक पद्धति (Historical method),
(३) तुलनात्मक पद्धति (Comparative method),
(४) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति Method of observation), और
(५) दार्शनिक पद्धति (Philosophical method)।

प्रथम चारो पद्धतियोंमें बहुत अधिक साम्य है और इसलिए वह बडी आसानीसे एक ही कोटिमें रखी जा सकती है—कोष्ठबद्ध की जा सकती है। पाचवी पद्धतिकी अपनी एक स्वत विशिष्ट श्रेणी है। इन दोनो प्रकारकी पद्धतियोका सयोग ही महत्त्वपूर्ण परिणाम दे सकता है। व्याप्तिमूलक (Inductive) और वियोजक (Deductive) पद्धतियां एक दूसरेकी पूरक है।

१ प्रयोगात्मक-पद्धति (The Experimental Method)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जिस शास्त्रमें मानव-समाजके अध्ययन और विवेचन का विषय हो, उसमे जान-बूझ कर प्रयोग करनेका अवसर बहुत कम रहता है। मानव-प्रेरणाओ, उद्देश्यो और मानवीय मानो-मतोंको एक रासायनिक द्रव्यकी भाति न तो तोला-नापा जा सकता है और न उनको सम्पिण्डबद्ध या वर्गानुसार विभक्त किया जा सकता है। फिर भी नयी विधानो, नीतियो और सार्वजनिक पद्धतियोका प्रारम्भ एक ऐसे ढगसे—ऐसे वातावरण व भावना मय रूपमें होता है जो प्रयोगके लिए आवश्यक होता है और ऐसे प्रयोगो का पर्यवेक्षण करके राजनीति-शास्त्रका अन्वेषक यथार्थ और अस्ति-मूलक निष्कर्षो तक [illegible]

लिया और इस व्यक्तिगत अनुभवके आधार पर अपने निष्कर्ष निकाले। ऐसी पद्धति जो स्वत पर्यवेक्षण और चिन्तन पर निर्भर हो, निस्सन्देह ग्राह्य और स्तुत्य है। यह तथ्य-पूर्ण और व्यावहारिक पद्धति है और इसमें वास्तविकताकी भावनाका पुट रहता है जो आनन्द और स्फूर्तिदायक होता है। इसका सीधा सम्बन्ध वास्तविक तथ्योंसे रहता है और इसलिए इस पर यह आरोप नही लगाया जा सकता कि यह भाव-सूक्ष्म (Abstract) और कोरी सैद्धान्तिक पद्धति है। फिर भी इस पद्धतिका प्रयोग बडी सावधानीके साथ करना चाहिए। जब तथ्य बहुत अधिक हो और वह परस्पर विरोधी हो तब केवल सूक्ष्म दृष्टि और कुशल विवेक-सम्पन्न व्यक्ति ही उनके आधार पर सही और शुद्ध निष्कर्ष निकाल सकता है। उसमें इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह प्रमाणोकी सूक्ष्म परीक्षा कर सके और अपनी विषय-सामग्रीकी सही शुद्ध व्याख्या कर सके। इस बातकी सर्वदा आशका रहती है कि विद्यार्थी उन तथ्यो और निष्कर्षोंका हठात् खोज निकाले जो उसकी व्यक्तिगत रुचिके अनुकूल हो और जो तथ्य या निष्कर्ष उसे पसन्द न हो उनकी ओरसे आखें मूद ले। इसी भाति इस बातकी भी आशका रहती है कि हम सार हीन स्वल्पकी प्राप्तिके लिए तत्त्व पूर्ण समग्रको खो बैठें। निस्सन्देह पहला कर्त्तव्य है तथ्योंका सग्रह करना, पर तथ्य स्वत और अपने आपमें प्राय अर्थहीन ही है, —उनकी सही-शुद्ध व्याख्या करनेके लिए, उन्हें वास्तविक और सजीव बनानेके लिए एक सूक्ष्मदर्शी और समर्थ मस्तिष्क और बुद्धि की आवश्यकता होती है।

५ दार्शनिक पद्धति (The Philosophical Method)

यह पद्धति ऊपर वर्णनकी गई पद्धतियोके विपरीत वियोजक (Deductive) या कारणसे कार्यका अनुमान करने वाली पद्धति है। इस पद्धतिके प्रधान पोषक और विवेचक है रूसो, मिल और सिजविक। दार्शनिक और नैतिक कारणोसे इस पद्धतिमें पहले राज्यके स्वरूप और उसके उद्देश्य या लक्ष्यको निर्धारित कर लिया जाता है और तब उन उद्देश्योकी पूर्तिके लिए सर्वाधिक सुकर और उपयुक्त राजनैतिक पद्धतियो और सस्थाओंकी खोज की जाती है। [illegible] लेकर चलती है और फिर इतिहासके वास्तविक तथ्योसे [illegible] —सामञ्जस्य स्थापित करनेका प्रयत्न करती है। सबसे बडी आशका [illegible] रहती है कि [illegible] मोरकी 'यूटापिया' और प्लैटोकी 'रिपब्लिक' [illegible], [illegible] प्रधान और स्वप्नदर्शी न बन जाय। इस बातका खतरा है कि [illegible] -भूमि ही छूट जाय और सारा विवेचन एक कोरा सिद्धान्त [illegible]। यूनानी [illegible] युगसे लेकर मध्य-युगके शास्त्रानुरागियो और [illegible] आदर्श कोटिके राज्यकी स्थापना पर ध्यान दिया है—[illegible]।

[illegible] (Conclusion) [illegible] विद्यार्थीको ऐतिहासिक और दार्शनिक-[illegible] प्रयत्न करना चाहिए। उसे निगमन या अनुमिति द्वारा [illegible] अनुभव द्वारा प्राप्त वास्तविक तथ्योंकी कसौटी पर [illegible] तथ्योंकी व्याख्या सूक्ष्म या कार्यकारणा-[illegible] (Abstract or a priori principles) के आधार पर करना [illegible]। [illegible] पर अपने कदम जमाये रहते हुए बुद्धिका आसमान तक ऊची उडान

भर देना चाहिए। यथार्थ और आदर्शका सुन्दर-स्वस्थ-सन्तुलन करनेका प्रयास करना चाहिए। उसे ऐसे यथार्थवादको ठुकरा देना चाहिए जो अपनी दृष्टि-परिधिके बाहर किसी तथ्य-तत्त्वकी सत्ता ही न स्वीकार करे और ऐसे आदर्शवादको भी कोई स्थान उसे न देना चाहिए जो बादलोंके साथ आकाशमें ही तिरोहित हो जाय। उसे अरस्तू और बर्क जैसे विचारकोंका अनुगमन करना चाहिए जिन्होंने अपने ग्रन्थोंमें ऐतिहासिक और दार्शनिक पद्धतियोंका समन्वय किया है।

SELECT READINGS

BARKER E —*Political Thought in England : Spencer to Present Day*—Chs 5 and 6.

BARNES, H E —*Sociology and Political Theory*—Ch 2.

BROWN, IVOR —*English Political Theory*—Ch. 1.

CATLIN, G E G —*The Science and Method of Politics*—Chs 1-3

GARNER, J W —*Political Science and Government*—Chs 1-3.

GETTELL, R G —*Introduction to Political Science*—Ch. 1.

GETTELL, R G —*Readings in Political Science*—Introduction.

GILCHRIST, R. N.—*Principles of Political Science*—Ch. 1.

HALLOWELL J H —*Main Currents in Modern Political Thought*—Chs 1-3

LEACOCK, S —*Elements of Political Science*—pp. 3-12

MERRIAM, C E —*New Aspects of Politics*—Chs. 3-4.

POLLOCK, G—*Introduction to the History of the Science Politics*—Ch 1

SEELEY, J —*Introduction to Political Science*—Lectures 1 and 2.

SIDGWICK, H.—*Elements of Politics*—Ch 1

WILLOUGHBY, W W —*The Nature of the State*—Ch 1

२

राज्य का स्वरूप

(The Nature of the State)

सामाजिक सस्थाओमें से राज्य सबसे अधिक व्यापक और सबसे अधिक शक्तिशाली सस्था है। जहा कही भी मनुष्योका एक समुदाय कुछ काल तक एकत्र रहा है वही सगठन और अधिकार-शक्ति देखनेको मिलती है, और जहा कही सगठन और अधिकार शक्ति है वही राज्यकी नीव—उसका बीजारोपण है। ससारमें ऐसे लोगोका केवल एक ही उदाहरण है जिनका अपना समाज तो है पर जो राज्यका निर्माण नही कर सके और वह है एस्किमो लोग (Eskimos) जिनके सम्बन्धमे टॉयन्बी (Toynbee) का कहना है कि वह कुठिन सभ्यताके उदाहरण है (७८)।

जैसा यूनानी लेखकोने हमें बताया है, राज्य एक नैसर्गिक सस्था भी है और आवश्यकता-जन्य भी। मनुष्यका सिर-दर्द प्राकृतिक रूपमें भी हो सकता है, पर वह आवश्यक नही होता। राज्य एक नैसर्गिक या स्वाभाविक सस्था इस अर्थमें है कि उसका जन्म मनुष्यकी सहज बुद्धिसे उसकी अन्तर्प्रेरणाओसे हुआ है और क्रमिक ढगसे उसका विकास हुआ है। अरस्तू का तो कहना है कि मनुष्य स्वभावत एक राजनैतिक प्राणी है। उनके अनुसार प्राथमिक-परिवारका ही विकास होकर गाव बना और जब कई एक गाव मिल गए तो नगर या राज्य बना। प्रत्येक नगर 'प्रकृतिकी ही देन' है। अरस्तूकी सम्मति में राज्यमें रहनेका अर्थ था मनुष्य बनना या मनुष्य बननेका अर्थ था राज्यमें रहना, क्योकि जो भी व्यक्ति राज्यका सदस्य नही था या सदस्य होनेके लिए अनुपयुक्त था वह या तो देव था या पशु—या तो राज्यकी कोटिसे ऊचा था या नीचा। आधुनिक लेखक भी कभी-कभी मनुष्यकी राजनैतिक प्रेरणाओंकी बात करते हैं। इससे उनका यही तात्पर्य होता है कि राज्यका मूल बीज मनुष्यकी सहज अन्तर्प्रवृत्तियोमे है और उसे आसानीसे निर्मूल नही किया जा सकता। राज्यका उद्भव और विकास होता है, राज्य शाश्वत है और एक बार नष्ट कर दिए जाने पर वह फिर प्रकट होता है। यदि यह दावा किया जाय कि राज्यको हम उसी प्रकारकी स्वाभाविक सस्था नही कह सकते जिस प्रकार परिवार एक सामाजिक सस्था है और यह कि राज्य वास्तवमें मनुष्यकी कुछ आवश्यकताओंका ही कृत्रिम-बनावटी-रूप है तो इसका उत्तर यह है कि 'कृत्रिमता या बनावट मनुष्य-मात्रके लिए स्वाभाविक है (३७)।' पर हमारी धारणा यह है कि राज्य एक कृत्रिम सृष्टि नही है। राज्यमें ही हमारी उत्पत्ति है, सामान्यत हम उसका वरण या वैकल्पिक चयन नही करते—न अपनी पसन्दसे उसे चुनते है और न उससे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका ही हमें अधिकार है। स्पेन्सर (Spencer) का यह कथन भ्रम-पूर्ण है कि व्यक्तिको 'राज्यकी उपेक्षा करनेका अधिकार' है।

मनुष्यके उत्थान और विकासके लिए राज्य आवश्यक है। राज्यके अभावमें मनुष्य अपना पूरा विकास कभी नहीं पाता। अरस्तू का कहना है कि राज्यकी उत्पत्ति प्रथमत इसलिए हुई कि हम जीवित रह सकें और अब राज्यका अस्तित्व इस उद्देश्यसे है कि हम

अपना जीवन आनन्द-पूर्वक बिता सकें। उन्हीके शब्दोंमें 'राज्यकी उत्पत्ति जीवनकी कोरी आवश्यकताओंसे होती है और फिर उसका अस्तित्व रहता है जीवनको सुन्दर-सुखी बनानेके लिए।' दूसरे शब्दोंमें आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्ति ही राज्यकी उत्पत्तिका प्रधान कारण है। पर राज्यके कायम रहनेका कारण यह है कि सुन्दर जीवनके लिए—सुखी, सभ्य और सुसंस्कृत जीवनके लिए राज्यकी आवश्यकता अनिवार्य है। अरस्तूके गुरु प्लेटोने राज्यकी आवश्यकता इसलिए बताई है कि कोई भी मनुष्य स्वतः पूर्ण है ही नहीं, अपने विकासकी एक स्थिति-विशेषमें मनुष्यको जिस सामाजिक सहयोग और जिस सामाजिक-प्रयासकी आवश्यकता होती है उसीका प्रकट-मूर्त-रूप है राज्य।

राज्य समस्त सामाजिक संस्थाओंमें सबसे अधिक व्यापक और शक्तिशाली संस्था है, वह स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। तो फिर राज्य है क्या?

१. राज्य और समाज (The State and Society)

राज्य और समाज एक ही नहीं है। प्राचीन यूनानी विचारकोंकी दृष्टिमें राज्य और समाज अविच्छेद्य (Indistinguishable) थे—दोनोंमें कोई अन्तर नहीं था। राज्य और समाजकी इस एकरूपताका कारण यूनानके नगर-राज्योंकी विशिष्ट परिस्थिति थी। यह नगर-राज्य आकारकी दृष्टिसे बहुत छोटे थे और इनके निवासी एक सुसंहत-ठोस (Compact) समुदाय-रूप में थे। सभी नागरिक परस्पर एक दूसरेको जानते-पहचानते थे और सार्वजनिक परिषदोंमें मजिस्ट्रेटों का चुनाव करने व कानूनोंको पास करनेके लिए इकट्ठे होते थे। समान या एक-रूप स्वार्थों और हितोंसे वह परस्पर बंधे हुए थे। जिन समस्याओंको उन्हें सुलझाना पड़ता था वह स्वभावतः सरल-सुगम (Simple in character) थी। इन परिस्थितियोंमें यूनानियोंके लिए यह स्वाभाविक था कि वह नगरकी सीमाओंको ही मानव-जीवनकी परिधि मान लें। अपने नगर-राज्योंके प्रति यूनानियोंकी धारणा थी —'नगर-राज्य हमारा है और हम नगर-राज्यके हैं।' नगरके कर्त्तव्य-कार्य बहुमुखी थे। प्रत्येक नगर अपने आपमें राज्य भी था, धार्मिक केन्द्र भी था और विद्यालय भी। यूनानियोंके लिए सामाजिक जीवनका अर्थ था नागरिक जीवन।

राज्य और समाजको एकरूप समझना यूनानियोंके लिए चाहे जितना उपयुक्त और युक्ति-संगत रहा हो, पर आज हमारे लिए वैसा समझनेका अब कोई कारण नहीं रहा। शुद्ध अर्थमें राज्य एक राजनैतिक संस्था है। वह राजनैतिक ढंगसे संगठित समाज है। राज्य की अपेक्षा समाज अधिक व्यापक भी है और संकीर्ण भी। समाज शब्दका प्रयोग समूचे मानव-समाजके लिए भी ठीक उसी प्रकारसे किया जा सकता है, जिस प्रकार एक गांवके छोटेसे समुदायके लिए। व्यापक अर्थमें राज्य-विशेष या जाति-विशेषकी सीमाओंसे भी समाज ऊपर है—अधिक व्यापक है उदाहरणके लिए हम इस्लामी समाज या फ्री मेसन ब्रदरहुड (Free Mason Brotherhood) को ले सकते हैं।

राज्य समाजका एक अंग है, प्रकार या विभेद नहीं। वह एकसाथ एक साथ रहने वाले कुछ व्यक्तियोंका झुंड नहीं है जिनमें परस्पर बहुत थोड़ा-सा ढीला सम्बन्ध हो। राज्य एक ऐसा व्यक्ति-समूह है जो परस्पर राजनैतिक सम्बन्धोंसे आबद्ध हो, जो किसी भी शासन-पद्धति द्वारा किसी प्रकारकी भी सरकारके अधीन संगठित हो और इसलिए किसी भी सुनिर्दिष्ट भूभाग पर जिसका आधिपत्य हो। समाज इसके अधिकारका प्रयोग

अधिकतर परम्पराओ द्वारा करता है। राज्यकी सत्ताका प्रयोग उन कानूनो—विधानो द्वारा होता है जिन्हे सरकार पास करके समाजमें लागू करती हैं। राज्य ही एक ऐसी सत्ता है जो शक्तिका प्रयोग वैध या कानूनी रूपमे कर सकती है। समाज तो केवल नैतिक प्रभाव या प्रोत्साहन और सामाजिक बहिष्कार या निष्कासन (Social ostracism or expulsion) का ही प्रयोग कर सकता है। सामाजिक कर्त्तव्योका उल्लघन करनेके अपराधमें किसी भी व्यक्तिको समाज जेलमें तो नही बन्द कर सकता। श्री ई० बार्कर के विचारमें समाजका क्षेत्र है स्वेच्छा-जन्य सहयोग, सद्वृत्ति उसकी शक्ति है और नमनशीलता या विनम्रता उसकी विधि या उपाय है। इसके विपरीत राज्यका क्षेत्र है यान्त्रिक कार्यशीलता, बल-प्रयोगमें उसकी शक्ति है और कठोरता या दृढता उसकी विधि या कार्य-पद्धति है। मैकआइवर (MacIver) के शब्दोमें, 'राज्य एक सगठन है जो न तो समाजका समवयस्क है और न समाजके समान व्यापक, बल्कि उसकी स[illegible] समाजके भीतर ही एक ऐसे निर्दिष्ट सुव्यवस्थित सगठनके रूपमें है जिसका लक्ष्य [illegible] निश्चित उद्देश्योकी पूर्ति है (५५,४०)। समाजके हितमें राज्यके महत्वको श्री ई० बा[illegible] (E Barker) ने इस प्रकार स्पष्ट किया है 'समाजकी व्यवस्था राज्य द्वारा का[illegible] रहती है, और यदि राज्य इस प्रकार इस व्यवस्थाको कायम न रखे तो उसका अस्ति[illegible] ही न रहे (३, ११८-१९)।' समाजकी तुलना हम उन अनेक लकडीके तख्तोसे कर स[illegible] हैं जिनसे ढोलनुमा गोल ढाचा बनता है और राज्यकी तुलना लोहेके उस पट्टे या पत्त[illegible] जो उसके चारो ओर लिपटा रह कर तख्तोको यथास्थान कायम रखती है।

२ राज्य और सरकार (The State and Government)

अपने साधारण वार्तालापमें हम राज्य और सरकार शब्दोका प्रयोग प्राय एक अर्थमें अदल-बदल कर किया करते है। पर थोडा-सा विच[illegible] करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दोनो शब्द एक ही नहीं [illegible] सरकार राज्यका एक यत्र या उपकरण है। रूसो (Rousseau) के शब्दोमें सरकार 'एक सजीव यन्त्र' है। सरकार राज्य[illegible] व्यावहारिक या क्रियात्मक सगठन है जिसके द्वारा राज्येच्छा[illegible] निर्धारण होता है, उसका प्रकाशन होता है और उसकी प्रा[illegible] या पूर्ति होती है।' राज्यके लक्ष्यो और उद्देश्योकी पूर्ति या उनका कार्यान्वय सरकार [illegible]—सरकारका साधन बना कर होता है।¹ सरकारके बिना राज्यकी क[illegible] स्थिति नहीं है। राज्य अधिकाश रूपमें एक सूक्ष्म-धारणा है पर सरकार वास्तविक ठोस मू[illegible] तथ्य है। राज्य स्थायी है और निश्चित है, स्थिर है, जब कि सरकार अस्थायी है, परिवर्त[illegible] शील है। सरकारके रूपमें [illegible] परिवर्तन होते रहते है पर उससे राज्य[illegible] [illegible], उसके स्थायित्वमें, कोई अन्तर नहीं पडता।

[illegible] राज्यका अस्तित्व समाप्त हो सकता है उनमेंसे प्रमु[illegible] [illegible]

---

¹ [illegible] लास्की (Laski) सरकारको राज्यका [illegible] या एजेंट कहते है। उसक[illegible] [illegible] राज्यके [illegible] पूर्तिके लिए होता है। सरकार स्वत [illegible] डालने वा[illegible] [illegible] नहीं, [illegible] शासन यन्त्र है जो उन [illegible] उद्देश्योको कार्य-रू[illegible] देता है (५० [illegible])।'

(१) एक राज्यकी दूसरे राज्य पर विजय और पराजित राज्यका विजयी राज्यमें आमेलन (incorporation)।

(२) स्वेच्छापूर्वक।

(३) किसी राज्यके भूभाग अथवा निवासियोंका विनाश।

उनके क्रमिक उदाहरण है

(क) १८६६ में हनोवर राज्यकी पराजयके बाद उसका प्रशाके राज्यमें आमेलन।

(ख) इटलीके छोटे-छोटे राज्योंका इटालियन राज्यमें सम्मिलन।

(ग) विलियम ऑफ् ऑरेंज (William of Orange) की यह धमकी कि वह नीदरलैंड्स (Netherlands) के बांधोंको तोड कर राज्यको विनष्ट कर देगा पर स्पेन वालोंके हाथों पराजित न होने देगा।

सरकारकी सत्ता—उसके अधिकार मौलिक नहीं हैं। यह सत्ता उसे राज्यसे प्राप्त होती है। हर सरकारके तीन कार्य-विभाग होते हैं शासकीय, वैधानिक और न्याय सम्बन्धी। सरकार एक जातिकी प्रतिभाका प्रकाशन है—उसका सक्रिय मूर्त-रूप है।

३. राज्य, राष्ट्र या जाति और राष्ट्रीयता (The State, Nation and Nationality)

राजनीति-शास्त्रमें इन शब्दोंका प्रयोग प्राय. एक ही अर्थमें हुआ है। आज भी राजनैतिक विचारक 'राष्ट्र' और राष्ट्रीयता शब्दोंके बीच प्राय कोई स्पष्ट अन्तर नहीं करते। अर्थकी स्पष्टता और प्रयोगकी शुद्धताके लिए इन शब्दोंका प्रयोग पृथक्-पृथक् वस्तुओंका बोध करानेके लिए होना चाहिए। हमने पहले ही यह देख लिया है कि राज्य एक राजनैतिक संगठन है। राज्यके साथ जातीयताका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। जहा कहीं एक राज्यमें एक ही जाति या लगभग एक ही जाति रहती है, वहा हमें जातीय-राज्य का उदाहरण मिलता है। पर जहा एक राज्यमें एकसे अधिक जातिया हों अथवा जब एक जाति अनेक राज्योंमें बिखरी हुई हो तब जाति और राज्यके अस्तित्वमें अनुरूपता नहीं रहती—दोनों एक समान नहीं होते। राष्ट्रका अर्थ है स्वतन्त्र अपना शासन करने वाली जाति। अथवा [illegible] बातको गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के अनुसार इस प्रकार कहें कि राज्य और जातीयता दोनों मिल कर राष्ट्र बनता है। गिलक्राइस्टका कहना है कि आज-कल जाति शब्दका एक निश्चित राजनैतिक अर्थ हो गया है। वह अर्थ है [illegible] राज्यके भीतर संगठित लोगोंका एक [illegible] जो अपने आप [illegible] [illegible] कार्य करते हों। जातीयता उसका जाति सांस्कृतिक और जाति-बोधक शब्द है। वह एक मानसिक या आध्यात्मिक भावना या सिद्धान्त है। जिन उपादानोंसे जातीयताका निर्माण होता है वे हैं भौगोलिक एकता, सामान्य या एक जातीय उत्पत्ति, सामान्य संस्कृति, भाषा [illegible] एवं रीति-रिवाज और [illegible] सामान्य इतिहास, समान धार्मिक हित, सामान्य राजनैतिक सम्बन्ध, सामान्य सामाजिक-आर्थिक [illegible] इत्यादि। किसी भी [illegible] जातीयता [illegible] यह आवश्यक नहीं है कि ऊपर बताये गए सभी तत्व [illegible] उपस्थित हों। पर इनमेंसे [illegible] उपादानोंके बिना जातीयता [illegible] नहीं हो सकती। राजनैतिक दृष्टिसे जातीयता [illegible] है, राजनैतिक दृष्टिसे एक साथ मिलकर रहनेकी प्रवृत्ति।

[illegible]

जन-समुदाय या वर्गको अपना स्वतंत्र राजनैतिक संगठन बनाने दिया जाय जो अपनेको एक जाति घोषित करता हो। इस आन्दोलनने प्रथम विश्व-युद्ध या महायुद्धमें अधिक जोर पकड़ा और 'जातीय आत्म-निर्णय' (Self-determination of Nations) तथा 'एक जाति, एक राज्य' जैसे सबल सूत्रोंमें प्रस्फुटित हुआ।[1] यह सिद्धान्त-सूत्र राजनैतिक प्रगतिका लक्ष्य माना जाय या नहीं इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे।

राष्ट्र और जातिमें जो अन्तर यहां स्पष्ट किया गया, प्रायः लोग उससे भिन्न अन्तर इन दोनों शब्दोंमें मानते हैं। गेटेल (Gettell) का कहना है 'बहुत काफी भ्रम उत्पन्न हो जाता है इसलिए कि प्रचारक-लेखकोंमें 'राष्ट्र' और 'जाति' शब्दोंके प्रयोगके सम्बन्ध में एकमत नहीं है। कुछ लोग 'राष्ट्र' शब्दका अर्थ लेते हैं ऐसा जन-समूह जिसमें रक्त या वंश या जातिकी एकता हो राजनैतिक सम्बन्धोंकी वह लोग कोई परवाह नहीं करते, कुछ लोग 'राष्ट्र' शब्दका अर्थ और व्यापक बना देते हैं और रक्त या जातिकी एकताके साथ राजनैतिक एकताको भी मिला कर जाति और राज्यके सम्मिलित एक रूपको 'राष्ट्र' मानते हैं। जाति या जातीयतासे कुछ लोग उस सिद्धान्त या विशेषताका अर्थ लेते हैं जिससे एक जातिका निर्माण होता है। दूसरे लोग 'राष्ट्र' शब्दका अर्थ लेते हैं—ऐसा जन-समूह जो एक ही जातिका हो, जिसकी एक ही भाषा हो, सामान्य परम्परायें हों और जो एक ही भूभागमें रहते हों और उस भूभागके समस्त निवासियोंमें जो बहुसंख्यक हो। इसके विपरीत 'जाति' शब्दका अर्थ वह लोग लेते हैं जो उसे किसी निर्दिष्ट भूभागमें बिखरा हुआ ऐसा समुदाय मानते हैं जिसमें रक्त या वंशकी एकता हो और अपेक्षाकृत रूपमें जो समस्त निवासियोंका एक छोटा-सा अंश हो (२६, १५९)'।

४ राज्यके सम्बन्धमें एकांगी या भ्रामक विचार (One-sided or False Views of the State)

राजनीति-शास्त्रमें शायद ही कोई दूसरा शब्द ऐसा है जो इतने अधिक भ्रमात्मक विचारोंका कारण बना हो जितना कि 'राज्य' शब्द। प्रायः राजनीति-शास्त्रके प्रत्येक लेखकने 'राज्य' शब्दकी अपनी पृथक् परिभाषा दी है। शायद ही कोई दो ऐसे विचारक मिलें जो 'राज्य' शब्दकी किसी एक सन्तोषजनक परिभाषाके सम्बन्धमें एकमत हों। मैकआइवर (MacIver) ने अपनी पुस्तक मॉडर्न स्टेट (Modern State) में राज्यके सम्बन्धमें प्रचलित उन सभी विचारोंका संकलन किया है जो या तो संकीर्ण और एकांगी हैं या नितान्त भ्रामक।

(१) दि स्टेट (The State) नामक पुस्तकके लेखक ओपेनहीमर (Oppenheimer) जैसे लेखकोंकी सम्मतिमें 'राज्य' मूलतः एक वर्ग-व्यवस्था है, 'एक ऐसे वर्ग या संगठन जो दूसरे वर्गों पर हावी हो।' एक दूसरे लेखकके शब्दोंमें, 'राज्य उस वर्गके [illegible] कहते हैं जिसके हाथोंमें आर्थिक शक्ति हो।' कहना न होगा कि यह राज्यका मजाक है न कि उसका शुद्ध विवेचन। राज्यके सम्बन्धमें यह धारणा कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के विचारोंसे मेल खाती है जिनकी सम्मतिमें [illegible] शोषणका साधन-मात्र है। एक परिभाषाके रूपमें राज्यके सम्बन्धमें ओपेनहीमर (Oppenheimer) की परिभाषा कुछ राज्यों

[1] [illegible] यहां राष्ट्रके अर्थमें हुआ है।

की कुछ अवस्था विशेषके सम्बन्धमें सही मानी जा सकती है, पर सभी राज्योंके सम्बन्ध में हम उसे सर्वकालीन सत्य नही मान सकते। यह लक्षण एक रुग्ण राज्यका है न कि स्वाभाविक स्वस्थ राज्यका। एक स्वाभाविक और सुव्यवस्थित राज्यमें सार्वजनिक हितोको प्रधानता दी जाती है और व्यक्तिगत हितो या वर्ग-स्वार्थोको सार्वजनिक कल्याण के हितमें दवाया जाता है।

(२) कुछ लोग राज्यकी व्याख्या एक शक्ति-मूलक व्यवस्थाके रूपमें करते है। उनकी व्याख्या कोरे शक्ति सिद्धान्तकी भाषामें होती है। इस विचारधाराके प्रारम्भिक प्रवर्तक है श्री मैकियावेली (Mechiavelli)। प्रथम महायुद्धके दिनोमें श्री त्रोत्शके जैसे अनेक जर्मन लेखक इसी दृष्टिकोणका समर्थन करते थे। हम इस विचारधारासे सर्वथा असहमत है। इसमें सन्देह नही कि शक्ति राज्यका एक मौलिक अग है, पर उसे राज्यका आधार—राज्यकी नीव नही मान सकते। शक्तिके वल पर ही कोई वात कभी न्याय-सगत नही वन जाती। जव न्यायके पक्षमें शक्तिका प्रयोग होता है तव उसे न्यायसगत कहा जा सकता है। श्री टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) ने विल्कुल ठीक ही कहा है 'राज्यका मूलाधार शक्ति नही, अच्छाई है—मनोवल है।' शक्ति राज्यकी परिचायक-विशेषता है, चिह्न है। हम विवेकशील नागरिकोके रूपमें एक सुव्यवस्थित राज्यके कानूनोका पालन इसलिए करते है कि वैसा करनेमें हम राज्यकी आज्ञाओका पालन करनेके वजाय स्वय अपनी सद्वृत्तियोका अनुगमन करते है, अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ और प्रेरणाओका अनुगमन करते हैं और यह इच्छायें स्वार्थपरतासे मुक्त होती है। राज्य के प्रति हमारी आज्ञाकारिता उस अवस्थामें अत्यन्त उचित और प्रशसनीय होती है जव हम एक सुव्यवस्थित राज्यकी आज्ञाओका पालन इस धारणासे करते है कि वैसा करने से हम उस सार्वजनिक कल्याणकी अभिवृद्धि करते है, हमारा व्यक्तिगत कल्याण जिसका अविच्छिन्न अग है।

श्री हैलोवेल (Hallowell) ने इस दृष्टिकोणकी विल्कुल सही आलोचना की है कि राजनीति 'शक्तिके लिए सघर्ष' मात्र है। उनका कहना है कि इस दृष्टिकोणमें शक्ति को तथ्य-रूपमें स्वीकार किया गया है, उसके अस्तित्वको स्वीकार किया गया है, पर उसके उद्देश्यकी—उसके प्रयोजनकी कोई वात ही नही की गई। उनकी सम्मतिमें सम्बन्ध-शक्ति दोमुखी है, एकमुखी नही।

(३) ग्रोशियस और अल्थ्यूशियस (Grotius and Althusius) जैसे विचारकोकी सम्मतिमें राज्य एक कल्याणकारी व्यवस्था है। इस सिद्धान्तका एक रूप यह है कि राज्य एक सार्वजनिक उपयोगिता-सघ जैसी सस्था है। इस विचारको अत्यन्त सकीर्ण दृष्टिकोण कहनेमें हमें कोई सकोच नही है। इसमें सन्देह नही कि जन-कल्याण की अभिवृद्धि राज्यका वहुत महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। पर राज्यको यू० पी० एलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी जैसी सार्वजनिक उपयोगिताकी कम्पनियोंसे एक-रूप मान लेना एक स्पष्ट भूल है। राज्यको कम्पनी कतई नही माना जा सकता। राज्यकी सदस्यता स्वेच्छाका विषय नही है। हम जन्मना राज्यके सदस्य होते है। हम जव चाहे मनमाने ढगसे राज्यको छोड़ नही सकते, जव चाहे मनमाने ढगसे उसमें प्रवेश नही कर सकते। और फिर राज्यके सम्बन्धमें यह कम्पनी वाला दृष्टिकोण एक और तथ्यको भुला देता है और वह तथ्य यह है कि एक सार्वजनिक कल्याणकी व्यवस्था होनेके साथ-साथ राज्यका एक अपना जीवन

होता है, उसकी अपनी इच्छा होती है और उसका अपना व्यक्तित्व होता है और राज्यका यह जीवन, व्यक्तित्व और इच्छा उन व्यक्तिगत सदस्योंके जीवन, व्यक्तित्व और उनकी इच्छासे कुछ रूपोंमें भिन्न होता है जिनको मिलाकर वह राज्य बनता है।

जब एक ओर संसारमें बहुतसे लोग 'जन-कल्याण मूलक राज्य' (Welfare State) को अपना त्राता मानकर उसका स्वागत कर रहे है तब दूसरी ओर अमेरिकाके बहुतेरे लोगोंको वह एक अभिशाप जान पड़ता है।

(४) कुछ ऐसे भी लेखक हैं जिनकी रायमें राज्य एक पारस्परिक-बीमा-कम्पनी जैसी संस्था है जिसका उद्देश्य पारस्परिक-सुरक्षा है। सौभाग्यसे ऐसे लोगोंकी संख्या अब घट रही है। हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) इस सिद्धान्तके एक प्रधान पोषक थे। उनकी सम्मतिमें राज्य 'एक संयुक्त सुरक्षा-कम्पनी (Joint Stock Protection Company) है जिसका उद्देश्य है पारस्परिक समाश्वासन'। हम पहले ही यह देख चुके हैं कि राज्यकी तुलना किसी कम्पनीसे नहीं की जा सकती, बीमा-कम्पनीसे तो और भी नहीं। इस प्रकारके विचार राज्यके सुघटित स्वरूपके साथ कोई न्याय नहीं करते। राज्यके इस स्वरूपके अनुसार व्यक्ति और समाजके हितोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है और उन्हें स्पष्ट रूपसे दो पृथक् विभागोंमें नहीं बाँटा जा सकता। यदि पारस्परिक सुरक्षा मात्र राज्यके अस्तित्वका उद्देश्य हो तो एक डाकुओंके दलको 'राज्य' की संज्ञा देनेमें क्या आपत्ति हो सकती है जो समूचे समाजके विरुद्ध सुरक्षाके लिए एक हो रहते हैं? इस प्रकार कोई भी आत्म-रक्षा करने वाला झुंड या वर्ग अपने आपको 'राज्य' कहने लगेगा।

(५) कुछ लोग राज्यकी व्याख्या एक नितान्त वैधानिक संगठनके रूपमें करते हैं। उनकी सम्मतिमें 'राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसका संगठन वैधानिक कानूनोंके अनुसार राज्य करनेके लिए हुआ है।' इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें भी हमें यही कहना पड़ता है कि यह एक बहुत संकीर्ण व्याख्या है। इस सम्बन्धमें तो कोई सन्देह है ही नहीं कि राज्यका वैधानिक स्वरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, पर वैधानिक पक्ष ही राज्यका समस्त अस्तित्व नहीं है, उसके और भी पक्ष हैं। राज्य अपने नागरिकोंको अधिकारोंकी प्रत्याभूति—गारंटी देता है और कर्त्तव्योंका पालन कराता है। पर इतनेसे ही राज्यके स्वरूप या उसके कार्योंका अन्त नहीं हो जाता। राज्यकी वैधानिक व्याख्यामें राज्यके उच्चतर जीवनको बिल्कुल भुला ही दिया गया है। हीगेल (Hegel) का कहना है कि 'राज्य एक ऐसा समाज है जिसे आत्मा अपने लिए बनाती है।' अपनी पुस्तक न्यू स्टेट (New State) में कुमारी फालेट (Miss Follett) ने लिखा है 'मेरी आत्माका मन्दिर राज्य है—उसका निवास राज्यमें है।' हमारी सम्मतिमें राज्य जितने अंशोंमें एक वैधानिक संस्था है उतने ही अंशोंमें वह एक नैतिक और आध्यात्मिक सत्ता भी है।

(६) व्यक्तिवादी राज्यको एक आवश्यक दुर्गुण मानते हैं। राज्यके प्रत्येक कार्यको वह व्यक्तिकी स्वाधीनतापर आघात मानते हैं। इसीलिए उनका कहना है कि राज्य एक दुर्गुण है, परन्तु मनुष्यकी स्वार्थपरताने उसे आवश्यक बना दिया है। उनका कहना है कि यदि प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो प्रत्येक दूसरेपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी— अपनी स्वार्थ-सिद्धिकी चेष्टा करेगा और तब समाजमें न शान्ति रह सकेगी न कोई व्यवस्था। इस प्रकार राज्यका अस्तित्व मनुष्यकी कमजोरियों

की स्वीकृति है—उनकी विजय है। स्पेन्सर (Spencer) ही नही वेन्थम (Bentham) जैसे विवेकशील विचारक भी इस दृष्टिकोणके पोषक है। जहा तक हमारा सम्बन्ध है, हम राज्यको एक दुर्गुण या बुराई अथवा एक आवश्यक दुर्गुण मानना भी एक भूल समझते है। हम उन आदर्शवादियोसे सहमत है जो राज्यको एक सक्रिय कल्याण-स्रोत मानते है। राज्य मनुष्यका सबसे सच्चा मित्र है क्योकि विना राज्यकी साधन सहायना के मनुष्यके व्यक्तित्वका परिपूर्ण विकास असम्भव है।

(७) कुछ नरम दलके अराजकतावादी व्यक्तिवादियोके सिद्धान्तका थोडा शोधन करके कहते है कि 'राज्य एक बुराई है पर किसी दिन इसकी कोई आवश्यकता न रह जायगी'। मानव-स्वभावको परिवर्तनशीलता पर उन्हे बहुत अधिक भरोसा है, उनका विश्वास है कि 'नैतिक विकासके साथ-साथ राज्यकी आवश्यकता क्रमश कम होती जायगी और अन्तमे राज्य विलीन हो जायगा।' गरम दलके अराजकतावादी, जैसे अराजकतावादी साम्यवादके पोषक, राज्यको एक विशुद्ध दुर्गुण मानते है, और इसलिए उनकी सम्मतिमें जितनी जल्दी इससे छुटकारा मिले उतना ही मनुष्यके नैतिक विकासके लिए अच्छा होगा। यद्यपि इस अराजकतावादी सिद्धान्तमें ऐसा बहुत कुछ है जो अच्छा मालूम देता है पर यह तो हमें स्वीकार ही करना होगा कि इस सिद्धान्तमें इस तथ्यका कोई उचित विचार किया ही नही गया कि राज्यका मूल आधार मनुष्यके स्वभाव में है। अराजकतावादीको हमारी प्रेरक भावनाओंके साथ-साथ हमारी तर्क-बुद्धिको भी समझाना पडता है कि राज्य एक ऐसी बुराई है जिसमें भला कुछ भी नही है। एक विचार, जिसकी पुष्टि एक अगले अध्यायमें की गई है, यह है कि सत्ता या अधिकारीकी आज्ञाओका पालन स्वाभाविक है और सत्ता और स्वाधीनता एक दूसरेके विरोधी न होकर पूरक है।

(८) कुछ आधुनिक लेखक राज्यको एक कॉर्पोरेशन (Corporation) या सस्थान जैसी सस्था माननेके पक्षमें है। सामान्यत यह एक बहुलवादी दृष्टिकोण (pluralistic point of view) है। इस दृष्टिकोणके अनुसार राज्यको परिवार, चर्च या धर्म-सस्थान, मजदूर-सघ और सामाजिक गोष्ठी जैसी स्थायी सस्थाओके स्तर पर उतारना पडेगा जिनसे हमारी विभिन्न अभिरुचियोकी पूर्ति होती है। हम इस विचार को स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं क्योकि हमारा विश्वास है कि राज्य अपनी विशेषताओमें अद्वितीय है। अपने ढगकी यह अकेली सस्था है। राज्य स्वत एक वर्ग है—एक प्रकार है। यह एक सर्वान्तर्भावी (All inclusive) सबको समेट लेने वाली सस्था है—सर्वोत्कृष्ट सस्था है। यह सब कहनेका अर्थ यह नही है कि हम रूढिवादी अद्वैतवाद या एकतावादका पूरा-पूरा समर्थन करनेको तैयार है। यह हम महसूस करते है कि अब वह समय आ गया है जब हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाजके भीतर विभिन्न स्थायी सघोका मनुष्यके जीवनमें एक निश्चित विशिष्ट स्थान और उद्देश्य है और उसकी सन्तोषजनक पूर्तिके लिए यह आवश्यक है कि उनको यथासम्भव पूरी आन्तरिक स्वाधीनता मिले। फिर भी हमें एक सर्वोपरि सगठनकी भी आवश्यकता है जो विभिन्न छोटी-बडी सस्थाओंके पारस्परिक सम्बन्धोको और उनकी सही-सही स्थितिको कायम रखे। और उसी सगठनका नाम है राज्य।

(९) आधुनिक सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) व्यक्तिके समस्त जीवनको राज्यकी अधिकार-सीमाके भीतर मानते हैं। मनुष्यके जीवनका कोई भी ऐसा भाग नही

है जिसे वह अपना कह सके। वह जीता है तो राज्यके लिए और मरता है तो राज्यके लिए। मुसोलिनी ने सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोणको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है 'सब कुछ राज्यके भीतर है, राज्यके बाहर कुछ भी नही और राज्यके विरुद्ध कुछ भी नही।' अपने देश के युवकोंके सम्मुख आपने जो आदर्श-सूत्र रखा वह था 'विश्वास, आज्ञा-पालन और युद्ध।'

सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) दृष्टिकोणका व्यावहारिक अर्थ है व्यक्तिके जीवनका सैन्यीकरण (Regimentation)। यह मानव-व्यक्तित्वके मूल्य और महत्त्वकी पूरी-पूरी अस्वीकृति है, यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति राज्यके चक्र में एक दाँता बनकर मशीनका एक पुर्जा बन कर रह जाता है।

राज्यकी एक स्पष्ट यथार्थ व्याख्या (A Positive Statement of the State)

१ काल-क्रम में राज्य की अग्रिमता (Priority of the State)

राज्य मानवीय-परिषदोंका—संघोंका सर्वोच्च-स्वरूप है। बिना राज्यके मनुष्यका जीवन अपूर्ण है। व्यक्तिके आत्म-विकास और आत्म-बोधके लिए राज्य उपयुक्त वातावरण तैयार करता है। जैसा अरस्तू ने कहा है घर और राज्यका अन्तर कोटिका अन्तर नही है, प्रकारका अन्तर है। घरका अस्तित्व जीवनकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए है, राज्यका अस्तित्व नैतिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए है। अरस्तू का कहना है कि नगर (या राज्य) की रचना परिवार अथवा व्यक्तिकी कल्पनासे पूर्ववर्ती है क्योंकि समग्रको अंशोंसे, अंगको अंगीसे पूर्ववर्ती होना ही चाहिए। इस प्रकार राज्य व्यक्तिसे पूर्ववर्ती है। मनुष्य स्वभावतः एक दूसरेसे मिलनेके लिए—सम्बद्ध—होनेके लिए प्रेरित होते है। अरस्तूके कथन को हम उसके शब्दोंमें इस प्रकार रख सकते है कि सामाजिक जीवनकी पूर्णताके द्वारा ही मनुष्य जीव-सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ बना है। विधान और न्यायके बिना मनुष्य समस्त जीवोंमें निकृष्ट होता। राज्यमें ही व्यक्ति वास्तवमें मनुष्य बन पाता है। राज्यके बिना मनुष्यमें मनुष्यत्वकी क्षमता भले ही रहती, पर वास्तवमें वह पशु ही बना रहता।

राज्य इच्छा और बुद्धि-रूप में (The State as Will and Mind)

इस प्रकार, विचार-रूपमें राज्य मनुष्यसे पूर्ववर्ती है। इसका यह अर्थ नही है कि राज्यका उद्देश्य या लक्ष्य व्यक्तिके उद्देश्य या लक्ष्यसे एकदम पृथक या उसके विपरीत है। यदि हम ठीकसे समझें तो दोनोंका उद्देश्य एक ही है अर्थात् मनुष्यके व्यक्तित्वका पूर्ण विकास। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि यह विकास एकान्तमें असम्भव है। कोई भी व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण नही है। परिवार, विभिन्न प्रकारके सामाजिक संगठन और राज्य इस तथ्य की पुष्टि करते है। जैसा कि श्री लार्ड (Lord) ने कहा कि [illegible] [illegible] इतना [illegible] ही वास्तविक और आभ्यन्तर स्वरूप है— [illegible] [illegible]। राज्य कुछ अंशोंमें एक बाह्य संगठन है जो मानव-व्यक्तित्वकी [illegible] [illegible] [illegible] आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है, और कुछ अंशोंमें राज्य व्यक्ति [illegible] स्वरूप है। राज्य व्यक्तियोंकी नैतिक और बौद्धिक या मानसिक इच्छाओं [illegible] [illegible] व्यक्तियोंसे निर्मित [illegible] और उद्देश्योंका बुद्धि-संगत संगठन है।

तो इस प्रकार एक दृष्टिसे राज्य व्यक्तिके बुद्धि-बलका स्वरूप है। दूसरी दृष्टिसे राज्य व्यक्तिका शरीर और शक्ति-रूप भी है (५४)। राज्य नागरिकोंके शारीरिक बलकी पूर्णता है। राज्यके गठनमें भौतिक-शारीरिक बलका प्रयोग एक अनिवार्य तत्त्व है। समस्त विवेचन का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि असामाजिक और दुराग्रह-पूर्ण इच्छाओंको दबानेके लिए राज्यके पास शक्ति होनी ही चाहिए। राज्य ही व्यक्तिको उसके शुद्ध-सच्चे स्वरूपसे अवगत कराता है। राज्य द्वारा प्रयुक्त शक्ति ही एक ऐसा सफल प्रभावपूर्ण साधन है जो व्यक्तिको जीवनके उस निम्न-स्तरसे ऊपर उठाता है जिसकी ओर वह विवेक रहित क्षणोंमें स्वाभावत प्रेरित होता है। और राज्य ही उसे जीवनके उस उच्च स्तर पर ले जाता है जहा व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कल्याणको सार्वजनिक सामाजिक कल्याणका ही एक स्वाभाविक अग समझनेमें समर्थ होता है। श्री हीगेल (Hegel) का यह कथन कि अपराधीको दड पानेका अधिकार है, ऊपर-ऊपरसे जितना सही जान पडता है उससे कही अधिक सार-पूर्ण है।

३ शक्ति-मूल राज्य (The State of Force)

राज्य ही एक ऐसा सगठन है जो वर्गोंसे ऊपर उठकर समूचे समाजका प्रतिनिधित्व करता है। दूसरा कोई भी किसी प्रकारका भी सघ—सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक या शिक्षा सम्बन्धी—व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका समावेश नही कर सकता। मिस फॉलेट (Miss Follett) के प्रभावपूर्ण शब्दोमें 'सघोको मिला देनेसे राज्य नही बन सकता, क्योंकि कोई भी सघ या सघोका समुदाय मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्वको स्थान नही दे पाता जब कि एक आदर्श राज्य मुझसे मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी माग करता है। फिर एक सच्चे राज्यको सभी हितो–सभी स्वार्थोका सकलन करना होता है। राज्यमें विभिन्न प्रकार की भक्तियो (Loyalties)को आत्माधिकृत करके उन्हे एकरूपता देनी होती है। मेरी विविध निष्ठाए हैं, विभिन्न अनुरक्तिया है। यदि मैं उन्हें एकरूप न बना सकू तो मेरा जीवन अपने आपमें बहुधा विभक्त और इसलिए आकर्षणहीन हो जाय। एक सच्चे राज्यके प्रति मेरी भक्ति इसलिए है कि वह राज्य मेरे विविध-स्वरूपोको सकलित—सगठित करता है, वह मेरे बहुमुखी व्यक्तित्वका प्रतीक है, उस बहुमुखी व्यक्तित्वको वह महत्त्व प्रदान करता है मुझे आत्मानुभूति प्रदान करता है। यदि आप मेरे बहुमुखी व्यक्तित्वको वैसे ही बहुधा-विभक्त छोड देते है तो मुझे आप निर्जन स्थानोमें छोड देते हैं जहा मेरी आत्मा अपने अर्थ और आश्रयके लिए रोती फिरती है। मेरी आत्माका निवास राज्यमें है।'

४. राज्यकी सर्वोत्कृष्टता (The Uniqueness of the State)

राज्यके सम्बन्धमें ऊपर व्यक्तकी गई विचारधारासे उपसिद्धान्त यह निकलता है कि हमें एक सर्वोपरि सगठन अर्थात् राज्यकी आवश्यकता है जो मनुष्यके 'प्रधान बाह्य सामाजिक सम्बन्धोकी सगति बैठा सके (५५)।' बिना राज्यके जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। राज्य ही विभेदोकी खाईको पाटता है, मतभेदोको दूर करता है और मनुष्यके बहुमुखी जीवनको एकरूपता और अर्थ या महत्त्व प्रदान करता है। इस गुथी हुई पेचीली दुनियामें जहा व्यक्ति की निष्ठाओका सघर्ष निरन्तर बढ रहा है, मनुष्यके विविध

५ राज्य मानव सम्बन्धोका व्यवस्थापक (The State as an Adjuster of Relationships)

सम्बन्धोंके व्यवस्थापकके रूपमें राज्यकी अत्यन्त आवश्यकता है और यह आवश्यकता बढ रही है। यह राज्यका कर्त्तव्य है कि परिवार, धर्म-संस्थान, श्रमिक-संघ, सामाजिक संघ तथा अन्य ऐसे संघोंको यथास्थान कायम रखे और इस बातकी खबरदारी रखे कि समाज की शान्ति भंग न होने पाये।

६ राज्य और सार्वभौम हित या स्वार्थ (The State and Universal Interest)

राज्य मनुष्यके उन्हीं हितों या स्वार्थोंकी चिन्ता कर सकता है जिन्हें हमारी बुद्धि सार्वभौम या सार्वदेशिक स्वीकार कर सकती है। राज्य नागरिकोंके जातिगत या वर्गगत हितों या स्वार्थोंकी अभिवृद्धिका उत्तरदायित्व नहीं ले सकता। इस कार्यके लिए हमारे अन्य संघ या संगठन हैं जैसे परिवार, धर्म-संस्थान, श्रमिक संघ और सांस्कृतिक संघ। जैसा कि गार्नर (Garner) ने कहा है, हमारे स्वेच्छाजन्य संघ केवल एक या कुछ हितों या स्वार्थों की पूर्ति तक ही सीमित रहते हैं जब कि राज्य विशिष्ट स्वार्थोंके बजाय सामान्य या सार्वजनिक हितोंके लिए उत्तरदायी होता है (२३ ६३)। यही कारण है कि इंगलैंडमें श्रमिक संघोंको राजनैतिक कर लगानेकी आज्ञा नहीं है। श्री लास्की (Laski) के शब्दोंमें 'राज्य समाजमें के संकीर्ण स्वार्थोंसे ऊपर है और अपनी दबाव डालने वाली शक्तिका प्रयोग उन शाश्वत और स्थायी हितोंकी अभिवृद्धिके लिए करता है जिनके लिए मनुष्य एक साथ मिल कर रहते हैं (५० २६)।'

७ राज्य और नैतिकता (The State and Morality)

[illegible] राज्य मनुष्यके केवल बाहरी आचरण पर ही नियंत्रण रख सकता है। मनुष्य के मन्तव्योंका विचार राज्य नहीं कर सकता क्योंकि उनका स्वरूप नितान्त आन्तरिक है। राज्य अभिप्रायोंका विचार तो कर सकता है पर उद्देश्य या आन्तरिक मन्तव्य उसकी परिधिसे बाहरकी बात है। जब हम अभिप्रायका विचार करने बैठते हैं तब हमें यह सोचना होता है कि कोई कार्य किसी उद्देश्यसे किया गया या संयोगवश हो गया। पर जब हम मन्तव्यकी [illegible] है तब हमें प्रश्नके आन्तरिक और नैतिक पक्ष पर विचार करना होता है। [illegible] नहीं कि राज्य एक नैतिक और आध्यात्मिक संस्था है और व्यक्तिके [illegible] विस्तृत रूप है, पर उसके हाथमें जो साधन (शक्ति) है वह ऐसे बाह्य [illegible] है कि वह मनुष्यके केवल बाह्य आचरण और अभिप्रायोंका ही विचार और [illegible] सकता है मन्तव्यों या उद्देश्योंका नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य प्रत्यक्ष [illegible] किसीकी नैतिकताको न तो लागू कर सकता है और न उसे प्रोत्साहन दे [illegible]। राज्य [illegible] लिए केवल इतना सम्भव बना दे सकता है कि वह स्वयं [illegible] आचरण करें। श्री टी० एच० ग्रीन (T H Green) ने ठीक ही [illegible] केवल उन्हीं कार्योंको कर्त्तव्य या अकर्तव्य बना सकता है [illegible] करना [illegible] नैतिक [illegible] आवश्यक हो—उन कार्योंके करने या न करनेमें [illegible] (२६)। [illegible] भाषामें इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यको [illegible] कार्योंका दायित्व लेना चाहिए जो सामाजिक जीवनके कल्याणके लिए [illegible] ताकि [illegible] इस बातका भी खतरा उठाया जा सके कि कुछ [illegible] लोगोंको [illegible] और बुरे उद्देश्योंसे उन्हें न भी करेंगे।

अपने सदस्योंके हितमें अपनी इच्छाओंको लागू करनेमें राज्य एक दूसरा खतरा भी कभी-कभी उठाता है और वह है सदस्यो द्वारा यन्त्रवत् या अपने आप प्रेरित होकर कार्य करने का खतरा।

तो इस विवेचनका निष्कर्ष यह हुआ कि राज्य स्वत अपने आपमें कोई लक्ष्य नही है। वह एक साधन—एक माध्यम है जिसके द्वारा लोगोकी सामूहिक आवश्यकताए एक व्यवस्थित और न्याय-सगत ढगसे अधिकाधिक रूपमें प्राप्तकी जा सकती है। बिना राज्य के, व्यक्ति नितान्त तुच्छ और गौरवहीन हो जाता है। राज्य ही सामाजिक व्यवस्था को कायम रखता है। बुद्धि-तर्क और बल-प्रयोग, अनुमति और अधिकार आदिके विवेक पूर्ण प्रयोगसे राज्य ऐसे वास्तविक सामाजिक कल्याणकी अभिवृद्धि कर सकता है, व्यक्ति का कल्याण जिसका स्वाभाविक अग हो। राज्यको इस बातका कोई अधिकार नही है कि वह व्यक्तिके व्यक्तित्वको दबाये या कुचल दे। और जब तक वह कमसे कम शर्ते या अवस्थाए और परिस्थितिया पूरी नही होती जो प्रत्येक व्यक्तिके सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक है तब तक राज्यकी स्थितिका कोई औचित्य नही है।

राज्यके मूल तत्त्व (Essential Elements of the State)

राज्यके मूल तत्त्व है निवासी या जनता, भूमि या भू-प्रदेश, प्रभुता या सत्ता और शासन तथा सरकार।

१. निवासी या जनता (Population)

यह तो स्पष्ट है कि जब तक लोग एक साथ हिल-मिल कर साहचर्यका जीवन नही बिताते तब तक राज्य नही बन सकता। राज्यके निर्माणके लिए आवश्यक निवासियोकी सख्याका प्रश्न केवल एक सैद्धान्तिक प्रश्न है यद्यपि पुराने लेखकोंने इस पर बहुत जोर दिया है। अपनी पुस्तक लॉज़ (Laws) में प्लैटो (Plato) ने एक आदर्श-राज्यके लिए नागरिकोकी सख्या ५,०४० निश्चित की थी। अरस्तू (Aristotle) की सम्मतिमें एक लाखकी सख्या बहुत अधिक थी। आधुनिक कालमें रूसो (Rousseau) ने, जो यूनानके नगर-राज्योंके बडे प्रशसक थे, एक सुसम्बन्ध जन-समाज वाले प्राचीन नगर राज्योको फिर से प्रचलित करना चाहा था। उनके अनुसार दस हजारकी सख्या एक आदर्श सख्या है। वर्तमान राज्योमें आकार या क्षेत्र और निवासियोके विचारसे इतना अधिक अन्तर है कि एक ओर तो ब्रिटिश साम्राज्य, रूस और चीन है और दूसरी ओर मोनाको, सेन मैरिनो (Monaco, San Marino) जैसे राज्य है जिनमें दूसरेका क्षेत्रफल केवल ३८ वर्ग मील है।

वैधानिक दृष्टिकोणसे निवासियो या जनतामें शासित और शासनकर्त्ता दोनोकी ही गणना हो जाती है। प्रत्येक राज्यके निवासियोका दोहरा व्यक्तित्व होता है। राज्येच्छाका निर्माण करने वालोंके रूपमें यह निवासी नागरिक होते है और इस प्रकार निर्धारितकी गई राज्येच्छाका अनुगमन या पालन करने वालोके रूपमें वह राज्यकी प्रजा होते है। इस विभेदका श्रेय रूसो (Rousseau) को है। नागरिकोंके रूपमें लोगोको अधिकार प्राप्त होते हैं और प्रजाके रूपमें उनके अपने कर्त्तव्य होते हैं।

इसमें तो कोई सदेह हो ही नही सकता कि भूमि या भू-प्रदेशके विना राज्य हो ही नही सकता। फिरभी सभी राजनैतिक विचारक इस सम्बन्धमें एकमत नही हैं। आधुनिक राज्यके लिए तो निस्सदेह धरती का एक निश्चित भू-भाग आवश्यक है जिस पर उसका एक-छत्र अधिकार हो। प्राचीन राज्यके विपरीत आधुनिक राज्यका मौलिक स्वरूप ही प्रादेशिक है। आवारागर्द लोगोको राज्य नही कहा जा सकता, भले ही किसी एक नेता या मुखियाकी सामान्य अधीनता द्वारा उनमें किसी प्रकारका राजनैतिक सगठन भी हो। प्रोफेसर इलियट (Prof Elliott) के शब्दो में, 'प्रादेशिक प्रभुता या अपनी सीमाओंके भीतर राज्यकी सर्वोपरि सत्ता और वाह्य नियत्रणसे पूर्ण स्वाधीनता आधुनिक राज्योंके जीवनका एक मौलिक सिद्धान्त रहा है (१६)।'

२ भूमि या भू-प्रदेश (Territory)

एक निर्दिष्ट भू-प्रदेश आधुनिक राज्यके लिए इतना अधिक मौलिक तत्त्व हो गया है कि कोई भी दो पृथक् और असम्बन्धित राज्य एक ही भू-भाग पर अपना अधिकार माननेको तैयार नही है। केवल एक ही ऊपरसे जान पडने वाला अपवाद है सघ-राज्य का, जहा दो राज्य एक ही प्रदेश पर अधिकार वरतते है। प्रोफेसर इलियट का कहना है कि यह स्मरण रखना चाहिए कि 'वह एक दूसरेसे सम्बन्धित राज्य है' और 'दोनोंके अधिकार-क्षेत्र एक लिखित विधानकी धाराओ द्वारा सावधानीके साथ निश्चित कर दिए गए हैं।'

प्रभुता या सत्ता और विधान या कानून राज्यकी दो विभेद-सूचक विशेषताए है। प्रभुता से अर्थ है अन्तिम अधिकार-सत्ता जिसके आगे फिर कोई अपील न हो। राज्यके अतिरिक्त अन्य सघोके पास जनता हो सकती है, भू-प्रदेश और किसी प्रकारका कोई शासन-सगठन भी हो सकता है पर उनके पास प्रभु-सत्ता नही होती। अन्तत राज्यके भीतर प्रत्येक व्यक्तिको और प्रत्येक व्यक्ति-समुदायको राज्येच्छाके सम्मुख सर झुकाना पडता है। इस तथ्यको हम आन्तरिक प्रभुता कह कर व्यक्त करते है। वाहरी सम्बन्धोंमें भी आधुनिक राज्य अन्तिम अधिकार रखनेका दावा करता है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओ और समझौतोंका पालन भले ही करे, पर जब तक विश्व-सरकार का एक सम्मान-पूर्ण और शक्ति-सम्पन्न अस्तित्व नही हो पाता—यदि कभी ऐसा हो सके—तब तक धरती पर कोई ऐसी शक्ति नही है जो राज्यको किसी दूसरे उच्च अस्तित्व के प्रति आज्ञाकारी बना सके। राज्यकी इस विशेषताको हम वाह्य प्रभुता कह कर व्यक्त करते हैं। इस प्रभु-सत्ताके बल पर आधुनिक राज्य अपने आन्तरिक मामलोंमें सर्वोपरि सत्तात्मकता और विदेशी सरकारोंके नियत्रणसे पूर्ण स्वाधीनता का दावा करते हैं। प्रो लास्की (Laski) की भाषामें 'अपनी प्रभु-सत्ताके कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकारके समाजोंसे विशिष्ट और पृथक् है।'

३ प्रभुता (Sovereignty)

हॉब्स, बेंथम और आस्टिन (Hobbes, Bentham and Austin) का प्रभु-सत्ता सम्बन्धी [illegible] दृष्टिकोण लिविस (Lewis) के इन शब्दोंमें व्यक्त [illegible] 'प्रभु-सत्ताधारी [illegible] प्रत्येक सदस्यके जीवन, अधिकारों और कर्तव्यों पर पूर्ण [illegible] प्राप्त है।' मैकाइवर (MacIver) तथा अन्य अनेक आधुनिक लेखक इस [illegible] नहीं हैं। [illegible] राज्य [illegible] गये हैं, जो अपने ढग

का अनुपम है, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, पर फिर भी अन्य सब सघोंकी भाति एक सघ ही है (५५, अध्याय १२)। इस दृष्टिकोणकी आलोचना हम किसी अगले अध्यायमें करेंगे।

४. सरकार (Government)

जैसा कि हमने ऊपर देखा, सरकार राज्यकी राजनैतिक सस्था है। सरकार वह माध्यम है जिसके द्वारा राज्यकी प्रभु-शक्ति का—राज्येच्छा का स्थूल या मूर्त्त-प्रकाशन होता है। एक प्रजातत्र राज्यमें यदि जनता अन्तिम प्रभुता (Ultimate Sovereign) है तो सरकार वैधानिक प्रभुता (Legislative Sovereign) है। सरकार-हीन राज्यकी कल्पना नही की जा सकती। यह इसलिए कि राज्यकी इच्छा और कार्य-शक्तिका कार्यान्वय सरकारके ही माध्यमसे होता है। किसी एक विशेष प्रकारकी सरकार आवश्यक नही है , सरकारका स्वरूप तो राज्यके स्वरूप पर निर्भर करता है और राज्यका स्वरूप बहुत कुछ निर्धारित होता है राज्यके निवासियोंके चरित्र और उनकी राजनैतिक विचारधारा से।

राज्यकी परिभाषाए (Definitions of the State)

राज्यकी बहुसख्यक और विविध परिभाषाए देनेके प्रयत्न हुए है। हम उनमेंसे कुछ अधिक सतोषप्रद परिभाषाओका उल्लेख करेंगे। श्री हालैंड (Holland) राज्यकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि राज्य बहुसंख्यक मनुष्योका एक समुदाय है, जिसके अधिकारमें सामान्यत एक भू-प्रदेश रहता है और जिसमें बहुमतकी इच्छा का या बहुमतके बल पर कुछ व्यक्तियोंके एक निश्चित वर्गकी इच्छाका बोलबाला उन लोगोंके विरुद्ध रहता है, जो उस इच्छा का विरोध करते है। फिलिमोर (Philimore) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी दृष्टिसे विचार करते हुए राज्यकी परिभाषा इस प्रकार दी है—राज्य 'एक जाति या जन-समाज है जिसका एक निश्चित भू-भाग पर शाश्वत या सर्व-कालीन आधिपत्य हो, जो सामान्य कानूनों, आदतो और रीति-रिवाजो द्वारा एक ही राजनीतिक सस्थामें बधा हो, एक व्यवस्थित सरकारके माध्यमसे जो अपनी स्वतत्र प्रभु-सत्ताका उपभोग कर रहा हो और अपनी सीमाके भीतर सभी व्यक्तियो और वस्तुओ पर जिसका नियत्रण हो और जो सन्धि-विग्रह करने तथा ससारकी सभी जातियो—सभी समुदायोंसे सब प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंके निर्धारित करनेमें समर्थ हो।'

श्री बर्गेस (Burgess) द्वाराकी गई राज्यकी परिभाषा है 'मानव जातिका कोई अश-विशेष जिसका एक व्यवस्थित इकाईके रूपमें विचार किया जाय।' यह परिभाषा तात्त्विक रूपमें वही है जो श्री ब्लशली (Bluntschli) ने दी है जिसके अनुसार 'राज्य एक निश्चित भू-भागके राजनैतिक दृष्टिसे व्यवस्थित लोगोको कहते हैं।' श्री विल्सन (Wilson) की परिभाषा सूक्ष्म भी है और सरल भी। उनके अनुसार राज्य 'एक निश्चित भू-भागके लोग है, जिनका सगठन विधान या कानूनके लिए हुआ हो'।

आधुनिक लेखको द्वारा दी गई परिभाषाओंमेंसे गार्नर और मैक आइवर (Garner and MacIver) द्वारा दी गई परिभाषाए विशेष उल्लेखनीय है।

गार्नरका कहना है . राजनीति-शास्त्र और सार्वजनिक विधानकी कल्पनामें राज्य लोगोका एक समुदाय है जो सख्यामें कम-बेश काफी ज्यादा हो, एक निश्चित भू-प्रदेश पर जिनका सर्वकालीन अधिकार हो, जो बाहरी नियत्रणसे स्वतत्र या लगभग पूर्ण स्वतत्र

हो, और जिनकी एक सगठित सरकार हो जिसकी आज्ञाओंका पालन करनेकी अधिकाश जनता आदी हो (२३ ५२)।'

मैकआइवर (MacIver) द्वारा दी गई राज्यकी परिभाषा, जो समष्टिवादका कुछ पुट लिए हुए है, इस प्रकार है राज्य एक सघ है जो एक सुनिश्चित प्रादेशिक सीमाओंके भीतर रहने वाले जन-समाजमें, दबावक शक्ति-सम्पन्न सरकार द्वारा इसी उद्देश्यसे घोषित और लागू किये गये कानून या विधानके माध्यमसे, सामाजिक व्यवस्था की बाह्य परिस्थितियोंको कायम रखता है (५५)।' इस परिभाषामें, जो कई दृष्टियो से सर्वोत्कृष्ट है उन तत्त्वो पर जोर दिया गया है जिन पर राज्यकी एक स्वस्थ कल्पनामें विचार होना ही चाहिए जैसे कानून या विधान, सरकार, दबावक शक्ति (Coercive Power), सामाजिक एकता सुनिर्दिष्ट भू-प्रदेश और सामाजिक व्यवस्थाकी सार्वभौम बाह्य परिस्थितिया।'

प्रोफेसर लास्की (Laski) ने राज्यकी परिभाषा इस प्रकार दी है एक भू-प्रदेश सम्पन्न समाज जो सरकार और प्रजामें बटा हुआ हो और अपने निश्चित भू-प्रदेशके भीतरकी अन्य समस्त सस्थाओंसे जो सर्वोपरि हो (८७ २१)।'

हीगल (Hegel) द्वारा की गई राज्यकी परिभाषा तथा उसी प्रकारकी अन्य परिभाषाए अत्यन्त भाव सूक्ष्म और प्राय [illegible]। एक अभी हालके लेखकने राज्यकी परिभाषा दी है मनुष्योका एक सगठित सघ जो एक ही सरकारके अधीन और एक निश्चित भू-प्रदेश में रहता हो।'

राज्यका जैविक स्वरूप (The Organic Nature of the State)

प्लेटो (Plato) के युगसे लेकर आज तक प्राय सभी राजनैतिक विचारोकी एक [illegible] विशेषता रही है, और वह है समाज और उसके बाद राज्यकी तुलना एक सजीव-शरीर—[illegible]। कुछ लोग तो साधारण सादृश्यका ही उपयोग [illegible] इस तुलनाको भिडाया है और इसका परिणाम [illegible] राजनीति-शास्त्रके अत्यन्त गम्भीर लेखकोंमेंसे अधिकाश इस धारणाको [illegible] देनेके पक्षमें है।

प्लेटोने राज्यकी तुलना एक अतिकाय मनुष्यसे की थी। उन्होने राज्य और व्यक्ति [illegible] विशद [illegible] वर्णन किया था। उन्होने समाजका विभाजन तीन [illegible] योद्धा या सैनिक और श्रमिक और इस विभाजनका आधार बनाया [illegible] तीन [illegible]—विवेक या बुद्धि, साहस और इच्छा या कामनाको। [illegible] तुलना [illegible] जाय तो स्व[illegible]-दृष्टि से दार्शनिको 'अ' के [illegible]। यदि राज्य यह समस्त त्रिभुवन है तो [illegible] उसका सूक्ष्म-रूप [illegible] (Aristotle) ने [illegible] तुलना शरीर-सगति से की थी और [illegible] समाजमें [illegible] स्वाभाविक अग है। सिसरो (Cicero) ने, [illegible] अपने राजनैतिक विचारोके लिए यूनानी [illegible] राज्यके प्रधान [illegible] शरीर पर शासन करनेवाली आत्माके [illegible] तुलना की है। [illegible] प्रारम्भिक [illegible] सन्त पाल (St Paul)

गिरजाघरको ईसामसीहका जीवित शरीर मानते थे। इसी उपदेशके आधार पर मध्य-कालीन लेखकोंने धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष विषयोंमें मनुष्यकी निष्ठा पर चर्च और राज्यके आपेक्षिक अधिकारोंके सम्बन्धमें अपने विवाद उठाये थे।

आधुनिक-युगके प्रारम्भिक लेखकोंमें से हॉब्स और रूसो (Hobbes and Rousseau) ने राज्यके जैविक स्वरूपकी धारणा पर बहुत विचार किया है। हॉब्स ने तो राज्यकी तुलना लेवाइथॉन (Leviathan) नामक एक दैत्यसे की है 'जो एक काल्पनिक मनुष्य-मात्र है यद्यपि शक्ति और आकारमें साधारण प्राकृतिक मनुष्यसे बहुत बड़ा है।' उन्होंने तो राज्यकी दुर्बलताओंकी भी मानव-शरीरकी व्याधियोंके साथ बड़ी सूक्ष्म तुलना की है। इस प्रकार राज्यको भी फोडे,चर्मरोग और पार्श्वशूल जैसी व्याधिया हो सकनेकी कल्पना उन्होंने की। हॉब्स सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (Social Contract theory) के पोषक है जिसके अनुसार राज्य मनुष्यकी इच्छा-शक्तिसे उत्पन्न सायास सृष्टि है और इसलिए उनके द्वारा राज्यके सगठनकी व्यक्तिके शरीर-गठनके साथ इतनी सूक्ष्म और व्यापक तुलना एक मनोविनोदकी बात हो जाती हैं। रूसोके अनुसार राज्य-सस्था और मानव-शरीर दोनो ही 'शक्ति' और 'इच्छा' से सम्पन्न होते हैं जो 'प्रेरक-बल' के ही रूप है। राज्यकी वैधानिक शक्तिकी तुलना हृदयसे की गई है और कार्य-कारिणी शक्तिकी तुलना मस्तिष्क से।

उन्नीसवीं शतीके राजनैतिक चिन्तनका प्रारम्भ एक प्रतिक्रियाके साथ हुआ और यह प्रतिक्रिया इस धारणाके विरुद्ध हुई कि राज्य मनुष्य द्वारा सर्जित एक कृत्रिम सृष्टि है। इस प्रतिक्रियाने इस सत्यको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि राज्य मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं है बल्कि वह मानव-प्रकृतिका क्रमिक, अनायास और अवश्यम्भावी विकास है। इस प्रयत्नमें समाजकी पूर्व-परिचित जैविक स्वरूप वाली धारणाका फिरसे प्रति-पादन हुआ और यह धारणा विशेषकर जर्मन आदर्शवादियोंके चिन्ताका एक मौलिक अग बन गई। श्री फिश्ते (Fichte) इस प्रकारके सैद्धान्तिकोंमें से एक थे और उन्होंने व्यक्ति और समाजके अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध (Interdependence) को अच्छी तरहसे स्पष्ट किया। उनका कहना था कि व्यक्तिका स्वत और अपने आपमें, समाजसे परे, कोई भी अर्थ और महत्त्व नहीं है, पर समग्र समाजका वह एक तात्त्विक अग है। उन्हींके शब्दोंमें एक सुगठित रचनामें—सुगठित-शरीरमें उसका प्रत्येक अग निरन्तर समूचे शरीरको कायम रखता है, और इस प्रकार समूचे शरीरको कायम रखने में स्वयं भी, उसके फल-स्वरूप कायम रहता है, ठीक यही सम्बन्ध व्यक्तिका राज्यसे है। इस प्रकार प्रारम्भिक आदर्शवादी राज्यको एक नैतिक सघटना मानते थे।

परवर्ती जर्मन लेखकोंमें से ब्लश्ली (Bluntschli) ने राज्यके इस शरीर-सिद्धान्त पर अपने पूर्ववर्ती लेखकोंसे भी अधिक ज़ोर दिया। वह तो इस सीमा तक गये कि राज्य के सम्बन्धमें वह यौन या लिग-सम्बन्धी, काम विषयक विशेषताओंका भी आरोप कर गये। उनका कहना था कि राज्य पुलिग है और धर्म-सस्थान स्त्रीलिग, और इसी आधार पर स्त्रियोंके राजनैतिक अधिकारोंके विस्तारका वह प्रबल विरोध करते थे। इस अत्युक्तिपूर्ण विवेचनके बावजूद भी राज्यकी शरीर-सिद्धान्त सम्बन्धी ब्लश्लीकी धारणा में सत्यका भी तत्त्व है जिस पर ध्यान देना चाहिए। उनका कहना है कि राज्य एक नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। 'जैसे एक तैल-चित्र तेल-बिन्दुओंका सग्रह-मात्र

नही है, उससे कुछ अधिक है, जैसे एक प्रस्तर-मूर्ति पत्थरके टुकडोका सग्रह-मात्र नही है और जैसे मनुष्य कोशा और रुधिर-कोशाओ (Blood Corpuscles) का समुदाय-मात्र नही है बल्कि उससे कुछ अधिक है, उसी प्रकार राष्ट्र बाह्य विधियोका सग्रह-मात्र नही है, उससे कुछ अधिक है (२२ ५६)।' राज्य इच्छा, शक्ति और बुद्धि-बलका समन्वय है। सक्रिय-समुदाय ही—या समाजका सक्रिय स्वरूप ही राज्य है।

उन्नीसवी शतीके लेखकोमें हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) का उदाहरण एक ऐसे लेखकका है जिसने व्यक्ति और समाजकी सघटनाके बीच यथासम्भव सूक्ष्म साम्य या सादृश्यका विवेचन किया और फिर भी तुलनाके तात्त्विक लक्ष्योको भूल ही गया। श्री स्पेंसरने शरीर-साम्यका उपयोग अपनी पूर्व-निश्चित व्यक्तिवादी धारणाओको सिद्ध करने लिए किया। एक पहलेके निबन्धमें इस सादृश्यका प्रयोग इतना अक्षरश या आख मूद कर किया गया कि तुलनामें रेलवे लाइनोको जीवित शरीर की धमनिया और शिराए बना दिया गया। धनकी तुलना रुधिर-कोशाओ (Blood Corpuscles) से की गई है और टेलिग्राफके तारोकी तुलना स्नायुओ से। जिस सूत्र के आधार पर स्पेंसर ने अपना उपदेश दिया वह है 'एक सजीव सघटनाका विकास होता है, निर्माण नही।' उपदेश यह है कि चूकि राज्य एक सजीव सघटना है इसलिए उसे स्वत अपनी इच्छाके अनुकूल विकसित होने देना चाहिए, कृत्रिम साधनोका आश्रित उसे नही बनाना चाहिए। नि शुल्क-शिक्षा, अनिवार्य-स्वच्छता, सार्वजनिक पुस्तकालय और सार्वजनिक उद्यान आदि सभी शरीर सघटनाके स्वतत्र स्वत विकासमे बाधा डालते है और इसलिए यह अनुचित है। स्पेंसर यह भूल जाते है कि चूकि राज्य एक अत्यन्त विकसित और सम्पूर्ण सघटना (Organism) है इसलिए उसकी ठीक-ठीक तुलना छत्रिक (Jelly-fish) जैसी एक साधारण जीव-सघटनासे नही की जा सकती, उसकी सही-सही तुलना उच्च विकसित और सर्वधित जीव-सघटनाके साथ ही हो सकती है—जैसे उद्यानका कोई पौधा या पालतू जीव। एक उच्च-स्तरकी सघटनाका विकास भी होता है और निर्माण भी। पर स्पेंसरकी राज्य सघटना सर्वदा छत्रिक स्तर पर ही रहना चाहती है। और फिर स्पेंसर एक और भी तथ्य भुला देते है—उसका जैसे अनुभव ही नही करते। वह तथ्य यह है कि राजनीतिक क्षेत्रमें जो कोई रूपकोका प्रयोग उस प्रकार अक्षरश करेगा जैसे उन्होने स्वय किया है, उसके लिए इस शरीर-सघटनाके साम्यमे जिसका केन्द्र-बिंदु [illegible] या स्नायु-सहति (Nervous System) है, अतिवादी व्यष्टिवादकी अपेक्षा [illegible] समष्टिवादके सिद्धान्तको प्राप्त और पुष्ट कर लेना अधिक आसान होगा। पर स्पेंसर अतिवादी व्यष्टिवादके पोषक है जिसका अनुगामी है नैसर्गिक अधिकारोका सिद्धान्त। जैसा कि श्री एफ० बार्कर (F Barker) ने कहा है कि श्री स्पेंसरके लिए शरीर जीव-सघटन वाले सिद्धान्तसे जो कुछ उपादेय होता है उसे स्वीकार कर लेते है, और जो कुछ असुविधाजनक होता है उसे छोड देते है।

राज्यकी इन शारीरिक धारणाओके सम्बन्धमें जो पहली बात कहने की है वह यह है कि सादृश्य (Analogy) और तर्क (Argument) एक ही चीज नही है। दो पदार्थोके बीच सादृश्य या समानान्तर भाव सिद्ध कर देनेका अर्थ यह नही हो जाता कि उनके बीच कोई परिस्थितिगत सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस साधारण सत्यको स्वीकार न कर

जैविक स्वरूप-सिद्धान्त में सत्यांश (Elements of Truth in the Organic theory)

सकनेके कारण ही श्री ब्लश्ली, स्पेंसर और शैफिल् (Schaffle) जैसे लेखकोने राज्यकी जैविक-स्वरूप वाली धारणाका इस प्रकार 'मच्छिका स्थाने मच्छिका'—पद्धति वाला प्रयोग किया है। हमें इतना स्मरण रखना चाहिए कि अनुरूपता या सादृश्यमूलक तुलनासे केवल इतना ही हो पाता है कि दुर्बोध समस्याए सुबोध और स्पष्ट बातें स्पष्ट हो जाती है। वह प्रमाणका स्थान नही ले सकता।

समाज या राज्य शरीर-सस्थान या अवयव-सस्थान नही है। वह कुछ बातोमें शरीर सस्थान 'जैसा' है और कुछ बातोमें वैसा नही है।

(१) एक भौतिक अवयव-सस्थानकी भाति राज्यमें भी जीवन, विकास और उत्थानका उसका अपना सिद्धान्त है। कुछ अन्य लेखकोंके स्वरमें स्वर मिलाकर हम यह कहनेके लिए तैयार नही है कि प्रत्येक राज्यको युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, पतन और नाशकी अवस्थाओंसे गुजरना होता है। सामाजिक सघटनामें होने वाले परिवर्तन प्राय अति सूक्ष्म-अलक्ष्य (Imperceptible) होते है और उनकी सही-सही नाप-तौल नही हो सकती, इसलिए हम समाजके सम्बन्धमें प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, जरा और मरण जैसे शब्दोका प्रयोग भी ठीक तरहसे नही कर सकते। फिर भी हमारा यह विश्वास है कि सभी समाजो और राज्योका एक अपना जीवन होता है, अपनी इच्छा और अपना स्थायित्व होता है और यह सब उस समाज या राज्यसे किसी भी समयके प्रत्येक सदस्यके जीवन और उसकी इच्छासे सर्वथा भिन्न होता है।

(२) समाजकी सघटनामें व्यक्तिकी शरीर-सघटनाकी ही भाति, उसके विभिन्न अवयवो-अगोमें परस्पर अन्तर्बन्ध और अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक अग एक दूसरे पर और समग्र सघटना पर आश्रित रहता है —निर्भर रहता है और समूची सघटना इन अगो पर निर्भर रहती है। समग्रके कल्याणमें अगोका कल्याण भी निहित रहता है व्यक्तिके कल्याणका समाजके कल्याणके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जिससे व्यक्तिका सम्बन्ध होता है उस बातसे शेष समाजका भी सम्बन्ध देर-सबेर होता ही है यद्यपि अनुभूति की तीव्रता और गहराई उतनी अधिक नही होती जितनी व्यक्तिकी सघटनामें होती है। समाज असम्बद्ध और बिखरे हुए व्यक्तियोका सकलन-मात्र नही है। वह एक आवश्यक शारीरिक इकाई है, सजीव सगठन है। जीवनके उस क्षेत्रमें भी, जिसे मिल (Mill) 'आत्म-परक' कहते है, समाजका व्यक्तिके प्रति एक उत्तरदायित्व है। जैसे परिवार अपने सदस्योके तथाकथित व्यक्तिगत स्वार्थोंका भी ध्यान रखता है वैसी ही रुचि व्यक्तिके हितोमें समाजको भी रखनी होती है।

(३) व्यक्ति और समाज दोनो ही की सघटनामें अगोके विभाग और योग्यतानुसार कर्त्तव्य-विभाजनके सिद्धान्त काम करते है। हथियार उसको दो जो उससे काम ले सके' यही आन्तरिक लक्ष्य है। यह तो असम्भव है कि सारा शरीर आख, कान या पेट बन जाय। सन्त पॉल (St Paul) के मार्मिक शब्दोमें 'शरीर एक अग नही है, अनेक अग है। यदि पैर यह कहने लगें कि चूकि हम हाथ नही है, इसलिए हम शरीर नही है: तो क्या इसलिए वह शरीर न रहेगें? यदि कान यह कहने लगें कि चूंकि हम आख नही है, इसलिए हम शरीर नही है, तो क्या इसलिए वह शरीर न रह जायेंगे? यदि सारा

शरीर आंखे बन जाय तो सुने कौन ? यदि सारा शरीर कान बन जाय तो सूघे कौन ? तो यह सब अनेक अग है और फिर भी सब एक शरीर है। और तब आखें हाथोंसे यह नही कह सकती कि हमें तुम्हारी जरूरत नही है और न सिर ही पैरोंसे यह कह सकता है कि मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नही है। तब जहा एक अगकी हानि होती है, सभी अग उस व्यथा को झेलते है, जहा एक अगका सम्मान—उत्कर्ष होता है, सभी अग आनन्द मनाते है।'

संघटना-सादृश्यको ऊपर कहे गये सामान्य सत्योंसे आगे घसीटनेसे कठिनाइयां उत्पन्न होना निश्चित है। राज्य एक संघटना है सही पर इस अर्थमें नही कि वह एक भौतिक शरीर है। वह एक मानसिक सगठन है—बौद्धिक व्यवस्था है, एक सामान्य उद्देश्यके लिए विभिन्न मस्तिष्कोंका—बुद्धियोंका सगठन है (२)।' राज्य मानव मस्तिष्को की एक आत्म-निर्णायक व्यवस्था है और वह मस्तिष्क स्वत भी आत्म-निर्णय समर्थ होते है। राज्य एक यान्त्रिक-सगठन नही है।

महत्त्व और मर्यादा

संघटना सिद्धान्तके महत्त्व और मर्यादाके सम्बन्धमें निष्कर्ष रूपमें नीचे लिखे तथ्यो के लिए हम श्री गेटेल (Gettell) के आभारी है

(१) यह सिद्धान्त ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोणोंका महत्त्व बतलाता है।

(२) यह सिद्धान्त प्राकृतिक और सामाजिक वातावरणके प्रभावो पर जोर देता है।

(३) यह सिद्धान्त नागरिकों तथा राजनैतिक संस्थाओंके परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पर जोर देता है।

(४) यह सिद्धान्त सामाजिक जीवनकी तात्त्विक एकता पर और समाजके विभिन्न अंगोंके जटिल-अन्तर्संबंधों पर जोर देता है।

(५) यह सिद्धान्त हमें यह सिखाता है कि समाज बिखरे हुए सम्बन्ध-हीन व्यक्तियो का एक मात्र समूह नही है जिनको एकतामें बाधने वाला— एक-रूप देने वाला कोई सम्बन्ध ही नही है। यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध करता है कि एक प्रकारसे प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् रूपसे समग्र समाज पर निर्भर रहता है और दूसरी ओर समग्र समाज प्रत्येक सदस्य पर निर्भर रहता है।

(६) यह सिद्धान्त इस तथ्य पर विश्वास करता है कि मनुष्य स्वभावत एक 'राजनीतिक प्राणी' है और यह कि सामाजिक संगठनकी मनुष्योंकी सार्वभौम प्रवृत्ति राज्यको जन्म देती है।

[illegible] राज्य और व्यक्तिकी अवयवीय संघटनाके बीच बताई गई समानताएं, प्रभावपूर्ण होते हुए भी कल्पनाजन्य या खींच-तानकर जुटाई गई जान पड़ती, और [illegible] विरुद्ध भी है

(१) [illegible] अपने विभिन्न अंगों—सदस्योंकी इच्छाके साथ एक- [illegible]।

(२) [illegible] संघटनामें [illegible] सिद्धान्तोंका पालन स्वत अपने आप [illegible] समाजमें हमें सचेतन संचालन और नियमनका [illegible] देता है।

(३) राज्यके सघटना-सिद्धान्त या शरीर-सिद्धान्तमें एक और भी खतरा है। वह यह कि राज्यके महत्त्वको बढाते-बढाते हम उसे स्वत. अपने आपमें ही एक लक्ष्य-रूप न मान बैठें और इस तथ्यको भूल जायें कि राज्यके अस्तित्वका उद्देश्य उसके व्यक्तिगत सदस्योका कल्याण है। दूसरे शब्दोमें डर यह है कि समाजके लिए व्यक्तिका बलिदान न कर दिया जाय।

(४) व्यक्तिके जीवनका पूर्ण उद्देश्य केवल इतना ही नही है कि वह समाजके शाश्वत जीवनका आधार-मात्र बनकर रह जाय। प्रत्येक व्यक्तिको बहुत अधिक मात्रामें स्वयं अपने जीवनका निर्माण करना होता है। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी चेतना—अपनी विवेकशीलता और अपनी ईप्सा या इच्छा होती है। पशुओकी शरीर-सघटनाके कोशाओ (Cells) के सम्बन्धमें यह सब सत्य लागू नही होता।

(५) एक भौतिक शरीर-सघटनाके अगोको यदि काट कर अलग कर दिया जाय तो उसका नाश हो जाता है—उसकी सजीवता समाप्त हो जाती है। राज्यका कोई सदस्य जब उससे विभक्त हो जाता है तब राज्यके सम्बन्धमें यह बात लागू नही होती।

निष्कर्ष-रूपमें यह कहना होगा कि राज्यका यह शरीर-सघटना-सिद्धान्त बहुत ही लचीला है और इसलिए बडी सावधानीसे इसका प्रयोग करना चाहिए। सादृश्य-मूलक तुलनाको बहुत दूर तक नही घसीटना चाहिए। सभी जगह उसका प्रयोग करनेसे निश्चय ही कभी-कभी विवेकशून्य और हास्यास्पद परिणामो पर पहुचना होगा।

Select Readings

BARKER, E—*Political Thought in England Spencer to Present Day*—pp. 175-183

FOLLETT, M. P—*The New State*—Chs 23-28

GARNER, J. W—*Introduction to Political Science*—Ch. II.

GARNER, J W—*Political Science and Government*—Chs IV-VII

GETTELL, R G—*Introduction to Political Science*—Ch II-IV

GETTELL, R G—*Readings in Political Science*—Chs. II-IV.

GETTELL, R G—*Problems in Political Evolution*—Ch. III.

GETTELL, R G—*History of Political Thought.*

GILCHRIST, R. N.—*Principles of Political Science*—Ch II.

LASKI, H. J—*The State in Theory and Practice*—Ch. II

LEACOCK, S—*Elements of Political Science*—Ch I.

MACIVER, R M—*The Modern State*—Introduction

MACIVER, R M—*The Web of Government*—Ch XIII.

ROUSSEAU, J J.—*The Social Contract*—Ch. II, IX and X.

SEELEY, J—*Introduction to Political Science*—Ch I-II.

WILLOUGHBY, W. W.—*The Nature of the State*—Ch II.

३

राज्य की उत्पत्ति

(The Origin of the State)

राज्यके उद्भवकी विवेचना करते समय यह अच्छा होगा कि हम उसकी प्रागैतिहासिक कालकी प्रारम्भिक उत्पत्तिको ऐतिहासिक कालके विकाससे पृथक समझ लें। प्रारम्भिक उत्पत्तिकी समस्या तो बहुत कुछ कल्पना-मूलक है। उन पर सोचते हुए हमें प्रागैतिहासिक कालके आदिम मनुष्य तक जाना पड़ेगा। हमें उस बातका कोई भी अविकार-पूर्ण ज्ञान नहीं है कि राज्यका प्रारम्भ कैसे हुआ। आधुनिक समाज-शास्त्र, जाति-विद्या (Ethnology), पुरातत्त्व-शास्त्र (Anthropology) और विधान-शास्त्रक इतिहास आदिसे उस धुंधले अतीत पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता अवश्य है पर यह सब शास्त्र राज्यकी प्रारम्भिक उत्पत्तिके विवेचनमें कोई सूक्ष्म दृष्टि देनेमें असमर्थ है। फिर भी, इस अनिश्चित स्थितिके होते हुए भी, हम इतना तो निःसंशय होकर कह सकते है कि जहा कही भी एक बड़ी संख्यामें मनुष्य इकट्ठे रह हैं वहीं राज्यका अस्तित्व रहा है चाहे वह प्रारम्भिक रूप में रहा हो और चाहे विकसित रूपमें। प्रारम्भिक राजनैतिक संस्थाओंके सम्बन्धमें असंदिग्ध प्रमाणोंके अभावमें हम विवश है कि जो कुछ भी थोड़ा-बहुत ज्ञान हमें उपलब्ध है उस धुंधले अतीतके सम्बन्धमें उसीके आधार पर हम अनुमान लगाए और सामान्य सिद्धान्तोकी स्थापना करें।

राज्यकी प्रारम्भिक या प्रागैतिहासिक उत्पत्ति
(The Primary or Prehistorical Origin of the State)

राज्यकी प्रारम्भिक अथवा प्रागैतिहासिक उत्पत्तिके सम्बन्धमें इतिहास और राजनीतिके लेखकोंने विभिन्न सिद्धान्तोकी स्थापना की है। यह सिद्धान्त निम्नलिखित है

(१) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (The Divine Origin Theory),
(२) सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त (The Social Contract Theory),
(३) शक्ति-सिद्धान्त (The Force Theory),
(४) मातृसत्ताक (Matriarchal) सिद्धान्त, और
(५) पितृ सत्ताक (Patriarchal) सिद्धान्त।

पोलिटिकल थियरी (Political Theory, 1939) के लेखक श्री क्रेनेनबर्ग (Kranenburg) इन सभी सिद्धान्तोको तीन विभागोमें रखते है (१) धर्म या ईश्वर-सत्ताक सम्बन्धी, (२) स्वाभाविक विधान सम्बन्धी, और (३) शक्ति-परक सिद्धान्त।

राज्यके प्रारम्भिक उद्भवके सम्बन्धमें यह सबसे पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्यकी स्थापना स्वयं परमात्मा द्वारा अथवा अन्य किसी अति मानवी (Superhuman) या दैवी शक्ति द्वारा हुई है और उसीके द्वारा उसका शासन भी

होता है। राज्यका शासन ईश्वर चाहे स्वय करे और चाहे अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा कराये, जिसे उसका घटक या महाक्षत्रप या पादरी मान लिया जाय। ऐसे राज्यको धर्मतन्त्रात्मक राज्य या ईश्वर-सत्ताक राज्य कहते है। यह दैवी-उत्पत्ति-सिद्धान्त या धर्मतन्त्रकी धारणा उतनी ही प्राचीन है जितना स्वय राज्यका अस्तित्व और प्राय सभी आदिम जातियोमें यह धारणा पाई जाती है। यह तो एक अधिकार-पूर्ण तथ्य है कि राज-सत्ताके प्रारम्भिक स्वरूपोंके सम्वन्धमें यह विश्वास था कि उनका सम्वन्ध किसी दैवी शक्तिसे है। प्रारम्भिक शासक धर्म-गुरु और राजा दोनोका ही एक सम्मिलित स्वरूप हुआ करते थे।

१. दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त (The Divine Origin Theory)

प्रारम्भिक कालमें दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तके प्रधान पोषक थे यहूदी लोग। उनके धर्म-ग्रन्थमें इस धारणाके उद्धरण वरावर मिलते है कि ईश्वर स्वय राजाओको चुनता है, उन्हे नियुक्त करता है, वर्खास्त करता है और उनकी हत्या भी करता है। अपने कार्योके लिए राजा केवल ईश्वरके ही सम्मुख उत्तरदायी है। यूनानी और रोमवासी राज्यको केवल अप्रत्यक्ष रूपमें ही दैवी मानते थे। यद्यपि उन्होने धार्मिक विचारोको राजनीतिसे अलग नही किया था फिर भी वह राज्यको मनुष्यकी राजनैतिक प्रवृत्तियो का स्वाभाविक विकास मानते थे।

दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तके कुछ प्रवल समर्थक हुए प्रारम्भिक ईसाई धर्म-गुरु, जिन्होने अपने उपदेशोका आधार सन्त पॉल (Pt Paul) के इस उपदेशको वनाया 'प्रत्येक व्यक्तिको दैवी शक्तियोके अधीन रहना चाहिए क्योंकि परमात्माको छोडकर अन्य कोई दूसरी शक्ति है ही नही धरती पर जो भी शक्ति है वह परमात्माके ही द्वारा नियुक्त है।'[1]

ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) और ईसाईधर्म-गुरुओके उपदेशोने मध्य-युग में धर्म-सघ और राज्यके वीच होने वाली कशमकश पर और तत्कालीन लेखको पर वड़ा गहरा प्रभाव डाला। इन लेखकोमे से कुछने तो दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तका उपयोग राज्य के ऊपर धर्म-सघका प्रभुत्व स्थापित करनेमें किया और कुछने धर्म-सघके ऊपर राज्यकी सत्ता स्थापित करनेमे।

प्रोटेस्टेंट-रिफॉर्मेशन (Protestant Reformation) ने दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तको और इससे सम्वन्वित राज-सत्ताके प्रति सविनय आज्ञा-पालन या अविरोध (Passive obedience or non-resistance) के सिद्धान्तको वहुत वल दिया यद्यपि धार्मिक मामलोमें यह आन्दोलन व्यक्तिगत स्वातत्र्य और व्यक्तिकी विवेक शक्ति का समर्थक था। क्रमश: दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त अधिकाधिक रूपमें राजाओंके दैवी अधिकार-सिद्धान्त (Theory of the Divine Right of Kings) में वदलता गया। विशेषकर सोलहवी और सत्रहवी सदीके इंगलैडके सम्वन्धमें यह वात सच्चाईके साथ लागू होती है। इस उत्तरकालीन सिद्धान्तके प्रधान पोषक थे प्रथम स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम और रॉवर्ट फिल्मर (James I and Robert Filmer)। फ्रासमें

---

[1] रोमन्स १३ १ (Romans 13 1) पर इस वातको आसानीके साथ भुला दिया गया कि उन्ही धर्म-ग्रथोमें यह भी कहा गया है: हमें मनुष्यके वजाय ईश्वरकी आज्ञाओका पालन करना चाहिए।' (Acts 5 29)

बॉसिट (Bousset) ने इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन चौदहवें लुई (Louis XIV) के निरकुश शासनका समर्थन करनेके लिए किया था।

अपने ग्रन्थ दि लॉ ऑफ् फ्री मोनार्कीज (The Law of Free Monarchies) मे जेम्स प्रथमने इस सिद्धान्तका स्पष्ट विवेचन किया है। उसका यह दावा है कि राजाको सत्ता या शक्ति स्वय ईश्वरसे प्राप्त हुई है। और इसलिए राजा अपनी प्रजा और विधान दोनोसे ही ऊपर है। राजा केवल ईश्वरके और अपने विवेक या आत्माके ही अधीन है। प्रजाके प्रति उसका कोई वैधानिक उत्तरदायित्व नही है। केवल एक ही उत्तरदायित्व उसके ऊपर है और वह है प्रजा पर ठीक ढगसे शासन करनेका नैतिक उत्तरदायित्व—ईश्वरके प्रति। राजा विधानोका निर्माता है, विधान राजाओका निर्माता नही है। राजाका 'प्रत्येक व्यक्ति पर अधिकार है, उसके जीवन-मरण पर उसकी सत्ता है।' अपने समूचे ग्रन्थमें जेम्स प्रथमने यह मान्यता बना ली है कि राजा लोग बुद्धिमान् और अच्छे होते है और प्रजा दुर्बल और मूढ होती है। उसका कहना है कि राजा समूचे देशका एक शिक्षक होता है। फ्री मोनार्की (Free Monarchy) 'स्वतत्र राजतत्र' से उसका अर्थ है ऐसा राजतत्र जो स्वेच्छापूर्वक शासन करनेके लिए स्वतत्र हो।

दैवी-अधिकार-सिद्धान्त

यदि राजा बुरा हो तो भी प्रजाको उसके विरुद्ध विद्रोह करनेका कोई अधिकार नही है। राजाके विरुद्ध विद्रोह करनेका अर्थ है स्वय ईश्वरके विरुद्ध विद्रोह करना क्योकि राजा तो ईश्वरका चुना हुआ क्षत्रप है। एक अविचारी राजा प्रजाके पापोके प्रायश्चित्त-रूप ईश्वर द्वारा भेजा गया राजरोग है—दड है, और इसलिए उसको दूर हटानेका प्रयास गैर-कानूनी काम है। एक अविचारी राजाकी रोक-थाम करने वाली केवल एक बात है—दूसरे जन्म में मिलने वाले दडका भय—और यह दड निश्चित रूपसे बडा भयानक होता है। जेम्स प्रथमकी ही ओजस्वी भाषामें 'राजाओको देवता कहा जाता है तो बिल्कुल ठीक कहा जाता है क्योकि धरती पर वह दैवी शक्तिके अनुरूप ही व्यवहार करते है।' 'जैसे ईश्वरकी शक्तिके सम्बन्धमे विवाद करना नास्तिकता और पाखड है उसी प्रकार प्रजा के लिए यह विवाद कि राजा क्या कर सकता है या यह कहना कि राजा अमुक कार्य नही कर सकता एक दुस्साहस और अवहेलना या निन्दाकी बात है।' 'राजा धरती पर ईश्वरकी सजीव प्रतिमूर्ति है।'

राजाओके दैवी शक्ति-सिद्धान्तके प्रधान लक्षण यह है

(१) राजसत्ता ईश्वर द्वारा नियुक्त है,

(२) वशानुगत अधिकार अत्याज्य है,

(३) राजा केवल ईश्वरके प्रति उत्तरदायी है, और

(४) नियमानुसार अधिष्ठित राजाके विरुद्ध प्रतिरोध या विद्रोह पाप है। (जी० पी० गूच–G P Gooch)

बहुत सम्भव है कि इस सिद्धान्तके समर्थकोको स्वय ही इसकी अनेक अतिवादी मान्यताओ पर पूरा विश्वास न रहा हो। मध्य-युगमें इस सिद्धान्तके ऐसे प्रबल समर्थनका एक प्रधान कारण यह था कि उग्र कैथोलिक सम्प्रदायके विरुद्ध यह सिद्धान्त राज्यको शक्ति देता था और पोपके अधिकार-क्षेत्रका जो अनुचित विस्तार हो रहा था, उस पर इस सिद्धान्तसे रोक लगती थी। इस सिद्धान्तका समर्थन करते समय लोग यह भूल गये

कि राजाके भी अत्याचारी हो जानेका भय है। आगे चल कर इसी सिद्धान्तका उपयोग जनताकी राजनैतिक जागृतिके विरुद्ध, प्रजातन्त्रके विचारोको दवानेके लिए और निरकुश शासनका समर्थन करनेके लिए किया गया। अठारहवी सदीके अन्तमें जाकर लोगोने यह स्वीकार किया कि यह सिद्धान्त शुद्ध विचारकी दृष्टिसे दोष-पूर्ण और क्रियात्मक रूपमें भयावह है और इसका त्याग कर दिया। फिर भी ऑस्ट्रिया, जर्मनी और रूस जैसे देशोमें यह सिद्धान्त कुछ समय तक और प्रचलित रहा।

आज राजनैतिक विचारकोमें से एक भी राज्यके दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त या राजाओ के दैवी अधिकार-सिद्धान्तका समर्थक नही है। इन सिद्धान्तोका विस्तृत विवेचन और विरोध मरे हुएको मारनेके समान है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि यद्यपि सामान्य रूप से विचारक परिवार और राज्य जैसी मानव-समाजकी सस्थाओको एक दैवी उद्देश्य और योजनाके अनुकूल ही मानते है, फिर भी राज्य एक ऐतिहासिक विकास है और मानव-समाजके राजनैतिक प्रयासोका फल है। गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के अनुसार इस सिद्धान्तके पतनके कारण निम्नलिखित है

(१) सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्तका उदय और उसके अन्तर्गत स्वेच्छा-स्वीकृति (Consent) की महत्ता।

(२) आत्मिक शक्ति (Spiritual Power) से अलग ऐहिक या सासारिक शक्ति (Temporal Power) की प्रधानता या दूसरे शब्दोमें, धर्म-सघ और राज्य का पृथक्करण,

(३) प्रजातन्त्रके उदयसे निरकुश-शासनके सिद्धान्तका विरोध।

राजनीति-शास्त्रके एक सिद्धान्तके रूपमें इस विचार-धारा पर ग्रोशियस, हॉब्स और लॉक (Grotius, Hobbes and Locke) ने वडे कडे प्रहार किये। फिर भी दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तमें भी कुछ सार तत्त्व थे, उनमें से कुछ साकेतिक महत्ताए निम्नलिखित है

(१) जिस समय मनुष्य अर्द्ध-सभ्य अवस्थासे गुजर रहा था और धर्म-निरपेक्ष एक लौकिक सत्ताके प्रति अथवा अपने ही वनाए हुए विधानके प्रति सम्मान और आज्ञा-पालन का अभ्यास जव उसे नही था तव सवल समाजमें व्यवस्था कायम रखनेमें राज्यके दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्तने निस्सन्देह वडा शक्ति-पूर्ण योग दिया होगा। अराजकताके विरुद्ध यह सिद्धान्त-एक दृढ दुर्ग जैसा था और व्यक्ति, सम्पत्ति और सरकारके प्रति सम्मानकी भावनाको दृढ करनेमें इसने वडा योग दिया।

(२) इसकी व्याख्या इस अर्थमें भी की जा सकती है कि व्यवस्था और नियमनकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक है और वहुत गहरी है और उसका प्रस्फुटन राजनैतिक सगठनमें होता है।

(३) इस सिद्धान्तका सवसे वडा महत्त्व इस वातमें है कि अप्रत्यक्ष रूपसे यह सिद्धान्त राजनैतिक व्यवस्थाके नैतिक आधार पर जोर देता है। यह इस वात पर जोर देता है कि सरकारका—शासनका अस्तित्व प्रजाके कल्याणके लिए है। एक निरकुश शासक भी जिस प्रकार अपनी सत्ताका—अपने अधिकारका उपयोग करता है उसके लिए ईश्वरके सम्मुख उसका एक नैतिक उत्तरदायित्व है।

परिभाषा. इस सिद्धान्तकी मान्यता यह है कि राज्य एक स्वेच्छापूर्वक जानवूझ

वाद राजनैतिक विवादोमें सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण हो गया।'

अंग्रेज लेखकोमे सबसे पहले अनुबन्ध-सिद्धान्तकी निश्चित व्याख्या करने वाले थे श्री रिचार्ड हूकर (Richard Hooker 1540-1600)। अपनी लॉज ऑव एक्लेसियास्टिकल पॉलिटी (Laws of Ecclesiastical Polity) नामक पुस्तकमें, जो १५९४ में छपी थी, उन्होने इस सिद्धान्तकी व्याख्या की। यह व्याख्या इस पुस्तकके प्रथम खडके दसवें अध्यायमे है। प्राकृतिक विधान, और उस विधानमें मनुष्यका जीवन कैसा क्या था—इस सम्बन्धमें हूकर ने मध्यम मार्ग अपनाया है न तो वह हॉब्स (Hobbes) की तरह उसे एकदम निराशाजनक ही चित्रित करते है और न रूसो की प्रारम्भिक पुस्तकोकी तरह उस सुनहले रगोमें ही रग देते हैं। हूकर के सामने विचार करनेकी केवल एक प्रधान समस्या यह रही है कि जनताको एक ऐसी राजनैतिक सत्ताकी आज्ञाओका पालन करना चाहिए या नही, जिसे उन्होने स्वय स्थापित नही किया। और उनका उत्तर यह है कि प्रारम्भिक अनुबन्ध (Original Contract) के अनुसार लोगोको राज्यका आज्ञापालन करना ही चाहिए। और यदि इस अनुबन्धको भग करना हो तो वह सर्वसम्मतिसे ही किया जा सकता है। पर चूकि विश्व-व्यापी सर्व सम्मति (Universal agreement) वास्तवमें असम्भव ही है, इस लिए राजनैतिक सत्ताकी अवज्ञा (Disobedience) प्राय सर्वदा अनुचित है। इस प्रकार हूकर की विवेचना हॉब्स की ही जैसी है। अनुबन्ध-सिद्धान्त (Contract Theory) का पोषण करते हुए भी हूकर समाजको नितान्त कृत्रिम और अनुबन्धमूलक (Purely artificial and contractual) नही मानते। उनके मतसे अनुबन्ध तो मनुष्यकी प्रवृत्तियोका ही एक अग है न कि उसकी असमर्थताका फल। मनोविज्ञान और ऐतिहासिक सत्यकी दृष्टिसे हूकर अपनी इस विवेचनामे हॉब्स से बहुत अधिक आगे बढ गए है—हॉब्स ने सामाजिक जीवनके तथ्योकी एक नितान्त निर्जीव—यत्रवत् व्याख्याकी है (६ ३५)।

हॉब्स, लॉक और रूसो क सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्तकी विवेचना पाचवे अध्याय में की गई है। रूसो के बाद यह सिद्धान्त धीरे-धीरे समाप्त हो गया। कान्ट तथा उनके शिष्य फिश्ने (Fichte) ने उसका काफी उपयोग किया। कान्ट ने तो अनुबन्ध-सिद्धान्त का उपयोग विधानोंके औचित्य (justness) को परखनेके लिए किया। फ़िश्ते के विचार इस सम्बन्धमें हमेशा एक से नही रहे। अपनी प्रारम्भिक रचनाओंमें तो उन्होने यह विचार व्यक्त किया है कि मनुष्य केवल नैतिक विधानो (Moral Laws) के ही अधीन है और इसलिए वह इस अनुबन्धको स्वेच्छापूर्वक जब चाहे तब तोड सकता है। एडमड बर्क ने तो इस सिद्धान्तको एक साधारण गल्प कह कर ही टाल दिया है। व्यावहारिक क्षेत्रमें रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तका फ्रासीसी राज्य-क्रान्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पडा था और अमेरिकाका सविधान (Constitution) बनाने वालो पर भी इस अनुबन्ध-सिद्धान्तका सामान्य प्रभाव पडा था।

उन्नीसवी सदीमें इस अनुबन्ध भावना (Contract notion) का पतन और ह्रास (downfall) हो गया। इसका बहुत बडा कारण था उस युगका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण जिसने पहलेके कल्पना और विचारमूलक (speculative) दृष्टिकोणका स्थान ले लिया था। फ्रासमें माटेस्क्यू (Montesquieu) ने राजनीति

के क्षेत्र में ऐतिहासिक पद्धतिको वल दिया और डार्विन (Darwin) तथा उसके अनुयायियोने सभ्याओका विश्लेषण और विवेचन विकासवाद (Evolution) के अनुसार करना सिखाया।

(३) **सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्तकी आलोचना.** इस सिद्धान्त पर तीन ओर से—तीन दृष्टिकोणोंसे आक्रमण किए गए है, ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे, कानूनकी रूसे और दार्शनिक अथवा विचारात्मक दृष्टिकोण से :

श्री क्रेनेनबर्ग (Kranenburg) के अनुसार इस सिद्धान्तमें वियोजक या निगमनात्मक पद्धति (Deductive system) का वहुत अधिक प्रयोग किया गया है और व्याप्तिमूलक (Inductive) विचार-पद्धतिका प्रयोग वहुत कम हुआ है (४५ : ८)।'

(क) **ऐतिहासिक**

(१) अनुवन्ध-सिद्धान्तकी एक आलोचना जो स्वत स्पष्ट है, वह यह कि इस सिद्धान्त का कोई तथ्यपूर्ण आधार (Basis in Fact) नही है। यह अनुमान कर लेना कि आदिम मनुष्य किसी एक युगमें इकट्ठे हो गए और उन्होने आपसमें कोई एक सविदा या समझौता (Contract) करके एक राजनैतिक समाजकी स्थापना कर ली, यह तो इतिहास की गतिको उल्टा देखना है। अनुवन्धका विचार ही आदिम मनुष्योंके वशके वाहरकी वात है। आज तक कोई इस वातका एक भी उदाहरण नही दे सका कि आदिम अवस्थाको पार करनेवाले मनुष्योने कही जान वूझ कर आपसी समझौतेके द्वारा किसी प्राकृतिक राज्यकी स्थापना की हो। यह सच है कि सन् १६२० ई० के 'वसत-कुसुम सन्याह' (Mayflower Compact), १६३८ के 'दैवी अनुवन्ध' (Providence Agreement) जैसे उदाहरण सामाजिक अनुवन्धकी ऐतिहासिकताके पक्ष में दिए जाते हैं। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन लोगोने यह अनुवन्ध किये थे वह प्राकृतिक अवस्थाको नही पार कर रहे थे। वह लोग पहले दूसरे राज्योमें रह रहे थे, वहाकी राजनैतिक सस्थाओ से भली-भाति परिचित थे और जिन सस्थाओ और विचारकोको वह पहलेसे जानते-समझते थे, उन्ही विचारो और सगठनो—सस्थाओको नये भूभागोमें प्रचलित भर कर रहे थे।

(२) शासकीय (Governmental) और राजनैतिक अनुबन्धोके भी उदाहरण है पर यह सव अनुवन्ध या समझौते उन लोगोंके बीच हुए है जो पहलेसे ही सभ्य सामाजिक जीवन विता रहे थे। ऐसे उदाहरण राज्यकी ऐतिहासिक उत्पत्तिकी समस्या को किसी प्रकार भी हल नही करते। शासक और प्रजाके अधिकारो और कर्त्तव्योकी व्याख्या भर वह करते हैं। शासकीय अनुबन्ध (Governmental Contract) तो एक तथ्य है—सत्य है, पर सामाजिक अनुवन्ध एक गल्प-मात्र है।

(३) इस सिद्धान्तकी मान्यता एक यह है कि आदिम मनुष्य सामाजिक प्राणी कम था और व्यक्ति-परक (Individualist) अधिक। यह मान लिया गया है कि वह एक स्वतन्त्र व्यक्ति था और अन्य स्वतन्त्र व्यक्तियोंके साथ स्वेच्छापूर्वक समझौता करनेके लिए आज़ाद था।, पर आदिम युगके सम्वन्धमें की गई खोजोसे तो ऐसा नही सिद्ध होता। आदिकालीन विधान व्यक्तिगत होनेके वजाय साम्प्रदायिक या समाज-परक अधिक था।

व्यक्तिका महत्त्व बहुत कम था। परिवार, सामाजिक जीवनकी इकाई (Unit) माना जाता था। सम्पत्ति परिवारके साझेमें रहती थी। कानून परम्पराके रूपमें था। समाज में व्यक्तिका एक निश्चित-निर्दिष्ट स्थान था। ऐसी परिस्थितियोमें राज्य जैसी एक महत्त्व-पूर्ण सस्थाके सम्बन्धमें व्यक्तियो द्वारा परस्पर स्वेच्छापूर्वक कोई समझौता करना एक विचारशून्य बात जान पडती है।

(ख) वैधानिक

(१) यदि हम यह मान भी लें कि आदिम मनुष्य अपनी सामाजिक चेतना (Social Consciousness) में इतना आगे बढ चुका था कि वह समझौते कर सकता था तब भी एक बात यह तो रह ही जाती है कि ऐसे समझौतेकी कोई कानूनी या वैधानिक मान्यता नही रहती। किसी भी समझौतेके मान्य होनेके लिए यह आवश्यक है कि उसके पीछे राज्यकी स्वीकृतिका बल हो। पर इस समझौतेके पीछे ऐसी कोई शक्ति नही है, क्योकि उस समझौतेकी स्थिति राज्यकी स्थापनासे पहले मानी गई है और राज्य की स्थापना उसके बाद हुई मानी गई है। श्री० टी० एच० ग्रीन (T H Green) के शब्दोमें 'ऐसा प्रतिश्रव या अनुबन्ध (Compact) जिनके द्वारा एक अस्थायी नागरिक सत्ताकी स्थापना होती है, प्रामाणिक नही माना जा सकता। ऐसे अनुबन्ध या इकरारनामे करने वाले लोग ऐसी स्थिति या अवस्था में होते ही नही कि वह कोई प्रामाणिक अनुबन्ध या जायज इकरारनामा (Valid Compact) कर सकें।' ऐसे अनुबन्धके पीछे ऐसी कोई शक्ति होती ही नही जो उसे मान्य बनावे।

(२) तो इस प्रकार जब प्रारम्भिक अनुबन्ध (Original Contract) ही अर्थ-हीन—अप्रामाणिक है, तब उसके आधार पर किए गए बादके सभी इकरारनामे उसी प्रकार नाजायज होगे और ऐसे अनुबन्धोसे प्राप्त होने वाले अधिकारोका भी कोई वैधानिक या कानूनी आधार न होगा।

(३) कोई इकरारनामा या अनुबन्ध केवल उन्हीं लोगो पर लागू होता है जो उसे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते है। पर यह सामाजिक अनुबन्ध तो उन पीढियो पर भी लागू होता है जिनका उसमें कोई हाथ ही नही रहा। यदि पूर्वजोंने खट्टे अगूर खाये तो उनके वशधरोंके दात क्यो खट्टे हो? इस प्रश्नके उत्तरमें लॉक (Locke) का यह सिद्धान्त रखा जा सकता है कि राज्यमे रहनेका अर्थ ही यह है कि रहने वाला इस प्रारम्भिक अनुबन्ध को चुपचाप स्वीकार करता है। पर यह उत्तर तो स्पष्टत कठिनाईसे बच निकलनेका उपायमात्र है। अनुबन्धके शुद्ध अर्थोमें तो इकरार करनेवाले दोनो पक्षोकी मृत्युके साथ ही उस अनुबधको भी समाप्त हो जाना चाहिए और नई पीढियोको अपने नये इकरार—नये अनुबन्ध करने चाहिए। और यह एकदम स्पष्ट बात है कि ऐसी परि-स्थिति मे राजसत्ताका महत्व समाप्त हो जायगा और सम्भव है कि स्वय राज्यका ही अन्त हो जाय। यह स्वत सिद्ध है।

(ग) दार्शनिक

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके सम्बन्धमे की जाने वाली दार्शनिक आपत्तिया तो ऐतिहासिक और वैधानिक आपत्तियोंमे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा ऊपर लिखा जा

चुका है। अनुवन्ध-सिद्धान्तके अनेक समर्थक यह कहते है कि अनुवन्धकी वाते एक ऐतिहासिक गल्प-मात्र है पर फिर भी वह लोग इसका उपयोग कुछ दार्शनिक सिद्धान्तोकी पुष्टिमें करते है। आपत्तिया यह है

(१) इस सिद्धान्तमें यह मान लिया गया है कि राज्य और व्यक्तिके बीचका सम्वन्ध एक स्वेच्छा-सम्वन्ध (Voluntary relation) है। सावधानीके साथ विचार करने पर यह वात ठीक नही उतरती। हम राज्यके सदस्य ठीक उसी प्रकारसे हो जाते है जिस प्रकार कि हम परिवारके सदस्य होते है। वच्चेकी परिवारकी सदस्यता और माता-पिताकी आज्ञा-पालनका कर्तव्य वच्चेकी स्वेच्छा पर नही निर्भर करते। राज्यमें हमारा जन्म होता है, साधारणत हम राज्य स्वेच्छापूर्वक चुनते नही है, और यदि आगे चलकर नागरिकता वदल भी डालते है तव भी हम राज्यमें ही रहते है। राज्य मनुष्य द्वारा की गई कृत्रिम सृष्टि (Artificial creation) नही है, राज्यकी सदस्यता व्यक्तिकी स्वेच्छाका विषय नही है। यदि राज्य भी एक कम्पनी या फर्म-व्यापार-सघकी भाति व्यक्तियोकी स्वेच्छा पर निर्भर संगठन होता तो प्रत्येक व्यक्तिको आजादी होती कि वह जव चाहे तव उसमें शामिल हो जाए और जव चाहे तव उससे अलग हो जाए। राज्यके प्रति व्यक्तिके कर्त्तव्य किसी प्रकार भी इकरार या अनुवन्धके विषय नही कहे जा सकते। यदि राज्यके प्रत्येक कार्यका औचित्य प्रत्येक सदस्यकी स्वीकृति पर निर्भर हो तो राज्यका जीवन ही असम्भव हो जाए, क्योकि शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसके सम्वन्धमें समस्त नागरिकोका समर्थन प्राप्त हो सके। व्यक्तिकी स्पष्ट स्वेच्छा-स्वीकृतिको ही राजनैतिक कर्तव्यका मूल आधार मानने वाला स्पेंसर (Spencer) जैसा व्यक्तिवादी भी इस स्थितिकी व्यर्थताको स्वीकार करता है। अनुवन्ध-सिद्धान्तके समर्थक इस कठिनाईको हल करनेके लिए यह कहते है कि केवल प्रारम्भिक अनुवन्ध (Original contract) के लिए सर्वसम्मत-स्वीकृति (Unanimous Consent) की आवश्यकता थी, पर उसके वाद वहुमतकी स्वीकृति ही काफी है। यह तो तर्कहीन वात हुई। यदि हम प्रारम्भ करते है सर्वसम्मत-स्वीकृतिसे तो क्या यह उचित नही है कि हम उसे अन्त तक निभाए? एडमड वर्कके प्रसिद्ध और प्रभाव-पूर्ण शब्दोमें 'यह न समझना चाहिए कि राज्य भी नमक-मिर्च, गाजा-भाग या गजी-गाढाके व्यापारमें साझीदारीका इकरारनामा मात्र है और उससे अधिक कुछ नही है कि मौके पर नफा खानेके लिए उसमें लोग जव मन चाहे शामिल हो जाए और जव साझीदार चाहें तव उसे तोड दें।' राज्य यदि किसी अर्थमें साझेदारी है, तो वह साझेदारी एक उच्चकोटिकी और सर्वकालीन या स्थायी (Permanent) साझेदारी है। फिर वर्कके ही शब्दोमें 'यह साझेदारी समस्त विज्ञानकी साझेदारी है, सभी कलाओकी साझेदारी है, समस्त सदगुणोकी साझेदारी है और सव प्रकारकी परिपूर्णताकी साझेदारी है। और चूकि इस साझेदारीके उद्देश्योकी पूर्ति अनेक पीढियोमें भी नही हो सकती इसलिए यह साझेदारी केवल उन्ही लोगोके वीच की नही है जो जीवित है वल्कि यह साझेदारी है उन सवके बीचकी जो कभी जीवित थे, जो आज जीवित है और जो भविष्यमें उत्पन्न होगे।' इस प्रकार व्यक्ति राज्यका सदस्य अपने स्वेच्छापूर्वक किए गए सम्वन्धके कारण नही है, वह राज्यका सदस्य जन्मसे ही है। उसके कर्त्तव्य 'किसी अनुवन्ध या इकरारनामे पर निर्भर नही है वल्कि उसके कर्त्तव्योका आधार है सार्वजनिक हित या समाजकी आवश्यकताए या उपयोगिताए (२२ ११३)।'

(२) प्राकृतिक-राज्य और प्राकृतिक विधानोकी समूची धारणा ही युक्ति-सगत नही है। इस धारणाके अनुसार यह मान लिया गया है कि राज्यकी स्थापनाके पहले जो कुछ था वह सब प्राकृतिक था—स्वाभाविक था और उसके बाद जो कुछ भी हुआ (राज्यकी स्थापना समेत) वह सब कृत्रिम है। इतिहासको इस प्रकार कुल्हाडी लेकर दो हिस्सोमें काट डालनेका कोई अधिकार नही—कोई आधार नही है। हमारी आजकी सभ्यता उतनी ही स्वाभाविक है जितनी पिछले जमानेकी बर्बरता स्वाभाविक थी। मनुष्य स्वय प्रकृतिका ही एक अग है और राज्य मनुष्यकी प्रकृतिका सर्वोच्च विकास है। राज्य का विकास हुआ है, वह कोई मशीनकी ढली चीज नही है। राज्यके सम्बन्धमें 'लोग जान-बूझ कर सौदा तय करके समझौता नही करते, बल्कि यह समझौता तो उनकी प्रकृति में—उनके स्वभावमे ही है (२८ ६६)।'

और यदि हम यह मान भी लें कि एक प्राकृतिक राज्य था जिसका शासन प्राकृतिक विधानो अर्थात् स्वाभाविक नैतिक नियमोंके अनुसार होता था तो फिर ऐसी स्थितिमें तो राज्यकी स्थापना उन्नतिके बजाए अवनतिकी ही ओर कदम बढाना सिद्ध होगा क्योकि हृदयस्थ उत्पन्न और स्वीकृत नैतिक नियमोंके बदले राज्यकी दबाव डालने वाली शक्तिको अपनाना निश्चय ही एक कदम नीचे गिरना या पीछे लौट जाना है। जैसा कि ग्रीन (Green) ने कहा है. 'एक ऐसे समाजको जो प्राकृतिक विधान जैसे किसी विधान द्वारा शासित हो अर्थात् जिस समाजमें मनुष्यके अन्तरात्मा या विवेकके अतिरिक्त किसी दूसरी नियत्रण करने वाली शक्तिकी आवश्यकता न हो, उसको छोडकर एक राजनैतिक समाज की ओर कदम बढ़ाना निश्चित पतन होगा। वह समाज तो ऐसा है कि उसके स्थान पर एक नागरिक शासन (Civil Government) की स्थापनाका कोई उद्देश्य—कोई कारण ही नही हो सकता (२८ ७२)।'

एक बात और है, यदि प्राकृतिक राज्य ऐसा रहा कि उसमें अनुबन्ध या इकरारनामा करना सम्भव था तो निश्चय ही वह ऐसी अवस्था थी जिसमें लोगोको सार्वजनिक हित का ज्ञान था, और इसका अर्थ यह है कि लोगोको समाजकी सत्ता और व्यक्तिके कर्त्तव्यो का भी ज्ञान था। और तब हमारा कहना यह है कि ऐसे राज्य और नागरिक या राज-नैतिक राज्यके बीच कोई विशेष अन्तर नही होता। तत्त्वत ऐसा राज्य एक राजनैतिक राज्य ही है, नाम उसका कुछ भी हो। एक राजनैतिक समाजके लिए जो तत्त्व आवश्यक है वह सब ऐसे प्राकृतिक अवस्थाके राज्यमे पहले ही से मौजूद हैं।

(३) सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तमें अधिकारोके सम्बन्धमें एक बडी भ्रम भरी धारणा है। श्री टी० एच० ग्रीन (T H Green) ने बिल्कुल ठीक कहा है 'सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तमे जो सबसे बडी त्रुटि है वह यह नही है कि यह सिद्धान्त अनैतिहासिक (Unhistorical) है बल्कि त्रुटि यह है कि इस सिद्धान्तमें अधिकारो और कर्त्तव्यो की कल्पना समाजसे असम्बद्ध, स्वतत्ररूपमें की गई है।' किसी भी युक्ति सगत और सही दृष्टिकोणसे हम सोचें, अधिकारोका आधार समाज द्वारा उनकी स्वीकृति ही है। अर्थात् समाज एक ऐसे सार्वजनिक कल्याणको स्वीकार करता है, व्यक्तिका कल्याण जिसका स्वाभाविक और अभिन्न अग होता है। अधिकारोकी स्थिति केवल व्यक्तियोके बीच उनके पारस्परिक सम्बधसे ही हो सकती है। व्यक्ति यहा नैतिक अर्थमें लिए गए है अर्थात् ऐसे लोग जिनकी प्रवृत्तिया और इच्छाए विवेकपूर्ण हो—जो समझदारीके साथ काम करते हो। पर

अनुवन्ध-सिद्धान्तमें प्राक्-सामाजिक (Presocial) स्थितिमें भी अधिकारोकी कल्प की गई है। हमारे मतसे ऐसे अधिकार, अधिकार है ही नही, वह केवल शक्तिमात्र है श्री ग्रीनके ही शब्दोमे 'एक प्राकृतिक राज्यमें जो सामाजिक अवस्थामें भी नही प्राकृतिक अधिकारोकी अधिकार-रूपमे स्थिति एक आत्म-विरोधी—आधारहीन वात है जव तक समाजके सभी सदस्य एक सार्वजनिक हितके प्रति सजग न हो—सार्वजनिक कल्याणका जवतक उन्हे ज्ञान न हो तव तक अधिकार हो ही नही सकते (२९ ४८)।'

(४) **इस सिद्धान्तमें सत्यका अश** यद्यपि राज्यकी उत्पत्ति तथा समाजमें मनुष्यो के पारस्परिक सही-सही सम्वन्धोकी व्याख्या करने वाले एक सिद्धान्तके रूपमें सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है और आज कोई उसका समर्थन नही करता, फिर भी उसमें कुछ सत्यका अश है। यदि हम इस सिद्धान्तको ठीक-ठीक समझना चाहते है—विशेष कर यदि इसके उस स्वरूपको परखना चाहते है, जिस रूपमें सत्रहवी और अठ्ठारहवी सदी में इसका प्रतिपादन हुआ था, तो यह जरूरी है कि हम उन वास्तविक उद्देश्योको समझ लें जिन्हे लेकर इसके समर्थकोने इस सिद्धान्तकी पुष्टि की थी। वह उद्देश्य था—राज्यसत्ता और व्यक्तियो द्वारा राजाज्ञाका पालन कराना—इन दोनो तथ्योको दैवी विधान न मानना और इनकी एक अधिक सतोषजनक और मानवीय व्याख्या करना। दैवी अधिकार-सिद्धान्त प्रजाको मजवूर करता था कि वह शासककी आज्ञाओका वेजवान होकर पालन करे। उसके स्थान पर सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्तने इस मौलिक सत्यकी स्थापना की कि राज्य सत्ताको स्वेच्छापूर्वक शासन करनेका कोई अधिकार नही है और प्रजा द्वारा राजाज्ञाके पालनका मूल आधार है प्रजा द्वारा राज-सत्ताकी स्वीकृति। इस सत्यकी व्याख्या करनेमें सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्तने आजके प्रजातत्रकी नीव डाल दी। इस सिद्धान्तने 'व्यक्तिके महत्त्वकी स्थापना की, यह घोषित किया कि राजनैतिक सस्थाओ की उन्नति सीधे-सीधे मनुष्यके प्रयत्नो द्वारा सम्भव है और इस तथ्यकी भी घोषणा की कि अन्तिम रूपमें राजनैतिक सत्ता प्रजाके हाथोमें ही निहित है (२४ ८५)।' यही कारण है कि 'स्वतत्रताके समर्थकोने इसे पसन्द किया, क्योकि निरकुश सत्ताके अधिकारो पर रोक लगानेके उपाय इस सिद्धान्तने सुझाये। जो लोग दर्शन-शास्त्रके पक्षपाती थे, उन्होने भी इसे पसन्द किया क्योकि एक अनुवन्ध या इकरारनामे पर विचार-वेवाद हो सकता है, उसकी आलोचना की जा सकती है और उसमें परिवर्तन-सशोधन क्ये जा सकते हैं जवकि दैवी विधानके सम्वन्धमें यह कुछ नही हो सकता। और यदि इस द्धान्तके विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ (Peculiar historical context) पर ान न भी दें, तव भी यह सिद्धान्त आकर्षक है, क्योकि यह मानव-जातिके अनुभवोके महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रभाव डालता है (५४ .४३)।'

३. शक्ति-सिद्धान्त

इस सिद्धान्तके अनुसार राज्य उच्चतर शारीरिक वलका परिणाम है, वलवान द्वारा लोगोको अपने अधीन कर लेनेसे राज्यका उदय हुआ।

ल्पना करना तो स्वाभाविक है कि आदिम युगमें मनुष्योंके जस किसी व्यक्तिमें अति मानवीय शारीरिक शक्ति होती रोको भयभीत करके उनके ऊपर एक प्रकारकी प्रभुता स्थापित कर लेता[1]। यही

---

[1] ाल्टेयर (Voltair) का सूत्र है 'पहला राजा कोई भाग्यशा...

वात उपजातियो तथा जातियोके पारस्परिक सम्बन्धोके वारेमे कही जा सकती हैं। इसी अनुमानके आधार पर शक्ति-सिद्धान्तके समर्थकोने यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी राज्योके जन्म इसी प्रकार वल-प्रयोगके फलस्वरूप—लोगोको शक्तिके वलसे दवाकर अपने अधीन करनेसे हुआ है।

अपनी पुस्तक 'दि स्टेट (The State)' मे ओपेनहीमर (Oppenheimer) ने जो इस सिद्धान्तके एक प्रवल समर्थक है, राज्यके उदय सम्वन्धी विभिन्न अवस्थाओका इतिहास खोजा है। इस सिद्धान्तके एक दूसरे समर्थक है श्री जेक्म (Jenks)। अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिक्स' (History of Politics) मे वह लिखते है कि यह सिद्ध करनेमे जरा सी भी कठिनाई नही है कि आधुनिक राजनैतिक समाजोके अस्तित्वका मूल सफल युद्धोमे है। इस सिद्धान्तके अनसार युद्धसे ही राज्यका जन्म होता है। इस सिद्धान्तके समर्थकोका कहना है कि जिस सैनिक राज-निष्ठा और प्रादेशिक विशेषता (Military allegiance and territorial character), को हम आधुनिक राजनैतिक समाजकी मोलिक विशेपताए मानते है, उनके दो आधार है एक योद्धाके साथ उसके अनुयायियोका सम्वन्ध और युद्धमे विजय जिसके द्वारा विभिन्न जातियो और देशोके लोग एक ही शासककी प्रभुताके अधीन हो जाते है।

कुछ लेखक 'शक्ति' शव्दका प्रयोग इतने व्यापक अर्थमे करते है कि उसमे न केवल शारीरिक शक्तिको ही, वल्कि बुद्धि-वल और घर्म तत्त्वसे प्राप्त होने वाली शक्तियोको भी समेट लेते है।

दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त और सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्त (Divine Origin and Social Contract Theories) की भाति इस सिद्धान्तके समर्थक भी इसके द्वारा राज्यके ऐतिहासिक विकासकी व्यारया करते है और इसीके द्वारा राज्यके अस्तित्वका औचित्य (Justification of the State) सिद्ध करते है। पर 'शक्ति-सिद्धान्त' के समर्थक भी इन दोनो ही क्षेत्रोमे वैसी ही भूले करते है जैसी दवी उत्पत्ति-सिद्धान्त और सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्तके समर्थक करते हैं। शक्ति-सिद्धान्त व्यावहारिक-क्षेत्रमे सिमटकर इतना ही रह जाता है कि सरकार मनुष्यके जार-जुलमका परिणाम ह। यह विचार-धारा हर्वर्ट स्पेसरकी प्रारम्भिक रचनाओमे पाई जाती है जहा वह कहते है 'सरकारका जन्म वुराइयोसे हुआ है और उन वुराइयोकी छाप अव भी उस पर है।' हम यह मानते है कि राज्यके विकासमे 'शक्ति' एक महत्त्वपूण कारण रही है, पर केवल शक्तिको ही इस विकास का एकमात्र कारण वताना एक स्पष्ट भूल है। प्रारम्भिक राजनैतिक समाजोके सगठनमे अन्य अनेक तत्त्व भी निस्सन्देह साम्मलित हुए होगे। राज्यका विकास जितना शक्ति-प्रयोग और विजयके द्वारा हुआ है उतना ही स्वेच्छापूर्वक होने वाले सम्मिलन या गठवन्धनसे भी हुआ है। विजयके वाद भी राज्यका विकास वल-प्रयोग या दवावकी अपेक्षा समझौते और मेल-मिलापके द्वारा ही अधिक हुआ होगा। शक्ति सिद्धान्त पारस्परिक सहयोग और अन्य ऐसे शान्तिपूर्ण माध्यमोका महत्त्व वहुत घटा देता है जिन्होने राज्यके विकासमे निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

आन्तरिक एकता (Internal Unity) और वाह्य सुरक्षा दोनो ही दृष्टियोसे 'शक्ति' राज्यका एक मौलिक तत्त्व (Essential element) है। शक्ति-तत्त्वके

विना राज्य ध्वसात्मक शक्तियोका शिकार हो जायगा, उसका अस्तित्व ही मिट जायगा।[1] पर अकेले शक्तिको ही न तो राज्यकी ऐतिहासिक उत्पत्तिका ही कारण माना जा सकता है और न आधुनिक युगमें उसके स्थायित्वका। 'न्याय और औचित्यसे रहित शक्ति अपने सर्वोत्तम रूपमें भी क्षण-स्थायी (Temporary) ही होती है, न्याय-युक्त शक्ति राज्यका स्थायी आधार वनती है (२८ ७९)।'

सामाजिक अनुवन्ध-सिद्धान्तकी भाति शक्ति-सिद्धान्तका भी उपयोग अनेक उद्देश्योसे किया गया है। कुछ लोगोका कहना है कि चूकि राज्य शक्तिसे उत्पन्न है इसलिए लोगोको उसका वेजवान होकर आज्ञापालन करना चाहिए। ऐसी स्थिति तो विल्कुल तर्कहीन मालूम होती है। जैसा कि रूसोने स्पष्ट कहा है (६७ पु० १ अ० ३) सवसे अधिक शक्तिमान् व्यक्तिका अधिकार तो कोई अधिकार ही नही है। शक्ति पर निर्भर अधिकार तो तभी तक चलता है जव तक वह शक्ति रहती है। पर वह अधिकार ही क्या है जो शक्तिके फेल होते ही समाप्त हो जाय? रूसोके शब्दोमें 'शक्ति शारीरिक बल मात्र है ·····शक्तिके सम्मुख झुक जाना विवशताकी वात है स्वेच्छाकी नही — अधिकसे अधिक वह एक समझदारीका काम है।' कुछ प्रारम्भिक ईसाई धर्माधिकारियो (Early Church Fathers) ने भी शक्ति-सिद्धान्तका उपयोग किया है, पर उनका इसमें उद्देश्य था राज्यके महत्त्वको घटाना, उसे वदनाम करना। उनका तर्क यह था कि राज्यका आधार है पाशविक शक्ति (Brute force) और चर्च या धर्म ईश्वरकी कृति है और इसलिए राज्यसे श्रेष्ठ है। व्यक्तिवादियो तथा समाजवादियो (Socialists) ने भी अपने-अपने सिद्धान्तोकी पुष्टिके लिए शक्ति-सिद्धान्तका उपयोग किया है। व्यक्तिवादियोका तर्क यह है कि जैसे राज्य प्रवलतर शक्तिका फल है वैसे ही समाज के भीतर भी जो शक्ति-स्फूर्ति-सम्पन्न हो सफलताकी दौडमें उसीके हाथ वाजी लगनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि समाजमें अनियन्त्रित प्रतियोगिता (Unrestricted competiton) और व्यक्तिगत उद्यम (Individual effort) को खुली छूट दे दी जाय। समाजवादी इस तर्क पर चोट करते है, उनका कहना है कि व्यक्तिवादका अर्थ है शक्तिका अनुचित प्रयोग, और इसलिए राज्यको अपनी उच्चतर प्रवल शक्ति द्वारा उस शोषणको रोकना चाहिए जो शक्ति-सम्पन्न लोग दुर्वल जनताका करते है और इस प्रकार श्रमिकोंके साथ न्याय करना चाहिए।

इस वात पर तो प्राय लोग एकमत है कि राज्यकी उत्पत्तिको विकासके रूपमें समझना चाहिए, पर विकासके क्रमके सम्वन्धमें काफी मतभेद है। इस मतभेदकी चर्चामें ही हम उन सिद्धान्तोका नाम सुनते है जिन्हें पितृसत्ताक और मातृसत्ताक सिद्धान्त कहते है।

४. पितृसत्ताक और मातृसत्ताक सिद्धान्त

सर हेनरीमेन (Sir Henry Maine) पितृसत्ताक सिद्धान्तके एक प्रधान पोषक है। वह इस सिद्धान्तकी परिभाषा इस प्रकार देते है 'पितृसत्ताक सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो समाजका प्रारम्भ ऐसे पृथक्-पृथक् परिवारोसे मानता है जो सवसे वडे पुरुष-वशजके नियन्त्रण और उसकी छत्रछायामें इकट्ठे वधकर रहते हो।' उनका विश्वास

[1] मार्क्स के सहयोगी ऐंजिल्स ने लिखा है 'विना शक्ति और लौह-कठोरताके इतिहासमें कभी कोई सफलता नही मिली।'

है कि राज्य परिवारका ही विस्तृत रूप है। उनकी धारणा यह है कि प्रारम्भिक परिवार एक पुरुष, उसकी पत्नी और बच्चोका था और इस परिवारसे बहुत जल्दी अनेक परिवार उत्पन्न हो गये और प्रारम्भिक पिता या सबसे अधिक वयस्क पुरुष-वशज इस पितृसत्ताक परिवारका सामान्य रक्षक और शासक बन गया। ऐसे परिवारमें व्यक्तियोंके सम्बन्ध पुरुषोंके माध्यमसे एक ही पूर्व-पुरुष या पूर्वजसे जोडे जाते है। राज्य इस पितृसत्ताक परिवारका उत्तरोत्तर विकासमात्र है। इस विकासको श्री मेनके ही शब्दोमें देखे 'प्रारम्भिक गुट है एक ऐसे परिवारका जो सबसे बडे पुरुष-पूर्वजके सामान्य प्रभुत्वमें बधा हुआ हो। परिवारोको मिलाकर वश या कुटुम्ब बनता है। वशो या कुटुम्बोको मिलाकर कबीला या जाति बनती है। कबीलोको मिलाकर राज्य बनता है (२८ ८५)।'

तीन मौलिक मान्यताओंके आधार पर यह सिद्धान्त बनता है

(१) यह कि पितृसत्ताक परिवार (Patriarchal family) स्थायी विवाह और गोत्र-सम्बन्धोंके आधार पर बना है।

(२) यह कि राज्य ऐसे व्यक्तियोका सम्मिलित रूप है जो प्रारम्भिक परिवारके एक सामान्य पूर्वजके वशज है, और

(३) यह कि समूची राजनैतिक सत्ता या प्रभुताका मूल स्रोत वह व्यापक और असीमित अधिकार है जो एक पितृसत्ताक परिवारके प्रधान पुरुषको प्राप्त रहते है और अपनी मृत्युके समय जो अपने समस्त कानूनी अधिकारोको अपने उत्तराधिकारीको विरासतके रूपमें दे जाता है।

इस सिद्धान्तके समर्थक प्रमाण पितृसत्ताक सिद्धान्तके समर्थक इसकी पुष्टिमें हेब्रयू लोगों, यूनानवासियो, रोमवासियो और भारतके आर्योंके परिवार-सम्बन्धी इतिहासको उपस्थित करते है। हेब्रयू लोगोमें परिवारके सबसे अधिक वयस्क जीवित पुरुष की सत्ता सर्वोपरि होती थी और अपने आश्रित लोगो पर उसका निरकुश अधिकार होता था। परिवार पर उसका अधिकार स्वामी या मालिककी अपेक्षा प्रतिनिधि रूपमें अधिक होता था। एथेंस वालोमें 'परिवार' और भ्रातृ-सघ होते थे और रोम-वासियोंमें तो 'पैट्रिया पोटेस्टाज (Patria Potestas) 'पितृ-अधिकार' अर्थात् 'पिताके अधिकार'—परिवारके प्रधानको परिवारके सदस्यों पर असीम अधिकार दिए हुए थे।[1] भारतमें भी, जहा सम्मिलित परिवारकी प्रथा प्रचलित है, अनेक सदस्य एक ही घरमें सम्मिलित रहते हैं। इस परिवारमें माता पिता, शादी-शुदा लडके और उनका परिवार, अविवाहित लडके और लडकिया, विधवाए और वृद्ध आश्रित सदस्य सभी शामिल रहते है। रिश्तेके दूसरे-तीसरे बन्धमे आने वाले चचेरे भाई भी भाई कहलाते है। ऐसे ही परिवारको मूल आधार मान कर पितृसत्ताक सिद्धान्तमें अनुमान किया गया है कि समय

---

[1] सिजविक (Sidgwick) का कहना है कि स्त्री, बच्चो और अपने वशजो पर पिता का अधिकार इतना अधिक होता था कि व्यक्तिगत सदस्योका कोई वैधानिक अस्तित्व ही नही था। इस पूर्ण अधिकारके साथ-साथ इतना ही व्यापक उत्तरदायित्व भी था। पर मृत्युके बाद पिताके इस अधिकारमें एक बहुत बडी पाबन्दी लग जाती थी (Development of European Polity, Page 47)।

बीतने पर यह परिवार ही विस्तृत होकर नागरिक समाज बन गया और पिता या सबसे अधिक वयस्क पुरुष सदस्य राजा या प्रधान बन गया।

इस सिद्धान्तकी आलोचनाएं (१) आधुनिक खोजोंसे पता चला है कि पितृसत्ताक परिवारकी यह पद्धति सार्वभौम (Universal) नही थी। कुछ लोगोका कहना है कि काल-क्रमके विचारसे मातृसत्ताक पद्धति (Matriarchal System) जिसमें सम्बन्ध-सूत्र मातासे जोडा जाता है, पितृसत्ताक पद्धतिसे भी पहलेकी है। मैकलेनन (McLennan) जो मातृसत्ताक पद्धतिके बडे ज़बर्दस्त समर्थक है, कहते है कि बहुपतित्व और मातृसत्ताक परिवार सामाजिक जीवनके प्रारम्भिक तथ्य है और आगे चलकर बहुपतित्व (Polyandry) एक पतिव्रतमें और मातृसत्ताक परिवार पितृसत्ताक राज्यमें बदल गये।

(२) श्री जेंक्स (Jenks) भी मातृसत्ताक सिद्धान्तके एक प्रबल समर्थक है। उनका दावा है कि श्री मेन (Maine) की धारणाके अनुसार परिवारोंसे बढ कर गोत्रों और जातियो या कबीलोमें बदल जानेका जो क्रम है, वह वास्तवमें उल्टा है (२२: ११८)। जेंक्सके अनुसार जाति या कबीला ही प्रारम्भिक सगठन है, उसके बाद गोत्र या वश और उसके बाद परिवारका सगठन आता है। अपने मतकी पुष्टिमें जेंक्स ने आस्ट्रेलियाके और मलय आर्कीपेलागो (Malay Archipelago)—जैसी आदिम जातियोंके कुछ सघोंके उदाहरण दिये है।

(३) असभ्य जातियोमें बहुपतित्व (Polyandry)—और अस्थायी विवाह-प्रथा (Transient marriage relationships) तथा स्त्रियोंके माध्यम या सूत्र से सम्बन्ध स्थापन आदिके प्रचलनसे मालूम होता है कि पितृसत्ताक परिवार-प्रथा निरन्तर लगातार रूपसे नही चली आई।

(४) इस सिद्धान्तकी सबसे गम्भीर आलोचना यह है कि इसमें राज्यकी उत्पत्तिकी समस्याका कोई हल नही है। यह सिद्धान्त तो प्रारम्भिक समाज और विशेषकर परिवारकी शुरुआतके सम्बन्धमें एक अनुमान-मात्र है।

मातृसत्ताक सिद्धान्तका सकेत आस्ट्रेलियाके आदि-वासियो और भारतकी कुछ जातियो जैसे असभ्य समुदायोंके बीच प्रचलित प्रथाओंसे मिलता है। जगली लोगोंके जीवनसे एक ऐसे समाजका पता चलता है जो पितृसत्ताक समाजसे अधिक प्राचीन, असभ्य और आदिम था। ऐसे समाजकी मौलिक विशेषताए यह है

(१) अस्थायी विवाह-सम्बन्ध,
(२) स्त्री-माध्यमसे सम्बन्ध-सूत्र,
(३) मातृसत्ता (Maternal authority), और
(४) सम्पत्ति और शक्ति पर केवल स्त्रियोका उत्तराधिकार।

मातृसत्ताक सिद्धान्तके कुछ लेखक इन चारो विशेषताओको आवश्यक बताते है जब कि कुछ दूसरे लोग केवल मातृसत्ता (Mother-right) और मातृसम्बन्ध (Mother-relationship) को ही प्रधान मानते है, मातृशासन (Mother-rule) को नही। इन दोनो दृष्टिकोणोमे पिछली विचारधारा अधिक युक्ति-सगत मालूम होती है।

ऊपर लिखे सीमित दृष्टिकोण वाला मातृसत्ताक सिद्धान्त पितृसत्ताक सिद्धान्तसे

पहलेका है। यह कल्पना अधिक स्वभाविक मालूम होती है कि आदिम समाजमें बहु-पतित्व और अस्थायी विवाह-सम्बन्ध एक पतिव्रत या बहुपत्नीत्वकी अपेक्षा अधिक प्रचलित थे। बीमाह-विवाह (Veemah marriage) भी प्रचलित था जिसके अनुसार पति पत्नीके ही परिवारमें शामिल कर लिया जाता था। ऐसी परिस्थितिमें वशानुक्रमका निश्चय माताके ही माध्यमसे होता था, क्योंकि, जैसा जेंक्सने सकेत किया है, मातृत्व (Motherhood) तो ऐसी परिस्थितिमें एक निश्चित-तथ्य होता था जब कि पितृत्व (Paternity) के सम्बन्धमें केवल अनुमान या सम्मतिया ही हो सकती थी। मैक आइवर (MacIver) का कहना है कि 'स्त्री यहा शक्तिके सप्रेषण-घटक या माध्यम (Agent of transmission) के रूपमें ही स्वीकारकी गई है, शक्तिके सचालक या प्रयोक्ता (Wielder) अथवा भागीदारके रूपमें नही।' इस प्रथासे 'स्त्रीको, स्त्री, पत्नी और माताके रूपमें एक सामाजिक प्रतिष्ठा मिली जो व्यक्तिगत प्रतिष्ठासे अधिक थी' (५५ २९)। कुछ काल बाद 'आदिम मनुष्यके नितान्त यायावर या खानाबदोश अथवा शिकारी जीवन (Wandering or hunting life) के स्थान पर व्यवस्थित चरवाहोंके या खेतिहर जीवनके प्रारम्भ होनेसे' मातृसत्ताका स्थान पितृसत्ताक समाजने ले लिया (५१ ४१)।

आलोचना

(१) यद्यपि ससारके अनेक भागोमें बहुपतित्वकी प्रथा पाई जाती है पर इस बातका कोई प्रमाण नही है कि यह प्रथा सार्वभौम (Universal) थी या कि समाजकी प्रारम्भिक अवस्थामें आवश्यक थी।

(२) पितृप्रधान और मातृप्रधान सम्बन्धोके अतिरिक्त और भी अनेक तत्त्वो और शक्तियोका प्रवेश राजनैतिक सगठन बननेमें हुआ होगा।

(३) पितृसत्ताक सिद्धान्त और मातृसत्ताक सिद्धान्त—दोनो ही एक बहुत बडी समस्याका हल देनेकी कोशिश करते हैं। यह सिद्धान्त मानव-समाजके प्रारम्भका विवेचन करना चाहते है। पर प्राचीनसे प्राचीन मानव-समाज, जिसकी हम कल्पना कर सकते है, और मानव-जातिकी उत्पत्ति—इन दोनोके बीचमें सदियोका अन्तर निश्चय ही पड गया होगा।

(४) दोनो ही सिद्धान्त राजनैतिक होनेके बजाय सामाजिक अधिक है। राज्यकी उत्पत्तिके बजाय यह सिद्धान्त परिवारकी उत्पत्तिका विवेचन करते है। राज्यका स्वरूप परिवारके स्वरूपसे भिन्न है—तत्त्वत, सगठनमें, कार्य-विधिमें और उद्देश्यमें।

तो पितृसत्ताक और मातृसत्ताक दोनो ही सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें हम जिस निष्कर्ष पर पहुचते हैं वह श्री लीकॉक (Leacock) के शब्दोमें भली भाति व्यक्त हुआ है 'आदिम परिवार या गुटके सम्बन्धमें कोई भी एक सगठनका स्वरूप स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तवमें कही मातृसत्ताक सम्बन्ध तो कही पितृसत्ताक शासनका प्रचलन रहा है और एकको हटा कर दूसरे सगठनने पैर जमाया है। हमें यह स्वीकार करना पडता है कि मानव-समाजका 'प्रारम्भ' जैसी कोई बात वास्तवमें है ही नही। अधिकसे अधिक हम इतना ही कह सकते है कि समय बीतने पर धीरे-धीरे एक पत्नी-प्रथा पर आधारित परिवार सबसे अधिक स्वीकृत और प्रचलित हो गये यद्यपि सगठनके अन्य

आधार या प्रकार आज भी सबके सब बिल्कुल समाप्त नही हो गए। श्री रत्न स्वामीका कहना है कि 'मातृसत्ताक और पितृसत्ताक समाजका विकास साथ-साथ समानान्तर रूपमें हुआ है, पर पितृसत्ताक सम्बन्ध-सूत्र लम्बे और प्रबल होते हैं (६८ १८)।'

ऊपर जिन पाच सिद्धान्तोकी चर्चा की गई वह थोडे-बहुत कल्पनामूलक है। इन सबके ऊपर और इनके विरोधमें भी ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त है जो राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें ठीक-ठीक विवेचन करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्य एक ऐतिहासिक या क्रमिक विकासकी देन है। और यह विकास निरन्तर होता रहा है। इतिहासके किसी एक विशेष कालके सम्बन्धमें ही इस विकासका निर्देश नही किया जा सकता। जैसा श्री बर्गेस (Burgess) ने कहा है 'मानव प्रकृतिके सार्वभौम (Universal) सिद्धान्तोकी क्रमिक पूर्णता या सफलता ही राज्य है।' एक अकेले ऐसे कारणकी खोज करना ही व्यर्थ है जो सभी राज्योकी उत्पत्ति की समस्या एकदमसे हल कर दे। राज्यकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारके अनेक कारणोसे हुई होगी, किसी स्थान पर कारण एक प्रकारके रहे होगे और दूसरे स्थान पर दूसरे प्रकार के। कुछ भी हो राज्य मनुष्य द्वारा जान-बूझ कर सायास उत्पन्नकी हुई चीज़ नही है ठीक वैसे ही जैसे भाषा। राजनैतिक चेतना (Political Consciousness) का विकास होते-होते बहुत समय लगा होगा और प्रारम्भिक राज्यका भी विकास धीरे-धीरे इसी चेतनाके विकासके साथ-साथ हुआ होगा।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

सभी राज्योकी एक ही उत्पत्ति खोज निकालनेके लिए जितना सोच-विचार किया जाता है उससे अधिक लाभदायक है उन तत्वोकी खोज जिनसे प्रारम्भिक राज्यका निर्माण हुआ है। जैसा पहले कहा जा चुका है, राज्यकी उत्पत्ति विभिन्न कारणोसे हुई है और विभिन्न परिस्थितियोमें हुई है। राज्य कब कैसे प्रकट हो गए कोई जान नही पाया—कोई देख नही पाया। राज्यके निर्माणमें जिन तत्त्वोका—जिन बातोका प्रभाव ाडा है, वह यह है

राज्य-निर्माणके आधार-तत्त्व

(१) वश-सम्बन्ध,
(२) धर्म, और
(३) राजनैतिक चेतना।

(१) **वश-सम्बन्ध** इसमें तो सन्देहकी बहुत कम गुजाइश है कि सामाजिक ाठनका उदय वश-सम्बन्ध से हुआ। रक्तका सम्बन्ध, चाहे वह वास्तविक रहा हो र चाहे कल्पित या गृहीत (Real or assumed) एकताका सबसे दृढ सूत्र रहा उपजातिया और जातिया इसीके द्वारा एक सूत्रमें बधी और उन्हे एकता और सहिति ohesion) प्राप्त हुई। पर केवल वश-सम्बन्ध ही स्वत राज्यकी स्थापना नही सकता था। लोगोमें सर्व-सामान्य चेतना, स्वार्थो और उद्देश्यो (Common sciousness, Common interest and Common Purpose) नकास भी आवश्यक था। वश-सम्बन्ध ने बडी कठिनाईसे सामाजिक सम्बन्धको दिया होगा। मैकआइवरका कहना है कि 'वश-सम्बन्धसे समाजकी सृष्टि होती है माज अन्तत राज्यकी सृष्टि करता है' (५५ ३३)।

सर्वप्रथम जो वंश-सम्बन्ध स्वीकार किया गया वह सम्भवतः माताके माध्यमसे था न कि पिताके माध्यमसे। मनुष्य निश्चय ही भ्रमण करने वाला शिकारी रहा होगा। बहुपतित्व (Polyandry) और अस्थायी विवाहकी प्रथा प्रचलित रही होगी। फिर भी माताएं और बच्चे प्रधानतः आर्थिक आवश्यकताओं और बच्चोंकी सुरक्षाके कारण संरक्षण और बन्धनमें रहे ही होंगे। जैसे-जैसे अधिकार बढ़े और संगठनका विकास हुआ, वैसे-वैसे मनुष्यने अपनी शारीरिक सबलताके कारण प्रधानता प्राप्त की। जिन अन्य कारणोंने पितृसत्ताक समाज (Patriarchal Society) की स्थापनामें सहायताकी वह हैं : जंगली जानवरोंका पालतू बनाया जाना, सम्पत्तिमें वृद्धि, जायदादका अधिकार, चरागाही जीवनके व्यवसायोंका विकास और दास प्रथाका प्रारम्भ। इन सभी कारणों में से जायदादका अधिकार शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। जायदाद पर पूरी सुरक्षा के साथ अधिकार रखना और व्यवस्थित ढंग से उसका उपयोग करना बहुत जरूरी था। और इसका अर्थ था पुरुष वर्गकी सामाजिक प्रधानता और अधिकारोंकी अभिवृद्धि।

पितृसत्ताक समाजका संगठन पुरुषोंके माध्यमसे स्थिर होने वाले सम्बन्धोंके आधार पर हुआ। स्त्रियां क्रमशः अधिकाधिक रूपमें सम्पत्तिका स्थान ग्रहण करती गईं। पुरुषों को पत्नियोंकी खोज अपने गिरोहसे बाहर करनी होती थी। विवाह सम्बन्ध कुछ अधिक स्थायी हो चला और बहु-पत्नी-प्रथाका चलन सामान्य रूपमें हो गया। कुलपति या परिवारके पिताका अपने पुरुष-वंशजों पर—उनके शरीर और जीवन पर—पूरा-पूरा अधिकार होता था। उसके मरने पर वह अधिकार सबसे बड़े पुरुष-वंशजके हाथोंमें आ जाता था। पुरुष वंशानुक्रमको कायम रखनेके लिए गोद लेनेकी प्रथा बहुत प्रचलित थी। इस पितृसत्ताक समाजका विकास इस हद तक न हो सका कि वह जातिका रूप ग्रहण कर ले। यह समाज अनेक पितृसत्ताक यूथों या समूहोंमें बिखर गया। यह सभी बिखरे हुए समूह अपने प्रारम्भिक समूहके प्रति किसी न किसी रूपमें अपनी आस्था बनाए रहे। इन समूहों या यूथोंके प्रधान या मुखिया लोगोंने सम्भवतः एक वरिष्ठ-समिति बनाई होगी जो कुलपतिकी सहायता करती होगी। यह कुलपति ही आगे चलकर कबीलेका सरगना या जातिका प्रधान बन गया जिसके हाथोंमें सेना, न्याय और धर्म तीनोंके अधिकार केन्द्रित हो गए। यह शासक या प्रधान समाजके कल्याणकी अपेक्षा कुछ इने-गिने लोगोंकी सुविधाओं—उनके विशेषाधिकारों और उनकी शक्तिकी सुरक्षाका अधिक ध्यान रखते थे।

पितृसत्ताक समाजमें प्रथाओंका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था, प्रथाओंने विधानका स्थान ले लिया था। अभी तक नैतिकताकी कोई धारणा नहीं बन पाई थी और न वैधानिकताकी ही कोई निश्चित भावना स्थिर हो पाई थी। वैयक्तिक उद्योग (Individual initiative) और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वकी भावनाका बिल्कुल अभाव था। पितृसत्ताक कानून कुलपति या परिवारके पिता द्वारा लागू किया जाता था और कुलपति स्वयं ही न्यायाधीश भी था और दंडपाल या जल्लाद भी। न्यायाधीश और अपराधी दोनों ही जातीय प्रथा द्वारा शासित होते थे। प्रथा ही पहले मनुष्योंके शासक के स्थान पर थी और धीरे-धीरे प्रथा क़ानून या विधानके रूपमें बदल गई। इस स्थिति तक अपने प्रचलित अर्थोंमें राज्य कहीं नहीं था, हां उसके कुछ विधायक तत्त्व अवश्य मौजूद थे। मैकआइवर ने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि यह सोचना एक बड़ी भारी भूल

है कि 'जिस किसी भी जगली जातिमें हमें कोई मुखिया या प्रधान मिले वही हम राज्यकी स्थिति स्वीकार कर लें। हम यह नही कह सकते कि कब और कहा राज्यका प्रारम्भ होता है। नेतृत्व और अनुगमनकी सार्वभौम प्रवृत्तिमें राज्यकी सत्ता अवस्थित है अवश्य, पर उसकी उत्पत्ति तभी होती है जब अधिकारी सरकारका रूप धारण कर लेता है और प्रथा विधान या कानूनके रूपमें बदल जाती है (५५:४२)।'

आधुनिक समाजसे पितृसत्ताक समाज मूलत निम्नलिखित रूपोमें पृथक् था (३६, अध्याय ८).

(क) उस समाजका आधार प्रादेशिक (Territorial) न होकर वैयक्तिक (Personal) था। जाति या समुदायकी सदस्यताका आधार कोई स्थान या प्रदेश विशेष (Locality) न होकर रिश्तेदारी या सम्बन्ध था—चाहे वह सम्बन्ध वास्तविक हो चाहे कल्पित। समचा गुट या समुदाय अपना सगठन ज्योका त्यो स्थिर रखते हुए एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर बस सकता था। प्रारम्भिक राजे अपनी प्रजाके—अपने समुदायके राजा होते थे, अपनी धरती या प्रदेशके नही।

(ख) वह समाज निषेध-मूलक (Exclusive) था। अपनी सख्या बढानेकी उस में कोई लालसा न थी। बाहरी लोगोको प्राचीन शहरकी प्राचीरो या चहारदीवारियोंसे बाहर रहना पडता था। समुदायमें उनका प्रवेश या तो तब हो सकता था जब वह उसकी सदस्यता स्वीकार करें और समुदाय उन्हे स्वीकार कर ले या फिर दास बनकर वह समुदायमें प्रवेश पा सकते थे।

(ग) वह समाज प्रतियोगिताकी भावनासे मुक्त (Non-competitive) था। सामाजिक प्रथाए जीवनका आधार थी। समाजका बन्धन सबके ऊपर एक समान था और सबके सामाजिक कर्त्तव्य और उनके प्रतिफल निश्चित थे। परिवर्तन या प्रगतिके विचार बुरी नज़रसे देखे जाते थे।

(घ) उस समाजका दृष्टिकोण सम्प्रदायवादी था, यह ज़रूरी नही कि उसे साम्य-वादी कहा जाय। वह समाज ऐसे गुटोका एक समुदाय था जिनका केन्द्र-बिन्दु या मूल उद्भव एक ही था। इस समुदायका प्रारम्भ एक परिवारसे होता था और फिर क्रमश. बढते हुए गाव या घोष और अन्तमें जाति या नगरकी स्थिति तक विकास होता था। अन्योन्याश्रय सम्बन्ध (Interdependence) या पारस्परिक सहयोग जीवनका आदर्श था, स्वच्छन्दता नही। उस समाजमें व्यक्तिगत उद्योगको कुचलने और बुद्धि-बलके स्वच्छन्द प्रयोग पर बन्धन लगानेकी प्रवृत्ति थी। पितृसत्ताक समाजमें स्वाधीनताका अर्थ था गुटकी स्वाधीनता—समुदायकी स्वाधीनता न कि व्यक्तिकी स्वाधीनता।

पितृसत्ताक समाजसे आधुनिक समाजका सक्रान्ति-काल (Transitional period) सामन्तवादका युग है। पितृसत्ताक समाजके विचार राज्यकी ठीक-ठीक स्थापना हो जानेके बाद भी बहुत अधिक दिनो तक प्रचलित रहे।

(२) धर्म सामाजिक चेतना (Social Consciousness) के उदय और बादमें उसके फलस्वरूप राज्यके विकासमें दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण तत्त्व है धर्म। जैसा कि श्री गेटेल (Gettell) ने कहा है - वश सम्बन्ध और धर्म एक ही तथ्यके दो पहलू है। आदिम मानवको अधिकारी (Authority) और अनुशासन (Discipline) का

४

राज्य का ऐतिहासिक विकास

राज्य का उदय

अभी तक हमने राज्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तथा प्रारम्भिक राज्यका निर्माण करने वाले तत्वोंके सम्बन्ध में प्रचलित कल्पना-मूलक सिद्धान्तोका विवेचन किया है। अब हम ऐतिहसिक कालमें हुए राज्यके विकास पर विचार करेंगे, और इस क्षेत्रमें विचार करनेके लिए हमारे पास ठोस आधार है।

१ पूर्वका प्रारम्भिक साम्राज्य

आदिम पितृसत्ताक अवस्थाओ (Primitive Patriarchal Conditions) से विकसित होने वाले पहले राज्यका स्वरूप साम्राज्यवादी था, विशेपकर पूर्वके देशोमें विकसित होने वाले राज्यका। पितृसत्ताक समाजके पास न तो इतनी भूमि थी और न इतनी जन-सख्या कि वह एक राज्य वन सके। सम्भवत विभिन्न कवीलो या जातियोंके बीच कुछ लचर समभौते या सन्धिया थीं, यह जातिया वास्तविक या स्वीकृत (Real or assumed) रक्त-सम्बन्धोसे परस्पर वधी हुई थी। कवायली इन्सानकी स्वामिभक्तिको विस्तृत करने और उसे राजनैतिक सत्ता तथा उत्तरदायित्वका अभ्यस्त वनानेके पहले विजय और देशो पर अधिकार करनेकी भूमिका आवश्यक थी।

वडी-वडी नदियोंसे मीचे जाने वाले पूर्वके गरम और उपजाऊ मैदानोमें तथा मैक्सिको और पेरूके पठारोमें आदि-सभ्यता और आदिम राज्यका विकास हुआ। कुछ ऐसे प्रदेश थे जहा कमसे कम परिश्रम करके अधिकसे अधिक उत्पादन किया जा सकता था। यहा तेजीके साथ जनसख्याकी वृद्धि हुई और वहुत जल्दी लोग प्रारम्भिक पारिवारिक और धार्मिक सगठनकी सीमाको पार करके नवीन राजनैतिक व्यवस्था में आ गये। तेजीके साथ होने वाली जनसख्याकी वढतीने और इन प्रदेशोंकी दुर्बल वनाने वाली जल-वायूने एक वहुत वडे दास-वर्गकी उत्पत्तिमें योग दिया। जिनके पास आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति, अवकाश और अधिकार था, वह आसानीसे दूसरो पर हावी होकर निरकुश सत्ताकी स्थापना कर सके।[1] सामाजिक विभेदो और जाति-प्रथा का प्रचलन हुआ। वहुत जल्द इस परिस्थितिसे विशाल साम्राज्योका विकास हुआ। यह सभी साम्राज्य, जैसे सुमेरियन, असीरियन, पर्शियन या फारसका साम्राज्य, मिस्रका और चीनका साम्राज्य—नगरोको केन्द्र वनाकर विकसित हुए। फारसके साम्राज्य को छोड कर शेप सभी साम्राज्योका भौगोलिक सम्वन्ध और सगठन अत्यन्त शिथिल था और उनकी सत्ता भय और निरकुशता पर ही टिकी थी। केवल फारसके साम्राज्यमें ही कुछ हद तक एकता और स्थिरता आ सकी थी। शेप सभी साम्राज्योंके अधिकारी राजस्व वसूल करने और सैनिक भरती करने भरके अधिकारी थे। न तो कोई एक सर्व-सामान्य उद्देश्य था और न किसी एक सत्ताके प्रति सवकी

सामान्य निष्ठा वा राजभक्ति (Loyalty) थी। जैसे ही सत्ताधारी राजवंश कमजोर पड़ जाता था दूसरे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी शासन और सत्ताके लिए लडने लगते थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सच्चे राजनैतिक विकासके लिए कोई सम्भावना ही न थी। इस प्रकार आदिकालीन साम्राज्य एक अस्थिर सस्था रहे। अपनी अत्यधिक विकसित अवस्था में भी यह साम्राज्य 'अर्द्ध-स्वाधीन (Semi-independent) राज्योका एक शिथिल गठवन्धन-मात्र रहे। साम्राज्यका राजदड न केवल एक राजवशसे दूसरे राजवशके हाथोमें वल्कि एक नगरसे दूसरे नगरमें भी घूमता रहता था (५५ · ५८)।' इन सब त्रुटियो के होते हुए भी प्रारम्भिक साम्राज्यने मनुष्यको आज्ञाकारिता और अधिकार-सत्ताका अभ्यस्त वना कर राजनैतिक विकासमें वडी सहायता दी है।

२ यूनानके नगर-राज्य

राज्यके विकासमें दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम यूनानमें उठाया गया। यद्यपि पूर्वके देशोकी अपेक्षा यूनानमें सभ्यताका विकास वादमें हुआ, पर एक वार सभ्यताका प्रारम्भ हो जाने पर वहा उसका उत्थान वडी तेजीसे हुआ। अपनी प्राकृतिक परिस्थितियोंके कारण यूनान देश राजनैतिक विकास और प्रयोगोंके लिए विशेष रूपसे उपयुक्त है। सारा देश पर्वतो और सागरके कारण अनेको घाटियो और द्वीपोमें वटा हुआ है। उसकी प्राकृतिक अवस्था साधारण और वहुमुखी है। देशमें न वडे-वडे पहाड है, न विशाल नदिया है और न कोई अन्य प्राकृतिक कारण है जो मनुष्यकी क्रियाशीलताको पगु वना दें। यूनानियोका धर्म और उनके जीवनका दृष्टिकोण प्राकृतिक था और वह अपने देवताओंसे भयभीत नही रहते थे। और चूकि वहाकी प्रकृति क्रान्तिमडलके देशो (Tropical Countries) की भाति वहुत उदार नही थी इसलिए लोगोको उपनिवेश वसानेकी और व्यवसायकी शरण लेनी पडी। पितृसत्ताक कवीलो या जातियोने छोटे-छोटे प्रदेशो पर अधिकार किया और पहाडोंके आस-पास अपने गाव वसाये जिनसे उनकी रक्षामें सहायता और सुभीता मिले। इनमें से कुछ कवीले विजय द्वारा, शान्तिपूर्ण सगठन द्वारा या रक्त या वश-सम्वन्ध द्वारा एकमें मिल गये। पर उनमें जातीय एकताका विकास कभी नही हो पाया। अन्त तक स्थानीय देशप्रेम (Local patriotism) का ही वोलवाला रहा।

अपने आत्म-निर्भर नगर-राज्यो या नगर-समाजो (मैकआइवर द्वारा प्रयुक्त शब्द) मे यूनानियोने कई प्रकारकी राजनैतिक सस्थाओका विकास किया। इन सभी समाजो में विकासके सिद्धान्त छिपे थे। केवल स्पार्टा ही अपने शासनमें रूढिवादी वना रहा और 'अपने शासन व सरकारमे परम्पराकी एक अटूट शृखला वनाये रहा। दूसरे नगर-राज्योमें राजनैतिक विकासका साधारण क्रम राजतत्रसे कुलीन-तत्र, कुलीन-तत्रसे निरकुश-पीड़न और तव प्रजातत्रका विकास रहा है (२ अध्याय १)।'

यूनानी नागरिक अपने नगर-राज्यका श्रद्धालु भक्त होता था। नगरके जीवनमें पूरा-पूरा भाग लेना ही उसके जीवनका एकमात्र महत्त्व-पूर्ण लक्ष्य होता था। 'नागरिकता एक कर्त्तव्यके रूपमें थी, एक व्यवसाय थी (५५ . ८४)।' यूनानी लोग नगरको एक नैतिक सस्थाके रूपमें देखते थे। नगर अनेक प्रकारके कार्यो, कर्त्तव्योको पूरा करते थे। वास्तवमे नगर समाजके पूरे जीवनसे मिल कर एकरूप हो गये। वह एक सर्वागीण साझेदारी (All-inclusive Partnership) थी। यूनानियोका विश्वास था कि

राज्यसे अलग रह कर मनुष्य जीवनकी सर्वोच्च स्थितिको नही प्राप्त कर सकता। यूनानियोंके जीवनका दृष्टिकोण आदिसे अन्त तक पूर्णरूपेण सामाजिक था।

जहा एक ओर यूनानके नगर-राज्य राजनैतिक विकास और व्यक्तिगत स्वाधीनता के वहुत ऊचे स्तर पर पहुच गये थे वहा दूसरी ओर उनमें अनेक वडी-वडी त्रुटिया भी थी। पहली वात तो यह कि उनकी नीव दास-प्रथा पर रखी हुई थी। दूसरी त्रुटि यह थी कि यूनानी लोग आपसमे मिल कर एक सम्मिलित राष्ट्र न वना सके। उनमें कभी भी एक सर्व-सामान्य राजनैतिक चेतनाका विकास न हो पाया। नगर-राज्योने कभी शिथिल और लचर सघ जैसा वनाया पर इससे आगे अधिक कुछ न कर सके। वहुधा होने वाले युद्धोने एकके वाद एक प्रधान नगरोकी शक्तिको नष्ट कर दिया। नगरोकी सीमाके भीतर ही सीमित सर्वागीण साझेदारीने दूसरे नगरो और वाहरी शेष दुनियाके प्रति एक तीव्र उपेक्षा या निषेधात्मक भावना (Attitude of bitter exclusiveness) का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार यूनान निर्वल हो गया और आसानीसे मैसीडन और फिर रोमकी शक्तिका शिकार वन गया।

३ रोमका विश्व-साम्राज्य (२५, अ० ३)

यूनानके नगर-राज्योकी ही भाति रोमका प्रारम्भ भी एक नगर-राज्यके रूपमे ही हुआ था। रोमके नगर-राज्यका निर्माण उन अनक कवीलोको मिला कर हुआ था जो टाइवर नदीके उपजाऊ मैदानमे स्थित पहाडो पर अपना कव्जा किये हुए थी। इनकी रक्षा भी आसानी से की जा सकती थी। प्रारम्भमे इस नगर-राज्यका कोई विशेष महत्त्व नही था। पर अपनी केन्द्रीय स्थितिके कारण और देशकी एकमात्र जहाजरानीके योग्य महत्त्वपूर्ण नदीके ऊपर स्थित होनेके कारण यह नगर-राज्य वहुत जल्द एक प्रधान राज्य हो गया। उसकी सीमाके भीतर रहने वाले कवीलोमे सामान्य धार्मिक उपासना एकताका एक वहुत सवल सूत्र वन गई। प्रारम्भिक दिनोमे वहा राजतत्र शासन था। राजा ही न्याय-कर्ता, शासक और धर्म-गुरु सव कुछ था। कुलीन वर्गको, जिसे 'पैट्रिशियन' कहते थे, राजनैतिक अधिकारोमे कुछ हिस्सा मिला हुआ था। भूमि और सम्पत्तिसे हीन सर्वहारा समाजको, जिसे 'प्लिवियस' कहते थे, प्रारम्भमे इन अधिकारोमे कोई हिस्सा नही मिला था, पर आगे चलकर उन्होने अपने विशेष अधिकार प्राप्त किये।

यूनानके नगरोकी भाति प्रारम्भिक रोममे भी प्रवृत्ति प्रजातत्रीय शासनकी ओर ही थी। ५०० ई० पूर्वके लगभग राजतत्रका पतन हो गया और दो प्रधान न्यायाधीशोको लेकर एक गणतत्रकी स्थापनाकी गई। इन न्याय-पालकोको वादमे 'कॉन्सल्स' कहा जाने लगा। इस परिवर्तनके वाद दो शताब्दियो तक कुलीन वर्ग और सर्वहारा वर्गमे राजनैतिक सत्ताके लिए सघर्ष होता रहा। अनेक युद्धोके आर्थिक परिणामोसे यह सघर्ष और भी तीव्र हो उठा। आखिरकार दोनो वर्ग एक ही नागरिक समाजमें वदल गये जिसमे सवके समान राजनैतिक और नागरिक अधिकार थे। इस परिवर्तनके दौरानमे शासन सरकार मे भी परिवर्तन हुआ। इसके वाद दो न्याय-पालको या 'कॉन्सल्स' मे से एकका चुनाव सर्वहारा वर्गमे होना जरूरी हो गया।

इस स्थितिमे पहुचकर रोमकी नजरे, दूसरे प्रदेशोंको अपनेमे मिलानेके उद्देश्यसे, अपनी सीमामे वाहर पडने लगी। इटलीकी प्राकृतिक स्थिति यूनान पर विजय पानेमें

सहायक थी। रोमने अपनी आकाक्षाओंकी पूर्ति अपने पडोसी इटालियन राज्योको अपने में मिलाकर प्रारम्भ की। सन् ९० ई० पूर्व तक, 'सामाजिक युद्ध' का अन्त हो जानेके वाद, पो नदीके दक्षिणके सभी लोगोको पूर्ण नागरिकता प्रदान की जा चुकी थी। यह 'सामाजिक युद्ध' आठ इटालियन कबीलोका रोमकी सत्ताके विरुद्ध विद्रोह था। यूनानकी अपेक्षा रोम की नागरिकता अधिकारोकी व्यवस्थामें एक वहुत ही लचीली पद्धति थी। जैसा कि श्री मैकआइवर कहते हैं—प्रारम्भसे रोमके लोगोमें इतनी सूझ और चतुराई थी कि वह नागरिक अधिकार (कानूनके सामने समानताका अधिकार) और राजनैतिक अधिकार (प्रभु-सत्ताकी सदस्यताका अधिकार) के बीच स्पष्ट अन्तर रख सके (५५ ९७)।' इटलीके कुछ नगरोको नागरिक अधिकार दिये गये थे पर राजनैतिक अधिकार नही।

इटली विजय कर लेनेके वाद रोमने वहुत जल्द कार्थेज नगरको वरवाद कर डाला। कार्थेज पश्चिममें रोमका एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी था। उसे नष्ट करके रोम एक महान् सामुद्रिक शक्ति वन गया। सिकन्दरके साम्राज्यके अनेक टुकडे रोमके आधिपत्यमें आ गये। ईसाके पूर्वकी पहली शताब्दीके अन्त तक पश्चिमका लगभग समूचा सभ्य जगत् एक राजनैतिक व्यवस्था में बध गया।

साम्राज्यको एकमें सगठित वनाये रखनेके लिए एक प्रभावपूर्ण केन्द्रीय शासन और नियत्रणकी व्यवस्थाका विकास हुआ। विजित प्रदेशोको सूबोमें वाटा गया,प्रत्येक सूबेमें एक रोमन अधिकारी नियुक्त किया गया जिसे 'प्रोकॉन्सल' या 'उप-न्यायपाल' कहते थे और जिसे राजनैतिक तथा नागरिक मामलोमे पूरे-पूरे अधिकार प्राप्त होते थे। उस पर नियत्रण रखने वाला केवल एक ही अकुश होता था और वह अकुश था यह भय कि कार्यकालके समाप्त होने पर रोममें उस पर अभियोग न लगा दिये जायं। स्वय रोममें ही गणतत्रको समाप्त करके निरकुश-सैनिक राज्यकी स्थापना हो गई थी। सम्राट् सर्व-शक्तिमान् वन गया था। प्रजातत्रीय परिषदोके हाथमें कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही रह गया था। व्यवस्थापिका परिषद् (Senate) को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, पर सम्राट्को परिषद् पर भी नियत्रण प्राप्त था क्योंकि परिषद् की मर्यादा और महत्ताके निर्धारणमें उसका प्रधान हाथ रहता था। अन्ततोगत्वा (Finally) सम्राट्के आदेशोको ही विधान के रूपमें स्वीकार किया जाने लगा।

दूसरी शताब्दीके अन्त तक रोमकी नागरिकता सूबोंके लोगोको भी प्राप्त हो गई। राज्यके सभी सदस्य सम्राट्के शासनमे समान प्रजाके रूपमें आ गये। इसी बीच यह पुराना सिद्धान्त कि शासकको अधिकार-शक्ति प्रजा से ही प्राप्त होती है गायव हो गया और इसके स्थान पर 'दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त' (Divine Origin Theory) की स्थापना हो चुकी थी। सम्राट्की शक्तिका—उसके अधिकारोका उद्गम दैवी माना जाने लगा था। कुछ समय तक तो सम्राट्की ही पूजा ईश्वरके रूपमें हुई। बादमें ईसाई धर्मको राजधर्मके रूपमें स्वीकार कर लेने पर 'दैवी उत्पत्ति-सिद्धान्त' की व्याख्या इस प्रकारकी गई कि सम्राट् पृथ्वी पर परमात्माका घटक या छत्रप है। इस प्रकार प्राचीन प्रजातत्रीय नगर-राज्य एक-तत्रीय विश्व-साम्राज्य वन गया। स्वतत्रता, प्रजातत्र और स्थानीय स्वाधीनता (Local independence) के यूनानी आदर्शोका मान घट गया और उनके स्थान पर एकता, व्यवस्था, व्यापक विधान और विश्व-वन्धुत्व के रोमन आदर्शोकी प्रतिष्ठा बढ गई।

रोमके लिए यह एक स्थायी गौरवकी बात है कि उसने ससारको पहला सुव्यवस्थित और सुशासित राज्य दिया। पश्चिमके देशो पर उसका शासन पाच शताब्दियो तक और पूर्वके देशो पर पन्द्रह शताब्दियो तक रहा। कैथोलिक-धर्म-सघ ने अपना सगठन रोम-साम्राज्यकी व्यवस्था-पद्धति पर ही किया। समूचे मध्य-युग में एक विश्व-व्यापी साम्राज्यका सपना लोगोंके दिमागमें चक्कर काटता रहा। रोमका विधान और रोम के उपनिवेशो और नगर-पालिकाओकी शासन-व्यवस्था आधुनिक युगको विरासतके रूपमें मिले हैं। रोमकी स्थायी ऐतिहासिक सफलताओमें से दो निम्नलिखित हैं (१) प्रभु-सत्ता (Sovereignty) और नागरिकताके सुगठित आदर्श, और (२) विभिन्न जातियोको राजनैतिक एकता में परिणत करनेकी पद्धतिया।

इन महान् सफलताओंके बावजूद भी रोमका साम्राज्य स्थायी या दीर्घजीवी न रह सका। जिन कारणोंसे उसका पतन हुआ उनमें से कुछ निम्नलिखित थे (१) एकता की प्राप्तिके लिए व्यक्तिगत स्वतत्रताका बलिदान, (२) शासनकी हृदयहीन यान्त्रिक कुशलता जो उसकी विशेषता थी, (३) उच्च वर्गोका नैतिक पतन (४) सहारकारी बीमारिया, (५) साम्राज्यका शिथिल आर्थिक आधार, (६) सम्राटोंके उत्तराधिकारका निर्णय करने वाले विधानका अभाव, (७) धार्मिक अव्यवस्था और विलगाव, तथा (८) बर्बर जातियोंके आक्रमण। यद्यपि इन तथा अन्य अनेक कारणोंसे रोमका पतन हो गया। फिर भी रोमका प्रभाव, उसका नाम और यश पतनके बाद उत्थान-काल से भी अधिक शक्तिशाली हो गये। यूनान और रोमकी सफलताओ और असमर्थताओका तुलनात्मक विवेचन करते हुए श्री गेटेल (Gettell) ने ठीक ही कहा है यूनानने एकता-विहीन प्रजातत्रका विकास किया और रोमने प्रजातत्र-हीन एकता स्थापित की (२४ ५६)।'

४ सामन्तिक राज्य (The Feudal State)

रोमके पतनका अर्थ हुआ पश्चिमी योरोपमें 'राज्य' का अन्त। एक लम्बे अर्से तक गडबडी फैली रही। उत्तरसे बर्बर ट्यूटन लोगो (जर्मन, डच तथा स्कैंडिनेवियन) के हमले रोम पर हुए , यह लोग अभी कबीलोकी जिन्दगी बिता रहे थे और एक शक्ति सम्पन्न केन्द्रीय अधिकारी सत्ताकी कल्पना नही कर सके थे। उन्हे अपनी स्थानीय स्वाधीनता (Local independence) और व्यक्तिगत स्वतत्रता बहुत प्रिय थी और उनके राजा केवल सफल युद्धनायक भर होते थे। सार्वजनिक कार्योमें सर्वत्र स्वच्छन्दताका ही बोलबाला था।

जब ऐसे लोगोका सम्पर्क रोमकी राजनैतिक पद्धतिसे हुआ जिसकी विशेषता थी व्यवस्था, एकता और केन्द्रीयकरण (Centralisation) तब उसका अनिवार्य परिणाम हुआ सघर्ष। इस सघर्षके परिणाम-स्वरूप समझौतेके रूपमें सामन्तशाहीका उदय हुआ। यह समझौता हुआ बर्बर ट्यूटानिक लोगोंके कबायली समाज और रोमन लोगोंके साम्राज्यवादी राज्यके बीच। सामन्तशाहीकी आलोचना और निन्दा तथा राज्यके विकासमे उसके महत्त्व पर पर्दा डालना तो बहुत आसान है। यह ठीक ही कहा गया है कि सामन्तशाही कोई राजनैतिक सिद्धान्त या पद्धति है ही नही। पर रोमके पतनके बाद समाज जिस अराजकताकी स्थितिमें पहुच गया था उसमें सामन्तशाहीने ही योरोपके लोगो को अपेक्षाकृत शान्ति और सुरक्षाका जीवन दिया और राज्यके शासन यन्त्रको चालू रखा।

रोमन-युगके साम्राज्यवादको पार कर आधुनिक युगकी राष्ट्रीयताके विकासके बीच जो सक्रान्ति-काल रहा है वह सामन्तशाहीका युग रहा है।

सामन्तशाहीका उदय और उसका अर्थ

रोम-साम्राज्यके पतनके बाद उसके तमाम विस्तृत प्रदेश ताकतवर अमीर उमराओंके हाथमें पड गये। इस प्रकारका प्रत्येक अमीर स्वय अधिकारी बन बैठा और अपने अधीन प्रदेशको छोटे-छोटे जागीरदारोमे बाट कर अपने इर्द गिर्द एक अपना समाज तैयार कर लिया। प्रधान सामन्तने अपनी जमीन सीरदारो या जागीरदारोमें बाट दी, उन्होने अपनी जमीन किसानोको बाट दी और किसानोने अपने नौकरो और दासोको। इस प्रकार धरती पर प्रभुत्वके आधार पर देवदूतोका—शक्ति और प्रभुता-सम्पन्न लोगोका एक समाज उठ खडा हुआ। एक कठोर वर्ग-व्यवस्था की प्रतिष्ठा हुई और 'राज्य' समाजमे विलीन हो गया। विभिन्न प्रकारकी राजकीय सेवाओ, विशेषकर सैनिक सेवा, का अधिकारी सबसे नजदीकी अमीर या सामन्त होता था। राजा या प्रधान सामन्तका नियत्रण और अधिकार समाजके निम्न-वर्ग—नौकरो व दासो पर अप्रत्यक्ष और बहुत कम होता था। समाजका प्रत्येक वर्ग सबसे पहले अपने ऊपरके दूसरे वर्गका सेवक और भक्त होता था। इस सीमित स्वामि-भक्तिका परिणाम यह हुआ कि सामन्त-युग में एक प्रदेशकी एक सर्वोपरि प्रभु-सत्ताकी कल्पना लोगोके लिए अज्ञात रही। जिस एकरूप और निष्पक्ष विधानकी स्थापनाके लिए रोमके लोगो ने इतना परिश्रम किया था, उसके स्थान पर परम्पराको फिर विधानके रूपमे स्वीकार किया गया। जब तक सामन्तवादी विचारोका प्राधान्य रहा तब तक वास्तविक राजनैतिक प्रगति असम्भव थी। फिर भी सामन्तवादको अराजकताका समानार्थी या पर्याय (Synonymous) नही माना जा सकता। योरोपके लोगोको शान्ति और सुरक्षाका जीवन देकर उसने अपने अस्तित्वका औचित्य और उपयोग सिद्ध कर दिया था। उसका आधार था व्यक्तिगत स्वामिभक्ति और व्यक्तिगत इकरार। अपने विकासके उत्तर-काल में, विशेषकर इगलैडमें, जहा अपने समीपके या अपने ऊपरके अमीर या जागीरदारके प्रति स्वामिभक्तिकी अपेक्षा सम्राट्के प्रति स्वामिभक्तिको अधिक महत्त्व दिया गया वहा, सामन्तवादने एक जातीय राज्यके विकासमें सहायता दी है।

रोम-साम्राज्यके पतनके बाद जो गड़बड़ी फैली उससे बच निकलने वाली एक दूसरी सस्था थी ईसाई-धर्म-सघ (Christian Church)। ईसाई-धर्मका प्रारम्भ समाज के निम्न वर्गोमे एक सामान्य धार्मिक विश्वासके रूपमें हुआ था पर कुछ ही शताब्दियो में वह एक प्रबल धर्म हो गया और ३३७ ईसवी सन्में रोमके सम्राट् कॉन्सटैन्टाइन (Emperor Constantine) को ईसाई-धर्ममें दीक्षित किया गया। चौथी शताब्दी के अन्त तक समूचे रोमन-प्रदेश में यही एक स्वीकृत धर्म रह गया। ईसाई-धर्म-सघ ने अपना सगठन रोमन-साम्राज्यके आदर्श पर किया। जिस समय साम्राज्यका ध्वस हो गया उस समय उसमें साम्राज्यका स्थान ग्रहण करके योरोपको व्यवस्था और शान्तिमय जीवन प्रदान करनेकी शक्ति और सामर्थ्य आ गई थी। समूचे मध्य-युगकी लम्बी अवधिमे यह धर्म-सघ राज्यका नियत्रण-नियमन करनेमे समर्थ रहा। वह स्वत. एक शक्ति-सम्पन्न लौकिक सत्ता बन गया जिसके हाथमें यथेष्ट सम्पत्ति थी—विशेषकर भू-सम्पत्ति। जैसा कि श्री फिगिस (Figgis) ने कहा है 'मध्य-युग में (ईसाई)—धर्म-सघ एक (अनेकोमें) राज्य न

था वल्कि वास्तविक राज-सत्ताके स्थान पर एकमात्र वही था, उससे पृथक् राज्य नामसे पुकारी जाने वाली जो नागरिक सत्ता थी (क्योंकि धर्म-सघ से पृथक् किसी दूसरे समाजकी स्थिति तो स्वीकार ही नही की जाती थी) वह वास्तवमे इस धर्म-सघका पुलिस-विभाग मात्र थी।'

सामन्तवादके रूपमें धर्म-सघको एक अमूल्य सहायक मिल गया क्योंकि धर्म-सघकी यह एक राजनैतिक आकाक्षा थी कि पश्चिमी योरोप वरावर विभक्त वना रहे जिससे किसी ऐसी एक सामान्य राजनैतिक शक्तिका उदय न होने पावे जो धर्म-सघ से अधिक समर्थ-शक्तिवान हो और उसके तमाम अतिवादी दावोका विरोध कर सके। जब तक समर्थ पोप—ईसाई-धर्माध्यक्ष—और दुर्वल राजे-महाराजे होते रहे और जब तक धार्मिक अधिकारियो—धर्माध्यक्षोके प्रति जनताकी अन्ध-श्रद्धा कायम रही तब तक धर्म सघ (Church) की प्रभुता भी बनी रही। पर चौदहवी शताब्दीके प्रारम्भसे पोपकी सत्ता के वुरे दिन शुरू हो गये और उमके वाद पोपका पद फिर कभी उतना अभिमान और अधिकार-पूर्ण न हो सका जितना वह आठवें ग्रेगोरी (Gregory VIII, १०७५-१०८५) और तीसरे इनोसेंट (Innocent III—११९८-१२१६) के कार्य-कालमें रह चुका था। वेवीलोनके वन्दी-काल ने (१३०३-१३७३) जवकि फ्रासके वादशाहने पोप को एविग्नॉन नामक स्थानमें वन्दी वना कर रखा था और महान् मतभेद (Great Schism) ने (१३७८-१४१५), जव कि कभी दो और कभी-कभी तीन प्रतिद्वन्द्वी पोप आपसमें झगडते रहे, धर्म-सघके अधिकारो और उसकी प्रतिष्ठाको क्षीण कर दिया। इसके वाद तुरन्त ही आने वाले प्रोटेस्टेन्ट रिफार्मेशनने धर्म-सघ (Church) की उस सारी सत्ता-प्रभुताको समाप्त कर दिया जो शुद्ध धर्मके मामलोंके अलावा उसे प्राप्त थी और इस प्रकार जातीय या राष्ट्रीय राजतत्रोके लिए विकासका मार्ग खुल गया।

५ आधुनिक युगके जातीय या राष्ट्रीय राज्य (The National State of Modern Times)

पुनरुत्थान (Renaissance) और सुधार (Reformation) कालसे ही साधारणत वर्तमान युगका प्रारम्भ माना जाता है। इन घटनाओने पश्चिमी योरोपके जीवनमें नई स्फूर्ति ला दी और वह अद्वितीय विकास और महत्त्वपूर्ण सफलताओंके युगमें आगे बढा। इस स्थितिमें सामन्तवाद स्वभावत बहुत दिन तक नही चल सकता था। जब तक परिस्थितिया अनिश्चित थी और सब कही अव्यवस्था और गडवडी फैली थी तब तक सामन्तवादने वडा उपयोगी कार्य किया। पर एक वार परिस्थितियोंके सुधर जाने, व्यवस्था स्थापित हो जाने और जाति, धर्म, प्रदेश और भाषाके नवीन पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्रोका अनुभव हो जाने पर जब लोगोंमें एकताकी नवीन भावनाए उत्पन्न हुई तो सामन्तवादको वरबस समाजकी इस उच्च व्यवस्थाके सम्मुख हार मानकर हट जाना पडा।

मध्य-युगके समाप्त होनेसे पहले ही कई एक शक्तिया इस नवीन युगकी सूचना दे रही थी। रोमका धर्म-साम्राज्य (ईसाई-धर्म-सघके पोपकी प्रभुता) अपने विभवके सुनहरे दिनोंमें भी एक प्रेत-राज्य भर था, उससे अधिक कुछ नही। उसके पीछे कोई वास्तविक अधिकार-सत्ता नही थी। इस धर्म-साम्राज्य और पोपकी प्रभुताके वावजूद भी इगलेंड, फ्रास और स्पेनमें जातीय राज्योका उदय हो रहा था। नगर वस रहे थे और

व्यापारकी वृद्धि हो रही थी। पोपकी अहकार और उद्दडता भरी मागोंसे राजाओंके आत्मसम्मान और स्वाभिमानको धक्का लगा और धीरे-धीरे वह लोग पोपके अधिकारो से अपने आपको मुक्त करके अपने-अपने देशके वास्तविक शासक बनने लगे। शान्ति और सुरक्षाकी इच्छुक जनता ने भी पूरी स्वामिभक्तिके साथ अपने राजाओका साथ दिया। अपने राजाओको लोगोने अपनी राष्ट्रीय भावना का मूर्त प्रतीक (Visible symbol) माना और उनकी विचार-धारा पर इसका प्रभाव पडने लगा था। बारूदके प्रयोग, राष्ट्रीय राजस्वमें वृद्धि और स्थायी सेना (Standing army) की स्थापनासे राजाओको अपने सामन्तो—अमीर-उमरावोकी सहायता पर आश्रित रहनेसे मुक्ति मिली। शतवर्षीय युद्ध (The Hundred Years' War, इगलैंड और फ्रासके बीच) और गुलाबोंके युद्ध (The War of Roses) ने इन अमीरो-सामन्तोकी शक्ति और उनके अधिकारोको बहुत दुर्बल कर दिया और उनकी राजनैतिक महत्ताको कम कर दिया। पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त तक बहुत काफी सामन्तशाही ताकतका खात्मा हो गया था।

इस प्रकार प्रोटेस्टेन्ट-रिफॉर्मेशनके आते-आते युगान्तरकारी राजनैतिक परिवर्तनोंके लिए पृष्ठ-भूमि तैयार हो गई थी। सुधारक मुख्यत राजनैतिक उपदेशक थे। इन लोगो ने धर्म-सघके भ्रष्टाचार, उसके झूठे उपदेशो, उसकी लौकिक अधिकार-सत्ता और उसकी अतुल सम्पत्ति-लिप्साके विरुद्ध एक निर्मम युद्ध जैसा प्रारम्भ कर दिया। इन लोगोने ऐसे सिद्धान्तोका उपदेश प्रारम्भ किया जिनका न केवल धार्मिक जीवन पर बल्कि लोगो के पारस्परिक राजनैतिक सम्बन्धो पर भी बडा गहरा असर पडा। यह सिद्धान्त थे प्रत्येक मनुष्यका मनुष्य रूपमें मान और महत्त्व, व्यक्तिगत विवेक और व्यक्तिगत स्वाधीनताका महत्त्व और पुरोहित या धर्माध्यक्षके हस्तक्षेपके बिना परमात्मा से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रत्येक व्यक्तिका अधिकार आदि। इसी प्रकारके उपदेशो से आधुनिक युगके व्यक्तिवाद और राष्ट्रीयताके तथा ऐसे अन्य आन्दोलन उत्पन्न हुए हैं। मध्य युगकी दो प्रधान शक्तिशाली धारणाओ—विश्वव्यापी साम्राज्य और विश्व-व्यापी धर्म-सघ (ईसाई)—को अन्तिम घातक चोट लगी।

सुधारकोंके उपदेशोका जो प्रभाव तुरन्त पडा वह यह था कि जातीय राजाओकी शक्ति और भी दृढ हो गई। सभी बडे-बडे उपदेशकोने अपने अनुयायियोको राज्यकी सविनय आज्ञापालनका उपदेश दिया और बताया कि 'जो भी राजकीय सत्ता है वह ईश्वर द्वारा नियुक्त है।' उनकी सम्मति थी कि राजनैतिक अधिकार-सत्ता अन्तिम रूपमें परमात्माकी इच्छासे ही प्राप्त होती है और इसलिए जिन राजाओकी आज्ञाओका हम पालन करते हैं वह दैवी अधिकारसे ही शासन करते हैं। उनके उपदेशोने इगलैंड और फ्रासमें गहरा प्रभाव डाला और इसके फलस्वरूप इगलैंडमें ट्यूडर-वश और स्टुअर्ट-वशका निरकुश शासन फला-फूला और फ्रासमें कैप्शियन (Capetian) निरकुश शासनका विकास हुआ। फ्रासके चौदहवें लुई ने तो यहा तक कह डाला 'मैं ही राज्य हू।' रिफार्मेशन या सुधार-आन्दोलनकी सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि जिन देशोमे शासन-पद्धति राजतन्त्रकी हो उनमें राजतन्त्रके सिद्धान्तको पुष्ट किया जाय और जिन देशोमें कुलीन-तत्र शासन-हो उनमें कुलीन तत्र-सिद्धातका समर्थन किया जाय। 'दोनो ही दशाओमें प्रभाव राजनैतिक अधिपति (Political Sovereign) या राजाकी निरकुशताको ही बल पहुचाना था (१७)।'

पर इस प्रकारकी निरकुशता बहुत दिनो तक बेरोक-टोक चल नही पाई। जैसे-जैसे लोगोमे जागृति फैली और उन्हें अपनी शक्ति और अपने महत्त्वका ज्ञान हुआ, वैसे ही वैसे जनता राज्यके प्रति अपने सविनय आज्ञापालनके कर्त्तव्य पर सन्देह करने लगी और अधिकाधिक अधिकारो और सुविधाओकी माग करने लगी। इसके परिणाम-स्वरूप राजाओ तथा जनताके बीच राजनैतिक अधिकारोके लिए एक लम्बा सघर्ष चला। निरकुश राजतत्रसे प्रजातत्रके युगके सक्रान्ति-कालमें जो सुधार-आन्दोलन (Reformation) चला उसमें व्यक्तिगत मान-महत्त्व वाले सिद्धान्तने बहुत बडा काम किया। सर्व-साधारण जनतामें अपने ऊपर एक नवीन विश्वास-भावना उत्पन्न हुई और उसने यह अनुभव कर लिया कि शासकका अस्तित्व शासितोके कल्याणके लिए है न कि उसके स्वय अपने कल्याणके लिए। इस प्रकार सुधार-आन्दोलनके उपदेशोका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत स्वाधीनता और प्रजातन्त्रके सिद्धान्तोको कल्याणकारी बल मिला।

बिखरे हुए लोगोको सगठित करनेके लिए और सामन्तशाहीकी अव्यवस्था और अनैक्य-भावनाके स्थान पर एकता और व्यवस्था स्थापित करनेके लिए राजतत्रकी निरकुशताकी आवश्यकता थी। पर इस उद्देश्यके पूरे हो जानेके बाद उसके कायम रहने का कोई कारण नही रह गया था। इगलैडमे बहुत पहलेसे ही प्रजातत्रका आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और उसका विकास क्रमिक और शान्ति-पूर्ण रहा। फ्रासमें इस आन्दोलन ने एक भयानक क्रान्तिका रूप धारण किया। दूसरे देशोमें राजाओने प्राय जनताकी इच्छाके सम्मुख सिर झुका दिया और प्रजातन्त्रीय सरकारके अधीन इतिहासके अवशेष रूपमे नाममात्रके शासक बने रहना स्वीकार कर लिया। प्रजातन्त्रके इस आन्दोलनने इतनी गहरी जडे जमा ली और इतने अच्छे ढगसे काम किया कि अभी हाल तक प्रजातत्र-वादी राष्ट्रीय सरकारको ही राज्यके विकासकी अन्तिम सीढी माना जाता था। उदाहरण के लिए बेन्थम (Bentham) को आशा थी कि वह 'इस बुराइयोंमे भरी हुई दुनियाको गण राज्योका एक जाल फैलाकर' सुधार लेंगे।

६ विश्व-सघ

प्रजातत्रवादी राष्ट्रीय सरकारके पक्षमे निस्सदेह बहुत कुछ कहा जा सकता है। यह बेशक मुनासिब मालूम होता है कि उस देशको स्वय अपना शासन करने और एक सर्व-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यके अधिकारोका दावा रखनेका अवसर दिया जाय जिसकी प्राकृतिक सीमाए निश्चित हो और जिसके रहनेवाले एकताके सूत्रमे बधे हुए सजातीय हो। यह कल्पना भी तर्क-युक्त मालूम होती है कि इस प्रकारके स्वशासन (Self-governing) और आत्मनिर्णय (Self-determining) के अधिकारोसे युक्त राष्ट्रीय राज्यकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावनाके लिए अत्यन्त आवश्यक है। पर पिछली शताब्दीके इतिहासने यह दिखा दिया है कि इस नीतिका अवश्यम्भावी परिणाम प्रति-स्पर्द्धा, प्रतियोगिता और युद्ध भी हो सकता है। औपनिवेशिक साम्राज्योने उस भौगोलिक और जातीय एकताको प्राय नष्ट कर दिया है जो जातीय राज्योका आधार है। राष्ट्रीयताके विचारो और राष्ट्रीय प्रभुताकी सकीर्णताओकी तोडनेमें विगत वर्षोकी वैज्ञानिक खोजो, आविष्कारो, यात्राकी सुविधाओ और ससारके लोगोंके बीच परस्पर आवागमन, यातायात और विचारोंके आदान-प्रदान तथा विशाल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-व्यवसाय और महान् समस्याओने बहुत बडा काम किया है। इन सबने तो

ससारको बहुत छोटा बना दिया है और इनका सकेत है कि कोई विश्व-व्यापी-सघ स्थापित हो। इस विश्व-सघका स्वरूप क्या होगा यह तो भविष्य ही बता सकता है। एक विश्व-सरकार किसी भी रूपमें अवश्यम्भावी (Inevitable) जान पडती है। विश्व-सघके प्रबल समर्थक श्री एच० जे० लास्की (H. J. Laski) का विश्वास है कि शुद्ध आन्तरिक गृह-व्यवस्थाको छोडकर जातियोंके पारस्परिक सम्बन्धोंके नियमनमें सामान्य सिद्धान्तो या नियमोकी आवश्यकता निरन्तर बढती जा रही है। उनका मत है कि राज्यो की प्रभुसत्ताका अन्तर्राष्ट्रीय मामलोमें क्रमश पतन होता जा रहा है क्योकि अब उसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। "आजका व्यक्ति जो चाहता है वह साम्राज्यवादकी धारणा नही है बल्कि वह सघवाद (Federalism) की कल्पना है।"

अपनी नवीन पुस्तक "यूनियन नाऊ (Union Now)" मे श्री सी० ए० स्ट्रीट (Clarence A. Streit) ने वर्तमान प्रजातत्रीय राष्ट्रोकी सघात्मक एकताकी कल्पनाकी है। उनका तर्क है कि राष्ट्र-सघ (League of Nations) इसलिए असफल हो गया कि वह सरकारोका सघ था, जातियोका नही। उनकी धारणा है कि चरम प्रभुताका सिद्धान्त (Doctrine of absolute sovereignty) वर्तमान परिस्थितयोमें नितान्त अनुपयुक्त है और इसलिए वह एक सघात्मक विश्व-सरकारका समर्थन करते है। यह नया सगठन अपने सभी सदस्य राष्ट्रोके वैदेशिक सम्बन्धोका नियत्रण करेगा और उनके लिए केवल राष्ट्रीय घरेलू मामले छोड़ देगा। ससारके अप्रजातत्रीय राष्ट्रोके लिए इस सघका दरवाज़ा बन्द नही रहेगा; जैसे ही वह अपने आपको प्रजातत्रके पक्षमें घोषित कर देंगे और अन्य सभी राष्ट्रोंके साथ शान्तिपूर्वक रहनेकी इच्छा प्रकट करेंगे उन्हे भी सघका सदस्य स्वीकार कर लिया जायगा। इस विश्व-सघमे सर्व-सामान्य नागरिकता होगी, सामान्य मुद्रा होगी, सामान्य डाक-व्यवस्था होगी, सामान्य आयात-निर्यात-करोकी व्यवस्था होगी और सुरक्षाका सर्व-सामान्य प्रबन्ध होगा। सदस्य राष्ट्रोके उपनिवेशोका प्रबन्ध नवीन सघ सरकार करेगी और उसका उद्देश्य यह होगा कि यथासम्भव शीघ्र उन्हें आत्मशासनके योग्य बना दिया जाय। इस योजनाकी सामान्य रूप-रेखाका समर्थन लायोनेल कर्टिस (Lionel Curtis) तथा इगलैंडके कुछ अन्य विचारकोने किया है। इन लोगोने अपना एक सघ बना लिया है जिसका उद्देश्य है इस योजनाको क्रियात्मक रूप देनेके उपाय सोचना और ससारके प्रभावशाली राजनीतिज्ञोंके सम्मुख उसे रखना।

बाहरी दुनियाके लोग बेशक इस योजनाको अपनी पवित्रताका ढोग रचने वालोका सघ कहेगे। इस गुटके अधिकाश देश जातीय भावनाओसे भरे हुए है, दूसरो पर हमलावर है और साम्राज्यवादी है।

राज्यके विकासकी सामान्य रूप-रेखा

राज्यके विकासके अध्ययनसे श्री गेटिलके अनुसार पाच प्रधान निष्कर्ष निकलते हैं (२४ ६५–६७)

(१) सामान्यत सगठनोके अनुसार राज्यका विकास भी साधारणसे जटिल होता गया है। प्रारम्भिक कालकी अपेक्षा सरकार अधिकाधिक जटिल और पेचीदा होती

गयी है पर साथ ही साथ सरकारके विभिन्न अगोमें परस्पर एकता और अन्योन्याश्रयका (Interdependence) सम्बन्ध बढता गया है। सरकारके विभिन्न अग विभिन्न कामोको सम्पादित करते है पर उन सबके पीछे एक मौलिक एकताका सूत्र विद्यमान रहता है। राज्यकी जो अधिकार-सत्ता प्रारम्भमें अनिश्चित और अनियमित थी वह अब अधिक निश्चित और नियमित हो गई है। फलत निरकुश और किसी एककी सनक पर चलने वाले शासनकी सम्भावनाए बराबर घटती जा रही है।

(२) राज्यके विकासका अर्थ यह हुआ है कि "राजनैतिक चेतना और उद्देश्य-पूर्ण क्रियाशीलताका विकास हुआ है।" प्रथम राज्यकी उत्पत्ति मनुष्यके जान-बूझ कर किये गये प्रयत्नोका परिणाम नही था बल्कि प्राकृतिक कारणोसे ही उसकी उत्पत्ति हुई थी। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए समाजको एकत्र सगठित रखनेके लिए किसी शासन सत्ताका सगठन उसके लिए स्वाभाविक था। पर राज्यके विकास और बुद्धिकी वृद्धिके साथ मनुष्यमें यह योग्यता भी आई कि वह राज्यके अस्तित्वके कारणोको खोज सके और अपने आदर्शोके अनुकूल राज्योको सुधार-सवार सके। राज्यकी अधिकार-सत्ता का आधार अधिक युक्ति-सगत और स्थायी हो गया। जनतामें राजनैतिक चेतनाके विकाससे प्रजातन्त्र-सरकारोका सगठन हुआ।

(३) साधारणत राज्यके विकासका परिणाम यह हुआ कि बडे-बडे भूमिखण्ड और बडी-बडी सख्यामें जन-समुदाय एक-एक राज्य-व्यवस्थाके अधीन आ गये है। जिन कारणोने इन बडे-बडे राज्योका विकास सम्भव बनाया है उनमें से कुछ यह है याता-यात और सवाद-सूचनाके सुलभ और शीघ्रगामी साधन, अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति, स्वायत्त-शासनके अधिकारोसे युक्त स्थानीय सस्थाए तथा नियम और व्यवस्थाके प्रति आधुनिक नागरिककी बढती हुई निष्ठा।

(४) राज्यके विकासका परिणाम यह हुआ है कि किन्ही-किन्ही क्षेत्रोमें राज्यकी अधिकार-सत्ता कम हो गई है और किन्ही क्षेत्रोमें यह अधिकार-सत्ता उसी मात्रामें बढ गई है। प्रारम्भिक अवस्थामें राज्य और धर्मका विकास साथ-साथ हुआ था। पर आधुनिक युगमें, प्राय सभी सभ्य देशोमें, धर्म और राज्य एक दूसरेसे नितान्त पृथक् अस्तित्व रखते है, यद्यपि नाजी जर्मनीमें धर्मको भी राज्यका ही एक विभाग बना दिया गया था। निरन्तर यह धारणा बढती जा रही है और लोग इस सत्यको स्वीकार कर रहे है कि चूकि धर्म और नैतिकता प्रधानत मनुष्यके आन्तरिक जीवनसे सम्बन्ध रखते है इसलिए इन पर राज्यका सीधा नियत्रण यथासम्भव कमसे कम मात्रामें रहे। पर इसके साथ ही साथ व्यक्तिके जीवनको धार्मिक और नैतिक बनानेके लिए राज्य जो कुछ भी कर सके, उसे करना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तिका वैयक्तिक जीवन राज्यके नियत्रणसे क्रमश अधिकाधिक मात्रामें मुक्त होता जा रहा है। यह सामान्यत स्वीकार किया जाता है कि राज्यको व्यक्तिके पारिवारिक जीवन और भोजन, वेश-भूषा आदिके सम्बन्धकी वैयक्तिक रुचि-अरुचिमें तब तक कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए जब तक कि इस प्रकारकी स्वाधीनता समाजकी व्यवस्था या सुरक्षा और भद्रताके नियमोका उल्लघन न करने लगे।

दूसरी ओर यह माग निरन्तर बढती जा रही है कि सामाजिक कल्याणके क्षेत्रमें जहा व्यक्ति या तो स्वत अपना कल्याण करते ही नहीं या कर पाते नहीं वहा राज्यको

अधिकाधिक हस्तक्षेप करना चाहिए। इस प्रकार सभी आधुनिक राज्योमें शिक्षा, सफाई, अपंग नागरिकोकी व्यवस्था और अपराधियोको दड देना तथा अपराधोको रोकना आदि राज्यके कार्योका समर्थन किया जाता है। वर्तमान युगकी प्रवृत्ति यह है कि राज्यो के कार्य क्षेत्रका तब तक क्रमश विस्तार होता जाय जब तक कि उसे जनताका पूरा-पूरा समर्थन मिलता रहता है और जब तक कि वह राज्यकी कार्यकारिणीका व्यवस्थापत्र नही बन जाता।

(५) इस युगका सबसे महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ है कि राज्यकी सर्वप्रभुता और व्यक्तिकी स्वाधीनताके बीच अधिकाधिक मात्रामें एक समझौता होता आया है। फिर भी आधुनिक अधिनायक-तत्रीय—नानाशाही राज्य इस नियमके अपवाद हैं। आदिम मानव को नियम कानून और अधिकार-सत्ताका महत्त्व समझानेके लिए परम्पराओका कठोर पालन और निरकुश शासन आवश्यक थे, पर जब इस उद्देश्यकी पूर्ति हो गई तब यही बातें व्यक्तिकी स्वाधीनता और राज्यकी एकतामें बाधक बन गई। पूर्वके साम्राज्योमें निरकुश शासनकी व्यवस्था उसका उद्देश्य पूरा हो जानेके बाद भी कायम रही। यूनानके नगर-राज्योमें व्यक्तिगत स्वाधीनताका विकास हुआ पर वहा एकताकी बलि देनी पडी। रोमने सगठन और व्यवस्थाकी पूर्ण प्रतिष्ठाकी, पर स्वाधीनताका गला घोट दिया। आखिरमें ट्यूटन (Teutons) लोगोके ऊपर यह उत्तरदायित्व आया कि वह व्यक्तिगत स्वाधीनता और राज्यकी प्रभुसत्ताके बीच आधुनिक प्रजातन्त्रवादी जातीय राज्यके रूपमें एक समझौता स्थापित करे। "स्थानीय-स्वशासन और प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तोंसे एक ऐसा सगठन सम्भव हो सका जो सार्वजनिक कार्योमें व्यक्तिकी स्वाधीनताकी बलि चढाये बिना भी एकता स्थापित कर लेता है और इस प्रकार विस्तृत भूप्रदेशोंमें प्रजातत्रकी स्थापना हुई।" अब भविष्यकी समस्या यही है कि बदलती हुई परिस्थितियोमें व्यक्तिकी स्वाधीनता और प्रभु-सत्ताके बीच सन्तुलन कायम रखा जाय, "और आधुनिक युगके कोई भी दो राज्य इस सम्बन्धमें एकमत नही हैं कि इनका उचित सन्तुलन क्या होगा और उसे कैसे प्राप्त किया जाय।"

Select Readings

Dealey, J A —*The Development of the States*—Ch. II
Fowler, W W —*The City-State of the Greeks and Romans*—Chs. IV-VI.
Gettell, R. G —*Introduction to Political Science*—Ch. VI.
Gettell, R. G —*Readings in Political Science*—Ch VI
Jenks, E.—*History of Politics*—Chs VIII-XII
Jenks, E —*Law of Politics in the Middle Ages*.
MacIver, R M —*The Modern State*—Chs I-IV
Sidgwick, H —*The Development of European Polity*.
Streit, C A —*Union Now*

५

हॉब्स, लॉक और रूसो का सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त

(The Social Contract Theory of Hobbes, Locke, and Rousseau)

जिन लोगोने राजनीति-शास्त्रका प्रारम्भिक ज्ञान-मात्र प्राप्त किया है वह भी जानते है कि हॉब्स (१५८८-१६७९), लॉक (१६३२-१७०४) और रूसो (१७१२-१७७८) के नाम सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके साथ अविच्छेद्य रूपसे जुडे है। इगलैडमें हॉब्स और लॉक ने और फ्रासमें रूसो ने इस सिद्धान्तको उसका अन्तिम स्वरूप दिया। सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तकी पूर्ण महत्ताको समझनेके उद्देश्यसे हम इन लेखकोंके विचारोंका सक्षेप में विवेचन करेंगे।

(क) प्राकृतिक अवस्था (राज्य) और प्राकृतिक विधान (The State of Nature and the Law of Nature)

हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्थाका बडा दयनीय चित्रण किया है। रूसो ने अपने निबन्ध «Inequality» में प्राकृतिक अवस्थाको ग्रामीण आनन्दमय जीवनके रूपमें चित्रित किया है यद्यपि बादमें अपने सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) में इस विचार मे परिवर्तन कर दिया है। लॉक ने इस सम्बन्धमें बीचका रास्ता अपनाया है। दूसरे शब्दो में हॉब्सके दृष्टिकोणसे प्राकृतिक अवस्था असहनीय है, लॉकके विचारसे यह अवस्था असुविधाजनक है और रूसोके दृष्टिकोणसे यह अवस्था सुख और शान्तिमय है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्थामें मनुष्यका जीवन निरन्तर सघर्षमय है क्योंकि मनुष्यका स्वभाव ही स्वार्थपूर्ण है। उन्हींके शब्दोमें "मनुष्यका जीवन एकागी दरिद्र, गन्दा, बर्बर और बहुत ही सीमित" होता है। "प्रत्येक मनुष्य दूसरेका शत्रु है (३५)।" मनुष्य सुख चाहता है और सुखकी प्राप्तिके लिए वह दूसरो पर शक्ति चाहता है।[1] लेकिन दूसरो पर वह अपनी शक्तिका प्रभाव नही जमा पाता क्योंकि, हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राय एक सी होती है। इसलिए लोग स्वभावत एक दूसरेसे भयभीत रहते है। भयकी इस स्थितिसे निरन्तर युद्ध की स्थिति उत्पन्न होती है। इसका यह अर्थ नही है कि लोग वास्तवमें हर समय एक दूसरे से लडते रहते है बल्कि इसका अर्थ यह है कि सघर्षकी भावना बराबर उपस्थित रहती

---

[1] क्रेनेनबर्ग (Kranenburg) के शब्दोमें "हॉब्सके मतानुसार मनुष्यकी चेतना में भय ही सबसे अधिक शक्तिशाली है और इसलिए यह भय ही है, जो मनुष्योंसे राज्य और सरकारकी सृष्टि करवाता है।

है। ऐसी स्थितिमें व्यवसायके लिए कोईस्थान नही है। "जिसे मार सको मारो, जो हड़प सको, हज़म कर जाओ" —यही नियम रह जाता है। ऐसे कार्योंकी रोक-थाम करनेके लिए कोई विधान—कानून नही होता। यदि हॉब्स ने यह अनुमान किया कि मनुष्य इस स्थितिसे ही प्रारम्भ करके आगे बढा है तो इसमें उसका कोई दोष नही। वह यही स्पष्ट करना चाहते हैं कि यही वह स्थिति है जिसमे कोई भी देश गिर सकता है यदि उसमें एक लम्बी अवधि तक कोई व्यवस्थित सरकार न रहे।

'सामाजिक-अनुबन्ध' के लेखकोने यह अनुमान किया कि प्राकृतिक अवस्थामें प्राकृतिक विधान भी थे, पर उन विधानोका आधार क्या था इस सम्बन्धमे वह एकमत नही हैं। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक विधान वही हैं जिन्हे हम चालाकी, दूरदर्शिता या उपयोगिता के नियम कह सकते हैं जब कि लॉक की सम्मतिमें यह नियम मनुष्यके अन्त करणमे अवस्थित नैतिकताके नियम है। हॉब्स तो साफ-साफ कहते है कि मनुष्यकी प्राकृतिक शक्ति ही उसके प्राकृतिक अधिकार है। उनका कहना है कि प्राकृतिक अवस्थामें न कोई नैतिकता हो सकती है और न उत्तरदायित्व या कृतज्ञताका विचार ही हो सकता है। इनकी सम्भावना सरकार और कानूनकी स्थापनाके बाद ही की जा सकती है। जब तक कोई कानून नही है तब तक सभी कार्य एक समान अच्छे और उचित हैं। "प्राकृतिक अधिकार" यही है कि "प्रत्येक मनुष्यको अपनी जीवन-रक्षाकी पूरी स्वाधीनता है। प्रकृतिका पहला नियम यही है कि हर व्यक्तिको शान्तिकी स्थापनाका प्रयत्न करना चाहिए। दूसरा नियम यह है कि मनुष्योको दूसरोंके साथ मिलकर अपने प्राकृतिक अधिकारोको छोडनेके लिए तैयार होना चाहिए। तीसरा नियम यह है कि मनुष्योको अपने अनुबन्ध या इकरारनामे पूरे करने चाहिए। और चौथा तथा आखिरी नियम यह है कि मनुष्यको कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए या उपकारके बदले उपकार करना चाहिए। हेलोवेल (Hallowell) का कहना है कि हॉब्स की पद्धतिमें कर्त्तव्य और स्वार्थ एक हो गए है।

लॉक (Locke) प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक विधानोके सम्बन्धमें लॉक के विचार बिल्कुल भिन्न है। उनकी सम्मतिमें प्राकृतिक अवस्थाका अर्थ युद्धकी अवस्था नही। वह "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और सुरक्षाकी अवस्था है"। वह स्वाधीनता (liberty) की अवस्था है स्वच्छन्दता (licence) की नही। इस अवस्थामें अधिकाश लोग प्राकृतिक विधानोको मानते है अर्थात् वह आन्तरिक नैतिकताके नियमोको मानते हैं। पर कुछ अडियल और हठी लोग होते है जो दूसरोके लिए भी असुविधाए उत्पन्न करते हैं। परिणामत शान्तिप्रिय लोगोको मजबूर होकर विधानको अपने हाथोमे लेना पडता है और यह साधारण व्यक्तिको जो कि अपने काम-धन्धेमे पूरी तरह स्वाधीन रहना चाहता है हमेशा खलता है। फिर इसके अलावा अपने ही सम्बन्धमें लोग सही-सही राय नही कायम कर सकते। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था या प्राकृतिक राज्यमें यही एक बुराई है कि उसमें विधान और न्यायकी कोई निश्चित स्वीकृत पद्धति नही है[1]। इन

---

[1] लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था या प्राकृतिक राज्यकी तीन कमिया यह है

(१) एक व्यवस्थित, निश्चित, प्रतिष्ठित विधान,
(२) एक निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश, और
(३) सही दडको कार्यान्वित करने और उसका समर्थन करनेकी शक्ति।

कमियोको दूर करनेके उद्देश्यसे ही लोग प्राकृतिक अवस्थाको छोडकर अनुवन्धके द्वारा एक नागरिक समाजमें प्रवेश करते हैं। लॉक का यह सिद्धान्त हॉब्स के सिद्धान्तसे कही अधिक अवास्तविक है।

रूसो अपनी पुस्तक «Discourse on Inequality» में रूसो ने प्राकृतिक मनुष्यका चित्र एक 'भद्र वर्बर' (Noble savage) के रूपमें खीचा है। प्राकृतिक अवस्थामें लोग एक समान आत्मनिर्भर और सन्तुष्ट रहते है। उनका जीवन ग्रामीण सुख और आदिम सरलताका जीवन होता है। सभ्यताके विकासके साथ-साथ असमानताकी उत्पत्ति होती है। कला और विज्ञानका उदय होता है और व्यक्तिगत सम्पत्तिकी प्रतिष्ठा होती है। श्रमका विभाजन भी होता है। इस सबके कारण एक नागरिक समाजकी कल्पना आवश्यक हो जाती है। इस प्रकार राज्य एक बुराई है जो लोगोमें परस्पर भेद होनेके कारण आवश्यक हो जाती है। अपनी पुस्तक (Social Contract) में रूसो ने नागरिक राज्यके सम्वन्धमें अपने विचारोमें परिवर्तन किया है और यह स्वीकार किया है कि एक नागरिक राज्यसे होनेवाले लाभ उन लाभोसे कही बढकर है जो प्राकृतिक अवस्था या प्राकृतिक राज्यसे होते है। उन्हीके शब्दोमें "सामाजिक अनुबन्धसे मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वच्छन्दताको खो देता है—अपने इस असीम अधिकारको खो देता है कि जो कुछ उसे पसन्द आए उस पर अपना अधिकार यदि सम्भव हो तो जमा ले, और वदलेमें उसे प्राप्त होती है नागरिक स्वाधीनता और अपनी सम्पत्ति पर अधिकार। इस मूल्याकनमें भूल वचानेके उद्देश्यसे हमें प्राकृतिक स्वाधीनता और नागरिक स्वाधीनताका भेद समझ लेना चाहिए और अधिकार तथा सम्पत्तिका भी भेद समझ लेना चाहिए। प्राकृतिक स्वाधीनता असीम है—उसकी सीमा व्यक्तिकी अपनी शक्ति ही है जब कि नागरिक स्वाधीनता जनमतसे सीमित रहती है। अधिकार तो शक्तिके बल किसी भी वस्तुको हस्तगत कर लेनेका परिणाम मात्र है जब कि सम्पत्तिके स्वामित्वका आधार एक निश्चित स्वीकृत स्वत्व होता है (67 Bk 1 Ch VIII)।

(ख) अनुबन्धका स्वरूप

हॉब्स की सम्मतिमें अनुवन्ध एक है प्रारम्भिक या सामाजिक अनुवन्ध, लॉक की सम्मति में अनुवन्ध दो है सामाजिक अनुबन्ध और शासकीय अनुवन्ध और रूसो की सम्मतिमें भी अनुबन्ध एक है। हॉब्स जब अनुवन्धकी बात करते है तो उनकी दृष्टिसे इस बातका कोई महत्त्व नही होता कि सरकारका सूत्रपात किसी अनुवन्धसे हुआ या नही। वह बहुत कुछ इस विचारसे परिचित है कि अनुवन्ध इतिहासकी एक गल्पमात्र है, हा, यह गल्प ऐसी जरूर है जो एक दार्शनिक सत्यकी प्रतिष्ठा करती है। यह केवल इस सत्यकी ओर सकेत करनेका ढगमात्र है कि सरकारका आधार शक्तिमात्र नही है बल्कि कुछ क्षत्रोमें सरकारको जनताकी इच्छा और उसकी सम्मति पर भी टिकना पडता है। इसके विपरीत लॉक अनुवन्धको एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना मानते हैं। उनका विचार है कि वास्तवमें किसी समय लोग एकत्रित हुए हैं और उन्होने एक सरकारकी स्थापना की है।

हॉब्स की धारणाके अनुसार अनुवन्ध प्राकृतिक अवस्थाको पार कर निकलन वाले लोगोंके वीच ही परस्पर हुआ है न कि जनता और शासकके वीचमें। यह अनुवन्ध शासक

की स्थापनाके उद्देश्यसे ही लोगोमें परस्पर हुआ। यह इस प्रकार हुआ है "जैसे प्रत्येक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्तिसे कहे कि मै अपना नियत्रण करनेके अपने अधिकारको अमुक व्यक्ति या अमुक समितिको सौंपता हूँ और उसे अधिकार देता हू कि वह मेरा नियत्रण करे बशर्ते कि तुम भी अपना यह अधिकार इस व्यक्ति या समितिको सौपो और इसी प्रकार उसे अपने भी नियत्रणका अधिकार दो (35 Part II, Ch XVII)।"

इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारोको अधिपति या शासकके हाथो समर्पित कर देता है, यद्यपि आगे चलकर हॉब्सने इसमें कुछ परिवर्तन किये हैं। अधिपति इस अनुबन्धका कोई पक्ष या विपक्ष नही है, उसकी उत्पत्ति तो इस अनुबन्धके परिणामस्वरूप होती है। वह परम निरकुश और निष्पक्ष है। एक बार उसे शक्ति और अधिकार सौंप देनेके बाद जनता उन्हें वापस नही ले सकती है, इसलिए जनताको क्रान्ति करनेका कोई अधिकार नही है। जिस अनुबन्धसे नागरिक समाजकी प्रतिष्ठा होती है उसीसे सरकारकी भी स्थापना होती है क्योकि हॉब्सकी दृष्टिमें राज्य या राष्ट्र और सरकारके बीच कोई अन्तर नही है। केवल एक ही अनुबन्ध स्वीकार करनेका परिणाम यह है कि जब एक सरकार उलट दी जाती है तो राज्य भी चकनाचूर हो जाता है और समाजमें अराजकता फैल जाती है। यह धारणा तो युक्ति-सगत नही मालूम होती। इस भूलका सुधार लॉक ने दो अनुबन्धोकी कल्पना करके किया है। यह दोहरा अनुबन्ध प्रत्यक्ष नही अप्रत्यक्ष है—नि सगय पर परोक्ष है।

लॉक. पहले अनुबन्धके द्वारा नागरिक समाजकी स्थापना होती है और दूसरे अनुबन्धके द्वारा सरकारकी स्थापना होती है। सीधा-सा निष्कर्ष यह है पहला अनुबन्ध जनतामें लोगोंके बीच परस्पर होता है और दूसरा अनुबन्ध एक ओर समस्त जनता और दूसरी ओर शासकके बीच होता है। हॉब्सके अनुसार, जैसा कि पहले कहा गया है, सरकारकी स्थापनाके परिणाम-स्वरूप नागरिक समाजकी स्थिति आती है। लॉकके अनुसार सरकारकी स्थापना दूसरा कदम है और सरकारके भग होनेका यह अर्थ नही है कि नागरिक समाज भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। एक सरकारके भग होनेका सीधा-सा अर्थ यह है कि समाजको उसके स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करनी पडेगी। लॉकके अनुसार लोग अपने नागरिक अधिकारोको अन्तिम रूपमें बिना शर्त नही सौंप देते। लोग अपने नैसर्गिक अधिकारोंका कुछ अश एक सामान्य सत्ताको इसलिए सौंप देते है कि उनके शेष अधिकार सुरक्षित रह सकें। यदि शासक इन अधिकारोको सुरक्षित नही रख पाता तो जनताका यह न्यायोचित अधिकार है कि वह उस शासकको हटा कर दूसरी सरकार स्थापित करे। इस प्रकार लॉक ने सकुचित या सीमित राजतत्रके सिद्धान्तकी स्थापना की है क्योकि उनका उद्देश्य १६८८ की रक्तहीन राज्य-क्रान्तिका समर्थन करना था। तो इस प्रकार लॉककी दृष्टिमें यह अनुबन्ध एक सीमित समझौता है। सम्पत्तिकी विवेचना करते हुए इसीलिए लॉक ने कहा है कि सरकारको उतना ही लेना चाहिए जितना उसके कार्य-सचालनके लिए आवश्यक हो; उससे अधिक लेनेका अधिकार सरकार को तब तक नही है जब तक कि सम्पत्तिका स्वामी अपनी स्वीकृति न दे। सरकारके सम्बन्धमें यह दृष्टिकोण बिल्कुल अवास्तविक है। वैधानिक शक्ति ही अतिम शक्ति नही है।

रूसो के अनुसार यह अनुबन्ध नागरिकोकी व्यक्तिगत सत्ता और उनकी सकलित सामाजिक सत्ताके बीच होता है। क ख ग घ आदि अपने प्राकृतिक अधिकारोको क +

ख + ग + घ की सकलित सत्ताको सौंप देते है। इस प्रकार कोई कुछ खो नही देता बल्कि प्रत्येकका लाभ ही होना है क्योंकि जब किसी एक पर आक्रमण होता है तो सारा समाज उसकी रक्षाके लिए दौडता है। राज्यका प्रत्यक नागरिक समस्त राज्यकी प्रभु-सत्ताके एक अशका अधिकारी होता है जो सबके लिए बराबर होता है और किसीसे छीना नही जा सकता। रूसोके ही शब्दोमे "हममेंसे प्रत्येक अपने शरीर और अपनी सर्वसामान्य शक्तिको सार्वजनिक इच्छाके नियत्रणमें समर्पित कर देता है और अपनी सकलित सत्तामें हम प्रत्येक सदस्यको समस्त सस्थाके अविभाज्य अगके रूपमें स्वीकार करते है।" प्रत्येक व्यक्ति जब अपना समर्पण अन्य प्रत्येक व्यक्तिके हाथो करता है तब वास्तवमे समर्पण किसीका नही होता और प्रत्येक व्यक्ति पहलेकी भाति ही स्वाधीन बना रहता है। रूसो इस बात पर विश्वास नही करते कि यह अनुबन्ध कोई वास्तविक ऐतिहासिक घटना है।

(ग) प्रभु-सत्ता (Sovereignty)

हॉब्स की सम्मति है कि प्राकृतिक अवस्थामे लोग असगठित और परस्पर सघर्ष-शील व्यक्तियोके झुडमात्र रहते है। इसलिए हॉब्सके सम्मुख प्रश्न यह है कि इस प्रकारके व्यक्तियोका एक ऐसा समुदाय जो एक ही प्रेरणा और उद्देश्यसे सचालित हो कैसे बन सकता है। इस समस्याका समाधान उन्हे सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तमें मिलता है जिसके अनुसार एक ऐसे अधिपतिकी प्रतिष्ठा होती है जो एक ही प्रेरणा और उद्देश्यसे सचालित होकर निरन्तर समाजका शासन करता है। अनुबन्धकी शर्तोके अनुसार यह एक ही प्रेरणा या उद्देश्य व्यक्तियोकी प्रेरणाओ या उद्देश्योका स्थान ले लेता है और उन सबकी इच्छाओ या उद्देश्योका प्रतिनिधित्व करता है।

एक अधिपति जनताका प्रतिनिधित्व कैसे कर पाता है?—इस प्रश्नके समाधानमें हॉब्स ने एक प्राकृतिक मनुष्य और एक कृत्रिम व्यक्तित्वके वैधानिक विभेदका लाभ उठाया है। एक सगठित सस्था जो अधिकारों और उत्तरदायित्वोसे पूर्ण हो एक कृत्रिम व्यक्तित्व या कल्पित व्यक्तित्व (Personations) है। ऐसी सस्था या ऐसा सगठन अपने किसी घटक या प्रतिनिधिके द्वारा ही कार्य कर सकता है। हॉब्स इस घटक या प्रतिनिधिको कृत्रिम व्यक्ति मानते है। इस सिद्धान्तका सामाजिक अनुबन्ध-क्षेत्रमें प्रयोग करते हुए हॉब्स कहते है कि यदि विभिन्न इच्छाए या प्रेरणाए किसी एक ही व्यक्तिको अपना घटक या प्रतिनिधि नियुक्त करे (और हॉब्सका मत है कि यही किया जाता है) तो उन विभिन्न इच्छाओका एकीकरण होकर एक ही इच्छा रह जाती है। प्रतिनिधि उन अनेक प्रेरणाओ या उद्देश्योकी ओरसे बोलता और काम करना है। दूसरे स्थान पर हम इस घटकको एक कल्पित व्यक्ति कह सकते है। जो कुछ मेरा घटक या प्रतिनिधि करता है वह मेरे ही द्वारा किया जाता है। वह जो कुछ करता है उस सबका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। सारी जिम्मेदारी और जवाबदेही मुझे स्वीकार करनी होगी। इसी प्रकार अधिपति या राजा जो कुछ भी करता है वह उसके माध्यमसे जनता ही करती है और इसलिए वह प्रतिनिधि रूपसे अलग होकर कुछ नही कर सकता। हॉब्सके अनुसार यही एक ढग है जिससे समाजकी एकता कायम रह सकती है। "प्रतिनिधिकी एकता ही व्यक्तिकी एकता है न कि उनकी एकता जिनका प्रतिनिधित्व किया जाता है" अर्थात् अधिपति या राजाकी एकता ही वास्तविक एकता है

न कि प्रजाकी एकता? एकताका निवास सामान्य घटक या प्रतिनिधिमें रहता है न कि व्यक्तियोमें। इस प्रकार हम देखते है कि हॉब्स के सिद्धान्तमें अनेक इच्छाओंके स्थान पर एक इच्छाकी प्रतिष्ठा की गई है। लेकिन जब हम रूसो के सिद्धान्तको देखते है तो वहा हमें अनेक इच्छाओका किसी एक सामान्य इच्छामें परिवर्तन दिखाई देता है।

महत्त्वका तथ्य यह है, जिस पर हमें ध्यान देना चाहिए, कि प्रभु-सत्ता चाहे जिसके हाथमें रहे वह परम पूर्ण, अविभाज्य और अविच्छेद्य होनी चाहिए। प्रभु-सत्ताकी स्थापना से ही समाजकी सृष्टि होती है। प्रभु-सत्ता इस धरती पर सर्वोपरि शक्ति है। समान-तंत्र या कामनवेल्थका मौलिक तत्त्व प्रभु-सत्तामे ही निहित है। हॉब्स का कहना है कि अधिपति चाहे एक हो और चाहे प्रभु-सत्ता कुछ या अनेक लोगोके हाथोमें हो, यद्यपि हॉब्स स्वय एक ही अधिपतिको अधिक उपयुक्त मानते है। राजतन्त्रके पक्षमें जिन लाभो का उल्लेख हॉब्स ने किया है वह निम्नलिखित है

(क) यह कि अधिपति या राजाका व्यक्तिगत स्वार्थ जनताके सामान्य स्वार्थके साथ घुल-मिल कर एक रूप हो सकता है,

(ख) यह कि सरकारके अन्य अनेक प्रकारोमे से राजतत्र अधिक सुविधापूर्वक कार्य कर सकता है, और

(ग) यह कि अधिपति या राजा अपने तौर-तरीकोमे निश्चित और स्थायी रहे इसकी अधिक सम्भावना है।

इसमें सदेह नही कि इन तर्कोमें कुछ वल है। हॉब्स का वास्तविक उद्देश्य राजतत्र की निरंकुशताका समर्थन करना था, पर ऐसा करनेमें उन्हें निरकुश राजतंत्रके उन अनेक समर्थकोंसे कोई धन्यवाद या सहाय्य नही मिला जो यह चाहते थे कि राजा दैवी अधिकारके वल पर शासन करे। उन लोगोका तर्क यह था कि यदि राजाकी अधिकार-सत्ता प्रजाके इस वलसे मुक्त और स्वतत्र नही है तो जिस जनता ने राजाको यह परम अधिकार-सत्ता दी है वही जनता एक दूसरे अनुवन्ध द्वारा कुछ और या अनेक लोगोंके हाथोमें वह अधिकार-सत्ता सौंप सकती है। दूसरी ओर राजतत्रके विरोधियोने भी हॉब्स से अपना कोई सरोकार नही रखा क्योकि वह राजाकी शक्ति और अधिकारोको सीमित करना चाहते थे।

हॉब्स के अनुसार अधिपति सर्वोपरि विधान स्रष्टा है। वह अपनी प्रजाके साथ कोई अन्याय नही कर सकता क्योकि वह उनका प्रतिनिधित्व करता है। नैतिक भूलें या अपराध उससे भले ही हो जाएं पर वैधानिक अन्याय उससे नही हो सकता। अपने कार्यों के लिए वह केवल परमात्माके प्रति उत्तरदायी है। यह तो वहुत कुछ वही सिद्धान्त हुआ कि राजासे कोई भूल या अपराध हो ही नही सकता, राजा चूकि सर्वोपरि विधान-निर्माता है इसलिए वह विधानसे ऊपर है। वह किसी प्रकारके वायदोंसे अपनेको नही वाध सकता। वह सेनाका सर्वोच्च सेनानायक होता है। समाजमे प्रचलित या पढाए जाने वाले सिद्धान्तो या धार्मिक विश्वासोका भी वही निर्णायक है।

लॉक के सिद्धान्तमे प्रभु-सत्ताके सभी प्रकारो या विभेदोका एक अनिश्चत समन्वय जैसा है। एक आधुनिक लेखकका कहना है "जितना ही अधिक सूक्ष्मतासे लॉक के सिद्धान्तोका अध्ययन किया जाता है उतना ही अधिक यह स्पष्ट होता जाता है कि लॉक ने प्रभु-सत्ताकी कल्पनाके विरुद्ध अधिक आघात किया है और निरकुश राजतत्रके दावोंके

विरुद्ध कम (२९)।" प्रभु-सत्ताके सम्बधमें परम्परागत दृष्टिकोण यह है कि उसे अविभाज्य और सर्वोपरि होना चाहिए। यही विचार हम हॉब्स, ऑस्टिन और अन्य अनेक लेखकोमें पाते है। लेकिन लॉक के अनुसार प्रभु-सत्ता न तो चरम है और न अविभाज्य। वह एक ओर तो लोगोमें और दूसरी ओर शासकोमे बटी हुई है। जैसा कि ऊपर कहा गया ह, प्रारम्भिक अनुबन्ध लोगोके बीच एक परस्पर समझौता है जिसके द्वारा प्राकृतिक राज्य-व्यवस्थाका अन्त करके उसके स्थान पर एक नागरिक समाजकी स्थापनाका निश्चय किया गया। इस प्रारम्भिक अनुबन्धमे समाजके प्रत्येक सदस्यकी स्वीकृति आवश्यक है। यह स्वीकृति प्रत्यक्ष रूपमें भी दी जा सकती है और अप्रत्यक्ष रूपमें मौन रह कर भी। किसी देशमे निवास करना मौन अप्रत्यक्ष स्वीकृति है। दूसरे अनुवन्धके परिणामस्वरूप शासको में कुछ शक्ति निहित की जाती है। यदि शासक अपने उत्तरदायित्व और कर्त्तव्योको पूरा नही कर पाते तो वह हटाए जा सकते है और उनके स्थान पर दूसरे नियुक्त किए जा सकते है और इसके लिए समाजको फिरसे प्राकृतिक अवस्थामें लौट जानेकी आवश्यकता नही है।

प्रभु-सत्ताके सम्बन्धमे लॉक के सिद्धान्तका क्रियात्मक अर्थ यह है कि प्रभु-सत्ता जनताके पास अधिरक्षित या सुरक्षित रहती है पर वास्तविक शक्तिका उपयोग सरकार द्वारा अर्थात् इगलेडमे पार्लियामेट और सम्राट्के द्वारा किया जाता है और जब सरकार अपने विश्वास या कर्त्तव्यका उल्लघन करती है तव यह आवश्यक हो जाता है कि जनता सरकारसे अपनी शक्ति वापस ले ले। इस प्रकार जनता एक प्रसुप्त या सोए हुए साझीदार की भाति है। जनता कुछ प्रतिवन्धोके साथ सरकारको प्रभु-सत्ताकी अधिकार-शक्तिका उपयोग करने देती है जव तक कि सरकार उसका दुरुपयोग न करने लगे। और जब सरकार ऐसा दुरुपयोग करती है तव जनता अपनी नीदसे जाग पडती है, उस सरकारको उलट देती है और उसके स्थान पर दूसरी सरकारकी स्थापना करती है। समाजके पास हमेशा सरकारको उलट देनेका विशेषाधिकार या अवशिष्ट अधिकार रहता है, पर इसके करनेका कोई वैधानिक मार्ग नही है। इसलिए चाहे जिस प्रकारकी सरकार हो अन्ततोगत्वा यह एक विद्रोह या क्रान्तिका ही रूप ग्रहण कर लेता है। लॉक के सिद्धान्तके अनुसार क्रान्ति न्याय्य और उचित है यदि वह समूचे समाजका अनुष्ठान हो। कठिनाई यह निश्चय करनेमें है कि क्रान्तिको कव समूचे समाजका अनुष्ठान माना जा सकता है। जैसा श्री टी० एच० ग्रीन ने कहा है कि लॉक अपने सिद्धान्तको अग्रेजी प्रतिनिधित्व-पद्धति के सुधार पर लागू नही कर पाए।

लॉक के प्रभु-सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तकी सवसे बडी भूल यह है कि वे अधिपतिकी शक्तियो पर वैधानिक प्रतिवन्ध लगाते है। उदाहरणस्वरूप वह यह कहते है कि व्यवस्थापिका अनायास आज्ञप्तियो (Extempore decrees) द्वारा शासन नही कर सकती। 'नही कर सकती' के स्थान पर यदि 'नही करना चाहिए' हो तो अधिक उचित होगा क्योकि यह प्राय स्वीकार किया जा चुका है कि वैधानिक अधिपतिको व्यक्तिके जीवन और सम्पत्ति-हरणका निरकुश अधिकार है। फिर भी लॉक ने 'नही कर सकती' का प्रयोग किया है और इससे वडी गडवडी पैदा हो जाती है। यह ऐसी भूल है जो अधिकारोकी घोषणा पर भी छा जाती है। लॉक प्राकृतिक अधिकारोको समाजसे परे और भिन्न समझते है।

रूसो. जैसा ऊपर कहा जा चुका है अनुबन्धकी शर्तोके अनुसार क, ख, ग, घ आदि अपने प्राकृतिक अधिकारोको क+ख+ग+घ आदिकी सकलित सत्ताको सौप देते है। इस सिद्धान्तमें जनप्रिय प्रभु-सत्ता और प्रजातन्त्रीय सरकारके आधार विद्यमान है। प्रत्येक नागरिकको प्रभु-शक्तिमें हिस्सा मिला हुआ है और प्रत्येक नागरिक एक प्रजा भी है इसलिए कि उसे उस कानूनको मानना पडता है जिसे उसने प्रभु-सत्ताके रूपमें स्वय बनाया है। रूसो ने हॉब्स के इस दृष्टिकोणको स्वीकार किया है कि प्रभु-सत्ता परम पूर्ण, अविच्छेद्य और अविभाज्य है। पर जहा हॉब्स ने प्रभु-सत्ताका निवास एक गलत स्थान में अर्थात् राजामें माना है वहा रूसो ने उसका निवास समूची राजनैतिक सस्थामें माना है। रूसो ने लॉक से प्रभु-सत्ता और सरकारके विभेदको भी स्वीकार किया है पर सरकार को उतनी शक्ति नही दी जितनी लॉक ने दी है। रूसो के अनुसार सरकार केवल एक ऐसी अधिकार-सत्ता है जिसे शक्ति दूसरेसे प्राप्त होती है और वह हमेशा प्रभु-शक्ति-सम्पन्न जनताकी इच्छाके अधीन रहती है। रूसो की कल्पनाकी 'प्रभु-शक्ति' निरन्तर सक्रिय और जागरुक प्रभु-शक्ति है, लॉक द्वारा कल्पित प्रभु-शक्तिकी भाति नही है, वह सरकार द्वारा अत्यधिक अनाचार किए जाने तक प्रतीक्षा नही करती, उसके पहले ही अपना कार्य करती है।

राजनीति-शास्त्रको रूसो की सबसे बडी देन है उनका सामान्य इच्छा या जन मत वाला सिद्धान्त। जनमत ही प्रभु-सत्ताका एकमात्र प्रगटीकरण है। यह समूची राजनीतिक सस्थामें निहित रहता है। जनमत या सामान्य इच्छाके सिद्धान्तका विवेचन इस अध्यायके अन्तमें टिप्पणीमें किया गया है।

(घ) राज्य और सरकारके विभेद
(Type of State and Government)

जहा तक राज्यके प्रकारका सम्बन्ध है हॉब्स निरकुश राजतन्त्रके समर्थक है। लॉक के सिद्धान्तमें वैधानिक सरकार या सीमित राजतन्त्रका समर्थन किया गया है। रूसो के सिद्धान्तसे जनप्रिय सरकार और विशेषकर प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रकी स्थापना होती है।

इन तीनो लेखकोकी सरकार सम्बन्धी धारणामें भी मौलिक भेद है। हॉब्स ने राज्य और सरकारके बीच कोई भेद नही किया। उनके अनुसार यथार्थ या वास्तविक सरकार सर्वथा वैधानिक सरकार है। इसके विपरीत लॉक और रूसो राज्य और सरकारके बीच तथा यथार्थ सरकार और वैधानिक सरकारके बीच भेद मानते है। जैसा पहले कहा गया है, हॉब्स के अनुसार सरकारके भग होनेका अर्थ है राज्यका भग होना और समाजका आदिम अराजकताकी स्थितिमें वापस जाना जो बिल्कुल गलत बात है। लॉक का मत है कि प्रभु-शक्ति-सम्पन्न जनताको अपनी सरकारके चुनने और उसके अनुपयुक्त सिद्ध होने पर उसे बदल देनेका अधिकार है। सरकार तो एक निष्ठा और नैतिक उत्तरदायित्व की बात है। रूसो के अनुसार सरकार जनताका एक घटक (Agent) या 'जीवित यन्त्र (Living tool)' मात्र है। वह किसी अनुबन्धका परिणाम नही है। सरकारकी शक्ति सीमित है और यह शक्ति भी उसे प्रभु-सत्ता-सम्पन्न जनतासे मिली है। उसके कोई मौलिक अधिकार नही है। प्रभु-सत्ता-सम्पन्न जनमत किसी भी समय उसकी शक्तिको वापस ले सकता है। सरकारके आश्रित या अधीनतामूलक स्वरूपको रूसो ने अपनी इस धारणामें

स्पष्ट कर दिया है कि अपनी समय-समय पर होने वाली व्यवस्थापिकाओमें जनता दो प्रश्नोका उत्तर खोजती है (६७ तीसरी पुस्तक, अध्याय १८)

(१) क्या हम यह चाहते है कि वर्तमान ढगकी सरकार कायम रहे ?

(२) यदि हम इस ढगकी सरकार चाहते भी है तो क्या वर्तमान कर्मचारियोको भी कायम रहने दिया जाय ?

जहा तक सरकारके अधिकारो और कर्त्तव्योका प्रश्न है हॉब्स ने सरकारको, जो उन की दृष्टिमें प्रभु-शक्ति-सम्पन्न है, सम्पूर्ण अधिकार दे दिए है। लॉक ने सरकारको केवल सीमित अधिकार दिए है। क्योंकि उनके अनुबन्धके सिद्धान्तके अनुसार जनता अपने प्राकृतिक अधिकारोका केवल उतना ही अश समर्पित करती है जितना कि नागरिक-समाज के कल्याणके लिए आवश्यक होता है। फिर लॉक ने सरकारके दोनो अगो — व्यवस्थापिका और कार्यकारिणीमें भी विभेद किया है जो हॉब्स नही कर सके। लॉक ने व्यवस्थापिकाको सरकारका सर्वोपरि अग माना है। हॉब्स ने व्यवस्था और सुरक्षाको सबसे अधिक महत्त्व दिया है। लॉक का कहना है कि सरकारको न केवल व्यवस्था कायम रखनी चाहिए वल्कि अच्छी प्रकार शासन करना चाहिए। शासकोको प्रजाकी भलाई के लिए शासन करना चाहिए — इस दृष्टिसे लॉक ने निश्चित रूपसे हॉब्स की अपेक्षा अधिक प्रगतिकी है।

रूसो के अनुसार सरकार केवल कार्यकारिणी-मात्र है, विधान-निर्माणका काम प्रभु-शक्ति-सम्पन्न जनताके हाथमें रहना चाहिए। बिना अपनी प्रभु-सत्ताकी अधिकार-शक्ति को कम किए जनता अपने कानून बनानेके अधिकारको नही छोड सकती। विधानका तत्त्व है इच्छा या मति और यह न तो दूसरेको दी जा सकती है और न इसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। इसी तर्कके आधार पर रूसो ने प्रतिनिधि सरकारके ऊपर ज़बरदस्त प्रहार किए हैं — वडी खरी आलोचनाकी है और प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रके पक्षमें वडे सबल तर्क रखे है। वह ऐसे प्रजातन्त्रके पक्षमें है जैसा यूनानके छोटे-छोटे नगर-राज्योमें था। उन्हीके शब्दोमें "जिन कारणोसे प्रभु-शक्ति अविच्छेद्य है उन्ही कारणोसे उसका प्रतिनिधित्व भी नही किया जा सकता, तत्त्वत प्रभु-शक्ति जनमतमें भी निहित रहती है और इच्छा या मतिका प्रतिनिधित्व असम्भव है। वह या तो वही हो सकता है या उससे भिन्न, दोनोंके बीचमें मध्यस्थता असम्भव है। जनताके भेजे हुए प्रतिनिधि, इसीलिए, न उसके प्रतिनिधि है, न कहे जा सकते है (६७ तीसरी पुस्तक, अध्याय १४)।"

इस प्रकार रूसो के अनुसार राजनैतिक सस्थामें इच्छाका निवास है और कार्यकारिणी उस इच्छाको क्रियात्मक रूप देती है। पर विभेदकी इस कल्पनाको बहुत दूर तक नही घसीटा जा सकता क्योंकि यदि इस तर्कको और आगे घसीटें तो यह कहना पडेगा कि कार्यकारिणीकी अपनी कोई इच्छा या मति है ही नही जो स्पष्टत असम्भव है। कार्यकारिणी एक पुलिसमैनकी तरह नही है जो केवल हुक्म वजा लाता है। प्रत्येक देशमें कार्यकारिणीको अपने विवेकसे काम लेनेका वहुत अधिक अवसर दिया जाता है। इसलिए जनमतमें कार्यकारिणीका भी कुछ हिस्सा रहता ही है। दूसरी ओर जनता केवल कानूनोको बनाती ही नही वल्कि यह भी निर्धारित करती है कि वह कानून कैसे और किसके द्वारा कार्यान्वित किए जायें। इस प्रकार अपनी इच्छा या मतिके कार्यान्वियमें उनका भी हिस्सा रहता है। तो इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि सिद्धान्तत जहा हम

इच्छा और इच्छाके कार्यान्वयमें एक विभेद निकालते हैं वहा इस विभेदको विस्तारके साथ लागू नही किया जा सकता। व्यवस्थापिका और कार्यकारिणीमें विभेद-कल्पना अच्छा है, पर हम कार्यकारिणीको वैसी आश्रित या अधीनस्थ स्थितिमें नही रख सकते जिसमें रूसो ने उसे रखा है।

रूसो ने प्रभुशक्ति-सम्पन्न जनता—जो व्यवस्थापिका है और कार्यकारिणी—जो सरकार ही है—इन दोनोके बीचमें एक दूसरा विभेद यह किया है कि व्यवस्थापिका को सर्वसामान्य बातो पर और कार्यकारणीको विशेष बातो पर ध्यान देना चाहिए। इस दृष्टिकोणमें अनेक कठिनाइया पैदा होती है। स्पष्टत सामान्य और विशेषके बीचमें एक निश्चित अन्तर बता सकना कठिन है। यदि हम यह भी स्वीकार करें कि जिस बात का सम्बन्ध समूचे समाजसे समान रूपसे है वह सामान्य है और जिसका सम्बन्ध किसी वर्ग या व्यक्ति से है वह विशेष है तो भी हमारी कठिनाई दूर नही होती। आधुनिक राज्यमें प्राय. प्रत्येक विधान एक विशेष प्रकारका होता है। शायद ही कोई बात ऐसी हो जिस का सम्बन्ध पूरे समाजसे समान रूपमें हो। इसलिए यदि हम विशेष और सामान्य विधानो के सम्बन्धमें रूसो द्वारा बताए हुए विभेदका दृढतासे अनुगमन करते है तो हम रूसो के उस उद्देश्यको ही सिद्ध नही होने देते जिससे वह अधिपतिको सर्वोपरि बनाना चाहते थे। सरकारको एक अधीनस्थ अधिकार-सत्ता बनानेके बजाय क्रियात्मक रूपसे हम उसे सर्वोपरि सस्था बना देंगे। और फिर सरकारकी स्थापना स्वय ही एक 'विशेष' कार्य है और जनताको इसे करनेका कोई अधिकार नही है। रूसो द्वारा बताया हुआ विभेद केवल छोटे-छोटे नगर-राज्योमें ही प्रयोगमें लाया जा सकता है।

(ङ) व्यक्तिगत स्वाधीनता और अधिकार-सिद्धान्त
(Individual Liberty and Theory of Rights)

हॉब्स वैधानिक अधिकार-सिद्धान्तको स्वीकार करते है, लॉक के सिद्धान्तका आधार है नैसर्गिक या प्राकृतिक अधिकार (natural rights)। रूसो अधिकारोकी उत्पत्ति समाजकी सदस्यतासे मानते है और इस प्रकार अधिकारोके आदर्शवादी या व्यक्तिवादी सिद्धान्तको स्वीकार करते है।

हॉब्स के सिद्धान्तमें प्रजाको वह सभी अधिकार प्राप्त है जो कानून उसे देता है। कानून द्वारा जहा कोई प्रतिबन्ध नही लगता वहा प्रजाके नैसर्गिक अधिकार सुरक्षित रहते है। इसका यह अर्थ नही है कि जीवन-मरण पर अधिपतिके अधिकारको सीमित किया गया। अधिपति किसी भी क्षण हस्तक्षेप कर सकता है और प्रजाकी स्वाधीनता को सीमित कर सकता है। जहा कानूनका नियंत्रण नही है वहा प्रजाको अधिकार प्राप्त है। हॉब्स के विचारमें अधिकार और स्वाधीनता दोनो एक दूसरेके विरुद्ध है।

हॉब्स के दृष्टिकोणमें अधिपतिकी अधिकार-सीमा अनिर्दिष्ट—असीम है, यद्यपि कही-कही व्यक्तिके आज्ञापालनकी सीमा वह स्वीकार करते है। यह अनुबन्धका प्राकृतिक स्वरूप ही है। प्रभु-शक्ति या अधिपतिकी स्थापना जीवन और जीवनकी सुख-समृद्धिकी रक्षाके लिए ही हुई थी। इसलिए

१ यदि अधिपति व्यक्तिके जीवन पर हमला करता है तब अनुज्ञा या आज्ञापालनका

मूल्य ही समाप्त हो जाता है। यह एक विरोधाभासकी स्थिति है। भले ही व्यक्तिको न्यायपूर्वक मृत्यु-दड दिया गया हो फिर भी अपनी जीवन-रक्षाका प्रयत्न करनेमें वह न्याययुक्त ही माना जायगा। जब उसके जीवन पर ही हमला किया जा रहा हो तब व्यक्तिको बच निकलनेका मौलिक अधिकार है। जब दूसरेके जीवन पर हमला हो रहा हो तब वह हस्तक्षेप कर सकता है, इससे अधिक कुछ नही।

२. कुछ स्थितियोमें व्यक्ति सैनिक-सेवा करने से भी इनकार कर सकता है क्योकि अनुबन्ध उसके जीवनकी रक्षा करनेके लिए हुआ था।

३. जब अधिपति अपनी अधिकार-सत्ताको कायम रखनेमें और व्यक्तिकी सुरक्षामें असमर्थ हो जाता है तव अनुबन्ध टूट जाता है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि हॉब्स ने अपने सिद्धान्तको दृढतापूर्वक तर्कके आधार पर स्थिर किया है। इन कुछ असामान्य स्थितियोको छोड कर अधिपतिका अधिकार परम पूण--निरकुश (absolute) माना गया है।

लॉक के सिद्धान्तमें शासकको शासितोकी अनुमति पर निर्भर रखा गया है। व्यक्ति को वह सब अधिकार प्राप्त है जिनका समपण उसने राज्यके हाथो नही कर दिया। राज्यका अस्तित्व जीवन और स्वाधीनताकी रक्षाके लिए ही प्रधान रूपसे है। फिर भी लॉक ने सार्वजनीन अधिकारो पर इतने प्रतिबन्ध लगा दिए है कि उनका अस्तित्व नही के वरावर रह गया है।

रूसो के सिद्धान्तके अनुसार व्यक्ति एक नागरिक राज्यमें भी उतना ही स्वतत्र है (यदि उससे अधिक नही) जितना कि वह प्राकृतिक अवस्थामें था क्योकि वह अपने अधिकार किसी वाहरी व्यक्तिको नही समर्पित करता। वह इन अधिकारोका समर्पण स्वय अपने आपको और उन अन्य लोगोको करता है जिनको मिला कर समूची राजनैतिक सस्था वनती है। रूसो के कथनानुसार सारी समस्या यह है "कैसे ऐसी सस्थाकी प्रतिष्ठा हो जो सार्वजनिक शक्तिके वल पर प्रत्येक सदस्यके जीवन और सम्पत्तिकी रक्षा करे और जिसका प्रत्येक सदस्य अपने आपको अन्य सब लोगोके साथ सन्निहित करनेके वाद भी स्वय अपना ही अनुगामी या आज्ञाकारी बना रहे और पहले हीकी भाति स्वाधीन वना रहे।" इस समस्याका समाधान रूसो ने सामाजिक अनुबन्धमें पाया है जिसके अनुसार 'हममें से प्रत्येक अपने शरीर और अपनी सम्पत्तिको सार्वजनिक रूपमें जनमतके सर्वोच्च नियत्रणके अधीन कर देता है और अपनी सकलित सत्तामें हम प्रत्येक सदस्यको अविभक्त समस्तका अविच्छेद्य अग मानते है'।

इस प्रकार हम देखते है कि रूसो के अनुसार मनुष्य नागरिक राज्यमें एक स्वतत्र व्यक्ति है। जो कुछ भी प्रतिबन्ध है वह स्वय उसीके द्वारा अपने ऊपर लगाए गये है। वह ऐसे कानूनको मानता है जिसे उसने स्वय लागू किया है और इसको स्वधीनताका अपहरण नही कहा जा सकता। "एक ऐसे क़ानूनकी आज्ञानुवर्तिता जिसे हमने स्वय अपने ऊपर लागू किया हो स्वाधीनता ही है"।

स्वाधीनताके इस दृष्टिकोणकी हम एक ही आलोचना करना चाहते है, वह यह कि रूसो की दृष्टिसे एक पूण प्रजातत्रका अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता। अनुभव तो यह बताता है कि यह बात सर्वदा सत्य नही सिद्ध होती। रूसो वहुमतके अत्याचारकी सम्भावना पर विचार नही करते, जिसकी आशका श्री जे० एल० मिल ने आधुनिक प्रजातत्र राज्योके

सम्बन्धमें पूरी तरहसे की है। उनकी यह धारणा कि जहा जनमत है वहा व्यक्तिको 'वरवस' स्वाधीन होनेको विवश किया जा सकता है, आसानीसे बहुमतके अत्याचारका पर्याय बन सकती है। इस आलोचनाके वावजूद भी हमें यह कहनेमें कोई सकोच नही है कि रूसो में हमें स्वाधीनताका उत्कृष्ट व्याख्याता मिलता है। राजनीति-शास्त्रके एक केन्द्रीय प्रश्नका समाधान हमें उनकी व्याख्या से मिलता है और वह प्रश्न है सामाजिक अधिकार-सत्ता और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वके पारस्परिक सम्बन्ध का।

हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तोका सत्यांश
(Truth in the Theories of Hobbes, Locke and Rousseau)

हॉब्स के सिद्धान्तका विकास एक निश्चित एकरूपताके साथ हुआ है। यदि एक वार हम उनकी आधारभूत मान्यताओको स्वीकार कर लेते है तो निष्कर्ष वरवस अपने आप निकल आता है। हॉब्स एक कुशाग्र विचारक है। राजनीति-शास्त्रको उनकी प्रधान देन है उनका 'वैधानिक सत्ता-सिद्धान्त'। उनकी सबसे बडी कमजोरी यह है कि उन्होने वैधानिक सत्ताकी पूर्ति राजनैतिक सत्तासे नही की। आधुनिक विचारक इस सत्यको स्वीकार करते है कि वैधानिक प्रभु-सत्ताके पीछे और उससे श्रेष्ठ राजनैतिक सत्ता या जनमत है। हॉब्स ने राज्यकी इच्छाको वास्तविक शासनकी रक्षाके साथ एकरूप करके एक भूल की है। इस एकरूपताके कारण ही उन्हें राज्य और सरकारके बीच विभेद करनेमें कठिनाई पडी है। वह तो यहा तक कह गये है कि एक शासककी मृत्युके वाद राज्य भग हो जाता है।

हॉब्स का कहना है कि अधिपति प्रजाका प्रतिनिधि है। मौलिक दृष्टिसे हम इस वात को स्वीकार कर सकते है कि यदि एक सरकार प्रजाकी आवश्यकताओका सच्चा प्रकाशन करती है तो वह प्रतिनिधि सरकार है। लेकिन हमें यह कहना पड़ता है कि हॉब्स ने प्रतिनिधि शब्दका प्रयोग उसके साधारण अर्थमें नही किया। इस वातका कोई आश्वासन या निश्चय नही है कि यह कल्पित प्रतिनिधि अधिपति वास्तवमें प्रजाका प्रतिनिधित्व करेगा अर्थात् जनताके कल्याणके कार्य करेगा। हॉब्स का उत्तर इस प्रश्नका यह होगा कि हम अधिपतिकी वैधानिक शक्ति पर कोई प्रतिवन्ध नही लगा सकते क्योकि वह सर्वोच्च विधान-निर्माता है। पर समस्या तो यह है कि अधिपतिकी इस वैधानिक शक्तिका संगठन कैसे इस रूपमें किया जाय कि सुशासनका निश्चय हो सके। शक्तिका केन्द्रीकरण निस्सन्देह सरकारको बहुत कुछ कार्य-कुशल बना देगा पर आवश्यकता तो इस वातकी है कि शक्तिका यह केन्द्रीकरण और अत्याचारसे मुक्ति—इन दोनोके बीच समन्वय कैसे किया जाय।[१]

यह तर्क किया जा सकता है कि हॉब्स के सिद्धान्तमें व्यक्तिको कोई स्वाधीनता नही दी गयी और उसे शासककी कृपाके भरोसे छोड दिया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार जब तक व्यक्तिका जीवन खतरेमें न पडे तब तक उसे अधिपतिकी आज्ञाओका पालन करनेसे इन्कार नही करना चाहिए। प्रजाके अधिकारोके समर्थक कह सकते है कि जब कभी अधि-

---

[१] हैलोवेल का कहना है कि हॉब्स ने राज्य और समाज, राज्य और सरकार, अथवा विज्ञान और नैतिकताके बीच कोई विभेद नही स्वीकार किया।

मूल्य ही समाप्त हो जाता है। यह एक विरोधाभासकी स्थिति है। भले ही व्यक्तिको न्यायपूर्वक मृत्यु-दड दिया गया हो फिर भी अपनी जीवन-रक्षाका प्रयत्न करनेमें वह न्याययुक्त ही माना जायगा। जब उसके जीवन पर ही हमला किया जा रहा हो तब व्यक्तिको बच निकलनेका मौलिक अधिकार है। जब दूसरेके जीवन पर हमला हो रहा हो तब वह हस्तक्षेप कर सकता है, इससे अधिक कुछ नही।

२. कुछ स्थितियोमें व्यक्ति सैनिक-सेवा करने से भी इनकार कर सकता है क्योकि अनुबन्ध उसके जीवनकी रक्षा करनेके लिए हुआ था।

३ जब अधिपति अपनी अधिकार-सत्ताको कायम रखनेमें और व्यक्तिकी सुरक्षामें असमर्थ हो जाता है तब अनुबन्ध टूट जाता है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि हॉब्स ने अपने सिद्धान्तको दृढतापूर्वक तर्कके आधार पर स्थिर किया है। इन कुछ असामान्य स्थितियोको छोड कर अधिपतिका अधिकार परम पूर्ण--निरकुश (absolute) माना गया है।

लॉक के सिद्धान्तमें शासकको शासितोंकी अनुमति पर निर्भर रखा गया है। व्यक्तिको वह सब अधिकार प्राप्त है जिनका समपण उसने राज्यके हाथो नही कर दिया। राज्यका अस्तित्व जीवन और स्वाधीनताकी रक्षाके लिए ही प्रधान रूपसे है। फिर भी लॉक ने सार्वजनीन अधिकारो पर इतने प्रतिबन्ध लगा दिए है कि उनका अस्तित्व नही के बराबर रह गया है।

रूसो के सिद्धान्तके अनुसार व्यवित एक नागरिक राज्यमें भी उनता ही स्वतत्र है (यदि उससे अधिक नहीं) जितना कि वह प्राकृतिक अवस्थामें था क्योकि वह अपने अधिकार किसी बाहरी व्यवितको नही समर्पित करता। वह इन अधिकारोका समर्पण स्वय अपने आपको और उन अन्य लोगोको करता है जिनको मिला कर समूची राजनैतिक सस्था बनती है। रूसो के कथनानुसार सारी समस्या यह है "कैसे ऐसी सस्थाकी प्रतिष्ठा हो जो सार्वजनिक शक्तिके बल पर प्रत्येक सदस्यके जीवन और सम्पत्तिकी रक्षा करे और जिसका प्रत्येक सदस्य अपने आपको अन्य सब लोगोके साथ सन्निहित करनेके बाद भी स्वय अपना ही अनुगामी या आज्ञाकारी बना रहे और पहले हीकी भाति स्वाधीन बना रहे।" इस समस्याका समाधान रूसो ने सामाजिक अनुबन्धमें पाया है जिसके अनुसार 'हममें से प्रत्येक अपने शरीर और अपनी सम्पत्तिको सार्वजनिक रूपमें जनमतके सर्वोच्च नियत्रणके अधीन कर देता है और अपनी सकलित सत्तामें हम प्रत्येक सदस्यको अविभक्त समस्तका अविच्छेद्य अग मानते है'।

इस प्रकार हम देखते है कि रूसो के अनुसार मनुष्य नागरिक राज्यमें एक स्वतत्र व्यवित है। जो कुछ भी प्रतिबन्ध है वह स्वय उसीके द्वारा अपने ऊपर लगाए गये है। वह ऐसे कानूनको मानता है जिसे उसने स्वय लागू किया है और इसको स्वधीनताका अपहरण नही कहा जा सकता। "एक ऐसे कानूनकी आज्ञानुवर्तिता जिसे हमने स्वय अपने ऊपर लागू किया हो स्वाधीनता ही है"।

स्वाधीनताके इस दृष्टिकोणकी हम एक ही अलोचना करना चाहते है, वह यह कि रूसो की दृष्टिसे एक पूर्ण प्रजातत्रका अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता। अनुभव तो यह बताता है कि यह बात सर्वदा सत्य नही सिद्ध होती। रूसो बहुमतके अत्याचारकी सम्भावना पर विचार नही करते, जिसकी आशका श्री जे० एल० मिल ने आधुनिक प्रजातत्र राज्योके

सम्बन्धमें पूरी तरहसे की है। उनकी यह धारणा कि जहा जनमत है वहा व्यक्तिको 'बरबस' स्वाधीन होनेको विवश किया जा सकता है, आसानीसे बहुमतके अत्याचारका पर्याय बन सकती है। इस आलोचनाके बावजूद भी हमें यह कहनेमें कोई सकोच नही है कि रूसो में हमें स्वाधीनताका उत्कृष्ट व्याख्याता मिलता है। राजनीति-शास्त्रके एक केन्द्रीय प्रश्नका समाधान हमें उनकी व्याख्या से मिलता है और वह प्रश्न है सामाजिक अधिकार-सत्ता और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वके पारस्परिक सम्बन्ध का।

हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तोका सत्यांश
(Truth in the Theories of Hobbes, Locke and Rousseau)

हॉब्स के सिद्धान्तका विकास एक निश्चित एकरूपताके साथ हुआ है। यदि एक बार हम उनकी आधारभूत मान्यताओको स्वीकार कर लेते है तो निष्कर्ष बरबस अपने आप निकल आता है। हॉब्स एक कुशाग्र विचारक है। राजनीति-शास्त्रको उनकी प्रधान देन है उनका 'वैधानिक सत्ता-सिद्धान्त'। उनकी सबसे बडी कमजोरी यह है कि उन्होने वैधानिक सत्ताकी पूर्ति राजनैतिक सत्तासे नही की। आधुनिक विचारक इस सत्यको स्वीकार करते है कि वैधानिक प्रभु-सत्ताके पीछे और उससे श्रेष्ठ राजनैतिक सत्ता या जनमत है। हॉब्स ने राज्यकी इच्छाको वास्तविक शासनकी रक्षाके साथ एकरूप करके एक भूल की है। इस एकरूपताके कारण ही उन्हें राज्य और सरकारके बीच विभेद करनेमें कठिनाई पडी है। वह तो यहा तक कह गये है कि एक शासककी मृत्युके बाद राज्य भग हो जाता है।

हॉब्स का कहना है कि अधिपति प्रजाका प्रतिनिधि है। मौलिक दृष्टिसे हम इस बात को स्वीकार कर सकते है कि यदि एक सरकार प्रजाकी आवश्यकताओका सच्चा प्रकाशन करती है तो वह प्रतिनिधि सरकार है। लेकिन हमें यह कहना पड़ता है कि हॉब्स ने प्रतिनिधि शब्दका प्रयोग उसके साधारण अर्थमें नही किया। इस बातका कोई आश्वासन या निश्चय नही है कि यह कल्पित प्रतिनिधि अधिपति वास्तवमें प्रजाका प्रतिनिधित्व करेगा अर्थात् जनताके कल्याणके कार्य करेगा। हॉब्स का उत्तर इस प्रश्नका यह होगा कि हम अधिपतिकी वैधानिक शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नही लगा सकते क्योकि वह सर्वोच्च विधान-निर्माता है। पर समस्या तो यह है कि अधिपतिकी इस वैधानिक शक्तिका सगठन कैसे इस रूपमें किया जाय कि सुशासनका निश्चय हो सके। शक्तिका केन्द्रीकरण निस्सन्देह सरकारको बहुत कुछ कार्य-कुशल बना देगा पर आवश्यकता तो इस बातकी है कि शक्तिका यह केन्द्रीकरण और अत्याचारसे मुक्ति—इन दोनोके बीच समन्वय कैसे किया जाय।[1]

यह तर्क किया जा सकता है कि हॉब्स के सिद्धान्तमें व्यक्तिको कोई स्वाधीनता नही दी गयी और उसे शासककी कृपाके भरोसे छोड दिया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार जब तक व्यक्तिका जीवन खतरेमें न पडे तब तक उसे अधिपतिकी आज्ञाओका पालन करनेसे इन्कार नही करना चाहिए। प्रजाके अधिकारोके समर्थक कह सकते है कि जब कभी अधि-

---

[1] हैलोवेल का कहना है कि हॉब्स ने राज्य और समाज, राज्य और सरकार, अथवा विज्ञान और नैतिकताके बीच कोई विभेद नही स्वीकार किया।

पति एक निरकुश और अत्याचारी ढगसे शासन करता है और जनताके कल्याणकी उपेक्षा करता है तभी 'प्रतिरोधके अधिकार' का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस तर्कके उत्तरमें यह ज़रूर कहा जायगा कि हॉब्स के सिद्धान्तके अनुसार भी जब कभी सरकारका शासन ठीक-ठीक नही होता तभी अनुबन्ध भग हो जाना चाहिए। पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हॉब्स ने एक शक्ति-पूर्ण सरकारकी मौलिक आवश्यकताकी ओर सकेत किया है। 'प्रतिरोधके अधिकार' के बहुत जल्दी दे देनेमें जो खतरा है उसका उन्होने अनुभव किया है। एक निष्ठावान् नागरिकको स्वय अपने आपसे यह प्रश्न करना चाहिए "क्या परिस्थिति ऐसी है कि इसमें गृह युद्ध और अराजकताका खतरा मोल लेना बुद्धिसगत होगा ?" जब कभी सरकारके प्रतिरोधका सवाल होता है तभी उसके परिणामस्वरूप गृह-युद्ध हो सकता है। प्रतिरोध करनेमें प्रारम्भमें भले ही लोगोके मनमें गृह-युद्धकी बात न हो पर वह बरबस उसी चक्रमें पड जा सकते है। एक बार सरकारसे प्रतिरोध प्रारम्भ कर देने पर यह नही कहा जा सकता कि उसका अन्त कहा होगा। शायद यह अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि सरकार शक्ति-सम्पन्न हो बजाय इसके कि वह बिल्कुल न्याय-पूर्ण हो। कभी-कभी हो जाने वाले अन्याय-पूर्ण कार्योंकी अपेक्षा शान्ति और सुरक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण है। प्रतिरोध, वह किसी प्रकारका भी हो, सरकारको दुर्बल ही बनाता है। हॉब्स यही सत्य हमारे सामने स्पष्ट करना चाहते है। जैसा श्री आइवर ब्राउन (Iver Brown) ने कहा है, हॉब्स अनुशासनके प्रथम महान् दार्शनिक है।

हॉब्स जैसे परम व्यक्तिवादी विचारकोके लिए समाजकी अन्तंदृष्टि बहुत कठिन है। हॉब्सका प्रस्थान-विन्दु ही दोष-पूर्ण है। उनकी धारणा है कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी है और सुख-दुखकी भावनासे ही प्रेरित है। यह गलत मनोविज्ञान है। उसके विपरीत प्लैटो ने सही धारणाके साथ अपना विचार प्रारम्भ किया है कि व्यक्तिकी आत्मा पूर्ण नही है और समाजसे परे उसका कोई मूल्य और महत्त्व नही। हॉब्सके सिद्धान्तमें लोगोको एक सूत्रमें बाधने वाला सामान्य तत्व है—अराजकताका सर्वसामान्य भय। इसीलिए वह समाज की एकताको, लोगोसे परे, आधिपतिकी इच्छामें अधिष्ठित करनेको विवश हो गये है।

लॉक १६८८ की अग्रेजी राज्य क्रान्तिके दार्शनिक है। उनकी पुस्तक «Second Treatise on Civil Government» ऐतिहासिक दृष्टिसे बडी प्रभावपूर्ण रही। राज्य-क्रान्तिके दिनो लोगोके कैसे विचार थे इस पर इस पुस्तकने अच्छा प्रकाश डाला है। राजनैतिक सिद्धान्तोके सम्बन्धमें एक वैज्ञानिक अन्वेषण होनेके बजाय यह पुस्तक एक सीधा-सादा राजनैतिक पैम्फलेट कही जा सकती है। हाब्स की पुस्तक (Leviathan) की भाति यह सश्लिष्ट तर्क-पद्धति पर नही लिखी गयी। लॉक के सिद्धान्तका केन्द्र-बिन्दु यह है कि सरकारका प्रधान कर्त्तव्य जनताकी आवश्यकताओकी पूर्ति है। यदि कोई बात जन-हितके पक्षमें सिद्ध होती है तो लॉक को उसकी दार्शनिक न्याय-सगतिकी चिन्ता नही रहती। हॉब्स की दृष्टिमें व्यवस्था और सुरक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। लॉक का कहना है कि सरकारको न केवल व्यवस्था कायम रखनी चाहिए बल्कि ठीक तरह शासन भी करना चाहिए। शासकको प्रजाके कल्याणके लिए शासन करना चाहिए। इन्ही सब बातोंसे लॉक को राजनैतिक प्रभु-सत्ताकी स्वीकृति करनी पडी है, यद्यपि वह वैधानिक प्रभु-सत्ताके अर्थ-सकेतोको पूरी तरह नही समझ पाये। इस सम्बन्धमें हॉब्स और लॉक के अन्तरको स्पष्ट करते हुए गिलक्राइस्ट (Gilchrist) का कहना है, "हॉब्स ने हमें, बिना

राजनैतिक प्रभु-सत्ताके अस्तित्व और अधिकारको स्वीकार किये ही, वैज्ञानिक प्रभु-सत्ता का सिद्धान्त दिया है, लॉक ने राजनैतिक प्रभु-सत्ताकी शक्तिको स्वीकार किया है पर वैधानिक प्रभु-सत्ताकी यथेष्ट स्वीकृति वह नही कर सके (२८ ६३)।" लॉस्की के अनुसार लॉक ने अनुमतिके सिद्धान्तोको राजनीतिमें एक स्थायी स्थान दे दिया।

रूसो :

(१) रूसो ने अनुबन्ध-सिद्धान्तकी भाषा तो अपनायी है पर उनके विचार प्रायः अनुबन्ध-सिद्धान्तके विचारोका अतिक्रमण कर जाते है।

(२) रूसो ने हॉब्स और लॉक के सिद्धान्तोके सर्वोत्तम तत्त्वोका समन्वय कर दिया है। जैसा कि एक लेखकने कहा है, उन्होने हॉब्सकी प्रारम्भिक मान्यताओ और विचार-सरणिके साथ लॉक के निष्कर्षोंका समन्वय कर दिया है।

हॉब्स से रूसो ने एक परम पूर्ण या निरकुश, अविच्छेद्य और अविभाज्य प्रभु-सत्ताका विचार ले लिया और लॉक से उन्होने इस सिद्धान्तको स्वीकार किया कि एक अच्छी सरकारकी कसौटी जन-कल्याण ही है। रूसो केवल जन-कल्याण पर ही जोर देकर सन्तुष्ट नही हो जाते। वह जनताकी सकलित सत्ताका नियत्रण भी चाहते है। "इस प्रकार रूसो के हाथमें यह सिद्धान्त मौलिक रूपसे प्रजातत्रीय हो जाता है और यह दावा किया जाने लगता है कि अपने सकलित रूपमें प्रजा ही, न केवल नामके लिए बल्कि वास्तवमें शासन करेगी .....सबसे अधिक रूसो ने ही पहले पहल सक्रिय प्रजातत्रको विश्वकी राजनीति में एक सजीव सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित किया (कोल Cole)।"

जनमतके सिद्धान्त पर टिप्पणी
(Note on the Doctrine of the General Will)

आधुनिक राजनैतिक विवादोमें जनमतके सिद्धान्तका बहुत बडा भाग रहा। कुछ विचारकोकी सम्मतिमें तो यह सिद्धान्त यदि खतरनाक नही तो अर्थहीन अवश्य है। दूसरोकी सम्मतिसे वह राजनैतिक दर्शन और प्रजातत्रकी आधार-शिला है।

जनमतके सिद्धान्तको भली भाति समझनेके लिए उसकी पृष्ठ-भूमिमें 'व्यावहारिक इच्छा' या मत और 'वास्तविक इच्छा' के विभेदको समझना होगा। प्रारम्भमें ही यह स्पष्ट कर देना होगा कि 'व्यावहारिक' और 'वास्तविक' शब्दोंका प्रयोग पारिभाषिक अर्थमें दो भिन्न विचारोको प्रकट करनेके लिए किया गया है। इसलिए इन शब्दोका प्रयोग एक दूसरेके साथ परिवर्तनीय रूपमें करना, जैसा कि हम सामान्य बातचीतमें किया करते है, उचित नही है। श्री एल० टी० हॉबहाउस (L. T. Hobhouse) ने अपनी पुस्तक « Metaphysical Theory of the State » में यही भूलकी है। वह तो यहा तक कह गए है कि जो व्यावहारिक है वही वास्तविक है, जो वास्तविक है वही व्यावहारिक है।

जो लोग इन शब्दोका प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थमें करते है और इनके पारस्परिक अन्तरको अपनी जनमतकी धारणाका आधार बनाते है वह मनुष्यके भीतर चलने वाले उस अविरत सघर्षका उपयोग करते है जो मनुष्यकी 'मैं' और 'मुझसे अच्छा' की भावना

के बीच चला करता है। 'व्यावहारिक इच्छा या मति' का प्रयोग यह लोग मनुष्यकी प्रेरणात्मक और विचार-युक्त सहज-इच्छा (Impulsive and unreflective will) के अर्थमें करते हैं। यह मनुष्यकी क्षण-क्षण परिवर्तनीय इच्छा है। यह जीवनके समष्टि रूपका कोई ध्यान नही रखती। यह इच्छा स्वार्थका ध्यान रखती है, पर उस स्वार्थका विचार वह समूचे समाजके कल्याणको ध्यानमें रखते हुए नही करती। यह व्यक्तिकी विद्रोहात्मक इच्छा है, इसकी अस्थिर, अनित्य और क्षुद्र इच्छा है। यह इच्छा सकीर्ण और आत्म-विरोधिनी होती है। यदि मनुष्य कुछ भी विचारवान् है तो वह अपने आपको इस 'व्यावहारिक इच्छा' से मुक्त करनेका प्रयत्न करता है वह चाहे कितनी ही प्रवल क्यों न हो। उससे मुक्त होकर विचारवान् व्यक्ति 'वास्तविक इच्छा' के अनुगमन का प्रयत्न करता है। व्यक्तिकी वास्तविक इच्छा ही उसकी सच्ची स्वाधीनताको व्यक्त करती है। यह 'स्थायी' इच्छा है, न केवल इस अर्थमें कि वह चिरन्तन है बल्कि इस अर्थ में भी कि उससे स्थायी सन्तोषकी प्राप्ति होती है। यह ऐसी इच्छा या मति है जो स्वार्थपरताकी बुराइयोसे कुछ अशो तक मुक्त होकर शुद्ध हो चुकी होती है। यह मनुष्य की 'कल्याणमूलक' इच्छा है। निस्सन्देह इसमें मनुष्यके स्वार्थका भी ध्यान रहता है पर इस व्यक्तिगत स्वार्थको समष्टिके स्वार्थका—सार्वजनिक हितका उपाश्रित या अनुगामी बना दिया जाता है। किसी लालसा-विशेषकी पूर्तिसे ही इस इच्छाकी सन्तुष्टि नही हो जाती। यह इच्छा जीवनके समष्टि रूपका ध्यान रखती है। यह इच्छा युक्ति-युक्त या विचार-सगत होती है। इसकी अभिव्यक्ति और इसका विकास व्यक्ति और समाजके समन्वयमें होता है। इस इच्छाका परिपूर्ण सन्निवेश या निवास किसी एक व्यक्ति-विशेष मात्रमें कभी नहीं होता।

'व्यावहारिक इच्छा' और 'वास्तविक इच्छा' के बीच बताए गए ऊपर वाले विभेद की श्री हॉबहाउस ने बडी कडी आलोचनाकी है। उनका कहना है कि यदि 'वास्तविक इच्छा' कार्यान्वितकी जा सके तो उसका स्वरूप हमारी परिचित वस्तुओसे इतना परे और भिन्न होगा कि हम उसे पहचान भी नही सकेंगे। हम इस आलोचनासे सहमत नही है क्योंकि इसमें 'वास्तविक इच्छा' को एक ऐसी आदर्श-कल्पनामात्र मान लिया गया है जिसका अस्तित्व केवल सूक्ष्म भाव देशमें ही है। पर यह एक यथार्थ सत्य है कि हम स्वय अपना निरीक्षण—अपनी आलोचना या तो अपने तर्क और विवेकके सहारे या फिर अनुभव द्वारा किया करते है, और यह सत्य सिद्ध करता है कि 'व्यावहारिक इच्छा' और 'वास्तविक इच्छा' का विभेद ठीक प्रामाणिक विभेद है। इस विभेदकी स्वीकृतिका यह अर्थ नही है कि हम 'व्यावहारिक इच्छा' को निरी भ्रामक मानते है जैसा कि श्री हॉबहाउस का मत है। इस स्वीकृतिका अर्थ केवल इतना है कि यह इच्छा अपूर्ण होती है। इस पर दुबारा विचार करनेकी आवश्यकता होती है। श्री हॉबहाउस तो एक शब्द-जाल रचते है और कहते हैं कि मेरी इच्छा हर समय मेरी 'वास्तविक' इच्छा ही है। श्री बोसॉन्क्वेट (Bosanquet) तथा उन अन्य आदर्शवादियोंके प्रति यह आलोचना न्याय पूर्ण नही कही जा सकती जो 'व्यावहारिक' और 'वास्तविक' शब्दोका प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थमें करते है। श्री हॉबहाउस तो मनुष्यके जीवनमें एक पूर्ण अभाव—एक सूनी खाई सी पैदा कर देते है। मनुष्यके कार्योका वह ऐसा विभाजन करते है जैसे उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध ही नही है। हॉबहाउस महोदय कुछ भी करें, एक सर्वसाधारण नागरिक

में 'वास्तविक इच्छा' या मति काफी मात्रामें सर्वदा उपस्थित रहती है, यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि उसका परिपूर्ण विकास शायद हममें से सर्वोच्च व्यक्तिमें भी नही हो पाता। व्यक्तिकी किसी इच्छाका अत्यधिक प्रबल होना ही उसे उसकी 'वास्तविक' इच्छा नही बना देता। जो बात उसे 'वास्तविक' इच्छा बनाती है वह है व्यक्तिकी इस इच्छाका सार्वजनिक कल्याणके साथ सामजस्य। व्यक्तिका कल्याण इस सार्वजनिक कल्याणका एक अभिन्न अंग है। सामान्य मनुष्यके जीवनमें 'व्यवहारिक' और 'वास्तविक' इच्छाओका सम्मिश्रण रहता है और विकास निरतर न्यूनाधिक रूपमें 'वास्तविक' इच्छाकी ओर ही होता रहता है।

इस "वास्तविक" इच्छा या 'कल्याण'-भावनाके आधार पर ही दार्शनिकोने लोक-सम्मतिके सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की है। जन-सम्मति या लोक-सम्मति की परिभाषा इस प्रकार की जा मकती है . जिन व्यक्तियोको मिला कर समाज बनता है उनकी 'वास्तविक' इच्छाओका पूर्ण सकलन या सगठन या समन्वय ही जनमत है। श्री बोसॉन्क्वेट ने लोक-सम्मतिकी परिभाषा इस प्रकार दी है : 'सम्पूर्ण समाजकी इच्छा या सम्पूर्ण व्यक्तियोकी इच्छा जहा तक उसका उद्देश्य सार्वजनिक-कल्याण हो।' यह इच्छा सार्वजनिक-कल्याण की सार्वजनीन भावना है। रूसो की राजनैतिक-धारणाओमें से यह सबसे अधिक मौलिक आधारभूत धारणा है, यद्यपि इस सम्बन्धमें उनके विचार सब जगह बिल्कुल स्पष्ट नही है। जिस मूल अनुबन्धसे नागरिक समाजकी स्थापना होती है उसके लिए रूसो के विचारमें सर्वसम्मति-अनुमति-आवश्यक है, पर उसके बाद जन-सम्मति ही काफी है। रूसोकी दृष्टिमें 'जन-सम्मति' से दो बातोका सकेत मिलता है : मतदाताओकी सख्या और उससे व्यक्त होनेवाला सार्वजनिक-हित या स्वार्थ। एक स्थान पर उन्होने स्पष्ट कहा है कि सार्वजनिक हित अधिक महत्वपूर्ण है। उन्हीके शब्दोमें : 'इच्छा या सम्मति को एक बनाने वाला तत्त्व मतदाताओकी सख्या नही है बल्कि उसकी अपेक्षा उससे व्यक्त होने वाला वह सार्वजनिक-हित है जो मतदाताओको एक सूत्रमें बाधता है (६७, दूसरी पुस्तक, चौथा अध्याय)।' फिर भी कभी-कभी रूसो लोक-सम्मति और सख्या-मूलक बहुमतका खतरनाक एकीकरण करनेकी भूल करते हुए से दिखाई देते है। अस्तु, लोक-सम्मतिके सख्या-मूलक पक्षकी अपेक्षा सार्वजनिक हित या जन-कल्याण वाले पक्षमें ही रूसो की विचारधारा सफल हुई है।

इस सबका अर्थ यह हुआ कि लोक-सम्मतिको बहुमत या जनमतके साथ एक रूप नही माना जा सकता। जहा यथार्थमें सार्वजनिक हित उपस्थित है वहा लोक-सम्मतिका प्रकाशन बहुसख्यक मतदाताओ द्वारा भी हो सकता है और एक व्यक्तिके मतदान से भी हो सकता है। क्योकि बहुमत कभी-कभी सामूहिक स्वार्थपरता से शायद ही कुछ ऊपर उठ पाता है। फिर भी इतना तो न्यायपूर्वक कहा जा सकता है कि बहुमतकी राय एक व्यक्ति या एक विशिष्ट वर्गके व्यक्तियोकी रायकी अपेक्षा लोक-सम्मतिके अधिक अनुरूप हो सकती है। प्रश्न केवल सम्भाव्यता (Probability) का है। इस प्रकार लोक-सम्मतिका सिद्धान्त व्यावहारिक रूपमें प्रजातन्त्रीय सरकारकी स्थापना करता है। कुलीन-तन्त्र या राजतन्त्रकी अपेक्षा प्रजातंत्रीय सगठन लोक सम्मतिका प्रकाशन अधिक सच्चाईके साथ करनेमें समर्थ हो सकता है। पर एक कुलीनतन्त्र या राजतन्त्र-मूलक सगठनमें भी, जब तक समाज एकताके सूत्रमें बधा है और कोई तीव्र संघर्ष नहीं

होता तब तक, यह कहा जा सकता है कि परोक्ष रूपमें लोक-सम्मतिका अस्तित्व रहा है।

लोक-सम्मतिका प्रादुर्भाव कैसे होता है

रूसोके अनुसार किसी भी समाजमें हमें प्रारम्भ सबकी सम्मतिसे करना होता है अर्थात् समाजके सदस्योकी विशिष्ट इच्छाओसे प्रारम्भ करना होता है। समाजका प्रत्येक सदस्य हर किसी सार्वजनिक समस्या पर विचार करता है। पर यदि समाज एक भद्र कोटिका समाज है जिसमें नागरिकताकी भावना मौजूद है तो व्यक्तियोकी इच्छाओकी स्वार्थ-भावनाए एक दूसरेका खडन कर देती है और इस प्रकारके पारस्परिक खडनके परिणाम-स्वरूप अन्तत लोक-सम्मतिकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार 'सबकी इच्छाओ' से प्रारम्भ करके हम 'लोक-सम्मति' तक पहुचते है। इसका यह अर्थ नही है कि लोक-सम्मति एक निम्नतम कोटिका समझौता है। वह वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यकी सर्वोच्च भावनाका विकास है। यह नागरिकताकी भावनाका प्रत्यक्ष मूर्तरूप है। लोक-सम्मतिके निर्णय एक आदर्श समितिके निर्णयोकी भाति होते है जिन्हें हम समझौतोकी सज्ञा नही दे सकते। उन्हें तो प्रत्येक सदस्यकी सर्वोत्तम भावनाका प्रकाशन माना जायगा। विवाद और पारस्परिक परामर्शके परिणाम स्वरूप प्रत्येककी इच्छाका परिवर्तन, परिवर्द्धन और सस्कार हो जाता है।

रूसो के अनुसार इस प्रकारकी लोक-सम्मति ही प्रभु-सत्ताका एकमात्र प्रगट रूप है। जब प्रभु-सत्ता सार्वजनिक हितके प्रति क्रियाशील होती है तब वह लोक-सम्मतिका ही कार्यान्विय होता है। विधान या कानून जब तक सार्वजनिक हितसे प्रेरित होते है तब तक उन्हें लोक-सम्मतिका ही प्रगट रूप माना जायगा। लोक-सम्मति स्वशासन (Self-Government) की कुजी है। जब लोक-सम्मतिका कार्यान्विय होता है तब व्यक्ति को 'बरबस स्वाधीन' बनाया जा सकता है। ऐसी स्थितियोमें व्यक्तिको जीवन और विचारके निम्न स्तरसे बलात् बाहर खीच कर एक उच्चस्तरमें स्वतत्र छोड दिया जाता है। इस स्वाधीनताकी तुलना हम उस व्यक्तिकी स्वाधीनता से कर सकते है जिसे एक खतरनाक पुलके ऊपर जानेसे रोक कर ठोस धरातल पर घूमनेकी स्वाधीनता दी जाती है या उस व्यक्तिकी स्वाधीनतासे जिसे दासताके जीवनको स्वीकार करनेसे रोक दिया जाता है।

लोक-सम्मतिकी विशेषताए

लोक सम्मतिकी पहली विशेषता है उसकी एकता। युक्ति-सगत होनेके कारण लोक-सम्मति कभी भी आत्मविरोधिनी नही हो सकती। वह विभेदमें एकताका प्रयास करती है। "राष्ट्रीय चरित्रकी एकताका वह निर्माण और रक्षण करती है और उन सार्वजनिक गुणो में उसका विकास होता है जिनको साधारणत किसी राज्यके नागरिकमें पानेकी आशा हम करते है (४४-१४०)।"

लोक-सम्मतिकी दूसरी विशेषता है उसका स्थायित्व (Permanence)। इसे न तो हम प्रत्यक्ष रूपमें "सार्वजनिक भावनाकी विजयोमें पा सकते है और न राजनीतिज्ञों की दुष्कल्पनाओ में।" लोक-सम्मति हमें जातीय चरित्रमें मिलती है। जिन कार्यों और

आन्दोलनोमें लोक-सम्मतिका प्रकाशन होता है उनकी अपेक्षा लोक-सम्मति स्वय अधिक स्थायी होती है (५४-१४०)।"

लोक-सम्मतिकी तीसरी विशेषता यह है कि वह सर्वदा उचित या सही सम्मति होती है क्योकि वह हमेशा समष्टिकी कल्याण-भावनासे प्रेरित रहती है। प्रत्येक परिस्थितिमें उसका लक्ष्य वही होता है जो सर्वोत्तम और ठीक होता है। इसका यह अर्थ नही है कि लोक-सम्मतिमें भ्रम या भूलकी सम्भावना ही नही है। जैसा कि रूसो ने सकेत किया है, 'सम्मति' हमेशा स्वस्थ और सही होती है पर उसका निर्देशन करने वाला विवेक त्रुटि-पूर्ण हो सकता है। इसलिए निर्णयमें भूल हो सकती है। पर उसमें नैतिक दुर्भावना नही हो सकती। जनता न्यायपूर्ण उचित लक्ष्यको लेकर चलती है, बादमें वह पथ-भ्रष्ट भले ही हो जाय। रूसो के ही शब्दोमें " ... जनता अपने आप हमेशा अच्छाईसे प्रेरित होती है पर वह स्वय उसका साक्षात् नही कर पाती। लोक-सम्मति हमेशा ठीक और न्यायपूर्ण होती है पर उसको मार्ग दिखाने वाला विवेक सर्वदा प्रबुद्ध नही होता (६७: दूसरी पुस्तक, छठा, अध्याय)।"

आलोचना

लोक-सम्मतिके सिद्धान्तकी कई दृष्टियोसे आलोचना की गयी है

(१) लोक-सम्मतिकी भावनाको लोगोने व्यावहारिक जीवनके अनुभवसे भिन्न एक सकीर्ण और भाव-सूक्ष्म धारणा कहा है। आलोचकोका कहना है कि यदि लोक-सम्मति का निर्णय बहुमतके वोटसे नही होता तो वह अर्थ-हीन है। न तो वह लोक-परक रह जाती है और न उसे सम्मति या इच्छाका नाम ही दिया जा सकता है। आलोचनाके इस दृष्टि-कोणसे हमें कोई दुख नही होता क्योकि सूक्ष्म धारणाओके विरुद्ध हमेशा ऐसी आलोचनाए की जाती हैं। सिद्धान्तके समर्थकोने सावधानीके साथ यह घोषित किया कि उनकी इस धारणाका मूल्य उसी हद तक है जहा तक उसमें जन-कल्याण निहित है। इस सिद्धान्तकी यही विशेषता और सीमा उसकी शक्ति है। हम आदर्शके समीप पहुचनेकी ही आशा कर सकते है, उसकी परिपूर्ण प्राप्ति या कार्यान्वितिकी नही। लोक-सम्मति व्यावहारिक भी है और आदर्श भी। किसी भी राज्यमें उसका पूर्ण कार्यान्वय नही हो पाता।

(२) कुछ लेखकोका कहना है कि इस सिद्धान्तसे राज्यकी निरकुशताकी स्थापना बडी आसानीसे हो जानेका भय है। लोक-सम्मतिके नाम पर अधम कोटिकी निरकुशता प्रतिष्ठित हो सकती है, "बरबस स्वाधीन" बनानेकी धारणा ही निरकुशताका द्वार खोल देती है। इस आलोचनामें बहुत बल है पर यह अजेय नही है। रूसो निरकुश प्रभु-सत्ता के समर्थक है पर साथ ही वह प्रभु-सत्ताकी शक्तियो पर कुछ नैतिक बन्धन भी लगाते है। चूकि लोक-सम्मति सर्वदा ठीक और न्याय-युक्त होती है इसलिए वह तभी हस्तक्षेप करती है जब हस्तक्षेप उचित होता है। रूसो का कहना है, "अधिपति अपनी प्रजा पर ऐसे कोई बन्धन नही लाद सकता जो समाजके लिए अर्थहीन हो और न वह ऐसा करनेकी इच्छा ही कर सकता।" इसलिए हमारी धारणा है कि नागरिक स्वाधीनताकी रक्षाके लिए रूसो ने व्यक्ति या व्यक्तिकी स्वाधीनताका बलिदान नही किया। बन्धन या नियमनका अभाव-मात्र स्वाधीनता नही है। राज्यकी ओरसे होने वाले प्रत्येक हस्तक्षेपका यह अर्थ नही है कि व्यक्तिकी स्वाधीनताका अपहरण या ह्रास हो रहा है।

(३) लोक-सम्मतिका सिद्धान्त सार्वजनिक कल्याणकी भावना पर टिका हुआ है और यह कहा जाता है कि सार्वजनिक कल्याणकी परिभाषा बडी कठिन है। एक अधम कोटिका अत्याचारी निरकुश शासक भी अपने कार्योंको सार्वजनिक हितके बहाने उचित ठहरा सकता है। और फिर हम हमेशा पहलेसे ही यह नहीं कह सकते कि किसी विशिष्ट विषयमें लोक-सम्मतिका प्रकाशन सार्वजनिक हितमें होगा या नहीं। परिणाम ही इस प्रश्नका निबटारा कर सकता है। निस्सन्देह लोक-सम्मतिके सिद्धान्तकी यह दुर्बलताए है जिन्हें हमें स्वीकार करना होगा। पर इन्ही शिथिलताओंमें तो इस सिद्धान्तकी शक्ति है। यह शिथिलताएँ ही यह सिद्ध करती है कि यह सिद्धान्त एक निरी आदर्शवादी या काल्पनिक धारणा मात्र नही है। हमें मनुष्यो और मनुष्योकी सस्थाओको लेकर, जैसी कुछ वह है अपना काम करना है। पर इसके साथ ही साथ हमें एक उद्देश्य—एक लक्ष्यकी भी आवश्यकता है जिसकी ओर हमारे सभी कार्य और प्रयास प्रेरित रहें। हमारा दावा है कि राजनैतिक प्रयत्नोके लिए लोक-सम्मतिका सिद्धान्त सर्वोत्तम सम्भव लक्ष्य है। यह लक्ष्य, 'हमसे प्रयत्नों और शायद कुछ अशो तक आत्मबलिदानकी भी माग करता है (५ १०६)।"

(४) कुछ लोगोकी आपत्ति यह है कि यदि हम तर्कके लिए यह स्वीकार भी कर लें कि लोक-सम्मति सर्वदा सही और न्यायमूलक होती है तो भी इस बातका कोई आश्वासन नही है कि राज्यका शासन-यत्र सर्वदा ठीक और न्याय-प्रेरित रहेगा। इस आपत्तिके उत्तरमें हम यह स्वीकार करते है कि राज्यका शासन-यत्र सर्वदा अपूर्ण रहता है। पर साथ ही हम यह दावा भी नही करते कि लोक-सम्मतिका पूरा-पूरा कार्यान्वय किया जा सकता है। जो अपूर्ण शासन-यत्र हमें प्राप्त है उससे यही आशा कर सकते है कि हम यथासम्भव लोक-सम्मतिके कार्यान्वयका प्रयत्न करेंगे। जनताकी लोक सम्मतिकी सबसे अधिक निकट स्थितिकी सम्भावना हमें शिक्षित और प्रबुद्ध जनमतमें ही करनी चाहिए।

लोक-सम्मतिके सिद्धान्तमें सत्याश

(१) हमारे राजनैतिक प्रयत्नोको यह सिद्धान्त एक मार्ग और लक्ष्य दे देता है—ऐसा निश्चित लक्ष्य जिसकी प्राप्तिके लिए हम कठिनाइयो और क्षणिक असफलताओके बावजूद भी निरन्तर प्रयत्नशील रह सकते है।

(२) यह सिद्धान्त इस तथ्य पर ज़ोर देता है कि समाज परस्पर असम्बद्ध व्यक्तियो का समूह-मात्र नही है बल्कि एक सुदृढ आन्तरिक एकता है। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि राज्यकी अपनी एक इच्छा और अपनी एक एकता होती है जो कुछ अशोमें उसके व्यक्तिगत सदस्योकी इच्छा या एकतासे भिन्न होती है। "निस्सन्देह राज्यका अपने सदस्योके जीवनसे पृथक् कोई जीवन नही होता पर राज्यका जीवन उसके नागरिकोकी किसी भी पीढीके और किसी भी एक व्यक्तिके जीवनसे कही अधिक लम्बा, व्यापक और परिपूर्ण जीवन होता है (५४-१३९)।"

(३) यह सिद्धान्त इस सत्यका भी स्पष्टीकरण कराता है कि "राज्यका आधार, शक्ति नही, इच्छा या सम्मति है।" लोक-सम्मतिकी धारणाका यह अर्थ नही है कि अल्प-

सख्यक समुदाय पर दबाव डाला जाय। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि बहुमतकी नीतिका परिष्कार अल्पमतकी शक्ति और सूझके अनुसार किया जा सकता है।

(४) यह सिद्धान्त हमें यह सिखाता है कि राज्य एक प्राकृतिक सस्था है क्योकि उसका आधार मनुष्यकी इच्छा और प्राकृतिक आवश्यकतामें है। "राज्यका अस्तित्व इसलिए है कि वह हमारे व्यक्तित्वका स्वाभाविक विकास और विस्तार है और इसलिए वह हमारी आज्ञाकारिताकी माग करता है (Cole)।"

(५) यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि प्रजातत्रका सही-सही आधार शक्ति नही है और न अनुमति ही है बल्कि हमारी सक्रिय इच्छा या सम्मति है।

लोक-सम्मतिका आज्ञापालन या अनुगमन हमें इसलिए नही करना चाहिए कि वह हमारे ऊपर जबरदस्ती लादी जाती है बल्कि इसलिए करना चाहिए कि वह हमारा ही एक अभिन्न अग है। राज्यकी लोक-सम्मतिका अनुगमन करनेमें—उसकी आज्ञा माननेमें हम अपनी ही आज्ञा मानते है—अपना ही अनुगमन करते है, हमारे भीतर जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसका अनुगमन करते है। लोक-सम्मति व्यक्तिको स्वय उसका अर्थ—उसकी अपनी महत्ता समझाती है। वह चाहती है कि मनुष्य स्वय अपने साथ ही एका कर सके।

SELECT READINGS

BOSANQUET, B —*The Philosophical Theory of the State*—Ch. IV, pp 264-66

GARNER, J N.—*Political Science and Government*—pp. 222-28

GETTELL, R. G —*Introduction to Political Science*—pp 81-87.

GILCHRIST, R N —*Principles of Political Science*—pp 60-65.

HALLOWELL, J. H —*Main Currents in Modern Political Thought*—pp 77 *ff*, 102 *ff*, 175 *ff*, 180-89, 248 *ff* and 280.

HOBBES, T.—*Leviathan*—Chs 13, 14, 16, 17, 18, and 21

JOAD, C E M.—*Modern Political Theory*—Ch I

LEACOCK, S.—*Elements of Political Science*—pp 24-31.

LOCKE, J —*Second Treatise on Civil Government*.

LORD, A R.—*Principles of Politics*—Chs II-V.

MACIVER R M.—*The Web of Government*—pp 17-20 and 449-50.

ROUSSEAU, J J —*Social Contract*—Bks I and II, Bk. III Chs. 15-17. *Essays in Political Theory Presented to George H. Sabine* (1947)—pp 113-129.

६

राज्य का अधिकार-क्षेत्र और उद्देश्य

राज्यकी उत्पत्ति और उसके विकास पर विचार करनेकी अपेक्षा उसके अधिकार-क्षेत्र और उद्देश्यका विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल इतना ही समझ लेना कि राज्यकी उत्पत्ति किस-किस कारणसे हुई है, काफी नही है। जिस प्रश्नसे हमारा अधिक निकटका सम्बन्ध है वह यह है कि आखिरकार राज्यकी सत्ता क्यो रहे। क्या राज्यका कोई युक्ति-सगत आधार है? क्या राज्यके बिना हम अपनी व्यवस्था नही चला सकते? प्रारम्भिक काल में ही अरस्तू (Aristotle) ने इन प्रश्नोकी उपयोगिताको समझा था इसलिए उन्होने कहा था कि पहले-पहल राज्यकी उत्पत्ति इसलिए हुई कि हम जीवित रह सकें। पर उस का अस्तित्व क़ायम इसलिए रहा कि हम आनन्दपूर्वक जीवित रह सकें। इस प्रकार अरस्तू ने राज्यकी उपयागिता इस बातमें बताई कि वह मनुष्यके सुन्दर जीवनके लिए अनिवार्य है। इस तर्कके होते हुए भी हमें यह अनुभव करना पडता है कि श्रेष्ठसे श्रेष्ठ यूनानी लेखकने भी राज्य द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तिका औचित्य ठीक-ठीक सिद्ध नही किया। यह तो उन्होने अच्छी तरह सिद्ध कर दिया और हमें यह स्वीकार भी करना पडता है कि मनुष्यका पूरा-पूरा और स्वतत्र विकास निर्जनतामें सबसे अलग होकर नही हो सकता। इस विकासके लिए मनुष्यको समाजकी आवश्यकता है। पर राज्य द्वारा प्रयोगमें लाई जाने वाली शक्तिका विचार उन्होने बहुत कम किया है और इसका कारण यह है कि वह एक आधुनिक प्रश्न है।

राज्य मनुष्यके व्यवहारको, यदि आवश्यक हो तो, बल-प्रयोग द्वारा भी, व्यवस्थित करनेकी एक पद्धति है। राज्यकी इच्छा या सम्मति अनेक अर्थोमें अन्य सभी इच्छाओ या सम्मतियोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। राज्यको व्यक्तिकी सम्पत्ति, स्वाधीनता और उसके प्राण तक ले लेनेका अधिकार है। राजकरोके द्वारा राज्य व्यक्तिसे उसकी सम्पति आज्ञापूर्वक ले लेता है और युद्ध-क्षेत्रमें या अपराधोंके दड-स्वरूप वह व्यक्तिको अपने प्राण समर्पित कर देनेकी आज्ञा देता है। क्या यह सब न्याय-सगत और उचित है। प्रत्येक युग में राज्यके अस्तित्वको न्याय-सगत और उचित सिद्ध करनेके अनेक प्रयत्न हुए है, साथ ही उसे अन्याय-पूर्ण, अनुचित और अपराधी सिद्ध करनेके भी प्रयत्न हुए हैं। निम्नलिखित विभागोमें हम उनका साराश देंगे

१ अराजकतावादी दृष्टिकोण (The Anarchist View)

अराजकतावादियोके विचारसे राज्यके अस्तित्वका कोई भी औचित्य नही है। उन का विश्वास है कि कोई ऐसा युक्ति सगत उद्देश्य नही है जिसे राज्य पूरा करता हो और जितनी जल्दी राज्यका अस्तित्व हम मिटा सकें मनुष्यकी उन्नति व विकासके लिए उतना ही अच्छा होगा। क्रान्तिकारी अराजकतावादी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को हिंसात्मक उपायो द्वारा पलट देना चाहते है राजनीति-शास्त्रके किसी गम्भीर अध्ययनमें इन अराजकतावादियोंसे

हमारा अधिक सम्बन्ध नही है। अराजकतावादियोमें से जिन पर हमें विचार करना है वह है श्री टॉल्स्टॉय और क्रोपाट्किन जैसे दार्शनिक अराजकतावादी। उनको राज्य के अस्तित्व पर उतनी आपत्ति नही है जितनी राज्य द्वारा प्रयोगमें लाई जाने वाली शक्ति पर। उनका कहना है कि सच्चे नैतिक जीवनका अनुभव और अगीकार मनुष्यके अपने निजी प्रयत्नो द्वारा ही होता है और राज्यकी अधिकार-सत्ता इस नैतिकता या शीलके निकासमें एक बाधक है। उनकी दृष्टिमें राज्यकी अधिकार-सत्ता समस्त नैतिक मानोका विनाश कर देती है। उनकी दृष्टिमें राज्यकी अधिकार-सत्ता एक बावले के हाथमें नगी तलवारके समान है। मनुष्यको नैतिक बनानेके बजाय अपनी शक्तिके प्रयोगसे राज्य उसे अनैतिक बना देता है। व्यक्तिकी सद्वृत्तियो पर अविश्वास करके राज्य उसे अविश्वासके वातावरणमें रखता है और दड देनेकी धमकी देता है। इसीलिए उनकी दृष्टिमें सरकार न केवल व्यर्थ है बल्कि हानिकारक भी है। उनकी सम्मतिमें व्यक्तियोका अपने आप बना हुआ सगठन समाजके कार्यको अच्छी प्रकार सभाल सकता है और यदि राज्यका अस्तित्व रखना ही हो तो उसे एक ऐच्छिक या स्वेच्छाकृत सगठनके रूपमें रखना चाहिए। नियमोके स्थान पर सम्मतिया और परामर्श होने चाहिए और राजकरोके स्थान पर स्वेच्छा-दान होना चाहिए। दार्शनिक अराजकता-वादियोका विश्वास है कि समाजका शासन तर्क-हीन शक्ति-सिद्धान्तके बजाय प्रेमके द्वारा होना चाहिए। मनुष्यको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपनी इच्छासे ही और अपनी प्रेरणाके वशीभूत होकर ऐसे ही काम करे जो उसे जीवनके सत्य, शिव, सुन्दर और पवित्र लक्ष्यकी ओर ले जाय। उनकी कल्पनाका आदर्श समाज एक ऐसा परिवार है जिसके सदस्य एक दूसरेसे प्रेम-सूत्रमें बधे हो और अधिकार-शक्तिकी छाया भी जिस पर न पडी हो। एक ही प्रकारका शासन ऐसा है जिसका समर्थन करने के लिए वह तैयार है और वह है व्यक्तिका पूरा-पूरा और स्वतत्र आत्मशासन। आधुनिक अराजकतावादी व्यक्तिगत सम्पत्तिकी परम्पराके वैसे ही विरोधी है जैसे कि सगठित धार्मिक अधिकार-सत्ताके। बाकुनिन (Bakunin 1814–76) एक ऐसे समाजकी अभिलाषा करने थे जो अराजकतावादी हो, समष्टिवादी और अनीश्वरवादी हो।

आलोचना

राजनैतिक अराजकतावाद पर विचार करते समय अनेक प्रकारकी आलोचनायें अपने आप सामने आ जाती है

(१) हम अराजकतावादियोकी यह बात माननेको तैयार है कि सच्ची नैतिकता अधिकाशमें स्वय अर्जित (Self earned) ही होती है। पर इसका अर्थ यह नही है कि हम इस बातको भी स्वीकार करते है कि राज्यके कार्योसे नैतिक मानोका पूर्ण विनाश हो जाता है। राज्य प्रत्यक्ष रूपमें न तो नैतिकताको लागू ही कर सकता है और न उस की उन्नति ही कर सकता है फिर भी राज्य इस प्रकारकी बाहरी, ऊपरी परिस्थितियोकी व्यवस्था कर सकता है कि व्यक्तिके लिए सुन्दर, सभ्य जीवन व्यतीत करना सम्भव हो जाय। इसलिए हमारा विचार तो यह है कि राज्यके कार्योसे नैतिक-मानो या मूल्यो का विनाश नही होता, उनमें केवल कुछ कमी भले ही हो जाय। हममें से सबसे अच्छे

व्यक्तियोके लिए भी कभी-कभी पुलिसमैनका डडा सुन्दर शिष्ट जीवन बितानेमें सहायता ही पहुचाता है। अच्छे कार्योकी आवश्यकता नैतिकताके विकासमें बाधा नही डालती। हम सम्मति और आज्ञापालन द्वारा भी अच्छे कार्य कर सकते है।

(२) अराजकतावादियोका यह विचार गलत है कि स्वतत्रता ही सर्वोपरि राजनैतिक वरदान है। हमें यह याद रखना चाहिए कि स्वतत्रता स्वयं अपने आपमें कोई लक्ष्य नही है। वह केवल एक लक्ष्यको प्राप्तिका साधन है। स्वतत्रता और अधिकार-सत्ता एक दूसरेके विरुद्ध नही है जैसा कि अराजकतावादी उन्हें समझते है। वह एक दूसरेके सम्पूरक और परिपूरक है। कोई भी मानव-सगठन व्यक्तिको नितान्त स्वच्छन्द नही छोड देता। प्रत्येक समूह या सगठनमें व्यक्तिकी स्वाधीनता पर कुछ न कुछ बन्धन लगे रहते है।

(३) अराजकतावादो मानवे-स्वभावका एक भ्रामक चित्र खीचते है। उनकी धारणा यह है कि सगठित राजनीतिक समाजने व्यक्तिके चरित्रको नीचे गिरा दिया है और यदि एक बार उसे समाप्त कर दिया जाय तो मनुष्य फिर एक पवित्र आत्मा हो जाय। यह धारणा तो बहुत कुछ रूसोकी उस धारणाके समान है जो उन्होने अपने निबन्ध «Inequality» में व्यक्तकी है जिसके अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्थामें आनन्द-पूर्ण ग्रामीण जीवन व्यतीत कर रहा था और वर्तमान सभी बुराइया सभ्यताके विकास की देन है। पर बादमें रूसोने अपने सामाजिक-अनुबन्धके सिद्धान्तमें स्वय अपनी इस धारणामें बहुत सुधार कर लिया और वह इस निष्कर्ष पर पहुचे कि एक सभ्य राष्ट्र में ही लाभ अधिक है। एक 'भद्रबर्बर' (Noble savage) के गुणोकी काव्यमय प्रशसा करना तो बडा आसान है पर मनुष्यके स्वभाव और आदिम मानवके इतिहासका हमें जो ज्ञान है उससे यह प्रशसा झूठी ही साबित होती है। यह कहना बिल्कुल ही सही है कि अपनी उन्नतिकी वर्तमान स्थिति तक मनुष्य सगठित राजनैतिक समाजमें ही और उसीके माध्यमसे पहुच सका है।

अराजकतावादियोकी यह धारणा है कि हम शिक्षा, प्रोत्साहन और धार्मिक उपदेशो के द्वारा मनुष्यके स्वभावमें इतना व्यापक विकास कर सकते है कि कमसे कम भविष्यमें एक दिन ऐसा आयेगा जब हम राज्यसे अपने आपको बिल्कुल मुक्त कर लेंगे। हम यह तो अस्वीकार नही करना चाहते कि ऊपर बताये हुए साधनोसे मनुष्यके स्वभावका सुधार किया जा सकता है, और यह कि मनुष्य-स्वभावका कितना सुधार किया जा सकता है इसकी पूरी-पूरी सम्भावनाका निश्चय अभी तक नही हो सका है। पर हमारी आशका यह है कि वर्तमान समयमें या हमारी कल्पनामें आने वाले किसी भी भविष्यमें राज्यके विनाशसे एक सर्वव्यापक अव्यवस्था और गडबडी ही फैलेगी। मनुष्यके भीतर जो पशु-प्रवृत्तिया है उनका विनाश आसान नही है, और यह राज्यकी दबाव डालने वाली अधिकार-शक्ति ही है जो उन्हें नियत्रणमें रखती है।

(४) अराजकतावादियोकी कल्पना है कि एक आदश परिवारमें प्रेम ही प्रेम है और कुछ नही। यह एक ग़लत धारणा है। आदर्श परिवारमें अधिकार सत्ता, नियम और नियत्रण ऊपरसे नही दिखाई देते। फिर भी यह सब रहता ही है। जैसा कि श्री हेर्नशॉ (Hearnshaw) ने कहा है, 'मनुष्योके स्वभावकी असामाजिक प्रवृत्तियोको क़ाबूमें रखनके लिए राज्यकी शक्तिका सुरक्षित रहना आवश्यक है। इसलिए कमसे कम

वर्तमान समयमें हम सरकारकी अधीनता और कानूनकी बुद्धिमत्ताको छोड नही सकते।

(५) अराजकतावादियोकी सम्मति है कि राज्यकी अधिकार-सत्ताको समाप्त कर के उसके स्थान पर व्यक्तिके विवेककी स्थापना की जाय पर, जैसा कि ठीक ही कहा गया है, व्यक्तिका विवेक एक बहुत ही अनिश्चित और अस्थिर तथा अविश्वसनीय सत्ता है।

बहुत प्रारम्भिक समयसे ही लोगोने राज्यके अस्तित्वका समर्थन इस काल्पनिक आधार पर किया है कि राज्य परमात्माकी सृष्टि है और राज्यकी आज्ञाओका पालन दैवी उद्देश्य के अनुरूप ही है।

पूर्वके राजतत्र अधिकाशमें धर्म-तत्र ही थे। राज्यकी सदस्यताका अर्थ था धर्म-सघ की सदस्यता। चूकि राज्यका अधिपति ही धार्मिक सगठनका भी प्रधान होता था इसलिए राज्य और धर्म-सघ एक रूप थे। धर्म-तत्रकी धारणा सबसे अधिक हेब्रू लोगोमें विकसित हुई जो अपने आपको परमात्माके सर्वाधिक प्रिय मानते थे। यहूदी राज्य भी दैवी इच्छाका परिणाम माना जाता था और धार्मिक आधार पर ही उसका औचित्य सिद्ध किया जाता था।

२. धार्मिक दृष्टि-कोण (The religious view)

यूनानी लोग भी राज्यका औचित्य धार्मिक आधारो पर ही सिद्ध करते थे यद्यपि वह धर्म-तत्रकी धारणाको इतनी दूर तक नही ले गए। यूनानियोके बीच सामान्य देवताओ की पूजासे ही राज्यकी नीव पडी। राज्यकी स्थापनाका श्रेय किसी एक या दूसरे देवता को ही दिया जाता रहा और प्रत्येक नगरका अपना एक विशिष्ट देवता होता था। यूनानी राजनैतिक विचारकोमें से सर्वश्रेष्ठ विचारको—प्लेटो और अरस्तू ने एक दूसरा ही दृष्टि-कोण उपस्थित किया है। वह राज्यको स्वाभाविक और आवश्यक मानते थे। पर उन्होने राजनैतिक अधिकार-सत्ताके साथ व्यक्तिगत स्वाधीनताके मेलकी समस्या नही हल की। वह केवल इसी दृष्टिकोणसे सतुष्ट हो गए थे कि राज्यकी उत्पत्ति प्राकृतिक कारणोंसे हुई है और राज्यसे पृथक् मनुष्यका जीवन अपूर्ण और अर्थहीन है।

यूनानी नगर-राज्योकी भाति रोमन राज्यकी उत्पत्ति भी धार्मिक ही है। रोमन लोगोके भी अपने विशिष्ट देवता थे और रोमन उपजातियो या कबीलोंको एक सूत्रमें बाधने वाली शक्ति सामान्य देवताओकी पूजा ही थी। बादमें जब रोम एक साम्राज्य बन गया तब सम्राट्में दैवी गुणोकी प्रतिष्ठा की गई।

प्रोटेस्टेन्ट रिफॉर्मेशनका प्रारम्भ करने वाले मार्टिन लूथर ने लिखा है, "किसी भी ईसाईके लिए यह किसी प्रकार भी उचित नही है कि वह अपनी सरकारके विरुद्ध खडा हो चाहे वह सरकार उचित काम कर रही हो चाहे अनुचित।" अभाग्यवश पश्चिमके देशो में बहुतसे ईसाई अब भी इस मतके समर्थक है।

आलोचना:

आधुनिक वैज्ञानिक युगमें यह तर्क कि राज्यकी आज्ञा हमें केवल इसलिए माननी चाहिए कि उसकी उत्पत्ति ईश्वर द्वारा मानी गई है, कोई बल नही रखता। यह सिद्ध करनेका कोई सबल प्रमाण नही है कि राज्यकी सृष्टि सीधे ईश्वरने ही की है। धार्मिक

व्यक्तियोके लिए भी कभी-कभी पुलिसमैनका डडा सुन्दर शिष्ट जीवन बितानेमें सहायता ही पहुचाता है। अच्छे कार्योकी आवश्यकता नैतिकताके विकासमें बाधा नही डालती। हम सम्मति और आज्ञापालन द्वारा भी अच्छे कार्य कर सकते है।

(२) अराजकतावादियोका यह विचार गलत है कि स्वतत्रता ही सर्वोपरि राजनैतिक वरदान है। हमें यह याद रखना चाहिए कि स्वतत्रता स्वयं अपने आपमें कोई लक्ष्य नही है। वह केवल एक लक्ष्यको प्राप्तिका साधन है। स्वतत्रता और अधिकार-सत्ता एक दूसरेके विरुद्ध नही है जैसा कि अराजकतावादी उन्हें समझते है। वह एक दूसरेके सम्पूरक और परिपूरक है। कोई भी मानव-सगठन व्यक्तिको नितान्त स्वच्छन्द नही छोड देता। प्रत्येक समूह या सगठनमें व्यक्तिकी स्वाधीनता पर कुछ न कुछ बन्धन लगे रहते है।

(३) अराजकतावादी मानवं-स्वभावका एक भ्रामक चित्र खीचते है। उनकी धारणा यह है कि सगठित राजनीतिक समाजने व्यक्तिके चरित्रको नीचे गिरा दिया है और यदि एक बार उसे समाप्त कर दिया जाय तो मनुष्य फिर एक पवित्र आत्मा हो जाय। यह धारणा तो बहुत कुछ रूसोकी उस धारणाके समान है जो उन्होने अपने निबन्ध «Inequality» में व्यक्तकी है जिसके अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्थामें आनन्द-पूर्ण ग्रामीण जीवन व्यतीत कर रहा था और वर्तमान सभी बुराइया सभ्यताके विकास की देन है। पर बादमें रूसोने अपने सामाजिक-अनुबन्धके सिद्धान्तमें स्वय अपनी इस धारणामें बहुत सुधार कर लिया और वह इस निष्कर्ष पर पहुचे कि एक सभ्य राष्ट्र में ही लाभ अधिक है। एक 'भद्रबर्बर' (Noble savage) के गुणोकी काव्यमय प्रशसा करना तो बडा आसान है पर मनुष्यके स्वभाव और आदिम मानवके इतिहासका हमें जो ज्ञान है उससे यह प्रशसा झूठी ही साबित होती है। यह कहना बिल्कुल ही सही है कि अपनी उन्नतिकी वर्तमान स्थिति तक मनुष्य सगठित राजनैतिक समाजमें ही और उसीके माध्यमसे पहुच सका है।

अराजकतावादियोकी यह धारणा है कि हम शिक्षा, प्रोत्साहन और धार्मिक उपदेशो के द्वारा मनुष्यके स्वभावमें इतना व्यापक विकास कर सकते है कि कमसे कम भविष्यमें एक दिन ऐसा आयेगा जब हम राज्यसे अपने आपको बिल्कुल मुक्त कर लेंगे। हम यह तो अस्वीकार नही करना चाहते कि ऊपर बताये हुए साधनोसे मनुष्यके स्वभावका सुधार किया जा सकता है, और यह कि मनुष्य-स्वभावका कितना सुधार किया जा सकता है इसकी पूरी-पूरी सम्भावनाका निश्चय अभी तक नही हो सका है। पर हमारी आशका यह है कि वर्तमान समयमें या हमारी कल्पनामें आने वाले किसी भी भविष्यमें राज्यके विनाशसे एक सर्वव्यापक अव्यवस्था और गडबडी ही फैलेगी। मनुष्यके भीतर जो पशु-प्रवृत्तिया है उनका विनाश आसान नही है, और यह राज्यकी दबाव डालने वाली अधिकार-शक्ति ही है जो उन्हें नियत्रणमें रखती है।

(४) अराजकतावादियोकी कल्पना है कि एक आदर्श परिवारमें प्रेम ही प्रेम है और कुछ नही। यह एक गलत धारणा है। आदर्श परिवारमें अधिकार सत्ता, नियम और नियत्रण ऊपरसे नही दिखाई देते। फिर भी यह सब रहता ही है। जैसा कि श्री हेर्नशॉ (Hearnshaw) ने कहा है, 'मनुष्योके स्वभावकी असामाजिक प्रवृत्तियोको काबूमें रखनेके लिए राज्यकी शक्तिका सुरक्षित रहना आवश्यक है। इसलिए कमसे कम

प्रजाको दासोका समूहमात्र कहा जा सकता है, नागरिकोका समाज नही।[1] श्री टी० एच० ग्रीन के समर्थ शब्दोमें, "यह केवल दबाव डालने वाली सर्वोपरि शक्ति-मात्र नही है जिससे राज्य बनता है बल्कि दबाव डालने वाली सर्वोपरि शक्तिका ऐसा प्रयोग है जिसका एक निश्चित उद्देश्य होता है और जिसकी एक निश्चित प्रयोग-पद्धति होती है। अर्थात् जिसका प्रयोग लिखित या परम्परागत विधानके अनुसार अधिकारोकी रक्षाके लिए होता है।"

वास्तवमें यह सिद्धान्त तत्वत एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। क्योकि यदि इसका अनुगमन पूर्णरूपेण किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि जब कभी जिस किसी गुट या वर्गको यथेष्ट शक्ति प्राप्त हो जाय तब उसे सरकार पर कब्जा कर लेनेका पूरा-पूरा हक है। राज्यकी शक्तिका औचित्य तभी तक है जब तक वह दूसरी शक्तियोको पराजित कर सके। पर जैसे ही राज्यसे भिन्न अन्य शक्तियोमें से कोई भी एक शक्ति सफलतापूर्वक अपने आपको स्थापित कर लेती है वैसे ही वह न्याय और अधिकारपूर्ण भी हो जाती है और प्रारम्भिक (राज्य) शक्तिका अधिकार तथा औचित्य समाप्त हो जाता है। इसलिए हम रूसो के अनुसार यह पूछ सकते हैं कि "वह कौन सा अधिकार है जो शक्तिके असफल होने पर नष्ट हो जाता है?" रूसो के ही शब्दोमें यदि शक्ति ही अधिकार और न्यायकी सृष्टि करती है तब तो कारणके साथ ही परिणाम भी बदल जाता है· प्रत्येक प्रबलतर शक्ति पहली दुर्बल शक्तिके अधिकारकी उत्तराधिकारिणी हो जाती है। जब कभी भी शक्तिके बल अवज्ञा सम्भव हो तभी वह न्याय हो जाती है, और चूकि सबसे अधिक शक्तिमान् होना ही सर्वदा अधिकार और न्याय-पूर्ण होनेका मार्ग रह जाता है इसलिए सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न बनना ही एकमात्र महत्त्व-पूर्ण बात रह जाती है। • यदि हमें शक्तिके कारण ही बरबस आज्ञा माननी है तो अपनी विवेक बुद्धिसे आज्ञा माननेकी कोई आवश्यकता ही नही रह जाती और यदि बलात् हमें आज्ञा माननेको विवश न किया जाय तो आज्ञा मानना हमारा कोई कर्तव्य नही रह जाता। स्पष्ट है कि अधिकार या न्याय इस शक्ति-सिद्धान्तमें कोई योग नही दे पाते, इस सम्बन्धमें यह शब्द नितान्त अर्थहीन हो जाते है।

यह सिद्धान्त अधिकसे अधिक सरकारके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करता है पर राज्यके अस्तित्वका नही। यह किसी शासक विशेषके शासनको उचित ठहराता है पर सगठित राजनैतिक समाजके अधिकारका औचित्य नही सिद्ध करता।

सत्रहवी और अट्ठारहवी शताब्दीमें पश्चिमी योरपमें राज्यके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेमें अनुबन्ध-सिद्धान्त सबसे अधिक लोकप्रिय था। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्यकी अधिकार-सत्ता इसलिए न्याय और उचित है क्योकि उसे हमलोगोने स्वय

---

[1] शक्ति और न्यायके पारस्परिक सम्बन्धकी विवेचना करते हुए पैस्कल (Pascal) ने लिखा है, "शक्तिहीन न्याय नपुसक है, न्याय विहीन शक्ति अत्याचार है। शक्तिहीन न्याय एक कपोल-कल्पनामात्र है क्योकि बुरे आदमियोका कभी अभाव नही रहता। इसलिए हमें शक्ति और न्यायका सामजस्य करना होगा कुछ ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि जो न्याय है वही शक्ति-सम्पन्न भी हो और जो शक्ति-सम्पन्न है वह न्याय भी हो।"

लेखक भी अधिकसे अधिक इतना ही स्वीकार करनेको तैयार है कि राज्यके अधीन रहने वाला जीवन दैवी उद्देश्यके अनुकूल है। और यदि हम तकके लिए यह स्वीकार भी कर लें कि राज्य एक दैवी सृष्टि है तो भी यह सिद्धान्त राजनैतिक अधिकार-सत्ताके गलत और सही—उचित और अनुचित—स्वरूपोके निर्णयमें कोई मदद नही करता।

३. भौतिक शक्ति-सिद्धान्त

राजनैतिक चिन्तनके प्रारम्भसे ही राज्यके अस्तित्वका औचित्य इस आधार पर सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि राज्यके पास प्रबलतम भौतिक शक्ति होती है। सोफिस्टो (Sophisto) ने यह मत व्यक्त किया है कि राज्य या तो शक्ति-सम्पन्न लोगोका दुर्बल लोगो पर शासन है और उनका उद्देश्य उन लोगों पर अत्याचार करना है या फिर दुर्बल बहुमतका भौतिक दृष्टिसे शक्ति-सम्पन्न अल्पमतके विरुद्ध सगठन है। ईसाई-धर्म-सघके प्रारम्भिक धर्म-गुरुओने और मध्य-युगके धर्म-शास्त्रियोने राज्यके ऊपर धर्म-सघकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके उद्देश्यसे राज्यके विशुद्ध भौतिक बल पर बहुत अधिक जोर दिया। मैकियावेली (Machiavelli) को सम्मतिमें राज्य केवल एक शक्ति-सघटना है। फिर भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तकके अन्तमें उन्होने यह स्वीकार किया है कि राज्यकी शक्तिका उद्देश्य शक्ति-सघटना-मात्र नही है वलिक वह शक्ति जनताकी प्रतिष्ठा, उसके सम्मान और उसके कल्याणके लिए है।

आधुनिक युगमें स्पिनोजा, मार्क्स, एँजिल्स, नीत्से और स्पेंसर (Spinoza, Marx, Engels, Nietzsche and Spencer) ने इस सिद्धान्तको प्रचलित किया है कि राज्य शक्तिका प्रतीक मात्र है। स्पिनोजा का मत है राज्य प्रबलतर भौतिक शक्तिका द्योतक है और उसका अधिकार केवल उसकी शक्ति द्वारा ही सीमित है। मार्क्स और एँजिल्स राज्यको शासक वर्गके हाथोका एक यन्त्र-मात्र मानते हैं। नीत्से ने अपने अतिमानव-सिद्धान्त (Theory of Superman) का प्रतिपादन भौतिक शक्तिके आधार पर ही किया है। स्पेंसर का मत था कि राज्य बर्बर शक्ति का ही द्योतक है और व्यक्तिगत स्वाधीनताके हितमें उसकी शक्तिका नियंत्रण होना चाहिए।

आलोचना

यह सिद्धान्त कि हमें राज्यका आज्ञापालन केवल इसलिए करना चाहिए कि वह सर्वाधिक शक्तिमान् लोगोका शासन है, बहुत ही सारहीन सिद्धान्त है। रूसो ने इस सिद्धान्तकी सारहीनता इस प्रकार व्यक्त की है "एक जगलके कोनेमें लुटेरोका एक दल मुझ पर हमला करता है। निश्चय ही मुझे विवश होकर अपने रुपयोकी थैली उन्हें समर्पित कर देनी होती है। पर क्या मै अपनी विवेक बुद्धिसे अपनी थैली उन लुटेरों को दे देनेके लिए वाध्य हू, भले ही मे उनके विरुद्ध उसकी रक्षा भी कर सकू? क्योकि निश्चय ही लुटेरेके हाथकी पिस्तौल शक्तिका ही चिह्न है (६७ पहली पुस्तक, तीसरी अध्याय)।' शक्तिके सम्मुख सर झुका देना अधिकसे अधिक चतुराईका ही काम कहा जायगा। पर वह नैतिक कर्तव्य नही है। जैसा श्री लॉस्की ने कहा है शक्ति अपने आपमें नैतिक तत्त्व से हीन है (४८ ६४)। राजनैतिक पराधीनताको यदि उचित सिद्ध करना है तो उसके लिए प्रजाकी इच्छा या सम्मति आवश्यक है और ऐसी इच्छा या सम्मतिके अभावमें

प्रजाको दासोका समूहमात्र कहा जा सकता है, नागरिकोका समाज नही।[1] श्री टी० एच० ग्रीन के समर्थ शब्दोमें, "यह केवल दबाव डालने वाली सर्वोपरि शक्ति-मात्र नही है जिससे राज्य बनता है बल्कि दबाव डालने वाली सर्वोपरि शक्तिका ऐसा प्रयोग है जिसका एक निश्चित उद्देश्य होता है और जिसकी एक निश्चित प्रयोग-पद्धति होती है। अर्थात् जिसका प्रयोग लिखित या परम्परागत विधानके अनुसार अधिकारोकी रक्षाके लिए होता है।"

वास्तवमें यह सिद्धान्त तत्त्वत एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। क्योकि यदि इसका अनुगमन पूर्णरूपेण किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा-कि जब कभी जिस किसी गुट या वर्गको यथेष्ट शक्ति प्राप्त हो जाय तब उसे सरकार पर कब्जा कर लेनेका पूरा-पूरा हक है। राज्यकी शक्तिका औचित्य तभी तक है जब तक वह दूसरी शक्तियोको पराजित कर सके। पर जैसे ही राज्यसे भिन्न अन्य शक्तियोमें से कोई भी एक शक्ति सफलतापूर्वक अपने आपको स्थापित कर लेती है वैसे ही वह न्याय और अधिकारपूर्ण भी हो जाती है और प्रारम्भिक (राज्य) शक्तिका अधिकार तथा औचित्य समाप्त हो जाता है। इसलिए हम रूसो के अनुसार यह पूछ सकते है कि "वह कौन सा अधिकार है जो शक्तिके असफल होने पर नष्ट हो जाता है?" रूसो के ही शब्दोमें यदि शक्ति ही अधिकार और न्यायकी सृष्टि करती है तब तो कारणके साथ ही परिणाम भी बदल जाता है: प्रत्येक प्रबलतर शक्ति पहली दुर्बल शक्तिके अधिकारकी उत्तराधिकारिणी हो जाती है। जब कभी भी शक्तिके बल अवज्ञा सम्भव हो तभी वह न्याय हो जाती है, और चूकि सबसे अधिक शक्तिमान् होना ही सर्वदा अधिकार और न्याय-पूर्ण होनेका मार्ग रह जाता है इसलिए सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न बनना ही एकमात्र महत्त्व-पूर्ण बात रह जाती है। · · ·यदि हमें शक्तिके कारण ही बरबस आज्ञा माननी है तो अपनी विवेक बुद्धिसे आज्ञा माननेकी कोई आवश्यकता ही नही रह जाती और यदि बलात् हमें आज्ञा माननेको विवश न किया जाय तो आज्ञा मानना हमारा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। स्पष्ट है कि अधिकार या न्याय इस शक्ति-सिद्धान्तमें कोई योग नहीं दे पाते, इस सम्बन्धमें यह शब्द नितान्त अर्थहीन हो जाते है।

यह सिद्धान्त अधिकसे अधिक सरकारके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करता है पर राज्यके अस्तित्वका नही। यह किसी शासक विशेषके शासनको उचित ठहराता है पर सगठित राजनैतिक समाजके अधिकारका औचित्य नही सिद्ध करता।

सत्रहवी और अट्ठारहवी शताब्दीमें पश्चिमी योरपमें राज्यके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेमें अनुबन्ध-सिद्धान्त सबसे अधिक लोकप्रिय था। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्यकी अधिकार-सत्ता इसलिए न्याय और उचित है क्योकि उसे हमलोगोने स्वय

---

[1] शक्ति और न्यायके पारस्परिक सम्बन्धकी विवेचना करते हुए पैस्कल (Pascal) ने लिखा है, "शक्तिहीन न्याय नपुसक है, न्याय विहीन शक्ति अत्याचार है। शक्तिहीन न्याय एक कपोल-कल्पनामात्र है क्योकि बुरे आदमियोका कभी अभाव नही रहता। इसलिए हमें शक्ति और न्यायका सामजस्य करना होगा कुछ ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि जो न्याय है वही शक्ति-सम्पन्न भी हो और जो शक्ति-सम्पन्न है वह न्याय भी हो।"

अपनी स्वतन्त्र इच्छासे प्रतिष्ठित किया है। पहले पहल ऐसा मालूम होता है कि राज्यके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेके लिए इससे अच्छा कोई दूसरा तर्क नही हो सकता। यह तर्क किया जा सकता है कि चूंकि राज्य व्यक्तिकी इच्छा या सम्मतिकी सृष्टि है इसलिए उसकी आज्ञाका पालन बिल्कुल न्यायसगत है।

अनुबन्ध-सिद्धान्त

आलोचना

इस सिद्धान्त पर थोडा सा भी विचार करन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनैतिक अधिकार-सत्ताका अनुबन्व पर आधारित करना एक अस्थिर आधारको लेकर चलना होगा

(१) इतिहासमें किसी ऐसे राज्यका प्रमाण नही है जो लोगोके बीच जानबूझ कर किये गये अनुबन्धके परिणामस्वरूप स्थापित हुआ हो। राज्य किन्ही विशेष व्यक्तियो द्वारा, जान-बूझ कर, उत्पन्न नही किया गया, उसका क्रमिक विकास हुआ है।

(२) यदि राज्यकी अधीनता स्वतन्त्र सम्मतिके आधार पर ही उचित मानी जाय तो किसी भी विधानके लागू होनेसे पहले उसके सम्बन्धमें सर्वसम्मत स्वीकृतिकी माग करना भी उचित ही होगा। तब बहुमतकी स्वीकृति ही यथेष्ट न होगी। विभिन्न मत रखने वाले अल्प समुदायको बहुमत द्वारा दबाए जानेका कोई तर्क-सम्मत आधार नही है। इस आलोचनाकी शक्तिको श्री हर्बर्ट स्पेंसर के राजनैतिक सिद्धान्तमें स्पष्ट किया गया है। एक सच्चे व्यष्टिवादीके रूपमें श्री स्पेंसर का कहना है कि राज्यको केवल उन्ही कार्योका दायित्व सभालना चाहिए जिन्हें जनता राज्यके हाथोमें इसलिए सौंपनेको तैयार हो जाती है कि वह स्वय उन्हें नही कर सकती। श्री स्पेंसर के अनुसार यह कार्य है (क) विदेशी शत्रुओसे सुरक्षा, (ख) आन्तरिक शत्रुओसे सुरक्षा, (ग) भूमिका राष्ट्रीयकरण। (अपने वादके लिखे हुए ग्रन्थोमें श्री स्पेंसर ने अन्तिम कार्यको इस सूचीसे हटा दिया है और उसके स्थान पर अनुबन्धोके कार्यान्वयको रखा है) इन कार्योको निर्धारित करनेके वाद तुरन्त ही श्री स्पेंसर कुछ शर्तें या बन्धन भी लगा देते है जो तर्क-सम्मत नही जान पडता। वह यह अनुभव करते है कि इन तीन महत्त्वपूर्ण विषयोंके सम्बन्धमें भी हम किसी भी समाजमें सर्वसम्मत स्वीकृति नही पा सकते। इसीलिए वह कहते है कि शातिप्रिय क्वेकर-समाज और युद्धके प्रति नैतिक या आत्मिक विरोध रखने वाले रक्षात्मक युद्धका भी विरोध करेंगे, अपराधी वर्ग राज्य द्वारा आन्तरिक शत्रुओसे सुरक्षाका कार्य-भार सभाल जानेका विरोध करेगा और जागीरदार या जमीन्दार लोग भूमिके राष्ट्रीयकरण का विरोध करेंगे, और इसलिए इन मामलोमें सर्वसम्मत स्वीकृतिका सिद्धान्त नही माना जा सकता तो प्रश्न यह उठता है कि जब इन मामलोमें सर्वसम्मतिका सिद्धान्त छोडा जा सकता है तो अन्य विषयो में भी वह क्यो नही छोडा जा सकता ? श्री स्पेंसर तो जन-शिक्षा, फैक्ट्री-कानून आदिका विरोध करते है। फिर भी आजकल ऐसे बहुतसे लोग है जो अनिवार्य सैनिक-भर्तीको फैक्ट्री कानून से बुरा मानते है और जिनकी सम्मतिमें, यदि दवाव डालना ही हो तो, फैक्ट्री-कानूनके सम्बन्धमें शक्तिका प्रयोग अनिवार्य सैनिक-भर्तीकी अपेक्षा अधिक न्याय्य और उचित है। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि राजनैतिक अधिकार-सत्ता और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वकी समस्याके सुलझावमें पूर्ण स्वीकृतिका सिद्धान्त किसी उपयोगका नही है।

(३) यदि किसी विषयमें पूर्ण सर्वसम्मति सम्भव भी हो तो भी वर्तमान राज्य में वह अव्यवहार्य है क्योंकि किसी न किसी रूपमें प्रतिनिधि सरकार ही एक ऐसा ढग है जिससे राज्यकी इच्छा या सम्मतिका प्रकाशन हो पाता है। वर्तमान परिस्थितियोंमें प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र असम्भव है। यह कहना, जैसा कि अनुबन्ध-सिद्धान्तके तार्किक कहते हैं, कि इन मामलोमें निर्विकल्प या मौन-सहमति (Tacit Consent) ही पर्याप्त है, उचित नही है। 'कारण यह है कि सहमतिका अर्थ है मनुष्यकी इच्छा या सम्मतिका सायास—सोच-समझकर स्पष्ट प्रकाशन ; उसके लिए मौन सम्मतिसे कुछ अधिक निश्चयात्मक क्रियाकी आवश्यकता है (४८: ३१)।'

(४) यदि स्वीकृति स्वतन्त्रतापूर्वक दी गई है तो यह तर्क भी युक्ति-सगत है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक वापस भी ली जा सकती है और यह कि इस प्रकार अपनी स्वीकृतिको वापस लेने वाले फिर स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य लोगोके साथ मिलकर दूसरे राज्यकी स्थापना कर सकते हैं। श्री हॉब्स ने इस कठिनाईका अनुभव किया था और उसके हल करनेका प्रयत्न भी यह कहकर किया था कि यह प्राकृतिक नियम है कि मनुष्य जो अनुबन्ध या इकरार एक बार कर ले उसका पालन करे। स्पष्ट है कि इस प्रकारके तर्कमें कोई निष्ठा का बल नही है। यह तो श्री हॉब्स का कोरा अनुमान-मात्र है जिसका समर्थन न तो हमारा अनुभव ही करता है और न हमारी बुद्धि ही करती है। दूसरे अनुबन्धवादियोका तर्क यह है कि जो लोग राज्यके विधानसे अपनी स्वीकृतिको वापस ले लेना चाहते हों उन्हें 'राज्यके भीतर विदेशी' माना जा सकता है। यह तो एक सार-हीन मत है। हम श्री स्पेंसर के इस मतको स्वीकार नही कर सकते कि व्यक्तिको इस बातका अधिकार है कि वह अपने आपको एक 'विधान-बहिष्कृत' (Outlaw) व्यक्ति बना डाले और फिर भी राज्यके भीतर बना रहे। इस प्रकारका अधिकार तो शासनको असम्भव बना देगा और अन्तत अराजकता फैला देगा।

(५) श्री डेविड ह्यूम ने अनुबन्ध-सिद्धान्तकी सबसे अधिक कठोर आलोचना की है। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है क्योकि इसमें किसी ऐसी शक्तिको स्थान ही नही है जो व्यक्तिको अपने अनुबन्धसे बाधकर रख सके। श्री टी० एच० ग्रीन ने भी इसी आलोचनाको दोहराया है। उनका कहना है कि प्राकृतिक अवस्थाके लोगो द्वारा जिस अनुबन्धके किये जानेकी कल्पना की गई है वह वास्तवमें अनुबन्ध है ही नही, क्योंकि ऐसी कोई प्रभाव-पूर्ण शक्ति ही नही है जो इस अनुबन्धको लागू कर सके। प्रभु-सत्ताकी कल्पना इस अनुबन्धके बाद की जाती है, उसके पूर्व नही, जैसा कि वास्तवमें होना चाहिए था।

३. उपयोगितावाद का सिद्धान्त (The Utility Theory)

अनेक विचारकोने राज्यके अस्तित्वका औचित्य उपयोगितावादी आधारो पर सिद्ध किया है। उनका कहना है कि राज्यका मौलिक औचित्य इस बातमें है कि वह व्यवस्था और कानूनकी स्थापना करता है, बाहरी और आन्तरिक शत्रुओंसे व्यक्तिकी रक्षा करता है, अनुबन्धों या इकरारनामोको लागू करता है, व्यक्ति और समाज के सम्बन्धोको ठीक ढगसे नियन्त्रित करता है, साहित्य, कला और विज्ञानका प्रसार व विकास करता है और सक्षेपमें वह वातावरण और परिस्थितिया उत्पन्न करता है जिसमें समाजका जीवन कमसे कम सघर्ष और अधिकसे

अधिक सम्भव कल्याणपूर्वक बिताया जा सके। इस प्रकार श्री लास्की ने अपनी पुस्तक 'इट्रोडक्शन टु पॉलिटिक्स' (पृ० ३२) में कहा है राज्यकी अधिकार-शक्तिका औचित्य केवल उसके उन उद्देश्योंके आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें वह पूरा करना चाहता है।

राज्यका विधान इस योग्य होना चाहिए कि वह अपना औचित्य उन उद्देश्योंके बल पर सिद्ध कर सके जिन्हें पूरा करना उसका लक्ष्य होता है। राज्य अनेक हितोके समुदाय का अध्यक्ष बनता है। इनमें से कुछ हित या स्वार्थ व्यक्तिगत होते हैं और कुछ सामूहिक, इनमें कही परस्पर प्रतियोगिता होती है और कही सहयोग। राज्यका प्रजाके प्रति राज्य-भक्तिका दावा स्पष्टत उस शक्तिके आधार पर प्रतिष्ठित होना चाहिए जिसके द्वारा राज्य क्रान्तिकारी सामाजिक मागोको निभानेमें समर्थ होता है। स्वार्थो या हितोंका एक ऐसा सतुलन राज्य द्वारा किया जाना चाहिए कि उसके परिणामस्वरूप सतोषकी इतनी मात्रा प्राप्त हो सके जो किसी भी दूसरी योजना या पद्धतिके द्वारा प्राप्त होने वाले सतोषसे अधिक हो।

आलोचना

इसमें कोई सदेह नही है कि ऊपर बताया गया राज्यका औचित्य उन अनेक तर्कोंसे कही अधिक सतोषप्रद है जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके है। फिर भी आलोचना तो इसकी भी की ही जा सकती है

(१) 'उपयोगितावाद पर आधारित सिद्धान्त बडी आसानीसे राज्यके सम्बन्धमें सकीर्ण और भौतिकतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न कर देते है और तब राज्य 'एक सार्वजनिक उपयोगितामूलक कम्पनी-मात्र' बन जाता है। हमने एक पिछले अध्यायमें इस दृष्टिकोण पर विचार किया है और यह स्पष्ट किया है कि राज्य कुछ भौतिक उद्देश्योकी पूर्तिके लिए स्थापित एक साधारण साझेदारीमात्र नही है। इसमें सन्देह नही कि राज्यको अपने सदस्योंके भौतिक कल्याणका भी सम्पादन करना ही चाहिए पर उसके साथ ही साथ राज्य का एक नैतिक और आध्यात्मिक कर्तव्य भी है जिसकी पूर्ति उसे करना चाहिए। राज्य 'समस्त सद्गुणोकी एक साझेदारी है।' राज्यके अनेक उद्देश्योमें से एक उद्देश्य, और सम्भवत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि वह 'मानव आत्माकी श्रेष्ठता' का विकास करे (५)। राज्य समाजकी प्रारम्भिक नैतिक सस्थाओमें से एक है। राज्यका औचित्य केवल उपयोगिताके आधार पर सिद्ध करना कुछ उसी प्रकारका तर्क है जैसे यह कहा जाय कि परिवारका अस्तित्व केवल दाम्पत्य सुखके लिए, बच्चे पैदा करनेके लिए और मनुष्य-जातिको बढानेके लिए है। राज्य और परिवार दोनोका एक नैतिक उद्देश्य है। दोनो ही व्यक्तिके लिए सहयोगी जीवन सम्भव बनाते हैं और उसके लिए आत्मानुभूति की सिद्धि सम्भव कर देते है।

(२) उपयोगितावादी सिद्धान्त राज्यको व्यक्तिके कल्याणका एक साधन-मात्र समझनेकी भूल कर सकता है जब कि वास्तवमें राज्य साधन भी है और साथ ही साथ साध्य भी। राज्य केवल वर्तमान पीढियोका ही कल्याण नही सोचता बल्कि भावी पीढियो का कल्याण भी उसकी चिन्ताका विषय रहता है। इस दूसरे अर्थमें ही वह स्वत साध्य बन जाता है।

इन सब त्रुटियोके होते हुए भी हम डॉक्टर अप्पादोराय (Appadorai) की इस सम्मतिसे सहमत है कि यह सिद्धान्त हमें एक ऐसा नारा देता है जो जनताके मनमें जम जाता है और जो राज्यके कामोकी परख करनेमें कसौटीका काम दे सकता है। राज्यके उपयोगितावादी औचित्यका एक दूसरा प्रकार उन लोगो द्वारा स्पष्ट किया गया है जो सगठनकी आवश्यकता पर बहुत जोर देते है।

६. सगठनकी आवश्यकता

आदिम मानव सगठनका महत्त्व नही समझता था। जो कुछ भी सगठन उस अवस्था में था वह प्रारम्भिक था और बहुत कुछ प्रेरणामूलक था। लेकिन सभ्यताके युगमें सगठनकी प्रतिष्ठा बहुत ही विचारणीय उद्देश्योकी पूर्तिके लिए हुई है। अनुभवने हमें यह सिखाया है कि कुछ कार्योको एक व्यक्तिकी अपेक्षा एक समूह अधिक सफलता-पूर्वक कर सकता है। व्यवसाय साधनके लिए, सुखकी वृद्धिके लिए, कला विज्ञान और धर्मके विकासके लिए और युद्ध तथा शान्तिके उद्देश्यसे हम अपना सगठन करते है। हम शक्तिके प्रयोगसे शान्ति स्थापित करनेके लिए भी अपना सगठन करते है। हमारे वर्तमान समाजमें सगठनो या सस्थाओकी सख्या अपार है और राज्य इन सबमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण और व्यापक है। यही एक ऐसा सगठन है जो अन्य समस्त संगठनोको अपने आश्रित कर लेता है और जिससे अन्य सब सगठन आवश्यक समर्थन-सहायता प्राप्त करते है। ऐसे संगठनको भी अपना उद्देश्य प्राप्त करनेके लिए कुछ नियमो और विधानोकी आवश्यकता होती है। साथ ही उसे यथेष्ट भौतिक शक्तिकी आवश्यकता होती है जिससे वह अपनी इच्छाओको कार्यान्वित कर सके।

आलोचना :

यद्यपि राज्यके इस औचित्यके सम्बन्धमें हमें कोई आपत्ति नही है फिर भी हमें इतना तो कहना ही पडेगा कि उपयोगितावादी सिद्धान्तके सम्बन्धमें जो आलोचनाए ऊपर लिखी गई है वह इस सम्बन्धमें बिलकुल ठीक है।

७. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

अरस्तू के जमानेसे ही यह सिद्ध करनेके प्रयत्न किए गए है कि मनुष्यके भीतर एक राजनैतिक स्वाभाविक प्रेरणा होती है और शासनके अधीन रहना मनुष्यके स्वभावका एक अंग है। यह कहा गया है कि मनुष्य एक 'राजनैतिक प्राणी' है।

आलोचना :

(१) यदि इसे सच मान लिया जाय तो इस तथ्यका समाधान कैसे होगा कि समाज में ऐसे लोग भी है जो यह नही मानते कि उनके भीतर कोई प्रवृत्ति-मूलक सामाजिक भावना या राजनैतिक भावना मौजूद है। एस्किमो (Eskimoes) लोगोंके इतिहासको आधार मानने पर तो यह स्वीकार करना पडेगा कि राज्य एक सार्वभौम आवश्यकता कभी नही रहा। एस्किमो लोगोका समाज तो है, पर उनका कोई राज्य नही है। (२) केवल यह कहना ही काफी नही है कि राज्यका मूल मानव-प्रवृत्ति में ही है। यह जरूरी नही कि जो कुछ भी प्रवृत्ति या प्रेरणा-मूलक हो वह सभी कल्याणकारी और रक्षा करने योग्य भी हो। जैसा कि श्री विलोबी (Willoughby) ने कहा है

राजनीति-शास्त्रमें हमारी समस्या यह है कि हम सहृदयतापूर्वक व्यवहारमें लाई गई राजनैतिक अधिकार-सत्ताका औचित्य कैसे सिद्ध करें और मनुष्यकी व्यक्तिगत स्वाधीनता के साथ उसका मेल कैसे बिठाए। इस समस्याके सुलझावमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमारी कोई सहायता नही करता क्योकि उसमें यह नहीं स्पष्ट किया गया कि राजनैतिक अधिकार-सत्ताका प्रयोग कैसे और किसके द्वारा होना चाहिए और व्यक्तिगत स्वाधीनताके साथ उसका मेल कैसे बिठाया जाय।

८ आदर्शवादी दृष्टिकोण

आदर्शवादके दृष्टिकोणसे राज्यके प्रति हमारी आज्ञाकारिता इसलिए उचित है कि राज्य हमारे भीतरकी सर्वोच्च सत्ताकी अभिव्यक्ति है। सामान्यत यह सिद्धान्त सबसे अधिक सतोषप्रद जान पडता है। राज्य व्यक्तिका शत्रु नही है, वह एक निरपेक्ष द्रष्टा-मात्र भी नही है, राज्य व्यक्तिका सच्चा हितैषी-मित्र है। राज्यकी इच्छाओका पालन करनेमें हम स्वय अपनी ही इच्छाओका अनुगमन करते है। हमारी इच्छाए इस अवस्थामें स्वार्थपरतासे मुक्त हो चुकी होती है। अपने वास्तविक स्वरूपमें राज्य और व्यक्ति एकरूप हैं। हीगेल के शब्दोमें राज्य 'स्वाधीनताका यथार्थ रूप' या 'तात्विक स्वाधीनता का मूर्त रूप' है।

आदर्शवादी दृष्टिकोणसे राज्य एक नैतिक सस्था है। राज्य ही स्वतत्र सामाजिक जीवनको सम्भव बनाता है जिसके विना मनुष्यको पूर्ण रूपसे आत्मानुभव हो ही नही सकता। राज्य एक भिन्न व्यक्तित्वमें हमारी ही सत्ता है। वह व्यक्तिका स्वाभाविक प्रसार और विकास है। वह मनुष्यकी इच्छा और बुद्धि बलकी अभिव्यक्तिका अवसर देता है। राज्य नैतिक जीवनकी बाहरी परिस्थितियोको प्रस्तुत करता है। वह 'समाजके समष्टि-रूपको एकता, स्थिरता और उत्तरोत्तर विकासशील आत्म-चेतना' प्रदान करता है (८१ १४८)। राज्य 'अधिकारोंका सगठनकर्त्ता और सामाजिक न्यायका रक्षक' हैं (८१ १४८)। इसलिए राज्यकी आज्ञाओका पालन एक नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है।

श्री टी० एच० ग्रीन ने इसी प्रकार राज्यकी आज्ञाकारिताका औचित्य सिद्ध किया है। वह इस प्रचलित धारणाका विरोध करते है कि नैतिकताका मूल मनुष्यके विवेक में और राजनैतिक अधीनताका मूल शक्तिमें है। उनकी यह धारणा बिल्कुल ठीक है कि नैतिकता और राजनैतिक अधीनता दोनोका एक ही स्रोत है। वह स्रोत है कुछ व्यक्तियो द्वारा सामान्य कल्याणकी धारणाका युक्ति-पूर्वक स्वीकार किया जाना। यह कल्याण व्यक्तियोका भी कल्याण है और वह व्यक्ति उसे अपना कल्याण समझते भी है, भले ही उसमें से एक-आध किसी स्थिति विशेषमें उस कल्याणकी ओर प्रेरित हो या न हो। सार्वजनिक कल्याणकी यह स्वीकृति ऐसे नियमो या विधानोके रूपमें भी प्रकट होती है जिनके द्वारा व्यक्तिकी प्रवृत्तियोको नियत्रणमें रखा जाता है। यह भी नैतिकता और राजनैतिक अधीनताका स्रोत है। इस नियत्रणके अनुपातमें ही सार्वजनिक कल्याण सिद्ध करने वाले कार्योकी पूर्तिके लिए स्वाधीनताकी प्राप्ति होती है। (२९. १२४-१२५)।' "नैतिकता और राजनैतिक अधीनताकी धारणा दो प्रकार की है (क) "मुझे करना ही होगा यद्यपि मै पसन्द नही करता", (ख) "मुझे करना ही होगा क्योकि कार्य समष्टिका कल्याण-साधक है [इ]समें मेरा भी कल्याण है" (२९ १२४-१२५)। श्री ग्रीन आगे कहते है कि भय-मात्रसे ही राज्यकी आज्ञाकारिता सिद्ध नही होती।

केवल भयको ही नागरिक अधीनताका आधार मानना नागरिक और दासका भेद मिटा देना होगा। भयके आधार पर पड़ा हुआ अधीनताका अभ्यास कभी भी राजनैतिक या स्वाधीन समाजका आधार नहीं बन सकता।

आलोचना :

(१) इतना तो निस्सन्देह कहा जायगा कि जो दृष्टिकोण या सिद्धान्त ऊपर व्यक्त किया गया है वह कल्पनामूलक है क्योंकि जैसे राज्यका चित्र इसमें खींचा गया है वैसा राज्य कहीं है नहीं। जैसा कि श्री ग्रीन ने संकेत किया है, यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'आधुनिक राज्यमें राजनैतिक अधीनताको प्रजाकी इच्छा पर आधारित बताना क्या शब्दोंके साथ खिलवाड करना नहीं है? (२९ १२४-१२५)' पर, जैसा कि श्री ग्रीन ने स्वयं भी कहा है, व्यक्ति राज्यकी स्वामिभक्त प्रजा उसी हद तक बन सकता है जिस हद तक वह इस बातका अनुभव करता है कि राज्यसे सार्वजनिक कल्याणकी सिद्धि होती है और उसका अपना कल्याण उस सार्वजनिक कल्याणका ही एक अभिन्न अंग है। सच्ची और स्थायी देश-भक्तिके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिके हृदयमें राज्यके प्रति वैसी ही भावना हो, जैसी अपने घर और परिवारके प्रति होती है। हम यह स्वीकार करते हैं कि एक सर्वोत्तम राज्यमें भी इस भावनाकी आंशिक या अधूरी अनुभूति ही हो पाती है। श्री हीगेलकी भांति हम यह नहीं कह सकते कि एक आदर्श राज्य हीगेलके समयके प्रशियन-राज्यकी भांति या अन्य किसी राज्यकी ही भांतिका हो सकता है। फिर भी हम यह स्वीकार करते हैं कि राज्य सार्वजनिक कल्याणकी भावनाका मूर्त-रूप है—वह चाहे कितना ही अपूर्ण क्यों न हो—और यह भावना ही राजनैतिक अधीनताका सच्चा स्रोत है।

(२) जो लोग राज्यको आदर्शवादी आधार पर उचित माननेके विरोधी हैं वह सम्भवत यह तर्क करेंगे कि राज्यका निर्माण शक्तिसे होता है, अभ्याससे वह स्थायी बन जाता है, अथवा यह कि राजनैतिक अधीनता सामाजिक कार्य-साधकता (Social Expediency) के हित में है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि राज्यकी उत्पत्ति और उसके स्थायित्वमें स्वार्थ, शक्ति और भयने बहुत बड़ा काम किया है परन्तु इन सबने (स्वार्थ, शक्ति और भयने) तभी तक अच्छे परिणामोंकी सृष्टि की है जब तक यह 'किसी स्वार्थहीन तत्त्वसे सम्बद्ध या संचालित' रहे हैं (२९ १६)। 'यह एक तथ्य है कि राज्यमें एक सर्वोपरि दबावक शक्ति (Supreme coercive power) निहित रहती है। इस तथ्यने ही इस विचारधाराको बल दिया है कि राज्य दबाव डालनेवाली शक्ति पर ही आधारित है, जबकि सच यह है कि दबाव डालनेवाली शक्ति केवल इसलिए सर्वोपरि होती है कि उसका प्रयोग राज्य द्वारा किया जाता है अर्थात् किसी कानून या विधानके अनुसार किया जाता है, वह विधान चाहे लिखित विधान हो और चाहे परम्परागत हो (२९ १६)'।

(३) यह भी कहा जा सकता है कि यदि हम तर्कके लिए यह मान भी लें कि प्रजाकी इच्छा या सम्मति ही राज्यका आधार है, तो यह आधार तो केवल प्रजातन्त्रात्मक राज्यका ही हो सकता है। जब तक लोग राज्यके विधान-निर्माण और शासन-प्रबन्धके कार्योंमें सक्रिय भाग न ले सकें तब तक उनमें राज्य तथा सार्वजनिक हितके प्रति किसी प्रकारकी भावना कैसे उत्पन्न हो सकती है? यह एक तर्क और शक्तिपूर्ण आलोचना है और हम इसे साधारणत. ठीक माननेके लिए विवश है। फिर भी हमारी धारणा है कि

जिस देशमें प्रजातन्त्रात्मक शासन न हो उसमें भी हम लोक-सम्मतिकी अप्रत्यक्ष स्थितिकी कल्पना तब तक कर सकते है जब तक उस देशमें शान्ति और व्यवस्था कायम है और कोई व्यापक उलट-फेर नही होता।

ऊपर जो विवेचन किया गया उसे ध्यानमें रखते हुए हम आखिरकार इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि राज्यके प्रति नागरिककी आज्ञानुवर्तिता स्वय अपने ही उच्चतर व्यक्तित्वकी आज्ञानुवर्तिता है और यदि किसी विशेष अवस्थामें कही स्थिति ऐसी न हो तो हमें प्रयत्न करना चाहिए कि वह ऐसी ही हो जाय।

राज्यके उद्देश्य

राज्यके औचित्यका विवेचन अधूरा ही रह जाता है यदि उस परिणाम या उद्देश्यका विवेचन न किया जाय जिसके लिए राज्यका अस्तित्व है। इस विषयका विवेचन करते समय प्राय तात्कालिक या आसन्न परिणाम (Immediate or proximate end) और अन्तिम परिणाम (Final or ultimate end) के बीच विभेद किया जाता है। पहले प्रकारके परिणामकी एक निश्चित धारणा बनाना तो सरल है पर दूसरे कोटिका —अन्तिम परिणाम तो हमारे ज्ञानकी अपेक्षा निष्ठाका विषय अधिक है।

यूनानियोके मतसे राज्यका उद्देश्य था आत्म निर्भरता। उनका कहना था कि राज्य को अपने नागरिकोंके लिए वह सब कुछ प्रस्तुत कर देना चाहिए जो उनके सर्वोच्च विकास और सुखके लिए आवश्यक हो। प्लैटोके अनुसार राज्य एक अणु-विश्व (Macrocosm) है, जिसमें व्यक्तिको अपने लिए उपयुक्त स्थान और अपनी योग्यता या सामर्थ्यके लिए सबसे अधिक उपयुक्त कार्य मिल सकता है। शासको और योद्धाओको राज्यके कल्याणके प्रति अनन्य भावसे अनुरक्त होना चाहिए। इस उद्देश्यसे प्लैटो ने उनके लिए एक साम्य-वादी जीवन-पद्धतिकी व्यवस्थाकी थी। प्लेटोके विचारमें राज्य एक संघटना है जिसमें प्रत्येक व्यवित और प्रत्येक वर्गके लिए एक स्थान है जिसे वह पूरा करता है और ऐसा करनेमें उसे सुख मिलता है।

अरस्तू (Aristotle) की धारणा थी कि राज्यका उद्देश्य नागरिकोमें सद्वृत्तियोका विकास करना है। पर वह भी यूनानी नगर-राज्योकी आत्मनिर्भरता पर विश्वास करते थे जिसका उद्देश्य व्यक्तिका अधिकसे अधिक सुखी बनना था। अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) में उन्होने पूरा एक अध्याय इस विषयके विवेचनमें लगाया है। उस अध्यायकी स्वतन्त्र व्याख्या इस प्रकार होगी

राज्यका अस्तित्व न सम्पत्तिके लिए है, न सुरक्षाके लिए और न समाजके लिए, बल्कि उसका अस्तित्व है 'सुन्दर जीवनके लिए' यदि केवल जीवन ही राज्यका उद्देश्य होता तो दास और जगली जीव भी राज्यका निर्माण कर लेते, पर वह ऐसा नही कर सकते क्योंकि स्वतन्त्र विवेकके जीवनमें न उन्हें कोई आनन्द है और न उसमें उनका कोई भाग है। यदि सहयोग सन्धिया और अन्यायसे सुरक्षा अथवा विनिमय और पारस्परिक सम्बन्ध-मात्र ही राज्यके उद्देश्य होते तो वह सभी लोग राज्यके नागरिक हो जाते जिनमें परस्पर व्यावसायिक सन्धिया हो जाती है। पर उनके सामान्य न्यायालय नही होते, दूसरे राज्योके दोषो और अन्यायोसे उनका कोई सरोकार नही रहता और वह नागरिकोको उनके आदर्श रूप तक पहुचानेका प्रयत्न नही करते। राज्य सद्वृत्तियो और बुराइयोका भी ध्यान

रखता है। वह जान-मालकी रक्षाके लिए किये गये साधारण समझौते मात्रसे अधिक है।

राज्यमें केवल अन्तर्विवाह, पारस्परिक सम्वन्ध, विनिमय और सामान्य निवास-स्थान ही निहित नही है। राज्यका अर्थ इन सवसे कही अधिक है—कल्याणकी सामाजिक भावना। राज्य केवल एक ऐसा समाज-मात्र नही है जिसका एक सामान्य सार्वजनिक प्रदेश हो और जिसकी स्थापना अपराधोके रोकने और पारस्परिक विनिमयके उद्देश्यसे हुई हो। यह परिवारो और परिवार-समूहोके वीच कल्याणकी सामाजिक भावना है जिसका उद्देश्य है परिपूर्ण और आत्म-निर्भर जीवन। कल्याणकी यह सामाजिक भावना उन्ही लोगोके बीच सम्भव है जो एक ही स्थानमें रहते हो और जिनमें परस्पर विवाह-सम्वन्ध हो। उद्देश्य है सुन्दर जीवन, और उसकी पूर्तिके साधन है पारिवारिक सम्बन्ध, भ्रातृ-भावना, सार्वजनिक वलिदान या त्यागपूर्ण कार्य और खेल-कूद आदि अर्थात् मैत्री। राज्यका निर्माण परिवारो और गावोको मिला कर होता है और उसका उद्देश्य होता है परिपूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन।

तो इस प्रकार राजनैतिक समाजका अस्तित्व अच्छे कार्योके लिए होता है न कि केवल सगतिके लिए, और जो लोग ऐसे समाजके लिए सबसे अधिक योगदान देते है उन्हीका अधिकार-सत्ता पर सवसे अधिक दावा होता है।

रोम वालोने राज्यके उद्देश्य पर वहुत अधिक विचार नही किया। उनकी शक्ति-सामर्थ्य अधिकाशमें रोमन-साम्राज्यके निर्माणमें ही लग गई। रोम पश्चिमकी दुनिया और पश्चिमकी सभ्यताका केन्द्र वन गया, इतना अधिक कि रोमन साम्राज्यके पतनके बाद भी उसका नाम और गौरव कई सदियो तक चलता रहा है।

मध्य-युग में भी राज्यके उद्देश्यके सम्वन्धमें अधिक विचार नही किया गया। धार्मिक लेखकोने तो साधारणत राज्यको नास्तिकोके विरुद्ध धर्म-संघ (ईसाई) की रक्षाका एक साधन-मात्र माना। एक्विनस का विचार था कि राज्यका अस्तित्व केवल प्रजामें शान्ति और एकताकी स्थापना और सुविधापूर्ण जीवनकी अभिवृद्धि-मात्र है। राज्यका मूल्य या महत्त्व इस वातमें माना जाता था कि वह धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे निश्चित किए गए उद्देश्योकी सिद्धिमें सहायक हो।

राज्यके उद्देश्यके सम्वन्धमें गम्भीर चिन्तन आधुनिक-युग में प्रारम्भ हुआ। जवसे उदार विचारोका प्रारम्भ हुआ और यह धारणा कि राज्य राजाकी वपौती है समाप्त हो गई तभीसे यह चिन्तन भी गम्भीर रूपसे प्रारम्भ हुआ। जवसे लोगोने यह अनुभव किया कि राज्य प्रजाकी थाती है, तभीसे राज्यके उद्देश्यके सम्वन्धमें अनेक सिद्धान्तोका विकास हुआ।

श्री० हॉब्सके विचारसे राज्यका उद्देश्य व्यवस्थाकी रक्षा और सम्पत्तिके अधिकार की रक्षा करना है। नागरिक समाजकी स्थापना से पहले जो प्राकृतिक अवस्था थी उसके सम्वन्धमें हॉब्सका दृष्टिकोण इतना निराशापूर्ण था कि राज्यके अभावकी अपेक्षा किसी प्रकारका भी राज्य उन्हें कल्याणकारी जान पडता था। अराजकताकी अपेक्षा उन्हें निरकुश अत्याचारी शासन अधिक पसन्द था। इसी प्रकार श्री लॉक (Locke) के विचारसे राज्यका उद्देश्य है एक निश्चित विधान और सामान्य न्यायाधीशकी सहायता से जान, माल और स्वाधीनताकी रक्षा करना। रूसो (Rousseau) में हम फिर इस विचार

का विवेचन पाते है कि राज्यका अस्तित्व इसलिए है कि वह व्यक्तिका सुन्दर जीवन सम्भव बनावे, यद्यपि वह यह बात इसी रूपमें नही कहते। उनकी निश्चित धारणा है कि राज्य केवल उपयोगितामूलक उद्देश्योकी सिद्धिके लिए सुविधाका साधनमात्र नही है, बल्कि वह मनुष्यकी सर्वोत्तम सत्ता की अभिव्यक्ति है।

१. राज्यका उद्देश्य—सार्वजनिक सुख (The End as general Happiness)

उन्नीसवी शताब्दीके प्रारम्भिक कालमें श्री जेरमी बेन्थम (Jeremy Bentham) ने इस धारणाको प्रचलित किया कि राज्यका उद्देश्य नागरिकोकी अधिकसे अधिक सख्याके अधिकसे अधिक सुखकी अभिवृद्धि है। आज भी इस उपयोगितावादी विचारकी बडी प्रबल मान्यता है। यह विचार ही उन्नीसवी शताब्दीके इग्लैड में अनेक सामाजिक और राजनैतिक सुधारोके लिए उत्तरदायी है। विशेषकर दरिद्रोके सम्बन्धके कानूनमें, जमीन सम्बन्धी क़ानूनमें, जेलोकी व्यवस्था में, तलाक कानून, मताधिकार और सार्वजनिक शिक्षाके क्षेत्रमें इस सिद्धान्तकी प्रेरणासे ही सुधार हुए। कुछ लेखकोने 'अधिकतम सुख' के स्थान पर 'अधिकतम कल्याण' लिखा है। इस सुधारके बावजूद भी इस सिद्धान्तमें बहुमतके हितमें अल्पमतके बलिदानकी आशका है। बहुसख्यक लोगोकी अयोग्यता और असमर्थताको अधिकार-सम्पन्न बना कर अल्प-सख्यकोकी योग्यता और सामर्थ्यको उसके अधीन किए जानेका भय है। इस सिद्धान्तसे समाजमें सामान्य भाव और उदासीनताके प्रसारको बल मिलता है, व्यक्तिगत विशेषताओको कुचल दिया जाता है। इसके अलावा सुखकी परिभाषा विनोद या आनन्दके अर्थमें बडी कठिन है। कोई भी दो व्यक्ति इस सम्बन्धमें एकमत नही है कि सुख क्या है। इसलिए राज्यको यह कार्य सौंपना कि वह लोगोके आनन्दकी नाप-जोख करे और सार्वजनिक सुखकी अभिवृद्धि करे, एक असम्भव कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसे किस बातसे आनन्द या सुख मिलता है। पर यह कोई नही जानता कि सार्वजनिक आनन्दका स्वरूप क्या होगा। और इसके अतिरिक्त उपयोगितावादी सिद्धान्त अपने दृष्टिकोणमें व्यक्तिवादी है और समाज के सघटनामूलक स्वरूपका उसमें कोई विचार नही किया गया। इन सब त्रुटियोके होते हुए भी इस सिद्धान्तने सुख शब्दका मुक्त और प्रचलित अर्थोमें प्रयोग करके बहुत अधिक मानवतावादी विधानोके निर्माणमें योग दिया है। जैसा कि श्री गिलक्राइस्ट ने कहा है यह सिद्धान्त, "विधानोंके उद्देश्यकी एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति है पर राज्यके उद्देश्यकी पूरी-पूरी अभिव्यक्तिके रूपमें यह सिद्धान्त कसौटी पर खरा नही उतरता (२८ ४२७)।"

१९वी शतीमें राज्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें अन्य अनेक सिद्धान्त प्रचलित हुए थे। इनमें से सबसे अधिक जनप्रिय हुआ यह व्यक्तिवादी सिद्धान्त कि राज्यका अस्तित्व केवल कानूनकी रक्षाके लिए है।[1] कुछ लेखकोने इस सिद्धान्तका विस्तार करके कानून-रक्षाके साथ व्यवस्था और सुरक्षाको भी सम्मिलित कर लिया। यह तर्क उपस्थित किया गया कि प्रत्येक व्यक्तिको अपना कल्याण-मार्ग खोजनेके लिए स्वतत्र छोड दिया जाना चाहिए और राज्यको उसमें कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए। राज्यका कर्तव्य केवल

---

[1] कान्ट (Kant) के विचारमें राज्यका उद्देश्य है कानूनकी रक्षा और प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्यकी स्वाधीनताकी सुरक्षा।

यह है कि लोगोको बाहरी और भीतरी सकटोसे सुरक्षित रखे जिससे वह परस्पर शान्ति पूर्वक रह सकें। इस सिद्धान्तमें राज्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें बडा सकीर्ण दृष्टिकोण लिया गया है। इसमें तो सदेह नही है कि जान-मालकी सुरक्षा राज्यका कर्तव्य है, पर यही राज्यका समूचा उद्देश्य नही है। अपने व्यावहारिक स्वरूपमें यह सिद्धान्त जो जैसी स्थिति इस समय है उसीको उचित सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है और प्रगतिका विरोध करता है। इस बातकी आशका है कि यह सिद्धान्त प्रस्तुत दशाको ही ज्योका त्यो कायम रखे चाहे वह दशा कायम रखने के योग्य हो या न हो।

२ राज्यका उद्देश्य—व्यवस्था (The end as maintenance of order)

कुछ लोगोने प्रगतिको राज्यका उद्देश्य बताया है। इस सिद्धान्तमें कुछ अधिक विवेचन नही किया गया। इसमें स्पष्ट रूपसे यह नहीं बताया गया कि राज्यका उद्दश्य क्या है। जिस लक्ष्यकी ओर प्रगति करना हो उस लक्ष्यके अभावमें प्रगतिका कोई अर्थ नही रह जाता। कुछ प्रगति सम्भव हो इसके लिए यह आवश्यक है कि पहले लक्ष्य निश्चित कर लिया जाय।

३ राज्यका उद्देश्य—प्रगति (The end as progress)

कुछ समाजवादी विचारधारा वाले लोगोका कहना है कि राज्यका अस्तित्व इस लिए है कि वह "उन सामाजिक सेवाओको प्रोत्साहन दे जिनका प्रधान सम्बन्ध समाजके सामाजिक हितोकी सिद्धिसे है, पर बाहरी आक्रमणोसे व्यक्तिकी रक्षा और राज्यके नागरिकोके बीच कानूनकी रक्षासे जिनका कोई सम्बन्ध नही है (१६)" हम देखते है कि "आधुनिक राज्योके व्यवहारमें राज्यका यह उद्देश्य अधिकाधिक रूपमें प्रधानता पर रहा है।" ऐसे आधुनिक राज्य जनताके सार्वजनिक स्वास्थ्य, नीति, आचार और अर्थिक हितोकी सुरक्षाका उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेते है। इन लेखकोमें से एक बहुत बडा दल राज्यकी शक्तियोका कुछ ऐसा विस्तार करना चाहता है कि उत्पादन और वितरणके साधनोकी व्यवस्था और उनका स्वामित्व भी उसके अधिकारमें आ जाय। इस सिद्धान्तकी मुख्य आलोचना यही है कि यह राज्यके कार्य-व्यापारोकी सीमा या परिधिका सिद्धान्त है न कि राज्यके उद्देश्यका।

४ राज्यका उद्देश्य—सामाजिक सेवा (The end as social service)

बहुत ऐसे आधुनिक लेखक न्यायको ही राज्यका उद्देश्य मानते है। यह लेखक प्राय आदर्शवादी है। पर इसका यह अर्थ नही कि सभी आदर्शवादी लेखक न्यायको ही राजनैतिक उद्देश्यके रूपमें स्वीकार करते है।

५. राज्यका उद्देश्य—न्याय (The end as Justice)

श्री हेदरिंगटन और श्री म्योर हेड (Sri Hetharington and Muirhead) ने अपनी पुस्तक 'Social Purpose" (सामाजिक उद्देश्य) में यह मत व्यक्त किया है कि सर्वदा न्यायका संगठन ही राज्यका प्रधान कर्त्तव्य रहा है। न्यायकी व्याख्या उन्होने की है "जीवनकी एक ऐसी व्यवस्था जिसमें मनुष्यके व्यक्तित्व और आदर्शोकी पूरी-पूरी प्राप्ति हो सके।" आगे चल कर वह कहते है कि, 'अपने मूल-रूपमें राज्य लोगोके सुन्दर जीवन सम्बन्धी विचारोकी अभिव्यक्ति है' इस व्यापक अर्थमें हम फिर भी यह कह सकते है कि अन्तिम रूपमें राज्यका उद्देश्य न्यायका सगठन ही है और इसलिए

राज्य-प्रधान रूपमें एक नैतिक सस्था है (८१ १४६)।

हम सामान्य रूपसे इस सिद्धान्तको स्वीकार करनेके लिए तैयार है कि राज्यका उद्देश्य नैतिक है, पर हम यह कहे बिना नही रह सकते कि न्यायको ही राजनैतिक उद्देश्य के रूपमें स्वीकार करना एक अत्यन्त सकीर्ण दृष्टिकोण है। श्री हैंदरिंगटन और म्योरहेड ने न्याय शब्दका प्रयोग इतने व्यापक अर्थोमें किया है कि उसकी परिधिके भीतर समूची नैतिक धारणा समा गई है। पर न्याय शब्दका यह साधारण प्रचलित अर्थ नही है। और फिर जैसा श्री गिलाक्राइस्ट (Gilchrist) ने कहा है न्याय एक ऐसी स्थिति है, जो वास्तविक सच्चे उद्देश्यकी पूर्ति पर निर्भर है। और फिर पूर्ण न्यायके लिए पूर्ण ज्ञान आवश्यक है जो केवल ईश्वरको ही प्राप्त है (२८ ४७)।

राज्य एक लक्ष्य है या साधन राज्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें और भी बहुतसे सिद्धान्त प्रतिपादित हुए है। यह जरूरी नही है कि उन सबका विवेचन यहा किया जाय। एक प्रश्न जिस पर आधुनिक लेखकोका ध्यान बहुत गया है, यह है, "राज्य स्वत अपने आपमें एक उद्देश्य है या वह एक साधन मात्र है?" पुराने लोगोने, विशेष कर यूनानियो ने, राज्यको मानव-जीवनकी सर्वोच्च सफलता या पूर्ति माना था और उसे स्वत अपने आपमें एक उद्देश्य माना था। आधुनिक युगमें व्यक्ति और राज्यके बीच जो विभेद किया गया है वह उन्हें अज्ञात था क्योकि जिन परिस्थितियोमें वह रह रहे थे वह हमारी आजकी परिस्थितियोसे बिलकुल भिन्न थीं।

राज्य स्वत अपने आपमें एक उद्देश्य है—इस सिद्धान्तका आधुनिक युगमें पुनर्जीवन श्री हीगेल (Hegel) ने किया। उन्होने व्यक्तिकी इच्छा या सम्मतिको राज्यकी इच्छा या सम्मतिके साथ एक रूप बना दिया। इस सिद्धान्तकी तर्क-पूर्ण सिद्धि फासीवाद (Fascism) में हुई है। इटलीके लेबर चार्टरकी पहली धारामें लिखा है "इटालियन राष्ट्र एक सघटन है जिसके अपने उद्देश्य है अपना जीवन है और अपने साधन है, जो शक्ति और स्थायित्वमें उन एकाकी व्यक्तियो अथवा व्यक्ति-समूहोसे श्रेष्ठ है जिनको मिलाकर राष्ट्र बनता है। राष्ट्र एक नैतिक, राजनैतिक और आर्थिक इकाई है, जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति फासिस्ट अवस्थामें होती है।"

इस पूर्ण निरकुशताके विरुद्ध व्यक्तिवादियोका सिद्धान्त है। जिनमें से बहुतोके विचारसे राज्य जनताकी सर्वाधिक सख्याको कल्याण-सिद्धिका एक साधन मात्र है। इस दृष्टिकोणके सम्बन्धमें सबसे बडी आपत्ति यह है कि किसी एक विशेष पीढ़ी-मात्र का ही कल्याण राज्यकी चिन्ताका विषय नही होता। राज्य भविष्यमें होने वाली पीढियोंके कल्याणका भी ध्यान रखता है और इस सुदूर लक्ष्यकी सिद्धिमें राज्य नागरिकोके ऊपर एक बहुत बडा भार लाद देता है। यह स्पष्ट है कि व्यक्तिका कल्याण ही राज्यका उद्देश्य नही है।

आधुनिक युगमें सामान्य धारणा यह है कि राज्य स्वत एक उद्देश्य भी है और एक साधन भी। श्री विलोबी (Willoughby) ने अपनी पुस्तक (The Nature of the State) 'राज्यका स्वरूप' में लिखा है कि यदि हम शुद्ध व्यक्तिवादी दृष्टिकोणसे राज्यके सम्बन्धमें विचार करते है तो राज्य एक साधन-मात्र है—एक यत्र या एक कार्य-साधक-मात्र, जिसके द्वारा मानवताका सर्वाधिक सम्भव विकास पूरा होता है। पर यदि हम राज्यका निर्माण करने वाले व्यक्तियोसे पृथक् और परे उसका एक सत्ताके

रूपमें विचार करते हैं तब निस्सन्देह राज्य······स्वत अपने आपमें एक उद्देश्य बन जाता है (८१.७०) श्री ब्लश्ली (Bluntschli) ने राज्यके इस दोहरे स्वरूपको एक सुन्दर रूपक द्वारा स्पष्ट किया है 'एक चित्र प्राय चित्रकारकी रोजीका साधन होता है। पर साथ ही एक सच्ची कला-कृति कलाकारके लिए उसके उच्चतर अनुष्ठानोका लक्ष्य भी होती है, उस कलाकृतिमें उसे अपनी भावनाकी अभिव्यक्ति—अपने आदर्शकी रूप-सिद्धि दिखाई देती है। इस दृष्टिसे वह कलाकृति—वह चित्र अपने आपमें एक उद्देश्य बन जाता है।' इसी प्रकार राज्य व्यक्तिके कल्याणका एक साधन भी है और स्वत एक उद्देश्य भी, या यह कहें कि राज्यका लक्ष्य किसी एक व्यक्ति-समूह या एक पीढी-विशेषके कल्याणसे परे बहुत दूर रहता है।

राज्यके उद्देश्यके सम्बन्धमें विचार करते समय यह अधिक लाभदायक होगा कि हम उसके सामान्य या मौलिक उद्देश्यो और विशिष्ट उद्देश्योके बीच तथा उसके दूरस्थ या चरम उद्देश्यो और तात्कालिक या आसन्न उद्देश्यो (Immediate or proximate ends) के बीच विभेद करें। श्री हॉजेनडॉर्फ (Holtzendorff) ने राज्यके व्यावहारिक उद्देश्यो तथा आदर्श उद्देश्योके बीच विभेद किया है। उनका कहना है कि सबसे पहले राज्योको अन्य राज्योकी तुलनामें अपनी राष्ट्रीय शक्ति बढानी चाहिए और स्वय राज्य के भीतरके व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहोके विरुद्ध भी अपनी शक्ति बढानी चाहिए। राज्य का दूसरा कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी प्रतिष्ठा करे। यह कार्य इस प्रकार किया जाना चाहिए कि व्यक्तिके विकासके लिए एक क्षेत्र निश्चित कर देना चाहिए जिस में वह सरकार या अन्य व्यक्तियोके किसी प्रकारके भी हस्तक्षेपसे मुक्त रहकर अपना विकास कर सके। अन्तिम और चरम कर्त्तव्यके रूपमें राज्यको शक्ति और व्यवस्था कायम रख कर और प्रजाको शिक्षित करके व उसे सहायता देकर सर्वसाधारणके कल्याण की अभिवृद्धि करनी चाहिए।

श्री ब्लश्ली (Bluntschli) का कहना है कि राज्यका उचित उद्देश्य है 'राष्ट्रीय सामर्थ्यका विकास, राष्ट्रीय जीवनकी पूर्णता और अन्तत उसकी पूर्ण सिद्धि, बशर्ते कि नैतिक और राजनैतिक विकासकी यह पद्धति मानवताके लक्ष्यके विरुद्ध न हो।' इस दृष्टिकोणके अनुसार यह स्पष्ट है कि राज्यका तात्कालिक उद्देश्य है राष्ट्रीय शक्तिको कायम रखना और उसका विकास करना; और उसका चरम उद्देश्य है मानवताका लक्ष्य या प्रारब्ध। यह एक मनोरजक बात है कि महायुद्धके दिनोमें जब कि साधारणतया यह आशा की जा सकती थी कि राष्ट्रीयतावादी विचारधारा पर ही सबसे अधिक लोगोका ध्यान जायगा तब वास्तवमें मानवताके व्यापक उद्देश्यने ही सबसे अधिक सबल प्रभाव डाला। श्री ब्लश्लीकी परिभाषाके प्रारम्भिक अशमें व्यक्त शुद्ध राष्ट्रीयतावादी दृष्टि-कोणके सम्बन्धमें भी वही आपत्तिया उठ खडी होती है जो कि शुद्ध व्यक्तिवादी दृष्टि-कोणके सम्बन्धमें की जाती है। इन दोनो ही विचारधाराओसे ऐसे स्वार्थोका विकास हो सकता है जिनसे समाजके सार्वजनिक कल्याणको हानि पहुचे। जैसा कि श्री गिल-क्राइस्ट ने कहा है: 'आधुनिक जगत्में हम अधिकाधिक रूपमें राष्ट्रीय सीमाओको तोड कर एक आदर्शकी खोजमें बढ रहे है। धीरे-धीरे राष्ट्रीयतावादी विचारोका स्थान अन्त-र्राष्ट्रीयतावादी विचार ले रहे है (२८ ४३०)।'

एक आधुनिक अमेरिकन लेखक श्री बर्गेस (Burgess) ने राज्यके प्रारम्भिक,

माध्यमिक और चरम उद्देश्योकी चर्चा की है और इनमें से प्रत्येकको अपने परवर्ती उद्देश्य की पूर्तिका साधन माना है। श्री बर्गेसके अनुसार तात्कालिक उद्देश्य है सरकार और स्वाधीनता। राज्यका सबसे पहला और मुख्य कर्तव्य है अपनी और अपने व्यक्तिगत सदस्योकी सुरक्षा। पर जैसे ही इस उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है और कानूनके अनुसार जीवन बितानेकी आदत पड जाती है वैसे ही राज्यको व्यक्तिगत स्वाधीनताका क्षेत्र निश्चित कर देना चाहिए, हर प्रकारके सम्भव हस्तक्षेपो या दखलन्दाज़ीसे उसकी रक्षा और समय-समय पर उसकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। इस तात्कालिक उद्देश्यसे ही विकसित होनेवाला माध्यमिक उद्देश्य यह है कि राष्ट्रीयताके सिद्धान्तकी पूर्ण सिद्धि की जाय, राष्ट्रीय प्रतिभाका विकास किया जाय। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए स्वाभाविक, प्राकृतिक और जातीय आधारो पर निर्मित जातीय या राष्ट्रीय-राज्य सर्वोत्तम साधन है। राज्यका अन्तिम या चरम उद्देश्य है मानवताकी पूर्ण सिद्धि या समूचे ससारकी सभ्यताका विकास।

इस विचार-धाराकी आलोचना करते हुए श्री गार्नर ने लिखा है ' यहा भी साधनो और उद्देश्योका गडबड-घोटाला दिखाई देता है। उदाहरणके लिए यह समझमें नही आता कि सरकारकी स्थापनाको उद्देश्यकी सिद्धिका साधन माननेके बजाय स्वय एक उद्देश्य क्यों माना जाय (२३ ७३)'। श्री गार्नर (Garner) के अनुसार राज्यके तीन उद्देश्य हैं (१) व्यक्तियोके कल्याणका विकास, (२) व्यक्तियोके सघटित रूपमें उनके सामूहिक हितोकी अभिवृद्धि, और (३) अन्तत ससारकी सभ्यता और प्रगतिकी अभिवृद्धि।

SELECT READINGS

GARNER, J W —*Introduction to Political Science*—Chs IX & X
GARNER, J W —*Political Science and Government*—pp 69-74
GETTELL, R G —*Introduction to Political Science*—pp. 377-379
GILCHRIST, R N —*Principles of Political Science*—pp 424-431
GODWIN, W —*An Enquiry Concerning Political Justice*
STEPHEN, L —*English Thought in the Eighteenth Century*—Vol II
WILDE, N —*The Ethical Basis of the State*—Ch VII
WILSON, W —*The State*—Ch 15 & 16.
WILLOUGHBY, W W —*Nature of the State*—Ch 12

७

अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त

अधिकारोसे क्या मतलब है ? अधिकार हमें कैसे प्राप्त हुए है ? अधिकारो और अपराधोका विभेद कैसे किया जाता है ? यह कुछ ऐसे प्रश्न है जिनके सम्बन्धमें साधारण नागरिक और राजनीति-शास्त्रके गम्भीर विवेचक दोनोको ही समान रूपसे अभिरुचि रहती है।

हम इस विवेचनकी भूमिकाके रूपमें तीन प्रारम्भिक बातोकी चर्चा कर देना चाहते है। यह तीनो सिद्धान्त अधिकार-सम्बन्धी किसी भी विचारधारामें व्याप्त रहते है। पहली बात यह है कि अधिकार और कर्त्तव्यकी धारणा एक दूसरेसे जुडी हुई है अर्थात् प्रत्येक अधिकारके साथ उसके अनुरूप कर्त्तव्य जुडा हुआ है। 'अ' के प्रत्येक अधिकारके साथ 'ब' का यह कर्तव्य जुडा हुआ है कि वह उस अधिकारकी मान्यता स्वीकार करे। जैसा कि श्री वी० एस० शास्त्री ने अपने « Kamala Lectures » में कहा है अधिकार और कर्तव्य दो भिन्न दृष्टिकोणोसे देखे जाने वाले एक ही तत्त्व है। वह एक ही मुद्राके दो पहलुओंकी भाति है। अधिकार कर्तव्यो पर निर्भर रहते है। 'कर्त्तव्योकी दुनियामें ही अधिकारोंका कोई मूल्य होता है (८१ ११६)।'

दूसरी बात, जो पहले सिद्धान्तका ही उपसिद्धान्त है, यह है कि प्रत्येक अधिकारके लिए सामाजिक स्वीकृतिकी आवश्यकता होती है। ऐसी स्वीकृतिके अभावमें अधिकार केवल सारहीन दावे-मात्र रह जाते है। कहनेका अर्थ यह कि अधिकारोकी स्थिति शून्यमें नही होती। उनके लिए समाजकी स्वीकृति आवश्यक होती है। सामाजिक स्वीकृतिका अर्थ केवल वैधानिक स्वीकृति नही है यद्यपि प्राय वैधानिक स्वीकृति भी उसमें सम्मिलित रहती है। सामाजिक स्वीकृतिके पीछे एक नैतिक आधार भी होना चाहिए। उसके लिए सार्वजनिक हित, सार्वजनिक आधार-भूमि आवश्यक है। समस्त अधिकारोको अन्तिम रूपमें किसी न किसी सार्वजनिक उद्देश्य या सार्वजनिक हितसे सम्बन्धित होना ही चाहिए।

तीसरी बात यह है कि अधिकार कोई स्वार्थमूलक दावा नही है। वह एक निरपेक्ष अभिलाषा (Disinterested desire) है। अपने अधिकारोंका दृढतापूर्वक प्रयोग करनेमें या उनकी अधिकामना करनेमें नागरिक एक सार्वजनिक सेवाका कार्य करता है, और जब वह दूसरोके अधिकारोके लिए लडता है तब वह अपनी व्यक्तिगत हानिका खतरा उठाकर ही ऐसा करता है। व्यक्तिगत कामना किसी भी सच्चे अधिकारका आधार नही बन सकती। 'अधिकार तो तात्त्विक और तर्कसगत तथ्य है, वह कल्पना और कामनाके विषय नही है (५ १६७)।'

प्राचीन समाजोमें साधारणत अधिकारोकी कुछ अधिक स्वीकृति नही थी। उनमें तो केवल प्रार्थना और दया-दानकी पद्धति थी। इसके विपरीत वर्तमान प्रजातन्त्रीय समाजोमें अधिकारोको बडा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। 'फासीसी राज्य-क्रान्तिमें दया-दानकी माग नही की गई थी, उसमें व्यक्तिके अधिकारोका दावा किया गया था (१० १५२)'. आधुनिक युगके कुछ सविधानोमें—जैसे कि आयरिश-फ्री-स्टेट और भारतीय सविधानमें—

संस्थाए साधारणत बनावटी है और उन्होने मनुष्यके कुछ उन जन्मसिद्ध अधिकारो (Inherent rights) को छीन लिया है जो प्राकृतिक अवस्थामें उसे प्राप्त थे। अधिकारोके रूपमें मनुष्यने 'अपनी खोई हुई विरासत वापस पाई है (श्री लास्की)' यह एक ग़लत विचार है। राज्य स्वय एक प्राकृतिक विकास है। उसे हम मध्य कोटिकी रचना भी नही कह सकते, अनधिकार दखल देने वाली (Intruder) या बलापहारी (Usurper) कहना तो दूर की बात है। संस्थाए बनावटी नही है। वह हमारे 'नैतिक विचारोके मूर्त रूप है (श्री बोसाक्वेट)। प्राकृतिक अधिकारोके सिद्धान्तका परिणाम होता है अतिवादी व्यक्तिवाद (Extreme individualism) अराजकतावादी और अनुदार रूढिवादी दोनो ही के द्वारा उसका उपयोग किया जा सकता है।

(ङ) इस सिद्धान्तकी वास्तविक कमी या त्रुटि यह है कि इसमें यह अनुमान कर लिया गया है कि समाजसे अलग, उसके अभावमें भी हम अधिकारो और कर्तव्योका उपभोग कर सकते है। यह एक ग़लत धारणा है। केवल समाजके सदस्योके रूपमें ही हमें अधिकार प्राप्त है। समाजसे परे, हमारे पास शक्ति भले ही रहे पर अधिकार नही रहते। समाजसे पहलेकी स्थितिमें अधिकारोकी कल्पनाका कोई अर्थ नही है। इसका सीधा सा कारण यह है कि सम्बन्धित कर्त्तव्यके अभावमें अधिकारका कोई अर्थ ही नही है। 'अधिकारोकी उत्पत्ति मनुष्यकी सामाजिक स्थिति से है (२८ १३४)।' एक सामान्य व्यवस्थाकी ही सदस्यता ही अधिकारोकी आधारशिला है, और इसलिए सभ्यता या समाजसे पहले अधिकारोकी कल्पना अर्थहीन है। श्री बोसाक्वेटके शब्दों में, 'अधिकार एक ऐसा स्वत्व या दावा (Claim) है जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू या कार्यान्वित करता है (५ १९१)।'

(च) आदर्शवादी दृष्टिकोणसे प्राकृतिक अधिकारोके सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए श्री लार्ड ने कहा है कि इस सिद्धान्तमें 'अधिकारोके स्वरूप पर ध्यान न देकर प्रकृतिके स्वरूप पर' जरूरतसे ज्यादा जोर दिया गया है। यह एक सही आलोचना है। इस सिद्धान्तके समर्थक 'प्रकृति' की व्याख्या करनेमें तो बडा परिश्रम करते है पर यह भूल जाते है कि 'अधिकार' की व्याख्या भी यदि उससे अधिक नही तो, उतनी ही आवश्यक है। व्यक्ति इस मनुष्य जीवनके नाटकमें जो पार्ट अदा करता है, उसके सम्बन्धमें ही अधिकार सार्थक होते है।

इस सिद्धान्तका सत्याश (Truth in the Theory) ऊपर बताई गई त्रुटियोके होते हुए भी प्राकृतिक अधिकारोके सिद्धान्तमें बहुत अधिक सच्चाई है। यदि प्राकृतिक अधिकारोंसे हमारा अर्थ उन अधिकारोसे हो जो धुधले प्रागैतिहासिक कालमें (Dim Prehistoric) हमें प्राप्त थे, तब तो यह एक अर्थहीन धारणा हो जाती है। पर इसके विपरीत, यदि प्राकृतिक अधिकारोकी व्याख्या हम उन आदर्श-मूलक या नैतिक अधिकारोके रूपमें करें जो हमें भविष्यमें प्राप्त होने चाहिए और जिनके आलोक में हम वर्तमान स्थितिकी आलोचना कर सकते है, तब तो यह धारणा अत्यन्त बहुमूल्य हो जाती है। इस प्रकार उदाहरणके लिए, कामका या आजीविकाका अधिकार (Right to work) 'एक प्राकृतिक अधिकार' है इस अर्थमें कि प्रत्येक सुव्यवस्थित समाजमें यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने भोजन, वस्त्र और मकानके लिए पर्याप्त रोजीका—आजीविकाका साधन और अवसर प्राप्त रहे। यह सिद्धान्त सत्य है, पर इस

अर्थमें नही कि प्रागैतिहासिक अतीत (Pre-historic Past) में मनुष्यको यह अधिकार प्राप्त था। इसलिए 'प्राकृतिक अधिकारो' की व्याख्या हम उन परिस्थितियोके अर्थमें कर सकते है जो मनुष्यके व्यक्तित्वके पूर्ण विकासके लिए आवश्यक है, वह परिस्थितिया चाहे मनुष्य द्वारा निर्मित हो चाहे नही (५४. २५४)। पर साधारणत· प्राकृतिक अधिकारोसे न तो यह अर्थ लिया गया है और न इस अर्थमें उनका प्रयोग ही किया गया है। प्राकृतिक अधिकारका सबसे अच्छा अर्थ है—वह अधिकार जो मनुष्यके नैतिक उत्थान व विकासके लिए—उसे वास्तवमें मनुष्य बनानेके लिए आवश्यक हो। जैसा कि श्री लास्की (Prof Laski) ने कहा है अधिकार वह ऐतिहासिक परिस्थितिया नही है जो मनुष्यको मानव-जातिकी बाल्यावस्थामें प्राप्त थी और जिन्हें मनुष्यने खो दिया है।

२ अधिकारोका वैधानिक सिद्धान्त (The Legal Theory of Rights)

इस सिद्धान्तके अनुसार अधिकार राज्यकी सृष्टि है। कानून हमें जो कुछ देता है वह हमारा अधिकार है, और कानून हमें जो कुछ नही देता वह हमारा अधिकार नही है। अधिकार अपने आपमें परमपूर्ण (Absolute) नही है। वह मनुष्यके साथ जन्मजात (Inherent) तो है ही नही। वह राष्ट्र-विधान-सापेक्ष है अर्थात् देशके विधान पर निर्भर है। हमारे जीवन, स्वाधीनता, सम्पत्ति आदिके अधिकारोका निश्चय राज्य करता है। अधिकार कृत्रिम है।

यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारोके सिद्धान्तका विरोधी है। इसके समर्थकोका कहना है कि जिन्हें हम प्राकृतिक विधान कहते है वह या तो देशके विधानसे मेल खाते है या उनके विपरीत पडते है। जब वह राज्यके विधानसे मेल खाते है तब अनावश्यक हो जाते है और जब राज्यके कानूनके खिलाफ होते है तो व्यर्थ हो जाते है। इसलिए, दोनो ही हालतोमें उन्हें छोडा जा सकता है। इसमें कोई आश्चर्य नही यदि वैधानिक सिद्धान्तके समर्थक श्री बेन्थम (Bentham) प्राकृतिक अधिकारोको व्यर्थकी बकवास कहते है।

इस सिद्धान्तके कुछ सूत्र हमें थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes) के विचारोमें भी मिलते है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिका मौलिक अधिकार है आत्मरक्षाका अधिकार। हॉब्स का विचार है कि इस अधिकारकी प्रतिष्ठा व्यक्तिकी अपेक्षा राज्य द्वारा अधिक अच्छी तरह हो सकती है। इसलिए जिस समय अनुबन्ध या समझौता होता है लोग अपनी मर्जीसे बिना किसी शर्तके अपने सभी अधिकार (आत्मरक्षाके अधिकारको छोड़ कर) अधिपतिके हाथोमें सौंप देते है, और फिर अधिपति उन्हें जो कुछ दे देता है वही उनका अधिकार हो जाता है। जब जहा कही कानून बन्धन नही डालता वहा व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारको अपने पास सुरक्षित रखता है। पर इसका यह अर्थ नही है कि जीवन और मृत्यु पर अधिपतिके अधिकारका अतिक्रमण हो जाता है। किसी भी समय अधिपति हस्तक्षेप कर सकता है और प्रजाकी स्वाधीनताको परिसीमित कर सकता है। प्रजाको वही अधिकार है जहा कानून या विधानका नियत्रण नही है।

आलोचना.

(क) हम इस बात पर विश्वास करनेके लिए तैयार नही है कि राज्यकी एक आज्ञप्ति (Decree) मात्र किसी बातको ठीक और उचित बना सकती है। प्रोफ़ेसर हॉकिंग के

शब्दोमें, हम यह प्रश्न कर सकते है कि क्या कानून द्वारा घूसखोरी और भ्रष्टाचारको ठीक और उचित बनाया जा सकता है? अथवा क्या कानून सती-प्रथाको फिरसे प्रतिष्ठित कर सकता है? यह ऐसे प्रश्न है जिनका उत्तर स्वय स्पष्ट है। इसलिए यह साफ़ ज़ाहिर है कि कानून भी एक सीमाके भीतर ही काम कर सकता है। श्री लास्की तो यहा तक कहते है कि अधिकार राज्यकी स्वीकृतिकी अपेक्षा नही रखते—उसके अधीन नही है। यह मत तो अतिवादी है। श्री स्पेंसर का विचार है कि राज्य अधिकारोकी सृष्टि नही करता, उसका अस्तित्व अधिकारोंकी रक्षाके लिए है। श्री एन० वाइल्ड (N. Wilde) का कथन है 'राज्य हमारे अधिकारोको उत्पन्न नही करता, वह केवल उन्हें स्वीकार करता है और उनकी रक्षा करता है। अधिकारोका अस्तित्व स्वय अपने आप रहता है, उन्हें कानूनका रूप चाहे दिया जाय और चाहे न दिया जाय। कानून द्वारा उन्हें लागू इसलिए किया जाता है कि वह अधिकार है, वह कानून द्वारा लागू किये जानेकी वजहसे अधिकार नही बन जाते।' हमारी दृष्टिमें तो हमारा कोई भी स्वत्व या दावा केवल इस लिए हमारा अधिकार नही बन जाता कि कानूनने उसे उस रूपमें स्वीकार कर लिया है बल्कि वह हमारा अधिकार इसलिए है कि वह नैतिक दृष्टिसे उचित है—न्याय्य है। एक शुद्ध अधिकारमें कानूनकी स्वीकृति और नैतिकताका समर्थन दोनो सम्मिलित होने चाहिए।

(ख) यह कहना कि राज्य ही अधिकारोका एकमात्र बनाने वाला है, राज्यको निरकुश बना देना है। राज्यको चाहे जितना ऊचा स्थान देनेके लिए हम तैयार हो, पर इस हद तक जानेके लिए हम तैयार नही है। पारिभाषिक या शासकीय रूपमें तो बेशक राज्यकी प्रभुता सर्वोपरि है। पर फिर भी कुछ राजनैतिक बन्धन भी उस पर है जो रीतियों, परम्पराओ, इतिहास और नैतिकता द्वारा उस पर लागू किये जाते है। श्री लास्की का कहना है 'अधिकारोकी प्रतिष्ठा और स्थायित्व लिखित विधानकी अपेक्षा एक अभ्यास और परम्पराका प्रश्न अधिक है।' कानूनका निर्धारण भी बहुत कुछ समाजके परम्परागत विधानके द्वारा ही प्राय. होता है। ऐसे अवसर भी बहुत कम नही होते जब रीति-रिवाजो का व्यवस्थित रूप ही कानून बन जाता है। बहुतसे मामलोमें न्याय समाजकी रीतियो, परम्पराओका अनुगमन करता है। इसलिए यह कहना गलत है कि सभी अधिकार कानून के ही द्वारा प्राप्त होते है।

और फिर हर देशका विधान बराबर बदलता रहता है। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान अधिकारोका अन्तिम स्रष्टा नही है। विधान या कानूनसे भी ऊचा है हमारा यथार्थ और अयथार्थ—उचित और अनुचितका विवेक। जैसा कि श्री लॉर्ड ने ठीक ही कहा है 'किसी प्रकारकी भी नैतिक व्यवस्थामें अधिकारोकी स्थिति तो पहिले से ही आवश्यक हो जाती है। इससे अलग भी लोगोमें शक्तिया हो सकती है, प्रभाव, प्रयत्न और अधिकामना (Assertion) या अपनी इच्छाओ—स्वत्वोका दृढता-पूर्वक प्रयोग आदि हो सकते है, पर वह अधिकार नही है।' और आगे भी वह कहते है 'अधिकारोकी नीव या आधार-भूमि वह यथायता और औचित्य है जो अयथार्थ और अनुचितके विरुद्ध समझा जाता है।' श्री प्रोफेसर हॉकिंग के शब्दोमें 'विधान या कानूनका जो स्वरूप है और जो होना चाहिए इन दोनोके बीच एक तर्क-सम्मत (Logical) अन्तर रहता है।'

कुछ आत्यन्तिक परिस्थितियो (Extreme cases) में तो व्यक्ति राज्यका प्रतिरोध भी कर सकता है। श्री लास्की इसे प्रतिरोध करनेका 'अधिकार' कहते है जब कि श्री टी० एच० ग्रीन इसे प्रतिरोध करनेका 'कर्त्तव्य' कहना पसन्द करते है।[1] श्री लास्की की सम्मतिमें व्यक्तिको राज्यके विरुद्ध ठीक उसी प्रकार अधिकार प्राप्त हो सकते हैं जिस प्रकार राज्यको व्यक्तिके विरुद्ध प्राप्त हो सकते है। राज्यके प्रति हमारा सबसे बडा कर्त्तव्य ··· है उस आदर्शके प्रति जिसकी सिद्धिका प्रयत्न वास्तविक राज्यको करना चाहिए (४७·६६)।

(ग) अधिकारोके वैधानिक सिद्धान्तके कुछ समर्थक इस कठिनाईको यह कह कर हल करनेकी कोशिश करते है कि राज्य केवल वैधानिक या कानूनी अधिकारोका बनाने वाला है। पर यह कोई गम्भीर बात वह नही कहते। ऐसा कह कर वह पुनरुक्तिके दोषी बन जाते हैं। यह तो कुछ ऐसा ही हुआ जैसे कोई यह कहे कि मनुष्यके मनुष्यका बच्चा पैदा होता है। वैधानिक सिद्धान्तकी त्रुटि यह है कि उसमें समस्त अधिकारोकी व्याप्ति नही हो पाती। अधिकार चाहे इतिहाससे उत्पन्न हुए हो, चाहे परम्परासे या विधानसे—हर हालतमें उनके लिए एक नैतिक आधारकी आवश्यकता होती है। वैधानिक सिद्धान्त हमें यह समझनेमें सहायता नही देता कि जो अधिकार कानून द्वारा स्वीकृत होते है उन्हें क़ानून द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए या नही। इस सिद्धान्तसे हमें राज्यके आदर्श-स्वरूपकी प्रतिष्ठामें सहायता नही मिलती। इससे यह स्पष्ट है कि राज्यका मूल्याकन करनेके लिए हमें एक बाहरी मानदडकी आवश्यकता है। वह मानदड हमें व्यक्तित्वके सिद्धान्त (Law of personality) से प्राप्त होता है। श्री लॉर्ड के शब्दो में 'व्यक्तित्व नागरिकतासे अधिक है—ऊपर है।' इसी प्रश्न पर सामाजिक उपयोगिता (Social utility) के दृष्टिकोणसे विचार करते हुए श्री लास्की कहते है 'अधिकारो के वैधानिक सिद्धान्त—समझनेके लिए कसौटीके रूपमें एक मानदडकी जरूरत होती है जो स्वय इस सिद्धान्तसे बाहरकी वस्तु है। जब हम यह कहते है कि एक व्यक्तिको अपनी सम्पत्तिका, वह जैसा चाहे वैसा, उपयोग करनेका अधिकार है तब हम एक तथ्य-मात्र व्यक्त करते है, पर इससे यह नही निश्चित हो जाता कि यह अधिकार उस व्यक्ति को मिलना चाहिए या नही। जब हम यह कहते है कि एक बहरे और गूगे व्यक्ति को शादी करनेका अधिकार है तो हमारा यह मतलब होता है कि, उचित परिस्थितियोमें, किसी भी पुरोहित या रजिस्ट्रारको इस सस्कारके सम्पादनसे इन्कार नही करना चाहिए; पर इसका यह अर्थ नही कि हम यह उचित समझते है कि उसे यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए। अधिकारोके वैधानिक सिद्धान्तके पीछे एक अनुमानोकी लड़ी है। राजनीति में इस अनुमानोको प्रामाणिक स्वीकार करनेके पहले उनमें से प्रत्येकका सावधानीके साथ विवेचन करना होगा (४७ ९१)।'

इस सिद्धान्तमें सत्याश. (क) ऊपरके तर्कोंसे यह स्पष्ट हो गया है कि वैधानिक सिद्धान्तको अधिकारोके सम्बन्धमें एक सन्तोषजनक सिद्धान्त नही माना जा सकता। फिर भी इस सिद्धान्तको यो ही टाला भी नही जा सकता। हम यह कहने या माननेके लिए तैयार नही है कि राज्यसे अलग भी अधिकारोकी स्थिति सम्भव है। व्यक्तिके आत्मिक या

---

[1] इसके विपरीत श्री लूथर और कॉल्विन ने प्रतिष्ठित राज्य-व्यवस्थाके प्रति सविनय आज्ञापालनकी शिक्षा दी थी।

नैतिक विकासके लिए जो अधिकार अनिवार्य है और जिनका उल्लघन या जिनकी उपेक्षा राज्य द्वारा की जाती है, उन्हें हम अधिकसे अधिक सारगर्भित और सम्भव अधिकार (Potential rights) कह सकते हैं। वह अधिकारोंकी आधारभूमि या उनके अशुद्ध स्वरूप माने जा सकते है पर उन्हें पूरे-पूरे विकसित अधिकार नहीं कह सकते। यह आवश्यक है कि कमसे कम प्रजातन्त्रीय देशोमें, जिनके सम्बन्धमें यह अनुमान किया जाता है कि वहा जनताका लोकमत शान्ति-पूर्ण ढगसे आवश्यक परिवर्तन करा सकता है, वहा हमारे सभी अधिकारोको वैधानिक स्वीकृति दे दी जाय। पर यह कहना कि जिस किसी भी बातको वैधानिक स्वीकृति मिल चुकी हो वह आवश्यक रूपसे हमारा अधिकार है, एक बिल्कुल दूसरी बात है। ऐसा अधिकार पारिभाषिक अर्थमें भले ही अधिकार माना जाय। बीते ज़मानेमें इगलैंडके जंमीदार लाग अपने किसानोकी सम्पत्तिको घोडोकी टापोसे रौंदते हुए चले जानेका अधिकार रखते थे। पर आज शायद ही कोई उसे उचित सिद्ध करे या उस अधिकारका दावा रखनेका साहस करे। इसके विपरीत नए अधिकारोकी सृष्टि भी आवश्यक हो सकती है और ऐसे नवीन अधिकारोकी स्वीकृतिके लिए हमें वैधानिक आन्दोलन, सघर्ष और प्रतिरोधके 'कर्त्तव्य' का भी आवश्यकता पड सकती है।

(ख) जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकारके वैधानिक और नैतिक दोनों ही पक्ष होने चाहिए। श्री बोसाके के शब्दोमें 'अधिकार के वैधानिक और नैतिक दो सन्दर्भ होते है। अधिकार एक स्वत्व—एक दावा है जिसे क़ानून द्वारा कार्यान्वित या प्राप्त किया जा सकता है, पर किसी भी नैतिक आदर्शको हम क़ानून द्वारा लागू नही कर सकते, पर यह भी स्वीकार किया जाता है कि अधिकार एक ऐसा स्वत्व या दावा है जिसे क़ानून द्वारा लागू किए जानेके योग्य होना चाहिए और यही उसका नैतिक पक्ष है। एक आदर्श 'अधिकार' में यह दोनो पक्ष मिले हुए रहते है। अधिकार क़ानून द्वारा लागू किए जानेके योग्य होता है और उसे लागू किए जाने लायक होना चाहिए भी (५ १८७)।'

वैधानिक दृष्टिकोणसे श्री हॉलैंड (Holland) ने अधिकारकी परिभाषा यह की है 'अपनी शक्तिके बजाय समाजकी सहमतिके बलसे एक व्यक्ति द्वारा अन्य दूसरे व्यक्ति पर प्रभाव डालनेका सामर्थ्य।' उनका कहना है कि अपने बिल्कुल शुद्ध और सीमित अर्थमें अधिकार 'एक व्यक्ति द्वारा, राज्यकी सहमति और सहायतासे दूसरे व्यक्तियोके कार्योको नियन्त्रित करनेकी शक्ति है। (३८ ६१,६२)।' यह अधिकारोके सम्बन्धमें एक अधूरा दृष्टिकोण है और नैतिक दृष्टिकोण द्वारा इसके पूरे किए जानेकी आवश्यकता है। हॉलैंड की वैधानिक परिभाषाके अनुरूप ही श्री रिची (Ritchie) ने नैतिक अधिकारकी परिभाषा की है 'एक व्यक्ति द्वारा, जन-मत की स्वीकृति और उसकी सहायता से, या कमसे कम बिना उसके विरोधके, दूसरो पर नियन्त्रण रखनेकी शक्ति' या 'समाज द्वारा स्वीकृत एक व्यक्तिका अन्य दूसरे व्यक्तियो पर स्वत्व या अधिकार राज्य द्वारा चाहे वह स्वीकृत हो या न हो (६६ ६८-७९)।'

इस सिद्धान्तका साराश एक वाक्यमें कहा जा सकता है 'इतिहास अधिकारकी सृष्टि करता है।' इस सिद्धान्तका मत है कि अधिकार रीति-रिवाजोका ठोस मूर्त रूप है। हम इस तथ्यसे तो परिचित हैं कि बहुत दिनोंसे चले आते रीति-रिवाज कुछ समय बाद अधिकारोका रूप धारण कर लेते है। अगर किसी व्यक्तिको अपने जन्म-दिवस पर अपने किसी मित्रसे कई वर्षोंसे उपहार मिलते आ रहे है तो वह उसे अपना अधिकार-सा मानने

लगता है। जो शुद्ध उपहारकी बात है वह एक परम्परा-सी बन जाती है और लोग उसे एक हककी तरह पानेकी आशा करने लगते है। आम रास्ते पर चलनेका अधिकार एक परम्परागत अधिकार है। तलाकके मामलोमें निर्वाह या भोजन-वस्त्रका व्यय (गुजारा) तय करनेमें सम्बन्धित व्यक्ति जिस ढगकी जिन्दगी बितानेका आदी है उसका ध्यान रखा जाता है न कि सामान्य जीवनके खर्चेका। जैसा कि श्री रिषी ने कहा है, हम प्राय' यह देखते है कि 'जिन अधिकारोके सम्बन्धमें लोग यह सोचते है कि वह उन्हें मिलने ही चाहिए वह ऐसे ही अधिकार होते है जिनके वह अभ्यस्त होते है या जिनके सम्बन्धमें, गलत या सही, एक परम्परा होती है कि वह उन्हें कभी प्राप्त थे। परम्परा ही प्रारम्भिक विधान है (६६ ८२)।' बहुतसे कहे जाने वाले प्राकृतिक अधिकारोकी जब हम छान-बीन करते है तो हम देखते है कि वह ऐसे स्वत्व या दावे है जिन्हें 'बहुत पुरानी और अटूट परम्पराओ का समर्थन' प्राप्त होता है (६६ ८२)। इसके विपरीत जिनकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत रूपसे आधुनिक होती है या जिनका अधिक प्रचार नही हाता उन्हें रस्म या 'लोकाचार' कहा जाता है।

३. अधिकारोका ऐतिहासिक सिद्धान्त (The Historical theory of Rights)

श्री एडमड बर्क का कहना है कि फ्रासकी राज्य-क्रान्ति मनुष्यके विशुद्ध भावसूक्ष्म (Abstract) अधिकारो पर आधारित थी जबकि इगलैडकी राज्य-क्रान्तिके आधार थे अग्रेजोंके परम्परागत अधिकार। इस कथनमें बहुत अधिक सत्य है। ऐतिहासिक तथ्यके रूपमें फ्रासकी राज्य-क्रान्ति उन परिस्थितियोसे भडकी थी जो अठारहवी शताब्दीके फ्रास में थी, पर सघर्षमें उस क्रान्तिके नारे वह आदर्श—स्वतत्रता, समानता और भ्रातृत्व —थे जो समूची मानव-जाति पर लागू होते है। इसके विपरीत इगलैडकी राज्य-क्रान्ति तो केवल उन अधिकारोकी पुनर्घोषणा और स्थापना-मात्र थी जिन्हें अग्रेज लोग प्रारम्भिक दिनोसे ही उपयोग करते आ रहे थे और जो 'मैग्ना कार्टा' और 'पेटिशन ऑफ् राइट्स' (Magna Carta and Petition of Rights) जैसे प्रलेखो (Documents) में व्यक्त किए जा चुके थे। वास्तवमें इगलैडका समूचा वैधानिक इतिहास कुछ लेखको द्वारा 'स्वाधीनता' के बजाए 'अधिकारो' के लिए होने वाले सघर्षका इतिहास माना गया है।

आलोचना:

इसमें सन्देह नही है कि हमारे बहुतसे अधिकारोका मूल हमारी परम्पराओमें है। पर यह कहना कि हमारे सभी अधिकारोका मूल प्राचीन रीतियो या परम्पराओमें है एक स्पष्ट अत्युक्ति है। स्व० प्रोफेसर समनर (Prof Sumner of Yale) का कहना है कि किसी भी जातिकी प्रथाए किसी भी बातको सही या उचित बना सकती है। हम इस दृष्टिकोणको नही स्वीकार करते। इसकी आलोचना करते हुए श्री हॉकिंग कहते है: 'दास-प्रथा जब कानूनसे जायज थी तब क्या उचित थी? बाल-हत्या (Infanticide) क्या उचित थी?' इन प्रश्नोका उनका उत्तर नकारात्मक है। उनकी सम्मतिमें दास-प्रथा यद्यपि ससारके अधिकाश भागमें प्रचलित थी, पर वह उचित कभी भी नही रही। पर सैद्धांतिक दृष्टिकोणसे या शास्त्रीय सम्मतिसे दास-प्रथाको एक सापेक्ष अधिकार (Relative right) माना गया है अर्थात् एक समय था जब वह उचित थी पर अब,

जबकि मनुष्यकी नैतिक भावनाका अधिक विकास हो चुका है, वह उचित नहीं है। इस दृष्टिकोणमें एक कठिनाई यह है कि यदि अधिकार या न्यायको हमेशा प्रथा या परम्पराके अनुकरण पर रहना है तो फिर सुधार असम्भव है। सती-प्रथाका बन्द किया जाना, शारदा ऐक्ट और अछूतोंके मन्दिर-प्रवेशका कानून बहुत अशों तक देशकी प्रतिष्ठित प्रथाओं, परम्पराओंके उल्लघन ही हैं। फिर भी समझदार या जागरूक जनमत उनका समर्थन करनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं करता। प्रोफ़ेसर हॉकिंग ठीक ही कहते हैं कि 'परम्परा हमेशा ठीक ही होती है' यह कहना वैसा ही मूर्खतापूर्ण है जैसे यह कहना कि कानूनसे अधिकार या न्यायकी सृष्टि होती है। इससे भी आगे एक कसौटी है और वह है व्यक्तित्वका सिद्धान्त (The Law of Personality)। यही लेखक आगे चलकर कहता है कि ऐतिहासिक सिद्धान्त या तो हमें कोई मार्ग बतलाता ही नहीं या फिर ग़लत मार्ग बतलाता है। इसलिए यह एक 'व्यर्थका सिद्धान्त रह जाता है जब तक कि स्वतन्त्ररूपसे व्याख्या करके उस पर प्रकाश न डाला जाए।' 'इतिहासकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर अकेले इतिहास पर भरोसा भी नही किया जा सकता (३६ ७)।' यह विषय ही ऐसा है कि इतिहास इसके सम्बन्धमें एक परिपूर्ण मानदड या औचित्यकी कसौटी नही दे सकता।

इस सिद्धान्तके अनुसार अधिकार सामाजिक कल्याणकी आवश्यक शर्तोंके रूपमें है। वह समाजकी सृष्टि है। श्री डीन पाउड और प्रोफेसर चैफी (Dean Pound and Prof Chafee) जैसे इस सिद्धान्तके समर्थकोका कहना है कि विधान या कानून, परम्परा, और प्राकृतिक अधिकार आदि सबको उसका वशवर्ती होना चाहिए जो सामाजिक दृष्टिकोणसे उपयोगी या वाछनीय हो। प्राफेसर चैफी का कहना है कि अधिकारोका निश्चय स्वार्थोंके सन्तुलनसे उनका मेल बैठानेसे होता है। उदाहरणके लिए, भाषणका अधिकार असीमित नही है। सामाजिक कार्य-साधकता (Social Expediency) का विचार रखते हुए उसका निर्धारण किया जाता है।

४ अधिकारोंका सामाजिक कल्याण-मूलक या कार्यसाधन-मूलक सिद्धान्त (The social welfare or the social expediency theory of rights)

उपयोगितावादी साधारणत अधिकारोके इस सिद्धान्तका समर्थन करते हैं। बेन्थम और मिल (Bentham and Mill) दोनो ही स्पष्टत उपयोगिताके इस सिद्धान्तका समर्थन करते है। उनका यह समर्थन कोरी परम्परा या बाहरी सत्ता (external authority) का अनुगमन करनेके विरोधमें भी होता है और मनुष्यके हृदयकी प्राकृतिक इच्छाओंके निरकुश अधिकारके विरोधमें भी, क्योकि इस अधिकारका उपयोग बुराइयोंके समर्थनमें भी वैसे ही किया जा सकता है जैसे बुराइयोका विरोध करनेमें (६६ ८७)।' यह लोग 'अधिकसे अधिक लोगोंके अधिकसे अधिक कल्याण' का सिद्धान्त आदर्श या कर्त्तव्यकी कसौटीके रूपमें स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि तर्क या युक्ति और अनुभवके द्वारा उपयोगिताका निर्धारण किया जा सकता है।

श्री लास्की ने उपयोगितावादी सिद्धान्तका सुधार किया है। इस प्रकार उपयोगिता को अधिकारोकी कसौटीके रूपमें स्वीकार करते हैं। अधिकारकी उपयोगिताकी परिभाषा उन्होने की है 'राज्यके सभी सदस्योंके लिए उसका मूल्य या महत्त्व (४७ ९२)।' उन

के अनुसार राज्यको उन्ही स्वत्वो या दावो (Claims) को स्वीकार करना चाहिए 'जो, इतिहासकी शिक्षा या अनुभवके अनुसार, अपूर्ण या अस्वीकृत रह जाने पर घातक या हानिकारक सिद्ध होनेवाले हो (४७ ९३)।' 'हमारे अधिकार समाजसे पृथक् और स्वतत्र नही है। वह समाजमें ही निहित है। अर्थात् यह अधिकार हमें इसलिए प्राप्त है कि हम अपनी और साथ ही साथ समाजकी भी रक्षा कर सकें (९६ ९४)।' 'इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित है। अधिकार हमें इसलिए प्राप्त है कि हम समाजकी उद्देश्य-पूर्तिमें अपना सहयोग दे सकें। असामाजिक रूपमें काम करनेका हमें कोई अधिकार नही है। जो कुछ हम प्राप्त करते है उसकी कीमत चुकानेका, कमसे कम, प्रयास किये बिना उसे लेनेका हमें कोई हक नही है। इस प्रकार कर्त्तव्य अधिकारमें ही निहित है (४७ ९४)।' हमें इस बातका कोई अधिकार नही है कि हम जो चाहें सो करें। समाजके कल्याणसे हमारे कार्योका जो सम्बन्ध है उसीके आधार पर हमारे अधिकारोका निर्माण होता है। जो दावे हम पेश करते ह, स्पष्ट है कि उन्हें ऐसा होना चाहिए कि वह हमारे कर्त्तव्योकी ठीक-ठीक पूर्तिके लिए आवश्यक हो। इस दृष्टिकोणसे समाजके सामने हम वही दावा या माग पेश कर सकते है जिसे समाजको इसलिए स्वीकार करना आवश्यक हो जाय कि उसकी स्वीकृतिमें जन-हितकी कोई मानी हुई या मानने लायक बात भी शामिल है (४७ ९५)।' 'जन-हितके विरोधमें मुझे कोई अधिकार नही प्राप्त हो सकते क्योकि आखिरकार उसका अर्थ यह होगा कि मुझे एक ऐसे स्वार्थ या कल्याणके विरुद्ध अधिकार दिये जा रहे है जिसके साथ स्वय मेरा अपना कल्याण एक घनिष्ठ और अविच्छेद्य (Inseparable) रूपमें जुडा हुआ है (४७ ९६)।'

आलोचना :

अधिकारोके सामाजिक कल्याण-मूलक सिद्धान्तमें निस्सन्देह बहुत कुछ ग्रहण और प्रशसाके योग्य है। अब तक जिन चार सिद्धान्तोका विवेचन किया गया उनमेंसे हम इसे सर्वोत्तम मानते है। फिर भी इसमें कुछ गम्भीर त्रुटिया है।

(क), जन-हित बेशक अधिकारोकी एक अच्छी कसौटी है। पर कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब हम 'जन-हित' या 'लोक-कल्याण' (Public welfare) की परिभाषा करने बैठते है। क्या उसका अर्थ है 'अधिकसे अधिक लोगोका अधिकसे अधिक सुख' अर्थात् बहुमतका स्वार्थ, लोक-सम्मति या तत्कालीन सरकारकी दृष्टिमें जो कुछ सार्वजनिक हित हो? इनमेंसे कोई भी एक अर्थ यदि 'जन-हित' का माना भी जाय, तो भी उससे कोई अधिक सहायता नही मिलती क्योकि यह शब्द स्वय ही अस्पष्ट और अनिश्चित है। 'अधिकसे अधिक सुख' की कोई नाप तो हो नही सकती। समष्टि रूपमें अर्थात् समूचे समाजकी कोई चेतना या अनुभूति तो होती नही।

(ख) इस सिद्धान्तको दूसरी त्रुटि यह है कि सामाजिक कल्याण हमारे व्यक्तिगत अधिकारोमें हस्तक्षेप कर सकता है। यह सिद्धान्त हमें इस स्थिति तक ले जा सकता है कि समाजके बहुत बडे कल्याणके लिए एक व्यक्तिको थोडी हानि पहुँचाना उचित है— अर्थात् इस सिद्धान्तकी ओर कि उद्देश्य ही साधनके औचित्यको सिद्ध करता है। व्यवहारमें इसका यह परिणाम हो सकता है कि सार्वजनिक हित एक स्वीकृत व्यक्तिगत अधिकारको दबा दे। व्यवहारके क्षेत्रमें सामाजिक कार्य-साधकताका सिद्धान्त एक खतरनाक

भावना है उससे विवेक और नैतिकताकी अपील की थी। इसी प्रकार हमें उन क्षेत्रोंमें अपनी टाग नही अडानी चाहिए जो हमारे लिए वर्जित हैं। क्योंकि ऐसा करनेमें हम अपने विवेकका उल्लघन करते हैं—अपने व्यक्तित्वके सिद्धान्तको तोडते हैं। डॉक्टर हॉकिंग (Dr. Hocking) का कहना है कि जब कभी एक व्यक्ति दूसरेके विरुद्ध किसी अधिकारका दावा करता है तब वह उससे कहता है 'यदि तुम मेरे अधिकारोंमें दखल देते हो तो तुम अपने ही मर्म पर चोट करते हो।' दास-प्रथा स्वय दासोंसे भी अधिक दास रखने वालेकी हानि करती है। दासको जो भी कष्ट होता है वह केवल शारीरिक होता है जब कि दास रखने वालेकी नैतिक और आत्मिक हानि होती है। दूसरोंके अधिकारोंका सम्मान करनेमें हम स्वय अपनी ही शक्तिका सम्मान करते हैं। एक निरपराध व्यक्ति की हत्या करनेमें हम स्वय अपने ही किसी तत्त्वकी हत्या करते हैं।

आलोचना व मूल्याकन

(क) सब कुछ विचार कर लेनेके बाद अधिकारोंका यह आदर्शवादी या व्यक्तित्व-मूलक सिद्धान्त सबसे अधिक सन्तोषप्रद जान पडता है। कठिनाई तब पैदा हो सकती है जब हम व्यक्तित्वका धारणाका व्यावहारिक स्वरूप स्थिर करने बैठते है। यह पूछा जा सकता है कि किस मानदडसे राज्य उन परिस्थितियोंका निश्चय करेगा जो उसके प्रत्येक सदस्यके पूर्ण विकासके लिए आवश्यक है ? व्यक्तित्वका विचार क्या अन्तिम रूपमें एक चेतना या आत्मा सम्बन्धी सूक्ष्म विचार नही है ? दूसरे लोगोंके भाग्यके सम्बन्धमें हम क्या जानते हैं ? इसमें सन्देह नही कि यह गम्भीर आपत्तिया हैं। इन आपत्तियोंका हमारा उत्तर यह है कि आदर्शवादी सिद्धान्तके अनुसार राज्य व्यक्तिके लिए वह सब कुछ प्रस्तुत करनेका दावा नही करता जो उसके जीवनको सुन्दर बनानेमें सहायता दे सकता है। राज्यकी यह धारणा रहती है कि प्रत्येक व्यक्तिमें विकासका जितना सामर्थ्य है उतना विकास वह करना चाहता है। इस धारणाको स्वीकार करके राज्य कुछ न्यूनतम अधिकार प्रत्येक व्यक्तिको दे देता है और उन अधिकारोंका प्रयोग करनेके लिए प्रत्येक व्यक्तिको स्वाधीनता दे देता है। राज्य यह स्वीकार करता है कि मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक समान होने चाहिए। इन अधिकारोंको प्राप्त कर लेनेके बाद विभेद उत्पन्न हो सकता है।

(ख) काफी हद तक यह कल्पना की जा सकती है कि सामाजिक कल्याणका सिद्धान्त और आदर्शवादी सिद्धान्त अधिकारोंके सम्बन्धमें साथ-साथ चल सकते हैं क्योंकि व्यक्तिका कल्याण और समाजका कल्याण दोनो एक दूसरेसे घनिष्ठ रूपसे जुडे हुए हैं। पर जहा व्यक्ति और समाजके हितोंमें विरोध होगा वहा आदर्शवादी सिद्धान्तका मार्ग दूसरा और सामाजिक कल्याण वाले सिद्धान्तका मार्ग दूसरा हो जायगा। आदर्शवादी सिद्धान्त यह नही स्वीकार करता कि किसी भी व्यक्तिका बलिदान दूसरेके विकासके लिए किया जाय। काटके अनुसार इस सिद्धान्तकी मान्यता यह है कि किसी भी व्यक्तिको दूसरेकी उद्देश्य-पूर्तिका साधन-मात्र नही बनाया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिसे इस सिद्धान्तका यह आग्रह है कि जैसे वह अपने भीतरकी मानव-सत्ताको कभी भी एक साधन-मात्र न मान कर स्वत एक उद्देश्य मानता है उसी प्रकार दूसरोंकी मानव-सत्ताको भी कभी साधन मात्र न माने, उसे भी स्वय अपने आपमें एक उद्देश्य माने।

(ग) इस सिद्धान्तकी विशेषताओंमें से एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें एक चरम अधिकार (Absolute Right)—व्यक्तित्वके अधिकार—की कल्पना की गई है और अन्य सब अधिकारोकी उत्पत्ति उससे मानी गई है। प्राकृतिक अधिकारोके सिद्धान्तमें अनेक चरम अधिकारोकी कल्पना की गई है और शेष तीनो सिद्धान्तोमें एक की भी नही। व्यक्तित्व-सिद्धान्तमें चूंकि एक ही चरम अधिकार है इसलिए इसमें कोई आन्तरिक विरोध नही है जैसा कि प्राकृतिक अधिकारोके सिद्धान्तमें है। इसके अतिरिक्त इसमें अधिकारोकी एक खरी कसौटी दी गई है जिस पर हमेशा विश्वास किया जा सकता है और इस अर्थमें यह सिद्धान्त वैधानिक, ऐतिहासिक और सामाजिक कल्याणके सिद्धान्तोंसे श्रेष्ठ है। सभी मनुष्योका एक चरम अधिकार है—व्यक्तित्वका अधिकार। वह नित्य-स्थिर (Invariable) है—कभी नही बदलता। वह देश और कालके बन्धन से मुक्त है। जैसा कि श्री हॉकिंग ने कहा है स्वय परमात्माके विरुद्ध भी यह अधिकार खरा उतरता है। इस लेखकने अमरताके समर्थनमें आग्रहपूर्वक यह तर्क रखा है कि ईश्वर या इस सृष्टिका स्रष्टा जो हमारे धरती परके इस जीवनके लिए उत्तरदायी है वह, स्वय अपनी लाज रखनेके लिए ही, विवश है कि अपने उत्थान या विकासका जो सघर्ष हमने धरती पर प्रारम्भ किया है उसकी पूर्तिका और अधिक अवसर दे जिससे हम अपने व्यक्तित्व के उद्देश्यकी सिद्धि कर सकें।

SELECT READINGS

BOSANQUET, B.—*The Philosophical Theory of the State*—Ch. VIII, Section 6.
BURNS, C. D.—*Political Ideals.*—Ch. VII
GILCHRIST, R. N.—*Principles of Political Science*—Ch VI
GREEN, T. H.—*Lectures on Principles of Obligation*—Section A.
HOCKING, W. E.—*Law and Rights.*
LASKI, H. J.—*A Grammar of Politics*—Chs III.
LORD, A. R.—*The Principles of Politics*—Chs. VIII-X.
RITCHIE, D. G.—*Natural Rights.*
WILDE, N.—*The Ethical Basis of the State*—Ch. VI.

८

विशिष्ट अधिकार

(क) जीवन का अधिकार (The right to life)

जिन विशिष्ट अधिकारोका सूक्ष्म विवेचन अब हम प्रारम्भ करते है वे है जीवनका अधिकार, स्वाधीनता, सम्पत्ति, समानताका अधिकार, राजनैतिक अधिकार और राज्यके प्रतिरोध का अधिकार। सभी अधिकारोमें से सबसे अधिक मौलिक अधिकार है जीवनका अधिकार, क्योकि इसके बिना मनुष्य किसी दूसरे अधिकारको पा नही सकता। श्री टी० एच० ग्रीन (T H Green) के अनुसार जीवन और स्वाधीनताके अधिकारोको मिलाकर एक अकेला अधिकार बनता है—स्वाधीन जीवनका अधिकार। स्वाधीनताके बिना जीवन व्यर्थ है और दूसरी ओर जीवनका जो उपयोग हम करते है वही हमें जीवनका अधिकार देता है। इसलिए स्वाधीन जीवनके नैतिक अधिकारका नैतिक आधार व्यक्तिकी वह शक्ति है जो उसे समाजकी सदस्यताके योग्य बनाती है अर्थात् व्यक्तिमें 'कल्याणकी ऐसी धारणा जिसमें उसका हित दूसरोके हितके साथ घुला-मिला हो (२६ १५६)।'

यह एक आश्चर्यकी बात है कि स्वाधीन जीवनके अधिकारको भी बहुत धीरे-धीरे स्वीकार किया गया है। प्रारम्भिक समाजोमें मनुष्यको मनुष्य-रूपमें जीवनका अधिकार नही प्राप्त था, उसे केवल परिवार या जातिके नाते ही जीवनका अधिकार था। इस धारणामें जो परिवर्तन हुआ उसका श्रेय तीन बातोको दिया जा सकता है रोमन न्याय-शास्त्र, जिसने व्यक्तिके अधिकारोको किसी भी राज्यकी सदस्यतासे स्वतन्त्र और पृथक् रूपमें स्वीकार किया, प्राकृतिक विधानका सिद्धान्त जिसका प्रचार स्टोइक (Stoic) दार्शनिकोने किया और जो सभी मनुष्यो पर लागू होता है, और विश्व-बन्धुत्वकी ईसाई धारणा (२६ १५६)। बहुत बड़ी प्रगतिके बावजूद भी आधुनिक समाजोमें इन अधिकारोको केवल निषेधात्मक ढगसे ही (only negatively) स्वीकार किया गया है। आज हम अधिकसे अधिक इतना ही करते है कि एक क़ानून बना देते है जिससे किसी मनुष्यका उपयोग दूसरे मनुष्यके द्वारा एक साधनके रूपमें उसकी इच्छाके विरुद्ध नही किया जा सकता, पर हम प्राय व्यक्तिको किसी भी सामाजिक उद्देश्यकी पूर्तिका कोई अवसर नही देते (२६ १५६)।

स्वाधीन जीवनके अधिकारके आधार है मनुष्यमें आत्मसरक्षणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और सामान्य मनुष्यमें किसी भी जीवधारीके प्राण लेनेकी स्वाभाविक अनिच्छा। इसमें तो सन्देह नही कि प्रवृत्तियो और भावनाओके आधार पर अधिकारोकी कोई व्यवस्था बना पाना बड़ा कठिन है। किसी भी अधिकारके स्वीकार किये जानेसे पहले समाजको इस बातका विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि वह अधिकार व्यक्तिके आत्मविकासके लिए आवश्यक है और साथ ही साथ अपने आप भी महत्त्वपूर्ण है। और फिर यदि अधिकारोका आधार केवल प्रवृत्तिया और भावनाए ही मानी जायें तो फिर लोग युद्धमें एक

दूसरेकी मार-काट करनेमें और कभी-कभी जान-बूझ कर हत्याए करनेमें जो तत्परता दिखाते है उसका विश्लेषण हम कैसे करें। इसलिए जीवनका अधिकार भी निरुपाधिक नही है—बिना किसी शर्तका नही है। उसके औचित्यका समर्थन उसी हद तक किया जा सकता है जिस हद तक उसका उपयोग व्यक्तिके आत्मविकासमें और समाजके हित-साधनमें हो।

जीवनके अधिकारकी व्याप्ति (Implications of the Right to Life).

१ जीवित रहनेका कर्त्तव्य (The Duty to Live)

जीवन-अधिकार में जीवनका कर्त्तव्य भी छिपा है। न तो स्वय व्यक्तिके ही विचार से और न समाजके विचारसे ही व्यक्तिको अपना जीवन समाप्त कर देना उचित है। यही कारण है कि राज्योमें आत्महत्याके प्रयत्नमें सजा दी जाती है। व्यक्तिके दृष्टिकोणसे यह भी कभी कोई नही बता सकता कि उसका जितना विकास सम्भव था, उतना हो चुका। जब तक जीवन है तब तक (विकासकी) आशा है। इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण है जिनमें व्यक्तिके शारीरिक ह्रासके प्रारम्भ हो जानेके बाद भी उसका मानसिक विकास होता गया है। दूसरे उदाहरण ऐसे भी है जहा यद्यपि मानसिक शक्तियोका विकास नही होता फिर भी मनुष्यकी योजनाए और उसके विचार अनिश्चित काल तक विकसित होते रहते है। इसलिए प्राय यह होता है कि व्यक्ति यह नही जान पाता कि उसका विकास कब रुक गया। आत्महत्याके अधिकाश मामलोमें व्यक्ति जीवनकी वास्तविकताओसे हार मानकर अपनी कायरताका ही प्रदर्शन करता है। आधुनिक विचार-पद्धति में असाध्य रोगोको छोड कर आत्महत्या कही भी क्षम्य नही मानी गयी और यह ठीक ही है।

आत्महत्या सामाजिक दृष्टिसे भी निन्दित है। जैसा कि श्री गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने कहा है सामाजिक दृष्टिसे सार्वजनिक हितका ध्यान रखते हुए प्रत्येक व्यक्तिका जीवन मूल्यवान् है। इसलिए स्वय अपने या अन्य किसीके जीवनको समाप्त कर देनेका अर्थ है 'एक ऐसे व्यक्तित्वको समाप्त कर देना जिसके कर्त्तव्य भी है और अधिकार भी।' सन्त थॉमस ऐक्विनॉस (St. Thomas Aquinas) का कहना है कि आत्महत्या स्वय अपने प्रति अपराध है, समाजके प्रति अपराध है और परमात्मा के प्रति भी अपराध है। आत्महत्या अधिकसे अधिक क्षमा की जा सकती है, इसका कभी समर्थन नही किया जा सकता।

२. हत्या न करने का कर्त्तव्य (The Duty Not to Commit Murder)

यदि जीवित रहना व्यक्तिका अधिकार है, तो दूसरोकी हत्या न करना उसका कर्त्तव्य है। हत्या केवल एक नैतिक अपराध ही नही है, बल्कि एक भयानक अपराध है कानूनकी दृष्टिसे भी। क्या मृत्यु-दंड हत्यारे के जीवित रहनेके अधिकारका उल्लघन है? सच्ची बात तो यह है कि ऐसे व्यक्तिको जीवित रहनेका कोई अधिकार नही है। जिस असामाजिक वृत्तिका उसने परिचय दिया है उसके कारण उसने अपने अधिकारको खो दिया है। इसलिए 'परावर्तनका अधिकार (Reversionary Right)' ही एक ऐसा अधिकार है जिसका दावा वह समाजमें पुन ग्रहण किए जानेके लिए एक ऐसे नागरिकके रूपमें कर सकता है जो सार्वजनिक हितमें अपना व्यक्तिगत योग देनेमें समर्थ है।

८

विशिष्ट अधिकार

(क) जीवन का अधिकार (The right to life)

जिन विशिष्ट अधिकारोका सूक्ष्म विवेचन अब हम प्रारम्भ करत हे वे है जीवनक
स्वाधीनता, सम्पत्ति, समानताका अधिकार, राजनैतिक अधिकार और राज
का अधिकार। सभी अधिकारोमें से सबसे अधिक मौलिक अधिकार है जीवनक
क्योकि इसके बिना मनुष्य किसी दूसरे अधिकारको पा नही सकता। श्री टी
(T H. Green) के अनुसार जीवन और स्वाधीनताके अधिकारोको ि
अकेला अधिकार बनता है—स्वाधीन जीवनका अधिकार। स्वाधीनताके
व्यर्थ है और दूसरी ओर जीवनका जो उपयोग हम करते है वही हमें जीव
देता है। इसलिए स्वाधीन जीवनके नैतिक अधिकारका नैतिक आधार
शक्ति है जो उसे समाजकी सदस्यताके योग्य बनाती है अर्थात् व्यक्तिमें 'व
धारणा जिसमें उसका हित दूसरोके हितके साथ घुला-मिला हो (२९ १

यह एक आश्चर्यकी बात है कि स्वाधीन जीवनके अधिकारको भी
स्वीकार किया गया है। प्रारम्भिक समाजोमें मनुष्यको मनुष्य-रूपमें जी
नही प्राप्त था, उसे केवल परिवार या जातिके नाते ही जीवनका अ
धारणामें जो परिवर्तन हुआ उसका श्रेय तीन बातोको दिया जा सकता
शास्त्र, जिसने व्यक्तिके अधिकारोको किसी भी राज्यकी सदस्यतासे
रूपमें स्वीकार किया, प्राकृतिक विधानका सिद्धान्त जिसका प्रचार
दार्शनिकोने किया और जो सभी मनुष्यो पर लागू होता है, अं
ईसाई धारणा (२९ १५६)। बहुत बडी प्रगतिके बावजूद भी आ
अधिकारोको केवल निषेधात्मक ढगसे ही (only negatively
है। आज हम अधिकसे अधिक इतना ही करते है कि एक क़ानून व
मनुष्यका उपयोग दूसरे मनुष्यके द्वारा एक साधनके रूपमें उसक
किया जा सकता, पर हम प्राय व्यक्तिको किसी भी सामाजि
अवसर नही देते (२९ १५९)।

स्वाधीन जीवनके अधिकारके आधार है मनुष्यमें आत
प्रवृत्ति और सामान्य मनुष्यमें किसी भी जीवधारीके प्राण लेने
इसमें तो सन्देह नही कि प्रवृत्तियो और भावनाओके आधार पर
बना पाना बडा कठिन है। किसी भी अधिकारके स्वीकार ि
इस बातका विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि वह अधिक
लिए आवश्यक है और साथ ही साथ अपने आप भी म
अधिकारोका आधार केवल प्रवृत्तिया और भावनाए ही मानी

किए गए व्यक्तिके सम्बन्धियो और मित्रोकी स्वस्थ स्वाभाविक उत्तेजना और उनके विक्षोभको इतना सन्तोष प्राप्त होता है जितना अन्य किसी प्रकारके दडसे नही प्राप्त हो सकता। श्री स्टेफेन मृत्यु-दडको हत्याका एक प्रभाव-पूर्ण निरोधक भी मानते है। उनका कहना है कि बहुतेरी हत्याए व्यवस्थित रूपसे सोच-समझ कर की जाती है। यदि श्री हर्बर्टके मनकी चले तो वह आधुनिक विधानको कुछ इस प्रकार सवधित करें कि कुछ अन्य घृणित अपराधोके लिए भी मृत्यु-दडकी व्यवस्था कर दी जाय।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मानव-विकासकी वर्तमान अवस्थामें हत्याके स्पष्ट निश्चित मामलोमें मृत्यु-दड उचित है। फिर भी, हमें इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि मृत्यु-दडकी व्यवस्था जहा तक सम्भव हो नियन्त्रित ही रहे। हत्यासे कम छोटे अपराधोमें मृत्यु-दड देना बिल्कुल गलत है। यह इसलिए कि जब छोटे अपराधो के लिए मृत्यु-दड नही दिया जाता तो छोटे-छोटे अपराधियोके लिए एक बडी सबल प्रेरणा मिलती है कि जहा तक वह अपनेको बचा सकें, मृत्यु-दडसे बचाए।

जहा एक ओर हम कुछ सीमित अपराधोके लिए मृत्यु-दडकी उपयोगिता पर विश्वास करते है वहा दूसरी ओर हम यह भी ठीक समझते है कि अनिर्धारित दडो (Indeterminate Sentences)की प्रथा अधिकाधिक रूपमें प्रचलित हो। मृत्यु-दडके स्थान पर आजन्म कारावासका दड भी एक सस्कृत और भावुक अपराधीके लिए कोई सुधार नही है क्योकि 'एक (मृत्यु-दड)की भाति दूसरे (आजन्म-कैद) में भी व्यक्ति स्वतत्र सामाजिक जीवनसे और उससे उत्पन्न आत्मिक विकासके अवसरोसे एकदम वचित रह जाता है (२९)।' इसलिए स्थायी कारावास (Perpetual imprisonment) का औचित्य केवल एक ही है, और वह यह कि कुछ समय बाद अपराधीको उसके चरित्रमें सुधार होने पर छोडा जा सके।

२ आत्म-रक्षाका अधिकार (The Right to Self-defence)

प्राय ऐसा माना जाता है कि जीवित रहनेके अधिकारमें जीवन-रक्षाका अधिकार भी सम्मिलित है। किसी मामलेमें आत्मरक्षाके लिए जितनी शक्तिका उपयोग किया गया वह उचित था या नही इसका निर्णय अदालतोके ऊपर छोड दिया गया है। प्रचलित मान्यता यह है कि आत्मरक्षा तो उचित और न्याय्य है पर आक्रमण उचित नही है। इस मान्यतामें कठिनाई यह है कि 'आत्मरक्षा' और 'आक्रमण' जैसे शब्दोकी परिभाषा देना हमेशा आसान नही होता। यह निश्चित करनेके लिए कि कौन न्याय-पक्षमें है 'हमें यह मालूम होना चाहिए कि किसकी रक्षा की जा रही है और किस पर आक्रमण किया जा रहा है (६६ : १२०)।'

इस सम्बन्धमें अब एक प्रश्न युद्धके बारेमें भी पैदा होता है। व्यक्तिगत नागरिकसे युद्ध-क्षेत्रमें अपने प्राणोकी आहुति देनेकी माग करना क्या राज्यके लिए उचित है? क्या यह व्यक्तिके जीवित रहनेके अधिकारमें हस्तक्षेप करना नही है? जैसा कि श्री ग्रीन ने कहा है अधिकाश युद्धोकी उत्पत्ति शासकोकी महत्वाकाक्षाओसे, राष्ट्रीय या जातीय अहकारसे और आर्थिक लाभके लोभसे ही हुई है। इसलिए राज्योके बीच युद्धको अवश्यम्भावी या अनिवार्य (Inevitable) बतलाना एक व्यर्थकी बात है। 'संघर्ष इसलिए आवश्यक नही है कि राज्योका अस्तित्व है, सघर्ष आवश्यक हो जाते हैं इसलिए

मृत्यु-दडका विरोध करने वालोका एक तर्क यह भी है कि ऐसे मामले कम नही होते जिनमें ग़लत व्यक्तिको अर्थात् निरपराध व्यक्तिको मृत्यु-दडकी सजा दे दी जाती है और अनेक अवसरो पर हत्याए या तो बहुत अधिक उत्तेजना दिलाए जाने पर और या फिर उन्मत्तावस्था में की जाती है। उनके और भी तर्क है (क) मृत्यु-दडका प्रभाव समाज पर बुरा पडा है। इससे मनुष्यका जीवन बहुत ही सस्ता हो जाता है और लोग मानव-व्यथाओ या कष्टोके प्रति उदासीन हो जाते है, (ख) मृत्यु दड उस बर्बर-युगकी देन है जब मनुष्यके व्यवहारमें प्रतिहिंसाकी प्रवृत्ति प्रबल थी, (ग) बहुतसे हत्यारे उत्तरदायित्वकी भावनासे हीन होते है और अपने अपराधका भयावह रूप नही समझ पाते, और (घ) मृत्यु-दड ने एक सफल या समर्थ निवारक शक्ति (Deterrent) का काम नही किया। इन सब तर्कोसे वह निष्कर्ष यह निकालते है कि समाजको चाहिए कि हत्यारेको फासी पर लटकानेके बजाय उसका सुधार अथवा नियत्रण करे।

इन तर्कोका मूल्याकन करते समय यह कहना ही पडेगा कि यह जीवनको भौतिक अस्तित्व-मात्र (Mere physical existence) मानने वाली भ्रान्त धारणा पर आधारित है। समाज अपने एक ऐसे सदस्यकी जीवन-रक्षाके लिए उत्तरदायी नही है जो जान-बूझ कर अन्य सदस्योके जीवन पर आघात पहुचाता हो। जो व्यक्ति दूसरेकी सम्पत्तिके लिए उसकी हत्या करता है वह स्पष्टत अपने जीवित रहनेके अधिकारको खो देता है। वह तो एक शिकारी जानवरसे भी गया-बीता है और, इसलिए, उसकी रक्षा करना एक उल्टी या दूषित भावुकता-मात्र है। यह धार्मिक तर्क कि मनुष्य कभी भी मृत्युके योग्य नही होता और यह कि मृत्यु-दड व्यक्तिको पश्चात्तापके अवसरसे वचित कर देता है, व्यर्थका तर्क है। सच्चाई यह है कि ऐसा व्यक्ति जीवित रहनेके योग्य नही है।

एक तर्क जिसका प्राय प्रयोग किया जाता है यह है कि हत्या करते समय हत्यारेकी मानसिक स्थिति ठीक नही रह सकी होगी। इस सम्बन्धमें ध्यान देनेकी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि हम हत्यारेके साथ उदार ही बर्ताव करना चाहें तो भी हमें उसकी मानसिक स्थितिको हत्या-कम से परे और अलग भी बिगडी हुई सिद्ध करना आवश्यक होगा। होता प्राय यह है कि जब अन्य सब बहाने असफल सिद्ध हो जाते है तब पागलपनका बहाना किया जाता है। हत्याके उद्देश्यके अभावमें यह तर्क तो किया जा सकता है कि सम्बन्धित व्यक्तिने वास्तवमें हत्या की नही, पर यह उसके साथ उदारताका बर्ताव करनेका कारण नही बन सकता। यदि हत्या हत्या करनेके उद्देश्यसे नही हुई तब तो अपराध और भी बुरा हो जाता है। यदि इस प्रकारके व्यक्तियोको निरपराध मान कर छोड दिया जाता है तो परिणाम यह होगा कि जितना ही बर्बर अमानुषिक अपराध होगा उतना ही अधिक पागलपनके बहाने अपराधियोको दडसे छुटकारा मिलता रहेगा। यदि हत्यारेका पागलपन अस्थायी (Temporary) हो तब तो उसके साथ कुछ नम्र व्यवहार करनेका कारण भी है, उसे फिर भी एक क्षमतावान् व्यक्ति मान कर उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जा सकता है जैसा एक बच्चेके साथ किया जाता है जो बढ कर एक सामान्य मनुष्यमें विकसित होनेके योग्य है। पर यदि वह असाध्य (Incurable) पागल है तब तो वह एक खतरनाक जानवर बन जाता है और इसलिए यह अच्छा होगा कि उसके साथ कानूनको अपनी राह चलने दिया जाय।

सर हर्बर्ट स्टेफन (Sir Herbert Stephen) का मत है कि मृत्यु-दड से हत्या

किए गए व्यक्तिके सम्बन्धियो और मित्रोकी स्वस्थ स्वाभाविक उत्तेजना और उनके विक्षोभको इतना सन्तोष प्राप्त होता है जितना अन्य किसी प्रकारके दडसे नही प्राप्त हो सकता। श्री स्टेफेन मृत्यु-दडको हत्याका एक प्रभाव-पूर्ण निरोधक भी मानते है। उनका कहना है कि बहुतेरी हत्याए व्यवस्थित रूपसे सोच-समझ कर की जाती है। यदि श्री हर्बर्टके मनकी चले तो वह आधुनिक विधानको कुछ इस प्रकार सर्वधित करें कि कुछ अन्य घृणित अपराधोके लिए भी मृत्यु-दडकी व्यवस्था कर दी जाय।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मानव-विकासकी वर्तमान अवस्थामें हत्याके स्पष्ट निश्चित मामलोमें मृत्यु-दड उचित है। फिर भी, हमें इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि मृत्यु-दडको व्यवस्था जहा तक सम्भव हो नियत्रित ही रहे। हत्यासे कम छोटे अपराधोमें मृत्यु-दड देना बिल्कुल गलत है। यह इसलिए कि जब छोटे अपराधो के लिए मृत्यु-दड नही दिया जाता तो छोटे-छोटे अपराधियोके लिए एक बडी सबल प्रेरणा मिलती है कि जहा तक वह अपनेको बचा सकें, मृत्यु-दडसे बचाए।

जहा एक ओर हम कुछ सीमित अपराधोके लिए मृत्यु-दडकी उपयोगिता पर विश्वास करते है वहा दूसरी ओर हम यह भी ठीक समझते है कि अनिर्धारित दडो (Indeterminate Sentences)की प्रथा अधिकाधिक रूपमें प्रचलित हो। मृत्यु-दडके स्थान पर आजन्म कारावासका दड भी एक सस्कृत और भावुक अपराधीके लिए कोई सुधार नही है क्योकि 'एक (मृत्यु-दड)की भाति दूसरे (आजन्म-कैद) में भी व्यक्ति स्वतत्र सामाजिक जीवनसे और उससे उत्पन्न आत्मिक विकासके अवसरोसे एकदम वचित रह जाता है (२६)।' इसलिए स्थायी कारावास (Perpetual imprisonment) का औचित्य केवेल एक ही है, और वह यह कि कुछ समय बाद अपराधीको उसके चरित्रमें सुधार होने पर छोडा जा सके।

३ आत्म-रक्षाका अधिकार (The Right to Self-defence)

प्राय ऐसा माना जाता है कि जीवित रहनेके अधिकारमें जीवन-रक्षाका अधिकार भी सम्मिलित है। किसी मामलेमें आत्मरक्षाके लिए जितनी शक्तिका उपयोग किया गया वह उचित था या नही इसका निर्णय अदालतोके ऊपर छोड दिया गया है। प्रचलित मान्यता यह है कि आत्मरक्षा तो उचित और न्याय्य है पर आक्रमण उचित नही है। इस मान्यतामें कठिनाई यह है कि 'आत्मरक्षा' और 'आक्रमण' जैसे शब्दोकी परिभाषा देना हमेशा आसान नही होता। यह निश्चित करनेके लिए कि कौन न्याय-पक्षमें है 'हमें यह मालूम होना चाहिए कि किसकी रक्षा की जा रही है और किस पर आक्रमण किया जा रहा है (६६ : १२०)।'

इस सम्बन्धमें अब एक प्रश्न युद्धके बारेमें भी पैदा होता है। व्यक्तिगत नागरिकसे युद्ध-क्षेत्रमें अपने प्राणोकी आहुति देनेकी माग करना क्या राज्यके लिए उचित है? क्या यह व्यक्तिके जीवित रहनेके अधिकारमें हस्तक्षेप करना नही है? जैसा कि श्री ग्रीन ने कहा है अधिकाश युद्धोकी उत्पत्ति शासकोकी महत्वाकाक्षाओंसे, राष्ट्रीय या जातीय अहकारसे और आर्थिक लाभके लोभसे ही हुई है। इसलिए राज्योके बीच युद्धको अवश्यम्भावी या अनिवार्य (Inevitable) बतलाना एक व्यर्थकी बात है। 'संघर्ष इसलिए आवश्यक नही है कि राज्योका अस्तित्व है, सघर्ष आवश्यक हो जाते है इसलिए

कि राज्य सार्वजनिक अधिकारोकी प्रतिष्ठा और उनमें परस्पर मेल बैठानेके अपने कर्त्तव्यको पूरा नही करते (२६ २४)।'

हीगेल (Hegel) का दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। उनका कहना है 'युद्धकी स्थितिमें राज्यके व्यक्तित्वकी सर्व-शक्तिमत्ता (Omnipotence) लक्षित होती है।' जाति या राष्ट्रका यह देवत्व व्यक्तियोकी स्वाधीनताको समाप्त कर देता है। केवल देश और पितृभूमिका ही महत्त्व शेष रह जाता है।

श्री बोसाक्वेट (Bosanquet) ने युद्धकी नैतिकताका विचार 'राज्यके अधिकारो' के दृष्टिकोणसे किया है और युद्धको उचित और न्याय्य सिद्ध करनेमें उन्हें कोई सकोच नही है। वह राज्यके व्यक्तित्व और उसके नैतिक उत्तरदायित्व पर विश्वास करते है। वह लिखते हैं कि जब केवल जीवित रहनेका दावा श्रेष्ठतर जीवनकी मागोसे टक्कर लेता है तब 'प्रत्येक व्यक्ति या घटक (Agency) जो वास्तवमें मानव है, चाहे वह व्यक्ति-गत रूपमें हो और चाहे वह सगठित-सामूहिक रूपमें हो, यह जानता है कि उसे क्या करना चाहिए'—युद्ध-क्षेत्रमें उतर पडना चाहिए। श्री बोसाकेटकी सम्मतिमें राज्य 'नैतिक हितोका रक्षक है और उसे अपने कत्तव्यके प्रति ईमानदार होना ही चाहिए (५ २),' चाहे ऐसा करनेमें कुछ व्यक्तियोका अहित भी हो जाय।

इस सम्बन्धमें इतना ही कहना काफी है कि इन सब तर्कों पर वहुत कम विश्वास जमता है। आधुनिक युद्धोमें प्राय शीघ्र और छिपी हुई कार्यवाही होती है। साधारणत यह युद्ध निर्दयता, धोखा और दग़ाबाजीसे भरे हुए होते है। इन युद्धोमें आर्थिक विनाश और जीवन तथा विचारोका दुरुपयोग होता है। व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहोको इन युद्धो से बल-प्रयोग द्वारा स्वार्थ-सिद्ध करनेकी प्रेरणा मिलती है। विशेषकर आधुनिक युद्ध तो अपने अपरिमित विनाशके साधनोके कारण नैतिक दृष्टिसे अत्यन्त निन्द्य, आर्थिक दृष्टिसे व्यर्थ और राजनैतिक दृष्टिसे आत्मघाती होते है। इन सब बातोको देखते हुए, श्री बर्न्स (Burns) के साथ हमें यह कहनेमें कोई सकोच नही है 'प्रजातत्र और युद्धमें कोई सामजस्य—कोई मेल नही बैठता, और इसलिए, प्रजातत्रके आदर्शमें युद्ध-प्रथाका कोई विकल्प (Alternative) मिलना ही चाहिए (१० २६०)।'

आत्मरक्षाकी भावनाके बराबर रखी जाने वाली है मनुष्यकी इन्द्रिय-भावना।

४ सन्तति-उत्पादन और बन्धन-मुक्त जन्मका अधिकार (The Right to Reproduce Life Coupled with the Right to be born without Heavy Handicaps)

इससे यह स्पष्ट जान पडता है कि सन्तति-उत्पादनका अधिकार एक 'प्राकृतिक' अधिकार जैसा ही है। फिर भी यह कोई ऐसा अधिकार नही है जिसकी माग मनुष्य चरम अधिकार (right) के रूपमें कर सके। आधुनिक समाजमें यह माग रखना अनुचित नही है कि सामान्यत समाजके हितके लिए और विशेषकर स्वय सन्तानके हितकी दृष्टिसे ही वशानुगत (Hereditary) और असाध्य पागलो, मूर्खो, अपगो, बहरो और गूगो तथा कुष्ठ-रोगियो आदिको शादी करने और अपनी सख्या वढाने से रोक दिया जाय।

सन्तति उत्पादनके अधिकारके साथ ही साथ एक और ऐसे अधिकार पर भी विचार कर लेना है जिसकी माग अभी तो बहुत अधिक नही की जाती पर किसी भी प्रगतिशील समाजके सगठन

में जिसे किसी न किसी रूपमें स्थान देना ही होगा। यह अधिकार है बन्धन-मुक्त जन्मका अधिकार। बच्चोंको अपने मा-बाप चुननेका कोई अधिकार नहीं होता और इसलिए माता-पिता पर और समाज पर इस बातका उत्तरदायित्व होता है कि किसी भी बच्चेको ऐसा जन्म नहीं मिलना चाहिए जिससे वह समाजके साधारण जीवनमें केवल अपने जन्मके कारण ही अपना उचित स्थान न प्राप्त कर सके।

बच्चोंको इस बातका अधिकार है कि वह अपने जीवनका प्रारम्भ बन्धन-मुक्त रह-कर कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि जो लोग सुन्दर सन्तति उत्पन्न कर लेते है उन्हें अधिक बच्चे पैदा करनेको उत्साहित किया जाय और जो निम्न कोटिके लोग है उन्हें बच्चे पैदा करनेसे रोका जाय, माताओको पेंशन दी जाय, विधवाओको सहायता और ऐसे माता-पिताको पारितोषिक दिया जाय जो अच्छी सख्यामें उन्नतिशील सुन्दर सन्तान उत्पन्न करें, ऐसे बच्चोकी शिक्षाके लिए राज्यसे सहायता मिले, विवाहके लिए उचित अवस्थाका क़ानून द्वारा निर्धारण हो। यह सभी ऐसे साधन है जिनसे इस उद्देश्यकी पूर्ति होती है। इन्ही सुझावोंके अनुरूप प्रोफेसर लारिमर का कहना है' 'जो व्यक्ति अपने बच्चोको मनुष्यके लिए उचित शिक्षाकी व्यवस्था नही कर सकता उसे शादी करनेका अधिकार ठीक उसी प्रकार नही है जिस प्रकार ऐसे व्यक्तिको जो बच्चे उत्पन्न नही कर सकता (६६: १२८)।'

इस स्थितिमें एक व्यावहारिक महत्त्वका प्रश्न यह उठता है कि क्या असाध्य पागलो, मूर्खो, अपगो आदिको स्वतत्र जीवनका अधिकार है? क्या उनके जीवनकी रक्षा ऐसी स्थितिमें भी होनी चाहिए जब कि इसकी कोई आशा न हो कि वह खुद भी अपने जीवन का सही-सही अनुभव कर सकें। श्री ग्रीन का कहना है कि चूकि जीवनका प्रवाह अविच्छिन्न है और किसी भावी जीवनमें भी सुधारकी आशा-सम्भावना है इसलिए ऐसे लोगोको जीवित रहने देना चाहिए। यह तर्क तो युक्ति-सगत नही है क्योकि हमारा सम्बन्ध अभी इस जन्मके विकाससे है न कि किसी भावी जीवनमें होनेवाले विकाससे। हम श्री ग्रीन की इस बातको तो माननेके लिए तैयार है कि बहुतसे मामलोमें यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि पागलपन या मूर्खता असाध्य है या साध्य, पर हम उनके इस तर्कको माननेके लिए तैयार नही है कि ऐसे लोगोको केवल इसलिए जिन्दा रखना और उनकी सेवा करना चाहिए क्योकि ऐसा करनेसे मानव-स्वभावकी कोमल वृत्तियोका विकास होता है। यह एक भ्रम-भरा भावनावाद (Sentimentations) है। फिर भी हमारा विश्वास है कि केवल कौतुकके लिए जीव-हत्याके प्रति हमारी जो घृणाकी भावना है उसे क़ायम रखना चाहिए। यह मानवताके लिए आवश्यक है। इसके साथ ही साथ भावी पीढियोंके हितमें यह भी आवश्यक है कि वशानुगत अपगो, असाध्य रोगियो और जन्मजात अधम कोटिके अपराधियोको शेष समाजसे अलग कर दिया जाय और जहा आवश्यक हो, उन्हें अपनी संख्या बढानेमें असमर्थ बना दिया जाय। जहा आबादी तेजीसे बढ़ रही हो, जैसे भारतमें, वहा यह उचित होगा कि राज्य ऐसे लोगोको दड दे जो अपनी सन्ततिके भरण-पोषणकी चिन्ता किए बिना तेजीसे बच्चे पैदा करते चले जाते हैं।

आधुनिक ससारमें जिस अधिकारका अधिकाधिक रूपमें दावा किया जाना चाहिए वह है काम करनेका अधिकार। यह कहा जाता है कि जीनेके अधिकारका दूसरा पहलू यह है कि व्यक्तिके जीवनको क़ायम रखा जाय जब वह स्वय अपने प्रयत्नोसे वैसा न कर या

रहा हो। यह सिद्ध करनेके लिए किसी तर्ककी आवश्यकता तो है नही कि प्रत्येक व्यक्तिके लिए समाजमें अपना कर्त्तव्य पूरा करनेमें जीवनके कुछ आवश्यक पदार्थोकी जरूरत होती है। उन पदार्थोंके विना मनुष्य बहुत जल्दी बर्बर पशुओकी कोटि में आ जायगा। समाजवादियोका दावा है कि मजदूरको काम पानेका अधिकार है और जब उसे बेकार कर दिया जाता है तब उसके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व समाज पर होना चाहिए। क्या यह दावा उचित है?

५ काम पानेका अधिकार और जीविकाका अधिकार (The Right to work and the Right to Maintenance)

इतना तो स्पष्ट है कि समाजको किसी भी सदस्यको भूखो नही मरने देना चाहिए। मनुष्यने जो वैज्ञानिक उन्नति और आविष्कार किए है और समझदार लोगोमें जो एक सामाजिक भावना जाग उठी है उन सबको देखते हुए धरती परसे भुखमरीको दूर करना तो अब सम्भव होना ही चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि और तमाम बातोंके साथ-साथ यह जरूरी होगा कि न्यूनतम वेतनके सम्बन्धमें क़ानून लागू हो, सामाजिक सुरक्षा (Social Security) जैसे साधनों द्वारा समाजके सदस्योमें सम्पत्तिका फिरसे बटवारा हो, विरासत और उत्तराधिकारका कड़ा नियन्त्रण हो, धनी और आलसी व्यक्तियों की प्रथाको निरुत्साहित किया जाय और दिखावट और दुरुपयोगको रोका जाय।

जहा तक ग़रीबी और बेकारी समाजके दोषोसे उत्पन्न हो, वहा यह समाजका ही कर्तव्य है कि वह अपना सगठन कुछ ऐसे ढगसे करे कि नागरिकोका कल्याण-साधन हो सके। क्योकि, जैसा श्री लास्की ने कहा है 'या तो राज्य अपने नागरिकोंके हितमें औद्योगिक शक्तिका नियन्त्रण स्वय करे या फिर औद्योगिक शक्ति ही उद्योगपतियोंके हितमें राज्यका नियन्त्रण करेगी (४७ १०६)।' मजदूरोके आलस्य या निकम्मेपनसे उत्पन्न होने वाली गरीबी और बेकारीका विचार दूसरे ढगसे किया जाना चाहिए और समाज जिस गरीबी और बेकारीके लिए ज़िम्मेदार है उसका विचार दूसरे ढगसे करना चाहिए।

आर्थिक क्षेत्रमें अब वह पुरानी 'होइ है सोई जो राम रचि राखा' वाली नीतिकी कोई क़ीमत नही रह गई। श्री लास्की की शब्दावलीमें यह कहना चाहिए कि हमें अब अट्ठारहवी सदीके पुलिस-राज्यके स्थान पर बीसवी सदीके सामाजिक सेवामूलक राज्यकी स्थापना करनी होगी। अब राज्यको अधिकाधिक रूपमें यह उत्तरदायित्व लेना होगा कि जो समर्थ शरीरके नागरिक काम करनेके इच्छुक है पर काम पाते नही उनके लिए कामका प्रबन्ध करे और जो वृद्ध और अपग काम करनेमें असमर्थ है उनके लिए कुछ दूसरा प्रबन्ध करे। जब राज्य पर यह ज़िम्मेदारी होगी कि वह अपने नागरिकोंके लिए कामकी व्यवस्था करे तब नागरिकोको भी इस बातके लिए तैयार रहना होगा कि राज्य जो भी काम दे सके उसे करे। श्री लास्की लिखते है 'एक प्रधान मन्त्रीको, पद-च्युत होनेके बाद, इस बात का अधिकार नही है कि वह अपने लिए प्रधान मन्त्रीके से कार्यकी माग करे। समाज प्रत्येक व्यक्तिके मनचाहे कार्यकी व्यवस्था नही कर सकता अपना जीवन चलाने लिए समाजको कुछ पदार्थोकी पूर्ति और सेवा-कार्यकी आवश्यकता होती है। काम पानेके अधिकारका अर्थ इससे अधिक कुछ नही हो सकता कि उन पदार्थोंके उत्पादन और सेवा-कार्यके किसी अशकी पूर्तिमें व्यक्ति काम करता रहे (४७ १०६)।'

जब व्यक्ति बेकार कर दिया जाता है और कुछ समय तक उसे कोई काम नही मिल पाता तो उस समय उसके भरण-पोषणका उत्तरदायित्व राज्य पर हो जाता है। प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्यमें एक बेकारोका सहायक कोष होना चाहिए जिसमें मजदूर लोग स्वय कुछ अश जमा करें। श्री लास्की की सम्मतिमें 'बेकारीके खिलाफ बीमा करानेकी नीति राज्यकी धारणाका एक अभिन्न अग है (४७:१०६)।' 'अपनी चरम पूर्णताकी प्राप्ति के लिए मनुष्यको काम करना होगा, और बेकारीकी स्थितिमें तब तकके लिए खाने-पीनेकी व्यवस्था होनी ही चाहिए जब तक काम फिरसे न मिल जाय (४७·१०६)।' पर हमारी सम्मतिमें ऐसी सहायता या ऐसा सहायक कोष उचित नही जचता जिसमें सहायता पाने वालेका खुद अपना कोई योग न हो। इससे, निश्चित है, भिखमगी बढेगी और मजदूर-वर्गका नैतिक पतन होगा।

'मनुष्यको केवल काम पानेका ही अधिकार नही है, उसे अपनी मेहनतके लिए मुनासिब तनख्वाह या पारिश्रमिक पानेका भी अधिकार है (४७ १०७)। अर्थात् मजदूर को ऐसा या इतना वेतन पानेका अधिकार है जो रचनामूलक (Creative) नागरिकता' की सिद्धिके लिए आवश्यक हो। सभी मनुष्योको भोजन, वस्त्र और मकानकी जरूरत होती है, कुछ निश्चित अवकाश, शिक्षा और सास्कृतिक विकासके लिए और व्यक्तिमें जो कुछ भी सर्वोच्च है—सबसे सुन्दर है उसकी सिद्धिके लिए उचित अवसरकी आवश्यकता होती है। किसी भी व्यक्तिको इस स्तरसे नीचे नही गिरने देना चाहिए। श्री लास्की का कहना है 'उचित वेतनके अधिकारका यह अर्थ नही है कि सबकी आमदनी बराबर हो, पर इसका यह अर्थ अवश्य है कि कुछ लोगोके पास आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति इकट्ठी होनेसे पहले सब लोगोंके लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाने चाहिए (४७: १०९)।' इसलिए सबसे पहले यह जरूरी है कि जनता 'अपने इस अधिकारका अनुभव करे कि अपने परिश्रमके लिए उचित वेतन पाना उसका हक है (५५ १३५)।'

(ख) स्वाधीनताका अधिकार (The Right of Liberty)

१. स्वाधीनताका अर्थ.

सभी युगोमें स्वाधीनताके आदर्शने मनुष्य पर बडा प्रभाव डाला है। स्वाधीनताके नाम पर शूरताके भी बडे-बडे काम किए गए हैं और अकथनीय घृणित अपराध भी। आज भी ऐसे बहुत कम आदर्श हैं जिनका प्रभाव लोगो पर इतना अधिक और शीघ्र पडता हो जितना स्वाधीनताके आदर्शका पडता है। स्वाधीनता मनुष्यके जीवनका विशिष्ट गुण है।

पहले जो कुछ लिखा जा चुका है उससे इतना तो स्पष्ट है कि समाजमें कही भी निरकुश स्वाधीनता या स्वच्छन्दता नही हो सकती। केवल एक ही ऐसा अधिकार है जो साधारण मनुष्यको पूर्ण रूपसे प्राप्त है और वह है अपने व्यक्तित्वके बाधा-बन्धन-हीन परिपूर्ण विकासका अधिकार। स्वाधीनताका अधिकार इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिए है। किसी भी व्यक्तिको इस बातका अधिकार नही है कि वह परिणामोकी उपेक्षा करके जो मनमें आए, कर उठाए।

नकारात्मक (Negative) अर्थमें स्वाधीनताका मतलब है नियन्त्रणका अभाव।

पर इस परिभाषामें यह नही कहा गया कि इस प्रकारकी स्वाधीनता अच्छी है या बुरी। आवश्यकता है भावात्मक या धनात्मक (Positive) स्वाधीनताकी जिसका अर्थ है आत्मविकास (Self-development) का पूर्ण अवसर या मनुष्यके व्यक्तित्वके निरन्तर विकासका अवसर। श्री लॉस्की कहते हे. 'इसका (स्वाधीनताका) अर्थ है विकास करनेकी शक्ति, बाहरसे अन्य लोगो द्वारा लादे गए विधि-निषेधोसे मुक्त रहकर अपनी पसन्दके जीवनका चुनाव करनेकी शक्ति (४६ ११)।' स्वाधीनता वह परिस्थिति या शर्त और प्रत्याभूति या गारटी (Gaurantee) है जिसमें व्यक्तिको अपने कार्य-कलापोके सम्बन्धमें आत्मनिर्णयका पूरा अधिकार रहता है।

'स्वाधीनता' शब्दकी तमाम व्याख्याए हैं और हर मोड पर वह नए-नए अर्थोंका द्योतन करता है। पुराने समयमें, जैसा कि श्री जे० एस० मिल (६१) ने कहा है, स्वाधीनताका अर्थ था राजनैतिक शासकोकी स्वेच्छाचारिताके विरुद्ध सुरक्षा। समूचे राजनैतिक सगठन को चालू रखनेके लिए शासकोंकी आवश्यकता चाहे जितनी रही हो पर उनके स्वार्थोंको हमेशा जनताके हितोका विरोधी माना गया और इसीलिए जनताकी स्वाधीनताका अर्थ था राजशक्तिको नियन्त्रित और सीमित रखना। इस नियत्रणके फलस्वरूप कुछ राजनैतिक स्वाधीनताए और मुक्तिया (Immunities) स्वीकार की गईं और कुछ वैधानिक नियत्रणोकी प्रतिष्ठा हुई। कुछ समय बाद यह समझा गया कि राज्यके न्यायपाल या दड-नायक (Magistrate) के पदो पर जनताके प्रतिनिधियोका होना उचित व आवश्यक है। जब इससे भी काम न चला तब शासक और जनताके बीच एकरूपता स्थापितकी गई और शासकोके स्वार्थो और उनकी इच्छाओको जनताके हितो और जनता की इच्छाओके अनुरूप बनाया गया। इस प्रकार राज्यकी सत्ता और शक्ति राष्ट्र या जाति की सत्ता और शक्ति बन गई और व्यावहारिक सुविधाके लिए उसका केन्द्रीकरण हुआ। सक्षेपमें यह कहें कि 'स्वाधीनता' का अर्थ हो गया सरकारका लोकप्रिय बनाया जाना।

पर बहुत जल्दी यह अनुभव किया गया कि स्वाधीनता इतने पर भी मृग-मरीचिका ही रह गई और 'बहुमतकी निरकुशता' की असगत स्थिति उत्पन्न हो गई। और यह निरकुशता निश्चित रूपसे व्यक्तिगत शासककी स्वेच्छाचारिताकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और घातक सिद्ध हुई। और एक बार फिर प्रधानता प्राप्त करनेके इसके प्रयत्न में एक नवीन प्रकारकी स्वाधीनताका उदय हुआ जिसे व्यक्तिगत स्वाधीनता कहते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्धमें श्री मिल ने इसी स्वाधीनता पर विचार किया है। उनका प्रधान उद्देश्य है समाजके आक्रमणोके विरुद्ध व्यक्तिकी रक्षा करना—उसकी विचित्रताओंकी झक और सनककी भी रक्षा करना।

२ स्वाधीनताके विभेद (Types of Liberty).

'प्राकृतिक स्वाधीनता' की धारणा जगली जीवनकी स्वाधीनताकी ही एक सभ्य सस्कृत अभिव्यक्ति है। जो लोग 'प्राकृतिक स्वाधीनताके पोषक है उनका कहना है कि मनुष्य प्रकृतिसे ही स्वाधीन है और सभ्यता ही उसके बढ़ते हुए बन्धनोके लिए उत्तरदायी है। वह श्री रूसो के इस कथनका समर्थन करते हे 'मनुष्य जन्मसे तो स्वाधीन उत्पन्न होता है, पर सब कही वह बन्धनोमें जकडा है।' पर ये लोग यह भल जाते हैं कि

१ प्राकृतिक स्वाधीनता (Natural Liberty)

रूसो ने प्राकृतिक अवस्था और नागरिक राज्य दोनोके पक्ष और विपक्षके सभी तर्कों पर विचार करनेके बाद स्वय ही नागरिक राज्यके पक्षमें अपनी सम्मति दी है। प्राकृतिक अवस्थामें मनुष्य अपनी शारीरिक प्रवृत्तियोका दास रहता है जब कि एक नागरिक राज्य में वह एक विचारवान् प्राणी बन जाता है जो न्याय और नैतिकताके विधानोका शासन मानता है। 'सामाजिक अनुबन्धमें व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वच्छन्दताको और जो कुछ भी वह हथिया ले उस पर अपने निरकुश अधिकारको खो देता है, इसके बदलेमें उसे प्राप्त होती है नागरिक स्वाधीनता और अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व (७६, पहली पुस्तक, अध्याय ८)।'[1] इस प्रकार निरकुश स्वाधीनता तो निरी अराजकताके ही समान है।

प्रत्येक साधारण मनुष्य व्यक्तिगत स्वाधीनताका इच्छुक होता है। वह चाहता है कि अपनी इच्छाके अनुकूल अपने जीवनकी व्यवस्था बनावे। अपने इस अधिकारको वह बहुत अधिक महत्त्व देता है कि अपनी शक्तियोका उपयोग और अपने जीवनकी सामान्य व्यवस्थाका निश्चय वह स्वय करे। वह यह नही पसन्द करता कि अपने मनचाहे ढगसे अपनी आजीविकाका जो रास्ता वह उचित समझे उस पर चलनेकी उसकी स्वाधीनतामें अनुचित हस्तक्षेप किया जाय। जीवनके अपने विशिष्ट ढग, अपनी अभिरुचि और अपने कार्य-व्यापारमें हस्तक्षेप विशेष रूपसे बुरा मालूम होता है खासकर जब यह अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि, सामाजिक व्यवस्था और सार्वजनीन नैतिकतासे किसी प्रकार भी प्रतिकूल नही होती। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें कानूनके बल मद्य-निषेध करनेका अनेक ऐसे व्यक्तियोने विरोध किया जो हमेशा कानूनके हिमायती और हमराह रहे। कारण यह था कि ऐसे कानूनको व्यक्तिगत स्वाधीनतामें अनुचित हस्तक्षेप माना गया। इगलैडमें प्रत्येक व्यक्ति अपने घरको अपना गढ मानता है जिसका अतिक्रमण कोई भी बाहरी व्यक्ति नही कर सकता। राज्यके अधिकारी भी, सामान्य कानूनका अनुसरण करनेके सिवा, बल पूर्वक उसके मकानमें प्रवेश नही कर सकते।

२. व्यक्तिगत स्वाधीनता (Personal Liberty)

श्री मिल व्यक्तिगत स्वाधीनताको इतना अधिक महत्त्व देते है कि वह व्यक्तिको इस बातका भी अधिकार देनेके समर्थक बन जाते है कि वह अपने जीवनके साथ जैसा चाहे प्रयोग करे बशर्ते कि उसके इन प्रयोगोका दूसरो पर कोई प्रत्यक्ष और निश्चित बुरा प्रभाव न पडे। मिल तो यहा तक तैयार है कि परिणामोको ध्यानमें रखते हुए लोगोको फिजूल-

---

[1] रूसो सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract), पहली पुस्तक, अध्याय ८। श्री ए० जी० कार्लाइल (Political Liberty) (राजनैतिक स्वाधीनता, पृष्ठ १८२) का कहना है कि रूसो की पहली महत्वपूर्ण देन है 'स्टोइक दार्शनिको और ईसाई-धर्मगुरुओ की इस पुरानी धारणाका समर्थन कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें लोग सुखी और भोली-भाली अराजकताकी स्थितिमें रहते थे।' प्राकृतिक अवस्थासे नागरिक समाजकी स्थितिमें आने पर कोई खेद प्रकट करनेके बजाय रूसो राजनैतिक बन्धनको उचित मानते है क्योकि कार्लाइलके शब्दोमें, 'मनुष्यको मनुष्य बनानेके लिए राज्यके सगठनमें अपने सगी-साथियोके विचार और विवेकपूर्ण नियन्त्रणके अधीन रहना ही चाहिए।'

खर्ची, बदमाशी और शराबखोरी आदिके भी प्रयोग करनेकी अनुमति दी जाय।

श्री मिल की ही भाति श्री बर्ट्रेंड रसल (Bertrand Russell) भी व्यक्तिगत स्वाधीनताको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इसे वह सर्वोत्तम राजनैतिक सद्गुण मानते हैं। इस दृष्टिकोणका समर्थन करनेवाले विचारक व्यक्तिगत स्वाधीनताको राजनैतिक अधिकारोसे अधिक मूल्यवान् मानते है, क्योकि, उनकी सम्मतिमें, विचार, भाषण और प्रकाशन आदिकी स्वाधीनता व्यक्तिके वास्तविक विकासके लिए मताधिकार या पद-प्राप्तिके अधिकार आदिसे कही अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक अराजकतावादकी विचारधाराके पीछे व्यक्तिगत स्वाधीनताका यही दृष्टिकोण व्याप्त रहता है। श्री रूसो की सटीक भाषामें, 'स्वाधीनताका त्याग करना तो मनुष्यताका त्याग करना है, मनुष्यताके अधिकारो और कर्तव्योका भी समर्पण कर देना है।' आज दासताकी सब कही निन्दा की जाती है क्योकि दासता मनुष्य-जीवनके समूचे उद्देश्यको ही नष्ट कर देती है और मनुष्यको 'एक ज़िन्दा औज़ार' बना देती है।

३ राष्ट्रीय स्वाधीनता (National Liberty)

यद्यपि राष्ट्रीयताकी धारणाका उदय अपेक्षाकृत रूपमें आधुनिक ही है, फिर भी, बहुत पुराने ज़मानेसे ही लोग अपने-अपने वर्ग या समुदायकी सुरक्षाके लिए अपने प्राणका होम देनेके लिए तैयार रहे है। अपने देशका प्यार मनुष्यके हृदयमें बहुत गहरा जमा हुआ है और, सकीर्ण अर्थोमें भी, देश प्रेम मनुष्यके हृदयमें उन भावनाओको उत्पन्न करता है जो अन्य किसी आदर्शसे नही उत्पन्न हो पाती। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वाधीनताके रूपमें स्वाधीनताके आदर्शने ससारके इतिहासमें बडा महत्त्व-पूर्ण काम किया है। आज भी मानव-समाजमें स्वाधीनता-सग्रामोकी बडी प्रशसा होती है यद्यपि अब यह धारणा बढती जा रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगडोको सुलझानेके लिए युद्ध अच्छा साधन नही है। जब तक सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रीय या जातीय राज्योकी धारणा प्रबल है और जब तक अन्तर्राष्ट्रीयताका आदर्श एक सद्-आकाक्षासे आगे नही बढ पाता, तब तक दूसरे राज्योके नियत्रणसे छुटकारा स्वाधीनताकी परिपूर्ण अभिव्यक्तिके लिए अनिवार्य है।

४ वैधानिक स्वाधीनता (Constitutional Liberty)

बीसवी शताब्दीमें स्वाधीनताका अर्थ स्व-शासन (Self Government) ही नही जन-प्रिय शासन (Popular Government) भी है। 'राष्ट्रीय स्वाधीनता' अब अधिकाधिक रूपमें प्रजातत्र या लोक-प्रिय सरकारका पर्यायवाची बनता जा रहा है। लोगोमें इस बात की कोई रुचि नही है कि निरकुश विदेशी शासनको हटा कर उसके स्थान पर अपने ही देशवासियोका निरकुश-शासन स्थापित कर दिया जाय। इस प्रकार अब स्वाधीनताका एक तात्त्विक रूप हो गया है ऐसा शासन जो समूची जनता द्वारा निर्वाचित हो और उसके प्रति उत्तरदायी हो, और इसीको हम 'वैधानिक स्वाधीनता' कहते है। श्री लास्की का कहना है 'एक अधिकार-विधेयक (Bill of Rights) स्वाधीनताके सरक्षणो (Safeguards) को वैधानिक रूप दे देता है और इस प्रकार लोगोको एक ऐसी वेदी पर आहुति देनेका आमत्रण देता है जिसके अस्तित्वका भान उन्हें अन्यथा होता ही नही (४० ५२-५३)।'

नागरिक स्वाधीनताकी सीधी-सी परिभाषा हो सकती है वह स्वाधीनता जो हमें समाजमें प्राप्त होती है। इसमें स्वतत्र रूपसे कार्य करनेकी स्वाधीनता और हस्तक्षेपसे मुक्ति शामिल रहती है (२४ १११)।' 'इसमें वह अधिकार और विशेषाधिकार सम्मिलित रहते हे जिन्हें राज्य उत्पन्न और लागू करता है, जैसे'

५. नागरिक स्वाधीनता (Civil Liberty)

(क) व्यक्तिकी स्वाधीनता (Freedom of the Person),
(ख) कानूनके सम्मुख समानता (Equality before the law),
(ग) वैयक्तिक सम्पत्तिकी सुरक्षा (Security of private property),
(घ) विचार और अभिव्यजनाकी स्वाधीनता (Freedom of opinion and of its expression), और
(ङ) विवेक-स्वातत्र्य (Freedom of Conscience)।

सक्षेपमें यह स्वाधीनताके शारीरिक और मानसिक जोर-दबावके विरुद्ध सरक्षण है, यह दबाव चाहे किसी व्यक्तिकी ओरसे पड रहा हो चाहे सरकारकी ओरसे व्यक्तिगत स्वाधीनता इसमें शामिल रहती है।

नागरिक स्वाधीनताके विरुद्ध राजनैतिक स्वाधीनताका अर्थ है राज्यकी व्यवस्था में व्यक्तिका भाग या कमसे कम राज्यकी शक्ति किस ढगसे उपयोगमें लाई जाय इसके निर्धारणमें व्यक्तिका भाग। जैसा कि श्री लास्की ने कहा है इसका अभिप्राय यह है कि राज्यके मामलो में व्यक्ति सक्रिय रहे। विशेषकर इसका अर्थ ऐसे अधिकारोसे जैसे मताधिकार और सार्वजनिक पदोके लिए खडे होनेका अधिकार।

६ राजनैतिक स्वाधीनता (Political Liberty)

ऊपर बताई गई सभी प्रकारकी स्वाधीनताओके होते हुए भी जब तक जीवनका नियत्रण करने वाली आर्थिक परिस्थितियो पर व्यक्तिका अधिकार नही है तब तक वह निरा दास ही बना रहेगा। आधुनिक युगमें श्रमिक जनताकी दासताके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा और बहुत अधिक कहा गया है। जब श्रमिक वर्ग अपनी दशा पर विचार करता है तब उसके मस्तिष्कमें न तो राजनैतिक स्वाधीनताको, न नागरिक स्वाधीनताको और न वैधानिक स्वाधीनताको ही सबसे अधिक महत्त्व मिलता है। वह महत्त्व देता है आर्थिक स्वाधीनता को और वैयक्तिक स्वाधीनताको, ऐसी स्वाधीनताको जिसमें उसे इस बातका भरोसा रहे कि उसकी मेहनतकी उचित मजदूरी उसे मिल जायगी। यह ऐसी स्वाधीनता है जिस में गला घोटने वाली प्रतियोगिता और असम्बद्ध उद्योगोका अन्त हो जाता है और उत्पादन तथा व्यापारके ऐसे कृत्रिम विधानोकी समाप्ति हो जाती है जिनसे मजदूरोका नैतिक पतन होता है। यह एक ऐसी स्वाधीनता है जिससे ऐसी सुविधामूलक औद्योगिक पद्धतिका विकास होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति वही उत्पन्न करेगा जिसे उत्पन्न करनेके लिए वह सबसे अधिक योग्य है और समाजको जो कुछ वही उत्पादन करेगा उसकी आवश्यकता होगी। और जब तक यह स्वाधीनता नही प्राप्त हो जाती तब तक यह नही कहा जा सकता कि हमने स्वाधीनताकी समस्या पूर्णरूपसे हल कर ली है। श्री टॉनी (Tawney) का कहना है कि आर्थिक स्वाधीनताका अर्थ है ऐसी आर्थिक विषमता

७. आर्थिक स्वाधीनता (Economic Liberty)

का अभाव जिसका उपयोग आर्थिक दबावके रूपमें किया जा सके। श्री लास्की के अनुसार इसका अर्थ है उद्योगोंके क्षेत्रमें प्रजातत्रकी प्रतिष्ठा (४०.७२)।[1]

८ नैतिक स्वाधीनता (Moral Liberty)

ऊपर जिनकी चर्चा की गई है वह स्वाधीनताए व्यक्तिको प्राप्त रहते हुए भी यदि उसे नैतिक स्वाधीनता नही प्राप्त है तो उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। एक नैतिक दास वह व्यक्ति कहलाता है जो स्वय अपनी ही विवेकशील सार्वभौम सत्ताके विरुद्ध सोचता और काम करता है। यदि मै अपनी सावभौम अहताको समझ पाता हू, उसे सबमें देख पाता हू, यदि स्वार्थहीन विवेकसे मुझे कार्य करनेकी प्रेरणा मिलती है और यदि प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तित्व का सच्चा सम्मान मेरे हृदयमें है तो मेरी नैतिक स्वाधीनता निश्चय ही परिपूर्ण है। पर यदि, इसके विपरीत, मै अपनी सार्वभौम अहताको अस्वीकार करके अपने व्यक्तित्वको कुचलता रहता हू—उसे बौना बनाता चला जाता हू और श्री काट के शब्दोमें, 'अपने विवेककी स्वायत्त शक्ति' का निरादर करता हू तो मै मानव-प्रकृतिके सर्वाधिक तात्विक अशमें दास ही बना हुआ हू। नैतिक स्वाधीनता वह पत्थर है जो समूची नीवको मजबूत बनानेके लिए अनिवार्य है। पर मैकियावेली जैसे विचारकोने इसीकी उपेक्षा की है। इसके बिना सामाजिक और राजनैतिक स्वाधीनताका कोई विशेष मूल्य नही रह जाता। श्री टी० एच० ग्रीन और बोसाके (T H Green and Bosanquet) ने इस पर काफी विचार किया है। श्री हीगेल (Hegel) विशेष रूपसे और आदर्शवादी विचारक सामान्यत इस मतके पोषक है कि ऊपरकी व्याख्याके अनुकूल स्वाधीनता राज्यमें वाह्य रूपमें स्वय प्राप्त हो जाती है।

३ स्वाधीनता और अधिकार-सत्ता (Liberty and Authority)

स्वाधीनता और अधिकार सत्ताके सम्बन्धमें हमारी स्वाभाविक धारणा यह है कि

---

[1] श्री सी० ई० एम० जोड (C E M Joad) ने अपनी रचना 'आधुनिक युगमें स्वाधीनता' (Liberty Today) में इस महत्त्वपूण सत्यकी ओर ध्यान आकर्षित किया है कि आर्थिक न्यायके जोशमें हमें राजनैतिक स्वाधीनताकी बलि न दे देना चाहिये, जैसा कि कुछ समाजवादी करते जान पडते है। वह यह स्वीकार करते है कि आर्थिक सरक्षणके अभावमें राजनैतिक स्वाधीनता अर्थहीन हो जाती है, पर साथ ही वह यह भी कहते है कि 'राजनैतिक स्वाधीनता स्वय अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है।' उनका तर्क है कि 'आर्थिक सरक्षण अच्छी चीज है पर इसका यह अर्थ नही कि हम यह भूल जायें कि राजनैतिक स्वाधीनता भी एक अच्छी चीज है और न यही उचित है कि चूकि आर्थिक स्वाधीनता हमें नही प्राप्त हो सकी इसलिए हम राजनैतिक स्वाधीनताका भी तिरस्कार कर दें (पृ० ७२)।' तानाशाही राज्योमें व्यक्तिगत स्वाधीनता पर लगाई जाने वाली अनेक रोकोसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यक्तिके लिए अपनी राजनैतिक स्वाधीनता कितनी मूल्यवान् और प्रिय वस्तु होती है। और इन्ही राजनैतिक अधिकारो के द्वारा ही—अपने सगठन और मजदूर-सघ बनाने तथा गुप्त मतदानके अधिकारोंके माध्यमसे ही—श्रमिक वर्गको एकके बाद दूसरी सुविधा—सहूलियत प्राप्त हो सकी है।

दोनो एक दूसरेसे भिन्न और पृथक् है। अठारहवी शताब्दीका व्यक्तिवाद राज्यके सभी कामोको व्यक्तिकी स्वाधीनताका उल्लघन मानता था। इससे इसी धारणाकी अभिव्यक्ति होती थी। पर यह बहुत ही भ्रम भरा विचार है। अनुभवसे यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो गया है कि स्वाधीनता की रक्षा और प्रतिष्ठाके लिए किसी न किसी रूपमें अधिकार-सत्ताकी बहुत आवश्यकता है। जैसा कि श्री विलोबी (Willoughby) ने कहा है स्वाधीनताकी स्थिति इसीलिए रह पाती है कि नियन्त्रण भी है। एक सभ्य व्यक्तिके लिए एक ही प्रकारकी स्वाधीनता सम्भव है और वह है सुनिश्चित और सीमित स्वाधीनता। प्रत्येक व्यक्तिको यह स्वाधीनता देना कि वह जो मनमें आए करे अराजकतावाद है, 'प्राकृतिक स्थिति' की ओर वापस लौटना है। प्रोटेस्टैंट सुधारवादी आन्दोलनने यदि पोप की अधिकार-सत्ताको समाप्त कर दिया तो उसी स्थान पर बाइबिलकी अधिकार-सत्ताको प्रतिष्ठित कर दिया। इतिहाससे यह स्पष्ट है कि लोग यदि एक प्रकारकी अधिकार-सत्ता से अपनेको मुक्त करते है तो दूसरे प्रकारकी कोई अधिकार-सत्ता स्वीकार कर लेते है।

स्वाधीनता और अधिकार-सत्ता एक दूसरेके विरोधी होनेके बजाय एक दूसरेके सम्पूरक और परिपूरक है। बहुत पहले श्री लॉक ने कहा था, 'जहा कोई विधान नही है वहा कोई स्वाधीनता नही हो सकती।' श्री हॉकिग (Hocking) का तो यहा तक कहना है कि व्यक्ति जितनी ही अधिक स्वाधीनताकी इच्छा करेगा उतना ही अधिक उसे अपने आपको अधिकार-सत्ताके अधीन रखना होगा। यदि कोई सगीतज्ञ बनना चाहता है तो उसे पहले सगीतके विधानको समझना होगा, इसी प्रकार यदि वह अपने विचार दूसरो पर व्यक्त करना चाहता है तो उसे कोई भाषा पढनी होगी, उसके व्याकरणके नियमोको जानना होगा। इतना कर लेनेके बाद ही वह स्वाधीन हो पाता है। श्री लास्की का कथन सत्य है कि कुछ सीमित नियन्त्रण व्यक्तिकी स्वाधीनता पर यदि रहते है तो इससे उसके सुखकी अभिवृद्धि ही होती है।

जैसा कि श्री हॉकिग ने कहा है हममें से बहुतसे लोगोकी धारणा में स्वाधीनताका अर्थ है विशेषज्ञता और विशेषज्ञता ही अधिकार है। साराश यह है कि बिना अधीनताके स्वाधीनताकी स्थिति नही है। एक मानव-मस्तिष्क अपनेसे श्रेष्ठतर मस्तिष्ककी अधीनता मानना ही अधिकार है। अपने क्षेत्र या विषयका विशेषज्ञ हमारे लिए एक अधिकारी व्यक्ति होता है। हममेंसे बहुतोके लिए स्वाधीनताका अर्थ होता है उन कामो मे एकाग्रचित्त होकर सलग्न होनेकी आज़ादी जिन कामोको हम सबसे अच्छा कर सकते है। व्यक्तिको अपनी स्वाधीनताका मोल देना होता है और वह मोल है उन क्षेत्रोमें अधिकारीकी अधीनता स्वीकार करना जिन क्षेत्रोमें वह स्वय विशेषज्ञ होनेका दावा नही करता। इसलिए स्पष्ट है कि विशेषज्ञता स्वाधीनताके समर्पणकी माग करती है। इस प्रकार अन्तिम रूपमें स्वाधीनता और अधिकार-सत्ता एक दूसरेके विरोधी होनेके बजाय घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित है।

अधिकार-सत्ताके सम्बन्धमें साधारण रूपसे जो कुछ कहा गया वह व्यक्ति और राज्यके पारस्परिक सम्बन्धमें भी पूरी तरहसे लागू होता है। राज्य हमारी सम्मति या इच्छाको कार्यान्वित करनेके लिए नौकरकी भाँति है। जिस हद तक राज्य इस इच्छाको वफादारीके साथ पूरा करता है उस हद तक हम स्वाधीन है और हमें तात्त्विक राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त है।

राजनीतिके क्षेत्रमें स्वाधीनता और अधिकार-सत्ताके बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह इस कथनसे भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु-सत्ता स्वाधीनताकी विरोधिनी होनेके बजाय उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। विधान या कानूनके अभावमें सच्ची स्वाधीनताकी कोई स्थिति ही नही है। श्री रिषी (Ritchie) ने ठीक ही कहा है. 'आत्मविकासके लिए प्राप्त होने वाले महत्त्वपूर्ण अवसरके रूपमें स्वाधीनता विधान या कानूनकी देन है, वह ऐसी वस्तु नही है जिसका अस्तित्व राज्यके कार्य-क्षेत्र से परे और अलग रह सके (६६ १३९-१४०)।' सार्वजनिक हितमें कुछ नियत्रण आवश्यक है। पर उन नियत्रणोका प्रयोग निष्पक्ष ढगसे होना चाहिए और समाज की दृष्टिमें उनका औचित्य भी सिद्ध होना चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो स्वाधीनता और अधिकार-सत्ता एक दूसरेके विरोधी हो जाते है। जब तक लोगोके मनमें यह भावना बनी रहती है कि कानून एक बाहरसे दबाव डालनेका साधन है जिसका निर्माण और उपयोग किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेषके लाभके लिए किया गया है तब तक बराबर असन्तोष और दु ख बना रहेगा जिसका परिणाम कभी-कभी विद्रोहके रूपमें प्रकट होगा। इसलिए, यदि स्वाधीनता और अधिकार-सत्तामें सामजस्य स्थापित करना है तो जिस अधिकार-सत्ता का अनुगामी और अधीनस्थ हमें बनाना हो उसे उचित और न्याय-पूर्ण होना चाहिए और उसकी अधीनता भी स्वेच्छाजन्य होनी चाहिए। श्री रूसो के शब्दोमें 'अपने ही बनाए हुए कानूनकी अधीनता स्वाधीनता ही है (६७ १९)।' श्री ग्रीन का कहना है कि मनुष्य जब ऐसे विधानका पालन करता है जिसको उसने स्वय बनाया है, और उसका पालन इसलिए करता है कि ऐसा करनेमें उसे अपनी पूर्णता दिखाई देती है तब वह स्वाधीन होता है। श्री लास्की के इस कथनमें कि 'कानून केवल आज्ञा नही है, वह अपील भी है (४९-७१)' यही बात व्यक्त की गई है।

स्वाधीनता और क़ानून (Liberty and Law)

इस सबका यह अर्थ नही है कि किसी भी कानूनके लागू किए जानेसे पहले सभी नागरिकोकी स्वेच्छा जन्य स्पष्ट स्वीकृति आवश्यक है। व्यक्तिको इस बातका कोई अधिकार नही है कि वह हर ऐसे कानूनकी अवहेलना करे जिसकी महत्ता या उपयोगिता पर उसे व्यक्तिगत रूपमें विश्वास न हो। ऐसे अधिकारको स्वीकार करनेका अर्थ होगा अराजकताको न्योता देना। श्री हर्बर्ट स्पेंसरके राजनैतिक सिद्धान्तने यह सिद्ध कर दिया है कि शाब्दिक स्वीकृति अव्यवहार्य है, क्योकि यह स्पष्ट है कि सभी बातो पर सर्वसम्मत स्वीकृति नही प्राप्त की जा सकती। शाब्दिक स्वीकृतिका अर्थ है बहुमत द्वारा अल्पमत पर दबाव डालना। पर इस प्रकारके दबावको राजनीतिके किसी भी स्वस्थ सिद्धान्तमें उचित नही माना जा सकता। शाब्दिक स्वीकृतिकी अव्यवहार्यताको समझ कर ही कुछ विचारक शक्तिको राजनैतिक आज्ञानुवर्तिता या अधीनताका आधार मानते है और कुछ लोगोने, श्री मिल की भाति, एक समझौतेका मार्ग निकाला है। जब तक हम सक्रिय स्वीकृति ((Active Consent) या लोक-सम्मतिका विचार करेंगे तब तक राजनैतिक अधीनता और स्व-शासन परस्पर विरोधी तत्त्व बने रहेंगे। यही बात श्री बोसाके ने भी कही है। इस सिद्धान्तके लिए आवश्यक केवल यह है कि लोगोमें इस भावनाका विकास हो कि राज्यका एक महान् नैतिक उद्देश्य है और राज्यकी इच्छा स्वय व्यक्तिकी ही इच्छा है जिसकी स्वार्थ-भावनाका दोष दूर हो चुका है। जब तक राज्य

के कार्योंका लक्ष्य सार्वजनिक हित रहता है तब तक राज्यकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति को 'वरवश स्वाधीन बनाया जा सकता है' क्योंकि उस पर बल-प्रयोग भी इसी उद्देश्यसे किया जायगा कि उसका सच्चा हित सिद्ध हो।

४ स्वाधीनता और समानता (Liberty and Equality).

श्री डीटॉकवेली और लॉर्ड ऐक्टन (De Tocqueville and Lord Acton) जैसे स्वाधीनताके जोरदार समर्थकोका यह विचार है कि स्वाधीनता और समानता एक दूसरेके विरोधी है। यह एक गलत विचार मालूम होता है। फ्रासके क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख थे जो उन्होने 'स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व' का नारा बुलन्द किया था। यह तीनो शब्द युक्ति और तर्कसे एक दूसरेसे जुडे हुए है। यदि हम चाहते है कि स्वाधीनताका वास्तविक उद्देश्य सिद्ध हो तो उसके साथ किसी न किसी रूपमें समानताको भी मिलाकर रखना ही होगा। इसका यह तात्पर्य नही है कि समाजमें सबके ऊपर एक यात्रिक समानता लादी जाय। प्रकृतिने ही सभी व्यक्तियोको एक समान समर्थ नही बनाया। समानताका यह अर्थ नही है कि सभी व्यक्तियोके लिए एक ही व्यवहार, एक ही काम और एक ही पुरस्कार या पारिश्रमिक रहे। समानताका अर्थ यह है कि निष्पक्षता (Impartiality) और आनुपातिकता (Proportionality) रहे अर्थात् सम कोटिके व्यक्तियोमें समानता रहे और विषम कोटिके व्यक्तियोके बीच असमानता या विभेद रहे। इसका अर्थ यह है कि और सब बातोके समान होने पर मेरा हित उतना ही मूल्यवान या महत्त्वपूर्ण है जितना अन्य किसी व्यक्ति का हित हो सकता है (रशदल--Rashdall)। 'यदि इस उद्देश्यको प्राप्त करना है तो यह जरूरी है कि किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूहके लिए कोई भी विशिष्ट अधिकार या सुविधाए न हो, अधिकार शक्तिके दुरुपयोगके विरुद्ध रक्षा करनेके लिए विधान या कानूनका साधन सबके लिए समान रूपसे प्राप्त हो, इस बातका पूर्ण आश्वासन या गारटी हो कि अधिकार-सत्ताका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थोके लिए न होकर सार्वजनिक हितके लिए ही होगा और विकासका पर्याप्त अवसर सबके लिए प्राप्त हो।

ऊपर बताई गई शर्तोमें से अन्तिम शर्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज जाने कितनी प्रतिभा और क्षमता व्यर्थ नष्ट हो रही है। एक आदर्श समाजमें प्रतिभा और क्षमताको 'प्रोत्साहनके अभावमें कभी नष्ट नहीं होने देना चाहिए (४७ १५४)।' प्रत्येक व्यक्तिको इस बातका अवसर मिलना चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्वकी, क्षमताओकी, अपनी शक्तियो की पूरी-पूरी सिद्धि—उनका पूरा-पूरा उपयोग कर सके। विषमताए या असमानताए समाजमें रह सकती है पर उन्हें तभी स्वीकार किया जा सकता है जब सभ्यताका एक न्यूनतम आधार सबके लिए प्राप्य हो जाय। परिश्रमके लिए दिया जानेवाला वेतन विभिन्न कोटिका हो सकता है। फिर भी, सम्पत्तिकी अत्यधिक असमानताए स्वधीनताको असम्भव बना देती है।

इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्तिकी स्वाधीनता पर सोच-समझ कर सामाजिक नियत्रण लगाना होगा। राजनैतिक सम्बन्धोमें श्री बेन्थम (Bentham) की इस उक्ति का व्यापक व्यवहार होता है कि 'प्रत्येक व्यक्तिका मूल्य एक ही व्यक्तिके समान है, एक से अधिक किसीका नही।' अनुभवसे यह स्पष्ट हो गया है कि यदि वास्तविक आर्थिक

समानता भी नही है तो अकेले राजनैतिक समानता अर्थहीन हो जाती है। प्रोफेसर पोलर्ड (Prof Pollard) ने सारी समस्याको एक सूत्ररूपमें कह दिया है 'स्वाधीनता की समस्याका केवल एक ही हल है। स्वाधीनताकी स्थिति समानतामें ही है।' 'दुर्बल व्यक्तिकी स्वाधीनताका अर्थ है बलवान्का नियन्त्रण, ग़रीबकी स्वाधीनताका अर्थ है धनवान्का नियन्त्रण। प्रत्येक व्यक्तिको केवल इतनी ही स्वाधीनता प्राप्त है और इससे अधिक कुछ नही कि वह दूसरोके साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसा व्यवहार वह चाहता है कि दूसरे लोग उसके साथ करें। इसी सामान्य आधारशिला पर स्वाधीनता, समानता और नैतिकताकी स्थिति है (७६ २४७-८)।'

५ स्वाधीनताका राजकीय नियमन (State Regulation of Liberty)

हम पहिले ही कह चुके है कि समाजमें नियन्त्रणहीन स्वच्छन्दता कही नही है क्योकि यदि कुछ लोगोको बिना किसी नियन्त्रणके स्वाधीनता मिलती है तो उससे दूसरोकी स्वाधीनता छीनी जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वय व्यक्तिके हितमें और समाज के हित में यह आवश्यक है कि स्वाधीनता पर कुछ नियन्त्रण लगाए जाए। अब हम ऐसे नियन्त्रणो पर विचार करेंगे जो प्रत्यक्ष रूपमें राज्य द्वारा और अप्रत्यक्ष रूपमें समाज द्वारा लगाए जाते है। यह परखनेके लिए कि यह नियन्त्रण कहा तक ठीक या उचित हैं और कहा तक गलत या अनुचित है एक सिद्धान्त कसौटीका काम दे सकता है, और वह सिद्धान्त यह है कि राज्य द्वारा दबाव या बल प्रयोग तभी उचित है जब वह व्यक्तियो द्वारा किए जाने वाले और भी बुरे दबाव या बल प्रयोगको रोकता है।

१ आत्म रक्षाका अधिकार (The Right of Personal Security)

यह अधिकार व्यक्तिगत स्वाधीनताकी सबसे पहिली शर्त है। किसीको भी इस बात का अधिकार नही है कि वह मुझ पर हमला करे या मेरे शरीर का मनमाना उपयोग करे या मुझे स्वेच्छापूर्वक चलने-फिरनेसे रोके। मुझे अधिकार है कि मै सक्रिय रहू और अपनी इच्छा अनुसार काम करू बशर्ते कि मै दूसरोके इन्ही अधिकारोमें हस्तक्षेप न करू और सामाजिक व्यवस्थामें कोई खलल न पडे। आधुनिक राज्यमें यह सब स्वीकार किया जा चुका है। दूसरो पर आक्रमण चाहे कितना ही हल्का या महत्त्वहीन क्यो न हो, कानून उस पर विचार करता है। द्वेषभावनासे दिया गया धक्का भी हमला माना जा सकता है। हिंसा या बल-प्रयोगके विरुद्ध कानून हमारी रक्षा करता है। उदाहरणके लिए यदि कोई हमारे लिए मुक्का तानता है या भविष्यमें हमारे ऊपर बल-प्रयोगकी धमकी देता है तो कानून उसकी भी सुनवाई करता है। आत्म रक्षाका अधिकार कानून स्वीकार करता है। क़ानून इस बातकी अनुमति देता है कि जब किसी व्यक्तिका जीवन सचमुच खतरेमें हो तब उसे उतना बल-प्रयोग करनेका अधिकार है जितना उसकी जीवनरक्षाके लिए आवश्यक हो, यहा तक कि वह अपने ऊपर हमला करने वालेकी हत्या भी कर सकता है। दूसरोकी असावधानी के विरुद्ध भी कानून लोगोकी रक्षा करता है।

व्यक्तियोकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर दूसरे व्यक्ति ही हमला नही करते, सरकार भी ऐसा करती है। सभी सभ्य राज्योमें इस प्रकारके सरकारी हमलोके विरुद्ध विधान है। इगलैडमें व्यक्तिगत स्वाधीनताका अर्थ यह है कि देशके विधानकी अनुमति जहा हो उस

के अलावा किसी भी व्यक्तिको न कैद किया जा सकता है न गिरफ्तार किया जा सकता है और न उस पर दवाव डाला जा सकता है। इस अधिकारकी रक्षा तीन प्रकारसे होती है

(१) अवैध गिरफ्तारीके विरुद्ध प्रतिकार, (२) वैयक्तिक स्वतत्रता और वन्दी उपस्थापन सम्बन्धी विधानो (The Habeas Corpus Acts) द्वारा, और (३) सामान्य विधानादेश (The Rule of Law in general) द्वारा।

(१) अवैध गिरफ्तारीके विरुद्ध प्रतिकारका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति गलत ढगसे यानी अकारण गिरफ्तार किया गया है वह चाहे तो गलती करने वालेको सजा दिला सकता है और चाहे तो जितनी उसकी क्षति हुई हो उसके अनुसार हर्जाना या अपचय (Damages) ले सकता है। यह कार्यवाही राज्यके हर व्यक्तिके विरुद्ध की जा सकती है चाहे वह अधिकारी हो या साधारण नागरिक।

(२) बन्दी-उपस्थापन-विधानका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति बन्दी किया गया है उसे खुली अदालतमें मामलेकी सुनवाईके लिए पेश किया जाय। सरकारकी कार्यकारिणीके मनमाने कार्यो पर यह एक बहुत बडी रोक है। इससे पुलिस और कार्यकारिणी देशके विधानके अनुसार कार्य करनेके लिए विवश हो जाती है।

(३) सामान्य परिस्थितियोमें विधानादेश (The rule of the law),

(क) राज्यके सभी व्यक्तियोको—अधिकारियोको भी—साधारण दीवानी अदालतोके अधीन कर देता है,

(ख) सरकारके परमाधिकार (Prerogative) और विवेकाधिकार (Discretionary authority) का विरोध करता है, और

(ग) व्यक्तिगत रूपसे लोगो पर लागू होने वाले सामान्य वैयक्तिक विधान तथा भाषण, लेखन और आम सभा करने आदिकी वैधानिक स्वाधीनताओको भिन्न और तर्कसम्मत सिद्ध करता है।

२. विचार, भाषण, और लिखनेकी स्वाधीनता (Liberty of Thought, Speech and Writing)

एक अर्थमें विचारकी स्वाधीनता सभीको प्राप्त है और कोई भी उसका नियत्रण नही कर सकता। कोई चाहे तो अपने कमरेमें अपने आपको बन्द कर ले और अपने लिए जो मनमें आये सोचे, कहे या आकाक्षा करे। किसी दूसरेका उससे तब तक कुछ वनता-विगडता नही जव तक वह अपने विचारो या अपनी कामनाओको दूसरोसे कहता नही या उन्हें कार्यान्वित करनेका प्रयत्न नही करता। पर विचार-स्वातत्र्यकी यही सामान्य व्याख्या नही है। यदि वास्तवमें विचारकी स्वाधीनताका कोई अर्थ ग्रहण करना है तो यह आवश्यक है कि उसके साथ भाषण और कार्य करनेकी स्वाधीनता भी मिले। यदि मनचाही वातें सोचनेकी स्वाधीनता हो पर उन विचारोको व्यक्त करने और उनके अनुसार कार्य करनेकी स्वाधीनता न हो तो यह अत्याचार कहा जायगा। यह तो, 'एक दुखद दड हो जाता है जो मनुष्यकी आत्माको दुर्बल कर देता है (६६ १६८)।'

बहुत पुराने जमानेसे विचार और विवादकी स्वाधीनताका महत्त्व मनुष्यकी एक पवित्र थातीके रूपमें स्वीकार किया गया है। सुकरात (Socrates) ने तो अपनी विचार-अभिव्यक्तिकी स्वाधीनता खोनेके वजाय अपने प्राण दे देना भी अच्छा माना था। उनका

मत तो यह था कि प्रतिष्ठित वर्तमान व्यवस्थाको नवीन विचारोंसे कुछ हद तक सशक रहना चाहिए। इगलैंडमें मिल्टन, सिडनी, लॉक और जे० एस० मिल जैसे लेखकोंने विचार और विवादकी स्वाधीनताको अपनी अमर भाषामें प्रतिष्ठित किया है। मिल्टन का कहना था कि विचार और भाषणकी स्वाधीनता अन्य सब स्वाधीनताओंकी नींव है। मिल ने विचार, भाषण और लिखनेकी पूर्ण स्वाधीनताको मालाकार तर्क (Sorites) के रूपमें उचित सिद्ध किया है। उनका विश्वास था कि विचार-स्वातत्र्यके उपाग-रूपमें भाषण-स्वातत्र्य और भाषण-स्वातत्र्यके उपाग-रूपमें लिखनेकी स्वाधीनता मिलनी ही चाहिए। उनका सुप्रसिद्ध तर्क यह था कि अभिव्यक्त विचार या तो बिल्कुल सच और सही होगा या बिल्कुल गलत और झूठ या, जैसा कि अधिक सम्भव है, वह कुछ अशोमें सही और कुछ अशोमें गलत होगा, और इन सभी अवस्थाओंमें इस बातके बड़े सबल कारण है कि विचार और विवादकी पूरी स्वाधीनता लोगोंको दी जाय। यदि अभिव्यक्त विचार बिल्कुल सही हैं तो इस बातमें किसीको कोई भय क्यों हो कि दूसरोंको, यदि उनमें सामर्थ्य है तो उसका खडन करनेका अवसर दिया जाय ? ऐसी अवस्थामें तो स्वाधीनता पर रोक लगानेका अर्थ यह हो सकता है कि आपको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास नहीं है कि अभिव्यक्त-विचार सचमुच बिल्कुल सही है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अपने विचार पर खुल कर विवाद करनेका अवसर न देनेका अर्थ है उस विचारको जबरदस्ती थोपा हुआ (Dogma) बना देना। दूसरी ओर यदि अभिव्यक्त विचार बिल्कुल गलत है तो यह हमारा अधिकार और कर्तव्य है कि हम अपनी भूलका सुधार करें और असत्यको छोड़कर परस्पर विचार-विवादसे प्राप्त होनेवाले सत्यको ग्रहण करें। और यदि अभिव्यक्त विचार अशत सही और अंशत गलत है तब तो यह और भी जरूरी है कि खुल कर विचार-विवाद हो ताकि लोग एक दूसरेसे सीख सकें। इन अवस्थाओंमें विचार-विवाद पर रोक लगानेका अर्थ है अपने आपको ऐसा परम सिद्ध मानना जो कभी कोई भूल कर ही नहीं सकता, और अनुभव यह सिद्ध करता है कि कोई भी ऐसा परम सिद्ध नहीं है।

ऊपरके तर्कका प्रतिपादन करते हुए श्री मिल यह विश्वास कर बैठते हैं कि मनुष्य-जाति इतनी अधिक समझदार है कि वह सर्वदा सचाईका खुले दिलसे स्वागत करेगी। वह इस बात पर ध्यान नहीं देते कि अधिकतर लोग अपना निर्णय तर्क और युक्तिके अनुकूल न करके भावनाके वशीभूत हो कर करते हैं, और एक सभ्य समाजमें भी कुछ प्रतिशत ऐसे लोग मिलते हैं जो अपनी स्वाधीनताका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकते। अपने सम-कालीन 'रामभरोसे-नीति' के (Laissez Faire) सैद्धान्तिकोंकी भाति श्री मिल भी यह अनुमान कर लेते हैं कि व्यक्तिगत हित किसी प्रकार जादूके जोरसे स्वय सामाजिक हितमें बदल जाता है। वह इस सामान्य अनुभवको भुला देते हैं कि कभी-कभी सबल बननेके लिए सत्यको असहिष्णुताकी अवस्था भी पार करनी पड़ती है। कुछ भी हो, एक उपयोगितावादी (Utilitarian) के रूपमें, उन्हें पूर्ण स्वाधीनताकी बात करनेका कोई अधिकार नहीं है, उन्हें तो वास्तवमें कार्य-साधकता (Expediency) के दृष्टिकोणसे ही विचार करना चाहिए। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी समाज असीम विचार-स्वातत्र्य नहीं दे सकता।

श्री रेनन (Renan) विचार स्वातत्र्यको बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वह इसे सभी प्रकारकी धर्मान्धताका बहुत बड़ा हल मानते हैं। श्री हॉकिंग का तर्क है कि विचार-

स्वातन्त्र्य मनुष्यके विकासके लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसी स्वाधीनता द्वारा मनुष्य विचार ग्रहण करके शक्तिशाली बननेका अवसर पाता है। उनका कहना है कि एक स्वस्थ समाजमें सभी प्रकारके विचारोंको अपना महत्त्व सिद्ध करनेका अवसर दिया जाना चाहिए।

फिर भी, यह तथ्य सभी स्वीकार करते है कि विचार-अभिव्यक्तिकी स्वाधीनताकी भी सीमाए है। इन सीमाओंका निर्धारण समाज जनमत द्वारा और राज्य अपमानजनक लेख, निन्दात्मक भाषण, मान-हानि, ईश्वर-निन्दा और राजद्रोह (Libel, slander, defamation, blasphemy, sedition) आदिके सम्बन्धमें बने हुए कानूनोंके द्वारा करता है। भाषण-स्वातन्त्र्य पर बन्धन लगाते समय जिस सामान्य सिद्धान्तका ध्यान रखा जाता है वह यह है कि विचारोंकी अभिव्यक्ति औचित्यकी सीमाके भीतर ही रहे और सामाजिक व्यवस्था तथा सार्वजनिक सदाचारके प्रतिकूल न हो।

अपमानजनक लेखन, निन्दा-भाषण. व्यक्तिकी वैयक्तिक स्वाधीनता पर हमला केवल शारीरिक ही नही होता। इसका एक रूप यह भी हो सकता है कि व्यक्तिको मानसिक क्लेश पहुचाया जाए। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारके क्लेशके विरुद्ध कानून हमारी रक्षा नही कर सकता क्योंकि इस प्रकारके क्लेशका प्रमाण (Proof) और परिमाण (Measurement) दोनो ही इतने अनिश्चत रहते है कि कानून उन पर विचार नही कर सकता। फिर भी, कानून व्यक्तिकी ख्यातिकी—उसके यशकी रक्षा करता है और इसका साधन है अपमानजनक लेख व निन्दा-भाषणके विरुद्ध विधान। कानून इस तथ्यको स्वीकार करता है कि ख्याति या सुप्रसिद्धि व्यक्तिकी एक पवित्र निधि है और उसकी स्थिति अधिकाशमें अन्य व्यक्तियोंके मस्तिष्कमें रहती है। इसलिए, जब एक व्यक्ति दूसरे पर झूठ ही अपराध का आरोप लगाता है—अपराध चाहे छोटा हो या बडा—अथवा अन्य किसी प्रकार उसके चरित्र या व्यवहारको हानि पहुचाता है तो उसे निन्दा-भाषणके लिए दड दिया जाता है। कुछ देशोंमें किसी व्यक्तिको उसके पेशे या पदके अयोग्य कहना या उसकी योग्यता और कुशलता पर सन्देह करना भी दडनीय है।

केवल इतना सिद्ध कर देना ही काफी नही है कि किसी व्यक्तिके विरुद्ध कही गई बात सत्य है। जो भी आरोप लगाया जाए वह जन-हितके उद्देश्यसे होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति सत्य बात कहने पर भी उतना ही दडनीय हो सकता है जितना झूठा आरोप लगाने पर।

अपमानजनक लेख या निन्दा-भाषणके लिए जो क्षति-पूर्ति (Damages) दिलाई जाती है उसमें आरोप लगाने वाले व्यक्तिके उद्देश्यका भी विचार किया जाता है और जिस पर आरोप लगाया गया हो उसकी प्रतिष्ठा और उसकी भावनाओंका भी विचार किया जाता है। आजकल अग्रेजी बोलने वाले देशोंमें अपमानजनक लेखके सम्बन्धमें कानून कुछ ऐसा है कि जब आरोप सच भी होता है और उसका सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे निश्चित महत्त्व भी होता है तब भी आरोप लगाने वाले व्यक्तिको दड दिया जा सकता है। सारा फैसला इस बात पर निर्भर रहता है कि कानूनकी व्याख्या किस ढगसे की जाती है। क्योंकि साधारण सिद्धान्त यह है कि निन्दात्मक लेख या भाषण चाहे किसी एक व्यक्तिने किया हो और चाहे किसी समाचार-पत्रने, उसके लिए दंड तब तक नही दिया जा सकता जब तक वह मौजूदा कानूनके शिकजेमें न आ जाए।

मत तो यह था कि प्रतिष्ठित वर्तमान व्यवस्थाको नवीन विचारोंसे कुछ हद तक सशक रहना चाहिए। इगलैंडमें मिल्टन, सिडनी, लॉक और जे० एस० मिल जैसे लेखकोंने विचार और विवादकी स्वाधीनताको अपनी अमर भाषामें प्रतिष्ठित किया है। मिल्टन का कहना था कि विचार और भाषणकी स्वाधीनता अन्य सब स्वाधीनताओंकी नींव है। मिल ने विचार, भाषण और लिखनेकी पूर्ण स्वाधीनताको मालाकार तर्क (Sorites) के रूपमें उचित सिद्ध किया है। उनका विश्वास था कि विचार-स्वातंत्र्यके उपाग-रूपमें भाषण-स्वातंत्र्य और भाषण-स्वातंत्र्यके उपाग-रूपमें लिखनेकी स्वाधीनता मिलनी ही चाहिए। उनका सुप्रसिद्ध तर्क यह था कि अभिव्यक्त विचार या तो बिल्कुल सच और सही होगा या बिल्कुल ग़लत और झूठ था, जैसा कि अधिक सम्भव है, वह कुछ अशोंमें सही और कुछ अशोंमें ग़लत होगा , और इन सभी अवस्थाओंमें इस बातके बड़े सबल कारण है कि विचार और विवादकी पूरी स्वाधीनता लोगोको दी जाय। यदि अभिव्यक्त विचार बिल्कुल सही है तो इस बातमें किसीको कोई भय क्यो हो कि दूसरोको, यदि उनमें सामर्थ्य है तो उसका खडन करनेका अवसर दिया जाय ? ऐसी अवस्थामें तो स्वाधीनता पर रोक लगानेका अर्थ यह हो सकता है कि आपको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास नही है कि अभिव्यक्त-विचार सचमुच बिल्कुल सही है। इसमें तो कोई सन्देह नही कि अपने विचार पर खुल कर विवाद करनेका अवसर न देनेका अर्थ है उस विचारको जबरदस्ती थोपा हुआ (Dogma) बना देना। दूसरी ओर यदि अभिव्यक्त विचार बिल्कुल ग़लत है तो यह हमारा अधिकार और कर्त्तव्य है कि हम अपनी भूलका सुधार करें और असत्यको छोड़कर परस्पर विचार-विवादसे प्राप्त होनेवाले सत्यको ग्रहण करें। और यदि अभिव्यक्त विचार अशत सही और अशत गलत है तब तो यह और भी जरूरी है कि खुल कर विचार-विवाद हो ताकि लोग एक दूसरेसे सीख सकें। इन अवस्थाओंमें विचार-विवाद पर रोक लगानेका अर्थ है अपने आपको ऐसा परम सिद्ध मानना जो कभी कोई भूल कर ही नही सकता, और अनुभव यह सिद्ध करता है कि कोई भी ऐसा परम सिद्ध नही है।

ऊपरके तर्कका प्रतिपादन करते हुए श्री मिल यह विश्वास कर बैठते है कि मनुष्य-जाति इतनी अधिक समझदार है कि वह सर्वदा सचाईका खुले दिलसे स्वागत करेगी। वह इस बात पर ध्यान नही देते कि अधिकतर लोग अपना निर्णय तर्क और युक्तिके अनुकूल न करके भावनाके वशीभूत हो कर करते है , और एक सभ्य समाजमें भी कुछ प्रतिशत ऐसे लोग मिलते है जो अपनी स्वाधीनताका ठीक-ठीक उपयोग नही कर सकते। अपने सम-कालीन 'रामभरोसे-नीति' के (Laissez Faire) सैद्धान्तिकोंकी भाति श्री मिल भी यह अनुमान कर लेते है कि व्यक्तिगत हित किसी प्रकार जादूके जोरसे स्वय सामाजिक हितमें बदल जाता है। वह इस सामान्य अनुभवको भुला देते है कि कभी-कभी सबल बननेके लिए सत्यको असहिष्णुताकी अवस्था भी पार करनी पड़ती है। कुछ भी हो, एक उपयोगितावादी (Utilitarian) के रूपमें, उन्हें पूर्ण स्वाधीनताकी बात करनेका कोई अधिकार नही है, उन्हें तो वास्तवमें कार्य-साधकता (Expediency) के दृष्टिकोणसे ही विचार करना चाहिए। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी समाज असीम विचार-स्वातंत्र्य नही दे सकता।

श्री रेनन (Renan) विचार स्वातंत्र्यको बहुत अधिक महत्त्व देते है। वह इसे सभी प्रकारकी धर्मान्धताका बहुत बड़ा हल मानते है। श्री हॉकिंग का तर्क है कि विचार-

स्वातत्र्य मनुष्यके विकासके लिए अत्यन्य आवश्यक है क्योकि इसी स्वाधीनता द्वारा मनुष्य विचार ग्रहण करके शक्तिशाली बननेका अवसर पाता है। उनका कहना है कि एक स्वस्थ समाजमें सभी प्रकारके विचारोको अपना महत्त्व सिद्ध करनेका अवसर दिया जाना चाहिए।

फिर भी, यह तथ्य सभी स्वीकार करते है कि विचार-अभिव्यक्तिकी स्वाधीनताकी भी सीमाए है। इन सीमाओका निर्धारण समाज जनमत द्वारा और राज्य अपमानजनक लेख, निन्दात्मक भाषण, मान-हानि, ईश्वर-निन्दा और राजद्रोह (Libel, slander, defamation, blasphemy, sedition) आदिके सम्बन्धमें बने हुए कानूनोके द्वारा करता है। भाषण-स्वातत्र्य पर बन्धन लगाते समय जिस सामान्य सिद्धान्तका ध्यान रखा जाता है वह यह है कि विचारोकी अभिव्यक्ति औचित्यकी सीमाके भीतर ही रहे और सामाजिक व्यवस्था तथा सार्वजनिक सदाचारके प्रतिकूल न हो।

अपमानजनक लेखन, निन्दा-भाषण व्यक्तिकी वैयक्तिक स्वाधीनता पर हमला केवल शारीरिक ही नही होता। इसका एक रूप यह भी हो सकता है कि व्यक्तिको मानसिक क्लेश पहुचाया जाए। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारके क्लेशके विरुद्ध कानून हमारी रक्षा नही कर सकता क्योकि इस प्रकारके क्लेशका प्रमाण (Proof) और परिमाण (Measurement) दोनो ही इतने अनिश्चत रहते है कि कानून उन पर विचार नही कर सकता। फिर भी, कानून व्यक्तिकी ख्यातिकी—उसके यशकी रक्षा करता है और इसका साधन है अपमानजनक लेख व निन्दा-भाषणके विरुद्ध विधान। कानून इस तथ्यको स्वीकार करता है कि ख्याति या सुप्रसिद्धि व्यक्तिकी एक पवित्र निधि है और उसकी स्थिति अधिकाशमें अन्य व्यक्तियोके मस्तिष्कमें रहती है। इसलिए, जब एक व्यक्ति दूसरे पर झूठ ही अपराध का आरोप लगाता है—अपराध चाहे छोटा हो या बडा—अथवा अन्य किसी प्रकार उसके चरित्र या व्यवहारको हानि पहुचाता है तो उसे निन्दा-भाषणके लिए दड दिया जाता है। कुछ देशोमें किसी व्यक्तिको उसके पेशे या पदके अयोग्य कहना या उसकी योग्यता और कुशलता पर सन्देह करना भी दडनीय है।

केवल इतना सिद्ध कर देना ही काफी नही है कि किसी व्यक्तिके विरुद्ध कही गई बात सत्य है। जो भी आरोप लगाया जाए वह जन-हितके उद्देश्यसे होना चाहिए क्योकि व्यक्ति सत्य बात कहने पर भी उतना ही दडनीय हो सकता है जितना झूठा आरोप लगाने पर।

अपमानजनक लेख या निन्दा-भाषणके लिए जो क्षति-पूर्ति (Damages) दिलाई जाती है उसमें आरोप लगाने वाले व्यक्तिके उद्देश्यका भी विचार किया जाता है और जिस पर आरोप लगाया गया हो उसकी प्रतिष्ठा और उसकी भावनाओका भी विचार किया जाता है। आजकल अग्रेजी बोलने वाले देशोमें अपमानजनक लेखके सम्बन्धमें कानून कुछ ऐसा है कि जब आरोप सच भी होता है और उसका सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे निश्चित महत्त्व भी होता है तब भी आरोप लगाने वाले व्यक्तिको दड दिया जा सकता है। सारा फैसला इस बात पर निर्भर रहता है कि कानूनकी व्याख्या किस ढगसे की जाती है। क्योकि साधारण सिद्धान्त यह है कि निन्दात्मक लेख या भाषण चाहे किसी एक व्यक्तिने किया हो और चाहे किसी समाचार-पत्रने, उसके लिए दड तब तक नही दिया जा सकता जब तक वह मौजूदा कानूनके शिकजेमें न आ जाए।

ईश्वर-निन्दा (Blasphemy). जो सामान्य सिद्धान्त अपमानजनक लेख व निन्दा-भाषणके सम्बन्धमें लागू होते है वही धार्मिक और नैतिक प्रश्नोके विवेचन पर भी लागू होते है। इगलैडमें ईश्वर-निन्दाके मामलो पर साधारण अदालतोमें ही विचार किया जाता है। विचार एक न्यायाधीश और जूरी द्वारा किया जाता है 'जिससे मामलेकी अनैतिकता और धार्मिक खतरेका विचार देशके सार्वजनिक जीवन और प्रचलित विचार-धाराके अनुरूप किया जा सके (२८.१५०)।'

सरकारकी आलोचना करनेका अधिकार यद्यपि एक दृष्टिसे राज्य ही स्वाधीनता का स्रष्टा और उसकी गारटी देने वाला है, फिर भी स्वाधीनता हमेशा राजनैतिक अधिकार-सत्ताको परिसीमित ही रखना चाहती है। अपने शासकोसे भी जवाब तलब कर सकनेकी शक्ति स्वाधीनताकी एक तात्त्विक अभिरक्षक शक्ति है। श्री लास्की के शब्दोंमें 'जहा कही शक्तिका अत्यधिक केन्द्रीकरण होगा वहा कभी स्वाधीनता हो ही नही सकती (४६ ६५)।' 'व्यवस्था ही सबसे बडी अच्छाई नही है, और विद्रोह सर्वदा अनुचित नही होता (४६·७६)।' पर कोई भी राज्य यह सहन नही कर सकता कि उसके क़ानूनो को तोडा जाए और किसी भी व्यक्तिको इस बातकी अनुमति नही दी जा सकती कि वह लोगोको राज्यकी अधिकार सत्ताकी अवज्ञा करनेके लिए उकसाये और इस प्रकार राज्य की स्थिति और दृढताको खतरेमें डाले। हिंसात्मक और अवज्ञा-मूलक कार्य राजद्रोह और देश-द्रोहके कानूनके भीतर आ जाते हैं। जब खतरा अप्रत्यक्ष और दूरस्थ हो तब राजनीतिज्ञता इस बातमें है कि उसे सहन कर लिया जाए। श्री लास्की का तो यहां तक कहना है कि अभिव्यक्ति (Expression) की स्वाधीनता पर राजद्रोहके नाम पर लगाया जाने वाला प्रत्येक नियत्रण समाजके हितके प्रतिकूल है क्योकि जो आज नास्तिकता है वही कल धार्मिक अन्ध-विश्वास बन जाता है। राजद्रोह या देश-द्रोह आदिके मामलो का फैसला सरकारकी कार्यकारिणीके ऊपर छोडनेसे निश्चय ही बुराई पैदा होगी। श्री लास्की के ज़ोरदार शब्दोमें, 'कार्यकारिणीका न्याय, वास्तवमें, न्यायके अभावकी ही सभ्य-शिष्ट अभिव्यक्ति है (४६ १११)।' युद्धकी सी विशेष परिस्थितियोमें तो स्वाधीनता पर विशेषरूपसे रोक लगाना भी उचित माना जा सकता है। पर श्री लास्की का विश्वास है कि युद्ध कालमें भी भाषण-स्वातत्र्यमें वही अधिकार निहित रहते है जो शान्ति-कालमें। उन्हींके शब्दोंमें 'यदि, श्री जेम्स रसल लॉवेल की भाति, कोई व्यक्ति सचमुच यह विश्वास रखता है कि युद्ध हत्याका ही दूसरा नाम है तो यह उसका कर्त्तव्य है कि अपने इस विचारको प्रकट करे भले ही इससे तत्कालीन सरकारको असुविधा उत्पन्न हो जाए (४६·११३)।'

प्रेसकी स्वाधीनता (Liberty of the Press). प्रेसके सम्बन्धमें इगलैड और फ्रासके कानून दो बिल्कुल भिन्न कोटिके है। इन दोमें से कौन सी पद्धति श्रेष्ठ है यह एक बहसका सवाल है। लॉर्ड मैन्सफील्ड के अनुसार इगलैडमें 'प्रेसकी स्वाधीनता का अर्थ है बिना पूर्व अनुमतिके छापनेकी स्वाधीनता, पर क़ानूनकी अधीनता सर्वदा स्वीकार करते हुए।' प्रेसके अपराधो पर विचार करनेके लिए कोई विशेष अदालतें नही है। व्यक्तिगत नागरिकोंकी अपेक्षा समाचार-पत्रो पर कोई विशेष उत्तरदायित्व नही है।

इसके विपरीत फ्रास और अन्य योरोपीय देशोमें न केवल प्रेस सम्बन्धी विशेष कानून है बल्कि प्रेसके अपराधो पर विचार करनेके लिए विशेष अदालतें भी है। फ्रासका शासन-

सिद्धान्त यह है कि सरकारको न केवल उन लोगोको दड देना चाहिए जो भाषण-स्वातत्र्य की सीमाका उल्लघन करते है वल्कि उसे जन-मतका उचित दिशामें सचालन भी करना चाहिए। इसका आधार यह सिद्धान्त है कि इलाजके वजाय परहेज़ ज़्यादा अच्छा है।

इगलैडमें प्रेसकी स्वाधीनता-जैसा कोई अधिकार कभी भी कानून द्वारा स्वीकार नहीं किया गया। यद्यपि प्रेस-नियन्त्रण नही है, पर राजद्रोह, देश-द्रोह, ईश्वर-निन्दा आदिके सम्बन्धमें कानून हे और वह सव प्रेसकी स्वाधीनताको सीमित कर देते है। इन परिस्थितियोमें प्राय यह अनुमान किया जाता है कि जूरीके द्वारा विचार होनेसे वाद-विवाद की स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। यह अनुमान पिछले ज़मानेमें चाहे जितना सही रहा हो पर आधुनिक युगमें, परिस्थिति वदल जानेसे, उसमें वह वल नही रह गया। पहले ज़मानेमें जिस वर्गसे जूरीके सदस्य चुने जाते थे वह वर्ग प्राय सरकारके विरुद्ध फैसला देनेकी प्रवृत्ति रखता था। पर आजकल जूरीके सदस्योमें से अधिकाशकी प्रसिद्धि इसलिए नही है कि वे भाषण या विचार-स्वातत्र्यके प्रेमी है। इसलिए यह सम्भव है कि जो पद्धति कभी व्यक्तिगत स्वाधीनताकी रक्षा करने वाली थी आज हमें उसको त्याग देना पडे यदि उसमें तात्त्विक परिवर्तन नही किया जाता।

३ कार्य-स्वातंत्र्य (Liberty of Action)

वैयक्तिक कार्य (Individual Action) 'स्वाधीनता' पर लिखे गए अपने निवन्धमें श्री मिल ने न केवल विचार और अभिव्यक्तिकी स्वाधीनताका समर्थन किया है वल्कि कार्य-स्वातत्र्यका भी ज़ोरदार समर्थन किया है। श्री मिल ने मनुष्यके कार्य-व्यापारके दो भेद किए है: (१) आत्मपरक (Self-regarding) और (२) समाज-परक (Other-regarding)। उनके मतसे आत्मपरक कार्य-व्यापार वह है जिसका सम्वन्ध केवल व्यक्तिसे—काम करने वालेसे है और समाज-परक कार्य-व्यापार वह है जिसका असर काम करने वाले व्यक्तिके अतिरिक्त अन्य लोगो पर भी पडता है। श्री मिल का तर्क है कि प्रथम कोटिके कार्य-व्यापारमें किसी प्रकारका भी हस्क्षेप नही होना चाहिए। वह व्यक्तिकी अभिरुचिका शुद्ध-एकान्त क्षेत्र है। दूसरी कोटिके कार्य-व्यापारमें राज्य कानूनोके द्वारा और समाज जन-मतके द्वारा हस्तक्षेप कर सकता है यद्यपि ऐसे भी अवसर होते है जव दो में से किसीके लिए भी हस्तक्षेप करना उचित नही होता। दूसरे शब्दोमें एक क्षेत्रमें तो श्री मिल पूर्ण स्वाधीनताका समर्थन करते है और दूसरे क्षेत्रमें सीमित अधिकार-सत्ता का।

कार्य-व्यापारके इस विभेदकी वडी कडी आलोचना हो सकती है। कोई भी इतना तेज़ हथियार अभी तक नही वन पाया जिससे व्यक्तिके कार्य-व्यापारको आत्मपरक और समाज-परक दो भागोमें वाटा जा सके। यदि समाजके संघटना-सिद्धान्त (Organic Theory) में कोई सत्य है तो वह यह है कि व्यक्तिका हित और समाजका हित परस्पर अन्योन्याश्रित (Inter-dependent) है। जो कार्य अपने प्रभावमें विल्कुल व्यक्तिगत मालूम होते हैं देर-सवेर उनका भी प्रभाव समाज पर पडता ही है। श्री मिल के अनुसार फिज़ूलखर्ची, शरावखोरी, जुआखोरी आदि व्यक्ति-परक कार्य है जव तक उनके फलस्वरूप कर्ज़की अदायगी नही रुकती, व्यक्ति अपने कार्यो या परिवारके प्रति अपने कर्त्तव्योके पूरा करनेमें शिथिल नही पडता। सिद्धान्त-रूपमें यह विभेद चाहे जितना ठीक और तर्क-युक्त जान पडे पर व्यवहारके क्षेत्रमें वह निश्चय ही अनेक अवसरो पर टूट

जायगा। और यदि कुछ मामलोमें यह विभेद सही भी हो तो क्या हम यह प्रश्न नही पूछ सकते कि स्वय व्यक्तिके ही हित और विकासकी दृष्टिसे राज्यका व्यक्तिके प्रति क्या कोई उत्तरदायित्व नही है? क्या यह उचित है कि हम व्यक्तिको बुरे मार्ग पर चलनेके लिए खुली छूट दे दें? हम श्री मिल की इस कल्पनासे सहमत नही है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वय ही अपना हित सबसे अच्छा जानता है। यह हो सकता है कि व्यक्ति अपने वर्तमान सुख की पहचान सबसे अच्छी कर सके पर यह जरूरी नही है कि वह अपने भविष्यके सुख या उसके साधनोके सम्बन्धमें भी सबसे अच्छी परख कर सके।

इन स्पष्ट त्रुटियोके होते हुए भी, यह कहना ही पडेगा कि व्यावहारिक क्षेत्रमें श्री मिल द्वारा किए गए कार्य-व्यापारके इस विभेदका एक स्थूल और सुविधाजनक कार्य-सिद्धान्तके रूपमें बडा महत्त्व है। जहा तक सम्भव हो समाज द्वारा ऐसे ही कार्योका नियत्रण होना चाहिए जिनका प्रत्यक्ष और सुनिश्चित प्रभाव दूसरो पर पडता है, पर यह मान्यता कोई चरम सिद्धान्त नही है। आजकल, जब राज्यके अधिकार क्षेत्र असीमित है और राज्यकी अन्ध-भक्तिका जमाना है, श्री मिल के सिद्धान्तकी पूरी शक्तिके साथ फिरसे घोषणा होनी चाहिए।

सामूहिक कार्य (Collective Action) सामूहिक कार्यकी स्वाधीनतामें सार्वजनिक सभाए करनेका अधिकार, सगठन करनेका अधिकार अर्थात् सघ, परिषद् आदि बनानेका अधिकार और बहिष्कार (Boycott), हडताल और धरना देनेके अधिकार सम्मिलित हैं।

सार्वजनिक सभाका अधिकार बेल्जियममें घरोके भीतर की जाने वाली सभाओ, बैठको आदिमें कोई हस्तक्षेप नही किया जाता और यह सभाए बिना पुलिसकी अनुमति लिए हुए की जा सकती हैं, पर खुली आम सभाओ पर पुलिसका कानून लागू होता है। अग्रेजोका कानून ऐसा कोई विभेद नही स्वीकार करता, और वहा ऐसा कोई विधान नही है जिसमें सार्वजनिक सभा करनेका अधिकार स्वीकार किया गया हो। सार्वजनिक सभा करनेका अधिकार व्यक्तिगत नागरिकके उस अधिकारसे प्राप्त किया गया है जिसके अनुसार देशके विधानके अधीन रहते हुए व्यक्तिको इस बातका अधिकार प्राप्त है कि वह जहा चाहे, जाये, और जो चाहे, कहे। श्री डाइसी (Dicey) का कहना है 'इगलैंड में विधान व्यक्तिगत अधिकारोकी नीव पर बना है। इस तथ्यके सबसे अच्छे उदाहरण है सार्वजनिक सभाओके सम्बन्धमें लागू होने वाले नियम।'

समूह या समुदायको व्यक्तियोका झुड-मात्र मानने वाले अग्रेजी दृष्टिकोणसे अनेक कठिनाइया पैदा हो जाती है। यह अधिक उपयुक्त और लाभदायक होगा कि अग्रेजोकी विधान-पद्धतिमें योरोपकी इस व्यावहारिक मान्यताको स्थान दिया जाय कि सभाओ और जुलूसोके सार्वजनिक (और प्राय राजनैतिक) महत्त्वको भी कुछ विशिष्ट विधानोके द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। साथ ही वर्तमान पद्धतिके पक्षमें भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसमें लोगोकी दबी हुई भावनाओको एक अभिव्यक्तिका द्वार प्राप्त रहता है और अल्पसख्यकोकी शिकायतो और उनकी आकाक्षाओकी अभिव्यक्तिके लिए एक प्रस्तुत प्लेटफार्म या रगमच मिल जाता है। साथ ही पुलिस भी इस झझटसे बच जाती है कि एक पक्षके विरुद्ध दूसरे मतका समर्थन करे। साधारणत यह एक समझदारीकी बात होती है कि जब तक कोई अपने विचारोको व्यक्त करनेमें भाषा

का समय नही तोडता तब तक उसे अपने विचार व्यक्त करनेका अवसर दिया जाय, भले ही वह विचार किसी प्रकारके भी क्यो न हो। और इसके अतिरिक्त, जैसा कि श्री रिची (Ritchie) ने ठीक ही कहा है 'एक नागरिककी शिक्षाका यह एक उपयोगी अग है कि उसे एक दूसरेसे भिन्न या विपरीत अनेक प्रकारके विचार सुननेको मिलें बशर्ते कि उन विचारोका खडन-मडन करनेमें परस्पर श्रोताओ द्वारा या सार्वजनिक शान्तिके रक्षको द्वारा मुड-भजन न होने लगे (६६:२१४)।'

सस्था-सगठनका अधिकार (The Right of Association) व्यक्तियो की भाति सघो-सस्थाओके भी अधिकार और कर्तव्य होते है। किसी भी सघको इस बात का अधिकार नही है कि वह राज्यके विरुद्ध युद्ध करे या गुप्त रूपसे राजसत्ताको उलटने का प्रयत्न करे। सघोको स्थानीय स्वाधिकार चाहे जो भी प्राप्त हो, पर अन्तिम या चरम सत्ता तो राज्यके ही हाथोमें है। जो सघ किसी एक राज्यकी सीमाओको पार कर उनके बाहर भी फैलते है और दूसरे राज्योके नागरिकोकी निष्ठा जिन्हें प्राप्त होती है वह, समय बीतने पर, आधुनिक जातीय या राष्ट्रीय राज्यो (Nation-States) का अन्त करके एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्यकी स्थापनामें प्रवृत्त होते है। भविष्यमें चाहे जो कुछ हो, इतना स्पष्ट है कि आधुनिक राज्योको संघोकी बढती हुई अधिकार सीमाके विरुद्ध व्यक्तिकी स्वाधीनताकी रक्षा करनी चाहिए और सघोमें भी परस्पर संघर्ष होनेसे रोकना चाहिए। जहा तक ट्रेड-यूनियन या मजदूर-सघ जैसे शक्तिमान् सघोका सम्बन्ध है राज्य को चाहिए कि वह जहा तक सम्भव हो मजदूर-सघके समर्थको और उसके विरोधियोके बीच निष्पक्षताका व्यवहार करे।

आजकल कुछ लोग यह तर्क करते है कि मनुष्यका आर्थिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि राज्यक लिए उसका पथ-प्रदर्शन कठिन काम है। इसलिए ऐसी सस्थाओका फिरसे सगठन किया जाना चाहिए जिनका काम ही इन समस्याओका सुलझाना हो और जो राजनैतिक प्रतिनिधित्वका आधार तथा आर्थिक सगठनके सूत्र बन सकें। उनका कहना है कि राज्यके छिट पुट और दूरस्थ नियत्रणके बजाय इन पेशेवर समुदायो या सघोसे मिलने वाला प्रत्यक्ष और हर समय रहने वाला नियत्रण ही लागू किया जाना चाहिए। श्री लास्की एक ऐसी पद्धतिका समर्थन करते है जिसमें प्रत्यक्षत ऐसे सघोके जटिल स्वाधिकार (Complex autonomy) को स्वीकार कर लिया जाय और साथ ही जिसमें राज्य अपने इस दावेको भी छोड दे कि वही एक अकेला अनिवार्य संघ है या यह कि वही सार्वजनिक हितका एकमात्र प्रतिनिधि है। स्वय उन्हीके शब्दोमें : 'राज्य मनुष्यो द्वारा बनाए जाने वाले सघोमें से एक सघ-मात्र है और व्यक्तिकी निष्ठा पर उसका कोई श्रेष्ठ या गुरुतर अधिकार नही है।' श्री अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) का कहना है : 'व्यक्तिको सघ या समुदायके अत्याचारसे बचानेके लिए यह जरूरी है कि जीवनकी एक व्यापक सामान्य व्यवस्थाके रूपमें राज्य सघोके पारस्परिक सम्बन्धो, सघो और उन के सदस्योके सम्बन्धो तथा उन सदस्योके साथ स्वय अपने सम्बन्धोके बीच सामजस्य स्थापित करे—उनमें परस्पर मेल बिठाए। बहुलवादी (Pluralist) सिद्धान्तके प्रति हम कितने ही उदार क्यो न हो जायें पर सर्वोपरि नियामक सत्ताके रूपमें राज्यके अधिकार को हम चुनौती नही दे सकते।

बहिष्कार करने, धरना देने और हड़ताल करनेका अधिकार सभी आधुनिक

राज्य बहिष्कारके सीमित व्यवहारकी आज्ञा देते है। बहिष्कार सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक कारणसे किया जाता है। बहिष्कार प्रधानत आधुनिक औद्योगिक सभ्यताकी उपज है। जब केवल एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह बहिष्कार करता है तब कोई खास चिन्ताकी बात नही होती, पर जब कोई सघ व्यापक पैमाने पर बहिष्कार करता है तब सामाजिक नियमनकी आवश्यकता होती है। साधारणत राज्य बहिष्कारके मामलोमें दखल नही देते क्योकि 'औद्योगिक सम्बन्धोकी स्वाधीनता पर कडा प्रतिबन्ध लगानेमें (७२ ५७९)' काफी असुविधाए रहती है। पर हिन्दुस्तानमें जब ग्रेट-ब्रिटेन के विरुद्ध एक राजनैतिक हथियारके रूपमें बहिष्कारका उपयोग किया गया तब बहिष्कारके अधिकारमें बहुत अधिक काट-छाट की गई थी।

बहुधा राज्योमें शान्ति-पूर्वक धरना देने पर कोई आपत्ति नही की जाती। फिर इस बातकी आशका है कि शान्ति-पूर्ण धरना अव्यवस्थित धरनेमें बदल जाय और एक सुव्यवस्थित राज्यको इन दोनोके बीच सावधानीके साथ अन्तर करना होगा। अनुनय (Persuasion) या समझाना-बुझाना तो उचित है, पर जोर-जबर करना या कष्ट पहुचाना तो उचित नही है। यह निर्णय करना हमेशा आसान नही होता कि लोकभावना (Public Sentiment) द्वारा वर्जित या निषिद्ध वस्तुकी खरीद रोकनेके उद्देश्यसे किसी दूकानके सामने लेट जाना अनुनय है या कष्ट पहुचाना है।

हडताल करनेका अधिकार अभी हाल ही में स्वीकार किया गया है। साधारणत यह स्वीकार किया जाता है कि जब झगडा तय करनेके अन्य सब साधन व्यर्थ हो जायें तब हडताल ही एक प्रभाव-पूर्ण हथियार शेष रह जाता है। किसीको सहानुभूतिमें की गई हडतालों और आम हडतालोका विचार भिन्न-भिन्न ढगसे किया जाता है। श्री लास्की आम हडतालके अधिकारका समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि आत्यन्तिक (Extreme) मामलोमें निष्क्रिय जनताको मजदूर वर्गके प्रति अपने उत्तरदायित्वका ध्यान दिलानेके लिए आम हडताल ही एकमात्र साधन है। 'जो सरकार आम हडतालकी धमकीका मुकाबला करती है वह इसी कारण जनताके समर्थनकी हकदार नहीं रह जाती (४९ १३३)।'

औद्योगिक क्षेत्रोमें हडताल चाहे कितनी ही उचित क्यो न हो, पर यह प्राय सब जगह माना जाता है कि जन पदाधिकारियो (civil servants), पुलिस, डाक-कर्मचारियो, रेल-कमचारियो तथा जन-सेवाके काममें लगे हुए अन्य लोगोको हडताल करनेका कोई अधिकार नही है। इस सम्बन्धमें भी श्री लास्की का विचार बिल्कुल भिन्न है। 'जन-पदाधिकारी केवल सरकारका नौकर ही नही है, वह एक नागरिक भी है (४९ १३८)।' इसलिए श्री लास्की का कहना है कि समाजको इस बातका कोई हक नहीं है कि वह अपनी सहूलियतको मजदूरकी स्वाधीनता से अधिक महत्त्व दे। हडतालो की सख्या कम करनेके लिए लास्की का सुझाव है कि राज्य आधारभूत वेतन (Basic Wages) और कामके घटोका कुछ ऐसा नियमन नियन्त्रण करे कि प्रत्येक उद्योग और व्यवसायमें परिस्थितिया भौतिक तथा मानसिक या आत्मिक दृष्टिसे पर्याप्त सतोषजनक हो और प्रत्येक उद्योग-व्यवसायको यथेष्ट मात्रामें स्व-शासन भी प्राप्त हो जाय।

तत्वत यह एक आधुनिक अधिकार है। बीते जमानेमें राज्य और धर्म-सघके बीच चाहे जितना सघर्ष रहा हो, पर आधुनिक युगमें न केवल राज्य और धर्म-सघके बीच

बल्कि एक ही राज्यके विभिन्न धर्मो और सम्प्रदायोके बीच भी परस्पर एक दूसरेकी मैत्री-पूर्ण स्वीकृतिका सम्बन्ध है। हम श्री रूसो के इस कथनसे सहमत है, 'जो धर्म दूसरे धर्मोके प्रति सहिष्णु हो उनके साथ तब तक सहिष्णुताका व्यवहार करना चाहिए जब तक उनके सिद्धान्त नागरिकके कर्त्तव्योके विपरीत न हो जाये (६७ चौथी पुस्तक, अध्याय ८)।'

४ धार्मिक विश्वास और व्यवहारकी स्वाधीनता (Liberty of Religious opinion and practice)

ईसाई-धर्म-सघ (Church) के मान्य स्वीकृत उपदेशोसे भिन्न मार्ग ग्रहण करना ही नास्तिकता है और उसके लिए दड धार्मिक कोटिका ही हो सकता है। राज्य उससे अपना कोई सम्बन्ध नही रखता। पर, जब कभी जान-बूझ कर किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेषके विरुद्ध निन्दात्मक प्रचार होता है जिससे सार्व-जनिक व्यवस्थाको खतरा उत्पन्न हो सकता है तो ईश्वर-निन्दा सम्बन्धी कानून लागू होता है। धर्म-सघ एक स्वेच्छामूलक सगठन है और इसलिए उस पर वह अनेक बन्धन लागू होते है जो दूसरे स्वेच्छामूलक सगठनों पर लागू रहते है। धर्म-सघ युद्ध नही छेड सकता, टैक्स नही लगा सकता, व्यक्तियो को बन्दी नही बना सकता। उसे इस बातका कोई अधिकार नही है कि लोगोको विद्रोह या गृह-युद्धके लिए भड़काये अथवा अनैतिक कार्योको प्रोत्साहन दे। दूसरे शब्दोमें नागरिक के कर्त्तव्योके विपरीत आचरण करनेका उसे कोई अधिकार नही है।

इसके साथ ही साथ, अपनी विशिष्ट स्थितिके कारण, धर्म-सघको कुछ ऐसे विशेष सुविधामूलक अधिकार भी प्राप्त है जो अन्य स्वेच्छामूलक सगठनोको नही प्राप्त रहते। धर्म-संघ एक बहुत बडी सामाजिक आवश्यकताकी पूर्ति करता है और लोगोमें उच्च कोटिकी नैतिकता उत्पन्न करता है। अपनी उच्चतम स्थितिमें धर्म-सघ 'एक ऐसी भावना और आदर्शकी क्षमता उत्पन्न करता है जिसकी राज्यको आवश्यकता तो रहती है पर जिसे राज्य स्वय उत्पन्न नही कर पाता' (ए० डी० लिडसे—A. D Lindsay)। धर्म-सघ द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला कार्य इतना उपयोगी होनेके कारण यह आवश्यक है कि राज्य उसकी रक्षा और उसका समुचित उत्साह-वर्धन करे। अधिकाश देशोमें धार्मिक सभाए, अनेक प्रकारके उपद्रवो, झगडोके विरुद्ध विशेष रूपसे की जाती है। राज्य धर्म-गुरुओको अपनी सरक्षकतामें विवाह-सस्कार करनेकी अनुमति देता है। कुछ देशोमें राज्य धर्म-गुरुओको कुछ नागरिक कर्त्तव्योसे मुक्त रखता है जैसे जूरीकी सदस्यता और युद्धमें भाग लेना। कुछ स्थानोमें धार्मिक पूजा या उपासनाकी इमारतो पर टैक्स नही लगाया जाता। कुछ धर्म-सघो या धार्मिक उपाधियोको प्रतिष्ठित धर्म या उपाधि मान कर राज्य द्वारा उनकी पूरी या काफी आर्थिक सहायताकी जाती है। इस कार्यका किसी प्रकार भी कोई समर्थन नही किया जा सकता।

५ विवेक या अन्तरात्माका अधिकार (The Right of Conscience). सामाजिक सौष्ठव और व्यवस्थाकी सीमाके भीतर रहते हुए किसी भी धार्मिक विश्वास, जो मानने और बरतनेका अधिकार प्राय सब कही स्वीकार कर लिया गया है, पर विवेकके अधिकारको अभी तक ऐसी कोई स्वीकृति नही मिली। इस स्वीकृतिके मार्गमें बाधाए अनेक है। विवेक व्यक्तिके अन्तरात्माकी छिपी हुई आवाज है जो उस अन्तरात्मा के स्वामीके अतिरिक्त और किसीको नही सुनाई दे सकती। यदि हरएकको इस बातकी

राज्य बहिष्कारके सीमित व्यवहारकी आज्ञा देते है। बहिष्कार सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक कारणसे किया जाता है। बहिष्कार प्रधानत आधुनिक औद्योगिक सभ्यताकी उपज है। जब केवल एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह बहिष्कार करता है तब कोई खास चिन्ताकी बात नही होती, पर जब कोई सघ व्यापक पैमाने पर बहिष्कार करता है तब सामाजिक नियमनकी आवश्यकता होती है। साधारणत राज्य बहिष्कारके मामलोमें दखल नही देते क्योकि 'औद्योगिक सम्बन्धोकी स्वाधीनता पर कडा प्रतिबन्ध लगानेमें (७२ ५७९)' काफी असुविधाए रहती है। पर हिन्दुस्तानमें जब ग्रेट-ब्रिटेन के विरुद्ध एक राजनैतिक हथियारके रूपमें बहिष्कारका उपयोग किया गया तब बहिष्कारके अधिकारमें बहुत अधिक काट-छाट की गई थी।

बहुधा राज्योमें शान्ति-पूर्वक धरना देने पर कोई आपत्ति नही की जाती। फिर इस बातकी आशका है कि शान्ति-पूर्ण धरना अव्यवस्थित धरनेमें बदल जाय और एक सुव्यवस्थित राज्यको इन दोनोके बीच सावधानीके साथ अन्तर करना होगा। अनुनय (Persuasion) या समझाना-बुझाना तो उचित है, पर जोर-जबर करना या कष्ट पहुचाना तो उचित नही है। यह निर्णय करना हमेशा आसान नही होता कि लोकभावना (Public Sentiment) द्वारा वर्जित या निषिद्ध वस्तुकी खरीद रोकनेके उद्देश्यसे किसी दूकानके सामने लेट जाना अनुनय है या कष्ट पहुचाना है।

हडताल करनेका अधिकार अभी हाल ही में स्वीकार किया गया है। साधारणत यह स्वीकार किया जाता है कि जब झगडा तय करनेके अन्य सब साधन व्यर्थ हो जायें तब हडताल ही एक प्रभाव-पूर्ण हथियार शेष रह जाता है। किसीकी सहानुभूतिमें की गई हडतालों और आम हडतालोका विचार भिन्न-भिन्न ढगसे किया जाता है। श्री लास्की आम हडतालके अधिकारका समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि आत्यन्तिक (Extreme) मामलोमें निष्क्रिय जनताको मजदूर वर्गके प्रति अपने उत्तरदायित्वका ध्यान दिलानेके लिए आम हडताल ही एकमात्र साधन है। 'जो सरकार आम हडतालकी धमकीका मुकाबला करती है वह इसी कारण जनताके समर्थनकी हकदार नही रह जाती (४९ १३३)।'

औद्योगिक क्षेत्रोमें हडताल चाहे कितनी ही उचित क्यो न हो, पर यह प्राय सब जगह माना जाता है कि जन पदाधिकारियो (civil servants), पुलिस, डाक-कर्मचारियों, रेल-कर्मचारियों तथा जन-सेवाके काममें लगे हुए अन्य लोगोको हडताल करनेका कोई अधिकार नही है। इस सम्बन्धमें भी श्री लास्की का विचार बिल्कुल भिन्न है। 'जन-पदाधिकारी केवल सरकारका नौकर ही नही है, वह एक नागरिक भी है (४९ १३८)।' इसलिए श्री लास्की का कहना है कि समाजको इस बातका कोई हक नही है कि वह अपनी सहूलियतको मजदूरकी स्वाधीनता से अधिक महत्त्व दे। हडतालो की सख्या कम करनेके लिए लास्की का सुझाव है कि राज्य आधारभूत वेतन (Basic Wages) और कामके घटोका कुछ ऐसा नियमन नियत्रण करे कि प्रत्येक उद्योग और व्यवसायमें परिस्थितिया भौतिक तथा मानसिक या आत्मिक दृष्टिसे पर्याप्त सतोषजनक हों और प्रत्येक उद्योग-व्यवसायको यथेष्ट मात्रामें स्व-शासन भी प्राप्त हो जाय।

तत्त्वत यह एक आधुनिक अधिकार है। बीते जमानेमें राज्य और धर्म-सघके बीच चाहे जितना सघर्ष रहा हो, पर आधुनिक युगमें न केवल राज्य और धर्म-सघके बीच

वल्कि एक ही राज्यके विभिन्न धर्मो और सम्प्रदायोके वीच भी परस्पर एक दूसरेकी मैत्री-पूर्ण स्वीकृतिका सम्वन्ध है। हम श्री रूसो के इस कथनसे सहमत है, 'जो धर्म दूसरे धर्मोके प्रति सहिष्णु हो उनके साथ तव तक सहिष्णुताका व्यवहार करना चाहिए जव तक उनके सिद्धान्त नागरिकके कर्त्तव्योके विपरीत न हो जायें (६७ चौथी पुस्तक, अध्याय ८)।'

४ धार्मिक विश्वास और व्यवहारकी स्वाधीनता (Liberty of Religious opinion and practice)

ईसाई-धर्म-सघ (Church) के मान्य स्वीकृत उपदेशोसे भिन्न मार्ग ग्रहण करना ही नास्तिकता है और उसके लिए दड धार्मिक कोटिका ही हो सकता है। राज्य उससे अपना कोई सम्वन्ध नही रखता। पर, जव कभी जान-वूझ कर किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेषके विरुद्ध निन्दात्मक प्रचार होता है जिससे सार्व-जनिक व्यवस्थाको खतरा उत्पन्न हो सकता है तो ईश्वर-निन्दा सम्वन्धी कानून लागू होता है। धर्म-सघ एक स्वेच्छामूलक सगठन है और इसलिए उस पर वह अनेक वन्धन लागू होते है जो दूसरे स्वेच्छामूलक सगठनो पर लागू रहते है। धर्म-सघ यूद्ध नही छेड सकता, टैक्स नही लगा सकता, व्यक्तियो को वन्दी नही वना सकता। उसे इस वातका कोई अधिकार नही है कि लोगोको विद्रोह या गृह-यूद्धके लिए भड़काये अथवा अनैतिक कार्योको प्रोत्साहन दे। दूसरे शब्दोमें नागरिक के कर्त्तव्योके विपरीत आचरण करनेका उसे कोई अधिकार नही है।

इसके साथ ही साथ, अपनी विशिष्ट स्थितिके कारण, धर्म-सघको कुछ ऐसे विशेष सुविधामूलक अधिकार भी प्राप्त है जो अन्य स्वेच्छामूलक संगठनोको नही प्राप्त रहते। धर्म-सघ एक वहुत वड़ी सामाजिक आवश्यकताकी पूर्ति करता है और लोगोमें उच्च कोटिकी नैतिकता उत्पन्न करता है। अपनी उच्चतम स्थितिमें धर्म-सघ 'एक ऐसी भावना और आदर्शकी क्षमता उत्पन्न करता है जिसकी राज्यको आवश्यकता तो रहती है पर जिसे राज्य स्वयं उत्पन्न नही कर पाता' (ए० डी० लिंड्से—A. D Lindsay)। धर्म-संघ द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला कार्य इतना उपयोगी होनेके कारण यह आवश्यक है कि राज्य उसकी रक्षा और उसका समुचित उत्साह-वर्धन करे। अधिकाश देशोमें धार्मिक सभाए, अनेक प्रकारके उपद्रवो, झगडोके विरुद्ध विशेष रूपसे की जाती है। राज्य धर्म-गुरुओको अपनी सरक्षकतामें विवाह-सस्कार करनेकी अनुमति देता है। कुछ देशोमें राज्य धर्म-गुरुओको कुछ नागरिक कर्त्तव्योसे मुक्त रखता है जैसे जूरीकी सदस्यता और युद्धमें भाग लेना। कुछ स्थानोमें धार्मिक पूजा या उपासनाकी इमारतो पर टैक्स नही लगाया जाता। कुछ धर्म-सघो या धार्मिक उपाधियोको प्रतिष्ठित धर्म या उपाधि मान कर राज्य द्वारा उनकी पूरी या काफी आर्थिक सहायताकी जाती है। इस कार्यका किसी प्रकार भी कोई समर्थन नही किया जा सकता।

विवेक या अन्तरात्माका अधिकार (The Right of Conscience). सामाजिक सौष्ठव और व्यवस्थाकी सीमाके भीतर रहते हुए किसी भी धार्मिक विश्वास, जो मानने और वरतनेका अधिकार प्राय सब कही स्वीकार कर लिया गया है, पर विवेकके अधिकारको अभी तक ऐसी कोई स्वीकृति नही मिली। इस स्वीकृतिके मार्गमें वाधाए अनेक है। विवेक व्यक्तिके अन्तरात्माकी छिपी हुई आवाज़ है जो उस अन्तरात्मा के स्वामीके अतिरिक्त और किसीको नही सुनाई दे सकती। यदि हरएकको इस वातकी

आज़ादी दे दी जाय कि वह स्वय अपने विवेकका अनुगमन करे तो समाजकी व्यवस्था चौपट हो जाय। सभीका विवेक एक ही बात नही कहता। इसलिए राजनैतिक मामलो में राज्य जैसी एक सामूहिक सस्थाकी आवश्यकता पडती है जो समाजकी सर्व-सामान्य सम्मतिका प्रतिनिधित्व कर सके और जिसका काम यह निर्णय करना हो कि कौन-सी बात सार्वजनिक हितमें है और कौन-सी नही। व्यक्ति अपने विवेकके अनुसार इतना ही निश्चय कर सकता है कि कौन-सी बात उसके लिए हितकर है और कौन-सी अहितकर, और उस की इस स्वाधीनता पर धरतीकी कोई भी शक्ति आघात नही पहुचा सकती। पर राज्यको इस बातका अधिकार है और यह उसका कर्त्तव्य भी है, कि व्यक्तिके कार्य जहा सर्वसाधारण की सुरक्षा और उनके कल्याण पर अहितकर प्रभाव डालें, वहा वह हस्तक्षेप करे।

युद्धके प्रति नैष्ठिक और आत्मिक विरोध रखने वाले व्यक्तियोको बहुतसे आधुनिक राज्य युद्धमें भाग न लेनेकी अनुमति देते है। ऐसा वह कार्य-साधकताके विचारसे करते है न कि इस सामान्य मान्यताके आधार पर कि प्रत्येक नागरिकको अपने विवेकका अनुगमन करनेकी स्वाधीनता मिलनी चाहिए—विवेक फिर उसे चाहे जहा ले जाय।

५ राज्यका प्रतिरोध करनेका अधिकार (The 'Right' to Resist the State)

यह 'अधिकार' विवेकके अधिकारका ही अनुगामी है। इस पर विचार करते समय हम श्री टी० एच० ग्रीन (T H Green) की पुस्तक 'राजनैतिक उत्तरदायित्वके सिद्धान्त' «Principles of Political Obligation, Section H» में अभिव्यक्त विचारो की चर्चा करेंगे। निस्सन्देह व्यक्तिको इस बातकी परख करनी चाहिए कि कोई क़ानून अच्छा—हितकर है या नही। यदि उसका निर्णय यह हो कि वह कानून हितकर नही है तब भी उसे साधारणत उस कानूनका पालन करना ही चाहिए, विशेषकर एक ऐसे देशमें जहा लोकप्रिय सरकार क़ायम हो और जहा बिना किसी कठिनाईके मनचाहा परिवर्तन करवानेके कानूनी या वैधानिक साधन उपलब्ध हों। बुरे कानून जब तक हटाये या बदले न जायें तब तक व्यक्तिको उनका पालन करना चाहिए क्योकि यही उसका सामाजिक कर्त्तव्य है। पर जहा बुरे कानूनोके बदलने या रद्द करवाने का कोई वैधानिक साधन नही है, या जहा सरकार इतनी भ्रष्ट है कि वह सामाजिक हितकी अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थको अधिक महत्त्व देती है, या जहा सरकार नागरिकके व्यक्तित्वकी परिधिका उल्लघन करती है, वहा सरकारका प्रतिरोध व्यक्तिका कर्त्तव्य हो सकता है। ऐसे आत्यन्तिक मामलोमें प्रतिरोध अधिकार ही नही, दु खदायी कर्त्तव्य भी हो जाता है।

सरकारके विरोधका मार्ग ग्रहण करनेसे पहले एक अच्छे नागरिकको विशेषकर यदि वह एक नेता है तो उसे निम्नलिखित बातोका विचार कर लेना चाहिए

(क) क्या वाछित परिवर्तन लानेके लिए सभी सम्भव वैधानिक उपायोका अवलम्बन हम कर चुके ?

(ख) जिन लोगोसे हम सरकारका प्रतिरोध या विरोध करनेको कहते है क्या उन लोगोको इस बातका निजी ठोस बोध है कि उनके साथ अन्याय किया गया है या केवल हमी उनकी भावनाओको उभाड रहे है ? जो अन्याय सरकारकी तरफसे हुआ है क्या वह इतना गम्भीर है कि उसके लिए सरकारका विरोध किया जाय ? क्या जनता उन कारणो को भलीभाति समझती है जिनके आधार पर सरकारका विरोध करना है ?

(ग) जिन लोगोके बीच हमें काम करना है उनका चरित्र और उनकी मन.स्थिति कैसी है? क्या वह भावना-प्रधान और शीघ्र ही उत्तेजित हो जाने वाले लोग है या वह विवेकशील और ऐसे आत्मसयमी लोग है जो यह समझते है कि उन्हें कब और कहा तक जाना चाहिए? क्योकि एक बार प्रतिरोध प्रारम्भ हो जाने पर यह नही कहा जा सकता कि उसका अन्त कब, कहा होगा।

(घ) स्वय हमारा अपना चरित्र कैसा है? क्या मैंने अपनी अहतासे—अपने अहभावसे अपने आपको मुक्त कर लिया है? और क्या मै स्वार्थहीन सार्वजनिक हितकी प्रेरणा से ही काम कर रहा हू?

(ङ) परिणामोके सम्बन्धमें सम्भावना क्या है? क्या आने वाली स्थिति वर्तमान स्थितिसे भी बुरी होगी? क्या कानून-भगकी व्यवस्था सामान्य अराजकताकी स्थिति उत्पन्न कर देगी?

श्री ग्रीन यह अनुभव करते है कि विद्रोह या क्रान्तिके समय इस प्रकारके प्रश्नो पर निष्पक्ष दृष्टिसे विचार नही किया जा सकता। विद्रोहके दिन काम करनेके होते है विचार—मननके नही। और इसके अतिरिक्त, अनेक मामलोमें परिणाम ही इस बातको सिद्ध कर पाता है कि कोई काम सार्वजनिक हितमें था या नही। और फिर किसी भी भले कामके सफल होनेमें सफलता और असफलताकी आख-मिचौनी कुछ अनिवार्य-सी होती है। बहुमत वाले दलको विरोध करनेका अधिकार इसीलिए नही मिल सकता कि वह बहुमतमें है। प्रायः अल्पमतका ही यह कर्त्तव्य होता है कि असहाय होने पर भी वह सरकारका विरोध करे, भले ही सफलता की कोई आशा भी न हो।

इन सब तथ्यो पर विचार करनेके बाद ग्रीन इस व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहुचते है कि व्यक्ति चाहे जिस पक्षको अपनाए, यदि उसका चरित्र उच्च कोटिका है और वह निःस्वार्थ शुद्ध उद्देश्योसे प्रेरित है तो निश्चय ही उसके द्वारा हानिकी अपेक्षा लाभ ही अधिक होगा। साधारणत सर्वोत्तम कोटिके चरित्रसे सर्वोत्तम परिणामोकी भी आशा की जाती है, देखनेमें भले ही लक्षण इसके विपरीत हो।

६ दड देनेका राज्याधिकार (The Right of the State to Punish)

प्रारम्भिक युगमें अन्यायका प्रतिकार या तो स्वय वह व्यक्ति करता था जिसके साथ अन्याय किया जाता था या वह जाति या कबीला जिसका वह सदस्य होता था। पर आजकल सभी देशोमें यह माना जाता है कि अन्यायी या अपराधीको दड देना राज्यका कर्त्तव्य है भले ही अपराधीको दड देना राज्यके लिए सुविधाजनक न हो। बाहरी दृष्टिसे दड व्यक्तिकी स्वाधीनता पर एक बन्धन है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि व्यक्तिका स्वाधीन जीवन बितानेका अधिकार उसकी समाजकी सदस्यताकी योग्यता पर निर्भर करता है। एक अपराधी असामाजिक वृत्तियोका मनुष्य होता है और इसलिए यह जरूरी है कि उसके स्वाधीन जीवन बितानेके अधिकारमें समाज हस्तक्षेप करे समाजके कल्याणके लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रत्येक सदस्यकी असामाजिक वृत्तियोका दमन किया जाय। यदि इसकी उपेक्षा की गई तो समाज फिर जगली जीवनकी अव्यवस्था और अराजकता की स्थितिमें पहुच जाएगा।

सैद्धान्तिक स्तर पर दडका औचित्य अनेक दृष्टिकोणोंसे माना गया है। दड-सम्बन्धी

सिद्धान्तोके तीन विभेद किए जा सकते है

(१) प्रतिफलात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory),

(२) निरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive or Deterrent Theory),

और (३) सुधार-मूलक सिद्धान्त (Reformatory Theory)।

इनमेसे पहिले सिद्धान्तका नामकरण कुछ असगत हो गया है। इससे प्रतिशोध या बदलेकी ध्वनि निकलती है जब कि वास्तवमें यह दडकी सबसे अधिक प्राचीन धारणा है। प्राचीन इज़राइल वालोमें स्वीकृत पद्धति थी—'जैसेको तैसा' या 'खूनके बदले खून।'

पर यह सिद्धान्त स्वभावत भ्रमात्मक है और व्यवहारमें बुराइया पैदा करता है। श्री बोसाक्वेट ने दो बुराइयोका उल्लेख किया है (१) दडको व्यक्तिगत प्रतिशोधका रूप मान लेनेकी भूल, और (२) यह तर्क कि दड अपराधके समतुल्य या बराबर हो। व्यक्तियोके सम्बन्धमें और जातियोके सम्बन्धमें भी प्रतिशोधकी भावना तो कुछ समझमें आती है, पर व्यक्ति और राज्यके सम्बन्धमें तो प्रतिशोध-भावनाका कोई अर्थ समझमें नही आता। श्री ग्रीन ने दड-व्यवस्थाका विचार करते हुए दड और प्रतिशोधकी भावनामें कोई सम्बन्ध स्वीकार नही किया। पर श्री मिल और लेस्ली स्टीफेन (Mill and Leslie Stephen) इस सम्बन्धको स्वीकार करते है। श्री स्टीफेन दडको विधान द्वारा स्वीकृत प्रतिशोध मानते है। श्री ग्रीन इस धारणाका खडन करते है। वह कहते है कि दडकी तात्त्विक धारणा ही यह है कि व्यक्तिगत प्रतिशोधसे आगे बढ कर उसके स्थान पर दडकी व्यवस्था की जाय। समाजकी उस अवस्थामें तो कोई अधिकार स्थिर रह ही नही सकता जहा व्यक्तिगत प्रतिशोध ही स्वीकृत सार्वभौम व्यवहार बन जाय? इसके विपरीत दड तो इस मान्यताकी स्वीकृति और विज्ञप्ति है कि अपराधीने समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार या अधिकारोका उल्लघन किया है। इस प्रकार दड असामाजिक कार्योंका एक स्वाभाविक परिणाम है। व्यक्तिकी विरोधी प्रवृत्ति अधिकारोकी एक ऐसी व्यवस्थाकी अवहेलना करती है जिसकी रक्षा करनेके लिए राज्यका अस्तित्व है और जिसे समाज व्यक्तिकी कल्याण-मूलक शक्तियोके कार्यान्वयके लिए आवश्यक मानता है। इसीलिए अपराधीको दड पानेका 'अधिकार' है। कोई भी व्यक्ति आग पर अपनी उगली रख कर इस बातकी आशा नही कर सकता कि वह जल नही जायगी। इसी प्रकार वह इस बातकी भी आशा नही कर सकता कि वह समाजकी व्यवस्थाको भग करेगा—जिस व्यवस्थाका वह स्वय एक अग है—और फिर भी समाज उसके विरुद्ध कोई कदम नही उठाएगा। अपराधीका दिमाग़ दुरुस्त करनेके लिए दड एक प्रभावपूर्ण साधन है। चोट खा कर ही वह भले जीवनको अपना सकता है। इस प्रकार दड व्यक्तिकी स्वेच्छाकी ही पूर्ति है। दड अपराधीकी स्वय अपनी ही सम्मति या इच्छा है 'जो उस सामाजिक व्यवस्थाकी प्रतिष्ठामें निहित है जिसका वह स्वय भी एक सदस्य है, और उसकी वह इच्छा ही उसे दड-रूपमें वापस मिलती है।' दड 'व्यक्तिकी अवज्ञा-पूर्ण या अकर्मण्य स्वेच्छाका उसकी वास्तविक इच्छा द्वारा शोधन है—सुधार है।'

जहा तक दूसरी बुराईका सम्बन्ध है, हमें यह याद रखना चाहिए कि राज्यके पास ऐसा कोई साधन नहीं है कि वह दडकी पीडा या अपराधकी नैतिक गुरुता को नाप-तोल सके। तब जिन तथ्योका कोई निश्चित निर्धारण नही किया जा सकता उनके अनुरूप दड की व्यवस्था कैसे की जा सकती है। जैसा कि श्री ग्रीन ने कहा है, यदि राज्यके लिए

दडकी पीडा और अपराधकी नैतिक अधमता (Depravity) के बीच अनुपातकी व्यवस्था करना सम्भव भी हो जाए, तो परिणाम यह होगा कि प्रत्येक अपराधके लिए एक भिन्न कोटिकी दड-व्यवस्था करनी होगी। इसका अर्थ यह होगा कि 'दड-व्यवस्थाके समूचे सामान्य सिद्धान्तोका अन्त हो जाएगा (२६ : १६१)।'

इस सिद्धान्तका सबसे बडा गुण यह है कि इसमें अपराधी पर ही ध्यान केन्द्रित रखा गया है। इसके विपरीत, निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) में दड-व्यवस्था अन्य सम्भावित अर्थात् भविष्यमें होने वाले अपराधियोको ध्यानमें रख कर की जाती है और यह वास्तवमें तथ्योके सही सम्बन्धको उलट देना है। जिस सिद्धान्त पर हम विचार कर रहे है उसमें दड समाजको स्वस्थ—व्यवस्थित रखनेका एक साधन माना गया है। दड सामाजिक आत्म-रक्षाके हितमें समाजकी शक्तिका प्रदर्शन है।

इस सिद्धान्तकी सबसे बडी त्रुटि यह है कि इसमे क्षमाके लिए कोई तर्क-सगत आधार नही बताया गया। जैसा कि श्री रशदल (Rashdall) ने कहा है, खीझ (resentment) और क्षमा, दोनो ही सामाजिक कल्याण-सिद्धिके साधन है और सामाजिक हित ही दोनोके परिमाण निश्चित करनेमें आधार बनता है। इस सिद्धान्तमें और निरोधात्मक सिद्धान्तमें भी, एक दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें समाज द्वारा किए जाने वाले निरोधको ही महत्त्व दिया गया है और व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले आत्मनिरोध (Self-Prevention) को एकदम भुला दिया गया है, पर दड-व्यवस्थामें दोनोको ही सम्मिलित करना चाहिए।

निरोधात्मक सिद्धान्त श्री ग्रीन और बोसाके ने इस सिद्धान्तकी विस्तृत विवेचनाकी है। यद्यपि दडकी पूरी-पूरी विवेचनामें प्रतिफल, निरोध और सुधार (Retribution, deterrence and reformation) यह सभी तत्त्व सम्मिलित रहने चाहिए, पर इन लेखकोने दूसरे तत्त्व पर ही अधिक जोर दिया है। इस सिद्धान्तके अनुसार, दडका मूल उद्देश्य है अन्य सम्भावित अपराधियोको वैसे ही अपराध करनेसे रोकना। श्री ग्रीन के शब्दोमें, दड देनेमें राज्यका उद्देश्य 'अपराधीको पीडा पहुचानेके उद्देश्यसे ही पीडा पहुचाना नही है और न केवल व्यक्तिगत रूपमें अकेले उस अपराधी को अपराध करनेसे रोकना है, बल्कि उस अपराधके साथ ऐसी पीडाका सम्बन्ध स्थापित कर देना है जिसकी कल्पनासे ही अन्य ऐसे लोग जो वैसे अपराध करनेकी प्रवृत्ति मन में लाए, काप उठें (२६ : १६२)।' दूसरे शब्दोमें, दडका उद्देश्य है समाजके सम्मुख एक भयप्रद उदहरण रखना। श्री जे० बेन्थम (J. Bentham) दर्शको पर प्रभाव डालने के उद्देश्यसे खुले आम दड देनेका समर्थन करते थे। बहुत दिनो तक इस विचारधारा की मान्यता रही है, यद्यपि अब इसका प्रभाव घटता जा रहा है। आज भी जब न्यायाधीश यह समझते है कि किसी मामलेमें परिस्थितिया वैसी ही माग करती है तब वह निरोधात्मक दडकी व्यवस्था देते है। इसमें कोई सन्देह नही है कि दडसे सम्भावित अपराधियो को उस अपराधके विरुद्ध एक चेतावनी मिल जाती है जिसके लिए दड दिया जाता है। पर यह दडका मूल नही गौण उद्देश्य है।

हम श्री ग्रीन के इस तर्कसे सहमत होनेमें असमर्थ है कि दडका मूल उद्देश्य जनता के मनमें किसी अपराधके साथ दडका आतक उत्पन्न करके भविष्यमें ऐसे अपराधोको रोकना है। यदि इस तर्कको स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि किसी

अपराधकी गुरुता या उसकी बुराई इस बातसे नही नापी जाएगी कि उससे समाजको क्या, कितनी हानि पहुची, बल्कि उसका निश्चय इस आधार पर करना होगा कि उस अपराधको रोकनेके लिए जनताके मनमें उसके प्रति कितना आतंक उत्पन्न करना आवश्यक है। उदाहरणके लिए इसका अर्थ यह होगा कि यदि फौजदारी या हत्या आदिके अपराधो के बजाए दीवानी या सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध अधिक होने लगें तो दीवानीके मामलोमें फौजदारीके अपराधोकी अपेक्षा अधिक कठोर दड-व्यवस्था की जाएगी, जो स्पष्टत एक तर्कहीन व्यवस्था होगी। अपराधकी गम्भीरताका निश्चय उस अधिकारकी महत्तासे किया जाता है जिसका अतिक्रमण या उल्लघन किया गया है। और फिर इसका तो कोई कारण नही दिखाई देता कि क्यों श्री ग्रीन यह कल्पना कर लेते है कि दड पाने वाले अपराधीकी भाति अन्य अपराधी होगे ही। इसलिए निरोधका विचार प्रधान उद्देश्य न होकर गौण उद्देश्यके रूपमें स्वीकार किया जाना चाहिए। निरोध-भावनाको गौण स्थान देनेका एक दूसरा व्यावहारिक कारण यह है कि यदि न्यायाधीशको दड-व्यवस्था इस उद्देश्यसे करनी होगी कि एकको दड देकर वह अनेकके लिए आतकजनक उदाहरण उपस्थित करे तो यह स्वाभाविक है कि वह अनुचित रूपसे कठोर दड-व्यवस्था करे, जो अन्याय है और रोका जाना चाहिए। स्वय अपराधीको भी एक साधन-मात्र न मानकर अपने आपमें उसे एक उद्देश्य माना जाना चाहिए।

सुधार-मूलक सिद्धान्त आधुनिक विवेचनमें इस सिद्धान्तको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार दडका प्रधान उद्देश्य है व्यक्तिके चरित्रका कुछ ऐसा सुधार करके उसे समाजमें वापस लाना कि वह समाजका एक आत्मसम्मानशील और स्वतत्र सदस्य बन सके। इस सिद्धान्तके कुछ समर्थक कहते है कि अपराधी एक रोगी है जिसका इलाज किया जाना चाहिए न कि एक असामाजिक व्यक्ति जिसे दड दिया जाए। श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) के अनुयायियोका कहना है कि अपराध 'एक व्याधि है, पागलपनका एक विभेद है, एक जन्मजात अर्थात् पैदायशी या अर्जित दुर्वृत्ति है।' इस दृष्टिकोणके अनुसार 'जेलोके बजाए अस्पतालो, पागलखानो और सुधार-केन्द्रोको महत्त्व दिया जाना चाहिए।' इस सिद्धान्तके कुछ अन्य समर्थक अपराधोके अस्तित्वके लिए सामाजिक परिस्थितियोको उत्तरदायी बताते है और कहते है कि यदि अधिक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाकी स्थापना की जाए तो अपराध समाजसे बिल्कुल ही मिटाए जा सकते हैं।

सुधारमूलक सिद्धान्त पुराने ज़मानेकी कठोर अनुचित हिंसा वृत्तिकी प्रतिक्रियाके रूपमें तो एक स्वस्थ सिद्धान्त है। पर साथ ही उसमें कुछ त्रुटिया भी है। सभी अपराधों को व्याधिरूप मान लेना वास्तविकतासे दूर भागना होगा। सभी अपराधी पागल या क्षीण-बुद्धि नही होते। पागलपनके मामलोको शुद्ध अपराधके मामलोसे अलग रखा जाता है, उनका विभेद हम स्वीकार करते है। एक पागल अपराधीको अलग रख कर उसका इलाज किया जाता है, पर एक साधारण व्यक्तिका इलाज नही किया जाता, हा उसके पुनर्वासका ध्यान रखा जाता है। उसे दड इसलिए दिया जाता है कि वह एक ज़िम्मेदार व्यक्ति है जो अपने कार्योके लिए समाजके सम्मुख उत्तरदायी हो सकता है।

इसमें कुछ सन्देह नही है कि कुछ विशेष कोटिके अपराधोके लिए अपराधीकी अपेक्षा समाज अधिक उत्तरदायी है। पर ऐसे मामले असाधारण कोटिके होते है, और अपवादों के आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर करना उचित नही है। अधिकाश अपराध असयमित इच्छासे उत्पन्न होते है।

लिए परिवार आवश्यक है। पारिवारिक जीवनका सगठन प्रत्येक देशमें भिन्न प्रकारका है, पर कुछ विशेषताए सर्वत्र सामान्य या एक सी है। आधुनिक राज्योमें साधारणत एक पत्नीत्व पर आधारित सम्बन्धोको स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। तलाक के लिए बहुत ही गम्भीर मामलोमें स्वीकृति देनेकी प्रवृत्ति है। बहुपत्नीत्वके विरुद्ध श्री टी० एच० ग्रीन ने जो तर्क दिए है वह आज भी उतने ही सार-युक्त है जितने श्री ग्रीन के समयमें थे। बहुपत्नीत्वके विरुद्ध कुछ तर्क यह है (क) इससे उन व्यक्तियोके अधिकारो का उल्लघन होता है जो उचित विवाहसे वचित रह जाते है और जिन्हें विवाहसे प्राप्त होने वाला नैतिक सस्कार भी नही मिल पाता, (ख) पत्नीके अधिकारोंका उल्लघन होता है क्योकि परिवारमें उसे जो स्थान व प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिए उससे वह वचित रह जाती है और पतिके विलासका साधन-मात्र वन जाती है, इस प्रकार उसकी नैतिक प्रतिष्ठा भी गिर जाती है, (ग) उन बच्चोके अधिकारोका भी उल्लघन होता है जिनसे नैतिक सस्कार और शिक्षाका वह अवसर छिन जाता है जो माता-पिताके एक मन हो कर रहने पर ही बच्चोको प्राप्त हो सकता है।

केवल ऐन्द्रिय-प्रेरणा (Sexual impulse) को ही परिवारका आधार कभी नही बनाना चाहिए। परिवारका सच्चा आधार है पति, पत्नी और सन्तानका सामान्य कल्याण। बच्चोके कल्याणके लिए, समाजके सगठनके लिए और सार्वजनिक नैतिकताके हितमें यह आवश्यक है कि राज्य केवल उन्ही विवाह-सम्बन्धोको स्वीकार करे जिनका आधार स्थायी एकपत्नीत्व हो। साधारणत तलाक उन्ही मामलोमें स्वीकार किया जाना चाहिए जहा पति या पत्नी पर अविश्वास और बुरे आचरणका दावा हो। ऐसे मामलोमें तलाक यथासम्भव आसान और सस्ता होना चाहिए। स्थायी पागलपन और अत्यधिक क्रूरताके मामलोमें भी तलाक स्वीकार किया जाना चाहिए। स्वभाव और प्रवृत्ति-भेद के आधार पर तलाक स्वीकार किए जानेकी बात स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आती। अविश्वास या अधर्माचरणके मामलोमें यदि सताया गया पक्ष अपराधको क्षमा करनेके लिए तैयार हो तो कानूनको उस मामलेमें दखल नही देना चाहिए। बच्चोकी नैतिक शिक्षाके लिए यह जरूरी है कि बहुत ही गम्भीर मामलोके अलावा साधारणत परिवार विशृखल नही होना चाहिए। राज्यको अविश्वास और अधर्माचरण पर ही दड नही देना चाहिए। राज्यको तो चाहिए कि वह कानूनी कार्यवाही शुरू करनेकी जिम्मेदारी उस व्यक्ति पर छोड दे जिसके साथ ऐसा अन्याय हुआ हो, क्योकि जिस व्यक्तिकी दुर्वृत्त लालसा (Disloyal Passion) केवल दडके भयसे ही निष्क्रिय बना दी जायगी वह न तो अच्छा पिता ही बन सकेगा और न विश्वसनीय पति ही बन सकेगा।

परिवारके कर्ताके रूपमें पिताका यह वैधानिक कर्त्तव्य और नैतिक धर्म है कि वह अपने परिवारको अच्छी तरहसे रखे। वह परिवारका निरकुश शासक-मात्र अब नही है। वयस्क या वालिग होने तक बच्चोको कोई वैधानिक अधिकार (Legal Rights) नही प्राप्त होते, और जब तक वह वयस्क न हो तब तक माता-पिताको चाहिए कि उनका भरण-पोषण करें। वृद्धावस्थामें अपने मा बापका भरण-पोषण करना बच्चोका नैतिक धर्म है, वैधानिक कर्त्तव्य नही। बच्चोकी नैतिक शिक्षाके लिए यह जरूरी है कि माता-पिता दोनो एक मन हो एक ही अधिकारीकी भाति काम करें, दोनोका पारिवारिक मामलोमें समान अधिकार और दोनोंकी समान प्रतिष्ठा हो।

(ग) सम्पत्तिका अधिकार

सम्पत्तिका महत्त्व

सम्पत्तिसे व्यक्तिका लगाव इतना अधिक है कि सम्पत्तिसे सम्बन्ध रखने वाले हमारे बहुत से कानून उन अनेक विधानोंसे भी अधिक परिपूर्ण, स्पष्ट और सबल हैं जिनका सम्बन्ध हमारे जीवन और हमारी स्वाधीनता से है। अर्थ-शास्त्र, विधान-शास्त्र और राजनीति-शास्त्रके मूल में सम्पत्तिकी भावना ही काम करती है। अर्थ-शास्त्र अधिकांशत विनिमयके मूल्योंसे सम्बन्धित है जिसमें सम्पत्तिका ही प्राधान्य है। न्याय-शास्त्रमें स्वामित्वकी भावनाको और भी अधिक मौलिक महत्त्व दिया गया है। राजनीति-शास्त्रमें केवल शरीर-रक्षाका ही विचार नही किया गया है वल्कि सम्पत्तिकी रक्षाका भी उतना ही ध्यान रखा गया है।

मानव-सभ्यताके भौतिक पक्षका इतिहास सम्पत्ति और स्वामित्वकी भावनामें ही केन्द्रीभूत है। उस युगसे लेकर जब कि अर्द्ध-सभ्य मनुष्यने अपने औज़ारो, आभूषणो और अन्य ऐसी ही व्यक्तिगत वस्तुओ पर स्वामित्वका दावा प्रारम्भ किया था आधुनिक युग तक जब सामान्य व्यक्ति अपनी आय (Income), अपने लाभाश (Dividend) और दाय-भाग या पैतृक जायदाद (Inheritance) की चिन्तामें रहता है, सभ्यताके विकासमें सम्पत्तिकी भावनाने सबसे अधिक महत्त्वका काम किया है। यदि हम सम्पत्तिकी व्यवस्थाको समाप्त कर दें तो आधुनिक सभ्यता चकनाचूर हो जाय। व्यक्तिवाद (Individualism), राष्ट्रीयतावाद (Nationalism) और साम्राज्यवाद (Imperialism) सभीके भीतर सम्पत्तिकी धारणा छिपी है।

सम्पत्तिका विकास

प्राप्ति और अधिकारकी भावना (Instinct of acquisition) मनुष्यो और पशुओ—सबमें समान रूपसे व्याप्त है। कुत्तेसे जब कोई उसकी हड्डीका टुकड़ा छीनना चाहता है तो वह बौखला उठता है। भेडिए झुड बना कर शिकार करते है और आपसमें बाट खाते है और अगर कोई दूसरा दखल देता है तो उससे भिड जाते है। छोटे-छोटे बच्चे हजार तरहकी चीजें इकट्ठी करते है—चिड़ियां, अडे, पत्थर के टुकडे, रगीन चीथडे आदि। वयस्क लोग भी इस प्रवृत्तिसे बिल्कुल दूर नही रह पाते यद्यपि उनके सगहकी वस्तुए भले ही अधिक उपयुक्त और मूल्यवान् हो जैसे दुर्लभ चित्र और पुस्तकें आदि। अपनी व्यक्तिगत सम्पत्तिके प्रति लगाव और उससे प्राप्त होने वाला आनन्द सार्वजनिक सम्पत्तिके प्रति होने वाले लगाव और उससे प्राप्त होने वाले आनन्द की अपेक्षा कही अधिक गम्भीर होता है।

यह सिद्ध करना कुछ कठिन नही है कि प्राप्ति और अधिकारकी भावना मनुष्यमें स्वाभाविक या जन्मजात अर्थात पैदायशी है। यह विवेचन कही अधिक महत्त्वपूर्ण है कि प्राप्ति और अधिकार कोई एक विषय जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति अन्य दूसरे विषयोंसे अधिक स्वाभाविक है या नही। श्री हॉकिंग (Hocking) का कथन है कि मनुष्यकी अन्य सभी प्रेरणाओका सन्तोष 'शक्ति या अधिकारकी भावना' (The will to power) में हो जाता है और जब इस अधिकार-भावनाकी तृप्ति हो जाती है तब यह जरूरी नहीं रहता कि अन्य सभी भावनाओंकी तृप्ति हो। पर 'अधिकार-भावना' भी अनेक मामलोंमें व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सीमित माग करती ही है।

श्री हॉबहाउस (Hobhouse) ने 'उपयोगमें आने वाली सम्पत्ति' (Property

for use) और 'अधिकार-मूलक सम्पत्ति' (Property for power) के बीच एक महत्त्वपूर्ण विभेद किया है। इतिहासकी दृष्टिसे देखने पर यह मालूम होगा कि पहले जमानेमें सम्पत्ति पर स्वामित्व उपयोगके लिए किया जाता था अधिकार-प्राप्तिके लिए नहीं। साधारणतया यह माना जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी उत्पत्ति आधुनिक बात है और पहले जमानेमें सामूहिक सम्पत्ति ही सार्वभौम व्यवस्था (Universal order) थी। पर श्री हॉबहाउस अपनी विवेचनासे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जहा तक व्यक्तिगत सामानका सम्बन्ध है, वहा तक पुराने जमानेमें भी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी पर भूमिके सम्बन्धमें कोई सार्वभौम विधान या नियम नही था। फिर भी श्री हॉबहाउसके ही शब्दोमें, प्रारम्भिक समाजमें 'भूमि चाहे सामूहिक सम्पत्ति रही हो, अथवा व्यक्तिगत या चाहे दोनो ही सिद्धान्त मिले-जुले चलते रहे हो, पर हर हालतमें उस पर स्वामित्व उपयोगके लिए होता था, अधिकारके लिए नही।'

पर खेतीकी उन्नति होने पर भूमि पर स्वामित्व निश्चय ही अधिक निषेध-मूलक (Exclusive) और स्थायी (Permanent) हो गया होगा। प्रारम्भमें खेती सामूहिक रीतिसे होती थी, पर समय बीतने पर व्यक्तिवादकी व्यवस्थाने जोर मारा और जमीन छोटे-छोटे टुकडोमें बट गई। इस प्रकार सम्पत्तिके विकासका इतिहास यह सिद्ध करता है कि सम्पत्ति केवल 'राज्यकी सृष्टि' नही है। राज्यका कोई निश्चयात्मक स्वरूप बननेसे पहिले ही सम्पत्तिकी व्यवस्था प्रारम्भ हो चुकी थी। यह एक शिक्षाप्रद तथ्य है कि चोरीके सम्बन्धका कानून राज्यसे पहलेका है। साधारणत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राज्यने सम्पत्तिकी सृष्टि नही की, फिर भी उसने उसकी रक्षा और उनके विकास में बहुत अधिक योग दिया है। जहा तक भविष्यका सम्बन्ध है श्री जेंक्स (Jenks) का यह कथन ठीक है कि जब तक समाजको उचित प्रतिफल न मिले तब तक राज्यको किसी भी सम्पत्तिके स्वामित्वकी रक्षासे इनकार कर देना चाहिए, उसे सम्पत्तिके दुरुपयोगको रोकना चाहिए और जो लोग सबसे अधिक उपयुक्त हो उनसे राज्यके लिए आवश्यक राजकर वसूल करना चाहिए।

सम्पत्तिकी विशेषताए सम्पत्तिकी परिभाषा की जा सकती है—पदार्थो पर व्यक्ति का स्वामित्व या भौतिक पदार्थोका ऐसा नियोजन या अपने अधीन करना (Appropriation) जिसे समाज स्वीकार करता हो। किसी पदार्थका अपने पास रखना (Possession) सम्पत्तिका स्वामित्व नही है, यह तो दूसरोसे प्राप्त अधिकार है। सम्पत्तिका अर्थ है वस्तुओ पर निषेध-मूलक (Exclusive) अर्थात् दूसरोका निषेध करते हुए केवल सम्बन्धित व्यक्तिका स्थायी स्वामित्व। जैसा कि श्री सिजविक (Sidgvick) ने कहा है सम्पत्तिके उपाधि-हीन स्वामित्व (The Right of property without qualification) अर्थात् सम्पत्ति पर बिना शर्त अधिकारका अर्थ है दूसरोका निषेध करते हुए स्वय उपयोगका पूर्ण अधिकार जिसमें वस्तुको नष्ट कर देने और दूसरोको दे डालनेके अधिकार शामिल रहते हैं, पर यह जरूरी नही कि वसीयत कर देनेका अधिकार भी इसमें शामिल रहे (७२ ७०)। उनका यह कहना ठीक है कि किसी वस्तु या पदार्थ के उपभोगमें दूसरोको हस्तक्षेप न करनेका स्थायी निषेध कर सकनेका अधिकार सम्पत्ति के स्वामित्वका सबसे अधिक तात्त्विक अश है।

अन्य सभी अधिकारोकी भाति सम्पत्तिके अधिकारका भी समाज द्वारा स्वीकार किया

जाना उसकी मान्यताके लिए जरूरी है। यदि समाजकी स्वीकृति प्राप्त नही है तो किसी भी अधिकारका कोई मूल्य नहीं है। सम्पत्तिके सम्बन्धमें तो यह विशेषरूपसे सत्य है क्योकि आजके हमारे समाजमें सम्पत्ति सहकारी-उद्योग (Co-operative endeavour) का परिणाम है। अब इस तर्कमें कोई बल नही रहा कि सम्पत्ति एक स्वाभाविक अधिकार है। समाजवादी बिल्कुल दूसरे छोरकी बात करते है। वह कहते है कि सम्पत्ति जो कुछ भी है सब समाजकी सृष्टि है। जहा तक हमारा सम्बन्ध है, हम यह विश्वास करते है कि सम्पत्तिका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक पहलू है और सम्पत्तिका अधिकार सर्वदा एक अपेक्षित (Relative) अधिकार है, वह परमपूर्ण (Absolute) अधिकार कभी नही हो सकता। सम्पत्ति एक नियमित स्वामित्व है जिसका दावा समाजके कल्याणके विरुद्ध कभी नहीं किया जा सकता।

आधुनिक समाजमें सम्पत्तिका अर्थ हो गया है अधिकार। जहा तक स्वतत्र जीवनकी उपसिद्धि (Corollary) के रूपमें सम्पत्तिकी बात है, उससे इस अर्थमें स्वाधीनताकी पुष्टि मानी जा सकती है। पर दूसरे अर्थमें सम्पत्तिसे स्वाधीनता पर रोक भी लगती है, विशेषकर मेहनतकश जनताकी स्वाधीनता पर। सम्पत्ति अपने स्वामीको लोगोके जीवन और भाग्य पर असीम अधिकार दे देती है। सम्पत्तिका जो प्रारम्भिक अर्थ था—वस्तुओ या पदार्थो पर स्वामित्व—वह अब धीरे-धीरे बदल कर हो गया है पदार्थोके माध्यमसे व्यक्तियो पर स्वामित्व। श्री हॉबहाउस ने इस बातको जोर देकर कहा है कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें वह प्रणाली नष्ट कर दी गई है जिसमें सम्पत्ति जनताके बहुसख्यक लोगोके उपयोगके लिए होती थी और उसके स्थान पर वह प्रणाली लाई गई है जिसमें अपेक्षाकृत एक छोटेसे वर्गके हाथोमें अपार सम्पत्तिका केन्द्रीकरण अधिकार और शक्ति के लिए होता है। नैतिकता और नैसर्गिक न्यायके विचारसे सम्पत्तिके वर्तमान विधानको बदलनेकी बात कही जा सकती है। पर सम्पत्तिकी प्राप्तिका एक ही ढग है और वह है वैधानिक ढग जो ऐसे तथ्यो पर आधारित है जैसे अन्वेषण, काम (ऐसा जिसके द्वारा मनुष्य अपने श्रमको अपनी सम्पत्तिमें मिलाता है--श्री जे० लॉक), उन्नति या विकास (सम्पत्तिसे ही सम्पत्ति उत्पन्न होती है) दान या भेंट या वह विधान जिनके द्वारा सम्पत्ति एक व्यक्तिसे दूसरेके पास जाती है विनिमय और नियत्रण (exchange and control)।

सम्पत्तिके सिद्धान्त

प्रारम्भिक युगमें जबकि न्याय और अन्यायका विचार विकसित नही हुआ था तब इस विचारकी स्वीकृति कि किसी पदार्थ पर जिसका अधिकार पहिले हो जाए उसीकी सम्पत्ति वह पदार्थ हो गया, एक बहुत बडा विकास था। यूनाइटेड स्टेट्स् अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया जैसे देशोके लिए, जिनकी खोज हाल ही में हुई थी, इस विचार-धाराका बडा महत्व था। राजनीति-शास्त्रके विचारकोमें ने सामाजिक अनुबन्ध (Social contract) सिद्धान्तके कुछ लेखको ने इस विचारधाराका उल्लेख प्राकृतिक अवस्थामें व्यक्तिगत सम्पत्तिका पोषण करनेके लिए किया है। श्री ग्रोशियस (Grotius) के अनुसार प्राकृतिक अवस्थामें मनुष्यमें जितनी सामर्थ्य होती थी उसीके अनुसार वह जो ले सकता था, ले लेता था और

१. आधिपत्य सिद्धान्त (The occupation theory)

उसका उपभोग करता था, पर 'जीवनकी एक सुन्दर व्यवस्थाका विकास होने पर, उद्योगो की आवश्यकता उत्पन्न हुई जिनका उपयोग कुछ व्यक्ति कुछ विशिष्ट वस्तुओके सम्बन्धमें कर सकते थे।' प्रथम आधिपत्य (First occupation) से किसी भी पदार्थ पर कब्जा रखने और उसका उपयोग करनेका अधिकार प्राप्त होता था, समाजकी व्यक्त या प्रत्यक्ष अथवा अव्यक्त या अप्रत्यक्ष (Express or tact) स्वीकृति उसे स्वामित्व में बदल देती थी। आधिपत्य या दखल (Possession) को स्वामित्वमें बदलनेके लिए श्री रूसो (Rousseau) तीन शर्ते मानते है भूमि पर कभी किसी अन्यका आधिपत्य न हुआ हो, केवल उतनी ही भूमि पर आधिपत्य या दखल किया जाए जितनी जीविकाके लिए आवश्यक हो, और आधिपत्यकी प्रतिष्ठा किसी उत्सव या रीति-रस्मके द्वारा नही बल्कि श्रम और खेतीके द्वारा की जाए।

आदिम युगमें न्यायके सामान्य और सुकर मानदडके रूपमें आधिपत्य-सिद्धान्त (Occupation Theory) चाहे जितना महत्त्वपूर्ण रहा हो, पर एक व्यवस्थित समाजमें उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नही है। जैसा श्री विलोबी (Willoughby) ने कहा है एक नितान्त असामाजिक और असभ्य समाजमें अधिकारोकी स्थिति असम्भव है। और भी, यह सिद्धान्त 'कुछ बहुत थोडेसे मामलोको छोड कर किसी प्रकारके भी स्वत्वाधिकारो (Proprietary rights) के औचित्य या न्याय-पक्षका निश्चित करना बिल्कुल असम्भव बना देता है' (८२ ८२)।

इस सिद्धान्तके अनुसार, 'नागरिक विधान या दीवानी कानून व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्थाके पक्षमें न केवल वैधानिक आधार प्रस्तुत करता है बल्कि साथ ही नैतिक आधार भी प्रस्तुत कर देता है' (८२ ८३)। सिसरो (Cicero) का समर्थन और उल्लेख करते हुए श्री हॉब्स ने लिखा है 'यदि नागरिक विधान हटा दिया जाए तो किसीको भी इस बातका पता न चल सकेगा कि कौन-सी वस्तु उसकी है और कौन-सी दूसरेकी।' उनका तर्क है 'व्यक्तिगत सम्पत्ति राजनैतिक व्यवस्था का एक अग है, मनुष्यके सुखके लिए इस व्यवस्थाकी सुरक्षा आवश्यक है, अपने सुखकी खोज करना मनुष्यका नैतिक कर्त्तव्य है, इसलिए राज्यके अन्य विधानोके साथ उसे सम्पत्ति सम्बन्धी विधानोको अपने ऊपर नैतिक और वैधानिक दृष्टिसे मान्य मानना चाहिए।

२. वैधानिक सिद्धान्त (The Legal Theory)

हॉब्स की भाति ही श्री बेन्थम (Bentham) भी सम्पत्तिके सम्बन्धमें वैधानिक दृष्टिकोणको स्वीकार करते है। पर इसके साथ ही वह कानूनकी आज्ञाओंकी अवज्ञा करना (Disobeying) भी नैतिक दृष्टिसे उचित मानते है। एक उपयोगितावादी (Utilitarian) के रूपमें वह कानूनोकी सामान्य उपयोगिता स्वीकार करते है क्योंकि कानूनो से ही लोगोकी सम्पत्ति सुरक्षित रहती है। वह लिखते है 'सम्पत्ति और कानूनका जन्म एक साथ हुआ है। कानूनोके बननेसे पहिले कोई सम्पत्ति नही थी, कानून हटा दीजिए तो सम्पत्ति भी समाप्त हो जाएगी।' श्री रूसो इस सामान्य दृष्टिकोणको स्वीकार करते है 'कि सम्पत्ति एक ऐसी व्यवस्था है जो राजनैतिक अधिकार-सत्ताकी छत्र-छायामें ही सुरक्षित रहती है और इसी अर्थमें कहा जा सकता है कि सम्पत्तिका आधार कानून या विधान है' (८२ ९०)।

सम्पत्तिके सिद्धान्तका मूल्याकन करते हुए यह कहना ही होगा कि कानून सम्पत्तिके

स्वामियोके मनमें एक सुरक्षित आधिपत्यकी भावना भले ही पुष्ट करे पर कानून सम्पत्तिकी व्यवस्थाका औचित्य अन्तिम रूपसे नही सिद्ध करता। कानून हमारी अन्तिम कसौटी नही है। वह केवल उन लोगोकी रक्षा करता है जिनके पास सम्पत्ति है, और जो सम्पत्ति-हीन है उनके लिए धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिका एक प्रकारसे व्यावहारिक रूपमें निषेध करता है। जैसा कि श्री रूसो ने कहा है, एक बुरी सरकारके शासनमें कानून 'गरीबोको ग़रीब बनाये रखनेमें और धनिको द्वारा किये जाने वाले अपहरणको सुरक्षित बनाये रखनेमें ही मदद देता है।' या, जैसा कि श्री विलोबी ने कहा है, सम्पत्तिशाली लोगोने समाजके कल्याणके लिए उन्हें जो कुछ करना चाहिए न तो वह सब स्वय ही किया है और न उन्हें वह सब करनेके लिए विवश ही किया गया है।

३. श्रम-सिद्धान्त (The Labour Theory)

सत्रहवी शताब्दीमें जॉन लॉक (John Locke) ने अपने उस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जिसे हम सम्पत्तिका श्रम-सिद्धान्त कहते है। इस सिद्धान्तके अनुसार जिस किसी भी पदार्थ या वस्तुमें व्यक्तिका श्रम लगा हो वह वस्तु उसकी है। इस अधिकार पर दो बन्धन है: एक यह कि 'दूसरोके उपयोगके लिए उचित और पर्याप्त अश छोड दिया जाय,' और दूसरा यह कि अपने श्रमके फल पर व्यक्तिका अधिकार उसकी उस वस्तुका उपयोग कर सकनेकी शक्ति पर ही निश्चित किया जाय। पहली शर्तके सम्बन्धमें लॉक ने स्वय ही यह अनुभव किया है कि उनके समकालीन अमेरिका को छोड कर दुनियामें कही भी दूसरोके लिए 'उचित और पर्याप्त' नही है। दूसरी शर्तको लॉक अतिवादी व्यक्तिवाद (Extreme individualism) का आधार बनाना चाहते थे। पर कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने उसीको अतिवादी समाजवाद (Extreme Socialism) का आधार बनाया और यह आश्चर्यजनक दावा पेश किया कि 'अपने श्रमके सम्पूर्ण फल पर श्रमिकका अधिकार है।' मार्क्स और लॉक दोनो ही इस बातको भूल जाते है कि वह भौतिक पदार्थ जिनमें व्यक्तिका 'श्रम लगा रहता है' आधुनिक दुनियामें बिना किसी अधिकारीके मारे-मारे नही फिरते। फिर भी श्रम-सिद्धान्तमें कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व है: प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार है कि उसे श्रमका अवसर मिले, अपने श्रमके फल पर प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार है और नैतिकता तथा समझदारीके दृष्टिकोणसे किसीको भी वस्तुके उतने ही अश पर अधिकार मिल सकता है जितना वह स्वय अपने और समाजके हितमें प्रयोगमें ला सके, उससे अधिक पर नही।

मूल्यके इन तत्त्वोको स्वीकार करते हुए भी यह कहना ही पडेगा कि श्रमसे ही समस्त मूल्योकी सृष्टि नही होती। सम्पत्तिके शान्ति-पूर्ण उत्पादन और वितरणके लिए सामाजिक व्यवस्था उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि स्वय श्रम। अधिकतर श्रम सामाजिक श्रम होता है। समाजवादी सैद्धान्तिक यह मानते है कि वितरणमें न्याय और औचित्यका मानदड केवल श्रम ही है। यह बात ठीक नही है क्योकि किसी भी व्यक्तिका अपने ऊपर परिपूर्ण अधिकार नही है। श्रम-सिद्धान्त जो कुछ हमें विरासतमें मिलता है और जो कुछ उद्योग और निष्ठाकी देन है उन दोनोंके बीच कोई विभेद नही करता। यह सिद्धान्त उन लोगोका भी विचार नहीं करता जो बिना किसी अपने अपराधके ही जीवन-सग्राममें बाधित और विवश और पिछडे रहते है। जैसा कि श्री मिल ने कहा है, 'यह तो जिनके पास पहले से ही है उन्हीको और अधिक देना है—जिन्हें प्रकृतिने ही दिया है उन्हीका पक्षपात करना है।'

४. व्यक्तिवादी सिद्धान्त (The Individualistic theory)

यह आत्यन्तिक व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Extreme individualistic) कि प्रत्येक व्यक्तिको खुले बाज़ारमें वह जो कुछ भी प्राप्त कर सके उसे प्राप्त करनेकी और उसका जैसा चाहे वैसा प्रयोग करनेकी-स्वाधीनता दी जानी चाहिए उस सामाजिक नियन्त्रणकी विचार धारासे मेल नही खाता जिसका महत्त्व आजकल सब जगह स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त समाजकी संघटना-मूलक धारणा (Organic conception of society) से भी मेल नही खाता। यदि सभी व्यक्तियोके लिए समान रूपसे अवसर प्राप्त हो तो माग और पूर्ति (Demand & Supply) का विधान निस्सदेह आयका सच्चा सूचक (index) बन सकता है, पर आधुनिक समाजमें अवसरकी यह समानता बिल्कुल कम है। यह एक निश्चित सत्य है। हम यह स्वीकार करते है कि साधारणत किसी व्यक्तिको उसका पारितोषिक या पारिश्रमिक देनेका इसके अतिरिक्त और कोई व्यावहारिक साधन नही है कि उसे खुले बाज़ारमें ईमानदारीके साथ जो कुछ वह पा सके पाने दिया जाय। पर आज की दुनियामें ऐसी प्रतियोगिताकी आवश्यक शर्ते पूरी होती दिखायी नही देती। लास्कीके शब्दोमें "बाज़ारमें खरीदार और विक्रेताके बीच होने वाली सौदेके पटाने की झिक-झिकने असमानताका ईश्वरीकरण (apotheosis) कर दिया है (४७ १६१)।" "चूकि मजदूरकी सट्टे या मुनाफा उठानेकी शक्ति पूजीपतिकी शक्तिके बराबर नही होती इसलिए आर्थिक दौडमें मजदूर प्राय हानि उठाता है। इसका अर्थ, जैसा श्री लास्कीने कहा है 'यह होता है कि मजदूरको चिन्तनीय स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय मकान और ऐसे काम प्रतिफलमें मिलते है जिनमें बहुसख्यक मजदूरोको किसी प्रकारकी भी मानवीय अभिरुचि नही हो सकती। आशिक मूल्य (Marginal value) के अनुसार श्रम देना मध्यम वर्गका न्याय है। साम्यवादी नारा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओके अनुसार मिलना चाहिए। सम्पत्तिके सामाजिक नियन्त्रणके सम्बन्धमें श्री लास्की का कहना है कि जो राज्य अपने नागरिकोके जीवनको अपनी मुट्ठीमें रखता है उसे उनकी सम्पत्तिको अपने अधिकारमें रखना तो कही अधिक उचित और न्याय-सगत है। दूसरे शब्दोमें यदि युद्धके लिए अनिवार्य सैनिक भर्ती उचित है तो सामाजिक न्यायके लिए सम्पत्तिका अनिवार्य राजकीय नियन्त्रण कैसे उचित नही हो सकता ?

५ समाजवादी सिद्धान्त (The Socialistic Theory)

साधारणत समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोधी नही है। वह व्यक्तिगत पूजीका विरोधी है। समाजवादकी मान्यता यह है कि मजदूरको उसकी मेहनतके मूल्यके अनुपातमें पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए। यह मान्यता वितरणके व्यक्तिवादी सिद्धान्तोसे मेल खाती है और साम्यवादके विरुद्ध पडती है। मार्क्स और उनके अनुयायियोकी दृष्टिमें केवल श्रमका ही महत्त्व है क्योकि उनके सिद्धान्तके अनुसार केवल श्रम ही सम्पत्तिका उत्पादन करता है। पर समाजवादी जिनका मार्क्स से मतभेद है 'मूल्य' अथवा 'महत्त्व' का अर्थ लगाते है 'सामाजिक दृष्टिसे उपयोगी श्रम'। इस उपयोगिताका निश्चय सरकारी अफसर करते है। व्यक्तिवादियोकी दृष्टिमें इन्ही शब्दोका अर्थ है 'माग' और पूर्तिके सिद्धान्त द्वारा निर्धारित 'मूल्य' या 'महत्त्व'। सामाजिक दृष्टिसे उपयोगी श्रमका प्रयोग करके समाजवादियोने समस्या सरल

नही की क्योकि इससे एक बडा सवाल यह पैदा हो जाता है कि व्यक्तिका मूल्य या महत्त्व निश्चित आकडोमें कैसे निर्धारित किया जाए। महत्त्वका मूल्याकन समयके आधार पर हो या किए गए कामके आधार पर हो या कामकी उपयोगिताके आधार पर हो, आदि प्रश्न पैदा हो जाते है।

समाजवाद साम्यवादकी तरह एक और भूल करता है। वह भूल यह है कि यह विश्वास कर लिया जाता है कि अच्छा या सुन्दर जीवन कोई एक ऐसी वनी-वनाई चीज है जिसे राज्य व्यक्तियोके हाथोमें सौप सकता है। समाजवाद यह भूल जाता है कि सुन्दर जीवन एक ऐसी चीज़ है कि जिसका स्वय अर्जन किया जाता है। यद्यपि राज्यका यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तिके सुन्दर जीवनके लिए अनुकूल वातावरण और परिस्थितिया उत्पन्न करे।

इन सब आलोचनाओके होते हुए भी हम श्री सिजविक (Sidgwick) के साथ इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार है कि सरकारी या राजकीय कार्य-क्षेत्रका विवेकशील और क्रमिक विस्तार और इस प्रकार समाजवादी आदर्शकी ओर प्रगति करना एक स्वस्थ आर्थिक सिद्धान्तके प्रतिकूल नही है। साधारण तौरसे यदि वितरण और अधिक समान आधार पर हो तो उससे सामाजिक सुखमें वृद्धि ही होगी और सामाजिक जीवनको सुन्दर बनानेमें सहायता मिलेगी।

६ साम्यवादी सिद्धान्त (The Communistic Theory)

आर्थिक दृष्टिकोणसे साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आपत्ति करता है। साम्यवाद न केवल उत्पादन और वितरणका राष्ट्रीयकरण चाहता है बल्कि खपत या उपभोग (Consumption) पर भी राजकीय नियत्रण लाना चाहता है। सम्पत्तिको केवल उपयोगके लिए ही सुरक्षित रखनेका यह एक अतिवादी (radical) प्रयास है। साम्यवादियोने जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है वह है· "प्रत्येक व्यक्तिसे उसकी सामर्थ्यके अनुकूल लेना, प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुसार देना।" इसमें सदेह नही कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था प्रत्यक्षत· न्यायमूलक है जिसमें समाजके सदस्य एक परिवारके सदस्योकी भाति रह सकें और किसी भी सदस्यके पास कोई ऐसे भौतिक पदार्थ न हो जिन्हें दूसरोका निषेध करते हुए वह केवल अपना कह सकें। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि साम्यवाद द्वारा जो कठिनाइया उत्पन्न होती है वह इतनी गम्भीर होती है कि साम्यवादको एक व्यावहारिक सुझाव मानना कठिन हो जाता है। यह व्यवस्था एक ऐसे समाजके लिए तो उचित और तर्क-संगत हो सकती है, जो चारो ओरसे आक्रान्त अर्थात् शत्रुओंसे घिरा हुआ हो और वाहरसे सामग्रीका मिलना स्थायी रूपमे वन्द हो गया हो। यह व्यवस्था उस समाजके लिए भी उचित हो सकती है जो अपनी समृद्धिके उच्चतम शिखर पर पहुच गया हो। पर ऐसा कोई समाज हमारी दृष्टिमें नही है।

साम्यवाद कोई स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था देनेमें असमर्थ रहा है। उसका आधार ही ऐसी मान्यताओ पर है जो भ्रमात्मक है क्योकि जब साम्यवाद अपनी व्यवस्थामें परिवारको स्वीकार कर लेता है तभी उसकी जडें हिल जाती है। इसका कारण यह है कि पारिवारिक जीवनका अर्थ ही है एकको दूसरे पर तरजीह देना और जहा यह हुआ वही साम्यवादी व्यवस्थाकी मौलिक साम्य भावनाका अन्त हो गया। और भी, यह अच्छा होगा कि हम श्री वोसाके (Bosanquet) के इस सामान्य सिद्धान्तको याद रखें कि

४. व्यक्तिवादी सिद्धान्त (The Individualistic theory)

यह आत्यन्तिक व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Extreme individualistic) कि प्रत्येक व्यक्तिको खुले बाजारमें वह जो कुछ भी प्राप्त कर सके उसे प्राप्त करनेकी और उसका जैसा चाहे वैसा प्रयोग करनेकी-स्वाधीनता दी जानी चाहिए उस सामाजिक नियन्त्रणकी विचार धारासे मेल नही खाता जिसका महत्त्व आजकल सब जगह स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त समाजकी सघटना-मूलक धारणा (Organic conception of society) से भी मेल नही खाता। यदि सभी व्यक्तियोके लिए समान रूपसे अवसर प्राप्त हो तो माग और पूर्ति (Demand & Supply) का विधान निस्सदेह आयका सच्चा सूचक (index) बन सकता है, पर आधुनिक समाजमें अवसरकी यह समानता बिल्कुल कम है। यह एक निश्चित सत्य है। हम यह स्वीकार करते है कि साधारणत किसी व्यक्तिको उसका पारितोषिक या पारिश्रमिक देनेका इसके अतिरिक्त और कोई व्यावहारिक साधन नही है कि उसे खुले बाजारमें ईमानदारीके साथ जो कुछ वह पा सके पाने दिया जाय। पर आज की दुनियामें ऐसी प्रतियोगिताकी आवश्यक शर्त पूरी होती दिखायी नही देती। लास्कीके शब्दोमें "बाजारमें खरीदार और विक्रेताके बीच होने वाली सौदेके पटाने की झिक-झिकने असमानताका ईश्वरीकरण (apotheosis) कर दिया है (४७ १९१)।" "चूकि मजदूरकी सट्टे या मुनाफा उठानेकी शक्ति पूजीपतिकी शक्तिके बराबर नही होती इसलिए आर्थिक दौडमें मजदूर प्राय हानि उठाता है। इसका अर्थ, जैसा श्री लास्कीने कहा है 'यह होता है कि मजदूरको चिन्तनीय स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय मकान और ऐसे काम प्रतिफलमें मिलते हैं जिनमें बहुसख्यक मजदूरोको किसी प्रकारकी भी मानवीय अभिरुचि नही हो सकती। आशिक मूल्य (Marginal value) के अनुसार श्रम देना मध्यम वर्गका न्याय है। साम्यवादी नारा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओके अनुसार मिलना चाहिए। सम्पत्तिके सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धमें श्री लास्की का कहना है कि जो राज्य अपने नागरिकोके जीवनको अपनी मुट्ठी रखता है उसे उनकी सम्पत्तिको अपने अधिकारमें रखना तो कही अधिक उचित और न्य सगत है। दूसरे शब्दोंमें यदि युद्धके लिए अनिवार्य सैनिक भर्ती उचित है तो सामा न्यायके लिए सम्पत्तिका अनिवार्य राजकीय नियन्त्रण कैसे उचित नही हो सकता ?

५ समाजवादी सिद्धान्त (The Socialistic Theory)

साधारणत समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्तिका विरोधी नही है। वह व्यक्तिग विरोधी है। समाजवादकी मान्यता यह है कि मजदूर मेहनतके मूल्यके अनुपातमें पारिश्रमिक दिया जाना चा मान्यता वितरणके व्यक्तिवादी सिद्धान्तोसे मेल खा साम्यवादके विरुद्ध पडती है। मार्क्स और उनके अन दृष्टिमें केवल श्रमका ही महत्त्व है क्योकि उनके सिद्धान्त केवल श्रम ही सम्पत्तिका उत्पादन करता है। पर जिनका मार्क्स से मतभेद है 'मूल्य' अथवा 'महत्त्व' का अर्थ लगाते है 'सामा उपयोगी श्रम'। इस उपयोगिताका निश्चय सरकारी अफसर करते है। व्य दृष्टिमें इन्ही शब्दोका अर्थ है 'माग' और पूर्तिके सिद्धान्त द्वारा निर्धा 'महत्त्व'। सामाजिक दृष्टिसे उपयोगी श्रमका प्रयोग करके समाजवादियो

जर्मन दार्शनिकोमेंसे श्री कान्ट ने व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्थाको स्वीकार किया है। उन्होने सम्पत्तिके आदर्शवादी सिद्धान्तकी स्थापनाकी जिसके अनुसार व्यक्तिकी मानसिक पूर्णताके लिए सम्पत्ति आवश्यक है। श्री हीगेल ने इस विचार-धाराको उसके तर्क-सगत निष्कर्ष पर पहुचा दिया। उन्होने कहा कि सम्पत्ति, स्वाधीनताका पहला 'वास्तविक तत्त्व' है।

७ आदर्शवादी सिद्धान्त (The Idealistic Theory)

श्री ग्रीन के अनुसार सम्पत्तिका स्वायत्तीकरण या अपने अधिकारमें करना (appropriation) व्यक्तिकी इच्छाकी अभिव्यक्ति है और साथ ही व्यक्ति द्वारा अपने कल्याणको वास्तविक रूप देनेका प्रयास है। व्यक्तिका यह कल्याण सामाजिक कल्याण भी होता है। सम्पत्तिका आधार न तो अनुबन्ध (Contract) या समझौता है और न सर्वोच्च शक्ति। सम्पत्ति तो व्यक्तिके विकास और सन्तोषका साधन है। इसका अर्थ यह है कि अपने अधिकारमें लाने वाला व्यक्ति अपने शारीरिक अवयवोके अतिरिक्त कुछ बाहरी पदार्थोको अपनी रुचि और इच्छाके अनुकूल बनाता है। जब इस प्रकार सम्पत्तिको प्रतिष्ठा हो चुकती है तब वह व्यक्तिसे भिन्न और बाहर नही रह जाती बल्कि वह उसके व्यक्तित्वका ही विस्तार बन जाती है जिसके द्वारा वह अपने विचारों और अपनी इच्छाओको वास्तविक रूप देता है। सम्पत्ति व्यक्तिकी 'इच्छाका अनुभूत रूप' या इच्छाका मूर्त रूप है। उसके माध्यमसे मनुष्यका छिपा हुआ आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष बन जाता है। सम्पत्ति स्वाधीन जीवनकी आवश्यक उपसिद्धि (Corollary) या स्वयसिद्ध आवश्यकता है। श्री बोसाके की सम्मतिमें चरित्रके विकासके लिए सम्पत्ति अनिवार्य है, क्योकि बिना सम्पत्तिके स्वाधीनता नही हो सकती और बिना स्वाधीनताके चरित्रका उचित विकास नही हो सकता। इस दृष्टिकोणसे सम्पत्ति एक नैतिक व्यवस्था बन जाती है।

व्यक्तिगत सम्पत्तिकी इस व्याख्याका यह अर्थ नही है कि इससे पूजीवादी व्यवस्थाका औचित्य सिद्ध होता है। व्यक्तित्वका सबसे अलग और अपने आपमें सीमित कोई अस्तित्व नही है। व्यक्तित्वका अस्तित्व सामाजिक जीवनमें ही है इसलिए व्यक्तित्वके उचित विकासका अर्थ ही है साहचर्यका—सामाजिक जीवनका उचित विकास। इसी सिद्धान्तको सम्पत्ति पर लागू करनेसे यह अर्थ निकलता ह कि कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति पर निरकुश अधिकारका दावा नही कर सकता। सम्पत्ति एक थाती है और सार्वजनिक कल्याण उसकी एक शर्त। चूकि प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार है कि वह अपने जीवनका सुन्दर विकास करे इसलिए प्रत्येकको उचित परिमाणमें 'उपयोगके लिए' पर्याप्त सम्पत्ति मिलनी चाहिए। जैसा कि श्री रशदल ने कहा है हमें इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि चरित्रके विकासके लिए सम्पत्तिको आवश्यक मानते हुए भी हमें चरित्र पर होने वाले उन घातक परिणामोकी ओरसे आखें नही मूद लेनी चाहिए जो आज प्रतियोगिता और सम्पत्ति-सग्रहके लिए मिली हुई खुली छूटके कारण हो रहे हैं। यदि एक ओर सम्पत्ति चरित्रके विकासमें सहायता देती है तो दूसरी ओर वह गहरी स्वार्थपरताको भी जन्म देती हैं।

सम्पत्तिके आदर्शवादी सिद्धान्तकी सबसे बडी विशेषता यह है कि वह प्राप्ति और वितरणकी समस्याको अर्थ-शास्त्रके स्तरसे ऊपर उठा कर व्यक्तित्वके स्तर पर ले आता है। इसकी सबसे बडी त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त राजकीय नियत्रण और सम्पत्तिके नियन्त्रणके लिए कोई भी निश्चित नियम या आधार नही दे पाता।

एक नैतिक व्यवस्थाके रूपमें राज्यका कार्य-क्षेत्र स्वभावत सीमित है। राज्यका कार्य है निषेधात्मक साधनो (negative means) के द्वारा सुन्दर सामाजिक जीवनका विकास करना। राज्यके कर्त्तव्यकी सबसे अच्छी परिभाषा यह दी जा सकती है कि वह सर्व सुन्दर जीवनके मार्गमें आने वाली बाधाओको बाधित करता है—उन्हें दूर करता है। और फिर वितरणकी समानता या ऐसी ही दूसरी बातें उन वस्तुओको ही कम कर देगी जिनका वितरण करना है। श्री सिजविक के शब्दोमें 'शारीरिक और मानसिक श्रमके लिए मिलने वाले साधारण प्रोत्साहन तथा व्यक्तिवादी व्यवस्थामें सावधानीसे अपना काम करनेकी जो प्रेरणा मिलती है इन सबको हटा देनेसे वितरण की जाने वाली सामग्रीका उत्पादन इतना अधिक घट जायगा कि वितरणमें होने वाली मितव्ययितासे जो कुछ लाभ होगा वह सब घातेमें चला जाएगा, भले ही आबादीमें कोई परिवर्तन हो या न हो।

एक दूसरी कठिनाई यह है कि समाजके सदस्योमें श्रमका विभाजन समानरूपसे कैसे किया जाय। साम्यवादी साधारणत यह उत्तर देते है कि सभीको हर तरहका उपयोगी कार्य करनेके लिए बाध्य किया जाना चाहिए। पर, जैसा कि श्री मिल (Mill) कहते है 'सभी व्यक्ति हर प्रकारके श्रमके लिए समानरूपसे उपयुक्त नही होते, और सब पर समान श्रम लादना दुर्बल और बलवान्को एक ही छडीसे हाकना होगा।' एक असभ्य और बर्बर समाजको छोड कर, जिसमें दैवी शक्तियोका भय काम करता है और किसी भी समाजमें यह उचित नही माना जायगा कि निरकुश पदाधिकारियोका एक गुट्ट हो जो अपनी इच्छा और अपनी बुद्धिके अनुसार लोगोको करनेके लिए काम और उस कामका पारिश्रमिक दिया करे। श्री मिल के ही शब्दोमें 'साम्यवाद और समाजवादकी सबसे बडी आलोचना यह है कि व्यक्तित्वकी विशेषताके लिए क्या कोई निश्चित रक्षा-गृह रहेगा और क्या जन-मत एक निरकुश भार (Yoke) नही बन जायगा।' साम्यवाद एक प्रलयकर परिवर्तन लाना चाहता है, समाजका एक पुनर्संगठन इतना एकाएक और अचानक करना चाहता है कि जिससे वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थामें गहरी गडबडी फैल जायगी। न्यायका एक अर्थ यह भी होता है कि 'समाजकी प्रतिष्ठित व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली आशाए' पूरी हो। और आखिरकार यह सूत्र कि 'प्रत्येकसे उसकी सामर्थ्यके अनुसार लो और प्रत्येकको उसकी आवश्यकताके अनुसार दो' एक वैधानिक न्यायकी अपेक्षा नैतिक आदेश अधिक जान पडता है। न तो व्यक्तिकी आवश्यकताओकी और न उसकी शक्तियोकी ही सरलतापूर्वक नाप-जोखकी जा सकती है। और जब व्यक्तियोकी वास्तविक आवश्यकताओ और शक्तियोमें अन्तर हो तब सबको समान रूप से पारिश्रमिक देना अन्याय जान पडता है। पर कुछ भी हो, साम्यवादके सिद्धान्तमें समानताकी जो भावना निहित है वह इतनी बहुमूल्य है कि हम आसानीसे उसे छोड नही सकते। यह कहना कि प्रत्येक व्यक्तिको बिल्कुल ठीक समान परिस्थितियोंसे ही जीवन प्रारम्भ करनेका हक़ होना चाहिए न्यायके किसी भी दृष्टिकोणसे असगत है, पर व्यक्तियों के साथ वर्तावमें एकान्त निष्पक्षताका व्यवहार होना चाहिए—जिसे श्री रशदल (Rashdall) विचारकी समानता (equality of consideration) या न्याय की समानता कहते है। जहा असमानताके लिए कोई विशेष कारण न हो, वहा न्याय-वितरणमें समानता ही एक उचित सिद्धान्त जान पडता है।

आदर्शवादी लोग व्यक्तित्वके आधार पर व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थन करते है।

जर्मन दार्शनिकोमेंसे श्री कान्ट ने व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्थाको स्वीकार किया है। उन्होने सम्पत्तिके आदर्शवादी सिद्धान्तकी स्थापनाकी जिसके अनुसार व्यक्तिकी मानसिक पूर्णताके लिए सम्पत्ति आवश्यक है। श्री हीगेल ने इस विचार-धाराको उसके तर्क-सगत निष्कर्ष पर पहुचा दिया। उन्होने कहा कि सम्पत्ति, स्वाधीनताका पहला 'वास्तविक तत्त्व' है।

७ आदर्शवादी सिद्धान्त (The Idealistic Theory)

श्री ग्रीन के अनुसार सम्पत्तिका स्वायत्तीकरण या अपने अधिकारमें करना (appropriation) व्यक्तिकी इच्छाकी अभिव्यक्ति है और साथ ही व्यक्ति द्वारा अपने कल्याणको वास्तविक रूप देनेका प्रयास है। व्यक्तिका यह कल्याण सामाजिक कल्याण भी होता है। सम्पत्तिका आधार न तो अनुबन्ध (Contract) या समझौता है और न सर्वोच्च शक्ति। सम्पत्ति तो व्यक्तिके विकास और सन्तोषका साधन है। इसका अर्थ यह है कि अपने अधिकारमें लाने वाला व्यक्ति अपने शारीरिक अवयवोके अतिरिक्त कुछ बाहरी पदार्थोको अपनी रुचि और इच्छाके अनुकूल बनाता है। जब इस प्रकार सम्पत्तिकी प्रतिष्ठा हो चुकती है तब वह व्यक्तिसे भिन्न और बाहर नही रह जाती बल्कि वह उसके व्यक्तित्वका ही विस्तार बन जाती है जिसके द्वारा वह अपने विचारो और अपनी इच्छाओको वास्तविक रूप देता है। सम्पत्ति व्यक्तिकी 'इच्छाका अनुभूत रूप' या इच्छाका मूर्त रूप है। उसके माध्यमसे मनुष्यका छिपा हुआ आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष बन जाता है। सम्पत्ति स्वाधीन जीवनकी आवश्यक उपसिद्धि (Corollary) या स्वयसिद्ध आवश्यकता है। श्री बोसाके की सम्मतिमें चरित्रके विकासके लिए सम्पत्ति अनिवार्य है, क्योकि बिना सम्पत्तिके स्वाधीनता नही हो सकती और बिना स्वाधीनताके चरित्रका उचित विकास नही हो सकता। इस दृष्टिकोणसे सम्पत्ति एक नैतिक व्यवस्था बन जाती है।

व्यक्तिगत सम्पत्तिकी इस व्याख्याका यह अर्थ नही है कि इससे पूजीवादी व्यवस्थाका औचित्य सिद्ध होता है। व्यक्तित्वका सबसे अलग और अपने आपमें सीमित कोई अस्तित्व नही है। व्यक्तित्वका अस्तित्व सामाजिक जीवनमें ही है इसलिए व्यक्तित्वके उचित विकासका अर्थ ही है साहचर्यका—सामाजिक जीवनका उचित विकास। इसी सिद्धान्तको सम्पत्ति पर लागू करनेसे यह अर्थ निकलता ह कि कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति पर निरकुश अधिकारका दावा नही कर सकता। सम्पत्ति एक थाती है और सार्वजनिक कल्याण उसकी एक शर्त। चूकि प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार है कि वह अपने जीवनका सुन्दर विकास करे इसलिए प्रत्येकको उचित परिमाणमें 'उपयोगके लिए' पर्याप्त सम्पत्ति मिलनी चाहिए। जैसा कि श्री रशदल ने कहा है हमें इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि चरित्रके विकासके लिए सम्पत्तिको आवश्यक मानते हुए भी हमें चरित्र पर होने वाले उन घातक परिणामोकी ओरसे आखें नही मूद लेनी चाहिए जो आज प्रतियोगिता और सम्पत्ति-सग्रहके लिए मिली हुई खुली छूटके कारण हो रहे है। यदि एक ओर सम्पत्ति चरित्रके विकासमें सहायता देती है तो दूसरी ओर वह गहरी स्वार्थपरताको भी जन्म देती है।

सम्पत्तिके आदर्शवादी सिद्धान्तकी सबसे बडी विशेषता यह है कि वह प्राप्ति और वितरणकी समस्याको अर्थ-शास्त्रके स्तरसे ऊपर उठा कर व्यक्तित्वके स्तर पर ले आता है। इसकी सबसे बडी त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त राजकीय नियत्रण और सम्पत्तिके नियत्रणके लिए कोई भी निश्चित नियम या आधार नही दे पाता।

व्यक्तिगत सम्पत्तिके पक्ष और निष्पक्षका साराश

व्यक्तिगत सम्पत्तिका स्वामित्व मनुष्यके मनमें सुरक्षाकी भावना पैदा करता है। आजके औद्योगिक समाजमें सम्पत्ति-हीन और भूमि-हीन व्यक्तिका भाग्य एक गुलामसे भी गया-बीता है। चूकि ऐसा कोई भी नही होता जो ऐसे व्यक्तिके प्रति एक स्वामीकी हैसियत से उसकी खोज-खबर रखे इसलिए उस व्यक्तिको मिली हुई स्वाधीनता प्राय भखसे मर जानेकी ही स्वाधीनता होती है। सम्पत्ति व्यक्तिको अपने भविष्यकी व्यवस्था करनेमें समर्थ बनाती है और पारिवारिक स्वाधीनताके लिए एक सबल आधार प्रस्तुत करती है।

एक सम्पत्तिवान् व्यक्ति अपने देश पर कुछ दाव लगानेमें समर्थ माना जाता है और इस-लिए यह कम सम्भव है कि वह किसी भी ऐसे नए सिद्धान्तकी बहियामें बह जाय जो समाजमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहे। वह एक विचारशील और विवेकशील व्यक्ति होता है।

सम्पत्ति स्वाधीनताकी भावनाको सबल बनाती है। जिस व्यक्तिके पास साधन होते है उसे इस बातकी आवश्यकता नही रहती कि जिन कामोको वह नही पसन्द करता उन्हें स्वीकार करे। श्री लास्की का कहना है कि एक सम्पत्तिशाली मनुष्य अपने जीवनको एक कला-पूर्ण कृति बना सकता है। वह अपने साधनोका उपयोग कला, विज्ञान और साहित्यके विकासके लिए कर सकता है। युगोसे मिलने वाली सामाजिक थाती तक उसकी पहुच है और वह इस बातमें समर्थ है कि 'रचना मूलक जीवन' में अपना भाग ले सके।

श्री अरस्तू (Aristotle) के कथनानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति अपने स्वामीको उदार और दानशील बननेका अवसर दती है। जैसा कि आदर्शवादियोका कहना है, सम्पत्ति चरित्रके विकास और व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिमें सहायिका होती है। व्यक्ति-वादियोंका यह कहना ठीक है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्तिको काम करनेके लिए सबसे अधिक प्रभावकारी प्रोत्साहन देती है। प्राय भूखो मरनेका डर ही मनुष्यको जुएके नीचे बनाए रहता है। श्री « Raleigh » का कहना है कि भूमि और पृथ्वीकी व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे अनेक कार्य है जो व्यक्तिगत रूपमें अपने लाभके लिए और स्वय अपने ही खतरेको उठाते हुए काम करने वाले व्यक्तियो द्वारा सबमे अधिक सुगमता और कुशलता-पूर्वक किए जाते है (६४ १११)। और आगे चलकर वह कहते है कि यह एक जानी-बूझी बात है कि अधिकारी लोग व्यक्तिगत व्यापारियोकी अपेक्षा कम क्रियाशील, कम मितव्ययी और सुधारके लिए कम इच्छुक रहते है (६४)।

इससे भी अधिक बात यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिका स्वामित्व मनुष्यमें सुख और सन्तोपकी जितनी गहरी भावना उत्पन्न करता है उतनी गहरी सुख और सन्तोषकी भावना अन्य किसी प्रकारका स्वामित्व नही दे सकता। व्यक्तिगत सम्पत्ति एक जादू है जो बालू को सोना बना सकती है। कमसे कम कुछ अशो तक तो व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्यकी सामर्थ्यका मानदड है। व्यक्तिगत सम्पत्ति उस स्वस्थ आर्थिक और नैतिक सिद्धान्तका विस्तार है जो कहता है औजार उसे मिलना चाहिए जो उसका प्रयोग कर सके।"

जहा व्यक्तिगत सम्पत्तिके समर्थनमें यह और ऐसे ही अन्य तर्क दिए जा सकते हैं, वहा उसके विरोधमें तर्क और भी अधिक सबल है। समाजवादियोका कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्थामें कुछ ऐसी बुराइया है जो उस व्यवस्थामें अनिवार्य है और जिन्हें शिक्षा, प्रवुद्ध जन-मत या सामाजिक विधानके ही द्वारा नही हटाया जा सकता।

इस तथ्यसे तो इनकार नही किया जा सकता कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्था

धनी और निर्धनके बीचके भेदोको स्थायी बना देती है। असमानतासे असमानता ही उत्पन्न होती है और विभेदसे विभेदकी ही वृद्धि होती है। लास्की का यह कथन सत्य है कि, 'वह समाज जो गरीब और अमीरमें बटा हुआ हो और जिसमें गरीबोकी सख्या ज्यादा हो,उसे बालूकी नीव पर ही टिका हुआ समझना चाहिए (७४: १७६)।' सम्पत्ति जहा एक ओर अपने स्वामीके मनमें सुरक्षाकी भावना उत्पन्न करती है वहा दूसरी ओर वह विलास और आलस्यको भी जन्म देती है। जिन लोगोको परिश्रम करनेकी आवश्यकता नही रह जाती वह प्राय अपना समय और शक्ति रचनात्मक कार्योमें ही नही लगाते। कुछ हद तक व्यक्तित्वके विकासके लिए व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थन किया भी जा सकता है पर असीम व्यक्तिगत पूजी और उससे मिलनेवाले मनुष्योके भाग्य पर नियत्रण के समर्थनमें यह तर्क बिल्कुल नही रखा जा सकता। इस बातका तो कोई तर्क-सगत कारण नही है कि एक व्यक्ति उत्पादनके साधनो पर स्वामित्वका दावा करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का हर सम्भव रूपमें समर्थन करना—जैसे असीमित धन, दान और विरासत आदिका समर्थन—बिल्कुल स्पष्ट बेईमानी है और उस समर्थन पर किसीको विश्वास नही हो सकता।

और भी एक बात है। व्यक्तिगत लाभ ही श्रमके लिए अकेला प्रोत्साहन नही हो सकता, लॉर्ड हॉल्डेन (Haldane) का कहना है कि राज्यकी सेवामें अपने आपको दूसरसे अधिक योग्य सिद्ध करनेकी इच्छा एक दिमागी काम करनेवाले मजदूरके लिए प्रोत्साहनका उतना ही सबल प्रेरक कारण हो सकता है जितना सम्पत्ति इकट्ठा करनेकी भावना हो सकती है। प्लैटो न मूर्ख था और न केवल स्वप्नदर्शी (Visionary) जब उसने यह घोषणा की थी कि किसी मन-पसन्द कार्यको पूरा करना या जनताकी सेवा करना स्वय अपने आपमें ही एक पुरस्कार है।

यह साधारणत. स्वीकार किया जाता है कि सम्पत्तिका स्वामित्व वही तक उचित है जहा तक वह समाजकी सेवासे भी सम्बद्ध हो। किन्तु व्यक्तिगत सम्पत्तिके सबल समर्थको को भी यह बात स्वीकार करनी ही पडेगी कि स्वामित्व और सेवामें बहुत थोडा सा सम्बन्ध है। माग और पूर्तिका सिद्धात हमेशा वैज्ञानिक ढगसे काम नही करता। कभी-कभी वह अस्थिर और चचल रहता है। जैसा कि श्री लास्की ने कहा है हम यह बात नही मान सकते कि चूकि अबीसीनियामें गुलामोकी माग है और दुनिया भरमें अश्लील साहित्य की ज़ोरदार माग है इसलिए जो लोग अबीसीनियामें दास भेजते हो और दुनियामें अश्लील साहित्य प्रचारित करते हो वह समाजकी बडी भारी सेवा करते है।

और आगे चलकर यदि हम सम्पत्तिके इतिहासकी खोज करते है, तो हमें मालूम होता है कि सम्पत्तिका, विशेषकर भूमि-सम्पत्तिका, कोई प्रतिष्ठा-पूर्ण इतिहास नहीं है। इस स्वामित्वकी जडें हमें डकैतीमें मिलती है।

आधुनिक युगमें निस्सदेह व्यक्तिगत सम्पत्तिने अपरिमित उत्पादन किया है, समृद्धि और सुविधामें वृद्धि की है, ससारके प्राकृतिक साधनोका अधिकसे अधिक उपयोग किया है और भौतिक सभ्यतामें आश्चर्यजनक उन्नति की है। पर जीवनके भौतिक क्षेत्रकी इस उन्नतिका यह अर्थ नही है कि नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी समान उन्नति हुई है। जीवनके तत्त्वोका मूल्य और महत्त्व बहुत कुछ नीचे गिर गया है और चारो ओर सम्पत्ति और शक्तिकी पूजा करनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। आधुनिक समाजका सगटन ही कुछ ऐसा है कि उससे व्यक्तिगत लाभकी भावनाको ही उत्तेजना मिलती है। यह व्यवस्था

मनुष्यको यह सिखाती है कि वह शक्ति और सम्पत्तिके लिए प्रतियोगिता करे, होड लगाए, यह व्यवस्था यह नही सिखाती कि मनुष्य सामान्य उद्देश्योकी पूर्तिमें दूसरोसे सहयोग करता हुआ आगे बढे। आम जनताके लिए तो इस व्यवस्थाने प्रभावपूर्ण रचनामूलक नागरिकता असम्भव बना दी है। शुद्ध भौतिक क्षेत्रमें भी अब उन्नतिके इतने अधिक अवसर नही रह गए जितने कि अभी हाल ही में हमारे सम्मुख थे। हम विकासकी चरमावस्था तक लगभग पहुच चुके है।

श्री लास्की ने वर्तमान व्यवस्थाके विरोधमें अपने तर्कोका निष्कर्ष इन प्रभावपूर्ण शब्दोमें दिया है "हम चाहे जिस दृष्टिकोणसे देखें वर्तमान व्यवस्था अपूर्ण दिखाई देती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे यह व्यवस्था इसलिए अपूर्ण है कि अधिकाश लोगोके लिए इस व्यवस्थामें केवल भयकी भावनाको ही उत्तेजना मिलती है और इस प्रकार उनके वह सभी गुण नष्ट हो जाते है जो मानव-जीवनके पूर्ण विकासमें सहायता पहुचाते है। नैतिक दृष्टिकोणसे भी यह व्यवस्था अपूर्ण है, कुछ तो इसलिए कि इस व्यवस्थामें अधिकार उन लोगोको मिलते हैं जिन्होने उन अधिकारोकी प्राप्तिके लिए कुछ भी नही किया और कुछ इसलिए कि जहा यह अधिकार उन लोगोको मिले भी है जिन्होने उनके लिए परिश्रम किया है वहा सामाजिक महत्त्वके साथ उनका कोई अनुपातिक सम्बन्ध (Proportionate relivancy) नही रखा गया। यह व्यवस्था समाजके एक वर्गको शेष समुदाय के श्रमका भोगी बना देती है और शेष समुदायसे समृद्ध जीवन बितानेका अवसर छीन लेती है। यह व्यवस्था आर्थिक दृष्टिसे भी अपूर्ण है क्योकि समाजमें जो सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है उसका वितरण इस व्यवस्थामें इस ढगसे नही हो पाता कि जो लोग उस सम्पत्तिको उत्पन्न करते है, उन्हें स्वस्थ और सुरक्षित जीवन बितानेका अवसर मिल सके। परिणाम यह हुआ कि जनताके बहुमतकी निष्ठा इस व्यवस्था पर से उठ गई है। कुछ लोग इस व्यवस्थाको घृणाकी दृष्टिसे देखते है। अधिकाश जनता उसमें कोई अच्छाई नही देखती राज्यको भी यह व्यवस्था उस कार्य-सकल्पके लिए नही प्रेरित करती जिसके द्वारा ही कोई राज्य समृद्ध हो सकता है।"

उपयोग करनेकी शक्तिके अनुसार वितरण (Distribution according to the Power to Use)

सम्पत्तिके आदर्शवादी सिद्धातको व्यावहारिक रूप देते हुए प्रो० हॉकिंग (Prof. Hocking) ने आर्थिक सम्पत्तिके ऐसे वितरणका समर्थन किया है जिनमें वस्तुए व्यक्तिकी उपयोग करनेकी शक्तिके अनुसार बाटी जाती है सम्पत्ति उनको मिले जो उसका सबसे अधिक उपयोग कर सकें। इसमें तो कोई सदेह नही हो सकता कि मूर्ख धनिकोंके विलास और प्रत्यक्ष बर्बादीने व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्थाको लोगोकी दृष्टिमें जितना नीचे गिराया है उतना और किसी दूसरे कारणने नही।

उपयोग करनेकी इस शक्तिकी व्याख्या इस प्रकारसे की जा सकती है समाजकी आर्थिक व्यवस्थामें जो सबसे नीचेके स्तर पर है उनमें वस्तुओका वितरण उनकी आवश्यकताके अनुसार हो। जो आयकी बीचकी सीढी पर—मध्यम वर्गमें है उनमें वस्तुओका वितरण उनकी अर्जनकी शक्तिके अनुसार हो और जो आर्थिक व्यवस्थाकी चोटीपर है उनमें वस्तुओका वितरण उनकी उपयोग करनेकी शक्तिके अनुसार हो।

विभाजनके इस सिद्धान्तमें समर्थन करने योग्य बहुत सी अच्छाइया है। यह प्रत्येक व्यक्ति को इस बातके लिए प्रेरित करता है कि वह अपने आपको समाजके लिए यथासम्भव उपयोगी सिद्ध करे। यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिको इस बातका पर्याप्त अवसर देता है कि वह अपने स्वभावमें जो परोपकारी वृद्धि हो उसका अधिकसे अधिक उपयोग कर ले। इस सिद्धान्तसे समाजके अयोग्य सदस्य अपने आप विलीन हो जाते है और उपयोगी सदस्य एक बडी तादादमें बच जाते है। और अन्तिम रूपमें इस सत्यकी भी सिद्धि इस सिद्धान्त द्वारा हो जाती है कि योग्यता अपुरस्कृत (Unrewarded) नही रहनी चाहिए। इन सैद्धान्तिक अच्छाइयोके होते हुए भी इस सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप देना बडा कठिन है यद्यपि कई दृष्टियोसे निरुपाधिक व्यक्तिवाद (Unqualified individualism) की अपेक्षा इसमें अधिक सुधार हुआ है। फिर भी इसमें बताया हुआ परिवर्तन यथेष्ठ रूपसे व्यापक नही है। इसके अलावा यह भी सम्भावना है कि इसके परिणाम-स्वरूप अधिक समर्थ और उद्योगशील व्यक्तियो तथा असमर्थ व्यक्तियोके बीच अनुचित असमानता उत्पन्न हो जाय क्योकि किसी भी व्यक्तिकी सामाजिक उपयोगिता या महत्ता का आकना आसान नहीं है।

फिर भी उपयोगिताकी सामर्थ्य (ability to use) के आदर्शकी सहायतासे हम ससार भरमें समाजवादकी स्थापनाकी प्रतीक्षा किए विना ही न्याय-युक्त वितरण की एक ऐसी योजना तैयार कर सकते है जिसे तुरन्त कार्यान्वित किया जा सके। समाज के निम्नतरस्तरमें हम उन लोगोको रख सकते है जो जातीय विकासकी दृष्टिसे अवाछनीय है जैसे मूर्ख, अशक्त आदि। समाजके शेष समुदायसे उन्हें अलग कर सकते है, उनके समुदाय की वृद्धि पर रोक लगा सकते है, पर इसके साथ ही साथ सभ्य जीवनकी न्यूनतम आवश्यकताए भी उनके लिए पूरी करते हुए दूसरी कोटिमें हम उन लोगोको रख सकते है जो दूसरो पर आश्रित रहते है जैसे वृद्ध और दुर्वल व्यक्ति। उनके लिए भी सभ्य जीवनकी न्यूनतम आवश्यकताए पूरी करनी होगी। "शारीरिक श्रम करने वाले अकुशल (Un skilled) व्यक्तियोंके लिए सुन्दर जीवन वितानेके लिए कमसे कम जो जितना वेतन आवश्यक हो उतना हम देंगे और सर्वदा यह प्रयत्न करेंगे कि वह कुशल कारीगरोकी कोटिमें आजाये। मध्यवर्गके लिए हम माग और पूर्ति (Supply & demand) के सिद्धान्त पर निर्भर रहेंगे और साथ ही इस बातका भी ध्यान रखेंगे कि इस सिद्धान्तमें जो स्वाभाविक त्रुटिया हो उन्हें रोका और सुधारा जाय। इसके लिए हम समान अवसर (equal opportunity) के सिद्धान्तका प्रयोग करेंगे, नि शुल्क शिक्षा, आवश्यकतानुकूल बढने वाला आय-कर और आनुक्रमिक या क्रमश बढने वाला दाय-कर (Graduated inheritance tax) आदि इसके साधन होगे। आर्थिक शृखलाकी चोटी पर रहने वाले लोगोमें 'उपयोगकी सामर्थ्य' का सिद्धान्त दृढता-पूर्वक लागू किया जायगा। यदि श्री फोर्ड या श्री राकफेलर जैसा कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का उपयोग मनुष्य-जातिकी सेवाके लिए और भी अधिक सम्पत्तिके उत्पादनके करनेमें समर्थ है तो हम उसे वैसा करने देंगे। पर यदि इसके विरुद्ध वह अपनी सम्पत्तिका नितान्त स्वार्थ-मूलक उद्देश्योकी सिद्धिमें उपयोग करता है या दूसरी तरहसे उसका दुरुपयोग करता है तो हम कानून या जन-मत अथवा दोनो ही के द्वारा उसके लिए उस सम्पत्ति पर अपना अधिकार रखना असम्भव बना देंगे।

नागरिकता पर टिप्पणी

(Note on Citizenship)

यदि जनताका चरित्र सुन्दर, गम्भीर नही है तो सर्वश्रेष्ठ पद्धतिकी सरकार भी निश्चित रूपसे असफल हो जायगी। सदियो पहले अरस्तू (Aristotle)ने इस बहुमूल्य सत्यकी खोज की थी कि किसी भी विधानकी सफलता या असफलता जनताके चरित्र और उसकी मन स्थिति पर निर्भर है। प्रजातत्र एक वरदान है, पर स्वस्थ नागरिकताकी भावनाके अभावमें वह भी सफल नही हो सकता। नागरिकता राज्यके प्रति वैसी ही निष्ठा और लगनकी माग करती है जैसी निष्ठा और लगन व्यक्तिको अपने परिवारके प्रति होती है।

शब्द 'नागरिता' और उससे सम्बन्धित नागरिक शास्त्र' (Civics) लैटिन शब्द (Civitas) सिविटस बने हुए है जिससे यह लक्षित होता है कि नागरिक जीवनका मूल पुरानी दुनियाके नगर-राज्योमें है। यूनानियोकी दृष्टिमें एक अच्छा नागरिक होने का अर्थ था एक अच्छा इन्सान होना। अरस्तू ने नागरिकताकी परिभाषा की है, शासन करने और शासित होनेकी क्षमता। प्लैटो और अरस्तू दोनोने ही नागरिक गुणोमें व्यवितके दीक्षित किए जानेको बहुत अधिक महत्त्व दिया है।

नैतिक आचारकी भाति नागरिकता भी एक कला और विज्ञान है। अध्ययनकी अन्य शाखाओकी भाति उसे न केवल पढना होता है बल्कि सावधानी और तत्परताके साथ उसे व्यवहारमें भी बरतना होता है। नागरिकता चरित्रका ही व्यावहारिक रूप है। वह सामाजिक जीवनका ही दूसरा नाम है। जो व्यक्ति सामाजिक सगठन और एकताकी प्रतिष्ठा और वृद्धिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न नही करता उसे अच्छा नागरिक कहलानेका कोई अधिकार नही है।

नागरिकता केवल देश-भवित नही है। वह देश भवितसे कही अधिक व्यापक और गम्भीर है। गलत या सही ढगसे जनताके मनमें यह भावना बैठी हुई है कि देश-भक्ति देशके सकट-कालमें किया गया कोई बहुत ही पवित्र उच्च कोटिका अनुपम सेवा-कार्य है। प्राय देश-भवितका अर्थ होता है देशके कल्याणके लिए अपने जीवनको बलिदान कर देना। कभी कभी देश-भवितका अर्थ जब देशकी प्रतिष्ठा और सुरक्षा खतरेमें हो तब देशके लिए झूठ बोलना और वाक् छल करना भी माना जाता है। ससारके इतिहासमें ऐसे देश-भक्तो की सख्या कम नही है जिन्होने अपने देशके सकट-कालमें बडी चोखी और महत्त्व-पूर्ण देश-सेवाका काम किया है पर जो अपने दैनिक जीवन और व्यवहारमें बहुत ही निम्न-कोटिके नागरिक थे। आजकल भी हमें ऐसे देश-भक्त मिल सकते है जिन्हें हम अच्छा नागरिक नही कह सकते—जो टिकट-कलेक्टरको, आय-कर-अधिकारीको अथवा चुगी वसूल करने वाले अधिकारियोको धोखा देनेकी कोशिश करते है। धीरे-धीरे समार इस कटु मत्यको पहचान रहा है कि जैसा किसी नर्स कैवेल (Nurse Cavell) ने कहा है, देश-भवित ही पर्याप्त नही है। नागरिकताके लिए आवश्यक है कि अपने पडोसी, अपने देश और अन्तत समूची मानवताकी निरन्तर पूरी-पूरी निष्ठा और सावधानीके साथ ऐसी सेवा, बडे और छोटे सभी तरहके कामों द्वारा, की जाय जिसके लिए प्रशसा और पुरस्कार

की लालसा न हो—कभी-कभी जिसकी ओर लोगोका ध्यान भी न जाय। ऐसे भी अवसर कम नही आते जब अपने व्यावहारिक रूपमें देश-भक्ति एक विभेद डालने वाली शक्तिके रूपमें काम करती है, पर नागरिकता तो एका कराने वाली शक्ति है। नागरिकता मनुष्य-मनुष्यको और जाति-जातिका एक सर्वव्यापक एकताके सूत्रमें बाध देती है। देश-भक्ति के बजाय नागरिकता ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

नागरिकता समकेन्द्रिक वृत्तमालाकी (Series of concentric circles) भाति होती है। उसका प्रारम्भ घर या परिवारसे होता है पर शीघ्र ही उसकी परिधि बढते-बढते अपने पडोस, गाव, कस्बा या शहर, उद्योग या व्यवसाय, देश और समूचे ससार को अपने भीतर समेट लेती है। एक अच्छे नागरिकको इन सभी समुदायोके प्रति अपनी निष्ठा स्वीकार करनी चाहिए। वह नागरिकता जो इनमेंसे किन्ही एकके प्रति भी निष्ठा नही रखती वह पक्षपातसे दूषित और अपूर्ण है। सच्ची नागरिकताका अर्थ है इन सबके प्रति निष्ठाकी उचित व्यवस्था। एक अच्छे नागरिकके लिए एक अच्छा पिता, पति अथवा भाई, एक सहयोगी और सहायक पडोसी, एक निष्ठावान् और विवेकशील देश-भक्त, एक ईमानदार मजदूर, गरीबो और दलितोका सहायक और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना का सच्चा उपासक होना आवश्यक है। नागरिकता न केवल एक भावना-मात्र है और न ऊचे आदर्शोकी दुहाई है।

एक अच्छे नागरिकको चाहिए कि वह अपनी निष्ठाको अन्याय और अमानवताके अतिरिक्त अन्य किसी बातकी विरोधिनी न बनने दे। उदाहरणके लिए तामिल भाषा व साहित्यके प्रति यदि किसीको निष्ठा है तो उसके लिए यह उचित नही है कि वह राष्ट्र-भाषा अर्थात् हिन्दीकी शिक्षाका विरोधी बन जाय। ईसाई धर्मका भक्त होनेका यह अर्थ नही है कि हिन्दू धर्म या इस्लामका विरोधी बने।

जैसा पहले कहा जा चुका है नागरिकता एक विज्ञान है जिसे अध्यापक और विद्यार्थी दोनोको साथ-साथ पढना चाहिए, वह एक कला है जिसे दोनोको साथ-साथ अपने जीवन में उतारनेका प्रयत्न करना चाहिए। नागरिकताके विज्ञानमें और बातोके साथ-साथ निम्नलिखित बाते सम्मिलित है

(१) प्रत्येक व्यक्तिके महत्त्व और उसकी प्रतिष्ठाकी परख,

(२) व्यक्ति और समाजके जीवनमें राज्यके स्थान अर्थात् महत्त्व आदिका निर्धारण,

(३) व्यक्ति और समाजके पारस्परिक सच्चे सम्बन्धकी परख और सामाजिक एकता व सगठनकी भावना,

(४) कर्त्तव्यो और अधिकारोके पारस्परिक सम्बन्धकी स्वीकृति, और

(५) बच्चो और युवकोमें अच्छी आदतो, अभिरुचियो और प्रवृत्तियोकी सही-सही ट्रेनिंग या शिक्षाका महत्त्व समझना।

नागरिकतामें जो सबक हमें सबसे पहले सीखना चाहिए वह है व्यक्तित्वका सम्मान जिसे आजकल हम बहुत कम महत्त्व दे पाये है। इमेनुएल काट (Immanuel Kant) के प्रसिद्ध शब्दोमें "प्रत्येक व्यक्ति स्वय एक उद्देश्य है और कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिकी उद्देश्य-सिद्धिका साधन नही है। लॉर्ड हॉल्डेनके शब्दोमें "व्यक्तित्व सृष्टि का केन्द्र-तत्त्व है।" नेतागिरीका सिद्धान्त जिसमें अधिकारीकी अन्ध-भक्ति सिखाई जाती

है और जो तानाशाहोको अत्यन्त प्रिय है, मानव व्यक्तित्वके लिए सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ है। जो व्यक्तिगत स्वाधीनता व्यक्तित्वके विकासके लिए अनिवार्य है, नाजी उसीको तुच्छ गिनते थे। वह कहते थे, 'स्वाधीनता पर हम लात मारते है, हमारा खून ही हमारे लिए विचारका काम करता है।' व्यक्तित्वके प्रति सच्चे सम्मानका अर्थ है मानव-भ्रातृत्वकी भावनामें सच्चा विश्वास।

१ व्यक्तिका महत्त्व और मूल्य (The Worth of the Individual)

सच्ची नागरिकताके लिए सामाजिक और आर्थिक समानताकी इतनी अधिक आवश्यकता है जितनी समानता आजकल अधिकाश लोग असम्भव मानते है। समाजका उद्देश्य और प्रयत्न निरन्तर यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तिके अनुसार अधिक से अधिक सुन्दर सामाजिक प्राणी बन सके। प्राकृतिक असमानता और समानताके सिद्धान्तमें एक व्यावहारिक मेल बैठाया जाना चाहिए। प्रतिभाके विकासके लिए पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिए। सामाजिक सस्थाओंका महत्त्व उसी हद तक है जिस हद तक वह व्यक्तित्वके विकासमें सहायक हो सके। इस सीधे-सादे सत्यको पहचाननेकी हमारी असमर्थतासे ही अनेक प्राचीन सभ्यताओका धीरे-धीरे अन्त हो गया। ऐसे देशोमें जैसा कि स्वय हमारा देश है जिसमें जाति और सम्प्रदायके बन्धन अभी टूटे नही, जहा अवसरकी समानता (Equality of opportunity) और न्याय-विचारकी समानता अभी अधिकाशमें केवल विचार-क्षेत्र तक ही सीमित है और जहा 'प्रतिभाके लिए उन्मुक्त अवसर' का सिद्धान्त कार्यान्वित होनेमें अभी बहुत देर है वहा यह बहुत जरूरी है कि मानव-व्यक्तित्वकी पवित्रताका नारा बार-बार ऊचा किया जाय।

यह तो एक स्वय सिद्ध बात है कि व्यक्ति और समाजके आदर्श-स्वार्थोमें कभी सघर्ष नही होता, पर अपने सामान्य अनुभवकी दुनियामें हम देखते है कि व्यक्ति और समाजके स्वार्थोमें कभी-कभी सघर्ष होता ही है।

२ सामाजिक संगठनकी एकता और दृढ़ता

ऐसी स्थितिमें एक अच्छे नागरिकको उच्च कोटिके स्वार्थके लिए निम्न कोटिके स्वार्थको छोडनेमें कोई हिचकिचाहट न होनी चाहिए। सच्ची नागरिकताका अर्थ है व्यक्ति और समाजके न्याय-सगत हितोमें सुन्दर ढगसे मेल बैठाना।

प्लेटोने अपने प्रसिद्ध न्यायके सिद्धान्तमें यह सामजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया है। उनके इस सिद्धान्तके अनुसार कामोका बटवारा योग्यता और शक्तिके आधार पर होना चाहिए और प्रथम दो वर्गोमें परस्पर सम्पत्ति और परिवारकी सम्मिलित व्यवस्था होनी चाहिए। हिन्दुओने अपने वर्णाश्रम-धर्मके द्वारा यह मेल बैठानेका प्रयत्न किया है। वर्णाश्रम धर्ममें प्रत्येक व्यक्तिको अपने-अपने वर्गके लिए निर्धारित कर्त्तव्योका पालन करते हुए सामाजिक व्यवस्थाको क़ायम रखना होता है। इसीके द्वारा जीवनके चारो आश्रमोका पार करते हुए उसके व्यक्तित्वका विकास सम्भव होता है। मध्य युगमें एक विश्वव्यापी ईसाई-धर्म-राज्य स्थापित करके ऐसा सामजस्य लानेका प्रयत्न असफल सिद्ध हुआ। आधुनिक आदर्शवादियोकी धारणाको श्री टी० एच० ब्राडले (T H Bradley) ने एक सूत्रमें व्यक्त किया है वह सूत्र है 'समाजमें मेरा पद और उसके कर्त्तव्य।" सोवियत सघका आदर्श वाक्य है प्रत्येकसे उसकी सामर्थ्यके अनुसार लो और प्रत्येकको उसकी आवश्यकताके अनुसार दो। दूसरी ओर नाज़ियो और फ़ासिस्टो

का कहना था कि समाजमें यह सामजस्य तभी स्थापित हो सकता है जब व्यक्ति प्रसन्नता-पूर्वक अपने आपको राज्यकी सेवाके लिए अर्पित कर दे। सेवाका यह आदर्श भी एक सुसगठित पर विवेक-शून्य राजनैतिक दलके एक छोटेसे गुट द्वारा निर्धारित होता था। जहा तक हमारा सम्बन्ध है हमारा विश्वास है कि एक भाषा, जाति, सम्प्रदाय या प्रदेश अथवा प्रान्तके आधार पर बने हुए समाजोको अपेक्षा समूचे राष्ट्रके जन-समाजका कल्याण श्रेष्ठ माना जाना चाहिए और समूचे विश्व-समाजका कल्याण किसी भी एक अकेले राष्ट्रके कल्याणकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए।

३ राज्यका अर्थ (The Meaning of the State)

ठीक ठीक व्याख्या करने पर राज्य व्यक्तिका एक सच्चा मित्र सिद्ध होता है। एक सुव्यवस्थित राज्यकी इच्छाओका पालन करनेमें हम स्वार्थपरता से मुक्त अपनी ही शुद्ध इच्छाओका पालन करते हैं। हम न तो अराजकतावादियोके इस दृष्टिकोणको स्वीकार करते है कि राज्य एक विशुद्ध बुराई ही बुराई है और न इस आत्यन्तिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोणको ही स्वीकार कर सकते है कि राज्य एक आवश्यक खराबी (Necessary evil) है। हम राज्यको अपनी ही विभिन्न व्यक्तित्वोका मूर्त रूप मानते है। पर इस दृष्टिकोणका यह अर्थ नही लिया जाना चाहिए कि हम राज्यकी निरकुशताके या राज्यकी पूजा करनेके पक्षपाती हे. क्योकि नागरिकोका अस्तित्व राज्यके लिए नही है बल्कि राज्यका ही अस्तित्व नागरिकोके लिए है। राज्य मनुष्यके चरम लक्ष्य की सिद्धिका एक साधन-मात्र है। जैसा कि श्री अरस्तू ने कहा है, राज्यका उद्देश्य भद्र जीवन अथवा समृद्ध समाजका उत्थान है। जब ऐसा राज्य स्वार्थ-परायण बन जाये तब यह नागरिकका कर्तव्य हो जाता है कि वह इसका विरोध करे , पर विरोध करते समय भी उसे यह याद रखना होगा कि वह एक नागरिक है। इसलिए यदि राज्यके सच्चे उद्देश्यको सिद्ध करना है तो हमें जिस बातकी आवश्यकता होगी वह है 'चुने हुए आदर्शोके प्रति उदार और सस्कृत निष्ठा' न कि यान्त्रिक अनुशासन।

नागरिकताका जो पहला सवक हमें सीखना होता है वह यह है कि जो पुलिसमैन सडक पर खड़ा होकर यातायातका नियत्रण करता है, जो न्यायाधीश प्रतिदिन मुकदमोमें अपना फैसला सुनाता है, जो इन्कमटैक्स-आफिसर (आय-कर अधिकारी) हमें इस बातकी नोटिस भेजता है कि राज्यका कुछ कर हमारे जिम्मे बाकी है वह सब और न केवल वही बल्कि जो मेहतर हमारी सडकोको साफ करते है वह भी हमारे सच्चे मित्र है। दुर्भाग्यवश इस प्रकारकी रचना-मूलक नागरिकताका भारतमें अभाव है।

४. अधिकारो और कर्त्तव्योका पारस्परिक सम्बन्ध (Correlation of Rights and Duties)

नागरिकताके सम्बन्धमें हमारी धारणा बिल्कुल ही अपूर्ण रह जायगी यदि हम इस सत्यको स्वीकार नही कर लेते कि प्रत्येक अधिकारके साथ उस के अनुरूप कर्त्तव्य भी जुडा हुआ है। अधिकतर कर्त्तव्यको भुला कर अधिकारो पर ही अधिक जोर दिया जाता है। इस बातको बडी आसानीसे भुला दिया जाता है कि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेसे सम्बद्ध है (अधिक विवरणके लिए अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त वाला अध्याय देखिये)।

नागरिकताकी शिक्षा चारित्रिक शिक्षासे किसी प्रकार कम नही है, इसलिए बच्चो और युवकोको अच्छी आदतो, अभिरुचियो

और प्रवृत्तियोकी शिक्षा देनेकी ओर अधिकसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। जिस प्रकारके नागरिकोकी हमें आवश्यकता है वैसे नागरिक बनानेमें केवल सैद्धान्तिक शिक्षा और उपदेश कोई काम नही करेंगे। युवकोको शिक्षा देनेवाले शिक्षक यदि युवकोको सही मार्ग पर लाना चाहते है तो आवश्यक है कि वह स्वय भी चरित्र-वान् व्यक्ति हो। एक अच्छे शिक्षकको सबसे पहले स्वय एक अच्छा पुरुष या अच्छी स्त्री होना चाहिए। अच्छाईका अर्थ है उचित सामाजिक जीवनमें दीक्षित होना। अच्छी नागरिकताके लिए यह घातक होगा कि बच्चोकी ऐसी पीढिया तैयार हो जायें जिन्हें प्रारम्भिक नैतिक आचारकी भी कोई शिक्षा न मिली हो—ऐसे बच्चे जो ईमानदारी सच्चाई, न्याय, विश्वसनीयता, पारस्परिक सद्भावना, सहयोग और लोक-सेवाको भावन का कोई मूल महत्त्व ही न समझते हो। यह एक चिन्ता और दुखकी बात है कि धार्मिक सहिष्णुताके नाम पर भारतकी सरकार द्वारा सहायता प्राप्त शिक्षा-सस्थाओमें धर्म औ नैतिक आचारकी शिक्षाके प्रति उपेक्षाकी भावना बढती जा रही है। धर्म कहा जा लायक कोई भी धर्म ऊपर बताये गये सद्गुणोकी शिक्षा पर कभी आपत्ति नही कर सकता विशेषकर जब वह शिक्षा प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष (Indirect) रूपमें हो।

५ चरित्रकी शिक्षा (Training in Character)

नागरिकताकी शिक्षा

यदि हमें एक नवीन और टिकाऊ सामाजिक व्यवस्थाकी सृष्टि करनी है तो उसकी नी हमें घर और स्कूलमें गहरी डालनी होगी। बहुत लम्बे समय तक शिक्षाका सचाल उपयोगितावादी दृष्टिकोणसे होता रहा है। अब वह समय आ गया है कि शिक्षाका न ढगसे पुन सगठन हो—विशेषकर और बातोके साथ-साथ, इस उद्देश्यसे कि हम अपने लडक और लडकियोको सुन्दर नागरिक जीवनमें शिक्षित कर सकें।

सर साइमन ने शिक्षाके तीन उद्देश्योकी चर्चा की है जिनमें से प्रत्येकका नवी सामाजिक व्यवस्थामें महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें से पहला उद्देश्य है ' बच्चोको इस योग बनाना कि वह ससारमें स्वय अपना मार्ग निर्धारित करें और अपनी जीविका कमायें। इस लिए शिक्षाका उद्देश्य यह हो जाता है कि बच्चोको इस प्रकारका ज्ञान और कौश सिखाया जाय कि वह बेकारीके भूत पर विजय पा सकें। दूसरा उद्देश्य सास्कृतिक है, बच्च को इस योग्य बनाना कि वह जीवनके सूक्ष्म मूल्यो, मानो (Values) को समझ सकें तीसरा उद्देश्य है नागरिताकी शिक्षा। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए शिक्ष का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह व्यक्तिको इस योग्य बना दे कि समाजमें वह अपन उचित स्थान प्राप्त कर सके और समाजकी शक्ति और एकतामें अपना योग दे सके। इ प्रकार नागरिक भावनाको जाग्रत करना शिक्षाका प्रथम उद्देश्य हो जाता है। श्री रस्कि ने बिल्कुल ठीक ही कहा है, 'शिक्षा यह नही है कि मनुष्य जो नही जानता वह उसे बताय जाय, शिक्षा यह है कि मनुष्य जिस प्रकार व्यवहार नही कर पाता उस प्रकारसे उ व्यवहार करना सिखाया जाय।'

परम्परागत दृष्टिकोण यह है कि नागरिता कोई ऐसा विषय नही है जिसकी शिक्षा प्रत्यक्ष रूपमें दी जानी चाहिए बल्कि वह एक ऐसा विषय है कि जिसकी शिक्षा अप्रत्यक्ष

रूपमें विशेषकर प्राचीन उच्च कोटिके शास्त्रीय ग्रन्थोके अध्ययन द्वारा मस्तिष्कका सस्कार करके दी जा सकती है। हम यह नही समझते कि यह दृष्टिकोण अनुभवकी कसौटी पर खरा उतर सकता है। श्री ई० साइमन का कहना है, 'कोई भी यह नही सोचता कि हेब्रू भाषा पढा कर डॉक्टर तैयार किये जायें और धर्म-ग्रन्थोको पढा कर इजीनियर तैयार किये जायें।' हमारा विश्वास है कि विद्यार्थियोको नागरिकताकी शिक्षा देना उतना ही आवश्यक है जितना आवश्यक उनमें मौलिक नैतिक सद्गुणोका विकास करना है। प्रत्येक नवजवान स्त्री-पुरुषको राजनीति और अर्थ-शास्त्रके सामान्य तत्त्वोका ज्ञान कराया जाना चाहिए। जितना सम्भव हो सके उतने अधिक विद्यार्थियोको नागरिक-शास्त्र, राजनैतिक सस्थाओ और समाज-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्रके प्रारम्भिक तत्त्वोका ज्ञान कराया जाना चाहिए। हम यह नही चाहते कि जर्मनी और फ्रासकी भाति हमारे विश्वविद्यालय भी व्यावसायिक विद्यालय बन जायें। हम चाहते है कि व्यावसायिक और यान्त्रिक शिक्षा जो कुछ भी विश्वविद्यालयोमें दी जाती है उसके साथ हमारे विश्वविद्यालय एक उदार शिक्षाका शिलान्यास कर सकें।

नागरिकताके कर्त्तव्य (The Duties of Citizenship)

यह दुर्भाग्यकी बात है कि बहुतसे लोग जब नागरिकताकी बात सोचते है तब उनके मन में अधिकारोकी ही बात आती है। नागरिकतामें जो कर्त्तव्य निहित है उनकी बात वह बहुत कम सोचते है। यह प्रवृत्ति सम्भवत इस कारण है कि लोगोके मनमें राज्य और सरकारको जनताको पीडित करने वाले यन्त्र-मात्र माननेकी भ्रम भरी धारणा जमी हुई है, और इसीलिए, लोग समझते है कि राज्य और सरकारकी आज्ञाओका पालन केवल उसी हद तक करना चाहिए जिस हद तक न करनेसे किसी भी प्रकारके दडका भय हो।

नागरिकताके कर्त्तव्योको नैतिक कर्त्तव्य और वैधानिक कर्त्तव्य इन दो विभागोमें बाट सकते है यद्यपि कुछ कर्त्तव्य ऐसे भी है जो नैतिक और वैधानिक दोनो ही है। यह तो स्पष्ट है कि वैधानिक कर्त्तव्योका उल्लघन करनेसे कानून द्वारा दडित किये जानेका भय रहता है जब कि नैतिक कर्त्तव्योके उल्लघनमें ऐसा कोई भय नही रहता। मूलभूत वैधानिक कर्त्तव्योमें कानूनका सम्मान करना, जन व्यवस्थाकी प्रतिष्ठामें सहायता देना, जूरी बन कर सेवा-कार्य करना, राष्ट्रीय सुरक्षामें सहायता देना राजकीय विभिन्न कर अदा करना, मताधिकारका प्रयोग करना, अपने बच्चोको शिक्षित करना और सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाईमें योग देना आदि हैं।

कुछ प्रधान नैतिक कर्त्तव्य यह है: नागरिकताका अध्ययन करना, जन-सेवाकी भावना उत्पन्न करना, मताधिकारका उचित उपयोग करना, आत्मनिर्भरता, शिक्षा, स्वास्थ्य, मितव्ययिता आदि गुण उत्पन्न करना, दुर्बलोकी सहायता करना और जब नितान्त आवश्यक हो जाय तब राज्यका भी विरोध करना आदि।

अच्छी नागरिकताके मार्गमें बाधाएं और उनका निवारण (Hindrances to Good Citizenship and Their Removal)

श्री ब्राइस (Bryce) ने अच्छी नागरिकताके मार्गमें आलस्य, व्यक्तिगत स्वार्थ और

कहना है कि 'यदि जनताका शासन जनताके द्वारा करना है तो सार्वजनिक शिक्षा उसके लिए बहुत आवश्यक है (७७ २६)।' इतनी ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है स्वशासनकी शिक्षा। हम यह आशा नही कर सकते कि जो लोग एकतत्र शासनके अभ्यस्त रहे हो और जिन्होने जीवनमें कभी स्थानीय सस्थाओ, म्युनिसिपैलिटी और जिलाबोर्ड आदिके द्वारा स्वय अपने ऊपर शासन करना सीखा ही न हो, उन्हें हम अच्छे नागरिक बना देंगे। श्री ब्राइस का कहना है, "किसी भी जातिमें प्रजातत्रीय शासनके लिए सबसे अच्छी शिक्षा है स्वशासनका अभ्यास। ज्ञानको व्यावहारिक रूप देना आवश्यक है।"

जहा तक भारतका सम्बन्ध है सरकारमें कुछ ऐसा परिवर्तन किया जाना चाहिए कि साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयताकी भावनाओको निरुत्साहित किया जाय और राष्ट्रीय भावनाओको प्रोत्साहन मिले। यद्यपि अकेला कानून ही इस उद्देश्यकी पूर्ति नही कर सकता फिर भी कानून बेशक उसकी पूर्तिका एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सच्चा सुशासन नागरिकता को दृढ बनानेका एक दूसरा साधन है। नागरिक भावनाका समुचित विकास तब तक नही हो सकता जब तक देशकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था जनताका शोषण और पीडन करती है और निहित स्वार्थ वाले वर्गोका पोषण और सरक्षण करती है। सामाजिक अन्याय, विवेक-शून्य असमानता, घोर पक्षपात और राजनैतिक अनुग्रहकी आदत (Political favouritism) निश्चित रूपसे नागरिकताकी समूची शक्तिको समाप्त कर देगी।

नैतिक पक्षमें सबसे पहला स्थान नि:सन्देह पारिवारिक शिक्षाको देना होगा। घर अनेक सद्गुणोका उत्पत्ति और पोषण-स्थान है। वही पर व्यक्तिके भावी चरित्रकी नीव डाली जाती है। यदि एक अच्छे परिवारमें बच्चा आत्मविस्मृति (Self-forgetfulness), दूसरोका ध्यान रखना, उदारता, सहयोग और उदारचेतना जैसे गुणोको सीखता है तो एक बुरे परिवारमें वह स्वार्थपरता, दूसरोकी उपेक्षा, तुच्छता, प्रतिस्पर्द्धा और सकीर्णता जैसे दुर्गुणोको अपनाता है। कैथोलिक नेताओका यह कथन सत्य है: "सात वर्षकी अवस्था तक बच्चेको हमारे हाथमें दे दो और फिर जीवन भर अपने साथ रखो।" बचपनमें ही आदतें डाली जाती है अभिरुचियो और प्रवृत्तियोका निर्माण होता है। और जब ऐसा है तब नागरिकता के लिए परिवारकी महत्ता असीम हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि और चीजोके साथ-साथ माता-पिताका भी शिक्षित और राजभक्त या देश-सेवी होना आवश्यक है। श्री बोसाके ने परिवारकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'वह एक ऐसा अनुशासन है जिसमें प्रत्येक पीढी नागरिकताके पाठ को नए सिरे से पढती है।"

घरकी ही भाति स्कूल भी महत्त्वपूर्ण है। साक्षरताकी आवश्यकताके सम्बन्धमें हम पहले ही कह चुके हैं पर केवल साक्षरतासे ही अच्छे नागरिक नही उत्पन्न हो सकते। हमें एक ऐसी शिक्षा-पद्धतिकी आवश्यकता है जो विद्यार्थियोको सामाजिक जीवनमें शिक्षित कर सके, उनमें सहयोगी पद्धतियों और सामूहिक आदर्शोका विकास कर सके, चरित्रको सँवार सकें और उनके हृदयमें राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय भावनाका उचित अकुर उगा सकें। श्री एल्ड्रिज (Eldridge) का कहना है: "समर्थ नागरिकताका आधार हैं इतिहास, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र का कमसे कम साधारण ज्ञान विशेष कर इन शास्त्रोंके उस अगका ज्ञान जो नागरिककी अपनी विशिष्ट समस्याओ पर काश डालता हो (१८ : १३३)।" अध्यापकके लिए यह सोचना एक घातक भूल है कि

उसका काम केवल विद्यार्थीको नागरिक-शास्त्र पढा देना है और नागरिकका काम जो कुछ पढाए उसे स्वीकार कर लेना और व्यवहारमें लाना है। केवल एक सार्वजनिक सेवाकी भावना रखने वाला अध्यापक ही प्रभाव-पूर्ण ढगसे नागरिकताकी शिक्षा दे सकता है और उसीको ऐसी शिक्षा देनेका नैतिक अधिकार भी है।

व्यावसायिक गुट भी नागरिकताकी शिक्षामें सफल साधन बन सकते हैं ऐसे गुटोमें सामान्य प्रवृत्ति यह है कि वह बहिष्कार-मूलक भावनाओको जगाते हैं और अपने आपको दूसरोसे अलग और सुरक्षित रखनेकी कोशिश करते है। एक अच्छे नागरिकको यह याद रखना चाहिए कि जहा एक ओर अपनी जीविका का अर्जन प्रत्येक व्यक्तिका पवित्र कर्त्तव्य है वहा दूसरी ओर उसके लिए यह उचित नही है कि वह अपने आर्थिक स्वार्थोके पीछे अपने राजनैतिक कर्त्तव्योको भूल जाय। 'सभी उद्योगो और व्यवसायोका सबसे बडा उद्देश्य है समाजकी सेवा करना (७१ ४१)।'

यदि देश-भक्ति और जन-सेवाकी भावनासे प्रेरित और उदार हो तो जातिके आधार पर बने हुए वर्ग नागरिक सद्गुणोके विकासमें सहायक हो सकते है। भला हो या बुरा जाति प्रथा हमारे बीचमें है इसके भी कोई अधिक लक्षण नही है कि निकट भविष्यमें यह प्रथा टूट जायगी। यद्यपि अस्पृश्यता अवैध घोषित हो चुकी है, जाति-प्रथामें एक नई गणनाका विकास हो चुका है जिससे उसका जीवन और भी बढ गया है और सम्भव है वह एक कल्याणकारी साधन बन सके। जातीय सगठनोका अपने सदस्यो पर इतना अधिक अधिकार रहता है जितना दूसरे सामाजिक सगठनोमेंसे बहुत कम अपने सदस्यो पर रख पाते है। इसलिए यह सोचना तर्क-सगत है यदि जाति-प्रथासे बहिष्कार और अभिमानकी भावना दूरकी जा सके तो नागरिकताके शिक्षणमें वह अब भी एक तर्क-सगत और प्रभावशाली साधन बन सके। विभिन्न जातीय समुदायोके बीच अपनी-अपनी सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी अवस्थाओको सुधारने तथा जाति और राष्ट्रकी सेवा और निष्ठामें परस्पर एक स्वस्थ प्रतियोगिता और अनुकरणकी भावना भी हो सकती है।

समाचार-पत्रो, वक्ताओ, धर्म-सघ और विभिन्न प्रकारके नागरिक सगठनोका भी नागरिक सद्गुणोके विकासमें महत्त्वपूर्ण हाथ है। उन्हें चाहिए कि वह ऐसे आदर्शो पर जोर दें जैसे शान्ति और व्यवस्था, उन्नति, सेवा, स्वाधीनता, न्याय, सहयोग, राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व आदि। जो समाचार-पत्र किसी एक ही दृष्टिकोणका अतिवादी प्रचार करते है या अर्द्ध-सत्य तथ्योका प्रचार करते है, जो वक्ता स्वय अपने या अपने छोटेसे दलके स्वार्थके लिए जनताकी भावनाओके साथ खिल-वाड करते है, वह धार्मिक सगठन जो उन लोगोके प्रति घृणाकी भावना फैलाते है, जो उनसे बाहर है और वह नागरिक सगठन जो स्वार्थके लिए महत्स्वार्थको भूल जाते है और एक असस्कृत दृष्टिकोणका प्रचार करते है—यह सभी नागरिकताके आदर्श और उद्देश्यके प्रति घातक कार्य करनेके अपराधी है।

नागरिकता केवल एक राजनैतिक कर्त्तव्य-मात्र नही है। यह एक सामाजिक और नैतिक कर्त्तव्य भी है। एक अच्छे नागरिकको जीवनके सभी पक्षो और कार्योमें एक अच्छा मनुष्य होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि उसके सभी मानवीय सम्बन्ध उच्चतम कोटिके हों। श्री ई० एम० ह्वाइट (E M White) के शब्दोमें अच्छे नागरिकके

तीन मौलिक गुण है, समझदारी, ज्ञान और निष्ठा। इसी लेखकका कहना है कि एक नागरिकको बड़ा व्यापक दृष्टिकोण रखना चाहिए। उसका ऐतिहासिक आधार होना चाहिए। उसे भूतकालको वर्तमान और भविष्यसे सम्बद्ध करना चाहिए। व्यवस्थाका पालन करते हुए उसे अपनी दृष्टि सर्वदा उत्थानकी ओर रखनी चाहिए। नागरिकताके लिए सभी तैयारियां व्यर्थ है यदि उसे व्यावहारिक रूप नही दिया जाता। एक अच्छे निष्ठावान् नागरिकको एथेन्स (Athens) के युवकोंकी भाति वैसी ही शपथ लेनी चाहिए जैसे वह अपनी सैनिक शिक्षाके दूसरे वर्षमें लेते थे: 'मै अपने शौर्यका अपमान नही कराऊंगा और बगलके अपने साथीको कभी भी धोखा देकर छोड नही आऊंगा। मै सभी पवित्र स्थानो और पवित्र वस्तुओंकी रक्षा करूंगा चाहे अकेला हू या अनेकोंके साथ। मैंने अपने देशको जैसा पाया है उससे महत्तर और सुन्दरतर छोडकर जाऊंगा उससे कम नही। मै अपनेमे बडोंकी आज्ञाओंका समझदारीके साथ पालन करूंगा और जो प्रतिष्ठित कानून है तथा जनता शान्ति-पूर्वक जिन अन्य कानूनोंको पास करेगी उन सबका पालन करूंगा: मै यह नही सहन करूंगा कि कानूनोंकी उपेक्षा की जाय, उनका पालन न किया जाय बल्कि मै अकेले या सबके साथ देशके विधानकी रक्षा करूंगा। मै अपने पूर्वजोंके गौरवका सम्मान करूंगा। देवगण मेरे साक्षी हो (४६ १२६)।'

SELECT READINGS

ARISTOTLE—*Politics.*

BOSANQUET, B —*The Philosophical Theory of the State*—Chs. III VI, VIII & 7 and *Introduction to Second Edition.*

BURNS, C. D —*Political Ideals*—Ch XII

CARLYLE, A G —*Political Liberty*

CARVER, T. N —*Essays in Social Justice.*

DICKINSON, G. L —*Justice and Liberty.*

GETTELL, R G.—*Introduction to Political Science*—Ch IX

GILCHRIST, R N.—*Principles of Political Science*—Chs VI & VII.

GREEN, T H.—*Principle of Political Obligation, Sects I, K, L, N, & O.*

HOCKING, W. E —*Law and Rights*

HEGEL, G W. F.—*Philosophy of Right*

HOBHOUSE, L T —*Elements of Social Justice*—Ch. VIII

JOAD, C. E. M —*Liberty Today.*

LASKI, H. J —*Liberty in the Modern State.*

LASKI, H J.—*A Grammar of Politics*—Chs III, IV. & V.

LEACOCK. S —*The Unsolved Riddle of Social Justice.*

MILL, J. S —*Liberty.*

MILTON, J —*Areopaegetica*

OPPENHEIMER—*The Rationale of Punishment.*

PLATO—*Republic*—Bks I-IV
Property, its Duties and Rights *(a symposium)*
RASHDALL, H —*The Theory of Good and Evil*,—Vol I, Chs VIII & IX
RITCHIE, D G —*Natural Rights*—Chs VII-XII & XIII
ROUSSEAU, J J —*Social Contract*—Book I
RUSSELL, B —*Roads to Freedom*
SETH, J —*Ethical Principles*
SIDGWICK, H —*Elements of Politics*
SPENCER, H —*Justice.*
WILLOUGHBY, W W —*Social Justice*

६

राज्य का उचित कार्य-क्षेत्र

(The Proper Sphere of State Action)

राजनैतिक चिन्तनके प्रारम्भिक दिनोमें राज्यके उचित कार्य-क्षेत्रका प्रश्न इतने मौलिक महत्त्वका नही था जितना आजकल है। यूनानियोकी दृष्टिमें अच्छे जीवनका अर्थ था नगरके भीतर स्वाधीनता, और व्यक्तिका कल्याण राज्यके कल्याणके साथ एकरूप था। कभी-कभी व्यक्ति और राज्यके बीच सघर्षके भी उदाहरण आ जाते थे जैसे सुकरात (Socrates) के मामलेमें। पर प्रचलित धारणा यही थी कि व्यक्तिके जीवन और उत्तम विकाससे जो कुछ भी सम्बन्धित है वह सब राज्यकी सीमाके भीतर आ जाता है।

राज्यके उचित कार्य-क्षेत्रका प्रश्न न तो रोमन युगमें और न उसके बादकी अव्यवस्थित परिस्थितियोमें ही प्रथम कोटिकी महत्ताका था। मध्य युग धर्म-सघ और राज्य के बीच होने वाले लम्बे कटु सघर्षोमें बीता जिसमें अन्तिम विजय नवीन जातीय राज्यो को मिली। इन जातीय राज्योका उदय मध्य युगके अन्तमें हुआ। सामन्तवादकी 'अपनी डफली और अपना राग' वाली व्यवस्थाका समाप्त करके राजाओंने शीघ्र ही अपनी स्थिति दृढ कर ली और अपनी-अपनी प्रजा पर अपना निरकुश शासन स्थापित किया। प्रोटेस्टेंट सुधारकोके दैवी अधिकार (Divine Right) के सिद्धान्तने इस निरकुशताके लिए ढालका काम किया। इसी समयसे लेकर भविष्यमें शासको और शासितोके हितोमें एक तीव्र सघर्ष उत्पन्न हो गया। जनताकी ओरसे एक सग्राम प्रारम्भ हुआ। इस सग्रामके दौरानमें प्राकृतिक विधान (natural law) के सिद्धान्तने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

१७वी शताब्दीमें इस आन्दोलनके लिए जॉन लॉक (John Locke) ने एक दार्शनिकका काम किया। उन्होने कहा कि राज्यके कार्य-क्षेत्रकी सीमाए व्यक्तिके प्राकृतिक और जन्मजात अधिकारो द्वारा निर्धारित होती है। १८वी शताब्दीमें इस सिद्धान्तको सार्वभौम स्वीकृति मिली १९वी सदीके 'राम रचे सो होय' वाले सिद्धान्तका आधार इसे बनाया गया यह सिद्धान्त आधुनिक युग तक किसी न किसी रूपमें चला आ रहा है। स्पेंसर (Spencer) ने अपने 'मनुष्य बनाम राज्य (Man versus the State)' वाक्याशमें जो भावना व्यक्त की थी वह तो आज समाप्त हो चुकी है और अब उसका स्थान 'समुदाय बनाम राज्य (The group versus the State)' की विचारधाराने ले लिया है।

१. व्यक्तिवाद (Individualism)

१८वी शतीके पहले व्यक्ति और राज्यके सम्बन्धमें जो शरारतसे भरी हुई व्यर्थकी दखलन्दाजी होती थी उसके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें ही 'राम भरोसे' नीतिका उदय हुआ। उदाहरणके लिए ऐसे अर्थहीन क़ानून थे जिनमें निश्चित दिनोंके लिए विशेष प्रकारके भोजन निर्धारित थे, मुर्दोंके दफ़नानेके लिए खास ढगके कपडे निर्धारित थे।

व्यावसायिक स्वाधीनता पर भी अनुचित बन्धन लगे हुए थे। १८वी सदीमें व्यावसायिक क्रान्ति होने पर इस प्रकारके सभी राजकीय कार्योंके विरुद्ध प्रतिक्रिया होना अवश्यम्भावी था। नवीन आविष्कार हुए जिन्होने जनताके आर्थिक जीवनमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी। वस्तुओका उत्पादन बहुत बडे पैमाने पर होने लगा था और नए-नए बाजारोकी खोज और विजय शुरू हो गयी थी जहा उन वस्तुओको बेचा जा सके। ऐसी परिस्थितियोमें जो लोग उद्यमी, उत्साही और मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न थे उनके लिए यह माग करना स्वाभाविक था कि जहा तक सम्भव हो उन्हें स्वतत्र होकर कार्य करनेका अधिकार मिले जिससे वह अपनी शक्तियोका उपयोग अधिकसे अधिक लाभके लिए कर सकें।

इस पृष्ठ-भूमिमें देखने पर इसमें कोई आश्चर्य नही जान पडता कि व्यक्तिवाद राज्य को एक बुराई मानता है, पर ऐसी बुराई जो मनुष्यकी स्वार्थपरता और लुटेरेपनके कारण आवश्यक हो गयी है। मनुष्यकी कमजोरीको दी गयी यह एक रियायत है। व्यक्तिवाद की मान्यता यह है कि यदि राज्यकी नियामक शक्ति न हो तो सामाजिक शान्ति और व्यवस्था नही रह सकती। इसलिए राज्यको चाहिए कि वह व्यक्तिकी सुरक्षामें दत्तचित्त रहे, पर व्यक्तिके कल्याणका साधन राज्यके कार्य-क्षेत्रसे बाहर है। राज्यका मुख्य काम है हिंसा और जाल-फरेबको रोकना। व्यक्तिवादका आदर्श सिद्धान्त यह रहता है कि यथासम्भव अधिकसे अधिक व्यक्तिगत स्वाधीनता रहे और कमसे कम राजकीय हस्तक्षेप हो। उसकी धारणा यह है कि राज्य स्वय अपनी रक्षाके लिए यदि व्यक्तिकी स्वाधीनता में दखल देता है तो वह जायज काम करता है। पर जहा केवल व्यक्तिके हितका ही प्रश्न हो वहा राज्यको हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नही है। श्री जे० एस० मिल के शब्दोमें "अपने ऊपर अपने शरीर और मस्तिष्कके ऊपर व्यक्तिका पूर्ण अधिकार है"

सभी व्यक्तिवादी इस बात पर एक मत नही हैं कि राज्यके वैध या उचित कर्त्तव्य क्या है। व्यक्तिवादके अतिवादी समर्थक जैसे श्री स्पेंसर, राज्यके कार्य-क्षेत्रको निम्न-लिखित विभागों तक ही सीमित रखते है

(क) बाहरी शत्रुओके विरुद्ध व्यक्तिकी रक्षा करना,

(ख) घरेलू या आन्तरिक शत्रुओके विरुद्ध व्यक्तिकी रक्षा करना, और

(ग) कानूनकी दृष्टिसे नियमित ढगसे किए गए अनुबन्धो (Contracts) को लागू करना।

नरम दलके व्यक्तिवादी लोग इससे बहुत आगे जानेको तैयार है। उनकी धारणामें राज्यका जो कार्य-क्षेत्र है उसे श्री गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने निम्नलिखित ढगसे व्यक्त किया है

(१) बाहरी आक्रमणोके विरुद्ध राज्य और व्यक्तिकी रक्षा करना।

(२) व्यक्तियोकी एक दूसरेके विरुद्ध रक्षा करना अर्थात् शारीरिक आघात, अपवाद या निन्दा और शारीरिक बन्धनके विरुद्ध रक्षा करना।

(३) चोरी, डकैती या अन्य प्रकारकी हानिसे सम्पत्तिकी रक्षा करना।

(४) अवैध अनुबन्धो (False Contracts) अथवा अनुबन्धोंके भग किए जानेके विरुद्ध व्यक्तियोकी रक्षा करना।

(५) अयोग्य या असमर्थ व्यक्तियोकी रक्षा करना।

(६) प्लेग-मलेरिया जैसी निवारणीय बुराइयो या आपदाओंके विरुद्ध व्यक्तियोकी

रक्षा करना (२८·३६७-६८)।

व्यक्तिवादी अपनी मान्यताओंका तीन दृष्टिकोणोंसे समर्थन करते हैं नैतिक दृष्टिकोणसे, आर्थिक दृष्टिकोणसे और वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे।

१ नैतिक तर्क (The Ethical Argument)

यह तो स्वीकार कर लिया गया है कि चरित्रके विकासके लिए काम करनेकी स्वाधीनता अनिवार्य है। बिना इस स्वाधीनताके मनुष्य एक स्वय-चालित यत्र-मात्र रह जाता है। जीवनमें जो बात आनन्द देने वाली और जीवनको सार्थक बनाने वाली है, वह है अपने जीवनको अपने आदर्शोंके अनुकूल बनानेकी स्वाधीनता। व्यक्तिका उच्चतम विकास तभी सम्भव है जब उसे आत्मनिर्भर बननेका अवसर मिले। जब व्यक्तिको स्वय अपने ही पैरो पर टिकना होता है तब उसे अपने उत्साह-अध्यवसाय और मौलिकताकी शक्तियोका प्रयोग करनेके लिए एक सबल प्रोत्साहन मिलता है। यदि उसमें वास्तवमें कोई अपनी महत्ता है तो उसकी अभिव्यक्तिके लिए अवसर मिल जाता है।

एक हद तक सरकारका हस्तक्षेप उचित है पर उससे आगे बढने पर वह व्यक्तिको दबा देता है। अतिशासन (Over-government) उसकी उद्योगशीलताको समाप्त कर देता है और वह आत्मनिर्भर बननेके बजाय सरकारका मुह ताकना सीख जाता है। इस से भिखमगीकी भावना बढती है क्योकि व्यक्तिको आलसी बननेका अवसर मिलता है और वह अकर्मण्य होकर, जो काम स्वय उसे करना चाहिए उसके दूसरो द्वारा किए जानेकी आशा करने लगता है। उसे अपनी प्रतिभाका विकास करनेके लिए कोई प्रोत्साहन नही मिलता। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज दोनोकी ही हानि होती है। अतिशासन न केवल आत्मनिर्भरताकी शक्तिको नष्ट कर देता है बल्कि वह समाजको मुर्दा हालत पर पहुचा देता है। लोग एक ही ढाचेमें ढल जाते है और एक निश्चित ढगका व्यक्ति बन जानेको ही लोग महत्त्वपूर्ण समझने लगते है। अननुरूपता (Non-conformity) या एक ही साचेमें ढलनेसे इनकार करना बडा भारी अपराध माना जाता है। समाज अचल या प्रगतिहीन बन जाता है और हर तरहकी नवीनताको गहरी शकाकी दृष्टिसे देखा जाता है। इसलिए यह तर्क किया जाता है कि यदि व्यक्तिकी शक्तियोका अधिकतर विकास करना है तो सरकारका कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित होना चाहिए। सरकारको अनुबन्धोको लागू करने, शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने और अपराधोंके लिए दड देनेके अतिरिक्त और अधिक कुछ नही करना चाहिए।

२. आर्थिक तर्क (The Economic Argument)

आर्थिक दृष्टिकोणसे व्यक्तिवादकी धारणा यह है कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थपरायण है और अपने स्वार्थकी बात वह सबसे अधिक जानता है। इसलिए यदि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण रूपसे स्वतत्र छोड दिया जाता है तो वह प्राप्त अवसरोका अच्छेसे अच्छा उपयोग करेगा और प्रत्यक्ष रूपमें अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए अप्रत्यक्ष रूपमें समाजका भी हित-साधन करेगा। इस प्रकार यदि पूजीपतिको स्वतत्र छोड दिया जाय तो वह अपने चारो ओर इस बातकी खोज-बीन करेगा कि वह अपनी पूजी कहा पर लगाए जिससे अधिकतम लाभ हो सके। इसी प्रकार मजदूर भी अपने चारो ओर इस बातकी खोज करेगा कि कहा पर उसे अधिकसे

अधिक सुविवाजनक मजदूरीकी शर्ते मिल सकती है और वह वहीं मजदूरी करेगा। इस प्रकार अनियन्त्रित प्रतियोगिता, माग और पूर्तिके सिद्धान्तका बन्धनहीन व्यवहार समाजके आर्थिक स्वार्थोके लिए हितकर है। वस्तुओंके मूल्य, वेतन या पारिश्रमिक किराए और व्याज आदिको अनियन्त्रित छोड देना चाहिए जिससे तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियोंके अनुकूल वह स्वय अपने आपको वना ले। इसी प्रकार विदेशी व्यापारको भी खुली छूट दे देनी चाहिए। छोटे-छोटे प्रारम्भिक व्यवसायोको ऊचे आयात-निर्यात (High Tariffs) और सरकारी सहायता आदिके द्वारा कृत्रिम सहायता देनेका काम कम करना चाहिए। बाजारको इस प्रकारसे मुक्त और खुला रखने तथा धोखा-धडी और जालसाजी आदिको रोकनेके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्रमें सरकारको बहुत कम काम करना होता है।

व्यक्तिवादको जीव-विज्ञानके जोवन-सग्राम और 'जिसकी लाठी उसकी भैस' 'वाले सिद्धान्तके अनुरूप कहा जाता है। श्री हर्बर्ट स्पेंसर इस तर्कके प्रधान व्याख्याता है। उनका कहना है कि जिस नियमसे निम्न कोटिके जीवोका विकास हुआ है वह नियम है जीवन-सग्राम और योग्यतमकी विजयका सिद्धान्त और यदि हमें सबल, समर्थ और क्रियाशील मनुष्य-जातिको विकसित करना है तो मनुष्य के बीच भी हमें इसी नियमको काम करने देना चाहिए। विकास और प्रगतिका स्वाभाविक मार्ग यह है कि निर्धन, दुर्बल और अयोग्य व्यक्ति विलीन होते जांय। यद्यपि यह मार्ग कुछ लोगाके लिए अन्याय-मूलक मालूम होता है पर समाजका हित इसीमें है। श्री स्पेंसर के ही शब्दोमें, "समूची प्रकृतिमें हम एक दृढ अनुशासनको क्रियाशील पाते है। यह अनुशासन कुछ निर्दय है पर निर्दय इसलिए है कि वह और भी अधिक सदय हो सके। निम्न कोटिकी सृष्टिमें सर्वत्र जो युद्ध चल रहा है और जिससे अनेक योग्य व्यक्ति स्तम्भित या चकित है वह वास्तवमें परिस्थितियोको देखते हुए सबसे अधिक दयापूर्ण व्यवस्था है (७४ ३२२)।" श्री स्पेंसरके अनुसार निष्कर्ष यह है कि व्यक्तियोंको स्वतत्र छोड देनेसे जो समर्थ और योग्य है वह बच रहेंगे और जो असमर्थ, अयोग्य हैं वह समाप्त हो जायेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यको केवल वही काम करने चाहिए जिनका उद्देश्य निषेधात्मक नियन्त्रण (negatively regulative)' हो। ऐसे काम करना जिनका उद्देश्य औरोका निषेध न करके स्वय क्रियाशील होना हो जैसे सफाईके लिए कानून लागू करना, सार्वजनिक शिक्षा, पब्लिक पार्क या सार्वजनिक वाटिकाए, सार्वजनिक पुस्तकालय, गरीबोंके लिए सहायता, पोस्ट ऑफिस आदिकी व्यवस्था करना और राजकीय मुद्रा चालू करना आदिका अर्थ है प्रकृतिकी व्यवस्थामें दखल देना।

३ वैज्ञानिक तर्क (The Scientific Argument)

इन सैद्धान्तिक तर्कोमें व्यक्तिवादके समर्थक कुछ व्यावहारिक अडचनें लगा देते है। यह तर्क किया जाता है कि जब सरकार बहुतसे काम करना चाहती है तब वह उन्हें बुरी तरहसे करती है। इसका अर्थ है दीर्घसूत्रता या नौ दिन चले अढाई कोस वाला ढग और परिपाटी का पालन जिससे अनावश्यक विलम्ब और अपव्यय होता है। बहुतसा आवश्यक काम बिल्कुल छुआ ही नहीं जाता। अनुभव यह सिद्ध करता है कि सरकारी हस्तक्षेपसे अनेक मामलोमें परिणाम बुरा होता है। व्यक्तिगत व्यवस्था और नियन्त्रणकी अपेक्षा सरकारी व्यवस्था और

४ व्यावहारिक कठिनाइया (Practical Difficulties)

नियन्त्रणमें अनेक असफलताएं होती हैं। स्वार्थपरता और भ्रष्टाचारके लिए दरवाजा खुल जाता है। सरकारें कानूनोंको बनाती हैं और फिर उन्हें रद कर देती हैं। श्री स्पेंसर का कहना है कि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इनमेंसे अनेक कानून ऐसे होते हैं जिन्हें कभी पास ही न किया जाना चाहिए था।

इसके अतिरिक्त ऐसे अवसर कम नहीं आते जब क़ानूनोंका पालन जनताके लिए कष्टदायक सिद्ध होता है। वह कष्ट चाहे अधिकारियोंके हस्तक्षेपके विरुद्ध मनुष्यकी स्वाभाविक अरुचिके कारण हो और चाहे कानूनकी बुराईके कारण।

आलोचना

व्यक्तिवादके सिद्धान्तमें एक महत्वपूर्ण सत्य छिपा है। पर उसमें बहुत अत्युक्ति की गयी है। इसमें मनुष्यके सामाजिक जीवनके एक पक्ष पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि दूसरे पक्षको बिल्कुल भुला दिया गया है। क्षुद्र कोटिके कानूनों और विवेकहीन विधानोंके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते-करते यह सिद्धान्त दूसरे छोर पर पहुंच गया है। इसके समर्थनमें दिए गये ऊपरके तर्क एकांगी और कुछ हद तक असत्य हैं।

व्यक्तिवादकी इस मान्यताको तो सर्वदा स्वीकार कर लिया जायगा कि आत्म-निर्भरता सबसे अच्छी सहायता है जो व्यक्तिको मिल सकती है और यह कि सरकारी नीतिका निर्धारण इस ढंगसे होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने पैरों पर खड़े होनेको शक्ति मिल सके। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्यको केवल सुरक्षा पर ध्यान देना चाहिए और अपराधोंकी रोक-थाम करनी चाहिए। आधुनिक युगकी जटिल सभ्यताने व्यक्तिके लिए यदि यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बना दिया है कि वह अपनी सभी शक्तियोंका सामंजस्य-पूर्ण विकास कर सके। आजके जीवनमें अनेक ऐसी परिस्थितियां आती हैं जिन पर व्यक्तिका अकेले अपना कोई नियंत्रण नहीं चल पाता और जरूरी हो जाता है कि राज्य कदम उठाए। राजकीय कार्य क्षेत्रका विस्तार किए बिना विस्तृत जन समाजके लिए अपना पूर्ण विकास कर सकना आज असम्भव जान पड़ता है। शुद्ध व्यक्ति-वाद व्यक्तित्वको जन्म देनेके बजाय व्यक्तित्व-हीनता उत्पन्न करता है। श्री बी० बोसाके के शब्दोंमें "व्यक्तिवादका आंख मूंद कर अनुगमन करनेमें हमेशा इस बातका खतरा है कि वह अन्ध-समूहवाद (uncritical collectivism) में परिणत हो जाय।"

व्यक्तिवादका आधार ही सुदृढ़ नहीं है। इसकी धारणा यह है कि मनुष्य मूल रूपमें स्वार्थी है। इसका आधार सुखवादी सिद्धान्त (Hedonistic Theory) है जिसे बहुत पहलेसे ही असत्य सिद्ध किया जा चुका है। मनुष्यमें न केवल स्वार्थी प्रवृत्तियां हैं बल्कि परार्थ वृत्ति—दूसरोंकी भलाई करनेकी इच्छा भी उसमें है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वार्थ और परमार्थकी भावना विभिन्न परिमाणोंमें जागरूक रहती है इसलिए मानव-प्रकृतिके केवल एक पक्षको ही आधार बना कर राज्यके कार्य-क्षेत्रके सम्बन्धमें कोई सिद्धान्त बनाना उचित नहीं है। व्यक्तिगत कल्याण और सामाजिक कल्याण परस्पर विरोधी नहीं हैं, वह एक दूसरे पर आश्रित हैं। श्री एच० जी० वेल्स का यह कहना गलत नहीं है कि, स्वार्थ किसी भी व्यक्ति या देशको निंदनीय पतनके अतिरिक्त किसी दूसरे परिणाम पर कभी नहीं ले गया है।

व्यक्तिवादकी एक मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित सबसे अधिक भली भांति समझता है। अनुभवसे यह सिद्ध होता है कि यह बात अनेक व्यक्तियोंके सम्बन्धमें

सत्य नही है। व्यक्ति अपने तात्कालिक स्वार्थका समझ सकता है पर इस बातका
भरोसा नही है कि वह अपने भविष्यके हितको भी समझता है। और फिर यदि व्य
अपने हितोका सबसे अच्छा पारखी हो भी तो इसका यह अर्थ नही है कि वह आवश
रूपसे उन हितोकी सिद्धिके साधनोका भी अच्छा पारखी है। जैसा श्री गार्नर (Garn
ने कहा है, प्रत्येक देशमें ऐसे बुद्धि-हीन लोग होते है जो ऐसे सकटोके विरुद्ध सावधानी
बरत सकते जिनका उन्हें ज्ञान नही है। कभी-कभी राज्य व्यक्तिकी मानसिक नैतिक
शारीरिक आवश्यकताओंका स्वय उस व्यक्तिका अपेक्षा अधिक अच्छा पारखी होता
उदाहरणके लिए, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाईके मामलोमें। सार्वजनिक कल्याण
रक्षा तभी हो सकती है जब राज्य द्वारा अस्वास्थ्यकर परिस्थितिया दूरकी जायें,
पदार्थोका सरकारी नियत्रण हो और बेईमान व्यापारियो तथा धोखेबाजोको सरका
ओरसे दड दिया जाय। यह समाजका कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियोकी रक्षा स्वय उन्ह
मूर्खता और नैतिक कुटिलताके विरुद्ध करे। व्यक्तिगत स्वाधीनताके प्रबल सम
श्री जे० एस० मिल भी स्वीकार करते है कि जब कोई व्यक्ति स्वय खतरेमें प
चाहता है या गुलामी स्वीकार करने जा रहा है तब समाजको उसकी रक्षा
उसीके विरुद्ध करनी चाहिए।

व्यक्तिवादी तर्क यह है कि यदि प्रत्येक मनुष्यको अपने हित-साधनकी स्वाधीनता
तो हर कोई सुखी होगा और समाज समृद्ध होगा। यह बात तब सही हो सकती है
प्रत्येक व्यक्तिका हित दूसरेके हितके समानान्तर हो और उनमें परस्पर कोई विरोध
हो। पर अनुभव यह बताता है कि प्राय उनके विरोधी लक्ष्य होते है। इसलिए झगडे
सुलझानेके लिए और यह निश्चित करनेके लिए कि किसी व्यक्तिकी व्यक्तिगत दुर्बल
का लाभ कोई दूसरा न उठाने पाये हमें राज्यकी शक्तिकी आवश्यकता होती है।

व्यक्तिवादका प्रथम सिद्धान्त है, 'अपनी अधिकार-परिधिके भीतर परिपूर्ण व्यक्ति
(६ २४५)।' यह कहनेकी आवश्यकता नही कि ऐसा व्यक्ति या व्यक्तित्व एक कल्प
की सृष्टि-मात्र है। समाज एक सघटना (Organism) है। इसलिए व्यक्तिके
उसके सहयोगियोके हितोसे बिल्कुल भिन्न नही हैं। राज्य एक बुराई नही है बल्कि वह
निश्चित अच्छाई है। राज्य एक कृत्रिम सृष्टि नही है बल्कि वह स्वाभाविक विकास
सरकारी नियमनका यह अर्थ नही है कि आवश्यक रूपसे व्यक्तिगत स्वाधीनताका अ
हरण हो। व्यक्तिकी इच्छाओ और प्रेरणाओका विवेक-पूर्ण नियत्रण सभीके अधिकारो
सुरक्षित और विस्तृत कर देता है जैसे कि उस पुलिसमैनका काम जो यातायातका नियं
करता है। राज्य स्वाधीनताका विरोधी नही है और सभी प्रकारका नियत्रण बुराई
है। 'राज्य जितना नियमन करता है उतना ही वह हमें स्वाधीन और प्रगतिशील
बनाता है (२२ २६१)' समाजकी सामूहिक आवश्यकताओकी पूर्ति सामूहिक काय
द्वारा ही हो सकती है।

व्यक्तिवादी 'माग और पूर्ति' तथा खुली प्रतियोगिताके सिद्धान्त पर पूरा-पूरा विश्व
रखता है। यह एक जानी-बूझी बात है कि माग और पूर्तिका सिद्धान्त उतना वैज्ञानि
सिद्धान्त नही है जितना बताया जाता है। प्राय उसमें गडबडी पैदा होती रहती है। ज
तक खुली प्रतियोगिताका सम्बन्ध है व्यवहारमें वह बहुत कम दिखाई देती है। उस
परिणाम एकाधिकार (Monopoly) ट्रस्ट और व्यावसायिक एकीकरण (Trac

combination) आदि होता है जो खुली प्रतियोगिताके विरोधी रूप है। औद्योगिक मामलोमें तटस्थताकी नीतिका महत्त्व आज उसका आधा भी नही है जितना औद्योगिक क्रान्तिके समय था। परिस्थितिया बिल्कुल बदल गयी है। सब जगह नए-नए शहर बस गये है। शहरोमें काम करनेके लिए देहातोसे मजदूर फैक्टरियोमें खिचे चले आते है। पुराने घरेलू उद्योग-धधोका स्थान बृहत् परिमाणके उत्पादनने ले लिया है। यातायातके साधनोका तेजीसे विकास हो रहा है। आज व्यक्ति अपने सहयोगियों पर जितना अधिक निर्भर है उतना पहले कभी नहीं था। इन परिवर्तित परिस्थितियोमें यह तर्क करना मूर्खता है कि तटस्थता की नीति सबसे अच्छी नीति है। हमें जरूरत है, 'मकानोंके सम्बन्धमें ऐसे क़ानूनोकी जो बीमारियो और घनी आबादियोको दूर कर सकें, ऐसे श्रमिक विधानोकी जो बच्चोंसे काम लेने और अत्यधिक श्रम लेनेकी रोक-थाम कर सकें, फ़ैक्टरियोंके सम्बन्धमें ऐसे क़ानूनोकी जो अरक्षित मशीनो और जीवनके लिए अनुचित खतरोंका नियंत्रण कर सकें (२८:४०६)।' और ऐसे क़ानून है भी।

श्री स्पेंसर ने जिस वैज्ञानिक तर्कको रखा है उस पर तो अनेक आपत्तिया की जा सकती है।

'योग्यतम' शब्द एक आपेक्षिक शब्द है। जो आज योग्य या उपयुक्त है, सम्भव है वही कल अयोग्य या अनुपयुक्त हो जाय। और जो एक स्थितिमें उपयुक्त है आवश्यक नही कि वह दूसरी स्थितिमें भी उपयुक्त हो। योग्यतमकी विजयका यह अर्थ नही कि वह आवश्यक रूपसे श्रेष्ठतमकी विजय हो। योग्यतमके बच रहनेका यही अर्थ जान पड़ता है कि जो बच रहते है वे बच रहनेके योग्य है। स्पष्टत यह एक अर्थहीन तर्क है। क्योकि, 'यदि बच रहनेकी योग्यताकी एक अकेली कसौटी यही हो कि जो बच रहे वही योग्यतम है तब तो सेंध काटकर मौजें उडानेवाला चोर हमारी प्रशंसाका पात्र हो जाएगा और भूखो मरनेवाला शिल्पी हमारी निन्दाका पात्र हो जाता है (५१.३४६)।' श्री हैलोवेल (Hallowell) लिखते है 'श्री स्पेंसरने एक घातक भूल की है और बहुतसे लोग वही भूल अब तक करते चले जा रहे है, वह भूल है, जो मान्यतायें किसी एक विज्ञानके लिए उपयुक्त है उन्हें किसी दूसरे बिल्कुल भिन्न लक्षण और तत्त्वोंवाले शास्त्र पर लागू करना।'

और फिर निम्न-कोटिके जीवोके लिए जो बात सच हो सकती है, ज़रूरी नही कि वह सृष्टिके श्रेष्ठतम प्राणी—मनुष्यके ऊपर भी लागू हो। क्योकि विकासकी सीढी पर चढते-चढते जब हम मनुष्य तक पहुचते हैं तब एक आश्चर्यजनक नवीन अवस्था पर पहुंच जाते है, निम्न-कोटिके प्राणी निष्क्रिय रूपसे अपने आपको प्रकृतिका अनुयायी बन जाने देते है। इसके विपरीत मनुष्य अपनी उच्चतर बुद्धिके बलसे प्रकृतिको ही सक्रिय रूपसे अपनी आवश्यकताओंके अनुकूल ढालनेमें समर्थ होता है। इसलिए यह निष्कर्ष तर्क-सगत जान पडता है कि प्रकृतिको मनचाहे ढगसे कुछ थोडेसे लोगोको जीवित रखनेका अवसर देनेके बजाय मनुष्य अपने उच्चतर बुद्धि-बलका प्रयोग करके यथासम्भव अधिकसे अधिक लोगो को बचने और जीवित रहनेका अवसर दे। मनुष्य निम्नकोटिके प्राणियोंसे न केवल अपने बुद्धि-बलके क्षेत्रमें भिन्न है बल्कि अपने विवेक या अन्तरात्मा और अपनी विकसित सहानुभूतियोंके क्षेत्रमें भी उनसे पृथक् है। उनकी यह वविशता उसे इस ओर प्रेरित करती है कि वह जीवनमें असफल लोगोंके प्रति निर्दयता और शारीरिक दृष्टिसे दुर्बल लोगोंके हृदयहीन विनाशका विरोध और उसकी निन्दा करे।

व्यावहारिक कठिनाइयोका उत्तर देत हुए यह कहा जा सकता है कि राज्यके समूचे कार्य-कलापोकी निन्दा और उनका विरोध केवल इसलिए जरूरी नही हो जाता कि सरकारें भी गलतिया करती हैं। व्यक्तिवादी बडे सतोपके साथ उन अनेक भूलोकी ओर सकेत करते है जो सरकारें और सरकारके अधिकारी लोग किया करते हैं। वह इस बातको भूल जाते है कि व्यक्तिगत सस्थायें (Agencies) भी भूलें किया करती हैं पर उनकी भूलें इतनी असाधारण नही होती और जनताको भली-भाति ज्ञात नही होती। इसके विपरीत सरकारकी भूलें प्राय हरएकको भली-भाति ज्ञात रहती है। दूसरी ओर यदि सरकार भूले करती है तो बहुतसे अच्छे काम भी करती है जिनके लिए उसकी समुचित प्रशसा नही की जाती। सच्चाई यह है कि जनता यह चाहती है और आशा करती है कि व्यक्तियोकी अपेक्षा सरकार बहुत अधिक कुशलतापूर्वक काम करे। इसलिए, असफलताके लिए सरकारको दिया जानेवाला दोष अनुपातके हिसाबसे अधिक होता है। जैसा कि गिलक्राइस्ट ने कहा है प्रजातन्त्रका उन्नतिके कारण व्यक्तिवादकी आवश्यकता आज उतनी नही रह गई जितनी पहले जमानेमें थी। जहा प्रजातन्त्रका बोलबाला है और जहा स्थानीय शासन सबल और समर्थ है वहा समाजवाद और व्यक्तिवादके बीचका अन्तर अधिकाधिक क्षीण होता जाता है। केन्द्रीभूत नियत्रण (Centralised regulation) के विरुद्ध व्यक्तिवादियोको जो आपत्तिया है स्थानीय नियत्रणके सम्बन्धमें वह आपत्तिया बहुत अधिक लागू नही होती। दूसरे शब्दोमें राष्ट्रीयकरणके विरुद्ध जो आपत्तिया की जा सकती है स्थानीय सस्थाओके नियत्रणके सम्बन्धमें वह आपत्तिया नही लागू होती।

कुछ व्यक्तिवादी व्यक्तित्वको व्यक्तियोकी सनक और चरित्रकी विचित्रता समझने की भूल करते है। यह बात श्री मिलके सम्बन्धमें विशेष रूपसे सच है जो व्यक्तिको एक स्वार्थपरायण सत्ता मानते है न कि समूचे समाजका एक अभिन्न अग। यदि व्याधियोके इलाजकी अपेक्षा उनकी रोक-थाम ही बुद्धिमानी है तो राज्यको चाहिए कि समाजको जो भी हानि होती है उसकी रोक-थाम भी करे और उसको क्षति पूर्ति भी। सरकारकी कार्य-विधिमें पूर्ण तटस्थता असम्भव है। उसका तर्क-सगत निष्कर्ष होगा अराजकतावाद। श्री लीकॉक के शब्दोमें ऐसी तटस्थता व्यक्तिको सामाजिक अधिकारोंसे पृथक् कर देती है। सहयोग और नियत्रित उद्योगसे होनेवाले लाभोकी ओरसे ऐसी तटस्थता आँखें मूद लेती है।

श्री लास्की ने व्यक्तिवादी सिद्धातके विरुद्ध जो अनेक तर्क दिये है उनमेंसे प्रधान तर्क यह है कि व्यक्तिवाद नैतिक दृष्टिसे अपूर्ण और अनुपयुक्त है। उनका कहना है कि व्यक्ति-वादका अर्थ है 'क्षीण स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय वासस्थान और ऐसा काम जिसमें अधिकाश व्यक्तियोको कोई भी रुचि न हो।' दुर्बलताका अनुचित लाभ उठाया जाता है। मजदूरका लाभ उठानेकी शक्ति पूजीपतिकी शक्तिके बराबर न होनेके कारण मजदूर आर्थिक दौडमें प्राय हार जाता है। बाजारकी झिकझिक असमानताका दैवी कारण है।

माग और पूर्तिका सिद्धात किसी प्रकार भी मिलनेवाले या मिले हुए प्रतिफलका सामाजिक महत्त्व नही सूचित करता। विज्ञापनकी कलामे ही अपार सम्पत्ति पैदा की जाती है, मैले-कुचैले, गदे मकानोके द्वारा धन बटोरा जाता है। बाजारमें चलनेवाली झिक-झिक एक सामाजिक महत्त्वकी व्यवस्था होनेके बजाय समूचे सामाजिक मान-महत्त्वोको नष्ट कर देनेवाली है।

व्यक्तिवादके पक्ष और विपक्षके तर्कोंका निचोड देते हुए श्री गिलक्राइस्ट ने नीचे लिखी हुई बातोकी ओर सकेत किया है:

(१) व्यक्तिवाद आत्मनिर्भरता पर जोर देता है।

(२) वह अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेपका विरोध करता है।

(३) समाजमें व्यक्तिके महत्त्व पर वह जोर देता है।

(४) इसने क्षुद्र कोटिके हस्तक्षेप करने वाले व्यर्थके कानूनोको रद करनेमें सहायता की है।

"पर व्यक्तिवाद राजकीय नियत्रणके दोषोकी अत्युक्ति करने लगता है। तब वह यह भूल जाता है कि राज्य द्वारा किए गए कार्योमें अच्छे कामोके उदाहरण बुरे कार्योकी अपेक्षा कही अधिक है। इसने व्यक्तित्वकी एक मौलिक भ्रमात्मक धारणा प्रचारित की है और अन्तिम रूपमें आधुनिक जीवनकी जटिलतामे व्यक्तिवाद बिल्कुल ही अनुपयुक्त सिद्ध हुआ है (२८.४०८)।" श्री सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) ने समूची समस्याका निष्कर्ष इन शब्दोमें दिया है "व्यक्तिवाद सामाजिक उद्देश्योसे किए गए कार्योके सामाजिक परिणामकी ओर से आखें मूद लेता है ··व्यक्तिवाद अज्ञात रूपसे परमाणुओंके रूपकका शिकार बन गया है। (फिर भी) व्यक्तिवाद एक आदर्शके रूपमें एक उज्ज्वल मनुष्य वाला सिद्धान्त है, भूत कालमें की गई इस सिद्धान्तकी भूलें और इसकी त्रुटिया बिल्कुल स्पष्ट है पर उनके बावजूद भी यह सिद्धान्त जीवित रहा है ·व्यक्तिवादके साथ पूरा-पूरा न्याय करनेके लिए ··हमें उसकी आत्माको उस स्वरूपसे प्रकट करना होगा जिसमें वह पहले-पहल व्यक्त हुआ था। और भविष्यके स्वप्नमें हमें एक सभ्य राज्यकी कल्पना ऐसे नागरिको के सघके रूपमें करनी होगी जो व्यक्ति-रूपमें हममेंसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकी अपेक्षा इतने अधिक विकसित और उन्नत होगे जितना कि अपने पूर्वज आदिम बर्बर मनुष्योकी अपेक्षा वह स्वय विकसित और समुन्नत है (९.२४९-५३७)।"

२. समाजवाद (Socialism)

समाजवादी राज्यको एक धनात्मक अच्छाई मानता है इसलिए यथासम्भव न्यूनतम राजकीय कार्यकी अपेक्षा वह यथासम्भव अधिकतम राजकीय हस्तक्षेपकी माग करता है। उसका विश्वास है कि यही एक ऐसा रास्ता है जिससे मानव-जातिके अधिकारोंके लिए सामाजिक न्याय सम्भव हो सकता है। उसका लक्ष्य है एक ऐसा सहकारी राष्ट्र-सघ (Co-operative Commonwealth) जिसका उत्पादनके सभी साधनो पर नियत्रण हो और जो सयुक्त नियत्रणकी किसी पद्धति द्वारा वितरणका नियमन करता हो। समाजवादमें उत्पादनके साधनो पर और नियम पर, सार्वजनिक प्रभुत्व होगा, वेतन आवश्यकताके अनुसार दिये जायेंगे। कुछ समाजवादी समान वितरण (equal distribution) और कुछ न्याय-युक्त वितरणका समर्थन करते है।

समाजवादके मुख्य गुण यह है: समाजवाद हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की स्पष्ट बुराइयोंके विरुद्ध हमारी रक्षा करता है और एक व्यापक क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर देता है। आज पूंजी और शक्ति कुछ थोड़ेसे लोगोंके हाथोमें केन्द्रित है। मजदूरको उसका उचित अश नही मिलता। चूंकि मजदूरको आर्थिक शक्ति

उतनी नही है जितनी उसके मालिककी होती है इसलिए मजदूरको विवश होकर समझौता करना होता है। वर्तमान व्यवस्था सम्पत्ति और सुविधा या अवसरके क्षेत्रमें घातक असमानताओकी सृष्टि करती है। यह व्यवस्था अपरिमित वर्बादी और दोहरे-तेहरे श्रमके लिए भी उत्तरदायी है। व्यापक राष्ट्रीय परिमाण पर कोई आर्थिक योजना नही है। अनियन्त्रित प्रतियोगिताके फलस्वरूप मजदूरोकी तनख्वाहें कम होती है, आवश्यकतासे अधिक उत्पादन होता है। वस्तुए सस्ती होती है और वेकारी वढ़ती है। वर्तमान व्यवस्था और आगे चलकर भौतिकवाद, अन्याय, वेईमानी और व्यक्तिगत चरित्रके साधारण स्तरको नीचे गिरानेकी प्रेरणा देती है (२२ ३०२)।"

समाजवादकी अवस्थामें सावधानी पूर्वक वनायी गयी योजनाओंसे दोहरा श्रम, आवश्यकतासे अधिक उत्पादन, अनावश्यक विज्ञापन और हानिकारक वस्तुओका उत्पादन रुक जायगा। समाजवादी आदर्शमें परमार्थ, सामाजिक उपयोगिताकी भावना और श्रमके लिए कार्यमें अभिरुचि पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है और इसकी वहुत अधिक आवश्यकता थी। यह दावा किया जाता है कि सामूहिक स्वामित्व (Collective Ownership) और सामूहिक व्यवस्था (Collective Management) पूर्ण रूपसे प्रजातन्त्रीय पद्धति है। समाजवादके समर्थकोका कहना है कि प्रजातन्त्रका ही दूसरा कदम समाजवाद है। जहा कही समाजवादी नीतिया और योजनाए व्यावहारिक रूपसे अपनायी गयी है वहा वह सफल हुई है।

इस बातका तो विरोध नही किया जा सकता कि समाजवादने हमारी वर्तमान औद्योगिक व्यवस्थामें जो त्रुटिया दिखायी है वह सही है। समाजवादियोकी इस वातको भी हमें स्वीकार करना होगा कि उन बुराइयोका हल इसी बातमें है कि वर्तमान राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाके स्थान पर हम एक नई व्यवस्था स्थापित करें। पर इस सवका यह अर्थ नही है कि उन्होने अपना पक्ष सिद्ध कर दिया है। समाजवादको एक सक्रिय, व्यावहारिक सत्य रूप देनेमें जो कठिनाइया है उनकी ओरसे हम आख नही मूद सकते।

समाजवादी व्यवस्थामें सम्भवत शासनकी कठिनाइया वहुत अधिक होगी। इसमें कोई सन्देह नही कि डाक, तार और टेलीफोनकी व्यवस्थाका प्रवन्ध अनेक देशोमें यथेष्ट सफलताके साथ किया गया है पर प्रतियोगिताके अभावमें हम यह नही कह सकते कि उनका प्रवन्ध अधिकतम मितव्ययिताके साथ हो रहा है। कुछ वर्ष पहले इगलैंडके पोस्टमास्टर जेनरलने यह कहा था कि उस देशकी डाक-व्यवस्थाका प्रवन्ध व्यक्तिगत सचालनमें और अधिक कुशलताके साथ हो सकता था। यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि आज यह कुछ थोडे राष्ट्रीय उद्योग वहुत ही मितव्ययिता और कुशलता-पूर्वक सचालित होते है तो भी इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि सभी उद्योगोके व्यापक राष्ट्रीयकरणका परिणाम भी इतना ही सुन्दर और प्रशसनीय होगा। समाजवादके आलोचकोका कहना है कि राज्य के कार्य-व्यापारको वढाते रहनेका अर्थ यह होगा कि सरकार शासन-यन्त्र स्वय अपने ही वोझसे दवकर टूट जायगा। यह धारणा ठीक है कि समाजवादीको सरकारी व्यवस्था पर उचितसे अधिक निष्ठा और विश्वास है।

मनुष्यके नैतिक विकासकी वर्तमान अवस्थामें समाजवादका परिणाम होगा भ्रष्टाचार, चालवाजी, गुटवन्दी और व्यक्तिगत वैमनस्यके कारणो और अवसरोमें अत्यधिक वृद्धि।

यह कहा जाता है कि समाजवाद विकासके अनुकूल नही पडता। सम्भवत श्रम करने

के लिए प्रोत्साहनकी प्रेरणा समाप्त हो जायगी। आज सामान्य मनुष्यके कार्य-व्यापार, व्यक्तिगत लाभकी भावनासे ही अधिकाश रूपमें प्रेरित होते है न कि सामाजिक उपयोगिता की परमार्थभावनासे। समाजवादमें जीवन एकरूप और अरुचिकर हो जायगा। सरकारी नियत्रणमें नई-नई आवश्यकताओंकी प्रेरणा नही रह जायगी।

आज भी मजदूर उतना शक्तिहीन और असहाय नही है जितना वह चित्रित किया जाता है। मजदूर-सघ और सगठनके अन्य साधनोंके द्वारा वह अपने लिए हितकर सौदा तय करनेमें प्राय सफल हो जाता है।

यह भी सम्भावना है कि समाजवादसे व्यक्तिगत स्वाधीनता पर रोक लग जायगी और व्यक्तिका चरित्र नीचे गिरेगा। श्री हर्बर्ट स्पेंसर का विश्वास है कि समाजका प्रत्येक सदस्य व्यक्तिरूपमें समूचे समाज का दास हो जायगा। प्रतिभा कुठित हो जाएगी और नागरिक आलसी और अकर्मण्य हो जायगे। व्यक्तिगत अन्त प्रेरणा समाप्त हो जायगी। उत्तरदायित्वकी भावनाका नौकरशाहीके द्वारा लोप हो जायगा और सरकारी विभागोका शासन सर्वोपरि हो जायगा।

उत्पादनमें सम्भवत गुण और मात्रा (quality & quantity) दोनो ही दृष्टियो से कमी हो जाएगी।

व्यक्तिवाद और समाजवादके सत्यांशका मूल्यांकन (Evaluation of the Truth in Individualism and Socialism) व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनोमें ही एक महत्त्वपूर्ण सत्य छिपा है। दोनो ही उस सत्यको बहुत बढा चढा कर कहते है, दोनो ही सैद्धान्तिक और विचारमूलक है। जैसे शुद्ध व्यक्तिवाद असम्भव है वैसे ही शुद्ध समाजवाद भी असम्भव है। आवश्यकता एक ऐसी व्यवस्था की है जो किसी प्रकार हमारे व्यक्तियोको भी सुरक्षित रखे और साथ ही समाजके सगठित स्वरूपको भी बनाए रखे। श्री बर्न्स का यह कहना बिल्कुल ठीक है, "यदि हम किसी ऐसे आदर्शकी कल्पना कर सकें जो एक साथ ही व्यक्तिवादी और समाजवादी हो तो प्राय सभी विचार-शील मनुष्योंके लिए वह एक प्रभावपूर्ण आदर्श होगा (१० २७५)।' उसी लेखककी भाषामें "यदि एक ओर हम पृथकता और स्वार्थपरताकी ओर प्रवृत्त होते हैं तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्वको व्यापक समाजके जटिल प्रवाहमें खो देनेकी ओर भी प्रवृत्त होते है ।' व्यक्तिवादी यदि व्यक्तियोकी विभिन्नता चाहता है तो वह भी उचित है और इसी प्रकार समाजवादी भी सबके ऊपर सार्वजनिक हितका महत्त्व स्थापित करनेमें भी ठीक ही है क्योकि प्रत्येक व्यक्तिका परिपूर्ण विकास समूचे समाजके जीवनमें अपने कर्त्तव्यो का पालन करनेमें है (१० २७५)।"

समाजवादकी प्रत्यक्ष त्रुटियोंके होते हुए भी शायद बुद्धिमानी यही होगी कि समाजवादी आदर्शकी सिद्धिके लिए राजकीय कार्य-व्यापारका धीरे-धीरे विस्तार करनेकी एक विवेकशील नीति अपनायी जाय[1] जिसका उद्देश्य साथ ही साथ मानव-जातिका नैतिक

---

[1] श्री हॉब्स का कहना है: राज्यने एक डाक्टर, एक नर्स, स्कूल-मास्टर, व्यापारी, उत्पादक (manufacturer), insurance agent, मकान बनाने वाले, नगर की योजना बनाने वाले (Town planner), रेलवे-कन्ट्रोलर तथा सैकडो अन्य लोगोंके कर्त्तव्योंके उत्तरदायित्वको स्वीकार कर लिया है।

उत्थान भी हो। उत्पादनकी निचली स्थितिमें प्रतियोगिताकी भी अनुमति दी जा सकती है पर वृहद् परिमाणके उत्पादनोंमें, जिनका प्रभाव तमाम जनताके जीवन पर पडता हो, राजकीय स्वामित्व और नियन्त्रण ही युगकी व्यवस्था हो सकती है।

३ आदर्शवाद (Idealism)

आदर्शवादके अतिवादी स्वरूपोको छोडकर, जैसा कि हमें श्री हीगेल में मिलता है, हम अग्रेज आदर्शवादियो तक ही अपनेको सीमित रखेंगे, और यहा हम देखते हैं कि राज्य के कार्य-व्यापारका एक ऐसा सिद्धान्त है जिस पर गम्भीर विचार करनेकी आवश्यकता है। आदर्शवादी राज्यकी एक बहुत ऊची कल्पना करते है। वह लोग उसे प्रत्येक व्यक्ति में जो कुछ सर्वोत्तम है उसका मूर्तरूप मानते हैं। उनकी दृष्टिमें राज्य एक नैतिक सस्था है और उसकी आज्ञाका पालन करके हम स्वय अपनी ही आज्ञाओका पालन करते हैं। यह देखते हुए कि आदर्शवादी राज्यको इतना गौरवपूर्ण स्थान देते हैं यह आशा की जा सकती है कि वह उसके लिए एक व्यापक कार्य-क्षेत्र भी निर्धारित करेंगे, पर वास्तवमें उन्होने उसके कार्य-क्षेत्रको सकीर्ण बना दिया है। इस प्रत्यक्ष विरोधका कारण भी बहुत दूर नही खोजना होगा। आदर्शवादियोकी दृष्टिसे व्यक्ति और राज्य दोनोका उद्देश्य एक ही है—आदर्श सुन्दरतम जीवन या मानव-आत्माके महत्त्वका विकास (बोसाके)। पर यह उद्देश्य इतना व्यक्तिपरक और आन्तरिक स्वरूपका है कि इसकी सिद्धि अधिकाश में व्यक्तिके अपने प्रयत्न पर ही निर्भर है। नैतिक सद्गुण या नैतिक कल्याण मौलिक रूप से स्वय अर्जित किए जानेकी वस्तु है। व्यक्तिको नैतिक जीवनके अर्जनके लिए उसीके भरोसे छोडनेका एक दूसरा कारण यह है कि राज्यके पास जो कुछ भी साधन हैं—शक्ति और दबाव—वह इतने बाहरी हैं कि नैतिक पूर्णता जैसी आन्तरिक श्रेष्ठताकी सिद्धि में वह सफल नही हो सकते। श्री बोसाके के शब्दोमें "जब सामूहिक इच्छा (राज्यकी इच्छा) हमें एक ऐसे सामाजिक सुझावके रूपमें नही मिलती जिसे हम स्वीकार करनेके लिए अपने आप तैयार हो जाए बल्कि एक शक्ति या दबावके रूपमें मिलती है, तब मूलत तो वह ऐसी होती है जो स्वय ही हमारी इच्छा होनेका दावा कर सकती है पर जिसे उस समय पहचाननेमें हम सफल नही हो पाते। परिणाम यह होता है कि या तो हम मशीनकी तरह उसकी आज्ञा मानते हैं और या फिर विद्रोहके लिए तैयार हो जाते है।

इसलिए राज्यका कार्य-क्षेत्र निषेधमूलक या नकारात्मक है। राज्यका कर्त्तव्य है कि व्यक्तिके मार्गमें आने वाली बाधाओको हटाकर वह उसके लिए श्रेष्ठतम जीवनका अर्जन सम्भव बना दे और उसके लिए अवसर दे। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यका कर्त्तव्य है व्यक्तिके श्रेष्ठतम जीवनके मार्गमें आने वाली 'बाधाओको बाधित करना या व्यवस्थाओ का व्यवस्थापन करना।' इससे अधिकके लिए प्रयत्न करनेका अर्थ होगा व्यक्तिके नैतिक उद्देश्यको असफल करना। मानव-आत्माकी महत्ता, जैसा कि ऊपर कहा गया है व्यक्ति द्वारा स्वय अर्जित किए जानेकी वस्तु है। उसे बाहरसे नही दिया जा सकता, और यदि यह सम्भव भी हो तो भी किसीको अधिकार नही है कि वह दूसरेको यह आत्मिक महत्ता दे। पुरस्कारके लालच या दडके भयसे सभ्य जीवनका विकास एक व्यर्थकी बात है। जैसा कि श्री बोसाके ने कहा है, "सच्ची योग्यता और सामाजिक सेवाके अनुपातमें भौतिक

सफलता निर्धारित करनेका प्रयत्न करना स्पष्टत एक विरोधी वात होगी।" धर्म और नैतिकता इतने अधिक व्यक्ति-परक और आत्मा सम्बन्धी है कि जव राज्य उनको लागू करना चाहता है या उनका विकास ही करना चाहता है तो, जव तक साधन वहुत ही अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म नही होते, उनका सारा महत्त्व समाप्त हो जाता है। कानूनकी सीमा के भीतर आने वाले व्यवहारके मामलेमें राज्यका कार्य-क्षेत्र निषेधात्मक होनेके कारण वाहरी कामो (external acts) तक ही सीमित रह जाता है। अभिप्राय (Intention) का भी विचार किया जा सकता है और प्राय किया भी जाता है पर उसी हद तक जहा तक वाहरी कामो पर उसका प्रभाव पडे। राज्य केवल उतना ही अभिप्राय लागू कर सकता है जितना वाहरी कार्य-कलापोंके सम्बन्धमें निश्चित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए जरूरी हो।

उद्देश्यो (motives) का विचार राज्यके क्षेत्रसे वाहरकी वात है। उनका सम्वन्ध व्यक्तिकी आत्मामे है और ऐसा कोई साधन नही है जिसके द्वारा राज्य उद्देश्यो (motives) की परख कर सके। नैतिक दृष्टिकोणसे अभिप्रायो (Intentions) और उद्देश्यो (motives) के वीच कोई निश्चित विभेद या अन्तर नही है पर वैधानिक या कानूनी दृष्टिकोण से आदर्शवादी इनमें अन्तर मानते है, उदाहरणके लिए राज्य मा-वाप को विवश कर सकता है कि वह अपने वच्चोको स्कूल भेजें। पर इसके आगे जा कर राज्य कोई निश्चित उद्देश्य नही लागू कर सकता। मा-वाप अपने वच्चोको चाहे शिक्षाके किसी उच्च उद्देश्यसे स्कूल भेजें अथवा किसी निम्न उद्देश्यसे, पर जव तक स्कूल भेजनेका ऊपरी काम पूरा होता है तव तक कानून सन्तुष्ट रहेगा। पर अभिप्राय महत्त्व-पूर्ण होते है। क्योकि अभिप्राय ही वह तत्त्व है जो किसी कार्यको स्वेच्छाजन्य (voluntary) वनाता है। उदाहरणके लिए किसी भी व्यक्तिको साधारणतया ऐसे कार्यके लिए सजा नही दी जायगी जिसको उसने साभिप्राय नही किया या जो दुर्घटना-वश हो गया है। यदि उसे सजा दी भी जायगी तो वह दड वहुत कठोर न होगा। कानूनको अभिप्रायोकी वाहरी नाप-जोख भी करनी होती है और इस प्रकार कानून कार्यो पर और अभिप्रायों पर ऊपरी दृष्टिसे विचार करता है।

श्री टी० एच० ग्रीन के शव्दोमें, "केवल कार्य ही उत्तरदायित्वके विपय वन सकते है। विधानका आदर्श इसी वातसे निश्चित किया जाना चाहिए कि कैसा नैतिक उद्देश्य उसके द्वारा सिद्ध होता है। कानून केवल कुछ कामोके ही करने या न करनेका आदेश दे सकता है, उद्देश्योंके सम्वन्धमें वह ऐसा कोई आदेश नही दे सकता और कानूनको केवल ऐसे ही कार्योके करने या न करनेका आदेश देना चाहिए जिनका किया जाना या न किया जाना—उद्देश्य चाहे जो कुछ हो—समाजके नैतिक लक्ष्यके लिए आवश्यक हो (१८ p ८)"।

इस सिद्धान्तके आधार पर श्री ग्रीन उन तमाम कानूनोकी आलोचना करते है जिनसे धर्म, आत्मसम्मान अथवा पारिवारिक भावनाओंको दुर्वल किया गया है। 'उत्तम जीवनके मार्गमें आने वाली वाधाओंको वाधित करना या हटाना' वाला सिद्धान्त १६ वी शताब्दी की उत्तरकालीन परिस्थितियो पर लागू करते हुए श्री ग्रीन ने अनिवार्य शिक्षा, शरावके व्यापारका नियंत्रण भूमिके स्वामित्वका नियत्रण और ऐसे अनुवन्धोमें हस्तक्षेप करनेका जोरदार समर्थन किया है जिनमें अनुवन्ध (Contract) करने वाले दोनो पक्षोकी मुनाफा उठानेकी शक्ति में अन्तर हो। निरक्षरता और शरावका अनियन्त्रित व्यापार

उत्तम जीवनके मार्गमें बाधक है। इसलिए राज्यको चाहिए कि अनिवार्य शिक्षा और शराबके नियन्त्रणका प्रबन्ध करके इन बाधाओको दूर करे। अधिकाश माता-पिता अपने बच्चोको शिक्षा देनका महत्त्व समझते है, इसलिए अनिवार्य शिक्षा लागू होनेसे उनकी अपनी आत्मिक प्रेरणाका अन्त नही होगा। अनिवार्य शिक्षा केवल उन लोगोको छोड कर जिनमें शिक्षाके लिए कोई आत्मिक प्रेरणा नही है और किसीके लिए अनिवार्य या विवशताकी बात नही होगी (२६ p ६)।" बहुत कुछ यही तर्क शराबके व्यापार पर भी लागू होते है। यदि शराबकी अनियत्रित बिक्रीसे बहुमख्यक जनताको उत्तम जीवनकी प्राप्तिके मार्गमें बाधा पहुचती है तो राज्यका कर्त्तव्य है कि वह शराबके व्यापारका नियत्रण करे। अनुबन्धोकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप करनेके विषयमे श्री ग्रीन का यह तर्क ठीक है कि 'हमें न केवल उन लोगोंका विचार करना चाहिए जिनकी स्वाधीनतामें हस्तक्षेप किया जाता है, बल्कि उन लोगोका भी विचार करना होगा, जिनकी स्वाधीनता हस्तक्षेप के द्वारा बढ जाती है (२६ p २०)" भूमिके स्वामित्वके सम्बन्धमे श्री ग्रीन का आदर्श है छोटे-छोटे भू-स्वामियों का एक ऐसा वर्ग जो अपनी धरतीको स्वय ही जोतता हो।

जो लोग राजकीय कार्य-क्षेत्र के आदर्शवादी दृष्टिकोणको नही स्वीकार करते उनमें भी बहुतसे ऐसे है जो इस बातको स्वीकार करनेको तैयार है कि धर्म और नैतिकता जैसे जीवनके उच्च तत्त्वोको राज्य द्वारा लागू नही किया जा सकता। पर उन लोगोकी दृष्टिमें ऐसा कोई कारण नही आता जिससे राज्य सार्वजनिक कल्याणके विकासके लिए आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धोका नियत्रण न कर सके। बोसाके इस तर्कका उत्तर यह देंगे कि आर्थिक और सामाजिक जीवन नैतिक और धार्मिक जीवनसे बिल्कुल भिन्न नही है। व्यक्तिके आर्थिक और सामाजिक हितोका नैतिक और आध्यात्मिक हितोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणके लिए प्राय अच्छे परिवारका अर्थ होता है, सुन्दर व्यवहार, उच्च आदर्श और उच्च कोटिका धार्मिक जीवन। इसलिए, राज्यका कार्य-व्यापार चाहे वह जीवनके उच्च कोटिके कल्याणसे सम्बन्धित हो और चाहे निम्न कोटिके कल्याणसे अव प्रत्यक्ष ही हो सकता है। आध्यात्मिक कल्याण-सिद्धि स्वय अर्जित होने पर जितनी महत्त्व पूर्ण होती है भौतिक स्वार्थ भी स्वय अर्जित होने पर, बाहरसे मिलनेकी अपेक्षा, उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। फिर भी, ऐसी परिस्थितिया हो सकती है जिनमे भौतिक स्थितिया उत्तम जीवनकी प्राप्तिमें सक्रिय बाधक बन जाय। ऐसी स्थितियोमें यह राज्यका कर्त्तव्य है कि वह उन बाधाओको दूर करे। पर यहा भी श्री बोसाके का तर्क यह है हमें यह बात न भूल जानी चाहिए कि जिस हद तक भौतिक पदार्थ हमारे उच्च कोटिके जीवनमें प्रवेश कर पाते है और 'हमारी बुद्धि और इच्छाके वाहक' बन जाते है उस हद तक राज्य केवल अप्रत्यक्ष रूपमें ही उन्हें लागू कर सकता है। यही कारण है कि, 'शारीरिक स्वास्थ्य, आरामदेह मकान और पर्याप्त आमदनी आदि सरकार द्वारा नही दिए जा सकते। उत्तम जीवनके विकासके लिए राज्य जिन मामलोंमें प्रत्यक्ष कार्यवाही कर सकता है वह केवल ऐसे ही मामले है जहा विकासकी साधारण रूप-रेखा निश्चित रूपसे ज्ञात है और जहा इस प्रकारके हस्तक्षेपसे स्वतत्र होने वाले चारित्रिक साधन और बुद्धि-बल उन अधिकारो की अपेक्षा कही अधिक है जिनको इस प्रकार छीना या भग किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि "जब हम कानूनके द्वारा किसी कामके करनेका आदेश या निषेध करते है तब हमें हमेशा इस बातका दावा करनेके लिए तैयार रहना चाहिए यह बात मानते हुए भी

कि यह काम जो कि अब तक सम्भवत एक कर्त्तव्य-भावनाके वश किया गया होता अब अधिकाश रूपमें दडके भयसे या बाहरी नियमोका पालन करनेकी यान्त्रिक प्रवृत्तिसे किया जायगा (और इसके करनेमें मूर्खता, अरुचि और अनुत्साह और टालमटोल आदिकी वह व्यावहारिक असुविधाए रहेगी ही जो कि विवश होकर किए जाने वाले कार्योमें रहती है) फिर भी इस कार्यकी बाहरी परिस्थितियो पर ही जनताके उच्चतर जीवनकी प्रतिष्ठा इतनी अधिक निर्भर है कि हम यान्त्रिक आज्ञानुवर्तिता (automatism) के खतरेको भली भाति जानते हुए उस कार्यके करनेका आदेश या निषेध लागू करना युक्तिसगत समझते है (५ १७०-८०)।" इस सिद्धान्तकी कुजी है वह विभेद जो विवशता और आत्मप्रेरित विकास (Spontaneous growth) के बीच रहता ही है। श्री बोसाके सहयोग और आत्मयोग या स्वय अपनी सहायता (Self-help) के विभेद पर जोर नही देते। वह प्रेरणा या इच्छा (will) और यान्त्रिकता (automatism) के विभेद पर जोर देते है।

'बाहरी या ऊपरी कामो तक ही सीमित रहनेके कारण प्रत्यक्ष रूपसे राज्यके कार्योसे आध्यात्मिक लक्ष्योकी सिद्धि नही हो सकती। पर इसका यह अर्थ नही है कि हम शासनके नकारवाद या उसकी अर्थहीनता को स्वीकार करते है (५ p ३६)।' इसका अर्थ केवल यह है कि व्यक्तियो और व्यक्ति-समूह में स्वय उच्चतर जीवनकी प्राप्तिके लिए एक निश्चित प्रयत्न और सघर्ष होना चाहिए। इसके बाद ही हम यह आशा कर सकते है कि राज्य इस दिशा में कोई कदम उठाए। राज्य द्वारा कार्य किये जानेके पहले शुद्ध सामाजिक प्रयत्न और अनुसन्धान होना चाहिए अन्यथा, उदाहरणके लिए, 'एक अच्छा परिवार मनुष्यके उच्चतर जीवनका एक अग न बन कर उसके सकल्प या इच्छा-शक्ति का एक ऐसा अतिक्रमण हो जायगा जिसकी क्षति-पूर्ति न हो पायगी।' इसलिए राज्यके कर्त्तव्यको हम प्रत्यक्ष कार्रवाईकी अपेक्षा व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्योगका अनुमोदन कह सकते है। राज्यका कर्त्तव्य है रक्षा करना, उत्साहित करना और सगठित करना न कि प्रत्यक्ष रूपसे सुन्दर जीवनका विकास करना। यह भी एक कारण है कि क्यो हम राज्यको अन्य सब प्रकारकी सस्थाओंसे उच्च स्थान देते है और यह अधिकार-शक्ति देते है कि वह अन्य सस्थाओको उनके उचित स्थान पर कायम रखे। हमारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक सगठन वह प्रयोगशालाए है जिनमें हम उत्तम जीवनकी प्राप्तिके प्रयोग करते है। इन प्रारम्भिक प्रयोगो और किसी विशेष उद्योगके पक्षमें जन-भावना जाग्रत् करनेमे सफल होनेके बाद ही हम इस बातकी आशा कर सकते है कि राज्य हमारी सहायता करे। और तभी हमे सुन्दर जीवनकी प्राप्ति हो पाती है। यदि राज्य जनतासे पहले ही सक्रिय हो उठता है तो परिणाम सामाजिक उद्योग या समुदायवादकी अपेक्षा 'मा-बाप, सरकार' की उत्पत्ति ही होता है।

आलोचना

ऐसा जान पडता है कि राजकीय कार्य-व्यापारके सम्बन्धमें यह दृष्टिकोण कानून और नैतिकताके बीचके विभेदको बहुत बढा-चढा कर चित्रित करता है। इसमें तो कोई सन्देह नही कि नैतिकताका अधिकाश क़ानूनके दायरेमे बाहर ही रहता है। पर शायद इस बात का ठीक-ठीक अनुभव नही किया गया कि किस हद तक नैतिक कर्त्तव्योको कानून अपने दायरेमें समेट लेता है। उदाहरणके लिए फौजदारी कानून (Criminal law) बडे

व्यापक क्षेत्रमें नैतिक प्रभाव डालता है। सभी सभ्य राज्योमें पशुओके प्रति निदयताकी निन्दाकी जाती है। वह गलत है भी और इसीलिए राज्य उसके लिए दंड देता है। इस मामलेमें राज्य प्रत्यक्ष रूपमें और ठीक-ठीक ढगसे नैतिकताको लागू करनेका प्रयास करता है। इसके साथ ही साथ कानूनका भी अपना क्षेत्र है जिसका प्रभाव नैतिकता पर इतना अप्रत्यक्ष है कि हम उसकी उपेक्षा भी कर सकते है।

सुन्दर जीवनकी 'बाधाओको बाधित करना' एक ऐसी बात है जिसमें एक सीधे-सादे तथ्यको घुमा-फिरा कर बनावटी ढगसे कहा गया है। उदाहरणके लिए एक सीधा-सादा आदमी तो यह कहेगा कि आधुनिक परिस्थितियोमें प्रारम्भिक शिक्षाकी सब कही आवश्यकता है और इसलिए राज्यको उसका प्रबन्ध करना चाहिए पर जब उससे यह कहा जायगा कि निरक्षरता सुन्दर जीवनके मार्गमें एक बाधा है और नि शुल्क शिक्षा एक दूसरी बाधा है जो राज्य द्वारा पहली बाधाका निवारण करनेके लिए उपस्थितकी जाती है तो वह कहेगा कि यह कृत्रिम और पडिताऊ व्याख्या है। आदर्शवादी राजकीय कार्य-व्यापारके निषेधात्मक स्वरूप पर अधिक ज़ोर देते हैं। हमारा विश्वास है कि राज्यको निषेधात्मक या ऋणात्मक (negative) और धनात्मक (positive) दोनो ही प्रकारके कार्य उठाने चाहिए, बेशक, इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि उसके नागरिकोकी आत्मप्रेरणा (Spontaneity) समाप्त न हो जाय। उदाहरणके लिए नि शुल्क शिक्षाकी व्यवस्था निषेधात्मककी अपेक्षा धनात्मक ही अधिक है। श्री ग्रीन और बोसांके का यह अनुमान ग़लत है कि सरकारके प्रत्येक धनात्मक कार्यका परिणाम यान्त्रिकता और चरित्रकी दुर्बलता होगी। कमसे कम कुछ अशों तक तो यह सब समय, स्थान और परिस्थितियों पर निर्भर रहेगा।

राजकीय कार्यके इस सिद्धान्तमें यह खतरा है कि 'उत्तम जीवनकी बाधाओको बाधित करने' का कदम राज्य बहुत देरमें उठाए और बहुत अधिक समय प्रतीक्षा करनेमें लगा दे। यदि राज्यका काम यही हो कि वह एक तटस्थ दर्शक बन जाय और हम लोगोको सुन्दर जीवनकी प्राप्तिके लिए यथाशक्ति सघर्ष करनेके लिए छोड दे तो बहुत सम्भव है कि वह एक ऐसी अकर्मण्यताका शिकार हो जाय जिससे उसे उबारना कठिन हो जाय। श्री बोसाके इस आलोचनाका उत्तर यह देते है कि राज्य एक उदासीन दर्शक-मात्र नही है बल्कि वह एक ऐसे पक्षी, चीलकी भांति है जो अपने छोटे-छोटे बच्चों पर अपने पखोंका साया रखती है और अपने घोसलेकी रक्षा करती है। (Deuteronomy Ch 33 Verse 11) और ऐसा करनेमें उसका उद्देश्य अपने बच्चोको स्वतत्र चरित्रकी शिक्षा देना होता है न कि उनके विनाशका दर्शक बनना। श्री बोसाके आगे चलकर कहते है कि जब तक 'वैधानिक पद्धतिसे कानूनोमें परिवर्तन किए जा सकते हैं, तब तक यह सोचना एक व्यर्थकी बात है कि राज्य हमारी पुकारोको बहरा बन कर सुनता रहेगा'।

एक दूसरी आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि 'आदर्शवादी समाजकी आध्यात्मिक नीवको मनुष्यके विवेक या अन्तरात्मामें स्थिर करनेमें इतना व्यस्त हो जाता है—वह आन्तरिक मनुष्य या व्यक्तिकी अन्तरात्मा या उसकी स्वतत्र इच्छाकी स्वाधीनतामें इतना सलग्न है कि उसे यह नहीं याद रहता कि व्यक्तिकी भौतिक परिस्थितियोका सुधार भी आवश्यक है। इस आपत्तिके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आदर्श और यथार्थ-आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्र एक दूसरेसे एकदम भिन्न और पृथक् नही है बल्कि वह एक दूसरेसे

सम्बन्धित है। सिद्धान्त रूपमें यह बात चाहे जितनी सही मालूम हो पर व्यवहारमें यह सम्बन्ध हमेशा स्पष्ट नही दिखायी देता।

अन्तिम आपत्ति यह है कि 'उत्तम जीवनको बाधाओको बाधित करने' का सिद्धान्त इतना अनिश्चित और अस्पष्ट है कि व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनो ही राजकीय कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी अपने-अपने सिद्धान्तोकी पुष्टिमें उसका प्रयोग कर सकते है।

इन त्रुटियो और शिथिलताओके होते हुए भी आदर्शवादी सिद्धान्तका यह आग्रह उचित और ठीक है कि और चाहे जो कुछ राज्य करे या न करे पर नैतिक और आत्मिक कार्योंके स्वतत्र और तटस्थ सम्पादनमें उसे हस्तक्षेप न करना चाहिए।

४ गान्धीवादी अर्थ-नीति (Gandhian Economy)

गान्धीवादी अर्थ-नीतिमें व्यक्तिवादी, समाजवादी और आदर्शवादी पक्षोका मेल है। इस का उद्देश्य व्यक्तिके आर्थिक जीवनमें अहिंसाके सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करना है। गान्धी-वादी सिद्धान्त यह मानता है कि बहुत बडे परिमाणमें यान्त्रिक उत्पादनका परिणाम होता है निम्नतम कोटिकी भौतिकता, ससारके उन पिछडे हुए देशो पर आक्रमण और उनकी विजय जहासे कच्चा माल प्राप्त हो सकता है और जहा पर तैयार काम बेचा जा सकता है, युद्ध, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद।

गान्धीवाद पूजीवादकी भौतिक मान-महत्ताके विरुद्ध एक ऐसी अर्थ-नीतिका पोषण करता है जो पूजीवादकी अपेक्षा एक उच्च कोटिके उदार सास्कृतिक मानदंडो पर जोर देती है। गान्धीवादी अर्थ-नीति सभी प्रकारके शोषणका विरोध करती है, वह शोषण चाहे देशके भीतर ही एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्गका शोषण हो और चाहे विदेशी शक्तियो द्वारा सारे देशका शोषण हो। साचेमें ढले हुए यान्त्रिक उत्पादनकी अपेक्षा गान्धीवादी अर्थ-नीति उत्पादनकी एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहती है जिसमें व्यक्तिकी प्रेरणा और मौलिकताके लिए काफी स्वतत्र क्षेत्र मिल सके। गान्धीवादी अर्थ-नीतिके मूल सूत्र है आत्मनिर्भरता (Self-Sufficiency), उत्पादनका विकेन्द्रीकरण या विकीर्ण उत्पादन (decentralized production) और न्याय-युक्त वितरण। गान्धीवादी व्यवस्थामें उन वस्तुओको छोडकर जिन्हे व्यक्तिगत उत्पादकोंके हाथमें नही सौपा जा सकता शेष सभी वस्तुओका बहुत बडे परिमाणमें व्यक्ति-विहीन माध्यम (Impersonal Agency) अर्थात् मशीनो ही द्वारा उत्पादन बन्द हो जायगा। डाक और तारकी व्यवस्था, सडकें तथा यातायातके अन्य साधन सरकारके नियत्रणमें बने रहेगे। रेलो, खानो, जगलो, सिचाईके साधनो और बडे-बड़े उद्योग-धन्धो पर सरकार का एकाधिकार रहेगा। लेकिन जीवनके प्रारम्भिक दैनिक पदार्थो जैसे भोजन, कपडे, निवास स्थान आदिके उत्पादनका आधार विकेन्द्रीकरणकी नीति रहेगी। उत्पन्नकी जाने वाली वस्तुओंके परस्पर सम्बन्धका और बाजारमें उनके बेचनेकी ठीक-ठीक व्यवस्थाका प्रबन्ध सरकार करेगी। जो मुनाफा बीचमें दलाल लोग खाते है और जो मुनाफा बडे-बडे उद्योगपति और कम्पनिया खाती है वह सारी मुनाफाखोरी समाप्त हो जायगी। वस्तुओ को पैदा करने वाला या बनाने वाला अपने परिश्रमका ऐसा न्याय-युक्त प्रतिफल पा सकेगा जैसा आज सम्भव नही है। जिन वस्तुओका स्थानीय उत्पादन होगा वह प्राय उसी स्थानमें उपयोगमें आ जायगी। किन्ही-किन्ही अवस्थाओमें पैसेसे वस्तुएं खरीदनेके

वजाय वस्तुओंके वदले वस्तुओंका विनिमय करनेकी प्रथा चालू होगी। उदाहरणके लिए कहीं-कहीं टैक्स या राजकर पैसोंमें न देकर वस्तुओंमें दिया जा सकेगा।

जिन वस्तुओंका उत्पादन आवश्यकतासे अधिक होगा उनको छोडकर शेष वस्तुओंमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वहुत कम पड जायगा। जो पदार्थ और वस्तुए जनताके स्वास्थ्य और कल्याणके लिए आवश्यक होगी वह आजकी भाति देशके वाहर नही भेजी जायेंगी। पर ऐसे वन्धनोसे सैनिकवाद और मार-काटकी जड कट जायगी। प्रत्येक देश और देशके भीतर प्रत्येक प्राकृतिक प्रदेश स्वत अपने आपमें एक तर्क-सगत इकाई वन जायगा। किसी भी देश के लिए यह सम्भव न होगा कि वह दूसरोंकी कमाईका फल चूसकर खद समृद्ध वन जाय।

गरीव और अमीरके बीचकी खाई दिन वदिन गायब होती जायगी क्योंकि इस वात का कोई अवसर ही न रह जायगा कि एक व्यक्ति या वर्ग किसी दूसरे व्यक्ति या वर्गका शोषण कर सके।

यह सही है कि इस व्यवस्थाके लिए राजकीय कार्य-क्षेत्रकी परिधि वढानी होगी। पर यह व्यवस्था वही चीज़ नही है जिसे हम समाजवाद कहते है। क्योंकि समाजवादका विश्वास सम्पत्तिके नियत्रित वितरण पर है जव कि गान्धीवादी व्यवस्था प्रारम्भसे ही सावधानीपूर्वक निश्चितकी गई नीतिके अनुसार सम्पत्तिके अपने आप वितरित होनमें विश्वास करती है। इसके अतिरिक्त जहा एक ओर पूजीवाद और समाजवाद दोनो ही भौतिक मूल्यो पर अधिक ज़ोर देते हैं, यह व्यवस्था भौतिक मूल्योंको वही तक महत्त्व देती है जहा तक उनका सम्वन्ध मानवीय मूल्यो (human values) या मानवताके साथ निभ पाता है।

गान्धीवादी अर्थ-नीतिको जव हम एक आलोचककी दृष्टिसे देखते हैं तो हमें उसमें कोई इतनी अधिक विशेषता नही दिखाई देती कि हम उसे पूजीवाद या साम्यवादका विकल्प (Alternative) मान सकें। इसकी एक मुख्य त्रुटि यह है कि इसमें यह धारणा स्वीकार कर ली गई है कि मनुष्य केवल मुनाफेके उद्देश्यसे ही काम करता है। इस धारणा को समझना तव और भी कठिन हो जाता है जव हम यह देखते हैं कि राजनीतिके क्षेत्रमें गान्धीवादी सिद्धान्तने अपूर्व आत्मवलिदान और एक उद्देश्यके प्रति अद्भुत निष्ठाका परिचय दिया है। समाजवाद और साम्यवाद दोनो ही में यह विश्वास किया जाता है कि जनताको काम करनेके लिए प्रेरित करनेमें हम केवल मुनाफेकी धारणाकी अपेक्षा और अधिक ऊचे उद्देश्योंसे काम ले सकते हैं, उदाहरणके लिए सम्मानपूर्ण नागरिकताका उद्देश्य यह प्रेरणा दे सकता है।

गान्धीवादी अर्थ-नीतिमें विकेन्द्रीकरणकी योजना निस्सदेह सही रास्ते पर एक कदम आगे वढाती है पर उसमें भी क्षति किए जानेकी आशका है। एक व्यवस्थाके अनुसार एक मन हो कर उत्पादनके करनेमें अनेक लाभ हैं। इसलिए आवश्यकता एक ऐसी व्यवस्था की है जिसमें उत्पादनके केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरणकी प्रगति एक साथ हो सके। विशेषकर भारतके सम्वन्धमें हमें यह कहना होगा कि विकेन्द्रीकरणकी योजनामें हमारे अन्दर एका करनेकी जो असमर्थता है उसको और अधिक वल मिलनेकी आशका है जिससे इस वातका खतरा है कि हम आजकी अपेक्षा और अधिक व्यक्तिवादी हो जाय।

आज जिस दुनियामें हम रह रहे हैं उसमें सव एक दूसरे पर निर्भर है, और यह दुनिया दिन वदिन एक आर्थिक इकाई वनती जायगी इसके भी स्पष्ट लक्षण हैं। ऐसी स्थितिमें विकेन्द्रीकरणसे उत्पन्न होने वाले खतरे भी साफ हैं। इससे अतर्राष्ट्रीय व्यापार-

व्यवसाय और अतर्राष्ट्रीय व्यवहार यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जायगा। दुनियाको आज आवश्यकता इस वातकी है कि कोई ऐसी विश्वव्यापी योजना वने जिसमे राष्ट्रीय प्रादेशिक और ग्राम-योजनाए उसके अग वनकर समा जायें। घरेलू उद्योग-धन्धो पर अत्यधिक जोर देनेसे यह अशका है कि हमारा आर्थिक विकास रुक जाय और हम आदिम युगके स्तर पर ही रह जाय। हाथसे वनी हुई वस्तुओंके उत्पादनमें समय और शक्ति अधिक लगेगी। मशीनसे वनी हुई वस्तुओकी अपेक्षा उनमें खर्चा भी अधिक लग सकता है।

गान्धीवादी अर्थ-नीति यह वात स्वीकार करती है कि हर प्रकारकी व्यवस्थामें अनुशासन और दवाव आवश्यक है। पर उसका यह दावा स्वीकार करना कठिन है कि, गान्धीवादी व्यवस्थामें स्वेच्छा-प्रेरित अनुशासन (Voluntary discipline) होगा जव कि दूसरी व्यवस्थाओमें अनुशासन अनिच्छापूर्वक, ऊपरसे लादा गया अथवा अनिवार्य होगा। यह विभेद कि कौन-सा दवाव (coercion) न्याय-युक्त और कौन अनुचित है वडा कठिन है।

इन सव कठिनाइयोके होते हुए भी भारतकी वर्तमान परिस्थितिमें गान्धीवादी अर्थ-नीति एक महत्त्वपूर्ण और वहुमूल्य योजना उपस्थित करती है। वुद्धिमानी इस वात में है कि विकेन्द्रित ग्राम्य अर्थ-नीति (decentralized village economy) को एक ऐसी मिश्रित अर्थ-नीतिका अभिन्न अग वना दिया जाय जिसमें विभिन्न व्यवस्थाओंसे मूल्योकी विशेषताओको स्वीकार करके उन्हें भारतीय परम्परा और प्रतिभाके अनुकूल वना लिया गया हो।

५. सार्वजनिक हित (General Welfare).

अधिकाश आधुनिक राज्योकी वास्तविक शासन-व्यवस्थाके मूलमे यही दृष्टिकोण है। यह एक व्यावहारिक और स्पष्ट सिद्धान्त है और इसे सहजही वदलती हुई परिस्थितियोंके अनुकूल वनाया जा सकता है। आधुनिक युगमें लोग शुद्ध सैद्धान्तिक विवेचनके विरुद्ध है, वह सिद्धान्तोका व्यावहारिक परिणाम चाहते है। सार्वजनिक हितके सिद्धान्तमें जो वल है उसका यही कारण है। स्वाधीनताका अर्थ अव कही भी कानूनसे मुक्ति पाना नही लिया जाता है और न व्यक्तिगत स्वाधीनता इस वातसे नापी जाती है कि राज्यके क्रिया क्षेत्रको कितना सीमित किया गया। व्यक्तिके प्राकृतिक और अविच्छेद्य अधिकारो वाला अठारहवी शताव्दीका सिद्धान्त तो मर चुका है और अव जोर सामाजिक हित पर दिया जाता है। राज्यके कार्योको निश्चित करनेमें उपयोगितावादी (Utilitarian) और अवसरवादी विचारोका स्पष्ट प्रभाव पडता है। उपयोगितावादी दृष्टिकोणमें व्यक्ति और समाजके हितोका ध्यान रखनेकी कोशिश की जाती है। इस प्रकार हम देखते है कि श्री जेर्मी वेन्थम (Germy Benthem) सभी सस्थाओ और विधानोका अस्तित्व उचित सिद्ध करनेके पहले उनकी व्यावहारिक उपयोगिताकी जाच करते है।

इस दृष्टिकोणके समर्थक यह ठीक ही कहते है कि वैध और अवैध या उचित और अनुचित राज्य-कार्यके वीच कोई स्पष्ट अन्तर नही सिद्ध किया जा सकता। किसी मामले में राज्यको हस्तक्षेप करना चाहिए या नही इसका निर्णय उस मामलेकी परख करनेके वाद ही किया जा सकता है। फिर भी राज्य-कार्यके सम्वन्धमें कुछ सामान्य सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते है.

(१) क्या प्रस्तावित कार्यसे सार्वजनिक हितकी सिद्धि होगी ?
(२) क्या प्रस्तावित कार्य प्रभाव-पूर्ण होगा ?
(३) क्या यह सम्भव है कि भलाईकी अपेक्षा अधिक बुराई किये बिना ही यह कार्य किया जा सके ?

श्री गार्नरका दृष्टिकोण (Garner's Views) सार्वजनिक हितको अपना आदर्श सिद्धान्त मानते हुए श्री गार्नर ने राज्य-कार्यके सम्बन्धमें अपना दृष्टिकोण निम्न-लिखित रूपमें व्यक्त किया है पुलिसका काम करना ही राज्यके कर्त्तव्यकी इतिश्री नही है। नागरिकोको एक दूसरेकी हत्या या चोरी करनेसे रोकनेके अतिरिक्त राज्यको उनके लिए कुछ अधिक करना चाहिए। उसे राष्ट्रीय जीवनकी पूर्णतामें योग देना चाहिए। राष्ट्रकी सम्पत्ति और उसके कल्याणके विकासमें तथा उसके नैतिक और बौद्धिक उत्थान में योग देना चाहिए। युक्ति-सगत मानव जीवनके लिए जो तत्त्व अनिवार्य है और जिन्हें प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्तिका हक़ है उन सभी तत्त्वोको प्रत्येक व्यक्तिके लिए सम्भव और कल्याणप्रद बनाना राज्यका कर्त्तव्य है। राज्यको चाहिए कि वह साहित्य, कला और विज्ञानको प्रोत्साहित करे। साधारणत राज्यको सामाजिक और आर्थिक विकासका साधन बनना चाहिए। राज्यको व्यक्तिगत एकाधिकारके विरुद्ध हस्तक्षेप करना चाहिए और उसकी बुराइयोंसे समाजकी रक्षा करनी चाहिए। फिर भी साधारणत धारणा राजकीय हस्तक्षेपके विरुद्ध ही है। नियम तो स्वाधीनताका होना चाहिए, हस्तक्षेप अपवाद रूपमें ही रहना चाहिए। जो कार्य व्यक्ति स्वय राज्यकी ही भाति या उससे अच्छा कर सकते है साधारणत ऐसे कार्य राज्यको नही करने चाहिए। राज्यको तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब स्पष्ट रूपसे यह सिद्ध हो जाय कि हस्तक्षेप करनेसे सार्वजनिक लाभ होगा। किसी विशेष या सन्देहजनक कारणसे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। अब आधुनिक युगमें 'राम भरोसे' की नीति या 'राम रचे सो होय' की नीति असम्भव है अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियोकी अपेक्षा आज वह और भी अधिक असम्भव है। स्वतत्रता ही सभी मानव-सघो का चरम लक्ष्य नही है। वह तो व्यक्तिके परिपूर्ण जीवनकी सिद्धिका एक साधन-मात्र है।

मैकआइवर का दृष्टिकोण (MacIver's View) (५५ अध्याय ५), श्री मैकआइवरके दृष्टिकोण पर बहुलवाद (Pluralism) का प्रभाव है। उनका कहना है कि राज्यके कार्य-क्षेत्रका निश्चय इस आधार पर होना चाहिए कि एक सगठनके रूपमें (समाजके सगठनके रूपमें नही) राज्य क्या कर सकता है। उनके सामने यह प्रश्न नही है कि राज्यको क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। उनके सामने प्रश्न यह है कि अन्य सामाजिक सगठनके और स्वय राज्यका अपना सीमित स्वरूप राज्यको क्या कुछ करनेकी अनुमति देते हैं ? फिर भी इस दृष्टिकोणका व्यावहारिक रूप बहुत कुछ उन्ही निष्कर्षो पर पहुचता है जो निष्कर्ष साधारणत सार्वजनिक हितवाले सिद्धान्तके होते है। श्री मैकआइवर का कहना है कि राज्यके प्रत्यक्ष क्रिया-मूलक और अप्रत्यक्ष अभावात्मक (Negative) कर्त्तव्य है—व्यवस्था स्थापित करना और व्यक्तित्वका सम्मान करना। उदाहरणके लिए राज्यको विचारका नियत्रण नहीं करना चाहिए, विचार या सम्मति किसी प्रकारकी भी क्यो न हो (५५ १५०)। यद्यपि इस नियमके भी कुछ अपवाद है।

(१) राज्यके क़ानूनको भग करने या उसकी अधिकार-सत्ताकी अवहेलना करनेके लिए यदि कोई उत्तेजित करता है तो राज्यको उस पर कार्यवाही करनी चाहिए। वर्तमान

क़ानूनोकी ठीक-ठीक ढगसे आलोचना लोग कर सकते है। दूसरोको समझाने और विश्वास दिलानेके लिए वह शान्तिपूर्वक उन्हें समझा-बुझा सकते है और अपना मनचाहा परिवर्तन लानेके लिए वह सभी वैधानिक रीतियोका उपयोग कर सकते है। पर कानूनकी अवज्ञा या अवहेलना सहन नही की जा सकती। पर इस सवका यह अर्थ नही है कि जो भी व्यक्ति राज्यके प्रति विरोध या वेवफाईकी शिक्षा देता है राज्यको हर ऐसे व्यक्तिको दंड देना ही चाहिए।

(२) 'यही विचार और तर्क ऐसे साहित्यके सम्वन्वमे भी लागू होते है जो स्पष्ट रूप से ऐसे अनैतिक कार्योके लिए उत्तेजित करता है जो कानून द्वारा भी वर्जित है (५५ अध्याय ५)।' इस वातको सावधानीके साथ देख लेना चाहिए कि भडकानेका काम प्रत्यक्ष रूपमें किया गया हो, अप्रत्यक्ष रूपसे नही।

(३) विचार व्यक्त करनेकी स्वाधीनताका यह अर्थ नही है कि अपमान या निन्दा-मूलक विचार व्यक्त किये जायें अथवा ऐसे मामलोके सम्बन्धमें टीका-टिप्पणीकी जाये जो अदालतके विचाराधीन हो।

श्री मैकआइवर आदर्शवादियोकी इस मान्यताको स्वीकार करते है कि नैतिकताकी आन्तरिक शक्ति और स्वीकृतिको राजनैतिक कानूनसे पृथक् करना आवश्यक है। कानून द्वारा नैतिकता लागू नही की जा सकती। कानून केवल व्यापारो या ऊपरी कामोका ही नियमन कर सकता है। कानून केवल ऐसे ही कार्योको निर्धारित करता है जिनकी पूर्ति-मात्र ही राज्यकी दृष्टिमें कल्याणकारी होती है—ऐसे कार्य जो स्वतन्त्र अथवा नैतिक व्यक्तित्वके विकास और उत्थानके लिए आवश्यक भौतिक और सामाजिक परिस्थितियोको उत्पन्न करनेमें सहायक हो। यह कार्य किये चाहे जिस उद्देश्यसे जायें, उनकी पूर्ति ही आवश्यक होती है। समस्त नैतिक कर्त्तव्योको क़ानूनी या वैधानिक कर्त्तव्य वना देनेसे नैतिकताका नाश हो जायगा। शुद्ध नैतिक विधानवाद स्वय ही वुरा माना गया है, क्योकि उसका यह दावा होता है कि जो नैतिकता उसे स्वीकार हो उसे सब स्वीकार करें भले ही नैतिकताकी आत्मप्रेरणा ही समाप्त हो जाय क्योकि वह विधानवादमें मिलती ही नही 'नैतिकताकी अपील हमेशा व्यक्तिकी अपनी उचित और अनुचितकी भावनासे की जाती है, अन्तिम रूपमें व्यक्तिका अपना सत्-असत् विवेक ही उसका विधायक होता है (५५-१५५)।' नैतिकताका आधार है विवेक। विवेक एक आन्तरिक शक्ति है। उसमें व्यक्तित्वकी एकता या सहिति समाई रहती है। इसलिए नैतिकताका क्षेत्र कभी भी राजनैतिक विधानके क्षेत्रसे एकरूप या अनुरूप नही हो सकता।

१. विधान या कानून और नैतिकता (Law and morality)

यद्यपि कानून नैतिकतासे भिन्न है फिर भी राजनैतिक विधानके प्रति नागरिकका एक नैतिक उत्तरदायित्व रहता है। साधारणत उसे उसका पालन करना ही चाहिए। श्री मैकआइवर के शब्दोमें 'हम कानूनका पालन अनिवार्यत इसलिए नही करते कि हम कानूनको ठीक मानते है वल्कि इसलिए कि हम कानूनका पालन करना ठीक मानते है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक अल्पसख्यक समुदायके लिए कानूनका पालन विवशता और वल-प्रयोगकी वात हो जायगी और राज्यमें इतना अधिक सघर्ष उत्पन्न हो जायगा कि राज्यका कार्य-व्यापार खतरनाक ढगसे झमेलेमें पड़ जावेगा। क़ानून और सरकारकी सार्वजनिक

सेवा और उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं और उसीके लिए हम ऐसे कानूनोंको भी स्वीकार कर लेते हैं जो अपने आपमें हमें स्वीकार करने योग्य नहीं जान पड़ते। इस सार्वजनिक स्वीकृति पर ही राजनैतिक उत्तरदायित्व टिका हुआ है (५५ १५६)।'

२. क़ानून और धर्म (Law and religion)

यदि कानूनके द्वारा प्रत्यक्ष रूपमें नैतिकता नही लागूकी जा सकती तो धर्म तो और भी अधिक लागू नही हो सकता। धर्म-सघके लिए यह उचित नही है कि जिन लोगोको वह स्वय अपना अनुयायी नही बना मका उन्हें बरबस उसका अनुयायी बना देनेके लिए वह राज्यसे अपील करे। ऐसा करनेका अर्थ यह होगा कि उसे स्वय अपनी नैतिक शक्ति पर विश्वास नही है।

३. क़ानून और प्रथाए या रीति-रिवाज (Law and Customs)

प्रथाए या रीतिया 'वह प्रचलित स्वाभाविक विकास हैं जिनसे जीवनकी आन्तरिक परिस्थितिया और विश्वास प्रकट होते हैं (५५ १६०)।' कोई भी राज्य विधानके द्वारा अपने नागरिकोकी प्राचीन प्रथाओको उखाड नही सकता। विधान और प्रथाओंके बीच सघर्ष एकतत्र राज्योकी अपेक्षा प्रजातत्र राज्योमें अधिक उत्पन्न हो सकते है। जहा तक प्रथाओ या रीतियोका सम्बन्ध है प्रजातत्र राज्य उनके अनुरूप कम बैठते हैं और अधिक अस्थायी होते हैं। इसलिए वह अल्पसख्यक समुदायोकी प्रथाओको उखाड फेंकनेके लिए तैयार रहते है। पर अनुभव यह दिखाता है कि अल्पसख्यक समुदायोंके रीति-रिवाज कानूनके दबावका डट कर मुकाबला करते हैं जैसा कि यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिका में मद्य-निषेधके मामलेमें हुआ था। 'आक्रमण किये जाने पर प्रथाए क़ानून पर प्रत्याक्रमण करती हैं, यह प्रत्याक्रमण केवल उस क़ानून विशेष पर नही होता जिसके द्वारा किसी प्रथाका विरोध किया जाता है बल्कि क़ानून या विधानका पालन करने (Obedience) की भावनाके विरुद्ध, सामान्य सार्वजनिक इच्छाकी एकताके विरुद्ध होता है जो और भी अधिक मार्मिक होता है (५५ १६१)।' 'खतरनाक रीति-रिवाजोको कानूनके द्वारा समाप्त करना जरूरी हो मकता है। पर इस प्रकारके उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक प्रथाओंकी सामान्य रूप-रेखा विधानकी सीमासे बाहरकी बात है, वह न तो राज्य द्वारा बनानेकी चीज है और न बिगाडने की (५५ १६१)।'

४ क़ानून और फैशन (Law and Fashion)

'रिवाजके छोटे और बदलते रहने वाले रूपका नाम फैशन है और इस पर राज्यका नियत्रण और भी कम होता है (५५ १६१)।' राज्यकी सीमाओं या असमर्थताओ (Limitation) का यह एक अजीब सा उदाहरण है। लोग बडी उत्सुकता और इच्छाके साथ पेरिस या लदन या न्यूयार्क के किसी अज्ञात सघ द्वारा प्रचारित फैशनकी आज्ञाओका पालन करते हैं, पर यदि राज्य इसी प्रकारके किसी साधारणसे परिवर्तनकी आज्ञा जारी करदे तो उसे भयानक अत्याचार माना जायगा—सम्भव है उससे विद्रोह भी हो जाये (५५ १६१)।'

'साधारणत वह समूची जीवित सस्कृति जो किसी जाति या युगकी आत्माका विकास है, कानूनकी क्षमताके बाहरकी बात है। राज्य उसे प्रतिबिम्बित करता है पर इससे अधिक वह बहुत कम कर पाता है। राज्य जीवनकी व्यवस्था करता है, पर वह जीवनकी सृष्टि

नही करता। सस्कृति समाजकी सृष्टि है जो आन्तरिक शक्तियोसे जीवित रहती है। यह आन्तरिक शक्तिया राजनैतिक विधानकी अपेक्षा कही अधिक सवल और समर्थ होती हैं (५५ १६१-६२)।' कला, साहित्य और सगीत प्रत्यक्षरूपसे राज्यके नियत्रणकी सीमामें नही आते, इन सभी क्षेत्रोमें, 'कोई जाति या सभ्यता अपने स्वतत्र मार्ग पर जाती है। उन प्रभावो और परिस्थितियोका असर भी उन पर पडता रहता है जो अधिकाशरूपमे अज्ञात ही रहती है, और जहा यह परिस्थितिया ज्ञात भी होती है वहा राज्य द्वारा न तो उनका नियत्रण होता है और न उनकी सम्यक् अवधारणा (Uncomprehended) या पूरी-पूरी जानकारी होती है (५५ १६२)।'

५. विधान और संस्कृति (Law and Culture)

राज्यको 'सन्धि-विग्रहका अनियन्त्रित अधिकार रहता है और इसलिए उसे सभी प्रकार के सघो और व्यक्तियो पर समानरूपसे जीवन और मृत्युका अधिकार रहता है।' राज्य 'राजनैतिक झगडोंको वल-प्रयोग द्वारा हल करनेके अधिकारका दावा रखता है। इस दावेका अर्थ यह है कि राजनैतिक हित अन्य सभी प्रकारके हितोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण और ऊचे माने जाते है।' युद्धकी घोषणा करनेमें राज्य किसी राजनैतिक उद्देश्यको परिवारके सामान्य उद्देश्यो, सस्कृतिक जीवन और आर्थिक व्यवस्थासे अधिक ऊचा और महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। श्री मैकआइवर का विश्वास है कि राज्यके इस परम अधिकारका नियत्रण किया जाना चाहिए क्योकि, उनके अनुसार, राज्य एक सीमित सगठन है और उसे जाति या समूचे समाजके साथ एकरूप नही माना जा सकता।

६ राज्य और युद्ध (State and War)

राज्यके कार्य-क्षेत्रके सम्बन्धमे श्री मैकआइवर (MacIver) इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि साधारणत मनुष्य जिन पदार्थो या वस्तुओ आदिके लिए इच्छुक रहता हैं उन्हें ध्यानमें रखते हुए सामाजिक जीवनकी जो सार्वभौम वाह्य परिस्थितिया (Universal external conditions) है वही राज्यके कार्य-क्षेत्रमें आती है। विशेप रूपसे इसका अर्थ है व्यवस्थाकी प्रतिष्ठा 'जिससे सुरक्षा (Protection), स्थायित्व (Conservation) और उन्नति हो सके (५५ १८५)।' जहा व्यवस्थाका उद्देश्य केवल व्यवस्था हो ऐसी व्यवस्था व्यर्थ है। इसकी सार्थकता वही तक है जहा तक उससे समाजकी आवश्यकताओकी पूर्ति हो और समाजके आदर्शोमे ही उसकी सीमा हैं। विशेपकर न्याय और स्वाधीनताके आदर्श ही व्यवस्थाकी सीमा निश्चित करते है।

व्यावहारिक रूपमें राज्यके कार्य-क्षेत्रमे वह सभी काम आ जाते हैं जिन्हें व्यक्तियो अथवा व्यक्तिगत सगठनोकी अपेक्षा राज्य अधिक कुशलता और पूर्णताके साथ कर सकता है। इस कार्य-क्षेत्रमें निम्नलिखित कार्य सम्मिलित हैं दुर्वलोकी रक्षा करना, स्वस्थ और सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक कमसे कम परिस्थितियोंको वनाए रखना, महान् रचनात्मक उद्योग जिनका फल भावी पीढियोको मिलेगा जैसे नगर-निर्माणकी योजनाए आदि कार्यान्वित करना, देहातोका—जगलो, झीलो और पहाडोके सौंदर्यका सरक्षण, सिंचाईके सफल प्रयोग करना, देशकी धरतीका उपयोग करना, जानवरो और पौधोकी नस्ल वनाना और हानिकारक कीडे-मकोडो आदिका नियत्रण करना, पारस्परिक सहयोग द्वारा उद्योगोंके स्थापित करनेमें मदद करना, मुद्रा और ऋण आदि पर नियत्रण रखना, उद्योग, व्यापार और व्यवसायको प्रोत्साहन देना, मनुष्यकी सामर्थ्यका विकास और सरक्षण करना, शिक्षा

और सास्कृतिक जीवनका उत्थान करना। इन सब कर्त्तव्योको पूरा करनेमे राज्यको इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि मानव-व्यवहारकी आन्तरिक प्रेरणाओको दबाया न जाए।

६ राजकीय कर्त्तव्योका वर्गीकरण (Classification of Governmental Functions).

अनेक लेखकोने राजकीय कर्त्तव्योका वर्गीकरण उस स्थितिको आधार बनाकर करना चाहा है जो अधिकाश आधुनिक राज्योमें दिखाई देती है। इन कर्त्तव्योको इस प्रकार बाटा गया है

(१) तात्त्विक या मौलिक (Essential or Fundamental), और
(२) वैकल्पिक अथवा सेवामूलक (Optional or ministrant)।

१ तात्त्विक कर्त्तव्य (Essential Functions)

इनमें वह सब कर्त्तव्य शामिल है जो राज्यके निरन्तर अस्तित्व (Continued existence) के लिए, व्यक्तिकी नागरिक और राजनैतिक स्वाधीनताके लिए और दूसरे व्यक्तियोंके विरुद्ध उसके जीवन, सम्पत्ति और स्वाधीनताके लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दोमें इन कर्त्तव्योका निश्चय तीन प्रकारके सम्बन्धो द्वारा होता है राज्यका सम्बन्ध राज्यसे, राज्यका सम्बन्ध नागरिकसे और नागरिकका सम्बन्ध नागरिकसे (२४ ३६४)। श्री वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) (३९ ६१३-१४) राज्यके तात्त्विक कर्त्तव्योको इस प्रकार गिनाते है

(१) व्यवस्था प्रतिष्ठित रखना और हिंसा और चोरी-डकैती आदिके विरुद्ध जान-मालकी सुरक्षा करना।

(२) पति और पत्नी तथा सन्तान और माता-पिताके पारस्परिक वैधानिक सम्बन्धो को निश्चित करना।

(३) जायदादके अधिकार, सप्रेक्षण या दूसरोको देना (Transmission) और विनिमयका नियमन करना तथा कर्ज और अपराधके लिए जायदाद पर आने वाले दायित्व को निश्चित करना।

(४) व्यक्तियोमें परस्पर होने वाले अनुबन्ध (Contract) सम्बन्धी अधिकारो को निश्चित करना।

(५) अपराधोकी परिभाषा करना और उनके लिए दण्ड निश्चित करना।

(६) दीवानी मामलोमें न्यायाधिकरण।

(७) नागरिकोके राजनीतिक कर्त्तव्यो, विशेषाधिकारो और सम्बन्धोको निश्चित करना।

(८) बाहरी शक्तियोसे राज्यके सम्बन्धोको निश्चित करना, बाहरी खतरो अथवा हस्तक्षेपोसे राज्यकी रक्षा करना और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय अभिवृद्धि करना।

ऊपरके वर्गीकरणका अनुमोदन करते हुए श्री गेटेल (Gettell) कहते है कि शासन की दो शाखाए है जिन पर विशेषरूपसे ध्यान देना जरूरी है—आर्थिक और सैनिक शाखाए। आर्थिक कर्त्तव्यमें वह निम्नलिखित कार्योको शामिल करते है राजकर लगाना, आयात-निर्यातकर (Tariffs) का नियमन, मद्य या शराब, मुद्रा और मुद्राकन

(Currency and coinage) का नियत्रण करना, सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे सार्वजनिक भूमि, जगल, सार्वजनिक इमारतें, युद्ध-सामग्री और राजकीय एकाधिकारो जैसे डाक, रेल, तार आदि की व्यवस्था करना। सार्वजनिक ऋणकी व्यवस्था करना इसीसे मिला-जुला कर्त्तव्य है।

सैनिक कर्त्तव्योमें स्थल-सेना, नौसेना, और नभ-सेना (Air force) की व्यवस्था शामिल है। 'साधारणत स्थल-सेना और नौसेना दोनो ही को शान्तिका रक्षक माना गया है। युद्ध उकसानेवाली ताकत नही। स्थल-सेनाए आन्तरिक व्यवस्थाको कायम रखती है और नौसेना व्यवसाय-व्यापार और उपनिवेशोकी रक्षा करती है (२४ ४००-१)।' सभी प्रधान राज्योमें राष्ट्रकी आमदनीका बहुत बडा हिस्सा स्थल-सेना और नौसेना पर खर्च किया जाता है। अमेरिकामें भी, जहा १९३० से प्रारम्भ होनेवाले दशकमे युद्ध का भय अपेक्षाकृत रूपमे बहुत दूर था, सघ-सरकारके व्ययका तीन चौथाई अश स्थल-सेना, नौसेना और पेंशनोमे खर्च किया जाता था।

२. वैकल्पिक कर्त्तव्य (Optional Functions)

यह वह कर्त्तव्य है जो राज्यके अस्तित्व और व्यक्तिको स्वाधीनता तथा सुरक्षाके लिए अनिवार्य या मौलिक महत्वके नही। फिर भी अधिकाश राज्य इन कर्त्तव्योको इसलिए अपनाते है कि सार्वजनिक कल्याणके लिए वह आवश्यक है। तात्त्विक या अनिवार्य और वैकल्पिक कर्त्तव्योके बीच अन्तर स्थिर करना आसान नही है। दोनो एक दूसरेसे मिल जाते है। यह वर्गीकरण देश और कालके अनुसार बदलता ही रहता है।

वैकल्पिक कर्त्तव्योको दो भागोमें बाटा जा सकता है· समाजवादात्मक (socialistic) और समाजवाद-मुक्त (non-socialistic) कर्त्तव्य। समाजवादात्मक कर्त्तव्य वह है जिन्हें व्यक्तिगत उद्योगके लिए छोडा जा सकता है पर जिन्हें प्राय राज्य इसलिए अपना लेता है जिससे व्यक्तिगत नियत्रणसे उत्पन्न हो जानेवाली खराबिया न उत्पन्न होने पायें अथवा इसलिए कि अनुभव द्वारा किन्ही विशेष क्षेत्रोमें सरकारी नियत्रणकी अधिक कुशलता सिद्ध हो चुकी है। इस प्रकारके कर्त्तव्योंके उदाहरण है राज्य द्वारा रेलो और तार-व्यवस्था पर आधिपत्य और उनकी व्यवस्था करना और बिजली, पानी और गैस पर म्युनिसिपल-नियत्रण।

समाजवाद-मुक्त कर्त्तव्य वह है जिन्हें यदि सरकार न अपनाये तो सभव है कोई भी न्हें पूरा न करे। इस विभागमें निम्नलिखित कार्य आते है गरीब और असमर्थ लोगोकी उवाली, सार्वजनिक पार्को और पुस्तकालयोकी व्यवस्था, सफाई, कुछ विशेष प्रकारकी धा और आकडो सम्बन्धी तथा खोज-पडतालका वह तमाम काम जिसका उद्देश्य हमारे नावरणको उन्नत बनाना है तथा ऐसी सूचनाए इकट्ठा करना जिनके आधार पर भविष्य और भी सुधार किये जा सके (२४ ३९६)।'

श्री वुडरो विलसन वैकल्पिक अथवा सेवामूलक कर्त्तव्योको निम्नलिखित रूपमे ाजित करते है.

'(१) उद्योग और व्यापारका नियत्रण।

'(२) श्रमका नियत्रण।

'(३) आवागमनकी व्यवस्था—जिसमें रेलोका सरकारी नियत्रण तथा वह तमाम ा शामिल है जिन्हें हम आन्तरिक विकासके नामसे पुकारते है।

'(४) डाक और तार-व्यवस्थाका प्रबन्ध जो सिद्धान्त-रूपसे तीसरे विभागके ही समान है।

'(५) गैसका उत्पादन और वितरण, जलकलकी व्यवस्था आदि।

'(६) सफाई जिसमें सफाईसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारका भी नियत्रण शामिल है।

'(७) शिक्षा।

'(८) गरीब और असमर्थ लोगोकी रखवाली।

'(९) जगलोकी रखवाली और खेती तथा अन्य काम, जैसे नदियोमें मछलियोको इकट्ठा करना।

'(१०) व्यय-सम्बन्धी विधान (Sumptuary Laws) जैसे मद्य निषेध-क़ानून (२८ ४३३)।'

भारत में सामाजिक विधान

(Social Legislation in India)

इस अध्यायको समाप्त करनेसे पहले विद्यार्थीके लिए यह जान लेना रुचिकर होगा कि समाज-सुधारके क्षेत्रमे राजकीय कार्य-क्षेत्रका यह सिद्धान्त किस प्रकार व्यावहारिक रूपमें काममें लाया जा सकता है। यह एक बहसका विषय है कि किसी देशकी सरकारको सामाजिक सुधारके क्षेत्रमें क्या भाग लेना चाहिए। हमारे सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त चाहे कुछ भी हो, यह बात सभी लोग स्वीकार करते है कि सरकारको केवल पुलिसका व्यापक रूप ही नही मान सकते जिसका काम भीतरी और बाहरी शत्रुओंसे रक्षा करना भर ही होता है। यदि राज्य शीघ्र ही कल्याण-मूलक राज्य नही बन जाते तो आजकी दुनियामे उनके अस्तित्वका कोई औचित्य ही नही रह जाता, बेशक इस बातका खयाल रखना होगा कि व्यक्तियो और समुदायोकी प्रेरणा-शक्ति और आत्मनिर्भरताको किसी प्रकारका धक्का न पहुचने पाए।

जब समाजको निश्चित प्रत्यक्ष हानि पहुच रही हो और वह हानि एक बडे पैमाने पर हो रही हो, जब उस बुराईका इलाज उस बुराईसे भी अधिक खतरनाक न हो और जब उस इलाजको लागू करनेके तरीके बहुत खर्चीले न हो और उनमें सरकारकी बदनामी होने की आशका न हो तब सरकारको आगे कदम उठाना चाहिए भले ही वह कदम लोक-मतके विरुद्ध क्यो न हो। यदि सरकार सती-प्रथा और बाल-हत्याकी प्रथाको हटानेके पहले जनमतको शिक्षित करनेकी प्रतीक्षा करती तो उसे अनन्त काल तक प्रतीक्षा ही करनी पडती। जब तक भारतकी समूची जनता शिक्षित न हो जाय तब तक स्वास्थ्य, सफाई और पौष्टिक भोजन आदिके सम्बन्धमे आवश्यक सामाजिक सुधारोको रोके रहना मूर्खता होगी।

जो लोग राज्य द्वारा आदेश-मूलक विधान बनानेका विरोध करते है वह इस तथ्यको नही समझ पाते कि विधान स्वय ही जन-मतका एक साधन है। जैसे पुलिसमैनका डडा हममे से अच्छे अच्छोको भी सीधे मार्ग पर ले आता है ठीक वैसे ही राज्य द्वारा बनाया गया विधान भी हमें सामाजिक जीवनके उन उच्च स्तरो पर पहुचनेमें सहायता दे सकता है जिन स्तरो पर रहनेकी प्रवृत्ति साधारणत. हम लोगोमें नही होती। कानूनको जहा एक ओर इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि वह जनमतसे बहुत आगे न बढ जाये वहा इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि कानून हमेशा जनमतसे कुछ आगे बढा हुआ रहे जिससे जन-मतको उच्च स्तर पर उठानेमे वह प्रेरक और सहायक हो सके।

प्रभावपूर्ण सामाजिक विधानके लिए यह आवश्यक नही है कि वह अनिवार्य हो या समूचे देश अथवा सारी जनता पर एक साथ लागू हो। ऐसे बहुतसे मामले है जिनमे आदेश-मूलक या अनिवार्य विधानकी अपेक्षा अनुमति-मूलक विधान (Permissive Legislation) कही अधिक प्रभावकारी होता है। उदाहरणके लिए अन्तर्वर्ण और अन्तर्जातीय विवाहको ले सकते है। आधुनिक समाजमें बहुत थोडे ऐसे प्रगतिशील व्यक्ति है जो अपना जीवन-सगी चुननेमे वर्ण या जातिका बन्धन तोडनेको तैयार रहते है। ऐसे

लोगोको राज्य द्वारा अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिलना चाहिए, उनके मार्गमे जो भी कानूनी दिक्कतें हो उन्हें हटाया जाना चाहिए। समाज-सुधारके अनेक मामलोमें सीधे-सीधे प्रत्यक्ष साधनोको अपनानेके वजाय यदि अप्रत्यक्ष आघात किया जाय तो वह कही अधिक प्रभावकारी होता है।

कुछ चुने हुए क्षेत्रोमें मद्य-निषेध लागू करना जैसा कि आज भारतमे किया जा रहा है, वेशक एक वुद्धिमानीका काम है। यह सौभाग्यकी वात है कि इस विषयमें भारतके प्राय सभी धार्मिक समुदाय एक ही दृष्टिकोण रखते है। इस समय फौजी सिपाहियोको इस कानूनके दायरेसे वाहर रखनेका जो कदम उठाया गया है वह उचित नही जान पडता।

इसमे कोई सन्देह नही कि मद्य-निषेधसे राज्यके राजस्वमें—उसकी आमदनीमें बहुत कमी हो गई है और सैकडो लोग वेकार हो गये है। शराबका ग़ैरकानूनी तौरसे वनाया जाना और इसकी चोरवाजारी सब तरफ प्रचलित है। जिन अफसरोंके मत्थे इस कानूनको लागू करनेका काम सौंपा गया है उन्होने सव जगह ईमानदारीसे काम नही किया।

फिर भी यदि जनता देशको शरावखोरीसे मुक्त रखना चाहती है तो मद्य-निषेध सफल हो सकता है। स्कूलोमें, धार्मिक स्थानोमें और घरोमें सयमकी और मादक वस्तुओंसे वचने की शिक्षा इसमें सहायक हो सकती है। जो लोग इस कानूनके कारण वेकार हो गये है, सार्वजनिक कार्योकी एक विशाल योजना उन्हें काम देनेके लिए वहुत आवश्यक है राज्यकी सरकारके लिए राजस्वके दूसरे साधन खोजने होगे।

मद्य-निषेध जैसा कोई भी निषेधात्मक कानून (negative measure) तब तक सफल नही हो सकता जब तक उसके साथ-साथ आदेश मूलक कानून भी न लगा हो। जव पहले पहल (१९३७-३८) कांग्रेस मन्त्रिमडलने सलेम ज़िलेमें मद्य-निषेध लागू किया तो अनेक ताडी निकालने वाले अपनी रोजी खो बैठे और जीवनके उपभोगका जो भी साधन उनके पास था वह छिन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारको मजदूरोंके अवकाशकालके लिए नवीन सगठन करने पडे और जो लोग वेकार हो गये थे उनके लिए रोज़ीका इतज़ाम करना पडा। खेल-कूदका प्रबन्ध करना पडा, भजन मडलियो और चायकी दूकानो का इतज़ाम किया गया। ताडी निकालने वालोको ताज़ी ताडीसे गुड वनाना सिखाया गया और वहुतोको आम सडकें वनानेके लिए पत्थर तोडनेमें जुटाया गया। राज्यके राजस्वमें जो कमी हुई उसे विक्री-कर लगा कर पूरा किया गया।

सामाजिक सुधारके प्रयोग मद्य निषेधकी भाति न केवल निश्चित क्षेत्रोमें ही सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं वल्कि जनताके कुछ विशिष्ट वर्गोमें भी ऐसे प्रयोग हो सकते है। उदाहरणके लिए वाल-विवाहकी प्रथाको ले सकते है। यह एक जानी-बूझी वात है कि १९२९ के वाल विवाह-निषेध-कानूनका प्रयोग अधिकतर उसके भग करनेमें ही हुआ है न कि उसका पालन करनेमें। क्योकि न तो हिन्दू और न मुस्लिम-सम्प्रदायके ही धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज इसके पक्षमें थे। फिर भी देहातके ईसाइयोमें इस कानून का प्रयोग किया जा सकता है क्योकि उनके बीच भी वाल-विवाहकी प्रथा अनजानी नही है। यह देखते हुए कि ईसाई लोग सभी कही वाल-विवाहको बुरी नज़रसे देखते है यदि इन ग्रामीण ईसाइयोके वीच यह कानून अनिवार्य रूपसे लागू किया जाय तो उसका कोई विशेष विरोध नहीं होगा। जव यह प्रयोग उनके वीच सफल हो जायगा और जव चारो ओरके लोग इसके सुन्दर परिणामोको—सुन्दर स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट वच्चे और दीर्घ

जीवनको—देखेंगे तो देखनेवालोंके लिए वह एक अच्छा सबक हो जायगा।

स्वाधीनता प्राप्त होनेके बाद भारत सरकारने अपने इस निश्चयकी सूचना दे दी है कि वह शारदा-कानून (Sarda Act) को लागू करेगी। देखना यह है कि सरकार वास्तवमें ऐसा करती है अथवा नही, और यदि करती है तो उसे सफलता मिलती है या नही।

जनताके जो वर्ग पिछड़े हुए और असमर्थ है उन्हें सहायता देनेका उत्तरदायित्व सरकार पर बहुत अधिक है और फिर भी भारतमें इस विषयमे बहुत कम प्रयत्न किया गया है। यह सही है कि पागलोकी रखवाली और देख-रेखके लिए ऐसे अस्पताल और ऐसी सस्थाए है जिनका प्रबन्ध सरकार करती है पर जिनका दिमाग कमज़ोर है और जो बेकारोकी तादाद बढा रहे है, जो किसी कामके लायक नही है—अधे, बहरे, गूगे, बूढे और असमर्थ व्यक्तियोंके लिए प्राय कुछ नही किया जा रहा है। जनताके पास इतने पर्याप्त साधन नही है कि वह ऐसे लोगोका प्रबन्ध स्वय कर सके। भारतीय लोग अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध है पर उन्हें इस बातकी शिक्षा नही दी गयी कि वह अपनी इस प्रेरणाका विवेक-पूर्ण उपयोग कर सकें। राह चलते भिखारीको दान देनेसे उनकी आत्माको भले ही शान्ति मिल जाय और भले ही वह यह सतोष कर लें कि वह अपने भावी जीवनके लिए पुण्य लाभ कर रहे है। पर यह शायद ही उन्हे कभी सूझता है कि बिना सोचे-समझे अविवेक-पूर्ण ढगसे दान देनेके कारण सामाजिक समस्याए सुलझ जानेके बजाय और अधिक उलझनी ही जाती है।

इस विवेचनासे अब इस बातकी भी जाच कर लेना जरूरी हो जाता है कि सामाजिक सहायताके क्षेत्रमें व्यक्तिगत स्वेच्छा-मूलक उद्योगोका क्या स्थान होना चाहिए। इगलैंड जैसे देशमें जहा की जनता भारतकी अपेक्षा कही अधिक सजातीय अथवा एकजातीय (homogeneous) है और जहा शिक्षाका स्तर ऊचा है और आत्म-निर्भरताके आदर्शने जहाके जातीय जीवनमें बहुत बडा काम किया है वहा भी ऐसी अनेको सस्थाएं और गोष्ठिया है जो किसी न किसी दिशामें आवश्यक सामाजिक सुधारका काम किया करती है। उस देशमें स्वेच्छा-प्रेरित सघ ही सामाजिक प्रयोगोंके लिए प्रयोग-शालाओका काम करते रहे है और जब उन्होने भूमिका तैयार कर दी, उसकी उपयोगिता सिद्ध कर दी और जब काम उनके बूतेके बाहर हो गया तब सरकार आगे बढकर उस कामको उठा लेती है। पर भारतमें अवस्था इससे बिल्कुल भिन्न है। जनतामें नागरिक विचारोका स्तर बहुत नीचा है और नागरिक उत्तरदायित्वकी भावनाका अभी विकास हो ही रहा है।

इस सबके बावजूद भी यह कहना होगा और बलपूर्वक कहना होगा कि सामाजिक बुराइयोको दूर करनेके लिए केवल सरकारी उद्योग पर ही भरोसा करना मूर्खता है। घर, स्कूल, कॉलिज समाचार-पत्र, व्याख्यान-मच या वक्तागण, सिनेमा, थिएटर, रेडियो और खेल-कूदके सघ आदि सबको सामाजिक बुराइयोको दूर करनेमें सक्रिय हो जाना चाहिए। जिन सामाजिक कुरीतियोंके सामने जनता युगोंसे सर झुकाती चली आ रही है उनकी बुराइयोको सफलता-पूर्वक समझानेमें बडे-बडे इश्तहार, व्यग-चित्र और नाट्यलीलाए तथा जनप्रिय गीत कितना महत्त्व-पूर्ण योग दे सकते है यह हम अभी समझ नही पाए।

ऊपरके विवेचनका निष्कर्ष हम निम्नलिखित सिद्धातो और कार्य-पद्धतियोंके रूपमें कर सकते है:

(१) राज्य जो कुछ भी करे इस बातका खयाल रखना चाहिए कि व्यक्तिगत प्रेरणा, उत्तरदायित्व और आत्मसम्मानकी भावनाको आघात न लगने पाए।

(२) राज्य द्वारा अथवा किसी व्यक्तिगत स्वेछा-प्रेरित सघ द्वारा किया जानेवाला समाज-सुधारका काम बहुत अधिक नियमबद्ध (formal) और यान्त्रिक (mechanical) नही हो जाना चाहिए।

(३) सामाजिक बुराइयो पर सीधे-सीधे चोट करनेसे प्राय यथेष्ट सफलता नही मिलती। ऐसे मामलोमें अप्रत्यक्ष साधन अधिक प्रभावकारी हो सकते है।

(४) सामाजिक विधान, विशेषकर ऐसे प्रजातन्त्रीय देशोमें जहाकी जनता शिक्षित हो, लोकमतसे बहुत आगे बढा हुआ नही होना चाहिए, यद्यपि लोकमतका स्तर ऊचा करने के लिए सामाजिक विधान स्वय भी एक महत्त्वपूर्ण साधन बन सकता है।

(५) साधारणत व्यक्तिगत स्वेच्छा-प्रेरित सयोगोको ही मामाजिक प्रयोगोंके लिए प्राथमिक प्रयोगशालाए बनाना चाहिए।

(६) स्थानीय अधिकारी जैसे नगरपालिकाए, प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकारोकी अपेक्षा जनताके सुख-सुधारका काम बहुत अधिक कर सकती है क्योकि वह जनताकी विशिष्ट समस्याओंके सम्पर्कमें अधिक रहते है।

समाजवाद की विवेचना पर टिप्पणी

(Note on Appreciation of Socialism)

हम एक ऐसे युगमें रह रहे है जिसमें समाजवादकी या तो भरपूर निन्दा ही की जाती है और या फिर उसकी प्रशसाके ही पुल बाधे जाते है। इस विषयका वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्यार्थियोके नाते यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम सहानुभूति-पूर्वक उसकी परख करें, समाजवादके आदर्शको उसके व्यावहारिक रूपसे अलग करे और देखे कि जो कठिनइया उसमें उत्पन्न होती है वह समाजवादका अविभाज्य अग है या केवल परिस्थितिके कारण उत्पन्न होती है। समाजवादके पक्षके सारे परम्परागत तर्क यदि असत्य भी सिद्ध हो जाते है तो भी उसकी मूल भावना-स्वस्थ और सुन्दर है।

यह एक बडे दुर्भाग्यकी बात है कि इस विषयका शास्त्रीय अध्ययन करने वाले विद्यार्थी भी समाजवादके सम्बन्धमें अपनी रुचि-अरुचि और पूर्व निश्चत धारणाओके शिकार बन जाते है। इस प्रकार एक जर्मन अर्थ-शास्त्री श्री रोशर (Roscher) कहते है कि समाजवाद 'उन प्रवृत्तियोका पोषक है जो सार्वजनिक हितका इतना अधिक ध्यान रखना चाहती है जितना मनुष्यकी प्रकृतिके अनुकूल नही है।' इसमें तो कोई सन्देह नही हो सकता कि यह परिभाषा अनेक शकाए उत्पन्न करने वाली है। इनका निर्णय कौन करेगा कि क्या मनुष्यकी प्रकृतिके अनुकूल है और क्या नही है? मनुष्य-स्वभावकी दोहाई देकर अपनी अकर्मण्यता छिपाने वाले आलसी लोग कम नही है। श्री हर्नशॉ (Hearn shaw) जैसे विद्वान् प्रोफेसर भी जब यह कहते है समाजवादकी ओर आकृष्ट होने वाले केवल दो ही वर्ग है—सनकी लोग और अपराधी वर्ग—तब स्पष्ट है वह अपनी द्वेष-भावनाके प्रवाहमे बह जाते है।

समाजवादकी अनेकरूपता (Many-sidedness of Socialism). सामाजवादकी कोई एक सटीक परिभाषा देनेमे जो इतनी अधिक कठिनाई पडती है उनका एक कारण है उसकी अनेकरूपता। मालिक और मजदूर अथवा पूजीपति और श्रमिक के बीच मुनाफेकी साझेदारीसे लेकर पैतृकवाद या 'मा-बाप, सरकार (Paternalism)' तक—जिससे यह आशाकी जाती है कि वह व्यक्तिके लिए सब कुछ कर दे—सब कुछ समाजवादके भीतर आ जाता है। एक आधुनिक असहिष्णु आलोचकका कहना है कि समाजवाद 'एक अनेक फनोवाला साप है, जब तक एक फन काटो तब तक उसके स्थान पर दूसरा निकल आता है'।

बाइबिल का उपदेश है 'जहा आदर्श कल्पना नही है वहा लोग नष्ट हो जाते है।' समाजवादको हम आदर्श कल्पना मान सकते है यद्यपि समाजवादके विरोधी उसे कोरी कल्पना या सपना कहेगे। समाजवाद एक दर्शन है और एक धर्म है—जीवनकी एक पद्धति है। फलत समाजवादकी कोई एक शास्त्रीय परिभाषा देना अथवा एक व्यापक ब्योरेवार नपा-तुला समाजवादी कार्य-क्रम पहलेसे ही तैयार कर देना आसान नही है। यह एक सजीव, सक्रिय आन्दोलन है जिसकी अपरिमित सम्भावनाए है। समाजवाद कोई एक बनी-बनाई योजना या निश्चित पद्धति नही है जो निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियोंसे मेल न खा

सके। समाजवाद समाजके कुछ लोगोंके वजाय सब लोगोका हित साधन करना चाहता है। राजनैतिक स्वाधीनताके लिए चलने वाले सघर्षका ही वह अगला कदम है-- प्रजातत्रके बाद दूसरी मंज़िल है। प्रजातत्रीय देशोमें हम लोगोको समाजवादसे परे जो कुछ भी स्वाधीनता मिली हुई है वह केवल भूखो मरनेकी स्वाधीनता है।

समाजवादकी परिभाषा (Definition of Socialism). जैसी कुछ भी अच्छी परिभाषा समाजवादकी कोई हो सकती है श्री सेलर्स् (Sellars) की परिभाषा वैसी ही है और वह यह है कि 'समाजवाद एक प्रजातत्रवादी आन्दोलन है जिसका उद्देश्य यह है कि समाजमें कोई ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो जिससे हर समय यथासम्भव अधिकतम न्याय और स्वाधीनता प्राप्त हो सके।' श्री हूगन (Hughan) ने समाजवादकी परिभाषा यह दी है 'श्रमिक वर्गका एक राजनैतिक आन्दोलन जिसका उद्देश्य है, उत्पादन और वितरणके मूल साधनों पर सामूहिक प्रभुत्व और प्रजातत्रीय व्यवस्था लागू करके शोषण का अन्त करना'।

समाजवादी विचारोंका विकास यद्यपि 'समाजवाद' शब्दका उपयोग पिछली शताब्दीके तीसरे दशकमें ही प्रारम्भ हुआ, फिर भी समाजवादी विचार उतने ही पुराने है जितना पुराना सभ्य मनुष्य स्वय है अर्थात् जितनी पुरानी हमारी सभ्यता है। हम यह कह सकते है कि समाजवाद आर्थिक क्षेत्रमें होने वाली औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) और विचारोंके क्षेत्रमें होने वाली फ्रासीसी राज्य-क्रान्तिकी मिली-जुली उपज है। पिछली शताब्दीके मध्य-काल तक तो समाजवादका स्वरूप बहुत कुछ स्वप्नदर्शी (Utopian) ही रहा। इस प्रारम्भिक समाजवादके प्रधान व्याख्याता थे श्री मोर, ओवेन फोरियर और सन्त साइमन (More, Owen, Fourier and Saint Simon)। यह सभी लोग आदर्शवादी और विवेकवादी थे और उनका विश्वास था कि वह समझा-बुझा कर और स्वय उदाहरण उपस्थित करके जातीय पैमाने पर समाजवादकी स्थापना कर देंगे। समाजवाद और साम्यवादके बीच स्पष्ट विभेद करनेका उन्होने कोई प्रयत्न नही किया। वास्तवमें जो आदर्श-समाज यह लोग स्थापित करनेकी आशा करते थे वह साम्यवादी था।

साम्यवादके इस प्रारम्भिक आदर्श कल्पना-मूलक और स्वप्नदर्शी स्वरूपको कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स (Karl Marx and Engels) ने परिवर्तित करके उसे एक ऐसे जनप्रिय आन्दोलनका रूप दिया जिसका आधार उनके कथनानुसार वैज्ञानिक था। मार्क्स स्वभावसे ही एक आन्दोलनकारी थे और उन्हें समझाने बुझानेकी शक्ति पर और एकाकी प्रयोगो पर बहुत कम विश्वास था। उन्होने वर्ग-युद्धकी धारणाका प्रतिपादन किया और इस बातकी घोषणा की कि मकान-मालिकोको किराया लेनेका, महाजनोको व्याज लेनेका और पूजीपतियोको मुनाफा खानेका कोई हक नही। उन्होने श्रमको ही आर्थिक मूल्यका स्रोत माना।

वर्तमान अवस्था तो सक्रमण (Transition) की स्थिति है जिसमें समाजवाद अपनी ठीक हालतमें आ रहा है। एक ओर समाजवाद और व्यक्तिवादमें परस्पर सघर्ष चल रहा है और दूसरी ओर समाजवाद और साम्यवादके बीच रस्साकशी हो रही है। अब यह कहना ठीक नही है, जैसा कि कुछ स्वार्थी लोग कहते है, कि 'मॉर्क्स आधुनिक समाजवादके पथ-प्रदर्शक थे और अब भी हैं।'

समाजवाद और अन्य व्यवस्थाएं (Socialism and Other Systems). हमेशासे समाजवादके शत्रु उसको बदनाम करनेकी ही रीति बरतते आए है। समाजवादको हम अराजकतावाद (Anarchism), सघवाद (Syndicalism), व्यापक नौकर-शाही (Bureaucracy) अथवा साम्यवादके साथ एकरूप नही बना सकते क्योंकि समाजवादका स्वरूप तत्वत विकास-मूलक और यथार्थवादी है। अराजकतावाद (उसके दार्शनिक विभेदको छोडकर) हिंसावादी और क्रान्तिकारी है। वह व्यक्तिवादका ही बिगडा हुआ अतिवादी रूप है। जो लोग समाजवादको एक व्यापक नौकरशाही मानते हैं वह ऐसा इसलिए करते है कि सरकारको एक बाहरी शक्ति माननेकी उन्हे आदत पड गई है, पर यदि, समाजवादके सिद्धान्तके अनुसार सरकार एक ऐसी सस्था है जिसे लोग स्वय अपने लिए स्थापित करते है और जनता जिसका एक अविच्छेद्य अग होती है तो राज्यके परिवर्तित कार्य क्षेत्रका अर्थ मा-बाप, सरकार या नौकरशाही कभी नही हो सकता।

यदि समाजवादको ठीक-ठीक समझना है तो साम्यवादके साथ उसका भ्रम नही करना चाहिए। समाजवाद उत्पादनके साधनो पर (और किसी-किसीके अनुसार वितरण पर भी) सामूहिक प्रभुत्वका समर्थन करता है, पर साम्यवाद सभी वस्तुओ पर सार्वजनिक प्रभुत्व और सभी वस्तुओके सार्वजनिक उपयोगका पक्षपाती है। जहा साम्यवादका आदर्श है प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक देना वहा समाजवादका उद्देश्य है प्रत्येक व्यक्तिको उसके श्रम और उसकी सामाजिक उपयोगिताके अनुसार पारिश्रमिक देना। समाजवाद व्यक्तिगत आमदनी और व्यक्तिगत सम्पत्तिके सिद्धान्तका पोषण करता है जब कि साम्यवाद इसके औचित्यको स्वीकार नही करता। समाजवाद सुधार-मूलक है और साम्यवाद क्रांति-मूलक। साम्यवाद अपेक्षाकृत रूपमें अधिक अस्पष्ट, अधिक भावनात्मक (Sentimental) और नौकरशाहीकी ओर अधिक झुका हुआ है। समाजवाद राज्यका एक मित्र है और साम्यवाद एक ऐसे समयकी प्रतीक्षा करता है जब धीरे-धीरे राज्य समाप्त हो जायगा।

समाजवादका कार्य-क्रम (Programme of Socialism). एक आधुनिक लेखकने समाजवादके साधारण स्वरूपका निचोड इन शब्दोमें व्यक्त किया है कि समाजवाद का उद्देश्य है उत्पादनके साधनोका राष्ट्रीयकरण करना जिससे लोगोकी आयमें धीरे-धीरे बराबरी स्थापित की जा सके। समाजवाद मानव-जातिके कल्याणकी अपेक्षा व्यक्तिगत लाभको कम महत्त्व देता है। इसकी मान्यता यह है कि उत्पादनका उद्देश्य उपयोग होना चाहिए न कि लाभ या शक्ति-सचय। समाजवाद इस मतका समर्थन करता है कि आत्म-विकासके साधन और अवसर सबके लिए समान रूपसे प्राप्त होने चाहिए।

अग्रेजी विश्व-कोष (Encyclopædia Britannica, ११ सस्करण) में समाजवादकी परिभाषा इस प्रकार की गई है 'वह नीति अथवा सिद्धान्त जिसका उद्देश्य है केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक अधिकार-सत्ताके माध्यमसे सम्पत्तिका आजकी अपेक्षा अधिक उत्पादन और अधिक न्याय-युक्त वितरण।' जिन महत्त्वपूर्ण उपायोंसे समाजवादी लोग सम्पत्तिके अधिक सुन्दर वितरण और अधिक सामाजिक नियत्रण और नियमन स्थापित करनेका प्रस्ताव रखते है वह है

(१) महत्त्वपूर्ण उद्योगो और राजकीय कर्मचारियोको सार्वजनिक प्रभुत्व और नियत्रणमें लाना,

(२) उद्योगोका सचालन व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे न करके सामाजिक आवश्यकताओ की दृष्टिसे करना, और

(३) व्यक्तिगत लाभका उद्देश्य हटा कर उसके स्थान पर सामाजिक सेवाके उद्देश्य की स्थापना करना।

समाजवाद एक ऐसी भावी सामाजिक व्यवस्थाकी कल्पना करता है जो युद्धके वजाय भाईचारे पर और आजीविकाके साधनोके लिए प्रतियोगिता-मूलक सघर्षके वजाय उत्पादन और वितरणके क्षेत्रमें एक विवेक-पूर्ण सुनिश्चित योजनाके अनुकूल होने वाले एक पारस्परिक सहयोग पर आश्रित होगा। इस सहयोगका उद्देश्य उन सब लोगोंका लाभ होगा जो अपने मन, वचन, कर्म किसी भी साधनसे उसमें सहायक होगे। इगलैडके मजदूर-दलने इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए जो सुझाव रखे है उनमें से कुछ ये है

(१) राज्यमें एक न्यूनतम वेतन (Minimum Wage) को सार्वभौम रूपसे लागू करना,

(२) उद्योगोका प्रजातन्त्रीय नियमन, और

(३) राष्ट्रीय अर्थ-नीतिमें एक क्रान्ति लाना तथा वचतकी सम्पत्तिका (Surplus Wealth) सार्वजनिक हितके लिए उपयोग करना।

समाजवादसे लाभ (Advantages of Socialism) श्री सेलर्स (Sellars) का विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्था होने पर निम्नलिखित उपयोगी परिवर्तन किये जा सकते है

(१) जहा कही सम्भव हो वहा सघो या समुदायोके प्रभुत्वकी व्यवस्था लागू करके वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें जो गडवडी फैली है उसे कम करना।

(२) विज्ञापनोमें खर्च किए जाने वाली अपार सम्पत्तिकी वर्बादी रोक कर, दलाली की विशाल सेनाको समाप्त करके और उद्योगोको सुसमृद्ध वना कर वर्बादीको रोकना।

(३) समाजके लिए हानिकारक प्रतियोगिताको रोकना।

(४) समाजिक सुरक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और पुनर्वास सम्बन्धी व्यापक योजनाओ को वना कर अकारण फैली हुई दरिद्रताको समाप्त करना।

(५) आवश्यक तात्त्विक शिक्षा और मनचाहा काम चुननेके लिए अधिक अवसर दे कर जनताकी सुप्त शक्ति और सामर्थ्यका उपयोग करना।

(६) श्रम वचाने वाले साधनोको वास्तवमें श्रम वचाने वाला साधन वनाना।

(७) प्रत्येक व्यक्तिके लिए उचित अवकाशकी व्यवस्था करना और सामाजिक परोपजीवियो (Social Parasites) या हरामखोरोको समाप्त करना।

(८) एक शारीरिक और मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ समाजकी सृष्टि करना।

सक्षेपमें समाजवादका अर्थ होगा हानिकारक प्रतियोगिताकी समाप्ति, पूजीपतिका अन्त और जमीदारकी जमीदारीकी समाप्ति।

इन सव लाभदायक वातोकी आशा हम समाजवादकी स्थापना होने पर कर सकते है। पर इनके वावजूद, कुछ ऐसी व्यावहारिक कठिनाइया है जिन्हे हल करना समाजवाद के लिए जरूरी है। इनके हल होने पर ही हम उसके सम्वन्धमें कोई सहानुभूति-पूर्ण विचार कर सकते है।

समाजवादकी कठिनाइयां (Difficulties of Socialism) आलोचकोका

कहना है कि समाजवादका अर्थ है एक सत्तावाद (Authoritarianism) और नौकरशाहीका बडा व्यापक नियत्रण या अधिकार, व्यक्तिगत व्यापारके स्थान पर सरकारी फैक्ट्रिया या कारखाने और सरकारी गोदाम। प्रत्येक व्यक्ति राज्यका नौकर या वेतन-भोगी हो जायगा। प्रत्येक पदार्थकी समाजको कितनी आवश्यकता है इसका निश्चय बराबर सरकारी रसीदो और हिसाब आदिसे होता रहेगा। सरकारी अधिकारी लोगोको उनका काम बताएगे और प्रत्येकके लिए मिलने वाले पारिश्रमिक या पारितोषिक और अवकाशको निर्धारित करेंगे। यद्यपि यह आपत्ति काफी सबल आपत्ति है फिर भी प्रजा-तत्रीय समाजवादके साथ न्याय करनेके लिए यह कहना ही पडेगा कि प्रजा अपने आपके लिए जो कुछ करती है उसे मा बाप सरकार (Paternalism) की पद्धति नही कहा जा सकता। इसमे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सरकार किसी वर्ग विशेषकी प्रति-निधि या उसका साधन न रह कर समूची जनताके हाथोका एक साधन बन गयी है जिसका प्रयोग अपने लाभके लिए करना जनताने सीख लिया है। 'मजदूर-सघो और राजनैतिक सस्थाओमें नियत्रणकी जिन पद्धतियोका धीरे-धीरे विकास हो रहा है उन पद्धतियोका प्रयोग जरूरतसे ज्यादा बढने वाली अधिकार-वृत्तिको रोकनेके लिए निश्चित रूपसे किया जायगा'—सेलर्स (Sellars)।

कहा जाता कि समाजवाद वर्ग-युद्धका उपदेश देता है। वह स्वार्थ-मूलक, भौतिकता-वादी और उपयोगितावादी है। समाजवाद पूजीपतियो पर सर्वहारा दलका आक्रमण है। इस आपत्तिके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि वर्ग-युद्ध तत्वत मार्क्सवादी सिद्धान्त है, प्रजातत्रीय समाजवादका सिद्धान्त नही है। यदि आज समाजवादमें वर्ग-युद्धके समर्थन के उदाहरण मिलते है तो उन्हे व ताओकी वक्तृत्व-कला और वोट पानेकी चाल समझनी चाहिए न कि एक निश्चित सिद्धान्त। इसके अतिरिक्त आधुनिक व्यक्तिवादी सामाजिक व्यवस्थामें एक दूसरे प्रकारका वर्ग-युद्ध चल ही रहा है कुछ अत्युक्तिके साथ हम इस सघर्षको इस प्रकार व्यक्त कर सकते है कि समृद्धिशाली या सम्पन्न वर्गने सर्वहारा या दरिद्र-दल पर हमला बोल रखा है।

समाजवाद कुछ थोडेसे व्यक्तियोके कल्याणकी अपेक्षा समूचे सामाजके अथवा मानव-जातिके कल्याणका समर्थन करता है।

समाजवादी व्यवस्थामें उत्पादनके लिए आवश्यक प्रेरणा भी नही मिलती। व्यक्ति-गत प्रेरणा, उद्योग और स्वाधीनताके लिए कोई स्थान न होनेके कारण उत्पादनकी कुशलता कम हो जायगी। इस आपत्तिके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि इस प्रकारकी शका करनेका क्या यह अर्थ नहीं है कि हम मनुष्यकी प्रकृतिको बहुत ही निम्न कोटिकी मानते है? क्या यह जरूरी है कि केवल स्वार्थ ही सर्वदा मनुष्यकी प्रेरक शक्ति हो? जैसे-जैसे मनुष्यकी सामाजिक भावनाकी वृद्धि होगी वैसे-वैसे व्यक्तिगत लाभकी अपेक्षा मनुष्यके दूसरे प्रेरक उद्देश्योको जागरूक करना क्या सम्भव नही हो सकता? और आज भी क्या हम नही देखते कि जैसे-जैसे हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्वोका अनुभव अधिकाधिक करते जाते है वैसे-वैसे भौतिक पदार्थोके समान ही अभौतिक या सूक्ष्म (non-material) भावना-मूलक पुरस्कार या पारितोषिक भी व्यक्तियोको रचना-मूलक कार्योंके लिए प्रेरित करते है? श्री बर्ट्रेंड रसेलका कहना है कि मनुष्यमें जो मूल भावना स तुष्ट रहनेके लिए व्यग्र रहती है वह है उसकी 'रचनात्मक प्रेरणा (creative impulse)'। प्रोफ़ेसर

हॉकिंग भी लगभग यही बात कहते है। उनका कहना है कि मनुष्यकी जो लालसा सन्तुष्ट होनेके लिए व्यग्र रहती है वह है शक्ति या अधिकार-सत्ताकी लालसा' अथवा आत्म विकास की लालसा। जो कार्य मनुष्यके लिए उपयुक्त और शोभनीय हो उसे करना या जन-सेवा का कार्य करना क्या स्वय अपने आपमें एक पुरस्कार नही है?

यह कहा जाता है कि सम्भवत समाजवादमें उत्पादन कम हो जायगा। यदि यह सच भी हो तो क्या यह जरूरी है कि हम उसे एक आफत ही मानें। हमेशा हम उत्पादनके विचारसे ही परेशान क्यों रहें? क्या यह जरूरी नही है कि कभी-कभी हम न्याय-युक्त वितरण पर भी ध्यान दें? भविष्यकी समस्या उत्पादनकी अपेक्षा वितरणकी समस्या अधिक है। यह भी तर्क किया जाता है कि अपने वृहत् परिमाणके कारण ही बड़े-बड़े उद्योगोंकी व्यवस्था राज्यके आधार पर नही की जा सकती। समाजकी हमारी वर्तमान व्यवस्थामें भी यह नही कहा जा सकता कि जितना ही अधिक विशाल परिमाणका कोई उद्योग होगा उतना ही अधिक मितव्ययिताके साथ उसका सचालन हो सकता है। हमारा उत्तर यह है कि कमसे कम कुछ क्षेत्रोमें राष्ट्रीयकरणकी अपेक्षा स्थानीय नियत्रण (municipalisation) अधिक लाभदायक हो सकता है। पर अनुभव बढनेके बाद डाक-तारकी व्यवस्थाका राज्य द्वारा किया जाने वाला प्रबन्ध क्रमश बढाया जा सकता है और धीरे-धीरे जगलो, खानो, रेलो, जलीय यातायात और जल-विद्युत् आदिको भी राजकीय प्रवन्धके भीतर लाया जा सकता है।

समाजवादके आलोचकोका कहना है कि यह व्यवस्था तो लोगोको ऊचेसे नीचे गिराकर बराबर करने वाली व्यवस्था है। हमारे आजके समाजमें जो कुछ धनी और शेष गरीब है उसके बजाय समाजवादी व्यवस्थामें सभी लोग एक समान गरीब और दुखी होगे, सभी लोग एक 'दीन समाजके सदस्य' बन जायेंगे। इस आलोचनाके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि क्या समाजवादका यह अर्थ नही हो सकता कि कुछ लोगोको नीचे गिराकर सामाजिक स्तर बराबर करनेके बजाय लोगोको ऊपर उठाकर सामाजिक स्तर बराबर किया जाय। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नही है कि समाजवाद व्यक्तिकी सामर्थ्य और प्रतिभाको कुचल दे। पर समाजवादकी मान्यता यह जरूर है कि 'इस शक्ति और प्रतिभाका उपयोग केवल व्यक्तिगत स्वार्थके बजाय अन्य उच्च उद्देश्योकी सिद्धिमें हो'। मानव स्वभावको बदल सकनेके सम्बन्धमें समाजवाद बहुत ही आशावादी है और यह आशावादिता सभी महान् धर्मो और नैतिक व्यवस्थाओमें पायी जाती है।

सम्पत्तिसे बढकर व्यक्ति अन्य जिस वस्तुकी अधिक इच्छा रखता है वह है नियत्रण का अवसर पानेकी इच्छा। यह कहा जाता है कि समाजवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको भुला देता है। जिस कार्यमें स्वभावत मनुष्यकी अभिरुचि होती है उसके करनेमें उसे वास्तविक सन्तोष प्राप्त होता है, विशेषकर अपने ढगसे उसे करनेमें। व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्यको अपने व्यक्तित्वका विकास करनेके लिए सबसे अच्छा अवसर देती है। यह सम्पत्ति मूर्त या पार्थिव अमरता (Concrete immortality) है। इस आपत्तिका हमारा उत्तर है कि यह यथेष्ट रूपसे प्रभावपूर्ण आपत्ति नहीं है। मनुष्यके व्यक्तित्वका विकास अन्य व्यक्तियोंके जीवन और भाग्य पर अपना काबू रखनेके बजाय अन्य प्रकारसे भी हो सकता है।

समाजवादका मूल्य-महत्त्व (The Value of Socialism) प्रत्येक समाज और राजनैतिक सघमें समाजवादके लिए आन्दोलन होना आवश्यक है। यदि समाजवाद

का कोई रचनात्मक महत्व नही भी है तो कमसे कम उसका एक बडा उपयोगी निषेधात्मक मूल्य तो है ही। अनेक पश्चिमी देशोमें समाजवादने श्रमिक वर्गोको इतनी एकता और इतना गौरव प्रदान किया है जितना उन्हें पहले कभी नही प्राप्त था। अब वह अपने आपको गुलाम या 'जिन्दा औजार' नही समझते। अब वह एक न्यूनतम आर्थिक सुविधा की माग बलपूर्वक पेश करते है। वेतनोमे वृद्धि, 'कामके घटोमे कमी', मिलो और कारखानो की स्थितियोमें सुधार आदि सब बाते, ट्रेड-यूनियन-आन्दोलनके द्वारा ही पूरी हुई है। ट्रेड-यूनियन-आन्दोलनको हम समाजवादका आर्थिक पहलू कह सकते है।

समाजवाद व्यक्तिगत आत्मबलिदान और जन-सेवाके मानदडको ऊचा उठाता है। समारके अनेक प्रगतिशील देशोमें हम जो एक जाग्रत् सामाजिक भावना और विवेक देखते है उसका श्रेय कुछ अशोमे समाजवादको भी है।

समाजवाद व्यक्तिके चरित्र पर वातावरणके प्रभावकी ओर सकेत करता है। उसने लोगोको यह समझने—स्वीकार करनेके लिए विवश किया है कि व्यक्तिके आत्मिक विकास के लिए भी एक निश्चित भौतिक आधार आवश्यक है। समाजवादने लोगोको विवश किया है कि वह १८वी शताब्दीके व्यक्तिवादमे सबके लिए समान अवसर वाले जीवनदायी सिद्धान्तको भी स्थान दे। आजकलका जो व्यक्तिवाद है वह अन्धव्यक्तिवाद है—जिसका उद्देश्य है 'पार लगो चाहे डूबो'—और शुद्ध समाजवादके बीच एक मध्यम मार्ग है।

समाजवाद हमारा ध्यान इस तथ्यकी ओर आकर्षित करता है कि व्यक्ति प्राय उन परिस्थितियोका शिकार हो जाया करता है जिनके अस्तित्वके लिए न वह उत्तरदायी है और न जिन पर उसका कोई वश है।

समाजवाद यह सिद्ध करता है कि सामाजिक प्रजातत्रके बिना राजनैतिक प्रजातत्र अपूर्ण है अर्थात् समानता और बन्धुत्वकी भावनाके अभावमे प्रजातत्र खोखला है। भारत जैसे देशमें जहा अनेको प्रकारके अनुचित विशेषाधिकार तथा सामाजिक असमानताए प्रचलित है और जहा ऐसे लोग भी सम्मान और उपाधियोंके पीछे पागल दिखायी देते हैं जिनसे साधारणत हम कुछ अच्छी आशाए रख सकते हैं, वहा पर तो समाजवादकी भावना से बहुत अधिक कल्याणकी आशा की जा सकती है।

समाजवादने ससारका ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि सामाजिक न्यायकी बहुत बडी तात्कालिक आवश्यकता है। सर विलियम हरकोर्ट (Sir William Harcourt) का कहना है, 'अब हम सभी समाजवादी हैं', क्योकि हम सभी किसी न किसी हद तक सामाजिक न्यायकी स्थापना करना चाहते है। 'समाजकी कोई भी ऐसी स्थिति सन्तोषजनक या स्थायी रूपसे बरदाश्तकी जाने लायक नहीं कही जा सकती जिसमे इतनी गरीबी और इतनी तकलीफे हो जितनी आज है'। समाजवादियोकी इच्छा यह है कि किसी भी व्यक्ति को तब तक आराम-चैन करनेका मौका न मिले जब तक वह पर्याप्त काम न कर ले और किसीके पास भी आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति या समृद्धि तब तक न इकट्ठी होने पाये जब तक प्रत्येक व्यक्तिकी न्यूनतम आवश्यकताओकी पूर्ति न हो जाये।

एक विवेकपूर्ण, विकासवादी (evolutionary) और यथार्थवादी (realistic) समाजवाद—जिसकी स्थापना क्रमिक रूपसे धीरे-धीरे हो—यही एक स्वस्थ, सुन्दर सिद्धान्त है। समाजवादके कुछ विशिष्ट रूप गलत हो सकते हैं, पर समाजवादकी भावना बिल्कुल ठीक है।

SELECT READINGS

BOBER, M M —*Karl Marx's Interpretation of History.*
BOSANQUET, B —*The Philosophical Theory of the State*—Ch VIII
COLE, G D H —*Fabian Socialism, The Intelligent Man's Guide to the Post-War World*
DAVIS, J —*Contemporary Social Movements*
DAWSON, CHRISTOPHER—*Religion and the Modern State*
GARNER, J W —*Introduction to Political Science*—Chs IX and X
GARNER, J W —*Political Science and Government*—Ch XVII
GETTELL, R G —*Introduction to Political Science*—Chs XXIV and XXV
GILCHRIST, R N —*Principles of Political Science*—Chs XIX and XX
GOLLANCZ, VICTOR—*Our Threatened Values*
KOESTLER, ARTHUR—*The Yogi and the Commissar*
Edited By LEWIS, JOHN—*Christianity and the Social Revolution*
LEACOCK, S —*Elements of Political Science*—Part III
MACIVER, R M —*The Modern State*—Ch V
SIDGEWICK, H.—*Elements of Politics*—Chs IV, IX and X
WILSON, W —*The State*—Ch XV

प्रभुसत्ता और बहुलवाद
(Sovereignty and Pluralism)

१. प्रभुसत्ताकी परिभाषा (Definition of Sovereignty).

प्रभुसत्ता राजनीति विज्ञानकी धारणाओं और मान्यताओंमें से एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण धारणा है फिर भी और किसी दूसरे शब्द पर इतना अधिक विवाद और भ्रम नहीं उत्पन्न हुआ जितना इस शब्द पर। इस शब्दका प्रयोग अनेक प्रकारसे होता है और यह प्रयोग परस्पर आसानीसे एक दूसरेसे अलग नहीं किए जा सकते। सॉवरेनिटी (Sovereignty—प्रभुसत्ता) शब्दका मूल है लैटिन भाषाका सुपरैनस (Superanus) शब्द जिसका अर्थ है सबसे श्रेष्ठ या सर्वोपरि। प्रभुसत्ताका अर्थ यह है कि प्रत्येक परिपूर्ण या स्वतन्त्र राज्यमें एक ऐसी अन्तिम अधिकार-सत्ता होती है जिसके आगे फिर कोई अपील नहीं होती। यह अधिकार सत्ता देशके बाहरी और भीतरी सभी मामलोंमें सर्वोपरि होती है। देशके भीतर किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति समूहको प्रभुसत्ताके निश्चय और फैसलेके विरुद्ध काम करनेका कोई वैधानिक अधिकार नहीं होता, विदेशी मामलोंमें भी प्रभु-शक्ति-सम्पन्न राज्य सर्वोपरि होता है। वह स्वयं ही अपना स्वामी है। अन्तर्राष्ट्रीय समझौते और सन्धियां उस पर वैधानिक रूपसे लागू नहीं होते।

प्रभुसत्ता की परिभाषाएं तमाम (many) और अनेक प्रकारकी (varied) हैं। पश्चिमी लेखकोंमें से सबसे पहले प्रभुसत्ताका एक व्यवस्थित सिद्धान्त स्थापित करनेवाले श्री बॉडिन (Bodin) ने इसकी परिभाषा दी है, 'नागरिकों और प्रजा पर ऐसी सर्वोच्च आधार-शक्ति जो कानून द्वारा नियन्त्रित न हो।' पचास वर्ष बाद श्री ग्रोशियस (Grotious) ने प्रभुसत्ताकी परिभाषा दी है, 'ऐसे किसी व्यक्तिमें निहित सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति जिसके कार्य किसी दूसरेके अधीन न हों और जिसकी इच्छाका कोई उल्लघन या अतिक्रमण न कर सके'। प्रभुसत्ता 'किसी राज्यका शासन करनेकी नैतिक शक्ति है।'

आधुनिक लेखकोंमें से एक फ्रांसीसी प्रोफेसर ड्युइट (Duguit) का कहना है कि उनके देशमें साधारणतया प्रभुसत्ताका अर्थ लोग समझते हैं 'राज्यकी वह शक्ति जिसके बल पर वह आज्ञाएं या आदेश देता है; प्रभुसत्ता राज्यके रूपमें सगठित जातिकी इच्छा है। यह वह अधिकार है जिसके बल पर राज्यकी सीमाके भीतर रहनेवाले सभी व्यक्तियोंको बिना किसी उपाधि या शर्तके आज्ञाएं दी जाती हैं।' एक अमेरिकन लेखक श्री बर्गेस (Burgess) प्रभुसत्ताकी परिभाषा करते हैं, 'व्यक्ति और व्यक्ति-सघोंके रूपमें समस्त प्रजा पर मौलिक (Original), परमपूर्ण (Absolute) और असीम अधिकार।' दूसरी जगह वह प्रभुसत्ताको 'लोगोंको आदेश देने और उनका पालन करानेकी स्वतन्त्र और स्वयं प्राप्त शक्ति कहकर पुकारते हैं। श्री पोलक (Pollock) ने प्रभुसत्ताकी

परिभाषा की है 'प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न तो स्थायी है और न किसी दूसरेके द्वारा दी गई है और न वह किन्ही ऐसे नियमोंके अधीन है जिन्हें वह बदल न सके।' श्री विलोवी (Willoughby) का कहना है 'प्रभुसत्ता राज्यकी सर्वोच्च इच्छा है।' अन्तत श्री क्रेननवर्ग (Kranenburg) के अनुसार यह राज्यकी प्रवृत्ति ही है कि वह 'दूसरो पर विना किसी उपाधि या शर्तके अपनी इच्छा लागू करे, क्योकि शासनकी यही परिभाषा है और यह राज्यका एक मौलिक तत्त्व है कि वह शासन करे (४५ १३९)।'

२ प्रभुसत्ताकी विशेषताए (Characteristics of Sovereignty)

प्रभुसत्ताके परम्परागत सिद्धान्तका विवेचन करनेवाले लेखकोने इसकी निम्न-लिखित विशेषताए वतलायी है

१ परमपूर्णता (Absoluteness),
२ सार्वभौमिकता (Universality),
३ अविच्छेद्यता (Inalienability),
४ स्थायित्व (Permanence),
५ अविभाजनशीलता (Indivisibility)।

१ परमपूर्णता (Absoluteness)

प्रभुसत्ताको परमपूर्ण और असीमित कहा गया है। धरती पर कोई ऐसी शक्ति नही है जो उसका नियत्रण कर सके। (क) देशके भीतर प्रभुसत्ता राज्यके भीतर रहनेवाले सभी व्यक्तियो और व्यक्ति-समूहोके ऊपर सर्वोच्च अधिकार रखती है। जो कुछ भी बन्धन या सीमाए प्रभुसत्ता पर लागू होती हैं वह स्वय उसीके द्वारा लागू की हुई होती है। इसलिए वह राज्य द्वारा एक वैधानिक रीतिसे हटाये जा सकते हैं। श्री गेटेल के शब्दोमें, 'अपरिवर्तनीय (Unchangeable) विवान एक वैधानिक असम्भावना (Impossibility) है (२४ ९४)।' (ख) बाहरी मामलोमें भी प्रभुसत्ता सर्वोपरि मानी जाती है। 'दूसरे राज्योकी ओरसे किसी प्रकारका भी हस्तक्षेप या दबाव एक प्रभुसत्ता-पूर्ण राज्य पर नही डाला जा सकता', वह उससे मुक्त है (२४ ९५)। सन्धिया, अन्तर्राष्ट्रीय समझौते आदि प्रभुसत्ताको कमजोर नही करते क्योकि उनके पीछे ऐसी कोई शक्ति नही होती जो एक प्रभुसत्तापूर्ण राज्यको विवश कर सके। वह उसी हद तक माने जाते है जिस हद तक एक प्रभुसत्तापूर्ण राज्य उनकी मान्यताको स्वय स्वीकार कर ले। आज तक यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें, अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी व्याख्या भर कर सकती हैं, उस विधानको लागू करनेकी उनमें कोई शक्ति नही है।

प्रभुसत्ताकी शेष विशेषताए इस विशेषताकी ही उपसिद्धिया या इसीके परिणाम हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रभुसत्ता राज्यके भीतरके सभी व्यक्तियों, सघों, समुदायो और सभी वस्तुओ पर सर्वोच्च अधिकार रखती है।

२. सार्वभौमिकता या सर्वव्यापकता (Universality or all comprehensiveness)

पर इसका यह अर्थ नही कि राज्य अपने अधिकार-क्षेत्रको किन्ही मामलोमें सकुचित या विलीन कर देनेका अधिकार खो देता है। कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह अपना अधिकार वताकर प्रभुसत्तासे छुटकारेका दावा नही कर सकता। फ्री मेसन्स (Free Masons) जैसी एक विश्वव्यापी सुसगठित सस्था भी राज्यके

ऊपर होने या राज्यसे श्रेष्ठ होनेका दावा नही कर सकती। यह संघ भी व्यक्तिगत राज्यो के विधानोके अधीन है।

प्रभुसत्ताकी सार्वभौमिकतासे मुक्त होनेका एक ही स्पष्ट उदाहरण मिलता है। जैसा श्री गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने कहा है कुछ देशोमें कूटनीतिक प्रतिनिधियोको यह राज्योत्तर प्रभुसत्ता (Extra-territorial Sovereignty) प्राप्त होती है। श्री गिलक्राइस्ट इस तथ्यकी व्याख्या इस प्रकार करते है: 'किसी भी देशमे राजदूतावास उस देशकी सम्पत्ति है जिस देशका प्रतिनिधित्व वह राजदूतावास करता है। राजदूतावास के सदस्य अपने देशके विधानके ही अधीन होते है। पर वास्तवमे यह एक अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता या तहज़ीबकी बात है और इसे प्रभुसत्तासे वास्तविक मुक्ति नही कह सकते। कोई भी राज्य अपनी प्रभुसत्ताका प्रयोग करते हुए इस प्रकार दिये गये विशेषाधिकारो और सुविधाओको अस्वीकार कर सकता है (२८ ११०)।

यदि प्रभुसत्ता परमपूर्ण और असीमित है तो यह बात भी समझमे आती है कि वह अविच्छेद्य होगी। कोई भी प्रभुसत्तापूर्ण राज्य अपनी तात्त्विक या मौलिक विशेषताओमेंसे किसी एकको भी विना अपनेको नष्ट किये छोड नही सकता। एक अमरिकन लेखक श्री लीबर (Lieber) लिखते है जैसे एक वृक्ष अपने उगने और पनपनेके अधिकारको नही छोड सकता अथवा एक व्यक्ति विना अपना विनाश किये अपने जीवन और व्यक्तित्वको अपनेसे अलग नही कर सकता, ठीक उसी प्रकार राज्यसे प्रभुसत्ताको अलग नही किया जा सकता। एक राज्य अपने भू-प्रदेशका कुछ अंश दूसरे राज्यको दे सकता है। ऐसा करके वह राज्य अपने उतने प्रदेश पर अपनी प्रभुशक्तिको दूसरे राज्यके हाथो समर्पित कर देता है पर इससे उसकी प्रभुशक्ति नष्ट नही हो जाती। उसके बाद दो प्रभुसत्तापूर्ण अधिकारी हो जाते है जिनका दो विभिन्न भू-प्रदेशो पर अधिकार होता है। इसी प्रकार किसी सम्राट् या शासक द्वारा गद्दी छोड देनेका यह अर्थ नही होता कि प्रभुसत्ताका विच्छेद हो गया। 'इससे केवल शासनके स्वरूपमें अन्तर आ जाता है, सम्राट्के पद-त्यागमे उसका स्थान एक नाममात्रका शासक ग्रहण कर लेता है (२८ १११)।'

३. अविच्छेद्यता (Inalienability)

श्री रूसो जो कि प्रभुसत्ताकी अविच्छेद्यताके समर्थक थे, उनका कहना है कि शक्ति हस्तान्तरित की जा सकती है अर्थात् दूसरोको दी जा सकती है पर इच्छा नही। प्रभुसत्ता राज्यके व्यक्तित्वका तत्त्व है और उसे पृथक् करना राज्यकी आत्महत्याके समान है।

प्रभुसत्ता उतनी ही स्थायी है जितना कि स्वयं राज्य। जब तक राज्यका अस्तित्व कायम है तब तक प्रभुसत्ता कायम है। दोनो एक दूसरेसे अविच्छेद्य है। किसी सम्राट् या राष्ट्रपति (President) के पद-त्याग या पद-च्युत होनेका यह अर्थ नही है कि प्रभुसत्ता समाप्त हो गई या रुक गई। प्रभुसत्ता तुरन्त दूसरे पदाधिकारीके हाथमे आ जाती है। 'यह केवल शासनमें एक व्यक्तिगत परिवर्तन होता है। इससे राज्यके अविरत प्रवाहमें—उसकी अटूट गतिमें कोई रुकावट नही होती (२८ १११)'।

४. स्थायित्व या सर्वकालीनता (Permanence or Perpetuity)

प्रभुसत्ताकी परमपूर्णताका ही तर्क-संगत निष्कर्ष है उसकी अविभाज्यता। श्री गेटेल लिखते है 'यदि प्रभुसत्ता परमपूर्ण नही है तो किसी राज्यका कोई अस्तित्व नही है, यदि प्रभुसत्ता विभाजित है तो एकसे अधिक राज्योका अस्तित्व हो जाता है (२८.९५)।'

कुछ वहुलवादी (Pluralist) इस दृष्टिकोण पर आपत्ति करते हैं। वह लोग प्रभुसत्ता को राज्य और राज्यके भीतरके उन अन्य सघो और व्यक्ति-समूहोके बीच विभाजित करते हैं जो मनुष्यके विभिन्न हितोकी सिद्धि करते हैं। यदि इस विचारको कार्य-रूप दिया जाये तो इसका अन्तिम परिणाम होगा राज्यकी विशृंखलता। जो लोग वहुलवादी नही है वह भी कभी कभी विभाजित प्रभुसत्ता (Divided Sovereignty) के

५ अविभाज्यता (Indivisibility)

सिद्धान्तका समर्थन करते हैं विशेषकर सघ-राज्योके सम्वन्धमें। हारवर्ड के एक भूतपूर्व सभापति श्री ए० एल० लोवेल (A L Lowell) ज़ोर देकर कहते हैं कि 'एक ही भू-प्रदेशमें दो प्रभुसत्ताओका अस्तित्व सम्भव है जो कि एक ही प्रजावर्गको विभिन्न मार्गोमें अपने-अपने आदेश देती हो (२२ १७५)।' इसी प्रकार लार्ड ब्राइस (Bryce) का कहना है कि वैधानिक प्रभुसत्ता 'दो सम्बद्ध सम शक्तियोमें', अर्थात् एक दूसरेसे मिली हुई दो बराबरकी ताकतोमें, विभाजित की जा सकती है (२२ १७५)।' सम्भवत इन लेखकोके मस्तिष्कमें सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का वह मामला है जिसमे वहाके सर्वोच्च न्यायालयने यह फैसला दिया था कि जहा तक उन अधिकारो और शक्तियोका सम्बन्ध है जो राष्ट्रीय सरकारके अधिकार-क्षेत्रमें रखी गई है वहा तक सयुक्त राष्ट्रोको प्रभुसत्ता प्राप्त है और जो अधिकार और शक्तिया राज्योंके लिए सुरक्षित रखी गई है उनके सम्बन्धमें राज्योको प्रभुसत्ता प्राप्त है। श्री केल्हून तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध विचारक जिनका दृष्टिकोण इनसे भिन्न है अमेरिकाकी इन परिस्थितियोकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि प्रभुसत्ता, जो कि एक अविभाज्य इकाई है, अमेरिकामें कुछ मामलोमें राष्ट्रीय सरकारके द्वारा और कुछ दूसरे मामलोमें राज्य-सरकारोके द्वारा प्रगट होती है। दूसरे शब्दोमें सघ-सरकार और राज्य-सरकारोके बीच प्रभुसत्ताका बटवारा नही हुआ वल्कि प्रभुसत्ता उस परोक्ष या अदृश्य शक्तिमें निहित रहती है जिसमें दोनो सरकारोकी अधिकार-शक्तियोको निश्चित करनेकी शक्ति निहित रहती है और जो इन शक्तियो और अधिकारोको इन सरकारोके बीच फिरसे इस प्रकार बाट सकती है कि इनमेंसे किसीके भी अधिकार-क्षेत्र घट या बढ जायें (२२ १७८)।' इस समूची विवेचनाका निष्कर्ष श्री केल्हून (Calhoun) के शब्दोमें इस प्रकार है 'प्रभुसत्ता एक समग्र (Entire) या समूची वस्तु है, उसके विभाजन करनेका अर्थ है उसे नष्ट करना। किसी भी राज्यमें प्रभुसत्ता सर्वोच्च शक्ति है और आधी प्रभुसत्ता कहना उतना ही असगत और हास्यास्पद है जैसे आधा वर्ग या आधा त्रिभुज कहना (२१ १७३)।' अथवा दूसरे शब्दोमें 'यह समझानेमें तो कोई कठिनाई नहीं है कि प्रभुसत्ता से सम्बन्ध रखनेवाली शक्तियोको किस प्रकार विभाजित किया जाये, किस प्रकार एक विभागको एकके हाथोमें और दूसरे विभागको दूसरेके हाथोमें उपयोग करनेके लिए सौंप दिया जाये अथवा किस प्रकार प्रभुसत्ताको एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियोमें निहित किया जाये। पर यह तो समझके बाहरकी असम्भव-सी बात है कि किस प्रकार स्वय प्रभुसत्ताकी सर्वोच्च शक्तिको विभाजित किया जा सकता है।

३ प्रभुसत्ताके विभिन्न अर्थ (Different Meanings of Sovereignty)

प्रभुसत्ता शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोमें होता है। इन विभिन्न अर्थोका पारस्परिक विभेद या अन्तर न समझनेसे बडा भ्रम उत्पन्न होता है। नाममात्रकी प्रभुसत्ता (Titular

Sovereignty) का प्रयोग ऐसे राजा या राजतन्त्रीय शासकके सम्बन्धमे किया जाता है जो किसी समय वास्तवमे प्रभु था पर अब बहुत समयसे ऐसा नही रहा। इगलैंडका बादशाह अधिकारिक रूपसे प्रभु सम्राट् (Sovereign) कहलाता है यद्यपि उसकी प्रभुता नाममात्रकी है। वास्तविक शक्ति तो बहुत समय पहले दूसरेके हाथोमे चली गई थी। इसलिए वहा राजाकी प्रभुता तो एक निरीह कहानी मात्र है।

१ नाममात्रकी प्रभुसत्ता (Titular (Sovereignty)

प्राय वैधानिक प्रभुसत्ता और राजनैतिक प्रभुसत्ताके बीच विभेद किया जाता है। वैधानिक प्रभु-राज्य में सर्वोच्च विधान-निर्मात्री शक्ति होती है। केवल उसीके आदेश कानून होते हैं। वह चाहे तो आध्यात्मिक विधान, नैतिक सिद्धान्तों और जनमतके आदेशोका उल्लघन कर सकता है। ऐसा प्रभु इगलैंडका ससदमय सम्राट् (King-in-Parliament) है। श्री डायसीके अनुसार पार्लियामेंट 'इतनी सर्वशक्ति-सम्पन्न है कि वैधानिक रूपसे एक बच्चेको पूरी उम्रका व्यक्ति घोषित कर सकती है, मृत्युके बाद भी किसी व्यक्तिको राजद्रोहका अपराधी बना सकती है, वह किसी गैरकानूनी बच्चेको कानूनी घोषित कर सकती है अथवा यदि वह मुनासिब समझे तो किसी व्यक्तिको अपने ही मामलेमें न्यायाधीश बना सकती है (२३ १६३)।' वैधानिक प्रभुसत्ता तो किसी कानूनकी प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा है। श्री ऑस्टिन द्वारा दी गयी प्रभुसत्ताकी परिभाषामे वह एक 'निर्धारक (determinate) व्यक्ति' है।

२. वैधानिक प्रभुसत्ता (Legal Sovereignty)

इस शब्दकी परिभाषा उतनी अधिक आसान नही है। एक प्रजातन्त्रवादी देशमे जहा एक ओर वैधानिक प्रभु रहता है जो सबसे बडा कानून बनाने वाला और उसे लागू करने वाला होता है, वहा दूसरी ओर उसके पीछे जनताकी सम्मति या इच्छा रहती है जो सभी प्रकारकी अधिकार-सत्ताका अन्तिम और परम स्रोत है। यह वह सत्ता है जिसके फैसलेके विरुद्ध कोई अपील नही है। श्री डायसी (Dicey) के शब्दोमे 'जिस प्रभुको वैधानिक या वकील लोग स्वीकार करते है उसके पीछे एक दूसरा प्रभु रहता है जिसके सम्मुख वैधानिक प्रभुताको सर झुकाना ही होता है।' उन्हीके शब्दोमे, 'वही शक्ति राजनैतिक प्रभुशक्ति है जिसकी इच्छाका अन्तिम रूपमें राज्यके नागरिक पालन करते है (१५ ६६)।' जब हम 'राजनैतिक प्रभुसत्ता की कोई सटीक परिभाषा देनेकी कोशिश करते है तो बडा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यह एक अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट शब्द है। यह कोई ऐसी चीज नही है जिसे निश्चित रूप से निर्धारित किया जा सके। जिस देशमे प्रत्यक्ष या शुद्ध प्रजातन्त्रका बोल-बाला होता है वहा वैधानिक और राजनैतिक प्रभुसत्ता प्राय एकरूप हुआ करते है पर जिन देशोमे प्रजातन्त्र है उनमेंसे अधिकाशमें प्रतिनिधि-मूलक या अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र है। इसलिए वैधानिक प्रभुसत्ता और राजनैतिक प्रभुसत्ता अलग-अलग है। कुछ लेखक राजनैतिक प्रभुसत्ताको सगठित समाजके साथ एकरूप मानते है, कुछ आम जनताके साथ, कुछ सार्वजनिक इच्छाके साथ और कुछ लोग जनमतके साथ उसे एकरूप मानते है, और कुछ लोग उस प्रदेशके लोगोकी शारीरिक शक्तिके साथ उसे एकरूप मानते है जहाके लोग सफलता-पूर्वक क्रान्ति कर सकते है। इन सभी दृष्टिकोणोमे सम्भवत कुछ अश है

३. राजनैतिक प्रभुसत्ता (Political Sovereignty)

और यह कहना असम्भव है कि इनमेंसे कोई भी एक शेप सबोकी अपेक्षा अधिक पूर्ण और सुन्दर दृष्टिकोण है। इस भ्रमके कारण ही कुछ लेखक प्रभुसत्ताको उसके वैधानिक अर्थो तक ही सीमित रखना अधिक उचित मानते है और राजनैतिक प्रभुसत्ताकी धारणाको बिल्कुल ही छोड देते है। इस प्रकार श्री गेटेलका कहना है कि 'वैधानिक प्रभुसत्ताके पीछे किसी एक राजनैतिक प्रभु या प्रभुसत्ताकी खोजका प्रयत्न प्रभुसत्ताकी समूची धारणाको ही नष्ट कर देता है और वह अपने ऊपर पडने वाले प्रभावोकी एक सूची मात्र रह जाती है (२४ ९८)।' इसी प्रकार श्री लीकॉक (Lea cock) लिखते है. जैसे ही हम श्री ऑस्टिन की रूखी पर निश्चित वैधानिक धारणासे दूर जाते है वैसे ही सब कुछ गडवड हो जाता है। एक बात जो बिल्कुल स्पष्ट है वह यह है कि एक वकील और न्यायाधीशको प्रभुसत्ताकी जो धारणा स्वीकार है वह है वैधानिक प्रभुसत्ता। जनमत सार्वजनिक इच्छा, निर्वाचिकोकी इच्छाए, क्रान्तिकी सम्भावनाए आदि सभी वैधानिक प्रभुके निश्चयोको प्रभावित करते है। पर वह न तो वैधानिक प्रभुकी भाति निश्चित होते है और न सगठित। एक सुव्यवस्थित राज्यके लिए वैधानिक प्रभुकी सर्वोच्च सत्ताकी आवश्यकता है जिसकी आज्ञाओका पालन नागरिकोका समाज अभ्यस्त रूपमें करे। इसके साथ ही साथ जनताके मनचाहे परिवर्तनोको वैधानिक ढगसे लागू करनेके लिए यथासम्भव अधिकसे अधिक अवसर देना चाहिए।

४ लोकप्रिय या प्रचलित प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty)

राजनैतिक प्रभुसत्तासे लोकप्रिय प्रभुसत्ता एक स्वाभाविक विकास है। जनप्रिय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तोके अनुसार अन्तिम अधिकार जनताके हाथो में रहता है। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन मध्य युगमे मार्सीग्लियो ऑफ् पादुवा (Marsiglio of Padua) और विलियम ऑफ् ओकम (William of Ockam) जैसे लेखकोने किया। १८वी शताब्दीमें यह सिद्धान्त रूसोके उपदेशोका आधार बन गया। रूसोने इस सिद्धान्तकी घोषणा 'डकेकी चोट पर की (२२ १६५)।' १९वी सदीमें प्रजातन्त्रके विकासके साथ इस सिद्धान्तको और अधिक बल मिला। यहा तक कि स्वय अपना शासन करने वाले सभी देशोमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि प्रजा या जनता ही राजनैतिक अधिकार-सत्ताकी अन्तिम अविरक्षक या मालिक है। वैधानिक प्रभुसत्ता यदि जान-बूझ कर और लगातार जनताकी इच्छाओका विरोध करती रहे तो वह अधिक समय तक नही टिक सकती क्योकि अन्तिम स्थितिमें जनता बल-प्रयोगका सहारा ले सकती है और क्रान्ति करके एक नवीन सरकारकी स्थापना कर सकती है। 'जनताका नियत्रण' और 'लोकप्रिय शासन' जैसे शब्दोका प्रजातन्त्रके पर्यायके रूपमें जो प्रयोग होता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस हद तक वैधानिक प्रभुसत्ता पर समूची जनताका अन्तिम नियन्त्रण रहता है।

यद्यपि लोकप्रिय प्रभुसत्ताका सिद्धान्त बहुत ही लुभावना है और उससे जनताके आत्मसम्मानकी भावना भी सतुष्ट होती है पर जब हम इस धारणाकी व्याख्या करके उसे एक निश्चित अर्थ देनेका प्रयत्न करते है तो कठिनाइया पैदा हो जाती है। जितना ही अधिक हम उस पर विचार करते है उतना ही अधिक कठिन उसकी परिभाषा देनेका काम होता जाता है। राजनैतिक प्रभुसत्ताकी जितनी आलोचनाए होती है वह सब इस पर भी लागू होती है। जन-प्रिय प्रभुसत्ताकी परिभाषा करते हुए 'जनता' शब्दके जो दो अर्थ

किये जा सकते हैं वह यह है (क) 'असगठित अनिर्धारित जनताकी समूची भीड (The total unorganised indeterminate mass) (ख) निर्वाचक-मडल (The electorate) जनता शब्दका जो पहला अर्थ है उसके अनुसार तो स्पष्टत जनता प्रभु (Sovereign) नही हो सकती। जहा तक दूसरे अर्थका सम्बन्ध है, यदि जनताको किसी भी अर्थमें प्रभु या प्रभुसत्ता-सम्पन्न बनना है तो लोग केवल वैधानिक मार्गोसे ही काम कर सकते है। श्री गार्नर (Garner) के शब्दोमे, 'असगठित जनमत, वह चाहे जितना सबल हो, तब तक प्रभुसत्ता नही बन सकता जब तक उसे वैधानिक स्वरूप न दिया जाय—ठीक उसी प्रकार जैसे कि विधान-मडलके सदस्योका कोई गैरस्मी और व्यक्तिगत प्रस्ताव कानून नही बन सकता (२२ १६५)।' व्यवहारके क्षेत्रमें जनप्रिय प्रभुसत्ताका अर्थ शान्तिके समयमें जनमत और युद्धकी स्थितिमे क्रान्तिकी शक्तिसे अधिक कुछ नही जान पडता (२८ १००)।'

उपर्युक्त व्याख्याके विचारसे लोकप्रिय प्रभुसत्ता और राजनैतिक प्रभुसत्तामें बहुत कम अन्तर हो जाता है। श्री गिलक्राइस्ट जो इस अन्तर पर बहुत जोर देते है कहते है कि लोकप्रिय प्रभुसत्ता व्यावहारिक दृष्टिसे राजनैतिक स्वाधीनता अथवा 'जनता द्वारा नियत्रण' के समान ही है। लोकप्रिय प्रभुसत्ताका अर्थ है एक व्यक्तिगत शासक अथवा एक व्यक्तिके विरुद्ध समूची जनताकी शक्ति। बालिग मताधिकार, जनताके प्रतिनिधियो द्वारा व्यवस्थापिकाका नियत्रण और जनता द्वारा निर्वाचित सदनका राष्ट्रकी अर्थ-नीति पर नियत्रण आदि इसमें निहित है।

लोकप्रिय प्रभुसत्ताकी परिभाषा देनेमें हमें चाहे जितनी कठिनाइया पडे पर इस सिद्धान्तमें अनेक महत्त्वपूर्ण विचार छिपे है।

(क) सरकारका अस्तित्व स्वय अपने कल्याणके लिए नही है। सरकारका अस्तित्व जनताके कल्याणके लिए होता है।

(ख) यदि जनताकी इच्छाए जान-बूझकर कुचली जाती है तो क्रान्तिकी सम्भावना रहती है।

(ग) जनमतकी अभिव्यक्तिके लिए आसान वैधानिक तरीके बराबर रहने चाहिए।

(घ) जल्दी-जल्दी निर्वाचन कराकर स्थानीय स्वायत्त शासन, जन-मत (referendum) प्रारम्भिक अधिकार और पुनर्विचार आदिके द्वारा सरकारको प्रत्यक्ष रूपसे जनता के प्रति उत्तरदायी बनाना चाहिए।

(ड) सरकारको अपनी अधिकार-सत्ताका प्रयोग प्रत्यक्ष रूपमे देशके विधानके अनुकूल करना चाहिए और मनमाने ढगसे काम नहीं करना चाहिए।

५. कानूनी और वास्तविक प्रभुसत्ता (De jure and de facto Sovereignty)

प्रभुसत्ता एक यथार्थता—वास्तविकताका प्रश्न है और इसलिए कभी-कभी वैधानिक या विधान सिद्ध और वास्तविक प्रभुसत्ताके बीच भेद किया जाता है। वैधानिक प्रभु वह है जिसे कानूनकी दृष्टिसे प्रभु या अधिपति माना जाय और वास्तविक प्रभु वह है जिसके आदेशोका पालन वास्तवमें जनता करती है, भले ही उसकी कोई वैधानिक स्थिति हो या न हो। वास्तविक प्रभुता शुद्ध शारीरिक बल पर अथवा धर्मके बल पर टिक सकती है। इसके विपरीत वैधानिक प्रभु-सत्ताको कानूनी अधिकार होता है कि वह अपने

आदेशोका पालन कराए। इन दोनोंके बीचका विभेद क्रान्तिके दिनोमें बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। कुछ क्रान्तियोमे तो केवल सरकारके शासन-यन्त्रमें कुछ परिवर्तन-मात्र होकर रह जाता है पर कुछ क्रान्तियोमे पुराने वैधानिक अधिपतिको समाप्त करके उसके स्थान पर नए अधिपतिको बिठाया जाता है। वास्तविक प्रभुसत्ताको गैरकानूनी या अवैधानिक मानना एक भूल है क्योकि प्रभुसत्ताका तत्त्व ही वह शक्ति है जिसके बल पर लोगोको अपना अज्ञानुवर्ती या ताबेदार बनाया जाता है। हर देशकी आन्तरिक शान्ति और व्यवस्थाके लिए यह आवश्यक है कि वैधानिक और वास्तविक अधिपति एक ही हो। और यदि कभी दोनोमें सघर्ष हो भी तो वह अधिक समय तक न चले। दूसरे शब्दोमें शक्ति और न्याय दोनोका मेल होना चाहिए। जैसे ही एक वास्तविक अधिपति (De facto Sovereignty) अपने आपको स्थायी रूपसे प्रतिष्ठित कर लेता है उसकी एक वैधानिक स्थिति भी बनने लगती है और अन्तमें वह एक वैधानिक अधिपति बन जाता है।

४ प्रभुसत्ताकी स्थिति (Location of Sovereignty)

राजनीति शास्त्रके विद्यार्थीके लिए जो एक बडा कठिन प्रश्न रहता है वह है प्रभुसत्ता की स्थितिका प्रश्न। विख्यात विचारकोमे इस प्रश्न पर मतभेद है। श्री गेटेल का कहना है कि इन विचारकोके अनुसार प्रभुसत्ताकी स्थिति निम्नाकित है (१) राज्यकी जनता (The People of the State)। (२) वह सगठन जिसे राज्यके विधानको बनाने या परिवर्तित करनेका कानूनी अधिकार हो। (३) राज्यके शासनमें जो वैधानिक विधान-निर्मात्री सस्थाए हो उनका सकलित रूप (२४ ६८)।

इनमे से पहले दृष्टिकोण पर अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नही। लोकप्रिय प्रभुसत्ताकी विवेचना करते हुए हमने उन अनेक आलोचनाओकी चर्चा की है जो इस सिद्धान्तके सम्बन्धमे की जाती है पर शेष दो दृष्टिकोणोको हम आसानीसे टाल नही सकते। जहा तक इगलैडका प्रश्न है, जहा पर सविधान शास्त्र और व्यवस्थापित विधान (Statute Law) के बीच कोई भेद नही किया जाता, वहा प्रभुसत्ताकी स्थितिका निर्णय करना कोई कठिन प्रश्न नही है। इगलैडका सविधान एक लचीला सविधान है और अमेरिका के सविधानकी भाति चारो तरफसे जकडा हुआ नही है। कानूनी दृष्टिकोणसे इगलैडमें ससद (Parliament) जिसमें सम्राट् हाउस ऑफ् लार्डस (House of Lords) और हॉउस ऑफ् कॉमन्स (House of Commons) शामिल है, सर्वोपरि है। पार्लियामेंट कोई भी कानून बना या बिगाड सकती है इसलिए उसे वैधानिक प्रभु कहा जाता है। राजनैतिक प्रभु समूची जनता या सही-सही रूपसे निर्वाचक-मडल है। फ्रासमें न तो राष्ट्रपति (President) को न प्रतिनिधि-मडल (Chamber of Deputies) को और न सीनेट (अनुशद) को ही विधानमे परिवतन करनेका वैधानिक अधिकार है। पर प्रतिनिधि-मडल सीनेटके सम्मिलित अधिवेशनको ऐसा करनेका वैधानिक अधिकार है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वैधानिक प्रभुता इस सम्मिलित सस्थाको प्राप्त है।

अमेरिकामे विधान बहुत अधिक जकडा हुआ होनेके कारण प्रभुसत्ताकी स्थितिका निर्णय करना आसान नही है। न तो अमेरिकाके राष्ट्रपतिको ही अन्तिम और परमपूर्ण (absolute) वैधानिक अधिकार प्राप्त है और न राज्य अथवा सघ-व्यवस्थापिकाओ को ही। उनका जो भी काम सविधानकी सीमासे बाहर जाता है उसके लिए उपयुक्त

न्यायालय उन्हे टोक सकता है। इसलिए प्रभुसत्ताकी स्थिति उनमे नही है बल्कि उस सस्थामे है जिसे सविधानमे परिवर्तन करनेका वैधानिक अधिकार प्राप्त है। अमेरिकाके सविधानकी पाचवी धारामें इस सस्थाका वर्णन इस प्रकार किया गया है: 'जब कभी ससद (Congress) के दोनो भवनोके दो तिहाई सदस्य आवश्यक समझेगे तब काग्रेस इस विधानमे सशोधनका प्रस्ताव उपस्थित करेगी। दो तिहाई राज्योकी व्यवस्थापिकाओ द्वारा प्रार्थना-पत्र दिए जाने पर काग्रेस सशोधनोका प्रस्ताव रखनेके लिए एक सम्मेलनका आयोजन करेगी। इन दोनो ही अवस्थाओंमें यह सशोधन जब तीन चौथाई राज्योकी व्यवस्थापिकाओ द्वारा स्वीकृत हो जायेंगे अथवा तीन चौथाई राज्योके सम्मेलनो (Conventions) द्वारा स्वीकृत हो जायेग तब वह विधानका एक अग बन जायेंग और सभी अर्थोमे प्रामाणिक समझे जायेगे। स्वीकृतिका दो में से कोईभी एक तरीका काग्रेस द्वारा प्रस्तावित किया जायेगा।

श्री गेटेल तथा कुछ अन्य लेखक इस दृष्टिकोण पर आपत्ति करते है जिसमे वैधानिक प्रभुताको उसमे निहित समझा जाता है जो सविधानका निर्माण या सशोधन कर सके। उनका सबसे बडा तर्क यह है कि 'विधान-निर्मात्री सस्थाए बहुत कम अवसरो पर और काफी अवकाशके बाद काम करती है। कभी-कभी वह बिल्कुल ही काम नही करती।' इसके विपरीत राज्यकी प्रभुसत्ताको सर्वदा सक्रिय रहना चाहिए। इसलिए वह लोग प्रभुसत्ताकी स्थिति 'उन सब सस्थाओके निचोडको मानते है जो राज्यमे कानून बनाती है,' (२४ १०२) जिसमें निम्नलिखित शामिल है

(१) व्यवस्थापिका (Legislature)—राष्ट्रीय, राष्ट्र-मडलीय (Commonwealth) और स्थानीय।

(२) न्यायालय (Court)—जहा तक वह कानूनोका निर्माण करते है न कि केवल कानूनकी व्याख्या और उसका प्रयोग।

(३) कार्यकारिणीके पदाधिकारी (executive officials)—जहा तक वह अध्यादेशो (Ordinance) घोषणाओ (Proclamations) आदिके द्वारा कानूनका निर्माण करते है।

(४) सम्मेलन या सभाए (Conventions)—जब कि वह कानूनी ढगसे विधान-निर्मात्री परिषदोके रूपमे काम करते है। उदाहरणके लिए एक विधि-पूर्वक बुलाया गया विधान-सम्मेलन।

(५) निर्वाचक-मडल (The electorate)—जब कि वह लोकमत-सग्रह या जन-मतगणना (Referendum or Plebiscite) के अधिकारोका उपयोग कर रहा हो (२४ १०३)।

तो इस दृष्टिकोणके अनुसार प्रभुसत्तामे सरकारके उन अगोको छोडकर जो शुद्ध शासनसे ही सम्बन्धित है शेष सभी अग आ जाते है (२४ १०३)। श्री गेटेल के अनुसार इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे सविधान-शास्त्र और व्यवस्थापिका विधान (Statute Law) के बीच और सरकारके विभिन्न अगोंके बीच कोई विभेद नही किया गया। इसके अलावा 'लोकप्रिय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तके समान ही इसमें यह स्वीकार किया गया है कि आधुनिक प्रजातत्रीय राज्योमें प्रभुसत्ताकी शक्तिया राज्यके नागरिकोंमे बटी हुई है और उनके द्वारा उनका उपयोग होता है। विधान-निर्माण-सिद्धान्त (Cons-

titution-making theory) की भाति इसमें यह स्वीकार किया गया है कि प्रभुसत्ता एक कानूनी धारणा है और उसका प्रयोग कानूनी ढगसे कानूनी प्रणालीमें ही किया जा सकता है। पहले दृष्टिकोणमें जो अस्पष्टता और विचारकी शिथिलता है वह इसमें नही है। और इसके साथ ही साथ दूसरे दृष्टिकोणमें जो कानूनी भाव-सूक्ष्मता (legal abstraction) है और जिसने प्रभुसत्ताको बहुत पीछे घसीट कर उसके अस्तित्वको ही प्राय नष्ट कर दिया है, उससे भी यह दृष्टिकोण साफ बच जाता है (२४ १०४)।'

श्री गेटेल द्वारा बतायी गयी विशेषताओंके होते हुए भी यह सिद्धान्त सन्तोषप्रद नही जान पडता। इसके मूलमे ही राज्य और सरकारको समझनेमे बडा भारी भ्रम किया गया है। राज्यकी विभिन्न विधान निर्मात्री परिषदें राज्यकी प्रभुसत्ताके विभाग नही हैं बल्कि वह राज्यकी आवयविक एकता (Organic unity) के ही मूर्त रूप है। कानून बनानेके जो अधिकार उन्हें है वह मौलिक न होकर प्रदत्त अधिकार (delegated powers) है। इसलिए प्रभुसत्ताकी स्थिति उनमे नही है। प्रभुसत्ताकी स्थिति उस सस्थामें है जो सविधानको बना सकती है और उसमें सशोधन कर सकती है और अपनी शक्तियोंको उन विभिन्न अगोंमें बाट सकती है जो उसकी इच्छाको प्रगट करते है।

५. प्रभुसत्ताका इतिहास (History of Sovereignty)

प्राचीन यूनानमें राज्यकी प्रभुसत्ता घोषित करनेका कोई अवसर ही नही आया क्योंकि उस समय प्रतियोगी सघ थे ही नही और न व्यक्ति और राज्यके बीच कोई समझा-बूझा विरोध था। फिर भी अरस्तूकी पुस्तक «Politics» में यह दिखायी देता है कि उन्होने राज्यमें एक सर्वोच्च शक्तिकी आवश्यकताका अनुभव किया है। अरस्तू का कहना है कि यह शक्ति एक आदमीके हाथमें हो सकती है, कुछ आदमियोंके अथवा अनेकके हाथो हो सकती है। उनके विचारमें प्रधानता (Supremacy) ही केन्द्र-बिन्दु बनी हुई है पर यह वही चीज नही है जिसे हम आजकल प्रभुसत्ता कहते हैं। श्री अरस्तू के अनुसार प्रधान अधिकारी अथवा शासकवर्ग विधानको बनाता है जब कि आधुनिक विचारकोंकी दृष्टिमें विधान ही शासक या अधिनतिको बनाता है। अरस्तू के बाद आने वाले स्टोइक (Stoics) दार्शनिको ने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया कि कानूनको बनाने वाला राज्य नही है बल्कि राज्यको बनाने वाला कानून है। इस प्रकार श्री डुगुइट (Duguit) और उनके अनुयायियोंने जो कुछ कहा है वही बात सदियो पहले यह लोग कह गए है।

रोमन युगमें भी प्रभुसत्ताके सिद्धान्तकी कोई आवश्यकता नही थी। रोम ससार भर का स्वामी बन गया था और उसे बाहरी या भीतरी प्रतियोगियोंका डर नहीं था। इसके अलावा रोमके नैय्यायिकोंमें राजनैतिक विचारकी क्षमता नही थी। फिर भी रोमन विधान में हमें प्रभुसत्ताके सिद्धान्तके भी बीज मिलते हैं। रोमवासियोंका प्रसिद्ध सूत्र था 'चूकि जनताने अपने अधिकार और अपनी शक्ति राजाको सौंप दिये है इसलिए राजाकी इच्छा में कानूनका बल है'। रोमन कानूनमें राज्यके साम्राज्य अर्थात् अधिकार-क्षेत्रके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा गया है।

मध्ययुगमें ऐसी परिस्थितिया थी जो प्रभुसत्ताके सम्बन्धमें कोई भी सिद्धात बनानेके लिए उपयुक्त नही थी यह परिस्थितिया थी धर्म-सघ, राज्य और सामन्तशाहीके बीचके सघर्ष। धर्म-सघ न केवल आध्यात्मिक मामलोमें अपनी प्रधानताका दावा करता था बल्कि उन

मामलोंमें भी जिनसे धर्मका कोई सम्बन्ध न था और कमसे कम कुछ समय तक उसने अपने इस दावेको सही भी साबित किया। रोमके धर्म-साम्राज्य (Holy Roman Empire) का प्रतिद्वन्द्वी केवल नाममात्रके लिए ही एक साम्राज्य था और वह किसी प्रकारकी भी अपनी प्रधानता स्थापित न कर सका। धर्म-सघ और साम्राज्यके इन परस्पर विरोधी दावोंके साथ-साथ सामन्तशाही का बोल बाला था जिसका अर्थ था राजनैतिक मामलोमे विकेन्द्रीकरण (decentralisation)। आधुनिक अर्थोमें राजा प्रभु या अधिपति (Sovereign) नही था। उसकी अधिकार-शक्ति सामन्तो और सरदारो की शक्तिसे केवल कोटि या प्रकारमे ही भिन्न न थी बल्कि मात्रामें भी भिन्न थी। यदि राजा अपने राज्यका अधिपति था तो सामन्त और सरदार अपनी-अपनी जागीरमें अधिपति थे। इस परिस्थितिने (प्रभुसत्ताके विरुद्ध) अधिराज्य (Dominion) के सिद्धान्तको जन्म दिया जिसका अर्थ था उच्चता न कि सर्वप्रधानता। इस परिस्थितिने राजाकी प्रादेशिक प्रभुसत्ता (Territorial Sovereignty) की धारणाको भी जन्म दिया, और जैसे-जैसे बीचके सामन्त मरते गए वैसे-वैसे प्रादेशिक अधिपति प्रधान होता गया। एक व्यक्तिकी प्रादेशिक प्रभुसत्तासे बादमें होने वाले राजाकी प्रभुसत्ताके सिद्धान्तका विकास धीरे ही धीरे हुआ है।

बारहवी शताब्दीमें रोमके विधान-शास्त्रमें जो फिरसे रुचि उत्पन्न हुई उसने लोकप्रिय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तको जन्म दिया। श्री टॉमस् एकॉयनस (Thomas Aquinas) ने, जो कि १३वी शताब्दीके सबसे बडे विचारक थे, यह बताया कि सर्वोच्च शक्ति एक शुद्ध मानवीय आधारसे उत्पन्न होती है—अर्थात् यह शक्ति परमात्मा द्वारा स्थापित धर्म सघसे न उत्पन्न होकर मनुष्यके कार्योसे ही उत्पन्न होती है। यह माना जाता था कि पोपको अधिकार-सत्ता उसे सीधे-सीधे परमात्मासे प्राप्त हुई है और सम्राट्की अधिकार-सत्ता उसे जनताकी स्वीकृति और धर्म-सघके सहयोगसे प्राप्त हुई है (६०: १२)।' लोकप्रिय प्रभु-सत्ताके इस विचारको मार्सीग्लियो ऑफ् पादुवा और विलियम ऑफ् ओकम ने धर्म-सघ (Church) के सम्बन्धमें और भी विकसित किया, और शान्ति-विमर्श (Conciliar Controversy) में बहुत बडा भाग इस धारणाने लिया। प्रारम्भिक लोकप्रिय प्रभुसत्ताका विचार बहुत अधिक व्यापक रूपसे प्रचलित हो गया था। यहा तक कि १३वी शताब्दीके बादसे यह कहना राजनीति-शास्त्रका एक सूत्र बन गया था कि सरकार तभी उचित है जब शासित जनता अपनी इच्छासे आत्मसमर्पण कर दे। मध्ययुगमें इसी सिद्धान्तकी प्रधानता थी कि प्रजाकी स्वीकृति पर ही शासककी स्थिति है। 'प्रजा' शब्दसे जनताके समूहके अतिरिक्त और कोई अधिक अर्थ नही लिया जाता था।

प्रभुसत्ताके सम्बन्धमें जो आधुनिक विचार है कि वह सर्वोच्च विधान-निर्मात्री सस्था है वह मध्ययुगमें नही था। मध्यकालीन योरोपमें 'एक ऐसी अधिकार-सत्ताका खोज सकना जो सभी दृष्टियोंसे सर्वोपरि हो' आसान नही था, 'और यदि ऐसी कोई अधिकार-सत्ता मिल भी जाती थी तो वह किसी पहलेसे ही वर्तमान कानूनको उद्घोषित करने, लागू करने और उसकी व्याख्या करनेका ही काम करती थी, कोई नया कानून बनानेका नही (५६ ६८)।'

१६वी शताब्दीके फ्रान्समें श्री बॉडिन ने प्रभु-सत्ता सम्बन्धी आधुनिक सिद्धान्तका एक निश्चित और व्यापक विवेचन किया। श्री बॉडिन एक ऐसे समयमें थे जब कि धर्म-

निहित है जिसमें शासक और शासित दोनो ही सम्मिलित है।

श्री ग्रोशियस (Grotious) का सिद्धान्त श्री बॉडिन और मौनेरकोमैक्स के सिद्धान्तके बीचकी स्थितिमें है। ग्रोशियस जनवादी और राष्ट्र-सत्तावादी विचारोंके बीच एक मेल बैठाना चाहते हैं। प्रभुसत्तासे उनका अर्थ है, 'वह शक्ति जिसके कार्य किसी दूसरी शक्तिके नियन्त्रणमें न हो जिससे कि वह किसी दूसरी मानव-इच्छा द्वारा व्यर्थ और शक्ति-शून्य बना दिये जायें। वह, बॉडिन की भाति, अधिपतिकी 'परमपूर्ण और स्थायी अधिकार-शक्ति' पर जोर नही देते। जब तक अधिकार-शक्ति है तब तक वह अटल, अखण्डनीय (Irrevocable) है। 'सर्वोपरि शक्ति, परम्पराके अनुसार दैवी विधान, प्राकृतिक विधान और राष्ट्रोके कानूनके अधीन है, वह ऐसे समझौतोके अधीन भी है जो शासक और शासितोंके बीचमें होते है (६० २१-२२)।' ग्रोशियस इस बातको खुले दिल से स्वीकार करते हैं कि प्रभुसत्ता विभाजित की जा सकती है और इसके लिए वह रोम का उदाहरण देते है जहा एक शासक पूर्वमें था और एक पश्चिम में।

जहा तक प्रभुसत्ताकी स्थितिका सम्बन्ध है ग्रोशियसका कहना था कि प्रभुसत्ताकी साधारण अधिकारिणी समूची राजनैतिक सस्था या राज्य है और विशेष अधिकारी सरकार है। इस विभेदके द्वारा ग्रोशियस एल्थ्यूशियस और मौनेरकोमैक्सके इस दावेका खडन कर सके कि सर्वोच्च शक्ति सर्वदा सरकारको छोडकर केवल जनतामें ही निहित रहती है।

आधुनिक विचारोंके विपरीत ग्रोशियस यह मानते है कि एक जाति या राष्ट्र अपनी प्रभुसत्तासे अपना पूरा-पूरा विच्छेद कर सकता है, जैसे एक व्यक्तिका किसी सम्पत्ति पर अधिकार होता है। 'भू-प्रदेश अथवा जनता अन्य सम्पत्तिकी भाति बेची या खरीदी जा सकती है (६० २३)।' प्रभुसत्ता सम्बन्धी यह पैतृक सिद्धान्त आजकल बिल्कुल ही अस्वीकार कर दिया गया।

यदि श्री बॉडिन ने प्रभुसत्ताके आन्तरिक स्वरूपका विकास किया है तो श्री ग्रोशियस ने उसके बाहरी स्वरूप पर जोर दिया है। वह बल-पूर्वक विभिन्न प्रभुसत्ता-सम्पन्न समुदायो की समानताकी घोषणा करते है।

श्री हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तकी विवेचना किसी पिछले अध्यायमें की जा चुकी है इसलिए यहा हम केवल कुछ प्रमुख लक्षणोका ही निचोड देंगे। जैसे श्री बॉडिन ने १६ वी सदीकी फ्रासकी राजनैतिक परिस्थितियोका तर्क-पूर्ण विवेचन किया है वैसे ही श्री हॉब्स ने १६४०-१६६० के बीच इगलैंडकी अस्त-व्यस्त परिस्थितियोंके आधारपर अपना सिद्धान्त बनाया है। यह राजनैतिक सघर्ष और गृह-युद्धका समय था। इस प्रकारकी परिस्थितियोका मुकाबला करनेके लिए जैसी प्रभुसत्ताकी आवश्यकता थी हॉब्स ने उसकी अत्यन्त समर्थ और अत्यन्त पूर्ण शब्दोमें कल्पना की है। प्रकृतिकी एक काल्पनिक अवस्था से प्रारम्भ करके जिसकी व्याख्या उन्होने आदिम अराजकताके रूपमें की है, हॉब्स ने व्यक्तियोंको अपने समस्त अधिकार किसी ऐसे एक व्यक्ति (अथवा कभी-कभी व्यक्तियों) के हाथो समर्पित करनेके लिए विवश किया है जो उसके बाद इस प्रकारके सभी व्यक्तियो के व्यक्तित्वका वाहक बन जाता है। इस बातका तो कोई सवाल ही नही उठता कि जाति या राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ताको समर्पित या अपनेसे अलग करे क्योकि जब तक प्रभुसत्ता की सृष्टि नही होती तब तक जाति या राष्ट्रका भी अस्तित्व नही होता। अधिपति और उसकी प्रजा दोनोकी स्थितिका अस्तित्व साथ ही साथ होता है। प्रभुसत्ताकी सबसे बडी

विशेषता है आज्ञापालन करानेकी उसकी क्षमता या शक्ति। विधान नही बल्कि शक्ति ही न्यायकी नियामिका है—उसका निश्चय करने वाली है।

हॉब्स ने प्रभुसत्ताकी जो व्याख्याकी है वह बॉडिन के सिद्धान्तकी अपेक्षा कही अधिक पूर्ण है। एक बार अनुबन्धमें सम्मिलित हो जानेके बाद लोगोको इस बातका कोई अधिकार नही रह जाता कि वह किसी नए समझौतेमे शामिल हो—परमात्माके साथ भी नही। चूंकि अधिपति अनबन्धके किसी पक्षमें नही रहता इसलिए वह अनुबन्धके भग करनेका दोषी नही हो सकता। कानूनकी दृष्टिसे वह कोई अन्याय नही कर सकता। यद्यपि वह नैतिक अन्याय कर सकता है। उसे दड नही दिया जा सकता। 'राज्यकी रक्षा के लिए जो भी साधन आवश्यक हो उनका 'निर्णायक' वही है। उसे 'यह निश्चय करनेका अधिकार है कि प्रजाजनोके बीच कौनसे सिद्धान्त पढाये जायें, उसे कानून बनाये, युद्ध चालू रखने, अधिकारियोकी नियुक्ति करने, पारितोषिक और दड देनेके अधिकार और न्याय करनेकी शक्ति प्राप्त है (६ : २६)।' हॉब्स का कहना है कि यह कभी अधिकार न दूसरोको दिये जा सकते है और न अलग किये जा सकते है। परमात्मा और प्रकृतिके विधान अधिपतिके ऊपर प्रतिबन्ध नही हैं क्योकि उनका भी वही अन्तिम निर्णय करने वाला है।

इस प्रकार प्रभुसत्ता परमपूर्ण है, एकीकृत (Unified) है और अविच्छेद्य (Inalienable) है और एक स्वेच्छा-मूलक पर अटल और अखडनीय अनुबन्ध (Irrevocable Contract) पर आधारित है। राजनीति-शास्त्रके उत्तरकालीन विकासमें इस सिद्धान्तने बडा महत्त्व-पूर्ण भाग लिया है।

जर्मनीमें श्री प्रफेन डॉर्फ ने एक ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जो श्री हॉब्स और ग्रोशियसके दृष्टिकोणका बडी सफलता-पूर्वक समन्वय करता है। श्री लॉक की भाति उन्होने दो अनुबन्धोकी कल्पना की है—प्रारम्भिक अनुबन्ध जिससे नागरिक समाजकी स्थापना की गई है और एक बादका अनुबन्ध जो इस प्रकारकी व्यवस्थित जनता और सरकारके बीच हुआ। इस प्रकार जिस प्रभु-शक्तिकी स्थापना हुई वह सर्वोपरि तो है किन्तु परमपूर्ण (Absolute) नही। वह मनचाही नही कर सकती। शासकके ऊपर प्रतिबन्ध लगने ही चाहिए जिनसे समस्त अधिकारोको हथिया लेनेकी उसकी प्रवृत्तिको रोका जा सके। यह आवश्यक नही है कि अधिपतिको समस्त अधिकार-शक्ति प्राप्त हो। इतना ही पर्याप्त है कि उसे सर्वोच्च शक्ति प्राप्त रहे।

श्री लॉक १६८८ की रक्त हीन क्रान्तिमें ह्विग (Whig) दलके नेता थे। सामाजिक अनुबन्धकी व्याख्या करते हुए उन्होने सावधानी-पूर्वक 'प्रभुसत्ता' (Sovereignty) शब्दका प्रयोग नही किया। इसके स्थान पर वह 'सर्वोच्च शक्ति' (Supreme power) का प्रयोग करते है। सभी व्यावहारिक उद्देश्योंके लिए सर्वोच्च शक्ति सरकारके हाथोंमे रहती है। सरकार एक प्रदत्त अधिकार-सत्ता (delegated authority) है। सरकार के पीछे शक्ति है और उससे उच्चतर स्थितिमें समूची जनता है। जब सरकार अपने कर्तव्यो और उत्तरदायित्वोको पूरा करनेमे असफल होती है तब जनता विद्रोह करती है और उस सरकारको पद-च्युत करके उसके स्थान पर दूसरी सरकारकी प्रतिष्ठा करती है। जब तक सरकार रहती है तब तक व्यवस्थापिका सर्वोच्च शक्तिका प्रयोग करती है। दो सर्वोच्च अधिकार-सत्ताओंके बीचके इस विभेदको १६वी सदीमें राजनैतिक अधिकार-सत्ता और वैधानिक अधिकार-सत्ताके स्पष्ट रूपोमें अलग-अलग विकसित किया गया।

श्री मेरियम (Merriam) ने प्रभुसत्ता सम्बन्धी लॉक की विवेचना में तीन क्रमिक अधिपतियोकी स्थिति बताई है वह ह रस्मी, शासकीय और राजनैतिक अधिपति। रस्मी या औपचारिक अधिपति इगलैंडमें वहाका बादशाह है। जब व्यवस्थापिका का अधिवेशन न हो रहा हो तब कानूनकी सीमाके भीतर वह सर्वोपरि होता है। श्री लॉक के शब्दोमें राजा, 'राष्ट्र-मडलका प्रति-मूर्ति, छाया अथवा उसका प्रतिनिधि है।' राजा में कार्यकारिणी शक्ति निहित है। व्यवस्थापिकामें भी उसका हाथ रहता है। इस श्रेणी में दूसरा नम्बर आता है व्यवस्थापिका का जो सरकारका सर्वोच्च अग है। व्यवस्थापिकाको हम शासकीय अधिपति (Governmental) कह सकते है। अन्तिम अधिपति है वह नागरिक और राजनैतिक समाज जिसने व्यवस्थापिकाकी स्थापनाकी है और इसे हम राजनैतिक अधिपति कह सकते है। समाजको हम गुप्त या प्रसुप्त अधिपति (latent sovereign) कह सकते है जो सरकारके भग होने पर सक्रिय हो उठता है। इस प्रकार क्रान्तिको हम उचित सिद्ध कर सकते है बशर्ते कि क्रान्ति समूचे समाज द्वारा की गयी हो। पर यह निश्चय करनेमें कठिनाई है कि क्रान्ति कब समूचे समाज द्वारा की गयी कब नही। और इस सम्बन्धमें लॉक का सिद्धान्त हमारी कोई सहायता नही करता। क्रान्ति की सफलता या असफलतासे यह नही सिद्ध होता कि क्रान्ति समूचे समाज द्वाराकी गयी थी या नही। यह एक ध्यान देनेको और अर्थ भरी बात है कि इगलैंडकी प्रतिनिधित्व-प्रणालीमें सुधारकी चर्चा करते हुए श्री लाक ने 'विशेष रूपसे' स्वय अपने सिद्धान्तको लागू करनेका विचार नही किया (२६ १२)।

लॉक के सिद्धान्तमें प्रभु शक्तिकी स्थिति चाहे जहा हो पर उसे परम अधिकार प्राप्त नही है।

रूसो प्रभुसत्ताकी स्थिति समूची राजनैतिक सस्थामें मानते है। यह लोकप्रिय प्रभु सत्ताका परिचित सिद्धान्त है। इस धारणाका विकास करते हुए श्री रूसो ने हॉब्स की निरकुश प्रभुसत्ताको लॉक की 'लोक-स्वीकृति' (Popular consent) के साथ मिला दिया है। प्रभु-सत्ताको परमपूर्ण, अविच्छेद्य (inalienable), अविभाज्य (indivisible) और अच्युत या कभी भी भूल न करने वाला (infallible) माना गया है। प्रभु सत्ताकी अभिव्यक्ति केवल जनताकी सामान्य इच्छामें होती है जिसे श्री हार्नशॉ (Hearnshaw) अपनी हास्य-मूलक भाषामें 'हॉब्स का सिर कटा दैत्य कहते है।' रूसो के विचारमें 'सर्वजनिक इच्छा और प्रभु-सत्ताके बीच बहुत कम अन्तर है। दोनो ही प्राय एकरूप है। सार्वजनिक इच्छा हमेशा राज्यके सभी सदस्योके सामान्य हितोको व्यक्त करता है। इच्छाको सार्वजनिक बनाने वाली शक्ति वोटरो या मतदाताओकी सख्याके बजाय उनको एक सूत्रमें बाधने वाले सामान्य स्वार्थ ही अधिक हैं (६७ २८)।' जब समाजकी सामान्य इच्छा क्रियाशील हो तब विरोध करने वाले अल्पसख्यक समुदायको 'बल-पूर्वक स्वाधीन' किया जा सकता है क्योकि वह यह नही जानता कि कौन-सी बात स्वय उनके लिए हितकर है। उनके मतका खडन और उल्लघन करनेसे ही वह अधिक स्वाधीन हो सकते है बजाय इसके कि उन्हें मनचाहा रास्ता अपनाने दिया जाय। सार्वजनिक इच्छाके कार्योको ही ठीक-ठीक ढगसे कानून कहा जा सकता है। इसलिए कानूनोको सार्वजनिक हितोसे ही सम्बन्ध रखना चाहिए और उनकी प्रेरणा या उत्पत्ति पूरे जन-समाजसे होनी चाहिए। सरकार तो केवल विशिष्ट आदेशोसे ही सम्बन्ध रखती है

और प्रभुसत्ता सम्पन्न जनताकी एजेंट-मात्र होती है। 'हॉब्स के सिद्धान्तमें सरकारने राज्यको पचा लिया है और राज्यके व्यक्तित्वका एकमात्र प्रतिनिधि बन गई है ·· ··· रूसो के सिद्धान्तमें जनता ही सरकार बन गई है और सरकारकी सत्ता राज्यमे खो गई है (६० ३७-३८)।'

श्री हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तोका निचोड देते हुए श्री बोसांके लिखते है 'हॉब्स की दृष्टिमे राजनैतिक एकता एक ऐसी इच्छामे है जो वास्तविक तो है पर सर्वसामान्य नही। लॉक की दृष्टिमे राजनैतिक एकता एक ऐसी इच्छामें है जो सर्वसामान्य तो है पर वास्तविक नही (५ ३७-३८)।' इसके विपरीत रूसो राजनैतिक एकता एक ऐसी इच्छामें मानते है जो एक साथ ही वास्तविक भी है और सर्वसामान्य भी (५ ६६)।'

रूसो के बाद प्रभुसत्ताके वैधानिक सिद्धान्तको इगलैंडमें श्री बेन्थम और ऑस्टिन ने बहुत अधिक विकसित किया। प्रभुसत्ता सम्बन्धी श्री बेन्थम के विचारोमें बहुत कुछ ऑस्टिन के विचारोका स्पष्ट पूर्वाभास मिलता है। इस प्रकार राजनैतिक समाजकी परिभाषा उन्होने निम्नलिखित रूपमें की है 'जब कोई एक व्यक्ति-समूह किसी एक विशिष्ट कोटि के व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (जिन्हें हम गवर्नर या राज्यपाल कह सकते हैं) का आज्ञानुवर्ती होनेका अभ्यस्त समझा जाता है तब हम उसे एक राजनैतिक समाजकी स्थितिमें कह सकते है।' ऑस्टिन की भाति बेन्थम भी कानूनोको एक सर्वोच्च शासक या अधिपतिके आदेश कह कर पुकारते है। अधिपतिके अधिकार सिद्धान्तरूपमें सीमित है। पर व्यवहारमें उन पर विरोधकी सम्भावनाका और प्रत्यक्ष समझौतेका प्रतिबन्ध लगा रहता है। बेन्थम हॉब्स के इस सिद्धान्तको नही मानते कि प्रभुसत्ता असीमित और अविभाज्य है।

अधिपतिका सबसे बडा कर्त्तव्य है कानून बनाना। श्री बेन्थम की दृष्टिमें प्रत्येक कानून एक बुराई है क्योकि उनके तर्कके अनुसार प्रत्येक कानून स्वाधीनताका अपहरण है। इसलिए कानूनोका औचित्य वही तक है जहा तक उनसे अधिकतम लोगोको अधिकतम सुख मिल सके। 'अधिकारियोको चुनना और उन्हें निकाल देना प्रभुसत्ताका सर्वोच्च कानून है।'

हॉब्स और बेन्थम के विचारोकी पूर्णता जॉन ऑस्टिन के ग्रन्थोमें हुई जिन्होने प्रभुसत्ता का एक अधिकारपूर्ण विवेचन किया जो आधुनिक युग तक व्यापकरूपसे स्वीकार किया गया है। श्री ऑस्टिन के सिद्धान्तकी विवेचनाको हम यही छोड देते है और केवल उनकी रूप-रेखा मात्र यहा स्पष्ट करेंगे।

अपने ग्रन्थ «Lectures on Jurisprudence» में श्री ऑस्टिन लिखते है प्रभुसत्ता और स्वतत्र राजनैतिक समाजके सम्बन्धकी धारणाको सक्षेपमें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है 'यदि एक निश्चित उच्चकोटिका मनुष्य जिसे अपने ही समान किसी दूसरेके आज्ञापालनका अभ्यास नही है, किसी एक निश्चित समाजके बहुमतसे आज्ञा-पालन करानेका अभ्यासी है तो वह निर्दिष्ट मनुष्य उस समाजमें अधिपति है, और वह समाज (उस मनुष्य सहित) ऐसा समाज है जिसे राजनैतिक और स्वतत्र समाज कहा जाता है।' कानूनकी सीधी-सी परिभाषा यह की गयी है कि एक उच्च व्यक्ति द्वारा निम्न स्तर वालोको दिया गया हुआ आदेश है। ऑस्टिन के शब्दोमें, 'राजनैतिक दृष्टि से उच्च स्तरके व्यक्ति अथवा अधिपतिके द्वारा राजनैतिक दृष्टिसे अधीन व्यक्तियोके लिए बनाए गए नियमोका सर्वसमष्टि ही कानून है। किसी समाजके बहुमत द्वारा

किसी निश्चित उच्चकोटिके मनुष्यके आदेशोका सर्वदा पालन प्रधानत इस कारणमे होता है कि उस उच्चकोटिके मनुष्यमें 'अपने अधीन व्यक्ति या व्यक्तियो पर असीम दवाव डालनेकी शक्ति होती है (प्रथम खड २२६, १८६६ का सस्करण)।'

प्रभुसत्ता सम्बन्धी ऑस्टिन के सिद्धान्तमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वात ध्यान देनेकी यह है कि उन्होने शक्ति अथवा बलको ही निर्णायक तत्त्व मान लिया है। कानून अथवा न्याय और औचित्यका तो कोई प्रश्न ही नही है। यदि रूसो 'इच्छा' पर जोर देते है तो ऑस्टिन शक्ति पर (५७ ३५०)।' इसके सम्बन्धमें श्री बोसाके का कहना है ऑस्टिन की प्रभुसत्ताका आधार शक्ति है, हमारे (आदर्शवादियोंके) विचारमें प्रभुसत्ता समूची जनताकी इच्छा पर आधारित है।

श्री टी० एच० ग्रीन ने ऑस्टिन और रूसो के प्रभुसत्ता सम्बन्धी प्रत्यक्षत विरोधी सिद्धान्तोमें मेल वैठानेकी कोशिश की है। उनका कहना है कि रूसो के विरुद्ध ऑस्टिन का यह मत ठीक है कि प्रभुसत्ता एक ऐसे निर्दिष्ट व्यक्ति या व्यक्ति-समूहमें निहित रहती है जिसमें कानूनोको लागू करने और जनता द्वारा उनका पालन करानेकी जानी-बूझी क्षमता है और जिस पर किसी प्रकारका कानूनी नियत्रण नही चल सकता (२९ ९७)।' ग्रीन का कहना है कि जब पश्चिमी देशोमे 'अधिपति' (Sovereign) या प्रभु शब्दका यह निश्चित अर्थ स्वीकार हो चुका है तब रूसो ने प्रभुसत्ताकी स्थिति एक अनिश्चित सार्वजनिक इच्छामें बता कर अपने पाठकोंको भ्रममें डाल दिया है। पर ऑस्टिन के विरुद्ध रूसो का यह कहना ठीक है कि अधिपतिकी आज्ञाओका पालन करनेका प्रधान कारण भय नही है बल्कि यह अनुभूति और विचार है कि सार्वजनिक कल्याणकी सिद्धिके लिए ऐसी आज्ञाओका पालन करना आवश्यक है। और व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याणका अभिन्न अग है। दूसरे शब्दोमें एक निश्चित प्रधान व्यक्तिकी आज्ञा का पालन इसलिए किया जाता है कि उसे सार्वजनिक इच्छाका प्रतीक या विकास माना जाता है। अधिपति दवाव डालनेकी असीमित शक्तिका प्रयोग नही करता। आखिरकार उसकी शक्तिका आधार है अपने सामान्य हितोंके सम्बन्धमें जनताकी निश्चित धारणाओ के साथ उस शक्तिका सामजस्य (२९ ९६)।' अधिपतिकी अधिकार-सत्ताकी स्वीकृति को हम 'घटा कर यह नही कह सकते कि वह केवल प्रत्येक व्यक्तिके दिलमें अधिपतिका भय मात्र है। वलिक वह तो कुछ निश्चित उद्देश्योकी सिद्धिके लिए सर्वसामान्य इच्छा है (२९ ९६)।' यदि यह इच्छा सक्रिय नही रह पाती अथवा अधिपतिके आदेशोसे उसका सघर्ष होता है तो यह अभ्यस्त आज्ञानुवर्तिता (Habitual obedience) भी समाप्त हो जाती है।

६. प्रभुसत्ता सम्बन्धी ऑस्टिन का सिद्धान्त (Austin's Theory of Sovereignty).

प्रभुसत्ता सम्बन्धी वैधानिक दृष्टिकोणकी सबसे अच्छी व्याख्या जॉन ऑस्टिन ने की है। उनकी व्याख्यामें एक वैज्ञानिक स्पष्टता और पूर्णता है जो वहुत ही प्रभावपूर्ण है। निचोड निम्नलिखित चार सीधे-सादे प्रमेयो (Propositions) में दिया जा

•

क राज्य (अथवा ऑस्टिन द्वारा स्वतत्र राजनैतिक समाज) में एक ऐसा 'निर्दिष्ट

उच्चतर मनुष्य' होता है नागरिकोका बहुसंख्यक समाज जिसकी आज्ञाओका पालन करने का अभ्यासी होता है।

(२) जो कुछ भी यह उच्चतर मनुष्य आदेश देता है वही कानून होता है और उनके बिना कोई कानून नही बन सकता।

(३) इस उच्चतर मनुष्यकी शक्ति, जिसे प्रभुसत्ता कहते है, अविभाज्य है।

(४) यह प्रभुशक्ति परमपूर्ण होती है और उस पर प्रतिबन्ध नही लग सकता।

आलोचना :

(१) आलोचकोने इन सभी प्रस्तावोकी कडी आलोचनाकी है। फिर भी, जैसा कि श्री लॉर्ड ने कहा है इनमेंसे प्रत्येकमें कुछ न कुछ सत्य या अर्ध-सत्य है जो महत्त्वपूर्ण है।

(क) पहली प्रस्तावनाकी आलोचना श्री हेनरी मेन ने अपनी पुस्तक 'Early Institutions' में की है। उसमें उन्होने लिखा है कि पूर्वके अनेक साम्राज्योमें ऐसी कोई चीज़ है ही नही जिसे श्री ऑस्टिन 'निर्दिष्ट उच्चतर मानव' कहते है। उदाहरणके लिए पजावके सिख राज्यमें रणजीतसिंह ने अपनी प्रजा पर तानाशाही अधिकार बरते। उनके छोटेसे छोटे आदेशोका उल्लघन करनेका दण्ड मृत्यु या अग-भग होता था। पर वह भी समाजके परम्परागत विधान (Customary laws) के अधीन रहे और कभी भी ऐसा कोई आदेश नही दिया जिसकी चर्चा श्री आस्टिन ने अपने सिद्धान्तमें की है। प्रथाए या परम्पराए युगोकी देन होती है और किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को उनकी उत्पत्तिका उत्तरदायी नही कहा जा सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री ऑस्टिन की धारणाका अधिपति राज्यके अस्तित्वके लिए अनिवार्य नही है क्योकि यह कहना तो स्पष्टत अर्थ-हीन है कि जहा कही ऑस्टिन की धारणाका अधिपति नही है वहा या तो प्रसुप्त अराजकता है या प्राकृतिक स्थिति (५४ ८८)।' जॉन चिपमैनग्रे का कहना है कि समाजके वास्तविक शासक अप्रकट या अप्रत्यक्ष रहते है (४७ : ५६)।

(ख) इगलैंडमें 'एक निर्दिष्ट उच्चतर व्यक्ति' को खोज बताना तो बहुत आसान है पर जब इस सिद्धान्तको हम पूर्वके प्राचीन निरकुश राज्यो अथवा अमेरिका के सविधान पर लागू करते है तब कठिनाई होती है। फिर भी हम श्री लॉर्ड के इस कथनसे सहमत है कि हमें समाजमें किसी सर्वोच्च शक्तिकी स्थितिको इसीलिए अस्वीकार नही करना चाहिए कि उसे निर्दिष्ट करनेमें हमें कठिनाई होती है। 'व्यवहारमें तथा सिद्धान्तमें एक ऐसी परम सत्ताको खोज लेना हमेशा आसान है जिसके विरुद्ध कोई अपील न हो सके (५८ : ८८)।' लेकिन हो सकता है कि वह खोज अर्थहीन हो।

(ग) यह सिद्धान्त बिल्कुल ही भाव-सूक्ष्म (abstract) और वैधानिक है। और प्रभुसत्ताके दार्शनिक पक्षपर इसमें कोई विचार नही किया गया। आजकल प्रजातत्रवादी राज्योका आधार सार्वजनिक इच्छाको ही माना जाता है। जैसा कि श्री गार्नर ने कहा है 'यह उच्चतर व्यक्ति (अर्थात् ऑस्टिन के मतसे अधिपति) न तो सार्वजनिक इच्छा हो सकती है, जैसा कि श्री रूसो ने सोचा था, न जनताका समूह हो सकता है, न निर्वाचक-मडल और न जनमत, नैतिक भावना सामान्य विवेक, परमात्माकी इच्छा आदि भाव-सूक्ष्म (abstract) कल्पनाए हो सकती है।' इसे तो एक निर्दिष्ट व्यक्ति या अधिकारी होना चाहिए जो स्वय किसी कानूनी प्रतिबन्धके अधीन न हो (२२ : १७९-८०)।'

(घ) और फिर यदि अधिपतिकी अधिकार-सत्ताको केवल अभ्यस्त आज्ञापालन ही प्राप्त होता है तो उसे असीमित मानना कुछ तर्क-सगत नही जान पडता।

(२) ऑस्टिन की दूसरी मान्यता यह है कि एक निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्यके रूपमें अधिपति सर्वोच्च विधान-निर्माता है। वह जो भी आदेश देता है, वही कानून है। जहा तक अत्यन्त प्राचीन प्रथाओ और परम्पराओका सम्बन्ध है, जो प्रत्येक समाजमे आदेश-मूलक विधानके साथ-साथ चलती है, ऑस्टिन का उनके सम्बन्धमें कहना है कि 'अधिपति जिस बातकी अनुमति देता है वह भी आदेश ही है। उदाहरणके लिए इगलैडका प्रचलित विधान है जो ऐसी परम्पराओके रूपमें है जिनकी व्याख्या होती है, जिनका सशोधन और सवर्धन भी, जब कभी अदालतें उनका प्रयोग करती है, होता है (२८ ११५)। उसके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि इगलैड का बादशाह अपनी पार्लियामेंटके साथ उस परम्परागत विधानकी अनुमति देता है। और इसलिए वह जब चाहे मनचाहा परिवर्तन उसमे कर सकता है। पर यह केवल एक सैद्धान्तिक शक्ति है क्योकि अधिपति बिना स्वय अपनी सुरक्षाको सकटमें डाले हुए परम्परागत विधानमें अधिक परिवर्तन नही कर सकता।

यदि हम पूर्वके प्राचीन साम्राज्योकी ओर निगाह डालते है तो उनमें भी स्वेच्छाचारी शासककी शक्ति कानून बनानेकी हद तक नही पहुचती। अधिकाश रूपमें यह साम्राज्यमें राजस्व या राजकर सग्रह करने और सैनिक भर्ती करनेके साधन-मात्र थे। 'समय-समय पर दिए जाने वाले विशिष्ट आदेशो' से अलग वह कोई दूसरे कानून नही लागू करते थे। उन्होने कभी भी 'परम्परागत विधानको न्याय-पूर्ण ढगसे लागू या प्रयुक्त भी नही किया (२९ ९९)।' जनताका साधारण जीवन ऐसे अधिकारियो द्वारा नियन्त्रित होता था जिनके बीच इन निरकुश राज्योने कभी हस्तक्षेप नही किया। यह अधिकारी अनिर्दिष्ट होते थे और यह अधिकार-सत्ता किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समूहमे स्थित नही रहती थी। और यदि इसे किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूहमें स्थित माना भी जाता था तो वह सम्मिलित रूपसे पुरोहितो अथवा परम्परागत धर्मके व्याख्याताओमें परिवारके साथ काम करते हुए परिवारके प्रधानोमें और परिवारकी सीमाके बाहर काम करने वाली ग्राम-पचायतमें स्थित मानी जाती थी (२९ ९९)। सक्षेपमें ऑस्टिनके सिद्धान्तमें भूल यह की गयी है कि सभी प्रकारके कानूनोको 'केवल आदेश' मान लिया गया है और केवल शक्ति-तत्त्व पर ही उचितसे अधिक जोर दिया गया है। उनके सिद्धान्तमें अधिपतिकी प्रधानता केवल आदेश-मूलक विधानके क्षेत्रमें ही है। और उनका सिद्धान्त केवल वैधानिक दृष्टिसे ही लागू किया जा सकता है, नैतिक अथवा भौतिक दृष्टिसे नही। केवल आदेश-मूलक विधानके निर्माताके रूपमें ही अधिपति सर्वप्रधान और अनियन्त्रित है।

इस सारी विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऑस्टिन की कल्पनाका अधिपति कानूनोका एकमात्र निर्माता नही है। श्री डुगुइट (Duguit) तो यहा तक कहते है कि राज्य कानूनोको नही बनाता बल्कि कानून ही राज्यको बनाते है। उनका कहना है कि 'कानून तो सामाजिक आवश्यकताकी अभिव्यक्ति-मात्र है'।

(३) तीसरी प्रस्तावना यह है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है।

(क) जैसा कि श्री लॉर्ड (Lord) ने कहा है, एक दृष्टिकोणसे यह विचार विवेचन की कसौटी पर टिक नही सकता। प्रत्यक राजनैतिक समाजमें कर्त्तव्योका (यद्यपि इच्छ का नही) एक बटवारा होता है और बिना ऐसे बटवारेके कोई भी सरकार सफलता-पूर्व

चल नही सकती। अग्रेजोके सविधान में न केवल एक वैधानिक प्रभु है बल्कि एक कार्यपालक और एक न्यायपालक अधिपति भी होता है। वैधानिक प्रभुमें राजमुकुट अर्थात् सम्राट्, हॉउस ऑफ लार्डस (House of Lords) और हॉउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) शामिल रहते है। कार्यपालक अधिपति सम्राट् और मन्त्रियोको मिलाकर बनता है। न्यायपालक अधिपतिका काम सर्वोच्च अपीलोके लिए सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें हॉउस ऑफ लॉर्डस (House of Lords) करता है। यह तीनो अन्तिम अधिकार-सत्ताए 'एक दूसरेसे इतना मुक्त है कि केवल कार्यपालक अधिपति ही निरन्तर काम करता रहता है जब कि व्यवस्थापिका अस्थायी रूपमे भग हो जाया करती है और सर्वोच्च न्यायालयका अधिवेशन, हमेशा नही हुआ करता (५४ ८९)।' इससे ऐसा जान पडता है कि प्रभुसत्ता विभाजित की जा सकती है। इसके उत्तर में ऑस्टिनके अनुयायी कहेगे कि केवल वैधानिक अधिपति ही वास्तविक अधिपति है क्योकि कार्यपालिका और न्यायाधीश प्राय उसके आदेशोका पालन करते है। पर सयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे देशोके बारेमें क्या कहा जायगा जहा पर एक मूलभूत कानून है जिसे व्यवस्थापन (Legislation) के सामान्य दौरानमें बदला नही जा सकता। ऐसे मामलो में हम यह कल्पना कर सकते है कि 'व्यवस्थापनके विभिन्न साधारण और विशेष विभागो के पीछे एक प्रसुप्त शक्ति रहती है जो अपने अधिकार और अपनी शक्तिया इन विभागो को दिये रहती है और जो सिद्धान्तत अपने उन अधिकारो और शक्तियोको फिरसे ग्रहण कर सकती है (५४ . ८९) पर ऐसी शक्तिका—जो जनता ही हो सकती है—कभी कोई भी आज्ञापालन नही करता, सिवा इसके कि जनता स्वय भले ही अपने एजेंटो या घटको के माध्यमसे अपनी आज्ञाओका पालन करती हो (५४ ८९)। ऑस्टिन के समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि कर्त्तव्य विभाजित हो सकते है पर इच्छा नही। इच्छा तो एक इकाई है। राज्य एक आत्मविरोधी (Self-Contradictory) ढगसे काम नही कर सकता। उद्देश्य एक ही होना चाहिए वह चाहे जितना मिश्रित क्यो न हो। इस दृष्टिसे व्याख्या करने पर यह सत्य है प्रभुसत्ता अविभाज्य है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि राज्यकी एकता परमावश्यक है।

(ख) वैधानिक प्रभुसत्ता और राजनैतिक प्रभुसत्ताके बीचके अन्तरका अर्थ भी कभी-कभी यह लगाया गया है कि प्रभुसत्ताका विभाजन हो सकता है। ऑस्टिन इस तथ्यको जानते है कि इगलैंडकी जनता या 'बहुसख्यक सर्वसाधारण लोग भी,' जैसा कि वह उन्हे कहते थे, प्रभुसत्ताके साझीदार है। पर चूकि वह वैधानिक और राजनैतिक प्रभुसत्ताके बादके विभेदको नही समझ सके इसीलिए उन्होने यह भूल की कि जनताको भी वैधानिक प्रभुका एक अग मान लिया। श्री गिलक्राइस्ट के अनुसार ऑस्टिन का कहना है कि

१. पालियामेंट या ससद प्रभु या अधिपति है।
२ राजा और अभिजात वर्ग (Peers) तथा निर्वाचक-मडल अधिपति है।
३ जब पालियामेंट भग हो जाय तब निर्वाचक-मडल अधिपति है।
४. सर्वसाधारण लोगोको शक्तिया प्राप्त है, जो
   (क) न्यास-मुक्त (Trust free) है।
   (ख) वह न्यासधारी है (८८ ११९)।'

(४) चौथी प्रस्थापना यह है कि प्रभुशक्ति परसपूर्ण और असीमित है। बहुलवादियो

(Pluralists) न इस मान्यताकी बडी कडी आलोचना की है। जो बहुलवादी नही हैं उन्होने भी इस बातको स्वीकार किया है कि यद्यपि प्रभुसत्ता वैधानिक दृष्टिसे असीमित हो सकती है फिर भी राजनैतिक और ऐतिहासिक प्रतिबन्ध उसे हर ओरसे घेरे है। अधिपतिकी असीम शक्ति और उसके अनन्त अधिकारको वह लोग न्याय-शास्त्रकी भाव-कल्पना-मात्र (mere abstractions) मानते हैं।

(क) श्री ब्लशली (Bluntschli) का कहना है कि अपने समूचे रूपमें राज्य सर्वशक्तिमान् नहीं है क्योकि वाह्यत वह अन्य राज्योंके अधिकारोंसे और आन्तरिक दृष्टि से वह स्वय अपनी प्रकृति और व्यक्तिगत सदस्योंके अधिकारोंसे सीमित हैं। इसी प्रकार श्री बेन्थम का कहना है कि राज्यकी प्रभुसत्ता उन सधियोंसे सीमित है जो वह अन्य राज्यो के साथ करता है। ब्रिटिश पार्लियामेंटकी प्रभुसत्ताके सम्बन्धमें लिखते हुए श्री लेसली स्टिफेन (Leslie Stephen) कहते हैं कि वह 'बाहर और भीतर दोनो ओरसे सीमित है। भीतरसे वह इसलिए सीमित है क्योकि व्यवस्थापिका कुछ निश्चित सामाजिक परि-स्थितियोंकी उपज है और जो शक्तिया समाजका निर्धारण करती है उन्हींके द्वारा वह भी निर्धारित है, और बाहरसे इसलिए सीमित है कि कानून लागू करनेकी उसकी शक्ति लोगो की कानून माननेकी प्रेरणा पर निर्भर है और वह प्ररणा स्वय सीमित है। यदि व्यव-स्थापिका यह निर्णय करे कि नीली आखो वाले सभी बच्चोंको मार डालना चाहिए तो ऐसे बच्चोका सुरक्षित रखना ग़ैरकानूनी हो जायगा, पर वह व्यवस्थापिका पागल होगी जो ऐसा कानून पास करे और वह प्रजा मूर्ख और जड होगी जो ऐसे कानूनके सामने सर झुका दे (७५ १४३)।'

इस सारी आलोचनाका उत्तर ऑस्टिन के अनुयायी यह देते है कि ऊपर बताए हुए प्रतिबन्ध नैतिक है वैधानिक नही, और वह स्वय अपने ऊपर लागू किए गए हैं। 'कानूनी दृष्टिसे राज्य सर्वशक्तिमान् है (५१ ५१)।'

(ख) प्रथाओ या परम्पराओ द्वारा लगे हुए प्रतिबन्धकी चर्चा पहले की जा चुकी है। ससारके कुछ भागोंमें प्रथाओ द्वारा एक वास्तविक प्रतिबन्ध लग जाता है। यह कहना कि रणजीतसिंह ने पजावमें प्रथाओको अपनी अनुमति दी थी, यह कहनेके समान है कि पाठक आकर्षण-सिद्धान्त (Law of Gravitation) को काम करनेकी अनुमति देता हैं। रणजीतसिंह ने उसीको अनुमति दी जिसे वह बदल न सके। इस आलोचनाका उत्तर ऑस्टिन की ओरसे यह होगा कि प्रभुसत्ता सम्बन्धी उनकी परिभाषा केवल सभ्य राज्यो पर लागू होती है अर्ध सभ्य अथवा आदिम समाजो पर नही। पर कठिनाई यह है कि सभ्य राज्योंमें भी कमसे कम कुछ अश तक यह परिभाषा एक भाव-कल्पना-मात्र है। सर जेम्स स्टिफेन लिखते हैं "जैसे प्रकृतिमें कोई परिपूर्ण वृत्त (perfect circle) नही है अथवा पूर्णत कठोर वस्तु (Rigid body) नही है या कोई ऐसी यात्रिक व्यवस्था नही है जिसमें कोई सघर्ष (Friction) नही हो या समाजकी कोई ऐसी अवस्था नही है जिसमें लोग केवल स्वार्थके दृष्टिकोणसे ही काम करते हो इसी प्रकार प्रकृतिमें ऐसा कोई अधिपति नही हैं जो परमपूर्ण हो (५१ ७५)।" असीमित अधिकार-शक्तिकी कही सत्ता नही है। तानाशाही देशोंमें भी ऐसे अनेक प्रभाव रहते हैं जो प्रभुसत्ता पर असर डाला करते है। एक स्वतत्र व्यवस्थित राजनैतिक समाजमें ऐसे प्रभावोंके निचोड़ को राजनैतिक प्रभुसत्ता कहते है।

(ग) प्रभुसत्ताकी परमपूर्णताके सिद्धान्त पर एक दूसरी आपत्ति संघवाद (federalism) की ओर से की जाती है। यह कहा जाता है कि ऑस्टिन ने जिस समय अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उस समय वर्तमान राज्य अपने बचपनमें ही था। इसलिए यह तर्क किया जाता है कि उनका सिद्धान्त एकात्मक राज्य (Unitary State) पर चाहे जितना लागू हो किन्तु संघात्मक राज्यो पर बहुत कम या बिल्कुल ही नही लागू होता। यद्यपि यह कठिन दिखायी देता है फिर भी एक संघ-राज्यमे प्रभुसत्ताका निर्धारण करना असम्भव नही है। गलत धारणाएं इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि लोग राज्य और सरकारको ही भ्रमात्मक दृष्टिसे देखते है।

(घ) कुछ ऐसे लोग भी है जिनका यह कहना है कि प्रभुसत्ता सम्बन्धी ऑस्टिन का सिद्धान्त वैधानिक निरंकुशताको उत्पन्न करेगा। ऑस्टिन ने इस आलोचनाको पहलेसे ही समझ लिया था। पर वह ठीक ही कहते थे कि 'सर्वोच्चता की ऐसी कोई महन्तशाही नही हो सकती, न स्रष्टाओका ऐसा कोई संगठन हो सकता है और न अधिपतियोकी ऐसी कोई शृंखला बन सकती है जो अनन्तता (infinity) की कोटि तक चढती चली जाय (२२ १८१)।' यह ध्यान देनेकी बात है कि परमपूर्ण प्रभुसत्ताका सिद्धान्त प्रतिपादित करनेमें ऑस्टिन का उद्देश्य १९ वी शताब्दीके इगलैंड के व्यवस्थापनमें होनेवाले सुधारको सहायता देना था न कि तानाशाहीको फिरसे जीवित करना (३०) उनके समकालीन बहुत से रूढिवादी (Conservatives) बेन्थम की सुधार-योजनाओंके विरोधी थे। और श्री ऑस्टिन इस प्रकारके आलोचकोसे केवल यही कहते है कि परम्पराएं या प्रथाएं, दैवी नियम आदि राज्यके विधानसे न तो मुक्त हैं और न उसके ऊपर है। वह सब उसके अधीन है। इसलिए सर्वोच्च व्यवस्थापिका वैधानिक दृष्टिसे सर्वसमर्थ (Omnicompetent) है।

(ङ) असीमित और अनन्त प्रभुसत्ताके सिद्धान्तकी आलोचना श्री लॉस्की ने पाडित्य, बहुलवाद (Pluralism) और अन्तर्राष्ट्रीयतावादके दृष्टिकोणसे किया है। वास्तविक ऐतिहासिक अनुभवके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि, 'कही भी किसी भी अधिपति ने कभी असीमित अधिकार-शक्ति नहीं बरती और हमेशा ऐसे अधिकार बरतनेके प्रयत्न का परिणाम संरक्षणोकी स्थापना ही हुआ है।' वह ठीक ही कहते है कि इगलैंडकी पार्लियामेंट को भी वास्तविक व्यवहार-क्षेत्रमें निरंकुश अधिकार-शक्ति नहीं प्राप्त है। 'कानूनी दृष्टिसे पार्लियामेंट सहित सम्राट् जनमतकी अवहेलना कर सकता है पर व्यावहारिक दृष्टिसे वह केवल इसी छिपी हुई शर्त पर कर सकता है कि ऐसा करनेमें वह सम्राट् और पार्लियामेंट भी अन्तत समाप्त हो जाय (४७:५१)।' पाडित्यके दृष्टिकोणसे प्रश्न पर विचार करते हुए श्री लास्की इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि यद्यपि ऑस्टिन के सिद्धान्तकी रूप-रेखा सुरक्षित है पर उनका तत्त्व समर्पित किया जा चुका है।

एक बहुलवादी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादीके रूपमें श्री लास्की प्रभुसत्ताको राज्यके भीतरके दूसरे संघो तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावादके हितमें सीमित रखना चाहते हैं। उनका दावा है कि कुछ कार्योंमें दूसरे संघोकी शक्ति भी उतनी ही मौलिक और पूर्ण है जितनी स्वयं राज्यकी। वह लिखते हैं, 'अपने-अपने क्षेत्रमें यह संघ स्वयं राज्यकी अपेक्षा कुछ कम प्रभुत्वपूर्ण नही है (४९:५०)।' इसलिए 'यह धारणा कि अधिकार-सत्ता न केवल सीमित है बल्कि उसे सीमित होना चाहिए राजनीतिक दर्शनकी एक आधारभूत मान्यता है

(४७ ६३)।' इसी प्रकार, लास्की का कहना है, मानवताके हितके लिए भी प्रभुसत्ता का सीमित होना आवश्यक है। वह इस तथ्यको भलीभाति समझते है कि सर्व-प्रभुत्व सम्पन्न स्वतत्र राज्योका परस्पर प्रतियोगी होना विश्वकी शान्ति और एकताके लिए घातक है। ससारमें परस्पर एक दूसरेके आश्रित रहनेका जोरदार समर्थन करते हुए वह कहते है 'निश्चित रूपसे बाहरी दृष्टिसे एक ऐसे परमपूर्ण और स्वतत्र सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना मानवताके हितोसे मेल नही खाती जो अपने सदस्योसे अपनी सरकारके प्रति निरुपाधिक निष्ठा (Unqualified allegiance) या बिना शर्त राज्य-भक्ति की माग करता हो और अपने आदेश-बलसे उस निष्ठाको लागू करता हो हमारे सामने समस्या यह नही है कि हम मानवताके हितोका मेल इगलैंड के हितोसे मिलाए, समस्या यह है कि हम इस प्रकारसे काम करें कि इगलैडकी नीतिमें स्वभावत मनुष्यका हित सम्मिलित रहे (४७ ६४)।'

श्री लास्की की उपर्युक्त आलोचना पर हम अगले विभागमें अलगसे विचार करेंगे जिसमें बहुलवादके अनेक पक्षोकी विवेचना की गई है। यहा पर हम इतना कह सकते है कि वैधानिक दृष्टिकोणसे ऑस्टिन का सिद्धान्त पूर्ण है। वह सिद्धान्त स्पष्ट और तर्क-सगत है यद्यपि उसमें विवेचन अधिक गम्भीर नही किया गया। उस सिद्धान्तकी बहुत सी आलोचनाए भ्रात आशकाओ और भ्रात धारणाओंके कारण की गयी है।

७. बहुलवाद और राज्य-प्रभुसत्ता (Pluralism and State Sovereignty)

हालके कुछ वर्षोमें प्रभुसत्ताकी चरम धारणाके विरुद्ध एक स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई है। बहुलवादको राज्यकी हीगेलवादी धारणा (Hegelian conception) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। हीगेलवाद राज्यको एक दैवी धरातल पर उठा देता है। और उसे 'पृथ्वी पर ईश्वर' की भाति देखता है। वह उसे चरम वैधानिक ही नही वरन् एक चरम नैतिक अधिकार-सत्ता मान लेता है। वह राज्यको अनेक सीमित क्षमता और सीमित अधिकार-सत्तावाले सघोमेंसे एक अद्वितीय सघ मान लेता है।

हालके कुछ वर्षोमें प्रजातत्रकी असफलता और प्रजातत्रवादी सगठनोकी स्वाभाविक दुर्बलताके फलस्वरूप बहुलवादी भावनाको और भी अधिक बल मिला है। कुछ लोग यह कहते है कि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territori l representation) बिल्कुल ही असन्तोष-जनक है, उससे समाजके विभिन्न स्वार्थोका उपयुक्त प्रतिनिधित्व नही हो पाता और अल्पसख्यक समुदाय बाहर छट जाते है।

वर्तमान राज्य व्यवस्थाके बहुत अधिक कार्य-भारसे दबे होनेके फलस्वरूप जो कर्त्तव्योमें शिथिलता आ गयी है इससे बहुलवादकी धारणाको और अधिक बल मिला है। आधुनिक राज्य बहुत अधिक काम करनेका प्रयत्न करता है और उसका परिणाम होता है कार्य-कुशलता की कमी। जैसा श्री वार्ड ने कहा है 'केन्द्रको पक्षाघात हो गया है और शीर्ष बिन्दुओ पर रक्तहीनता दिखाई देती है।' केन्द्रमें कार्य-भार कम करने और सामाजिक कुशलताकी अभिवृद्धि करनेके लिए बहुलवादी विकेन्द्रीकृत (Decentralised) राज्य का समर्थन करते है। मैकआइवर का कहना है कि सर्वसामर्थ्य (Omnipotence) का अर्थ है अयोग्यता और असामर्थ्य।

अराजकतावादियो और सघवादियो (syndicalists) की भाति बहुलवादी राज्य

का विनाश नही करना चाहते। यद्यपि उनके सिद्धान्तका तर्क-सगत परिणाम राज्यका उन्मूलन ही होना है। वह राज्यको बनाए रखनेके इच्छुक है पर उससे प्रभुसत्ता छीन लेना चाहते है। उनका विश्वास है कि प्रभुसत्ताका सिद्धान्त जब उत्पन्न हुआ तब वह योरोपीय देशोंके गृह-युद्ध का तर्क-सगत परिणाम था (उदाहरणके लिए श्री बॉडिन का समकालीन फ्रास) और इसलिए उसे राज्यके विकासमे एक स्वाभाविक कदम मानना चाहिए। पर आज जब कि अपेक्षाकृत रूपसे राज्य गृह-युद्ध से मुक्त है और राष्ट्रीय कल्याण पर ज़ोर दिया जा रहा है तब एकात्मक सिद्धान्तकी अपेक्षा बहुलवादी सिद्धान्त को ही अधिक तथ्य-सगत माना जाता है। श्री ए० डी० लिड्से (A D Lindsay) के अनुसार यदि हम तथ्योकी ओर देखें तो स्पष्ट है कि राज्यकी प्रभुसत्ताका सिद्धान्त भग हो चुका है। श्री आर्नेस्ट बार्कर (Earnest Barker) का कहना है कि 'कोई भी राजनैतिक सिद्धान्त इतना निष्प्राण और निष्फल नही हो गया जितना कि सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्यका सिद्धान्त।' श्री क्रैब (Krabbe) की सम्मतिमें, 'प्रभुसत्ताकी धारणा को राजनीतिसे निकाल दिया जाना चाहिए।'

राज्यकी प्रभुसत्ता पर की जाने वाली आपत्तिया तीन रूपोमे होती है

(१) राज्य समाजके अन्य आवश्यक और तात्त्विक सघोकी अपेक्षा न तो पूर्वकालिक है और न उनसे श्रेष्ठ, इसलिए प्रभुसत्ताका विभाजन होना चाहिए और शक्तिया सघो में बट जानी चाहिए।

(२) राज्य अन्य राज्योके सम्बन्धमें न तो स्वतन्त्र है और न उसे स्वतत्र होना चाहिए।

(३) आन्तरिक दृष्टिसे राज्य कानूनसे ऊपर नही है, कानून राज्यसे ऊपर है और व्यावहारिक रूपमें राज्यसे स्वतत्र है।

(क) राज्यकी प्रभुसत्ता और सघ स्वायत्तता (State Sovereignty and Group Autonomy).

बहुलवादकी उत्पत्ति मध्य युगकी शिल्प-सघ-व्यवस्था मे हुई थी। उस समयकी अव्यवस्थित परिस्थितियोमे व्यापारियो और शिल्पियोके सघोको काफी स्वायत्त अधिकार मिल गए और उन्हे सस्थानो या कॉर्पोरेशनोका स्वरूप प्राप्त हो गया। पर जातीय राजतन्त्रोका उदय होने पर उनका पतन होने लगा। जर्मनीमे श्री गीर्क (Gierke) और इगलैडमे श्री मेटलैंड (Maitland) को आधुनिक समयमें सघोके पक्षमे बहुलवादी भावनाओका सस्थापक माना जा सकता है। यह दोनो ही लेखक समाजके स्थायी सघो को सचेत या सजीव मानते है और व्यक्तिगत सदस्योकी इच्छासे भिन्न उन सघोकी अपनी एक इच्छा भी मानते है। उनका कहना है कि प्रत्येक सामुदायिक सघका अपना एक व्यक्तित्व होता है और कानूनोके बनाने और विस्तृत करनेमे उनका हाथ रहता है। कानूनो के बनानेमें राज्यका हाथ प्रधान रूपसे रहता है पर राज्य अकेले ही कानून नही बनाता। यद्यपि यह दोनो ही लेखक राज्यकी चरम प्रभुसत्ताको अस्वीकार करते है फिर भी वह उसकी उच्चतर वैधानिक स्थितिको अस्वीकार नही करते। समाजके भीतर विभिन्न सघो के सहयोग और सन्तुलनके लिए वह राज्यको सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है।

श्री फिगिस (Figgis) ने भी धर्म-सघ (Church) के सम्बन्धमे सघोके वास्तविक

व्यक्तित्वके ऐसे ही सिद्धान्तका समर्थन किया है। उनका कहना है कि धर्म-सघका अस्तित्व राज्यकी कृपाके कारण नही है बल्कि उसमें एक व्यक्तिकी भाति ही आत्म-विकासकी शक्ति है। राज्य उसके सुसगठित व्यक्तित्वको न तो रोक सकते है और न उसकी अनुमति देते है वह केवल उसे स्वीकार भर कर लेते है। श्री फिगिस का कहना है कि मानव-समाज व्यक्तियोका कोई ऐसा बालूका ढेर नही है जो केवल राज्यके माध्यमसे ही एक दूसरेसे मिले हुए हो, बल्कि 'वह सघोका एक क्रमिक और विकासशील धर्म राज्य' है। इसलिए उनके अनुसार, प्रभुसत्ताका परम्परागत सिद्धान्त 'एक आदरणीय अन्ध-विश्वास' मात्र है। उनकी सामान्य विचारधारा यह है कि ऐसे विभिन्न कार्य-क्षेत्र है जिनमे विभिन्न सघोको स्वतत्र रूपसे काम करना चाहिए।

समाजके व्यावसायिक और आर्थिक सघोकी ओरसे एम० पॉल वॉन्कर और डर्कहेम (M. Paul Boncour and Durkheim) ने इसी प्रकारके दावे किए है। एफ० डब्ल्यू० कोकर (F W Coker) के अनुसार पॉल बॉन्कर का दृष्टि-कोण यह है कि राष्ट्रीय अधिपतिके अतिरिक्त, जो कि राष्ट्रके सार्वजनिक हितके मामलो को तय करता है, कुछ विशिष्ट अधिपति होने चाहिए जो उन मामलोको तय करे जिनमें किसी सघका कोई विशिष्ट स्वार्थ बहुमतके किसी दूरस्थ स्वार्थकी अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण हो। श्री डर्कहेम (Durkheim) इसी प्रकार प्राचीन व्यावसायिक सघको एक स्वीकृत सामाजिक सस्थाके रूपमें फिरसे जीवित करना चाहते हैं। वह चाहते है कि व्यावसायिक सघोको राजनीतिक प्रतिनिधित्वका आधार और आर्थिक नियत्रणका स्रोत बनाया जाय।

अभी हाल ही मे श्री एच० जे० लास्की ने एक ऐसी व्यवस्थाका समर्थन किया है जिसमें ऐसे सघोको पूरे-पूरे स्वायत्त अधिकार दे दिए जाय और राज्यको एकमात्र अनिवार्य सघ और मनुष्यके सार्वजनिक हितोका एकमात्र प्रतिनिधि बननेका अधिकार न दिया जाय। उनका सामान्य दृष्टिकोण यह है कि 'असीमित और अनुत्तरदायी राज्य का सिद्धान्त मानवताके हितोसे मेल नही खाता' और यह कि 'जैसे राजाओंके दैवी अधिकार समाप्त हो गए वैसे ही राज्यकी प्रभुसत्ता भी समाप्त हो जायगी। उनके अनुसार चरम प्रभुसत्ताका सिद्धान्त एक कानूनी ढकोसला और अर्थहीन धारणा है। राज्यको ट्रेड यूनियनके स्तर पर न उतारते हुए भी लास्की की सम्मति यह है कि प्रभु-सत्ता अनेक सघोमें बट जानी चाहिए। राज्यको अपना सहयोग और सन्तुलन रखनेका कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए पर उसे सर्वसमर्थ बननेका कोई अधिकार नही है। शक्तियोका महन्तशाही बनानेके स्थान पर उनका सन्तुलन होना चाहिए और अधिकार-सत्ताको सघात्मक बनाया जाना चाहिए।

श्री जी० डी० एच० कोल और सघ-समाजवादियो (Guild socialists) का विश्वास है कि समाजको उपभोक्ताओ और उत्पादकोंके बीच बट जाना चाहिए और वह इन दोनो सघोंके सहप्रभुत्व (Co-Sovereignty) या मिली-जुली प्रभुताका समर्थन करते है। उत्पादकोका सगठन राष्ट्रीय सघोमें होना चाहिए और इन सघोको न केवल शासकीय वल्कि वैधानिक अधिकार-सत्ता भी प्राप्त होनी चाहिए। इन परिस्थितियोमें न्यायपालिकाका कर्त्तव्य होगा राज्यके विधानकी व्याख्या करना और साथ ही साथ इन सघोंके विधानकी भी व्याख्या करना जिन्हे उपभोक्ताओ और उत्पादकोकी ससद क्रमश बनायेगी। इन दोनोके बीचमें होने वाले सघर्षको सन्तुलित करने वाली सस्था तय करेगी

जिसमें आवश्यक संघोंके प्रतिनिधि होंगे और जिसका स्वरूप संसदके दोनों भवनोंकी एक सम्मिलित समितिके समान होगा। इस सन्तुलन करने वाली संस्थाको दबाव डालनेकी शक्ति प्राप्त होगी और 'न्यायपालिका तथा कानून और पुलिसकी समस्त शक्ति' उनके अधीन होगी। ऐसी स्थिति उस व्यक्तिके लिए तर्क-संगत नहीं जान पड़ती जो राज्यकी प्रभुसत्ता को बिल्कुल ही अस्वीकार करता है। श्री वार्ड का यह कहना ठीक है "श्री फिगिस की भांति यह लोग संघ-समाजवादी अधिकार-सत्ताको अस्वीकार नहीं कर रहे बल्कि उसके ऐसे विभाजनको अस्वीकार करते हैं जिसमें उन संघोंकी स्थिति अनुविधाजनक है जिनमें वह रुचि लेते हैं (८० १२३-१२४)।"

श्री मैकआइवर जैसे समकालीन विचारकोंमें एक निश्चित बहुलवादी छाप है। अपनी पुस्तक «Modern State» में श्री मैकआइवर ने इस सुपरिचित बहुलवादी धारणाको व्यक्त किया है कि समाजकी अन्य अनेक संस्थाओं या संघोंमें से राज्य भी एक है यद्यपि उसके कर्त्तव्य कुछ अद्वितीय ढंगके हैं। राज्यमें एक संस्थान या कारपोरेशनकी सभी तात्त्विक विशेषताएं हैं। उसकी 'निश्चित सीमाएं हैं, निश्चित अधिकार-उत्तरदायित्व (५६.४७३) हैं।' एक कारपोरेशनकी भांति ही वह अधिकार और कर्त्तव्योंका पात्र है। यह कर्त्तव्य और अधिकार उसकी इकाईके अंग हैं (५६ ४७३)। चूंकि दूसरे संघ भी समाजके लिए उतने ही स्वाभाविक हैं जितना कि स्वयं राज्य, इसलिए राज्यको उनका निर्माण करने वाला नहीं माना जा सकता। व्यक्तियों और संघोंके सार्वजनिक कल्याणके लिए निस्सन्देह उनका अस्तित्व है पर सभी सामान्य हित उनकी सीमामें नहीं आते (५६.४७३) हजारों सांस्कृतिक और आर्थिक संघोंके आंशिक स्वार्थ भी सार्वजनिक स्वार्थके अंग हैं (५६ ४७३)। राज्यका कर्त्तव्य केवल इतना है कि 'वह सामाजिक सम्बन्धोंकी समूची व्यवस्थामें एक एकता स्थापित करे।'

श्री ए० डी० लिंड्से (A.D Lindsay) के अनुसार, "राज्यका संस्थानों (Corporations) पर तभी और उतना ही नियंत्रण हो सकता है जब और जितना नियंत्रण रखनेका अधिकार नागरिक देनेको तैयार हों।" राज्यका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है क्योंकि किसी संस्थानके सम्बन्धमें 'संघ-चेतना,' 'संघ-इच्छा' अथवा 'संघ-व्यक्तित्व' की बात सोचना एक अर्थहीन बात है। राज्य 'संगठनोंका संगठन' है। जहां अन्य संगठनों की सदस्यता स्वेच्छा-मूलक और अभिरुचि-प्रधान है वहां राज्यकी सदस्यता अनिवार्य और व्यापक है। पर लिंड्से का कहना है कि यह विशेषता ही सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यका सिद्धान्त उचित सिद्ध करनेके लिए काफी नहीं है।

श्री अर्नेस्ट बार्कर संघोंके वास्तविक व्यक्तित्वकी धारणाको अस्वीकार करते हैं। पर वह नीतिज्ञोंके इस दावेको स्वीकार करते हैं कि समाजमें स्थायी संघोंका अस्तित्व राज्यसे भी पहले था और उनमें से प्रत्येकका अपना एक संस्थानिक स्वरूप (corporate character) और कर्त्तव्य है। श्री बार्कर कहते हैं "जीवनकी एक सामान्य और व्यापक व्यवस्थाके रूपमें राज्यको अपने साथ होने वाले संघोंके सम्बन्धोंको, संघोंके पारस्परिक सम्बन्धोंको तथा संघों और उनके सदस्योंके सम्बन्धोंको सन्तुलित करना आवश्यक है। अपने साथ वाले सम्बन्धोंको स्वयं अपनी व्यवस्थाके प्रति निष्ठा और उसकी अखंडताको सुरक्षित रखनेके लिए सन्तुलित करना आवश्यक है। संघोंके पारस्परिक सम्बन्धोंको विधानकी दृष्टिसे संघोंकी समानता कायम रखनेके लिए सन्तुलित करना आवश्यक है और संघों तथा

उनके सदस्योंके सम्बन्धोको इसलिए सन्तुलित रखना आवश्यक है कि व्यक्ति सघकी निरकुशताका शिकार न बन जायें।" राज्यकी व्याख्या एक 'सघोके सघ' अथवा समुदायोके समुदायके रूपमें की गयी है।

मूल्याकन (Evaluation)

बहुलवादमे सत्यका बहुत बडा अश है यद्यपि उसको बहुत अधिक बढा-चढा कर कहा गया है। राज्यकी अत्यधिक प्रशसाके विरुद्ध यह एक उचित प्रतिक्रिया है। राज्यको वैधानिक प्रधानता चाहे जितनी प्राप्त हो पर उसे नैतिक प्रतिबन्धोके अधीन होना ही चाहिए। श्री गेटेल का कहना है कि एक कठोर और हठवादी विधानवादिता और ऑस्टिनके प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्तके विरुद्ध बहुलवादी सिद्धान्त एक सामयिक प्रतिक्रिया है। 'बहुलवादी अराजनैतिक सघोके बढते हुए महत्त्वकी ओर राज्य द्वारा इन सघोंके उचित कार्योमे अनावश्यक हस्तक्षेपके खतरेकी ओर और ऐसे सघोको राजनैतिक व्यवस्थामें अधिक स्वीकृति देनेकी आवश्यकताकी ओर सकेत करते है। सरकारकी सघात्मक व्यवस्था और व्यवस्थापिका सभाओमें सघ-प्रतिनिधित्वके जो सुझाव उन्होने दिए है वह शासन-व्यवस्था के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

अपनी प्रशसनीय पुस्तक « The New State » में कुमारी फॉलेट ने बहुलवादकी विशेषताओका निचोड निम्नलिखित रूपमे दिया है

(१) बहुलवादियोने राज्यके इस वर्तमान अधिकारका बुलबुला फोड दिया है कि वह प्रधान है।

(२) वह सघोंके महत्त्वको स्वीकार करते है और इस बातका अनुभव करते है कि हमारे आजके सघ-जीवनकी विविधतामे एक ऐसी महत्ता है जिसे राजनैतिक व्यवस्थामें तुरन्त स्वीकार किया जाना चाहिए।

(३) वह स्थानीय जीवनको फिरसे जीवित करनेकी माग करते है।

(४) वह इस बातको अनुभव करते है कि राज्यका स्वार्थ हमेशा उसके अगोके स्वार्थ के साथ एकरूप नही होता।

(५) बहुलवाद जनताके असगठित झुड-रूपकी समाप्तिका श्रीगणेश है, और

(६) बहुलवादने एकात्मता, सस्था तथा सघवादकी समस्याका विवेचन किया है।

इन गुणोंके होते हुए भी हम राजनैतिक बहुलवादको निम्नलिखित कारणोंसे स्वीकार नही कर सकते

(१) बहुलवादका तर्क सगत परिणाम है अराजकतावादी व्यक्तिवाद, यद्यपि बहुलवादी इसे स्वीकार नही करते। प्रभुसत्ताका विभाजन करनेका अर्थ है उसे नष्ट करना। प्रभुसत्ताका विभाजन करनेके बाद भी अनेक बहुलवादी राज्यको सहयोग और सन्तुलन स्थापित करनेका कर्त्तव्य सौंपनेके इच्छुक है। हमारा तर्क यह है कि इस कर्त्तव्यको सन्तोषजनक ढगसे पूरा करनेके लिए राज्यको वैधानिक प्रधानता प्राप्त होनी चाहिए। जब तक राज्यको सर्वोच्च वैधानिक नियत्रण-शक्ति प्राप्त न हो तब तक वह सघोंके स्वय अपने साथ, अन्य सघोंके साथ तथा सदस्योंके साथ रहने वाले सम्बन्धोको सन्तुलित नही रख सकता। यदि राज्यको वास्तवमें सघोंका सघ और समुदायोका समुदाय बनना है और

समाजके विभिन्न सघोके बीच सहयोग तथा सन्तुलन स्थापित करनेका अपना कर्त्तव्य कुशलता-पूर्वक पूरा करना है तो कुछ निष्कर्ष स्वाभाविक रूपसे निकलते हैं (क) राज्य को किसी ऐसी सस्था या सघका अस्तित्व बरदाश्त नही करना चाहिए जो सार्वजनिक हित और नीतिके विरुद्ध हो, (ख) सभी सघो या सस्थाओके साथ उसे समान व्यवहार करना चाहिए और किसी भी सस्थाको उसके सदस्योंके कारण अथवा विशेष व्यवहारके लिए दबाव डालनेकी क्षमताके कारण विशेष सुविधाजनक स्थान नही देना चाहिए, (ग) उसे किसी भी सस्था या सघको विभिन्न कार्य-पद्धतियोका समन्वय नही करने देना चाहिए। उदाहरणके लिए एक ट्रेड यूनियनको राजनैतिक कर लगानेकी अनुमति नही देनी चाहिए। इस सबका अर्थ यह है कि सरकारके विभिन्न अगो पर चाहे जो प्रतिबन्ध लगाये जाय पर राज्यको अन्तिम और चरम वैधानिक अधिकार-सत्ता प्राप्त होनी चाहिए।

(२) बहुलवादी यह मान लेते हैं कि समाजके भीतर विभिन्न सघ या वर्ग समानान्तर रूपसे चलते हैं और उनके बीच कर्त्तव्योका परस्पर सघर्ष नही होता। यदि यह धारणा ठीक होती तो एक सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यकी कोई आवश्यकता न होती। पर सामाजिक जीवनके तथ्य तो यह है कि कर्त्तव्योका अतिक्रमण होता है और स्वार्थो तथा निष्ठाओ (loyalties) में सघर्ष होता है। इस परिस्थितिके सुधारके लिए ही हमें एक अधिकार-पूर्ण राज्यकी आवश्यकता होती है। सघ-समाजवादी यह भूल जाते हैं कि आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नोंके बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीची जा सकती। एक राजनैतिक ससद (Parliament) और एक राष्ट्रीय आर्थिक कांग्रेसके सहप्रभुत्व (co-sovereignty) का समर्थन करते हुए भी उन्हें एक एकात्मक अधिपतिकी उस धारणाको स्वीकार ही करना पड़ता है जिससे वह इतनी घृणा करते हैं। क्योंकि वह राज्य तथा समस्त व्यावसायिक सघोंके प्रतिनिधियोको एक सम्मिलित सस्थाकी प्रतिष्ठा करते ही है। बहुलवादी इस बातका भी कोई सकेत नही देते कि वह आवश्यक और अनावश्यक सघोका निर्णय किस प्रकार करेंगे और किस आधार पर उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जायगा।

(३) जिस एकात्मवादी शत्रु पर बहुलवादी हमला करते हैं वह अधिकाश रूपमें तो एक काल्पनिक व्यक्ति ही है। हम हीगेल के निरकुशतावादकी वकालत नही कर रहे हैं पर आज बहुत कम एकात्मवादी हीगेल के अनुयायी हैं। हीगेल के अनुयायियोको छोड कर प्रभुसत्ताके परम्परागत समर्थकोंमेंसे कोई भी राज्यके सर्वसमर्थ होनेका दावा नही करता। वह लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि राज्यकी वास्तविक शक्ति सफल अवज्ञाकी सम्भावनाओ और नैतिक तथा बौद्धिक प्रतिबन्धोंसे सीमित है। पर इस स्वीकृतिसे बहुलवादियोको यह निष्कर्ष निकालनेका अधिकार नही मिल जाता कि राज्य सर्वप्रभुत्व-पूर्ण नही है और व्यक्तिकी निष्ठा पर उसका उच्चतर अधिकार नही है। श्री गेटेल का यह कहना ठीक है कि राज्य अपनी चरम वैधानिक प्रभुताका बलिदान किए बिना भी राजनैतिक कर्त्तव्योको स्वीकार कर सकता है, अपने कार्य क्षेत्रको सीमित कर सकता है और वर्ग-स्वार्थोंके प्रतिनिधित्व और स्थानीय विकेन्द्रीकरणका अवसर दे सकता है। श्री बॉडिन, हॉब्स, रूसो आदि परम्परागत सिद्धान्तवादियोंमेंसे कोई भी इस बातका दावा नही करता कि 'राज्यकी अधिकार-सत्ताकी आलोचना करना या उसको चुनौती

देना, उसकी अवज्ञा करना या उसका विरोध करना अनैतिक, अधार्मिक, तर्क-हीन अथवा असामाजिक या अव्यावहारिक ही है (F W Coker)।' वह केवल इतना ही कहते है कि राज्यका अस्तित्व क़ानूनोके बनाने और लागू करनेके लिए है और वह अपनी ही भांतिके किसी दूसरे अधिकारीके सम्मुख समर्पण करके प्रभुत्व-पूर्ण नही रह सकता। राज्यको उन्होने अनुत्तरदायी या निरकुश नही बताया। वह केवल अपनी ही तरहके किसी दूसरे अधिकारीके सम्मुख उत्तरदायी नही है। 'सक्षेपमे, किसी विशिष्ट प्रदेशके भीतर विधान बनाने वाले एक सगठनके रूपमें राज्य उस प्रदेशके भीतर अन्य सभी सामाजिक सघोसे उच्च और श्रेष्ठ है'।

श्री कोकर द्वारा बताये गये एकात्मवादकी मुख्य धारणाए यह है

(क) व्यक्तियो और सघोके पारस्परिक सम्बन्धोके लिए एकता और सन्तुलनकी एक व्यवस्था आवश्यक है।

(ख) इस व्यवस्थाको यह अधिकार होना चाहिए कि उस विशिष्ट प्रदेशके लोगोको सदस्यताके लिए विवश कर सके।

(ग) अपने आदेशोका पालन करनेके लिए उसे दबाव डालने वाली अधिकार-शक्ति प्राप्त होनी चाहिए, और

(घ) किसी भी एक प्रदेशमें इस प्रकारकी व्यवस्था या सस्था एकसे अधिक नही हो सकती। यह सभी धारणाए इतनी विचारपूर्ण है कि हमारी दृष्टिसे इनका कोई गम्भीर विरोध नही हो सकता।

(४) राज्यकी अद्वितीय विशेषता यह है कि उसकी सदस्यता अनिवार्य और व्यापक है—डाक्टर लिड्से इस बातको स्वीकार करते है पर उनका कहना है कि सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यकी स्थापनाके लिए इतना ही काफी नही है। यदि प्रभुसत्ताकी वही व्याख्या हो जो पिछले पैराग्राफमें की गयी है तो हम इस स्थितिका औचित्य नही समझ पाते। राज्य ही केवल एक ऐसा सघ है जो सबको समेट लेता है। वह समस्त सघोसे ऊपर और श्रेष्ठ है। केवल वही न्याय-पूर्वक शक्तिका प्रयोग कर सकता है। वह किसी समाजके सदस्योके सार्वजनिक हितोको सिद्ध करता है जब कि दूसरे सघ केवल आशिक हितोकी सिद्धि करते है। केवल वही निष्ठाओके सघर्ष और अव्यवस्थाके बीच व्यवस्था स्थापित कर सकता है। कुमारी फॉलेट का कहना है कि राज्य एकता स्थापित करने वाला साधन है। यह व्यक्तिके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका उपयोग करता है। राज्य व्यक्ति पर केवल उन सघोके माध्यमसे ही काम नही करता जिन सघोका वह सदस्य होता है बल्कि प्रत्यक्ष रूपसे भी काम करता है। कुमारी फॉलेट के सार पूर्ण शब्दोमें राज्यको सघोका समवाय या सघटन नही कहा जा सकता क्योकि कोई भी सघ या सघ-समूह व्यक्तिकी पूर्णताको नही समेट सकता। और एक आदर्श राज्य व्यक्तिकी पूर्णताकी माग करता है नागरिकता व्यावसायिक सघकी सदस्यताकी अपेक्षा बहुत बडी चीज है। राजनीतिमें हमें परिपूर्ण मनुष्यकी आवश्यकता होती है। आदर्श एकीकृत राज्य सबका अन्तर्विधान करने वाला (all-absorptive) नही होता। वह सर्वपरिग्राही (all-inclusive) होता है अर्थात् उसमें सबका समावेश हो जाता है एक सच्चे राज्यको अपने भीतर सभी स्वार्थोका समावेश करना चाहिए। राज्यको चाहिए कि वह हमारी अनेक निष्ठाओको लेकर उन्हें एक रूप दे। हमारी आत्माका निवास राज्यमें है। एक ऐसे व्यक्ति द्वारा

जिसमें स्पष्ट बहुलवादी छाप दिखाई देती है, राज्यकी अद्वितीय विशेषताओंकी यह प्रशंसा सचमुच बड़ी अर्थ-पूर्ण है।

(५) न केवल कुमारी फॉलेट वल्कि अन्य अनेक बहुलवादी सर्वप्रभुत्व-हीन (non-sovereign) राज्यके आदर्शको स्पष्ट रूपसे स्वीकार नहीं कर पाते। इसका अर्थ यह है कि सभी आवश्यक संघोंको पूर्ण समानताकी स्थिति देनेकी इच्छा रहते हुए भी परिस्थितियां उन्हें विवश करती हैं कि वह राज्यको प्रधान स्थान दें (F W Coker)। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीर्क और मेटलैंड (Gierke and Maitland) संघोंको वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओंसे ऊपर है।

श्री पॉल बॉन्कर (Paul Boncour) राज्यको सार्वजनिक हितों और राष्ट्रीय एकताका एकमात्र प्रतिनिधि मानते हैं। यद्यपि वह अन्य संघों और संस्थाओंको भी प्रभुत्व-पूर्ण मानते हैं पर उन सबको वह राज्यके अधीन स्थान देते हैं। वह राज्यको एक सहयोग और सन्तुलन स्थापित करने वाला साधन बनाना चाहते हैं। उनका कहना है कि यह राज्यका कर्त्तव्य है कि वह किसी भी प्रभुत्व-पूर्ण संघको जनता अथवा अन्य संघों या स्वयं अपने सदस्योंके प्रति अत्याचारपूर्ण व्यवहार करनेसे रोके।

इसी प्रकार फिगिस (Figgis) राज्यको एक समुदायोंका समुदाय मानते हैं और उसे सहयोग और सन्तुलन स्थापित करनेवाले साधनके रूपमें एक निश्चित कर्त्तव्य और उच्चतर अधिकार-सत्ता प्रदान करते हैं।

श्री ई० बार्कर (E Barker) लिखते हैं, 'हम देखते हैं कि राज्यको व्यावसायिक संघ, राष्ट्रीय संघ और धर्म-संघकी प्रगतिके सामने दब जानेको कहा जाता है। पर यह संघ चाहे जैसे अधिकारोंका दावा करें और चाहे जितने अधिकार इन्हें मिल जायं फिर भी एक व्यवस्था स्थापित करने वाली शक्तिके रूपमें राज्यकी आवश्यकता बनी रहेगी, और यह भी सम्भव है कि यदि इन संघोंको नवीन अधिकार मिलते हैं तो राज्यको भी, जितने अधिकार उससे छीने जायेंगे, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक अधिकार प्राप्त हों क्योंकि उसे व्यवस्थाकी और अधिक गम्भीर और पेचीदा समस्याओंको हल करना होगा (३ १८३)।

(६) बहुलवादी बिल्कुल स्पष्ट नहीं कर पाते कि वह क्या चाहते हैं। यदि राज्यको भी अन्य अनेक संघोंकी भांति एक संघ बनाना है तो क्या बहुलवादी अनिवार्य राजकर और अनिवार्य नागरिकताको समाप्त कर देंगे? एक चीज जो बिल्कुल स्पष्ट है यह है कि बहुलवादी राज्यकी प्रभुसत्ता पर इसलिए चोट करते हैं कि समाजके भीतर जो अनेक स्थायी संघ हैं उन्हें इतनी अधिक मात्रामें स्थानीय स्वायत्तता प्राप्त हो जाय जितनी सम्भव हो। इस उचित इच्छा पर कोई भी एकात्मवादी आपत्ति नहीं कर सकता; 'यह बिल्कुल न्याय-युक्त बात है कि उद्योग और सरकारके नियंत्रणमें उन लोगोंको और अधिक भाग मिलना चाहिए जिन्हें इस समय इस नियंत्रणसे बाहर रखा गया है। पर राजकीय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तको दोषपूर्ण हो जानेसे बचानेके लिए अथवा राज्यकी नीतियोंके निश्चय और उन्हें लागू करनेकी व्यवस्थाको और अधिक विकेन्द्रित और नाना विधि (divicified) बनानेके प्रस्ताव स्वीकृत करानेके लिए ही राजकीय प्रभुसत्ताका सिद्धान्त छोड़ देना न तो आवश्यक ही जान पड़ता है और न उपादेय ही (F. W Coker)।'

सच्ची प्रभुसत्ता और सच्चे व्यावसायिक संघवादमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। श्री गेटेल

तो यह भी सम्भव मानते हैं कि जैसे ही राज्य और स्थायी संघोंके बीचके झगड़े तय हो जायेंगे और राज्य सामाजिक जीवनकी नई शक्तियोंको धीरे-धीरे वैधानिक स्वीकृति दे देगा वैसे ही बहुलवाद समाप्त हो जायगा। एक ऐसे सिद्धान्तके रूपमें जो प्रभुसत्ताके परम्परागत विचारोंकी ज्यादतियोंको ठीक करता है और उसकी कमियोंको पूरा करता है, बहुलवाद एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। पर जब वह प्रभुसत्ताके सिद्धान्तको उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करता है तब, यदि व्यर्थ नहीं तो खतरनाक अवश्य हो जाता है।

यह एक आश्चर्यकी बात है कि राज्यकी अधिकार-सत्ताके विरुद्ध ऊंची आवाज उठाते हुए भी अनेक बहुलवादी दूसरे प्रकारके सामाजिक दबावोंका यदि समर्थन नहीं करते तो कमसे कम उन्हें सहन अवश्य कर लेते हैं। श्री लास्की जैसा स्वाधीनताका पुजारी भी कहता है, 'कोई भी इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकता कि वैधानिक दृष्टिसे प्रत्येक राज्यमें एक ऐसी सत्ता होनी है जिसकी अधिकार-शक्ति असीमित होती है'।

(ख) राज्यकी प्रभुसत्ता और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (State Sovereignty and Internationalism).

पिछले कुछ दिनोंसे अन्तर्राष्ट्रीय विधानवेत्ता और विश्व-शान्ति तथा व्यवस्थाके हितैषी बाह्य प्रभुसत्ता (external sovereignty) के सिद्धान्तकी आलोचना करते आ रहे हैं। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय वकीलोंका कहना है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधान को अभी तक वास्तविक विधानका पद नहीं प्राप्त हुआ और उसके पीछे कोई दंड-व्यवस्था भी नहीं है, फिर भी उसके पीछे जनमतकी एक बहुत बड़ी शक्ति है जो उसे स्वीकार करती है। उनका कहना है कि आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनको दंड-व्यवस्थासे युक्त करके वास्तविक कानून बना दिया जाय। वह बाह्य प्रभुसत्ताके आपेक्षिक स्वरूप पर जोर देते हैं और अर्ध प्रभुत्व-सम्पन्न राज्योंकी चर्चा करते हैं। उनकी मान्यता यह है कि आन्तरिक मामलोंमें राज्यको पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होना चाहिए पर बाहरी सम्बन्धोंमें उसे मनमानी नहीं करने देना चाहिए। वह ऐसी परिस्थितिको बनाए रखना मूर्खता समझते हैं जिसमें आज कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संघोंके अधिकार-क्षेत्रको अस्वीकार कर सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों-समझौतोंको भंग कर सकता है।

श्री लास्की, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावनाके प्रबल समर्थक माने जा सकते हैं, बाह्य प्रभुसत्ता पर की जाने वाली आधुनिक आपत्तियोंको बहुलवादका सहायक मानते हैं। असीमित बाह्य प्रभुसत्ताको बनाए रखनेके विरुद्ध वह जो कुछ कहते हैं उसे उन्हींके शब्दोंमें व्यक्त किया जाता है 'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें एक स्वतंत्र सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यकी धारणा मानवताके कल्याणके लिए घातक है। एक राज्यको दूसरे राज्यों के साथ किस प्रकार रहना चाहिए इसका निर्णय करनेका अधिकार एकमात्र उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता।' राज्योंका पारस्परिक जीवन एक ऐसा विषय है जिसमें राज्यों के बीच परस्पर समझौता होना चाहिए। उदाहरणके लिए इंगलैंडको अकेले इस बातका निर्णय नहीं करना चाहिए कि किस प्रकारके हथियार वह बनायेगा और दूसरे देशोंसे किन लोगोंको वह अपने प्रदेशमें आने देगा। यह मसले ऐसे हैं जिनका असर सर्वसामान्य जनताके जीवन पर पड़ता है और इनकी व्यवस्थाके लिए एक सुसंगठित एकीकृत (Unlimited) विश्व-संगठनकी आवश्यकता है। यदि मनुष्योंको महान् मानव-समाज

में रहना है तो उन्हे सहयोग-मूलक व्यवहार सीखना होगा। एक विश्व-राज्यमे, उसका निर्माण चाहे जिस प्रकार हो और उसमे चाहे जिस मात्रामे विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) हो, पृथक् प्रभुसत्ताके लिए स्थान नही है (४७ : ५५-६६)।'

मूल्याकन और आलोचना (Appreciation and Criticism)

ऊपर व्यक्त किए गए दृष्टिकोणसे हम तात्त्विक रूपसे सहमत है। हमें ऐसा लगता है कि वाह्य प्रभुशक्ति उतनी आवश्यक नही है जितनी कि आन्तरिक प्रभुशक्ति। अब वह समय आ गया है जब एक सबल पक्षपात-हीन और सब राज्यो द्वारा स्वीकृत विश्व-सगठन स्थापित किया जाय और सामान्य हितोंके मसलो पर उसके निर्णयको सभी राज्य स्वीकार करें। लीग ऑफ् नेशन्स (राष्ट्र सघ) और हेग ट्रिब्युनल इसी दिशामे उठाए गए कदम है। आजके सयुक्त राष्ट्र सघमें विश्व सहयोग और शान्तिका साधन बननेकी छिपी हुई शक्ति है। पर इसकी पूर्णताके पहले ससारके राष्ट्रोंके लिए यह आवश्यक होगा कि अपनी चरम राजकीय प्रभुत्व की वर्तमान मान्यतामें कुछ सुधार या परिवर्तन करें।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें राज्योको आशिक या पूर्ण रूपमे अपनी प्रभुसत्ता समर्पित करनी है तो यह पूछा जा सकता है कि परमपूर्ण, असीमित और अविभाज्य प्रभुसत्ताके सिद्धान्तका क्या होगा? हमारा उत्तर यह है कि केवल बात बनाये रखनेके लिए एक पहले से बने हुए सिद्धान्तके साथ ससारकी परिस्थितियोका बलात् मेल बैठानेकी अपेक्षा मानवताका कल्याण कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वाह्य प्रभुसत्ताको समर्पित करनेकी नई परिस्थितिके दो तर्कपूर्ण समाधान विभाजित प्रभुसत्ताके सिद्धान्तकी ओट लिए बिना भी दिए जा सकते है। यदि एक विश्व-सगठनको केन्द्र बना कर एक एकीकृत वैधानिक नियत्रण स्थापित करनेमे हमे सफलता मिलती है तो प्रभुसत्ता उस स्थितिमें भी एक सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न विश्व राज्यमें निहित रहेगी। यह सर्वप्रभुत्व सम्पन्न राज्य जिस प्रकारके सम्बन्ध विश्व-राज्य और उसके अगी जातीय राज्यो के बीच होगे उनके आधार पर एकात्मक अथवा सघात्मक हो सकता है। दूसरा समाधान श्री बॉडिन और कुछ अन्य एकात्मवादी लेखकोने दिया है जो इस बातको स्वीकार करते है कि राज्यका प्रभुत्व दूसरे राज्योंके प्रति उनके नैतिक उत्तरदायित्वोंसे सीमित है। यद्यपि यह उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य स्वय ही अपने ऊपर लगाए हुए है और इनकी कोई कानूनी मान्यता नही है फिर भी ससारके जनमतको इनके पक्षमें इस प्रकार तैयार किया जा सकता है कि कोई भी राज्य इनका उल्लघन करनेका साहस न करे। आन्तरिक प्रभुत्वके क्षेत्रमें भी राज्योका सीमित किया जाना कोई अपवाद नही है। यदि इन सब विचारोंके होते हुए भी मानवताके हितके लिए विभाजित प्रभुसत्ताकी आवश्यकता होती है तो हमें प्रसन्नतापूर्वक उस स्थितिको स्वीकार करना चाहिए।

(ग) राज्यकी प्रभुसत्ता और विधान.

श्री डुग्विट (Duguit) ने फ्रान्स और श्री क्रैब (Krabbe) ने हॉलैंडमे बहुलवाद पर एक भिन्न दृष्टिकोणसे विचार किया है। वह विधानका दृष्टिकोण है। डुग्विट के अनुसार कानून 'राजनैतिक सगठनकी अपेक्षा स्वतत्र, उच्च और पूर्वगामिक है और

अनुभूति-मूलक (Subjective) न होकर वस्तुरूप (Objective) विधान है (Coker)। विधान सामाजिक एकता और सगठनकी वृत्ति है। वह सामाजिक जीवनका परिणाम है। उनका मानना इसलिए आवश्यक है कि वह ऐसे नियमोको प्रकट करते हैं जो स्वय अपने आपमें ही आवश्यक है न कि इसलिए कि उन्हे किसी निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य ने बनाया है या बनानेकी अनुमति दी है। राज्यका कर्त्तव्य इन कानूनोको बल देना है। राज्यका व्यक्तित्व एक कोरी कल्पना है क्योकि जिन व्यक्तियोंसे राज्य बनता है, जो सामाजिक अन्योन्याश्रय सम्बन्धसे एक दूसरेसे बधे हुए है उनसे भिन्न राज्यका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। विधान राज्यको सीमित करता है न कि राज्य विधानको, इसलिए जोर राज्यके कर्त्तव्यो पर देना चाहिए न कि उसके अधिकारो पर। राज्यकी तात्त्विक विशेषता प्रभुसत्ता न हो कर जनताकी सेवा है। जैसा श्री गेटेल ने कहा है डगुइट का मुख्य उद्देश्य राज्यके भीतरके विभिन्न सामाजिक सघोका राजनैतिक महत्त्व स्थापित करना नही है, उनका मुख्य उद्देश्य शासकोंके कार्यो पर न्याय-मूलक प्रतिबन्ध लगाना है और राज्यके उत्तरदायित्वका सिद्धान्त विकसित करना है।

सामाजिक उत्तरदायित्व श्री डगुइट के राजनैतिक विचारोकी पूजी है। मोटे तौर पर वह राज्यके पहलेके प्राकृतिक विधान (Law of Nature) से मिलता-जुलता है। वह विधानका नैतिक स्रोत है। सामाजिक सगठन और एकतासे उत्पन्न होनेवाले आचार-शास्त्रका निचोड श्री डगुइट इस प्रकार देते है 'ऐसा कोई काम मत करो जिससे सादृश्य या श्रम-विभाजनके कारण सामाजिक एकता और दृढ़तामें कमी आये। व्यक्ति द्वारा जो कुछ भी भौतिक दृष्टिसे सम्भव हो, सामाजिक एकता व दृढताके दोनो रूपोकी अभिवृद्धि के लिए, सब कुछ करो (१६ २६६)।' डगुइट के लिए सामाजिक एकता व दृढता एक आध्यात्मिक महत्त्वकी बात है। वह नैतिक आदर्शोका स्रोत है, विधानका तर्क-सगत आधार है और सामाजिक सघोंके तात्त्विक महत्त्वको प्रकट करती है (८० १२६)।'

इन सबके आधार पर डगुइट की दृष्टिमें प्रभुसत्ताकी धारणा आवश्यकतासे अधिक बढ़ गई है। पर वह यह नही बताते कि इस बातका निर्णय कौन करेगा कि विधानका कोई नियम जनताके हितमे है या नही और किस प्रकार उसे एक व्यवस्थापित विधानका रूप दिया जाये। श्री डगुइट के सिद्धान्तका प्रभाव न्यायालयोकी अधिकार वृत्ति जान पडता है। विधानको सामाजिक रूप देना है और राज्यको उपयुक्त सेवाओके लिए न्यायालयोंके प्रति उत्तरदायी बनाना है।

क्रैब का दृष्टिकोण डगुइट के दृष्टिकोणसे बिल्कुल मिलता-जुलता है। जो प्रभुसत्ता वह स्वीकार करनेके लिए तैयार है वह है विधानकी प्रभुसत्ता। विधान राज्यसे स्वतत्र और उससे उच्चतर है। उसकी उत्पत्ति सामाजिक एकता और दृढतासे नही हुई जैसा कि श्री डगुइट मानते है। विधान राज्यका निर्माण करनेवाले समाजके बहुमतके विवेक से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार उसकी उत्पत्ति अनुभूति-मूलक है। शक्ति राज्यकी तात्त्विक विशेषता नही है। राज्यकी प्रधान विशेषता यह है कि वह एक वैधानिक समाज है। 'एक वैधानिक समाजके अतिरिक्त राज्य और कुछ भी नही है—मानव समाजका एक ऐसा अश जिसकी अपनी एक स्वतत्र वैधानिक सम्बन्धोकी व्यवस्था हो। इसलिए राज्य कुछ हितो को कानूनी महत्त्व देनेके अलावा और कोई काम नही करता।'

श्री डगुइट के विपरीत क्रैब विधानकी इस भावनाको इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंके क्षेत्र

म भी ले जाते हैं। उनका विश्वास है कि किसी भी जातिको एक स्वतन्त्र वैधानिक जीवन बितानेका अधिकार नहीं है। 'यदि एक स्वतन्त्र वैधानिक जीवनसे अन्तर्राष्ट्रीय समाजके हितोंकी अभिवृद्धि नहीं होती तो किसी भी जातिका यह दावा मान्य नहीं हो सकता कि वह अपने सामाजिक जीवनका नियन्त्रण स्वयं ही करे (८ १५९)। श्री क्रैब के अनुसार न्यायका विचार अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमे भी होना चाहिए और जिस हद तक इस दिशामें उन्नति होती जाए उसीके अनुरूप आधुनिक राज्योंकी वैधानिक कार्यवाही संकुचित या सीमित होती जानी चाहिए। क्रैब का विश्वास है कि उन्नत वर्तमान राज्य एक राष्ट्रोत्तर राज्य (Supernational State) के प्रदेश बन जाएंगे। पर इस राष्ट्रोत्तर स्थिति के पहले, 'अन्तर्राष्ट्रीय समाजको प्रभुसत्ताकी भावनाको पार कर आगे बढ़ना होगा (४४· २७१)।' अन्तर्राष्ट्रीय समाजके एक स्वतन्त्र वैधानिक समाजके रूपमें विकसित होनेके पहले एक स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय अधिपतिकी आवश्यकता है (८०: १६१)।

क्रैब के सिद्धान्तका सबसे ऊंचा लक्ष्य है राज्यको एक वैधानिक समुदायके रूपमें संकुचित कर देना और न्यायाधीशको समाजमें शक्तिका केन्द्र बनाना। राजनीतिमें उनकी अभिरुचि अन्तर्राष्ट्रीयतावादमें है।

इन लेखकोंके विचारसे विधान न केवल व्यवस्थापिका तथा राज्यके अन्य अंगों पर ही प्रतिबन्ध लगाता है बल्कि स्वयं राज्य पर भी। एक दूसरे फ्रांसीसी लेखक लेफर (Le-Fur) इस दृष्टिकोणको इस प्रकार व्यक्त करते हैं 'अन्य सभी व्यक्तियोंकी भांति राज्य भी केवल स्वयं अपनी इच्छा द्वारा ही नियमित होनेके बजाय कुछ अंगोंमें एक ऐसी बाह्य शक्ति द्वारा भी नियन्त्रित होता है जो राज्योंसे श्रेष्ठ और पूर्वकालिक है 'यह उच्चतर शक्ति है विधान—प्राकृतिक विधान या बौद्धिक विधान (Natural Law or Rational Law) (२३.१९९)।'

मूल्यांकन और आलोचना

यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे हम भली भांति स्वीकार नहीं कर सकते। यदि इस सिद्धान्तका कुल अर्थ केवल इतना ही है कि किसी राज्यके विधान या कानून केवल उसकी व्यवस्थापिकाकी ऐसी आज्ञाएं अथवा किसी उच्चतर व्यक्तिके ऐसे आदेश-मात्र नहीं हैं जिन पर जनताकी इच्छाओं और सम्मतियोंका कोई असर नहीं पड़ता बल्कि उन पर प्रायः जनताके विवेकका, प्रचलित सामाजिक न्यायकी भावना तथा अन्य ऐसे ही तत्त्वोंका प्रभाव पड़ता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं। किसी भी राज्यमें कोई भी संगठन विधानोंको बनाता नहीं है। जिस प्रकार विधान या कानून बनाए जाते हैं और जिस प्रकार वे लागू किए जाते हैं, दोनों ही में एक ऐसी इच्छा प्रतिबिम्बित होती है जो उनको तौर पर बनायी गई व्यवस्थापिकाओंकी इच्छासे भिन्न होती है। यदि कानूनको न्याय आदर्शके प्रति सच्चा होना है तो उसमें तर्क और न्यायका अंश होना ही चाहिए। बहुलवादियोंको यह सब स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है फिर भी वह बहुलवादियों द्वारा दी गई कानूनकी परिभाषाको स्वीकार नहीं कर सकता।

इसके प्रतिनिधि जैसा श्री कोकर कहते हैं विधान एक ऐसी चीज है जो निर्मित की जाती है, कानून वही नहीं है जो हमारी सामान्य बुद्धि द्वारा ठीक ज्ञात पड़ती है या जो

कुछ समाज चाहता है। एक निश्चित व्यक्ति अथवा व्यवस्थापिकाके अतिरिक्त हम विधानकी भावना, 'एक सामान्य इच्छा' आदिकी बात कर सकते हैं पर उनसे बाहर हम साधारणत स्वीकृत अर्थोमें विधानकी बात नही कर सकते। 'सामाजिक एकता और दृढता' तथा 'विवेक हमें ऐसे निश्चित कानून देनेमें असमर्थ है जिनकी व्याख्या की जा सके और जिन्हें न्यायाधीश लागू कर सकें।'

एक बात और है। जिस सिद्धान्तका हम विवेचन कर रहे हैं वह प्राकृतिक विधान और प्राकृतिक अधिकारोके प्रश्नको फिरसे खडा करना चाहता है जिससे कि राजनीति-शास्त्र आधुनिक समयमें मुक्त रहा है। प्राकृतिक विधान और प्राकृतिक अधिकारो तक वापस लौटनेसे राजनीति-शास्त्र एक ऐसे गढेमें गिर जायगा जिससे बाहर निकलना आसान न होगा।

और अन्तमे यह सिद्ध करनेके लिए प्रमाण है कि जब यह न्यायशास्त्री विधानके द्वारा राज्यकी प्रभुसत्ताको सीमित करनेका प्रयत्न करते हैं तब वास्तवमें इनके दिमागमें सरकार के विभिन्न अगोकी बात रहती है स्वय राज्य नही।

निष्कर्ष (Conclusion)

(क) जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रभुसत्ताके परम्परागत सिद्धान्तमें श्री हीगेल जैसे उसके समर्थको द्वारा जो अतिवादी वृत्ति पैदा हो गई थी उसके विरुद्ध बहुलवाद एक वाछित प्रतिक्रिया है। राज्यको नैतिक प्रभुत्व देना, जैसा कि श्री हीगेल ने किया है, एक खतरनाक रास्ता है। इसमें सन्देह नही कि कानूनी दृष्टिसे राज्य सर्वोपरि है। पर उसे इस बातका कोई अधिकार नही है कि वह अपने आपको अपने नागरिकोके प्रति तथा अन्य राज्योके प्रति अपने उत्तरदायित्वोसे मुक्त कर ले। हीगेल का यह विचार कि राज्य जो कुछ भी आदेश दे उसका ठीक होना आवश्यक है एक गलत विचार है पर हीगेल द्वारा प्रतिपादित राज्यकी निरकुशताको अस्वीकार करनेका अर्थ यह नही है कि हम बहुलवादी बन जाते हैं।

(ख) बहुलवाद ने राज्योका ध्यान सघ-जीवनकी वास्तविकताकी ओर आकर्षित करके आधुनिक राजनीति-शास्त्रकी बहुत बडी सेवा की है। इसमें कोई सन्देह नही कि आर्थिक, व्यावसायिक, सामाजिक और धार्मिक सघ समाजके जीवनमें एक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण और अनुपम स्थान रखते है। इसलिए यह कहना कि उनका अस्तित्व केवल राज्यकी कृपाके बल पर है, धृष्टतासे कुछ कम नही है। यह न्याय-युक्त बात है कि समाजके स्थायी सघोको स्वय अपनी व्यवस्था करनके लिए यथासम्भव अधिकसे अधिक स्थानीय स्वायत्त अधिकार दिए जाने चाहिए। राजाकी सामान्य नीति और कानूनोके निर्माणमें भी उन्हें एक प्रभावपूर्ण अवसर मिलना चाहिए। पर इस सबका यह अर्थ नही है कि राज्य को दूसरे सघोके समान स्तर पर उतार देना चाहिए। राज्य स्वय अपने आपमें एक विशिष्ट वर्ग बना रहना चाहिए। उसे सर्वप्रधान रहना ही चाहिए।

(ग) समाजके अन्य आवश्यक सघोको पूर्ण आन्तरिक स्वायत्त अधिकार देनेके बाद भी हमें एक उच्चतर सगठनकी आवश्यकता है जो सहयोग और सन्तुलनकी व्यवस्था कर सके। यदि राज्य समाजके अन्य सगठनोमें से एक सगठन है जिसके समान अधिकार

और जिसकी समान प्रतिष्ठा है तो यह समझमे नही आता कि न्याय और सन्तुलन स्थापित करनेके अपने उत्तरदायित्वको वह सतोषजनक ढगसे कैसे पूरा कर सकता है। राज्यकी सदस्यता अनिवार्य है और उसकी अधिकार-सत्ता व्यापक है। इन अद्वितीय विशेषताओके विना राज्य न्याय और सामाजिक कल्याणकी प्रतिष्ठा नही रख सकता। श्री कोकर का यह कहना ठीक है कि विना राजाकी स्पष्ट सेवा-सहायताके गैरराजनैतिक सामाजिक सघ न तो पनप सकते है और न अपना उद्देश्य पूरा कर सकते है।

(घ) समाजके भीतर काम करनेवाले अनेक सघ उन सब कार्योको पूरा नही कर देते जो मनुष्यके कल्याणके लिए आवश्यक है। वह केवल आशिक हितोकी सिद्धि करते है। राज्य ही एक ऐसा सगठन है जो समाजके सदस्योकी सभी आवश्यकताओको पूरा करनेमे समर्थ है। इसीलिए हम यह देखते है कि सार्वजनिक हितोकी रखवाली सभी सभ्य राज्योका विशिष्ट कर्त्तव्य है।

(ट) यदि हम एकात्मवादी प्रभुसत्ताके सिद्धान्तको अस्वीकार कर देते है तो हमारे लिए तर्क-सगत स्थिति केवल अराजकतावादियो और शिल्प-सघवादियोकी रह जाती है। वहुलवाद दोनोके वीच एक असम्भव मध्यम स्थितिका प्रयत्न करता है। अपने अन्तिम रूपमें वहुलवादी सिद्धान्त अराजकतावादी सिद्धान्त है।

(च) यदि 'प्रभुसत्ता' शब्दका दुरुपयोग होता है और उसे उस प्रकारकी निरकुशता से मुक्त नही किया जा सकता जो श्री हीगेल ने उसे दी है तो 'प्रधानता (Supremacy)' अथवा परम अधिकार-सत्ता (Final Authority) शब्द हमारे दृष्टिकोणको व्यक्त करनेके लिए अपनाये जा सकते है। इन पृष्ठोमें व्यक्त की गई विचारधारा प्रभुसत्ताके परम्परागत समर्थकोंके विचारोकी अपेक्षा श्री वॉडिन के सिद्धान्तसे अधिक मेल खाती है।

(छ) हम जिस निष्कर्ष पर पहुचे है उसे श्री सेबाइन (Sabine) के शब्दोंमे व्यक्त किया जा सकता है जहा तक मेरा अपना सम्बन्ध है, 'मै यथासम्भव एकात्मवादी बननेका अपना अधिकार सुरक्षित रखता हू और जहा आवश्यक हो बहुलवादी बननेको तैयार हू।'

SELECT READINGS

AUSTIN, J —*Lectures on Jurisprudence*—Vol I, Lecture VI

BARKER, E —*Political Thought in England from Spencer to Today* —pp 175-183

BOSANQUET, B —*The Philosophical Theory of the State*—Preface and Introduction to the Second Edition

BRYCE, J —*Studies in History and Jurisprudence*—Essay X

COKER, R W —*Chapter on Pluralistic Theories and the Attack upon State Sovereignty in Political Theory in Recent Times by Merriam, Barnes and others*

DICEY, A. V.—*Law of the Constitution*—Lecture II.

DICEY, A. V.—*Law and Public Opinion*—Lecture I

FOLLETT, M P.—*The New State.*

GARNER, J W — *Political Science and Government*—Chapters VIII and IX
GETTELL, R T —*Introduction to Political Science*—Ch VIII
GILCHRIST, R N —*Principles of Political Science*—Ch V
GREEN, T H —*Principles of Political Obligation*—Section F
HSIAO—*Political Pluralism*
KRABBE—*The Modern Idea of the State (Translated by Sabine and Shepard)*
LASKI, H J —*A Grammar of Politics*—Chapter II
LEACOCK, S —*Elements of Political Science*—Chapter IV
LORD, A R —*Principles of Political Science*—Ch III, IV and V
MACIVER, R M —*The Modern State*—Chapters VI, VII, XV, Section II and XVI
MERRIAM, C. E —*History of the Theory of Sovereignty Since Rousseau*
POLLOCK, F *History of the Science of Politics*
ROUSSEAU, J J —*Social Contract*—Books I, II.
SIDGWICK, H —*Elements of Politics*—Ch XXXI
WARD, P W —*Sovereignty—A Study of Contemporary Political Nation*
WILDE, N —*The Ethical Basis of the State*—Chs IV and VIII
WILLOUGHBY, W W —*The Nature of the State*—Chs IX and XI

११

सरकार का संगठन

(The Organisation of Government)

१. शक्तियोको विभाजित करनेका सिद्धान्त (Theory of the Separation of Powers).

प्राचीन परम्पराके अनुसार सरकारके अगोका विभाजन व्यवस्थापिका (Legislative), कार्यपालिका (Executive) और न्यायपालिका (Judiciary) इन तीन विभागोमें हुआ है। पर यह विभाजन इतना सरल समझा जाता है कि आधुनिक परिस्थितियोके लिए ठीक नहीं बैठता।

पश्चिमी राजनैतिक विचारोके जन्मदाता अरस्तू विचार-विमर्श-मूलक शक्तियो (Deliberative powers), शासकीय शक्तियो (Magisterial powers) और न्याय-सम्बन्धी शक्तियोमें विभेद करते हैं। यद्यपि अरस्तू के लिए इन तीनो शक्तियोमें सिद्धान्त रूपसे विभेद करना आसान था फिर भी व्यवहारके क्षेत्रमें प्राचीन यूनानमे यह तीनो शक्तिया एक ही व्यक्ति द्वारा वरती जाती थी।

अरस्तू के वाद होने वाले रोमन विचारकोने—विशेषकर पॉलिवियस (Polybius)—एक यूनानी जिन्हे एक राजवन्दी या प्रतिभूके रूपमें इटली ले जाया गया था—और श्री सिसरो (Cicero) ने—'शक्तियोके तुल्य सन्तुलन' (Balanced equilibrium of powers) की महत्ता पर वहुत जोर दिया है। एकतत्र, कुलीनतत्र और प्रजातत्रके तत्त्वोको वह क्रमश रोमके मैजिस्ट्रेटोमे, सीनेट या अनुपदमें और लोकसभामे मूर्त रूप मानते थे। सरकारका यह प्रत्येक अग दूसरे अगो पर निग्रह या रोक लगानेका काम करता था। यह दोनो ही लेखक सरकारके एक ऐसे 'मिश्रित' स्वरूपको राज्यकी दृढ स्थितिके लिए आवश्यक समझते थे जिसमें निग्रह और सन्तुलन (Checks and balance) की एक सुन्दर व्यवस्था हो।

मध्य-युगमें शक्तियोके विभाजनके सिद्धान्तमे कोई प्रगति नही हुई।

आधुनिक कालके प्रारम्भिक विचारकोमेंसे एक विचारक—श्री वॉडिन—ने कार्यपालिकाकी शक्तियोको न्यायपालिकाकी शक्तियोंसे अलग करनेका महत्त्व समझा है। वह इस वात पर जोर देते हैं कि शासक को स्वय ही न्यायाधिकरणका कार्य नही करना चाहिए वल्कि उसे अपनी यह शक्ति एक स्वतत्र अदालतको सौंप देनी चाहिए। उनका तर्क यह है कि यदि इन दोनो शक्तियोको एक दूसरेसे अलग नही किया जायगा तो न्याय और दयाका मनमाना मिश्रण हो जायगा, न्यायका दृढता-पूर्वक पालन और उसकी मनमानी अवहेलना दोनो साथ ही साथ चलेंगे।

अपनी पुस्तक « Civil Government » में श्री लॉक (Locke) ने 'शक्तियोके विभाजन' के सिद्धान्तकी कहीं-कही चर्चाकी है। उनके अनुसार नागरिक समाजकी

स्थापना जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्तिकी रक्षाके लिए की गयी थी। और इन उद्देश्यो को पूरा करनेके साधन भी उतने ही सुनिश्चित है जितने कि स्वय उद्देश्य। इन साधनोकी अभिव्यक्ति सरकारके कार्य-क्षेत्रके तेहरे या चौहरे विभाजनमें होती है। यह विभाजन है—(१) व्यवस्थापन (Legislation) जिसमें इन अधिकारोको निश्चित करने वाले प्राकृतिक विधानकी 'आदर्श व्याख्या' करनेकी व्यवस्था होती है, (२) सरकारी कार्य-व्यापारका न्याय-पक्ष, अर्थात् समाजके व्यक्तियोंके बीच प्रकृतिके विधानोकी उपर्युक्त व्याख्या कार्यान्वित करनेके लिए न्याय-पूर्ण और पक्षपात-हीन अधिकार-सत्ताकी व्यवस्था, (३) सरकारका वह अग जिसे कार्यपालिका (Executive) कहते हैं, अर्थात् दड-विधान द्वारा कानूनके आदेशोको कार्यान्वित या लागू करनेके लिए समाजकी शक्तिका प्रयोग करनेकी व्यवस्था। समाज और उसके व्यक्तियोंके हितोको दूसरे समुदायोके हितोंसे सुरक्षित रखनेका जो कार्य है उसे श्री लॉक 'सघात्मक' कर्त्तव्य कहते है।

शक्तियोके दुरुपयोग सम्बन्धी उनके सिद्धान्तमें एक नवीन चिन्तन मिलता है। व्यवस्थापन (Legislation) और कार्यनिष्पत्ति (Executive) अर्थात् कार्यपालिका के कर्त्तव्योका विभाजन होना ही चाहिए। यह निश्चित रूपसे एक अविवेक-पूर्ण बात होगी कि कानून बनाने वालोको ही कानून लागू करनेका भी काम सौंपा जाय क्योकि यह सम्भव है कि या तो वे अपने आपको उन कानूनोसे मुक्त कर लें या फिर ऐसे कानून बनायें जिस से उनके अपने उद्देश्योकी सिद्धि हो।

जहा तक श्री लॉक द्वारा किये गए इस सिद्धान्तके विवेचनका सम्बन्ध है, उन्होने व्यवस्थापिका और कार्यपालिकाके पारस्परिक सम्बन्धोंके निर्धारक अर्थात् निश्चित करने वाले विधानके रूपमें ही इस सिद्धान्तकी चर्चा की है। श्री लॉक के सिद्धान्तमें कर्त्तव्योके ऊपर लिखे हुए त्रिवर्गीय विभाजनको, जिससे आज हम इतने परिचित है, कोई स्थान नही मिला और न उसमें निहित पारस्परिक निग्रह और सन्तुलनका पूरक सिद्धान्त ही हमें उनके विचारोमें मिलता है। इन सिद्धान्तोके विकासका श्रेय तो फ्रासीसी दार्शनिक श्री मॉन्टेस्क्यू (Montesquieu) को है जिन्होने इस अग्रेजी दार्शनिकके सुझावोको विकसित किया।

यह प्रसिद्ध फ्रासीसी लेखक श्री मॉन्टेस्क्यू (१६८९-१७५५) ही थे जिन्होने अपनी पुस्तक 'Esprit des Lois' में इस सिद्धान्तको अपनाया है। मौके पर जाकर दो वर्षो तक इगलैंडके सविधानको कार्यान्वित होते हुए देखनेके बाद श्री मॉन्टेस्क्यू ने अपना यह सुविचारित निर्णय दिया कि अग्रेजी सविधानके स्थायित्वका कारण यह है कि उसमें शक्तियोका विभाजन माना जाता है। आज सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि अग्रेजी सविधानकी ऐसी व्याख्या करनेमें श्री मॉन्टेस्क्यू ने भूल की थी। यद्यपि १८वी शताब्दीमें जब मॉन्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक लिखी थी, इगलैंडमें सरकारकी मत्रिपरिषदीय पद्धति (Cabinet System) का पूरा-पूरा विकास नही हुआ था जिसमें शक्तियोके विभाजन की सीधी-सीधी अवहेलना की जाती है, फिर भी उनके समकालीन इगलैडमें भी शक्तियो का कोई स्पष्ट विभाजन नही था। २० वर्ष बाद लिखने वाले अग्रेजी न्याय-शास्त्री (Jurist) श्री ब्लैक्सटन (Blakstone) ने भी वही भूल की है जो श्री मॉन्टेस्क्यू ने की थी। वह भी इस बातको मानते है कि अग्रेजी शासन पद्धतिका मूलभूत सिद्धान्त हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियोंके बीच स्पष्ट विभाजन।

सच्चाई यह है कि श्री मॉन्टेस्क्यू और श्री व्लैक्सटन दोनोने ही अग्रेज़ी सविधानके सिद्धान्तसे ही अपना सम्बन्ध रखा उसके वास्तविक व्यवहार-पक्षसे नही, और इस प्रकार अपने ऊपर कृत्रिमताका आरोप लगाए जानेका अवसर दिया।

अपने स्वभाव और शिक्षा-दीक्षा दोनो ही दृष्टियोंसे श्री मॉन्टेस्क्यू एक कुलीन वर्गके व्यक्तिथे फिर भी उनके हृदयमें स्वाधीनताके प्रति गम्भीर श्रद्धाकी भावना थी। स्वाधीनता को वह मनुष्यताकी सवसे कीमती धरोहर मानते थे इस निधिकी प्राप्तिके लिए ही श्री मॉन्टेस्क्यू शक्तियोके विभाजनका समर्थन करते थे। उन्होने इस वातका अनुभव किया था कि सत्ताधिकारी का यह स्वभाव ही है कि वह अपनी शक्तियोका दुरुपयोग करे और इसलिए जव तक स्पष्ट प्रतिवन्ध न लगाये जाय तव तक शासनका मनमाना या निरकुश हो जाना अनिवार्य है। वह सुशासनके लिए यह एक अनिवार्य शर्त मानते थे कि सरकारी अधिकार-सत्ताके प्रयोगमें रोक-थामसे काम लिया जाय। इस रोक-थामके लिए ही उन्होने शक्तियोके विभाजनका अपना प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार प्रत्येक शक्तिका प्रयोग सरकारके एक पृथक् अग या विभाग द्वारा किया जाना चाहिए और सरकारके विभिन्न विभागोके वीच एक निग्रह-सन्तुलनकी व्यवस्था (System of checks and balance) होनी चाहिए जिससे कोई भी एक विभाग या अंग सर्वशक्तिमान् न वन जाय। श्री मॉन्टेस्क्यू ने स्वय अपने सिद्धान्तको इस प्रकार व्यक्त किया है

'जव व्यवस्थापिका और कार्यपालिकाकी शक्तिया एक ही व्यक्ति या सस्थामे केन्द्रित हो जाती है तव स्वाधीनता कायम रह सकना असम्भव है। ... यदि न्यायाधिकरण और व्यवस्थापनकी शक्तिया एकमें मिल जाय तो प्रजाका जीवन और उसकी स्वाधीनता निरकुश नियत्रणका शिकार हो जायगी ... और यदि न्यायाधिकरण और कार्यपालिकाकी शक्तिया एकमें मिल जाय तो न्यायाधीश अत्याचारीकी भाति व्यवहार कर सकता है।'

श्री मॉन्टेस्क्यू ने कार्यपालिका और व्यवस्थापिकाकी शक्तियोके विभाजन पर विशेष रूपसे ज़ोर दिया है। स्वय विधान-मडलमें ही वह दो सदनोको एक दूसरेको रोक-थाम (Check) करनेके लिए आवश्यक मानते है।

अमेरिका का विधान वनाने वालो और फ्रासके क्रान्तिकारियो पर इस सिद्धान्तका वहुत गहरा प्रभाव पडा था। फ्रासमें तो यह सिद्धान्त समाप्त हो गया। केवल कुछ शासकीय न्यायालय इस सिद्धान्तकी प्रशसा और यादगार रूपमें शेष रह गये और १८७५ के सविधानमें मन्त्रिपरिषदीय पद्धतिको स्वीकार कर लिया गया। पर सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस सिद्धान्तका प्रभाव आधुनिक समय तक चलता रहा है। आज भी वहा व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिकाका सगठन एक दूसरेसे स्वतत्र रूपमें होता है। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति, जो कार्यपालिकाका प्रधान होता है, और उसकी मन्त्रिपरिषद्के सदस्य व्यवस्थापिकाके सदस्य नही होते अग्रेज़ी शासन-पद्धति अपनाने वाले दूसरे देशोमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिकाके वीच जो घनिष्ठता रहती है वह अमेरिका में अज्ञात है। व्यवस्थापिकाके दोनो सदनोका सगठन भी पृथक् रूपसे होता है। उनकी कार्यावधि (Periods of Tenure) भिन्न होती है और उनकी अधिकारशक्तिया भी भिन्न होती है। सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीशोकी नियुक्ति कार्यपालिका अनुपद (Senate) की सहमतिसे करती है पर नियुक्तिकी शर्तें कुछ ऐसी है कि न्यायपालिका

वास्तवमें एक स्वतंत्र विभाग बन जाती है।

न केवल सरकारके विभाग एक दूसरेसे अलग हैं बल्कि प्रत्येक विभाग शेष विभागो पर कुछ विशेष निग्रह वा रोक-थाम (Checks) भी रखता है। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा किये जाने वाली प्रधान अधिकारियोकी नियुक्तियोंके लिए अनुषद (Senate) की स्वीकृति आवश्यक होती है। सन्धि-विग्रहकी घोषणा काग्रेस करती है और कार्यपालिका द्वारा की गयी सन्धियोके लिए अनुषदकी स्वीकृति आवश्यक होती है। राष्ट्रपतिको इस बातका अधिकार है कि अपनी वैधानिक योजनाओको स्पष्ट करते हुए काग्रेसके लिए सदेश भेजे, पर सविधानकी एक परम्पराके अनुसार न तो राष्ट्रपति और न उसकी मत्रिपरिषद्का कोई सदस्य ही सरकारी नीतिकी व्याख्या अथवा समर्थनके लिए काग्रेसमें उपस्थित हो सकता है। राष्ट्रपतिको व्यवस्थापिकाके कार्यो पर निषेधाधिकार(veto)प्राप्त है पर यह निषेधाधिकार कार्योंको स्थगित करने वाला है, पूर्ण निषेधाधिकार (Absolute veto) नही है।

आलोचना :

यद्यपि शक्तियोंके विभाजनका सिद्धान्त प्राय ठीक माना गया है क्योकि उसमें पृथक्करण (Differentiation) का वैज्ञानिक सिद्धान्त छिपा हुआ है फिर भी इसके लागू करनेमें जिन कठिनाइयोका अनुभव हुआ है वह आज हमारे लिए इस सिद्धान्त का कोई महत्त्व नही रहने देती। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी इन शक्तियोका दृढता-पूर्वक विभाजन नही हुआ। आधुनिक सरकारोमें प्रत्येक व्यवस्थापिका कार्यपालिकाके कुछ कर्त्तव्योको पूरा करती है, और कार्यपालिकाके कुछ कार्य न्यायपालिका द्वारा पूरे होते हैं। इस सिद्धान्तका प्रधान महत्त्व यह है कि इसमे न्यायपालिकाकी स्वाधीनता पर जोर दिया गया है, पर इस उद्देश्यकी सिद्धि सरलता-पूर्वक दूसरे साधनोसे भी हो सकती है। जैसे न्यायाधीशोकी कार्यावधिकी सुरक्षा, यथेष्ट वेतन जो कि वार्षिक बजटकी व्यवस्थाओ से मुक्त हो, और न्यायाधीशोका राजनैतिक दलोंके सम्बन्ध और नियत्रणसे उन्मुक्त रहना।

इस सिद्धान्तका एक दूसरा महत्त्व यह है कि इसमें यह विवेक-पूर्ण व्यवस्था दी गयी है कि सरकारको भली भाति प्रतिष्ठित नियमो और विधानोके अनुकूल ही काम करना चाहिए। मनमाना शासन तो सुशासनका अभाव है। यह सिद्धान्त कार्यपालिकाको और शासकीय अधिकारियोको चेतावनी देता है कि वह न्याय और विधानके मार्गमें हस्तक्षेप न करे। श्री फाइनर के शब्दोमें यह सिद्धान्त प्रत्येक शक्तिको विवश करता है कि वह अपने कार्योंकी सफाई दे।

इस सिद्धान्तका औचित्य सिद्ध करते हुए कुछ लोगोने यह तर्क किया है कि कर्त्तव्यो को सम्मिलित किया भी जा सकता है पर शक्तियोंको सर्वदा सर्वोच्च (अर्थात् स्वतंत्र) रहना ही चाहिए। यह तो हमें एक बिना अन्तरका विभेद (Distinction without a difference) जान पडता है यह समझना कठिन है कि आवश्यक अधिकार-शक्तिके बिना कर्त्तव्य पूरे कैसे किये जायेंगे।

शक्तियोंके विभाजनका सिद्धान्त एक समय राजाओकी निरकुशताके विरुद्ध और कुछ समय बाद पार्लियामेंटकी निरकुशताके विरुद्ध बहुत ही महत्त्व-पूर्ण सिद्ध हुआ है। पर आज इन दोमें से किसी भी निरकुशताका डर नही है। प्रजातन्त्रवादी देशोमें हमें राजनैतिक दलोंके प्रभुत्व और नौकरशाहीके विरुद्ध रक्षाकी आवश्यकता हो सकती है और

जिन देशोमें तानाशाही सरकार हो वहा राजनैतिक दल और उसके नेताकी तानाशाही के विरुद्ध रक्षाकी आवश्यकता होती है। इनमें से किसी प्रकारके भी प्रभुत्वके विरुद्ध शक्तियोका विभाजन कारगर नही हो सकता। यह स्वभावत बहुत ही यान्त्रिक है। एक प्रजातन्त्रवादी देशमे व्यक्तिगत स्वाधीनताका सर्वोत्तम रक्षक है एक-जानकार और सचेत निर्वाचक मडल।

आधुनिक परिस्थितियोमें सरकारके निर्वाध कार्य-सचालन (Smooth working) के लिए शक्तियोके विभाजनकी उतनी आवश्यकता नही है जितनी उनके सहयोग और सन्तुलनकी। सरकारके प्रत्येक विभागको यह समझना चाहिए कि वह जनताका सेवक है और अपने उद्देश्यको पूरा करनेके लिए उसे अपनी शक्ति भर सब कुछ करना चाहिए। श्री एच० जे० लास्की (H. J Laski) इस सम्बन्धमें लिखते है

'व्यवस्थापिकाए अपना कार्य तब तक पूरा नही कर सकती जब तक उनमें यह सामर्थ्य न हो कि (१) कानूनके लागू करनेमें हस्तक्षेप कर सके और (२) आवश्यकता पडने पर सविधि (Statute) द्वारा न्यायाधीशोको ऐसे निर्णयोका प्रत्यादेश (Overrule) कर सकें जिनके परिणाम व्यापक रूपसे असन्तोषजनक सिद्ध हो रहे हो। विधानका प्रयोग करते हुए कार्यपालिका साधारण सिद्धान्तको विवरणके पर्देसे ढकनेके लिए विवश होती है। आधुनिक राज्यमें इस कार्यकी सीमा इतनी विस्तृत है कि प्राय इसमें और व्यवस्थापिकाके कार्यमे विभेद करना कठिन हो जाता है अन्तत. न्यायपालिका, जो या तो कार्यपालिकाकी शक्ति को सिद्ध करती है अथवा दो नागरिकोके बीचके झगडेको तय करती है वास्तवमें एक ऐसा काम करती है जो स्वभावत वैधानिक है। कार्यपालिकाकी शक्ति सिद्ध करनेमें न्यायपालिका वैधानिक इच्छाके तत्त्वको निश्चित करती है, और दो नागरिकोंके झगडे तय करनेमें न्यायपालिका या तो राज्यके वैधानिक आदेशोके भीतर नवीन क्षेत्रोको भीतर समेटनेके लिए उन्हें विस्तृत करती है या इस बातको अस्वीकार करती है कि किसी विशेष झगडेमे जो नवीन स्थिति है वह उन आदेशोकी परिधिसे बाहर है (२२ ६३)।'

श्री लास्की जो कुछ लिखते है उसके विरुद्ध शक्तियोके विभाजनका सिद्धान्त जहा एक ओर कुशलताकी मात्रामें कुछ वृद्धि करता है वहा दूसरी ओर ईर्ष्या, अविश्वास और आन्तरिक सघर्षको भी महत्त्व दे देता है। अधिकार-शक्तिका स्वभाव ही यह होता है कि जिस किसीके हाथोमें उसे सौंप दिया जाता है वही उसे अन्तिम सीमा तक खीच ले जाना चाहता है और दूसरोको अपनी अधिकार-शक्तिके प्रयोग करनेसे रोकना चाहता है। शक्ति-विभाजनके सिद्धान्तमें जो बहुत बडी कमी है वह राष्ट्रपति श्री वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) के दूसरे कार्य-कालमें स्पष्ट हो गयी थी जब कि राष्ट्रपति द्वाराकी गयी सन्धिको स्वीकार करनेसे सीनेट (अनुपद) ने इनकार कर दिया था।[1] श्री फाइनरकी सुन्दर भाषामें शक्तियोंके विभाजनका सिद्धान्त, 'सरकारको विराम (Coma) और विक्षोभ (convulsion) की पर्यायान्तर-स्थितियो (alternating conditions) में डाल देता है।' आधुनिक प्रजातन्त्रवादी राज्योमें जनताका प्रतिनिधित्व

---

[1] प्रेसीडेंट ट्रूमन की अनेक राष्ट्रीय कल्याण-मूलक योजनाओको एक असहयोगशील व्यवस्थापिकाने समाप्त कर दिया है विशेषकर मूल्य-नियन्त्रण और उचित आजीविका व्यवस्था सम्बन्धी उनकी योजनाओको।

करने वाली व्यवस्थापिकाका स्थान कार्यपालिका अथवा न्यायपालिकाकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसमें कोई सन्देह नही है कि ब्रिटेन की शासन-पद्धतिमें शासन-कार्य अमेरिकन शासन-पद्धतिकी अपेक्षा बहुत अधिक कुशलता पूर्वक चलता है, यद्यपि उसमें शक्तियोका ऐसा कोई विभाजन नही है जैसा मॉन्टेस्क्यू समझते है और व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच बराबर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इससे 'शासनके एक अकेले केन्द्र' की व्यवस्था हो जाती है। इन दोनो शासन-पद्धतियोंके विभेदकी चर्चा करते हुए श्री रैमज़ेम्योर (Ramsay Muir) लिखते है, 'यदि शक्तियोका विभाजन अमेरिकन सविधानका तात्त्विक सिद्धान्त है तो उत्तरदायित्वका केन्द्रीकरण अग्रेज़ी सविधानका तात्त्विक सिद्धान्त है।' एक दूसरे लेखकने कहा है, 'शक्तियोके विभाजनका अर्थ है शक्तियोमें विशृखलता या गडवडी।'

श्री विलोवी, जिन्होने एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है लिखते है कि अग्रेज़ी शासन-विधानमें शक्तियोका सघटनात्मक अथवा विभागीय विभाजन है और व्यक्ति-परक एकता है जब कि अमेरिकामें शक्तियोकी सघटनात्मक या विभागीय एकता है पर उनका व्यक्ति-परक विभाजन हुआ है। इगलैडमें जिस सिद्धान्तका दृढता-पूर्वक पालन किया जाता है, वह यह है कि प्रत्येक शक्तिके प्रयोगका अधिकार एक पृथक् विभागको सौपा जाता है। पर अमेरिकामें इस अन्तरकी अवहेलना की जाती है। अमेरिकामें शक्तियोका व्यक्ति-परक विभाजन प्रचलित है, विभागीय अथवा सघटनात्मक पृथक्करण नही।

अग्रेज़ी मत्रिपरिषद्में हमको व्यक्तियोकी एकता (२८ २५४) और विभागोके अलग किए जानेका उदाहरण मिलता है। मत्रिपरिषद् कार्यपालिकाके विभागके रूपमें काम करता है, व्यवस्थापिकाके रूपमें काम करता है और शासक समितिके रूपमें काम करता है। जब वह एक विभागके रूपमें काम करता है तब दूसरे विभागोकी अपनी शक्तिको उतने समय के लिए अपनेसे अलग रखता है। इस प्रश्न पर श्री विलोवी का मत यह है जब मत्रिपरिषद् कार्यपालिकाके रूपमें काम करता है तब वह पार्लियामेंटसे स्वतत्र अधिपतिके प्रतिनिधि के रूपमें काम करता है। जब वह व्यवस्थापिकाके रूपम काम करता है तब वह दृढतापूर्वक वैधानिक क्षेत्रके भीतर ही रहता है और कार्यकारिणीके कर्त्तव्यो अथवा प्रशासकीय कर्तव्योको हाथमें लेनेका प्रयत्न नही करता। जब वह एक शासक समितिके रूपमें काम करता है, तब वह कार्यकारिणी अथवा व्यवस्थापिकाकी शक्तियोका प्रयोग नही करता बल्कि अपने आपको शासनकी समस्याओ तक ही दृढता-पूर्वक सीमित रखता है।

इस प्रकार अग्रेज़ी सविधानमें सरकारके विभिन्न विभाग अलग रखे गए है पर उन विभागोको उन्ही व्यक्तियोके हाथोमें सौंप कर उन्हें यह बताया जाता है कि वे एक ही सामान्य सघटनाके विभिन्न अग हैं।

जहा तक अमेरिकन सविधानका सम्बन्ध है श्री विलोवी लिखते है कि बहुतसे लोग यह सोचते है कि अमेरिकन जनताकी स्वाधीनताकी रक्षा शक्तियोके विभाजन द्वारा होती है, पर असली बात यह है कि वहा शक्तियोकी बहुत काफी एकता है। अमेरिकन सविधान लागू करनेमें जो कठिनाई पडती है वह शक्तियोंके विभाजनके कारण नही है बल्कि दो या अधिक अधिकारियो द्वारा शक्तियोके सम्मिलित प्रयोगके कारण है।

श्री विलोवी कहते है कि अमेरिकन सविधानमें न तो शक्तियोंके विभाजनका ही दृढता

के साथ पालन किया गया है और न शक्तियोंके एकीकरणका ही, और परिणाम यह हुआ है कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिकाके बीच एक पुराना सघर्ष चल रहा है। शासन का सरकारकी एक पृथक् शाखाके रूपमें जो महत्त्व है अमेरिकन सविधान द्वारा उसे स्वीकार न किये जानेके कारण यह सघर्ष और भी तेज हो गया है।

श्री फाइनर ने यह अनुभव किया है कि आधुनिक परिस्थितियोमें शक्तियोके विभाजन वाले सिद्धान्तको दृढता-पूर्वक लागू करना व्यर्थ है। और इसलिए उन्होने सरकारकी शक्तियोको सकल्पात्मक अथवा निर्धारक शक्तियो (Resolving Powers) और कार्यकारिणी शक्तियोमें विभाजित किया है। निर्धारक शक्तियोमें वह निर्वाचक मडल, राजनैतिक दलो, ससद अथवा पार्लियामेंट, मन्त्रिपरिषद् और राज्यके प्रधानको सम्मिलित करते है और दूसरे विभागमें मन्त्रिपरिषद्, राज्यके प्रधान, राजकीय लोक-सेवको (civil servants) और न्यायाधिकरणकी अदालतोको सम्मिलित करते है। अब हम इनमें से कुछका विवेचन करेंगे।

२ सरकारके अग (Organs of Government)

आधुनिक प्रजातन्त्रवादी राज्योमे सरकारके तीन नही वल्कि सात विभिन्न अग है जो एक दूसरेसे घनिष्ठ रूपमें सम्वन्धित है और जिन्हे दो वर्गोमें विभाजित किया जा सकता है—सरकारके नीति-निर्धारक (Policy making) अग, और सरकारके 'नीति-प्रवर्तक' (Policy enforcing) अथवा नीतियोको लागू करने वाले अग।

(क) निर्वाचक मडल (The Electorate).

यह किसी भी देशका वह जन-समूह है जिसे मतदानका अधिकार होता है। इस अधिकारके प्रयोगसे अन्तिम रूपमें यही लोग सरकारोको वनाते-विगाडते है। ऐसा वहुत कम होता है कि समूचा देश एक अकेले निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) के रूपमें काम करे जैसा कि फासीवादी इटलीमें होता था। सामान्य प्रथा यह है कि देशको ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रोमें वाट दिया जाता है जिनकी व्यवस्था आसानीसे हो सके और जिनकी जनसख्या लगभग वरावर हो। जिस निर्वाचन-क्षेत्रको केवल एक ही प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है उसे एकप्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र (Single-member constituencies) कहते है। जिन निर्वाचन-क्षेत्रोसे एकसे अधिक प्रतिनिधि भेजे जाते है उन्हे वहुप्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र (Multi-member constituencies) कहते हैं। इगलैंड और भारतके अधिकाश भागोंमें एकप्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्र ही है। इगलैंडकी हॉउस ऑफ् कॉमन्स की ६१५ सीटोमें से ५७६ सीटें एक प्रतिनिधि-निर्वाचन-क्षेत्रोसे भरी जाती हैं।

स्वाधीनतासे पहले भारतमें अल्पसख्यको और विशिष्ट स्वार्थो जैसे व्यवसाय, भू-स्वामियोका कुलीन वर्ग (Landed aristocracy) आदिके लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र थे। विश्वविद्यालयोके भी निर्वाचन-क्षेत्र अलग थे। यह सव वाते प्रजातन्त्रीय न थी और एक शुद्ध राष्ट्रीय तथा प्रजातन्त्रवादी राज्यके विकासमे अडचनें डालती थी। सम्प्रदाय-वाद, कवीली जीवनका शेषाश है और विशिष्ट स्वार्थ सामन्तवादके वचे-खुचे अग हैं।

अपेक्षाकृत रूपमे आधुनिक समय तक योरपके अनेक देशोमे जागीरें वा प्रतिनिधित्व

प्रचलित था। बहुत समय तक इगलैंडके राजनैतिक सुधारकोंने 'एक सदस्य एकमत' (Vote) का आन्दोलन किया। सर्वश्रेष्ठ सुधारक श्री जे० बेन्थम (J. Bentham) के शब्दोंमें 'प्रत्येककी गणना एक होनी चाहिए, किसीको भी एकसे अधिक नहीं गिना जाना चाहिए।' इधर-उधर एक-दो असगतियो या विरोधोके होते हुए भी यह सुधार सभी प्रजातत्रवादी देशोमें स्वीकृत हो चुका है। इगलैंडमें १९५० तक बहुल मतदान (Plural voting) प्रचलित था जिसके अनुसार एक व्यक्ति एक निर्वाचन-क्षेत्रके निवासीके रूपमें वोट दे सकता था और एक ऐसे व्यावसायिकके रूपमें भी जिसके व्यावसायिक उपनय (Business Premises) का वार्षिक मूल्य १० पाउड हो। विश्वविद्यालयोंके स्नातक भी विश्वविद्यालय-निर्वाचन-क्षेत्रके प्रतिनिधिके लिए दूसरा वोट दे सकते थे। पर वर्तमान कानून है—एक व्यक्ति एक वोट।

अभी हाल तक ही स्त्रियोको मताधिकार नही दिया गया था—विशेषकर राष्ट्रीय निर्वाचनोमें। कुछ अशो तक अपने लगातारके और कभी-कभी सघर्षशील आन्दोलनके कारण और कुछ अशो तक महायुद्धके समय की गयी अपनी प्रशसनीय सेवाओके कारण १९१८ मे ३० वर्षसे अधिक अवस्था वाली स्त्रियोको इगलैंडमें मताधिकार मिला। १९२८ में अवस्था सम्बन्धी यह विभेद मिटा दिया गया और स्त्री तथा पुरुष एक ही कोटिमे आ गए। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १९१९ में सविधानके १९वें सशोधन द्वारा स्त्रियोको मताधिकार दिया गया और जर्मनीमें 'वीमर-सविधान' (Weimar Constitution) में स्त्रियोको मताधिकार दिया गया। फ्रासमें १९४५ तक और इटलीमें १९४८ तक स्त्रियोको मताधिकार नही दिया गया था। इसका एक कारण था स्त्रियोको मताधिकार देनेसे राजनीतिमें धार्मिक पुरोहितोके अनुचित प्रभाव-वृद्धिकी आशका। एक दूसरे कैथोलिक देश स्पेनमें स्त्रियो परसे यह प्रतिबन्ध कुछ समय पहले हट गया था। सोवियट रूसमें मताधिकारमें स्त्रियो और पुरुषोको एक ही समान माना जाता है। विदेशी निवासियोको भी वोट देनेका अधिकार दिया जाता है। भारतमें स्त्रियोको सभी प्रकारके निर्वाचनोमें वही मताधिकार प्राप्त है जो पुरुषोको।

स्त्रियोको मताधिकार दिये जानेका स्वागत बहुतसे लोगोने राजनीतिके क्षेत्रमें शुद्धता, सामाजिक न्याय और मानव-दयावाद (Humanitarianism) का युग लाने वाले परिवर्तनके रूपमें किया था पर सामूहिक रूपसे स्त्रियोने पुरुषोकी अपेक्षा अपने मताधिकार का प्रयोग कुछ अधिक विवेक-पूर्ण ढगसे नही किया। मताधिकारके लिए सघर्ष करनेके बाद अनेक उसका प्रयोग करनेमें असफल हुई है। फिर भी व्यवस्थापिकाओमें स्त्री प्रतिनिधियो की उपस्थितिके फल स्वरूप, और देशके सामाजिक जीवनमें व्यक्तिगत महिलाओ और महिला-सघोकी बढती हुई अभिरुचिके कारण सामाजिक समस्याओकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। और भारत जैसे देशमें स्त्रियोकी वैधानिक और सामाजिक अनर्हताओं (Disabilities) या असमर्थताओको हटाने और बच्चोंकी आवश्यकताओकी पूर्तिकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

विभिन्न देशोमें मताधिकारकी अवस्था भी भिन्न है। प्रचलित अवस्था २१ वर्ष है जो इगलैंड और भारतमें स्वीकृत है। टर्की और सोवियट रूसमें नौजवानोको १८ वर्षकी अवस्थामें मताधिकार प्राप्त हो जाता है जब कि बहुतेरे फिर भी अपरिपक्व रहते हैं। १९१९ के जर्मनीके सविधानने २० वर्षसे ऊपर वाली अवस्थाके स्त्री-पुरुषोको मताधिकार

दिया था। कुछ देशोमें मताधिकार तब तक नही दिया जाता जब तक व्यक्ति २५ वर्षका न हो। कुछ लोगोका कहना है कि युवकोको, जो अनुत्तरदायी और अपने विचारोमें बहुत ही अतिवादी होते है, मताधिकार देना भूल है। पर प्रचलित सिद्धान्त यह है कि २१ वर्षकी अवस्था तक पहुचते-पहुचते युवकोको अपने चारो ओरके ससारका इतना ज्ञान हो जाता है कि वह समझदारीके साथ अपने मताधिकारका प्रयोग कर सकें। अधिकारी-क्षेत्रोकी अत्यधिक रूढिवादिताको देखते हुए उनकी तथाकथित अतिवादी सुधार-भावनाओको भी बुरा नही मानना चाहिए और फिर युवकोको तो अनुभवसे ही सीखना है।

व्यवस्थापिकाओंके लिए चुनाव लड़नेकी अवस्था मताधिकारकी अवस्थासे प्राय ऊची रखी जाती है। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जर्मनी और फ्रासमें एक उम्मीदार को कमसे कम २६ वर्षका होना चाहिए, जापानमे उसकी अवस्था कमसे कम ३० वर्ष होनी चाहिए। ब्रिटेन और रूसमें मताधिकार और उम्मीदवारोकी अवस्था एक ही रखी गयी है। भारतमें पिछले विधानके अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओकी सदस्यताके लिए आवश्यक अवस्था २५ वर्ष थी और प्रान्तीय परिषदो (Provincial Councils) के लिए ३० वर्ष। सदस्यताके लिए अधिकतम अवस्थाका निश्चय शायद कहीं नही हुआ। इगलैडमें एक उम्मीदवारके लिए यह आवश्यक नही है कि वह जिस निर्वाचन-क्षेत्रसे खड़ा होना चाहता हो वहाका निवासी भी हो पर सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें ऐसा नहीं है।

आधुनिक सिद्धान्त और व्यवहार दोनो ही सार्वभौम समान और बालिग-मताधिकार के पक्षमें है। पर कुछ देशोमें कुछ प्रकारके लोग मताधिकारसे पृथक् रखे गये है जैसे पागल लोग, ऐसे लोग जिनका दिमाग बिगड गया हो, कुछ विशिष्ट कोटिके अपराधी, अकिंचन या भिखमगे (Paupers) और दिवालिए। रूसको छोडकर अन्य सभी देशोमें विदेशियोको मताधिकारके बाहर रखा गया है। अधिकाश देशोमें विदेशियोकी नागरिकता-प्राप्तिके लिए कुछ नियम बने हुए है। एक सामान्य योग्यता है कुछ वर्षो तक देशके भीतर निवास। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकाके प्रत्येक राज्यमें निर्वाचन सम्बन्धी सम्यक् योग्यताए है। कुछ राज्योमें निवासके साथ नागरिकता और अंग्रेज़ी भाषा-ज्ञानकी परीक्षा आवश्यक है। विधानके १५वें सशोधनमें यह कहा गया है कि किसी भी व्यक्तिको केवल जाति अथवा रगके आधार पर मताधिकारसे पृथक् नही किया जा सकता। पर दक्षिणी राज्योमें रग-भेदकी भावना बहुत अधिक है और उन्होने नीग्रो लोगोको मताधिकारसे अलग रखनेके लिए अनेक चालबाजिया की है। दक्षिणी अफ्रीकाकी यूनियनमें काले लोगोको मताधिकार नही प्राप्त है यद्यपि वह समूची जन-सख्याके $\frac{४}{५}$ है। हिटलरके आधिपत्यमें जर्मनीने यहूदियोको कोई राजनैतिक अधिकार देना स्वीकार नही किया। योरोपके अनेक देशोमें राष्ट्रीय अल्पसख्यकोको मताधिकारसे बाहर रखा गया है। कुछ देशोमें कुछ कोटिके सरकारी नौकरो—जैसे चुनाव अफसरो और सैनिकोको मताधिकारसे अलग रखा गया है।

सम्पत्ति और शिक्षाकी योग्यताको प्राय मताधिकारके लिए आवश्यक शर्त माना जाता है पर प्रजातत्रके विकाससे इन योग्यताओको जहा तक सम्भव है निचले स्तर पर रखा गया है। इसके पहले यह सिद्धान्त था कि केवल उन्ही लोगोको वोट देनेका अधिकार है जिनका देशमें कुछ निश्चित स्थायी स्वार्थ हो जैसे सम्पत्तिशाली वर्ग। पर इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गए और अन्याय स्थायी हो चला।

इगलैंडमें १८३२ और १८६७ के सुधार-कानूनो ने अत्यधिक सम्पत्तिकी योग्यताके आधार पर लगाए गए प्रतिबन्धोके विरुद्ध कदम उठाया। १९१९ तक प्रशियामें किए जाने वाले प्रत्यक्ष राजस्वकी रकम आधार पर बनायी गयी तीनो वर्गो वाली व्यवस्था चालू रही जिसके अनुसार प्रथम वर्गके मतदाताको दूसरे वर्गके मतदाताकी अपेक्षा लगभग चारगुना और तीसरे वर्गके सदस्यकी अपेक्षा १६गुना अधिक राजनैतिक शक्ति प्राप्त थी।

जहा तक शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताका प्रश्न है अपने क्षेत्रकी भाषाका साधारण ज्ञान काफी माना जाता है। भाषाका ज्ञान निस्सन्देह एक बहुत बडी सुविधा है फिर भी केवल निरक्षरताको ही एक बहुत बडी अयोग्यता नही मानना चाहिए। जैसा कि भारतीय स्थितिके सम्बन्धमें लोदियन समिति (Lothian Committee) ने लिखा है 'निरक्षरताका यह कतई अर्थ नही है कि व्यक्ति अपने ज्ञान अथवा अनुभवकी परिधिमें आने वाले मामलो पर समझदारीके साथ वोट देनेमें असमर्थ है।' श्री एस० श्रीनिवास आयगर कहते है 'अखबारोमें विवादोको पढने और प्रतियोगी नीतियो और योजनाओ के सम्बन्धमें तथ्यो और तर्कोंका विश्लेषण करने वाले अखबारो और ग्रन्थोको पढनेकी शक्ति एक स्वस्थ प्रजातन्त्रवादी व्यवस्थाके लिए अनिवार्य है।' निर्वाचक मडलको शिक्षित करनेमे राजनैतिक दल बहुत बडा योग दे सकते है।

अब हम इस पुराने सिद्धान्तको कतई नही स्वीकार करते कि मताधिकारके साथ यह कर्त्तव्य भी जुडा हुआ है कि आवश्यकता पडने पर अपने वोटका शारीरिक बल द्वार समर्थन किया जाय। आज कोई भी इस बातका दावा नही करता कि महिलाओको मताधिकारसे इसलिए अलग रखना चाहिए कि वह पुरुषोकी भाति युद्ध-क्षेत्रका बोझ नही उठा सकती। इसलिए आजकल मताधिकारके लिए सैनिक योग्यता एक बिल्कुल असगत बात है। प्रत्येक व्यक्तिको सुन्दर जीवन बितानेका अधिकार है और इसलिए प्रत्येव सामान्य व्यक्तिको, जो राज्यका शत्रु नही है, मताधिकार प्राप्त होना चाहिए

अनेक विचारकोकी दृष्टिमें मताधिकार कोई ऐसा अधिकार नही है जो प्रत्येव नागरिकको अपने आप प्राप्त हो। यह एक विशेषाधिकार है जो केवल उन्ही लोगोको दिय जाता है जिनमें जन-हितके लिए उसका प्रयोग करनेकी क्षमता है। इसलिए कुछ लोगोक तर्क है कि वोट देनेका कर्त्तव्य न केवल एक नैतिक कर्त्तव्य है, बल्कि एक वैधानिक उत्तर दायित्व भी है। इस प्रकार हम देखते है कि स्विटजरलैड, ऑस्ट्रिया, बेल्जियम औ अर्जेटाइना गणतन्त्रके कुछ प्रदेशोने वोट देना अनिवार्य बना दिया है। मैक्सिकोमें ज व्यक्ति बिना पर्याप्त कारणोके एक बार अपना वोट नही देता उससे आगामी चुनावमें वोट देनेका अधिकार छीन लिया जाता है। इस मामलेमें दबाव उतना ही अनुचित है जितन अन्य अनेक मामलोमें। और इससे उसीका उद्देश्य असफल होता है। वोट न देनेकी भावन का उचित प्रतिकार दबाव नही है बल्कि मतदानमें अभिरुचि उत्पन्न करना और अनेक तथा बहुत जल्दी बार-बार होने वाले चुनावोको कम करना है।

प्रतिनिधित्वका पुराना सिद्धान्त था सामुदायिक प्रतिनिधित्व। वर्गो अथवा जागीर के आधार पर जनताका वर्गीकरण हो जाता था और प्रत्येक वर्ग पृथक् रूपसे अपना वोट देता था। आधुनिक समयमें प्रादेशिक प्रतिनिधित्वकी प्रथा प्रचलित रही है। हाल ही में इस प्रथाकी बहुत आलोचना हुई है। सघ-समाजवादियो (Guild Socialism)

और शिल्पि-सघवादियो (Syndicalists) आदिका कहना है कि एक निश्चित प्रदेश में रहनेका अर्थ यह नही है कि उसमें रहने वाले सभी लोगोंके स्वार्थ एक हैं या एक हो जाते हैं। उदाहरणके लिए एक कोयलेकी खानमें काम करने वाले मज़दूरका हित निश्चित रूपसे एक व्यावसायिक यात्री या स्कूल-मास्टरके स्वार्थकी अपेक्षा कोयलेकी खानमें काम करने वाले किसी दूसरे मज़दूरके हितसे मेल खायेगा भले ही वह व्यावसायिक यात्री या स्कूल मास्टर उसका पडोसी हो और दूसरा मज़दूर उससे पचास मील दूर रहता हो। इस तर्कके आधार पर यह कहा जाता है कि प्रतिनिधित्वकी सच्ची प्रणाली है व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Vocational representation)। मुसोलिनीके अधीन इटलीके संसृष्ट राज्य (Corporative State) में यही प्रणाली प्रचलित थी। अभी यह निर्णय देना जल्दबाजी होगी कि यह पद्धति प्रादेशिक प्रतिनिधित्वकी अपेक्षा अधिक सुकर होगी या नही। व्यावसायिक प्रतिनिधित्वकी एक मुख्य आलोचना यह है कि यह निर्णय करना हमेशा आसान नही है कि कौन-कौनसे व्यवसाय या पेशे प्रतिनिधित्वके अधिकारी माने जाने चाहिए और उनमें से प्रत्येकको कितना प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। इस के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि इस पद्धतिसे प्रतिस्पर्धी स्वार्थो और वर्गोंकी वृद्धि हो और सच्ची नागरिकताकी उत्पत्ति और उसकी स्थितिमें बाधा पडे। मनुष्यके जीवनमें उसका 'पडोस' इतना ही महत्वपूर्ण तत्त्व है जितना कि उसका व्यवसाय'। व्यवस्थापिका का प्रधान कर्त्तव्य यह नही है कि वह प्रतिस्पर्धी आर्थिक वर्गोंके स्वार्थोंकी रक्षा करे बल्कि उसका कर्त्तव्य है समूची जाति या समूचे राष्ट्रके स्वार्थोंकी रक्षा और उनकी उन्नति करना।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) 'एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्रो' में (जब कभी एक सीटके लिए उम्मीदवारोकी सख्या दो से अधिक हो जाती है तब प्राय असगत परिणाम उत्पन्न होते है। वोट कुछ इस तरहसे विभाजित हो जाते है कि प्राय जीतने वाला उम्मीदवार निर्वाचक मडलके बहुमतकी अपेक्षा अल्प-मतका प्रतिनिधित्व करता है। नवम्बर १९३५ में होने वाले इगलैंडके आम चुनावमें बॉल्डविनका समर्थन करने वाले दलने लोकसभा (House of Commons) की ४३० सीटो पर कब्जा किया यद्यपि देशमें उनके वोटोका कुल योग था ११,७६४ ६६० जब कि बॉल्डविन मत्रिमडलके विरोधी दलोने १०,०७१, ९९३ वोट पानके बाद भी केवल १८५ सीटो पर कब्जा कर पाया। इस असगत अवस्थाको दूर करनेके लिए अनेक युक्तिया निकाली गयी हैं जैसे द्वितीय मत-पत्र (Second ballot), वैकल्पिक मत (alternative vote), उपचित अथवा सचित मत (Cumulative vote) सीमित मत (limited vote), और एकल सक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व।

इन सबमें से अन्तिम पद्धति, जिसे 'हेअर योजना' (Hare plan) भी कहते हैं अधिकसे अधिक न्याय-सगत निर्वाचन-फल देनेके लिए सबसे अधिक उपयुक्त जान पडती है। पर अभी तक इस पद्धतिके लिए कोई बहुत अधिक उत्साह नहीं है यद्यपि [illegible] उपनिवेशोमें और इगलैंडके निर्वाचन-क्षेत्रो जैसे विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्रमें इसका प्रयोग किया गया है।

इस योजनाके अनुसार किसी भी उम्मीदवारके निर्वाचनके लिए [illegible]

निर्धारित भाग पहलेसे ही तय कर लिया जाता है। इसका निश्चय इस सूत्रके अनु
होता है

$$\text{कोटा} = \frac{\text{मान्य मत}}{\text{उम्मीदवारोकी संख्या} + 1} + 1$$

मत-पत्रमें निर्वाचक अपनी पसन्दको १, २, ३, ४, ५ आदि अकोंसे प्रकट करत
मतदान समाप्त हो जानेके बाद सब मत-पत्रोंके नम्बर १ पसन्दकी गणना होती है
जिन उम्मीदवारोको निश्चित कोटासे अधिक मत मिलते है वह निर्वाचित घोषित
किये जाते हैं। चूकि किसी भी मतका प्रभाव व्यर्थ नही जाना चाहिए इसलिए किस
प्रतिनिधि या प्रतिनिधियोंके कोटासे अधिक, बचे हुए प्रथम वोटोको पसन्दके क्रमसे म
की सूचीमें दूसरे उम्मीदवारोको दे दिया जाता है। मत-पत्रमे ज़ाहिरकी गयी प
क्रमसे न केवल उन्ही उम्मीदवारोंके वोट क्रमिक ढगसे दूसरे उम्मीदवारोको दिए ज
जिन्हे आवश्यकतासे अधिक वोट मिलते है बल्कि जिनके चुने जानेकी कोई आश
होती उन उम्मीदवारोको भी प्रथम वरेण्यता (First Preference) या पहली
के जितने मत मिलते है वह क्रमिक ढगसे दूसरोको दिय जाते है। उनके मत पत्रोकी
बीन उन्हे प्राप्त दूसरी, तीसरी, चौथी आदि वरेण्यताओंकी गणनाके लिए की ज
और उसीके मुताबिक वोट दूसरोको दिये जाते है। मतोका यह दोहरा हस्ता
(two-fold transference) निर्वाचन प्रतियोगितासे बाहर न हो जाने
उम्मीदवारोंके बीच तब तक चलता रहता है जब तब ऐसी स्थिति नही आ जा
आवश्यक कोटा प्राप्त करने वाले उम्मीदवारोकी सख्या उतनी हो जाय जितने प्रति
उस निर्वाचन क्षेत्रसे चुने जाने चाहिए। ऐसी स्थिति आ जाने पर वोटोका हस्तान्तर
जाता है और परिणाम घोषित कर दिये जाते है। नीचेसे वोटोका हस्तान्तरण ऊपरकी
बादमें किया जाता है क्योकि इसका अर्थ होता है कुछ उम्मीदवारोको बाहर निकाल

इसमें कोई सन्देह नही है कि अन्य किसी पद्धतिकी अपेक्षा आनुपातिक प्रतिनि
की पद्धतिसे देशके राजनैतिक दलोकी शक्तिका प्रतिनिधित्व अधिक सच्चाईके सा
सकेगा पर उसमें कुछ त्रुटिया भी हैं। किसी भी देशके राजनैतिक दलोकी सख्या घ
दो या तीन प्रधान राजनैतिक दल रखनेके बजाय इस पद्धतिमें दलोकी सख्या बढाने
वर्तमान दलोको दकियानूसी बनानेकी प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक छोटे छोटे गुटको
अलग विशेषता बनाये रखनेका प्रोत्साहन मिलता है और वह परस्पर सहयोगका अ
खोज कर एक दूसरेमें विलीन होनेकी प्रेरणा नही पाते। यह भी सम्भावना है कि
पद्धतिसे दलगत व्यवस्थाकी महत्ता बढे। यह भी सम्भव है कि चुनावमें सफल होने
उम्मीदवार अपने निर्वाचन-क्षेत्रके कल्याणमें पहले जैसी ही अभिरुचि न रखे, क
उसका निर्वाचन एक गणितके सूत्र पर निर्भर करता है न कि निर्वाचकोको सफलता
अपनी ओर आकर्षित और सहानुभूति-पूर्ण बना लेनेकी उसकी क्षमता पर। स
प्रतिनिधियोंके एक बेमेल समूहके कारण एक सुसम्बद्ध सजातीय मन्त्रिपरिषद्का ब
प्राय असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त सावधिक (Periodical) या
समय पर निर्वाचन न हो सकेंगे जिनसे यह सामान्य सकेत मिल सके कि तत्का
सरकारको निर्वाचक मडलका कितना विश्वास प्राप्त है और उसके अलावा एक सा
मतदाताके दृष्टिकोणसे यह पद्धति बहुत ही अधिक पेचीदा है।

मिलती है और दोनो प्रकारके प्रजातन्त्रवादी देशो—जिनमें ससदात्मक शासन-व्यवस्था है और जिनमें ऐसी व्यवस्था नही है—इन राजनैतिक दलोंसे निर्वाचकोकी सम्मतिया स्पष्ट करनेमें सहायता मिलती है। पर कुछ आधुनिक विचारकोने इस 'दल-पद्धति (Party system) की मान्यता या उपयोगिता पर गम्भीर आशकाए की है। दल-पद्धतिको कायम रखनेके विरोधमें यह कहा जाता है कि दलगत भावना प्राय दलवन्दीकी भावना होती है। और दलोंसे घूसखोरी, भ्रष्टाचार, और व्यवस्थापिकामें प्रतिनिधियो तथा सामान्य जनता दोनो ही पर व्यापक अत्याचार उत्पन्न होता है। इन सभी आरोपोमें इतना सत्याश अवश्य है कि वह वाहरसे सही दिखाई देते है पर यह भी याद रखना चाहिए कि इनको वढा-चढाकर कहना भी वहुत आसान है।

किसी भी राजनैतिक दलका सर्वप्रथम उद्देश्य होता है सफलता पाना और सफलता-प्राप्तिकी लगनमें वह प्राय वोट पानेके ऐसे साधनोको अपनाते हैं जिन्हे सदिग्ध या अनुचित कहा जायगा। दलोंके मचको यथासम्भव विस्तृत और आकार हीन वना दिया जाता है जिससे अधिकसे अधिक वोट प्राप्त किए जा सकें। एसे ऐसे वायदे किए जाते है जिन्हें पूरा करनेका कभी इरादा ही नही होता। राजनैतिक विरोधियो और विरोधी राजनैतिक योजनाओका यदि मजाक नही वनाया जाता तो कमसे कम उनको गलत ढगसे ज़रूर उपस्थित किया जाता है। निर्वाचकके सामने चुननेके लिए इतना कम अवसर रहता है कि प्राय उसे एक धूर्त और एक मूर्खके वीचमें चुनाव करना होता है। दल-भावना (Party spirit) और दलगत निष्ठाको इतना अधिक उकसाया जाता है कि उत्तेजना और ईर्ष्या-द्वेषकी भावनाए प्रवल हो उठती हैं और स्थिर चित्त होकर विचार और कार्य करनेका अवसर नही मिलता। और जव तत्कालीन सरकार द्वारा नियुक्तियोका समय आता है तव दलके श्रद्धालु समर्थकोको ही चुना जाता है, उनको ऐसे सुयोग्य व्यक्तियोंसे भी अधिक उत्तम समझा जाता है जो विरोधी दलमें होते है या किसी भी दलमें नही होते। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका जैसे देशमें भी राजनैतिक दल शासनको भ्रष्ट वना देते हैं, वहा कई पीढियो तक लूट-खसोट प्रथा (Spoils system) का वोलवाला रहा है। मतदाताओ को घूस दी जाती है, उनकी खुशामद की जाती है और उन्हें फुसलाया तथा धोखा दिया जाता है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दोमें, दल प्रथाने 'राजनीतिको पतित और कुत्सित (Sordid) वना दिया है।' राजनैतिक दलोंके सदस्यो पर इतना मजवूत दलगत अनुशासन रहता है कि व्यक्तिगत विवेक और स्वतन्त्र मतदानके लिए कोई अवसर ही नही रह जाता। व्यवस्था-पिकाओमें दलके सदस्योको 'मूक पशुओकी भाति' काम करना होता है। दलके प्रचेतक (Whip) की आज्ञाओका उन्हे चुपचाप पालन करना होता है। निर्णय व्यवस्था-पिकाओके वाहर दलकी गुप्त सभाओमें होते हैं और व्यवस्थापिकाको उन्हे स्वीकार कर लेना होता है। व्यक्तित्वको दवा दिया जाता है और सदस्योको अपने व्यवहारमें असत्य और विचारो तथा कार्योंमें छिछला होनेके लिए उत्साहित किया जाता है। दलकी व्यवस्था कुछ स्वार्थी व्यक्तियोंके नियत्रणमें रहती है जो 'स्वामी' (Bosses) वने रहते है और जो सामर्थ्यवान्, सच्चे और चरित्रवान् व्यक्तियोंके विरुद्ध गुप्त या खुला संघर्ष प्रारम्भ कर देते है।

सार्वजनिक मामलोंके एक निष्पक्ष विद्यार्थीको इन आलोचनाओमेंसे यदि सव नही तो कुछकी गम्भीरताको स्वीकार करना ही होगा। पर सन्देह है कि इन वातकी फानवे जाग्र

ो भी फेंक देनेके लिए तैयार न हो। श्री एस० एस० आयगरको व्यवस्थापिकाके
ारण सदस्यकी स्वाधीनता छिन जानेकी बडी चिन्ता है। पर यह भी याद रखना चाहिए
व्यवस्थापिकाके सभी सदस्य बडे गम्भीर विचारक नही होते। सम्भवत उनमें से बहुत
से होते है जिन्हे प्रत्येक विवरणकी स्वय परीक्षा करनेकी अपेक्षा एक बना-बनाया कार्य-
और बनी-बनायी नीति पानेमें ही अधिक सुख होता है, जिसका अनुसरण वह आख
कर कर सकें। शायद विवरणोकी परीक्षा करनेकी उनमें शक्ति ही नही होती। और
के अलावा एक सक्रिय सदस्यके लिए दलको बैठकोमें होनेवाले निश्चयो और दलकी
तयो पर अपना प्रभाव डालना हमेशा सम्भव होता है। दलगत अनुशासन व्यक्तिगत
स्योकी अहम भावना (egotism) पर निस्सन्देह एक रोक लगाता है। वह उनकी
त्वाकाक्षाओ और असगत विचारोको दबा देता है तथा उन्हे अपने साथ सोचने और
 करनेवाले दूसरे सदस्योके बीच उपयुक्त स्थान ग्रहण करनेमें सहायता देता है। भारत
देशमें, अन्य देशोकी भाति ही राजनीतिक दलोको बिल्कुल समाप्त कर देनेका अर्थ
ा व्यक्तिवादका अनुचित विकास, प्रत्येक व्यक्तिका अलग अपनी-अपनी खिचडी
ना। यदि अनुचित सैन्यीकरण या अनुशासन बढना बुरी चीज है तो अनुचित व्यक्ति-
 भी उतना ही बुरा है। जो लोग यह आरोप लगाते हैं कि दल प्रथासे तानाशाहीकी
त्ति होती है उनके इस आरोपका हम यह उत्तर देते है कि तानाशाही सविधानकी
धिके भीतर काम करनेवाली सुसगठित दल-पद्धतिसे नही उत्पन्न होती। वह तो दल-
तिके बिगड जाने, टूट जाने (disintegration) से उत्पन्न होती है जैसा कि फासीवादी
ली और नाजी जर्मनीमें हुआ था। चुनावके सभी साधनोसे लैस एक सुसगठित दल-पद्धति
प्रभावमे समर्थ और सुयोग्य किन्तु गरीब उम्मीदवारोके निर्वाचित होनेकी कोई आशा नही।

यदि हम श्री आयगरके सुझावोके अनुसार राजनैतिक दलोके कोष और उनके सगठन
कानूनोंके द्वारा समाप्त भी कर दें तो भी इसमें कोई सदेह नही है कि राजनैतिक दल
सी दूसरे रूपमें फिर से पनपेंगे जो शायद और भी अधिक अनुचित और बुरा होगा।
जनैतिक दलोको जब गुप्त रूपसे काम करना पडता है तब वह कूटमायावी गुटोका रूप
रण कर लेते हैं और अपने स्वार्थमूलक उद्देश्योका सिद्धिके लिए परस्पर सघर्ष करते है।
ह एक शिक्षाप्रद तथ्य है कि स्विट्जरलैंडमें भी जहा दल-भावनाका सबसे कम विकास
ा है अब प्रवृत्ति दल-पद्धतिको मजबूत करनेकी ओर है।

राजनैतिक दलकी सफल कार्यवाहीके लिए आवश्यक शर्ते (Conditions for
e successful working of the party) दल-पद्धति उन देशोमें भली
ति कार्य कर सकी है जहा सुदृढ द्विदलीय व्यवस्था (two party system) है। एक
दृढ सरकार और लगभग उतना ही सबल विरोधी दल जो जन हितकी वैकल्पिक योजनाए
lternative programmes) जनताके सम्मुख उपस्थित करे इनकी स्थिति
नोंके स्वस्थ कार्य-सचालनके लिए आवश्यक है। यदि दलोको कूटमायावी गुटो
Cliques) का पतित रूप नही ग्रहण करना है तो इनकी स्थिति होनी ही चाहिए।
ालैंडमें सार्वजनिक कार्योंके सचालनमें विरोधी दल बडा महत्त्वपूर्ण योग देता है। सरकार
रा प्रस्तावित आयोजनाओकी उत्तरदायित्वपूर्ण आलोचना करके विरोधी दल न केवल
रकारको सचेत और सावधान बनाये रखता है बल्कि एक बहुत बडा जन-सेवाका कार्य
 करता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही है कि उसे, 'सम्राट्का विरोधी-दल' कहा

जाता है। कनाडामे विरोधी दलके नेताको वेतन दिया जाता है। यह वेतन इस तथ्यकी स्वीकृतिके रूपमे दिया जाता है कि विरोधी दलके नेताका कार्य ससदमें उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सत्तारूढ सरकारके किसी सदस्य का।

वहुदलीय व्यवस्था (multiple party system) की कमजोरीको फ्रासने विल्कुल स्पष्ट रूपमें प्रकट कर दिया है। वहा सरकारोका निर्माण हमेशा विभिन्न दलोके सदस्योंके बीच मोल-भाव और सौदा तय करनेके वाद होता है। इन सदस्योको ज़रा-ज़रा से वहानो को लेकर भी अपने दलोको वदल देनेमें तनिक भी सकोच नही होता। इसमे कोई आश्चर्य की वात नही है कि फ्रासकी सरकारे विल्कुल ही अस्थायी और व्यवस्थापिकाकी कृपा पर निर्भर रही है। यह वहुत सम्भव है कि इतिहासकारको फ्रासकी वहुदलीय व्यवस्थामें ही नाज़ी जर्मनीके हाथो हुई फ्रासकी पराजयका एक वहुत वडा कारण मिले।

यदि जनमत इतना समर्थ नही है कि वह ओछे पर निश्चित स्वार्थ-मूलक राजनीतिक दलोका निर्माण रोक सके तो फिर विधानका सहारा लेना पडेगा। प्रत्येक नए दलको कुछ वर्षो तक परखना चाहिए और स्थायी रूपसे उसे स्वीकार करनेके पहले उसे अपनी सचाई सिद्ध करनेके लिए वाध्य करना चाहिए। ऐसे दलोको जीवित रहनेका कोई अधिकार नही है जिनके पास वर्तमान दलोसे तात्त्विक रूपमें भिन्न अपनी पृथक् योजनाए और नीतिया न हो। हमारा प्रयत्न हमेशा यह होना चाहिए कि हम ऐसे छोटे-छोटे गुटो या सघोका एक दूसरेमे विलयन करते जाये जो एक दूसरेसे मिलते-जुलते हो जिससे कि देशमें दो सुदृढ दलोंसे अधिक गुट न रहे। ऐसे किसी दलकी स्थिति वर्दाश्त नही करनी चाहिए जिसका उद्देश्य और सकल्प यह हो कि वह दूसरे सभी दलोको तोड कर अपनी तानाशाही स्थापित करेगा।

राजनीतिमें ऐसे दलोका कोई स्थायी स्थान नही है जिनका आधार वर्ग, जाति या सम्प्रदाय-मूलक विभेद होता है। वह राष्ट्रीय दुर्वलताके सफल कारण है। विभेद-मूलक परिस्थितियोको वढाते रहनेके कारण वह अपने आपको स्वार्थी विदेशियोकी कृपाका गुलाम वना लेते है। जिन व्यापक राष्ट्रीय समस्याओंकी परख शुद्ध राष्ट्रीय हितो की कसौटी पर होनी चाहिए उन पर भी वह जातीय या साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे विचार करेंगे। जातीय और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक नीतियो और योजनाओके सम्वन्धमें उनके विचारोको विल्कुल दूषित कर देता है। राष्ट्रीय सकटके समय राजनैतिक दलोको अपने विभेद भुला कर एक साथ मिल कर एक दलके रूपमें काम करनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

किसी भी दलको किसी भी परिस्थितिमें अपनी व्यक्तिगत सैनिक-शक्ति रखनेकी आज्ञा नही देनी चाहिए। हम यह भली भाति जानते है कि जर्मनीमें नाजियोने और इटली में फासिस्टोने अपनी इन व्यक्तिगत सेनाओंके वल पर ही राज्य-सत्ता पर अधिकार किया था। अपने अनुयायी वनाने या वढानेके लिए किसी भी दलको जो उचित साधन प्राप्त हो सकता है वह है लोगोको समझाने-वुझाने और उन्हे विश्वास दिलानेका साधन। वाचालता और शारीरिक शक्तिका सहारा लेना वर्वरताके चिह्न है। प्रजातन्त्र तभी कार्य-सफल हो सकता है जब चुनावोमें पराजित होनेवाले राजनैतिक अल्पमत अपनी पराजय स्वीकार करें। उनका वैधानिक अधिकार केवल यही है कि वह लोगोको समझा-वुझा कर और उन्हे विश्वास दिला कर अपना वहुमत वना लें। यदि सरकारको सफल होना है तो यह आवश्यक है कि

ानको राजनैतिक दलो और राजनीतिज्ञोकी पहुचसे बाहर रखा जाय। एडीसे लेकर
ो तकके सभी सरकारी अधिकारियोका चुनाव योग्यताके आधार पर होना चाहिए।
चुनाव एक ऐसी सस्था द्वारा किया जाना चाहिए जो अपनी पक्षपात-हीनताके कारण
व्यक्तिकी श्रद्धाका भाजन हो। जो सरकारी अधिकारी अपनी जाति या अपने सम्प्रदाय
गोगोंके साथ पक्षपात करनेके अपराधी पाए जायें उनके साथ कठोर कार्यवाही होनी
हिए। जनसेवको अर्थात् सरकारी नौकरोकी भरती, तबादला और उनकी उन्नति
र्वजनिक सेवाके स्वीकृत सिद्धान्तोके अनुसार होनी चाहिए।

इस बातका हरसम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए कि दलोंके 'स्वामियो' (Bosses)
र अवसरवादियोका अधिकार भग कर दिया जाय। जो लोग दलकी व्यवस्था पर अपने
ार्थोकी सिद्धिके लिए अधिकार करना चाहते हो, उन्हें खेद बाहर करना चाहिए।
उद्देश्यकी सिद्धिके लिए स्वस्थ जन-मतकी आवश्यकता है। असाधारण सामर्थ्य और
ान्दिग्ध चरित्र वाले नेता राजनैतिक दलके जीवन मूल हैं।

दल पद्धतिकी असफलतासे स्वय जनताकी असफलता जाहिर होती है। यदि निर्वाचक
ल समझदार विवेचनाशील और विवेक-पूर्ण नही है तो दलीय तानाशाही (Party
ictatorship) अवश्य हो जायगी। यह कहना तो मूर्खता है कि चूकि किसीके पिता
र पितामह आदिन किसी विशेष ढगसे अपना मत दिया था इसलिए उस व्यक्तिको भी
ी ढगसे अर्थात् उसी दल या व्यक्तिको अपना मत देना चाहिए। यह भी एक मूर्खताकी
त हैं कि चूकि किसी वर्ग या व्यवसायके सदस्य किसी एक ढगसे वोट दे रहे हैं इसलिए
नके प्रत्येक सदस्यको उसी ढगसे वोट देना चाहिए। एक समझदार मतदाताको
ावश्यकता पडने पर प्रथाओ और परम्पराओंको तोडनेके लिए तैयार रहना चाहिए, और
से अपनी अन्तरात्मा और विवेककी प्रेरणाके अनुसार वोट देना चाहिए।

यदि राजनीतिज्ञोमें और साधारण जनतामें चरित्र-हीनता है तो दल पद्धतिकी असफलता
निवार्य है। दल-शासन (Party Government) सफल होनेके लिए एक उच्च
ोटिकी सार्वजनिक ईमानदारी और आत्मगौरवकी भावना सबसे पहली आवश्यकता है।
च्चाई, ईमानदारी और सार्वजनिक कल्याणकी प्रबल भावनाके बिना राजनैतिक दल
टमायावी गुट (Cliques) मात्र बन जाते है। वह जनताके चरित्रका पतन करते है
ौर देशके जीवन तत्त्वोको समाप्त करते रहते है। मतदाताको अपने भीतर स्वतत्रता और
विवेक या परखनेकी शक्ति, घूसखोरी और भ्रष्टाचारके प्रति घृणा तथा सार्वजनिक
र्त्तव्यकी सबल भावना उत्पन्न करनी चाहिए। दलोको सार्वजनिक हित सिद्ध करनेके
से साधन बन जाना चाहिए जिनमें परस्पर सहयोग हो। जनतामें उच्च कोटिका चरित्र
ए विना किसी प्रकारकी भी सरकार हो—विशेषकर प्रजातत्रीय सरकार—असफल ही
द्ध होगी। एक ईमानदार और जानकार प्रेस (अर्थात् समाचार पत्र आदि) और
ार्वजनिक वक्ता राजनैतिक दलको सार्वजनिक सदाचारके कठोर और तग रास्ते पर
लनेके लिए बहुत कुछ मजबूर कर सकते हैं।

ग) व्यवस्थापिका.

सरकारके विभिन्न अगोमें से—विशेषकर एक प्रजातत्रवादी देशमें—गौरवका स्थान
व्यवस्थापिका को दिया जाता है। पर हमेशा यही बात नही रही। जैसा कि श्री जेंक्स

(Jenks) कहते है, पुराने ज़मानेमें कानून बनाए नही बल्कि खोजे जाते थे। वह ग्राम्य विधान होते थे जिनका आधार होती थी जन-प्रथाए। जैसे-जैसे समय बीता, ग्राम्य विधानो का महत्त्व कम होता गया और कानून शान्तिकी प्रतिष्ठाके लिए व्यवस्थापिका द्वारा दिए गए अध्यादेशो और आदेशोका रूप ग्रहण करते गए। पर वह इतने स्थायी नही थे जितने कि ग्राम्य कानून, और उनका क्षेत्र भी उतना व्यापक नही था। कुछ और समय बीतनेके बाद कानून प्रतिष्ठित जागीरो द्वारा बनाए जाने लगे जिनका स्वरूप बहुत कुछ प्रतिनिधि सभाओ जैसा था। अन्तिम रूपमें ससदो (Parliaments) और ससद-मूलक प्रभु-शक्ति (Parliamentary sovereignty) की उत्पत्ति हुई।

जब पहले पहल ससदोका आयोजन हुआ तब उनका उद्देश्य विधान-निर्माणमें उनसे सहायता लेना नही था बल्कि सम्राट्की नीतियोको लागू करनेके लिए सभूतियो (Supplies) की स्वीकृति देना था। इस समय ससदकी सदस्यता कोई गौरव और प्रभावका स्थान नही था जिसकी लोग लालसा करते बल्कि वह एक बोझिल उत्तरदायित्व का स्थान था जिससे लोग बचना चाहते थे। पर बहुत जल्दी ससदके प्रतिनिधियो ने यह अनुभव किया कि सभूतियोकी स्वीकृति देनेसे पहले वह इस बात पर ज़ोर दे सकते है कि पहले उनकी शिकायतें दूर की जाए। विदेशी युद्धो और आन्तरिक कठिनाइयोमें फसे हुए सम्राट्को विवश होकर यह सब करना पडा। इसी समयसे व्यवस्थापिका द्वारा विधान बनानेका लम्बा इतिहास प्रारम्भ होता है। यह एक ध्यान देने वाली शिक्षाप्रद बात है कि इगलैडमे आज भी कानून 'तत्र भवान् परम भट्टारक सम्राट्' द्वारा (by the King's Most Excellent Majesty) ससदमें उपस्थित आध्यात्मिक और भौतिक सरदारो (Lords, Spiritual and Temporal) के परामर्श और उनकी स्वीकृतिसे बनाए जाते है, और सभूतिया (Supplies) 'ससदमें उपस्थित लोकसभा' द्वारा 'स्वेच्छापूर्वक मुक्तहस्त' होकर 'परम भट्टारक' (His Majesty) के लिए स्वीकार की जाती है। पहले पहल कानूनोंके लिए सम्राट्से प्रार्थना की जाती थी। बादमें कानून विधेयको (Bills) के रूपमें बनाए जाने लगे।

विधानके स्रोत (Sources of Law)

आज भी केवल विधान-मडल ही विधान-निर्माणका एकमात्र स्रोत नही है। प्रोफ़ेसर हॉलैंडकी व्याख्याके अनुसार कानूनके पाच और उद्गम है :

(१) प्रथाए या रीतिया (custom or usage),
(२) धर्म (Religion),
(३) अधिनिर्णय अथवा अदालती फैसले (adjudication or judicial decisions),
(४) वैज्ञानिक टिप्पणिया (Scientific commentaries), और
(५) निष्पक्ष न्याय सिद्धान्त (equity)।

सभी समाजोमें प्रथाओंका बहुत महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। कोई लिखित विधान था ही नही। परिवार, वश या गोत्र अथवा अलिखित प्रथाओंकी व्याख्या और उनका प्रयोग पिता अथवा कुटुम्बाधिपति अथवा जरठ परिषद् (council of elders) द्वारा

किया जाता था। अधिकाश रूपमें यह प्रथाए जीवन और सम्पत्तिकी समस्याओंसे सम्बन्धित होती थी।

प्रथाओसे बननेवाले विधानके साथ धर्मका गहरा सम्बन्ध था। प्रथाए जनताकी पुरानी रीतिया मात्र नही थी बल्कि उनके पीछे दैवी स्वीकृतिकी भी कल्पनाकी जाती थी। ऐसे दैवी विधानोकी अवज्ञा या अवहेलना करनेका अर्थ था दैवी कोपका भाजन बनना। यह दैवी कोप गावके मुखिया, समिति, पुरोहित अथवा पुरोहित-सम्राट् (Priest-kings) द्वारा लागू किया जाता था। इतिहास यह बताता है कि जहा पूर्वीय देशोमें विधानका धार्मिक आधार बहुत समय तक चलता रहा वहा पश्चिममें उसका स्थान बहुत जल्दी राजनैतिक आधारने ले लिया।

धर्म और प्रथाए हमेशा एकमत नही रहे। जब कबीलोका अन्तर्मिश्रण (inter-mixture) हुआ तब प्रथाओ, रीतियो और धार्मिक विधानोमें जटिलता उत्पन्न हुई। ऐसी स्थितियोमें झगडे समाजके सबसे अधिक बुद्धिमान् लोगोके हाथोमें सौप दिये जाते थे और उनके निर्णयोको मान्य माना जाता था। यह प्रारम्भिक न्यायाधीश न केवल विभिन्न प्रथाओ और रस्मोके बीच न्याय रखते थे बल्कि जिन समस्याओंके सम्बन्धमें पुरानी प्रथाओमें स्पष्टत कोई सुझाव न होता था अथवा जिनके सम्बन्धमें प्रथाए अनुप-युक्त होती थी उन समस्याओका हल वह अपनी सामान्य बुद्धिके बल पर करते थे। पहले पहल न्यायकर्त्ताओंके यह कानूनी फैसले जबानी दिए जाते थे। पर बादमें वह लिख लिए जाते थे। न्यायाधीशो द्वारा बनाए हुए कानून आज भी व्यवस्थापनका एक बहुत बडा अग है। चूकि न्यायाधीशोके निर्णय प्राय अन्य न्यायाधीशो द्वारा दिए गए पहलेके निर्णयोके आधार पर हुआ करते हैं इसलिए विधान-निर्माणमें न्यायाधीश लोग एक अप्रत्यक्ष पर बडा महत्त्व-पूर्ण भाग लेते हैं।

वैज्ञानिक व्याख्याए या टिप्पणिया जिन्होने ख्याति प्राप्त की है, विधानका दूसरा स्रोत (Source) है। वकील और न्यायाधीश लोग वकीलो और न्यायवेत्ताओ (Jurists) की सम्मतियोको बडा महत्त्व देते हैं। इस प्रकार जिन देशोमें अग्रेजी विधान पद्धति प्रचलित है वहा श्री कोक और ब्लैक्स्टन जैसे लोगोकी सम्मतियोको बडे आदरसे माना जाता है। प्रारम्भमें यह सम्मतिया तर्क-मात्र होते हैं निर्णय नही। पर जिस हद तक उन्हें मान्य मान लिया जाता है उस हद तक कुछ समय बाद उन्हे निर्णयोका सा महत्त्व प्राप्त हो जाता है। 'व्याख्याताकी मान्यता, न्यायाधीशो द्वारा दिए गए निर्णयोकी भाति, बार-बार उनके स्वीकार किए जानेसे प्रतिष्ठित होती है।' व्याख्या करनेवालेका काम होता है—वैधानिक सिद्धान्तो, निर्णयो और कानूनोका सग्रह और उनकी तुलना करना और उनकी तर्क-सगत व्यवस्था करना, और ऐसा करते हुए 'सम्भाव्य मामलोंके लिए निर्देशक सिद्धान्त' स्थिर करना। व्याख्याता यह स्पष्ट कर देता है कि कौन-कौनसी बात लुप्त या छूटी हुई है और उसके निर्देशके लिए सिद्धान्त स्थिर करता है। वह नवीन विधानकी आधार-भूमि तैयार करता है, स्वय नए विधानका निर्माण नही करता (२८ १६६-७)।

विधानका एक दूसरा सफल स्रोत है निष्पक्ष न्याय सिद्धान्त (equity)। इसका अर्थ है 'एक ऐसा नियम-निकाय (body of rules) जो प्रारम्भिक दीवानी-कानून (original civil law) के साथ-साथ चलता है, स्पष्ट पृथक् सिद्धान्त जिसके आधार ह और इन सिद्धान्तोकी स्वाभाविक उच्च कोटिकी पवित्रताके बल पर जो कभी-

कभी दीवानी-कानूनका अतिक्रमण करनेका—उसकी सीमासे बाहर जानेका—भी दावा रखता है (५७)। दूसरे शब्दोंमें निष्पक्ष न्याय-सिद्धान्तका सीधा-सा अर्थ है समानता और न्याय। जिस चीजको पूर्व-कालीन लेखक प्रकृति अथवा जातियोका विधान कहते थे वही इसका आधार है। ऐसे मामलोमे जिनमे वर्तमान कानून बिल्कुल अनुपयुक्त होता है अथवा वह लागू नही होता वहा न्यायाधीश चुपचाप बैठे हुए कानूनके बदले जाने या नए कानूनके बनाये जानेकी प्रतीक्षा नही कर सकता। इसलिए वह यह करता है कि 'नैसर्गिक न्याय' अथवा 'व्यवहार-साम्य' के सिद्धान्तको काममें लाता है और इसीको निष्पक्ष न्याय-सिद्धान्त कहते है। इगलैंडमे कोर्ट ऑफ् चान्सरी (Court of Chancery) अथवा 'धनागारी न्यायालय' निष्पक्ष-न्याय-सिद्धान्तके अधिकार-क्षेत्रमे सर्वोच्च न्याय-समिति या न्यायालय है।

विधानका अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत 'व्यवस्थापन' है। यह जनता की सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न इच्छाकी अभिव्यक्ति है। सभी आधुनिक राज्योमे व्यवस्थापनकी यह एक प्रवृत्ति है कि विधानके अन्य उद्गमोको उखाड दिया जाय। प्रथाओ और निष्पक्ष न्याय-सिद्धान्तका स्थान अधिकाधिक रूपमे व्यवस्थापन ग्रहण करता जा रहा है। कानूनो के अनुबन्धनमें (Codification) न्यायाधीशो द्वारा बनाये गये कानूनके क्षेत्रको सकुचित करनेकी प्रवृत्ति होती है, और वैज्ञानिक व्याख्याओका उपयोग अधिकाश रूपमे विवादोके लिए ही किया जाता है। नए विधानोके निर्माणमे सुप्रतिष्ठित प्रथाए, धार्मिक सम्मतियो और निष्पक्ष न्याय-सिद्धान्त निस्सन्देह अपना भाग लेते है, पर उनका भाग व्यवस्थापन पर प्रभाव डालने वाली शक्तियोके रूपमे ही होता है, विधानके प्रत्यक्ष स्रोतो के रूपमें नही।

सरकारके प्रशासकीय विभाग द्वारा निर्मित विधान
(Laws made by the administrative Depts of Govt)

आधुनिक राज्यमें अकेली व्यवस्थापिका ही कानूनोको नही बनाती, उदाहरणके लिए सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की कार्यपालिकाका प्रधान सन्धियां करता है। इन सन्धियोंके लिए अनुषद (Senate) के ⅔ वोटो द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक होता है। ब्रिटिश पार्लियामेंटके पास न तो इतना समय रहता है और न इतना ज्ञान ही रहता है कि वह विधान-निर्माणके सभी कार्योके पूरे-पूरे विवरणका मसविदा बनाए और इसलिए अनेक स्थितियो में वह सम्बन्धित विधानकी ऊपरी रूप-रेखाको स्वीकृत कर देती है और विवरण पूरे करनेका काम वह कार्यपालिकाके विभिन्न विभागो पर छोड देती है। इस कामको यह विभाग अपने प्रशासकीय आदेशो, विधियो और नियमो द्वारा पूरा करते है। इनमेंसे कुछ तो स्थायी होते है और उनके लिए ससदकी स्वीकृति आवश्यक होती है और कुछके लि इस रस्म-अदायगीकी भी जरूरत नही रहती। इस प्रकारका 'प्रदत्त' (delegated अथवा 'उपाश्रित' व्यवस्थापन (Subordinate legislation) इतना अधिक ब गया है कि प्रधान न्यायाधीश हेवर्ट (Hewart) ने उसे 'नवीन निरकुशता' की मारगर्भि उपाधि दी है।

जनता द्वारा व्यवस्थापन (Legislation by People)

स्विटज़रलैंड राजनैतिक विधियोका घर है। वहा पर लोक-मत-ग्रहण (Referendu

ससारका एक दूसरा शक्तिशाली द्वितीय सदन फ्रासकी अनुपद् (Senate) है जिसमें ३१४ सदस्य होते हैं। इन सदस्योका चुनाव अप्रत्यक्ष रीतिसे होता है। यह अनुपद् ६ वर्ष तक काम करती है, एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। दक्षिणी अफ्रीका की यूनियनमे मनोनयन (nomination) और निर्वाचनके सिद्धान्तोंका मिश्रण किया गया है। आस्ट्रेलिया के कुछ सूबोमे ऊपरी सदन्के सदस्योंको गवर्नर आजीवन सदस्यताके लिए मनोनीत करता है। कुछ प्रान्तोमें वह एक विशेष सकुचित आधार प निर्वाचित होते हैं। टर्कीमें एकसभात्मक प्रणाली है।

नॉर्वेमे एक अनुपम द्वितीय सदन है। नॉर्वेकी लोकसभा (Strothing) स्ट्रोंदिगव निर्वाचन प्रति तीन वर्षोमें होता है। जैसे ही इनका निर्वाचन होता है यह सभा अप सदस्योमें एक चौथाई सदस्योको फिर से चुनती है और यह सदस्य उपरिसद (Lagthing) का निर्माण करते हैं। शेष सदस्योको मिला कर ओडेदिंग (Odesthing बनता है। लेंदिग (उपरिसदन) को व्यवस्थापनके उपक्रम (initiative) का अधिका नही है। पर ओडेंदिग द्वारा भेजे गये विधेयकोंके सम्बन्धमें वह सशोधन प्रस्तावित क सकता है। यदि वह सशोधन स्वीकार नही किए जाते और उपरिसदन (लेंदिग) । नही झुकता तो दोनो सदनोका सम्मिलित अधिवेशन होता है जिसमे निर्णय दो तिहा बहुमत द्वारा किया जाता है। यदि दूसरे सदनकी कोई आवश्यकता है तो उन्हें लोव सभाओंसे भिन्न होना चाहिए, स्वतत्र और उत्तरदायित्व-पूर्ण ढगसे उन्हें काम करन चाहिए और निचले सदनके कार्योका सफल प्रत्यालोचन या सशोधन करनेके लिए उन आवश्यक शक्ति और योग्यता और पक्षपात-हीनता होनी चाहिए।

क्या दूसरे सदन आवश्यक हैं?
(Are Second Chambers necessary?)

दूसरे सदनोके प्राय सार्वभौम (universal) होनेका यह अर्थ नही है कि वह अनिवा है। दूसरे सदनोके पक्षमे प्राय उपस्थित किये जाने वाले तर्क यह हैं

(१) निचले सदन द्वारा विना भलीभाति विचारके जल्दबाज़ीसे किये गये य अपरिपक्व व्यवस्थापनमें एक उपयोगी रोक इन सदनो द्वारा लग जाती है।

(२) सघात्मक सविधानोमे दूसरे सदन सघकी अगभूत इकाइयोंके स्वार्थोकी रक्ष करते हैं। इन दोनो ही तर्कों पर गम्भीर शकाएं की गयी हैं और इनके सम्बन्धमें अभ तक कोई निर्णय नहीं हो सका।

पिछली सदीके उत्तरार्धमे लिखते हुए श्री जे० एस० मिल ने यह आशका प्रकट क हैं कि केवल एक सदनके होनेसे वह निरकुश और अहकार-पूर्ण हो जा सकते है औ 'अविभाजित शक्तिके पतनोन्मुख प्रभाव' को रोकनेके लिए दूसरे सदनका होना आवश्य है। सर हेनरी मेन का तो यहा तक कहना था कि दूसरा सदन वह चाहे जैसा भी क्यो न हो, न होने से अच्छा है। उनका तर्क यह था कि एक सुसगठित दूसरा सदन को 'प्रतिस्पर्धी अभ्रान्त सस्था' नहीं है बल्कि एक 'अतिरिक्त सुरक्षा' (Additiona Security) की व्यवस्था है। लॉर्ड ऐक्टन के अनुसार दूसरा सदन स्वाधीनताके लिए एक आवश्यक सुरक्षा है। इससे राज्यकी नीतिमें एक आवश्यक शक्ति-सन्तुलन होता है

अल्पसख्यकोको सुरक्षा प्राप्त होती है और एक अच्छा प्रत्यालोचक सदन (revising chamber) बन जाता है। इगलैंडमें वृहद्कालीन ससद (Long Parliament) के उत्तर कालमें दूसरे सदनको समाप्त कर देनेकी और खुद अपने आपको निर्वाचक मडल से स्वतत्र और स्थायी रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी कोशिश इस अधिवेशन ने की थी। पर परिणाम इतना बुरा हुआ कि क्रौमवेल ने उसे 'ससारकी सबसे अधिक भयावनी निरकुशता' कहा था। कन्वेशन पार्लियामेंट (Convention Parliament)—रूढि ससदने अपना मत व्यक्त किया था कि 'शासन, सम्राट् अभिजात सदन (House of Lords) और लोकसभा (House of Commons) द्वारा ही होना चाहिए'। फ्रासने भी एक सदनात्मक व्यवस्थाका प्रयोग किया था पर उसे एक निष्फल प्रयत्न पा कर छोड दिया। हमारे समयमें ही यूनान ने वही प्रयोग किया पर कोई अच्छा नतीजा नही निकला। इस सबसे यह स्पष्ट होता है जैसा कि श्री मैरियट (Marriot) कहते हैं कि द्विसदनात्मक-व्यवस्थापक-मडलोके पक्षमें एक अद्भुत एकता दिखायी देती है। पर इसके विपरीत श्री एस० एस० आयगर का कहना है प्रजातत्रमें द्विसदनवाद (Bi-cameralism) एक 'जीर्ण-शीर्ण सिद्धान्त' है। उनके अनुसार द्विसदनात्मक प्रणालीका कारण है 'प्रजातत्रमें विश्वासकी कमी और अल्पसख्यकोको आश्वस्त करनेकी इच्छा' और 'इस बातका कोई मानने योग्य कारण नही दिखायी देता कि लोक-सम्मतिको अपनी अभिव्यक्तिके लिए दो साधन क्यो खोजने पड़ें और प्रजातत्रको दो प्रकारके स्वरोमें क्यो बोलना पडे।' उनके दृष्टिकोणसे दूसरे सदनोकी सत्ता इसलिए बना रखी गयी है जिससे 'राजनैतिक दलोके उन व्यक्तियोकी महत्त्वाकाक्षाए पूरी होनेका अवसर मिले जिन्हें पहले सदनमें स्थान नही मिल पाता, स्वय दलके भीतर नेतागीरीकी प्रतिस्पर्द्धा कुछ कम हो और साधारण रूपसे पार्टीके प्रभावका दायरा बढे। ऐसा मालूम होता है कि पिछले समयमें हिन्दुस्तानके सूबोमें द्विसदनात्मक प्रथा निहित स्वार्थोकी जड जमाने और निचले सदन की सम्भाव्य क्रान्ति-मूलक प्रवृत्तियो पर रोक लगानेके लिए प्रचलित की गयी थी। विशेष रूपसे निचले सदनकी भू-सम्पत्ति सम्बन्धी प्रवृत्तियोके सम्बन्धमें ऐसा सोचा गया था।

द्विसदनवादके विरुद्ध शास्त्रीय तर्क श्री अबे सियस (Abbe Sieyes) ने उपस्थित किया है यदि दूसरा सदन पहले सदनसे असहमत होता है तो वह शरारती और हानि पहुचाने वाला है और यदि वह सहमत होता है तो वह अनावश्यक है। विचारोको निष्क्रिय बनाने वाली इस भ्रान्ति-मूलक स्थितिका सटीक उत्तर श्री फाइनरके शब्दोमें यह है

'यदि दोनो सदन सहमत होते हैं तो विधानकी न्याय-पूर्णता और विवेकशीलता पर हमारे विश्वासके लिए और भी अधिक बल मिलता है, यदि वह असहमत होते हैं तो लोगो को अवसर मिलता है कि वह अपने दृष्टकोण पर फिरसे विचार करें।'

इसमें कोई सदेह नही कि सैद्धान्तिक धरातल पर एक समुचित ढगसे सगठित दूसरे सदनके पक्षमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। एक प्रत्यालोचक सस्था (Revising body) के रूपमें दूसरा सदन व्यवस्थापनमें बडा महत्त्व-पूर्ण योग दे सकता है। अपने सगठनकी विशेषताओंके कारण यह सदन विधेयको पर सभी दृष्टिकोणोंसे बहुत कुछ तटस्थ रूपमें विचार कर सकता है, इस सदनके सगठनकी विशेषताए हैं—सदस्योकी लम्बी कार्यावधि, अधिक अनुभव और लोकसभाकी उत्तेजनाओ और ईर्ष्या-द्वेषो आदि से उनकी अपेक्षाकृत मुक्ति। पर व्यवहारसे तो यह दिखायी देता है कि दूसरा सदन

राजनीतिमें रूढिवादिता और कमी प्रतिक्रियाका भी गढ होता है। अनेक बार इगलैंड के अभिजात सदनको तर्क-सगत दृष्टिकोण अपनानेके लिए 'सकढमें डालने' की धमकी देनी पडी है और १९११ के पार्लियामेंट एक्टने उसे लगभग शक्ति-हीन बना दिया है। अब उसे अर्थ विधेयको (money bills) में हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नही रहा और सामान्य व्यवस्थापनके मामलोमें भी उसे अब बराबरके अधिकार नही प्राप्त है। अधिकसे अधिक अब लॉर्ड-भवन इतना ही कर सकता है कि वह व्यवस्थापनको लगभग ३० महीनो तक या पार्लियामेंटके लगातार तीन अधिवेशनो तक रोके रहे।[1]

यह तर्क हमें सार-पूर्ण नही मालूम होता कि त्वरित (Hasty) और असुविचारित (ill-digested) व्यवस्थापन पर रोक लगानेके लिए दूसरा सदन आवश्यक है। एक विधेयकके अनेक वाचन (readings) विशिष्ट समितियो (Special committees) के हाथो विधेयकोका सौंपा जाना, समाचार-पत्रो और सार्वजनिक सभा-मचो आदिके द्वारा जनताकी सम्मति आदि जल्दवाजीसे काम किये जानेके विरुद्ध पर्याप्त सरक्षण मालूम होते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक आवश्यक सुधारोके सम्बन्धमें उपरिसदनको विलम्ब करनेका अधिकार देनेका अर्थ शायद अन्तिम रूपमें घातक होगा और जन-क्रान्ति का रास्ता साफ करेगा।

इस दूसरे तर्क पर भी शका की जा सकती है कि दूसरा सदन सघ-सिद्धान्तका एक मौलिक अग है। स्थानीय समस्याओको स्थानीय व्यवस्थापिकाए सुलझाती ही है और राष्ट्र-हितके विरुद्ध राज्योंके हितोकी रक्षा करनेके लिए दूसरे सदनकी कोई आवश्यकता नही है। सयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण लेते हुए हम देखते है कि अनुषद् (Senate) प्रतिनिधि-भवन (House of Representatives) की अपेक्षा कम राष्ट्रीय अथवा कम प्रगतिशील नही रही। यह धारणा बना लेना गलत है कि एक सदन केवल प्रान्तीय या राज्योके हितोको सोचेगा और दूसरा सदन राष्ट्रीय हितोको। सम्भावना तो यह है कि दोनो ही सदनोमें प्रान्तीय और राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले लोग होगे। इसलिए हम श्री मैरियटके इस फैसलेको एक अत्युचित मानते है कि सघीय सविधानके सरक्षणके लिए दूसरा सदन एक मौलिक और प्रभाव-पूर्ण प्रतिभू (Guarantee) अथवा साधन है।

तो निचोड यह है कि दूसरा सदन, चाहे आवश्यक हो और चाहे न हो, हमारे मतसे ऐसा कोई एकरूप उत्तर नही दिया जा सकता जो सभी स्थितियो और अवस्थाओ पर लागू हो सके। बहुत कुछ तो ऐतिहासिक पूर्ण वृत्तो (Historical antecedents) या इतिहासकी भूमिका पर निर्भर करता है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और फ्रासमें यदि अनुपदो (Senates) को हटा दिया जाय तो निस्सन्देह वह देश दुर्बल हो जायेंगे। दोनो ही अनुपदोमें परिपक्व वृद्धि और अनुभवके व्यक्ति आकर्पित होकर आये है और

---

[1] १९४९ के पार्लियामेंट ऐक्टने उस अवधिको घटा दिया है जितनी अवधि तक लॉर्डभवन को व्यवस्थापन रोकनेका अधिकार था। यह अवधि तीन अधिवेशनो और दो वर्षोंसे घटा कर दो अधिवेशनो और एक वर्षकी कर दी गयी है और उसे १९४७-४८ के अधिवेशन पर भी जब कि यह विधेयक पहले पहल प्रस्तावित हुआ, अनुदर्शी रूपमें (retrospectively) लागू किया गया था।

उन्होंने विधान-निर्माण और नीति-निर्धारणमें बडा महत्त्व-पूर्ण भाग लिया है। लॉर्ड भवनके मिटा देनेसे इगलैंड भी कमजोर हो जायगा क्योंकि यह भवन मन्त्रियों और ज्ञान तथा प्रशासकीय अनुभवका एक रक्षित आगार या खजाना रहा है। कुछ तत्कालीन महत्त्व-पूर्ण प्रश्नोंका पूरा-पूरा और शान्तिपूर्ण विवेचन इस भवनके कारण सम्भव हो सका है। दूसरी ओर यदि कनाडाकी अनुपद् (Senate) को हटा दिया जाय तो उस देशकी कुछ अधिक हानि होनेकी सम्भावना नही है। जहा तक भविष्यके लिए विधान-निर्माण का सम्बन्ध है, दूसरे सदनको एक सामान्य नियम न समझ कर एक अपवाद (exception) समझना चाहिए। समय और धनकी बर्बादीको बचानेके लिए यह व्यवस्था की जा सकती है कि विवादास्पद विधेयकोंको निचले सदनसे दो बार पारित कराया जाय और यदि आवश्यक हो तो उनके प्रभावमें आनेसे पहले एक आम चुनावकी व्यवस्था की जाय।

विधान-मण्डलकी शक्तियां और उसके कर्त्तव्य
(Powers and Functions of the Legislature)

विधान-निर्माण ही व्यवस्थापिकाओंका एकमात्र कर्त्तव्य नही है। उन्हें बजट पर विचार करना होता है, सभूतियों (supplies) की स्वीकृति देनी होती है और शासनका सामान्य निरीक्षण करना होता है। व्यवस्थापनके मामलोंमें सामान्य प्रथा यह है कि निचले सदनको अधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया जाता है। अर्थ-विधेयक (Finance Bills) केवल निचले सदनमें ही पेश किये जा सकते है। अर्थेतर विधेयक (Non-finance Bills) अनेक देशोंमें किसी भी सदनमें पेश किये जा सकते है पर जब दोनो सदनोंमें परस्पर विरोध होता है तब उपरिसदनको ही झुकना पडता है। अनेक संविधानों में दोनो सदनोंके अथवा दोनो सदनोंकी समितियोंके सम्मिलित अधिवेशनकी व्यवस्था है। इन अधिवेशनोंमें निर्णय मतदाताओंके एक निश्चित प्रतिशत द्वारा ही किया जाता है और चूंकि प्राय सभी कहीं लोकसभाके सदस्योंकी संख्या अधिक होती है इसलिए पासा उन्हींके पक्षमें पडता है।

ब्रिटिश पार्लियामेंट ससारके सबसे अधिक शक्तिमान् व्यवस्थापिका सभा-भवनोंमें से एक है। उसकी अधिकार-सत्ताकी व्याप्ति वहा तक है जहा तक जनमत और निर्वाचक मडलकी इच्छा उसे सहन करे। इसके कर्त्तव्य संविधानिक (constituent) और वैधानिक (legislative) दोनो ही है। इसके विपरीत सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और स्विटजरलैंडमें संविधानको बदलनेके लिए एक व्यापक सस्था सगठित की जाती है। आस्ट्रेलियामें भी संविधानिक परिवर्तन करनेके लिए एक विशेष प्रक्रियाकी आवश्यकता होती है। फ्रांसमें प्रविधित (technically) संविधान लचीला नहीं है पर उसे अपेक्षाकृत साधारण विधिसे बदला जा सकता है।

जिन देशोंमें ससदात्मक शासन-व्यवस्था प्रचलित है वहा प्रश्नोत्तरों द्वारा ससद शासन पर नियत्रण रखती है। इगलैंडमें इस सम्बन्धमें अविश्वासका प्रस्ताव नहीं उपस्थित किया जा सकता। पर फ्रांसमें ऐसी प्रणाली प्रचलित है और वहां प्राय मन्त्रिपरिषदों को उलटनेमें इस विधिसे काम लिया जाता है। लोक-शासन (public administration) के सम्बन्धमें लिखने वाले लेखकोंने विधान-मडल और एक व्यावसायिक सस्था

के सचालक मडलके नीच तुलना की है। उसका आधार यह है कि इन दोनोका ही कर्त्तव्य निर्देशन, निरीक्षण और नियत्रण करना है, कार्यान्वय (execution) नही। 'सरकारके प्रशासकीय विभागका सगठन कैसे किया जाय, विभिन्न भागो या अगोके बीच कर्त्तव्योका विभाजन कैसे किया जाय और कार्य-विधि की कौन-सी पद्धतिया उनके द्वारा अपनायी जाय—इन सब प्रश्नोका निर्णय करनेकी अन्तिम अधिकार-सत्ता 'सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें सरकारकी व्यवस्थापिका शाखाको प्राप्त है।'

विधान-मडलको विशेषकर उसके उपरिसदनको कुछ न्याय सम्बन्धी कर्त्तव्य भी करने होते है। आज भी लॉर्ड-भवनका सभापति, लॉर्ड चैन्सलर(Lord Chancellor) इगलैंडकी सर्वोच्च न्यायाधिकरण सत्ता है और ६ अन्य न्याय सम्बन्धी लॉर्डोंके साथ वह राज्यके सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें काम करता है। यद्यपि न्याय-समिति (Judicial Committee) में इन सात लॉर्डोंके अतिरिक्त अन्य लॉर्ड भी बैठते है पर उसका काम वास्तवमें यही सात करते है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें प्रतिनिधि-भवन द्वारा लगाये गये प्राभियोग (impeachment) के मामलोकी सुनवाई अनुषद्में होती है। फ्रासमें अनुषद् ही न्यायकी उच्च अदालत है।

कुछ देशोमें उपरिसदनको कार्यकारिणीके कर्त्तव्य भी पूरे करने होते है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें राष्ट्रपति मन्त्रियो, सर्वोच्च अदालतके न्यायाधीशो, राजदूतो, परिषदो तथा अन्य ऐसे अधिकारियोकी जो नियुक्ति करता है उनके लिए अनुषदकी स्वीकृति आवश्यक होती है। फ्रासमें अनुषद्की स्वीकृतिसे राष्ट्रपति प्रतिनिधि-सभा (Chamber of Deputies) को भग कर सकता है पर परम्परा इस व्यवहारके विरुद्ध रही है और इसलिए लोकसभा व्यावहारिक रूपमें कुछ निश्चित वर्षोकी अवधि तक काम करती रहती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और फ्रास दोनोमें ही उपरिसदन बहुत अधिक शक्तिमान है और यह एक अपवाद (exception) है। इन देशोमें उपरिसदनको लगभग वही अधिकार-शक्ति प्राप्त है जो निचले सदनको। अमेरिकामें अनुषद् अर्थ-विधेयकोको प्रस्तावित नही कर सकती पर उनमें सशोधन कर सकती है पर वैदेशिक मामलोमें प्रतिनिधि-सभाकी अपेक्षा अनुपद् अधिक प्रभाव पूर्ण ढगसे काम करती है। अपने अनुभव, परिपक्वता, लम्बी कार्यावधि (longer term of tenure), अभग स्वरूप, सीमित आकार, राजनैतिक सस्थासे अपने सम्बन्ध और क़ानून द्वारा मिली हुई अपनी अधिकार-शक्तियोके कारण देशमें इस अनुपद्की अधिक प्रतिष्ठा है। फ्रासमें दोनो सदनोको मिलाने वाली एक सुदृढ दल-व्यवस्थाके अभाव और प्रतिनिधियोके बुरे आचरणने सीनेटको शक्तिशाली बनाया है। इसका इतना अधिक प्रभाव है कि किसी भी मन्त्रिपरिषद्को इसका उल्लघन करनेका साहस नही होता और वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक मन्त्रिपरिषद् में सामान्यत अनुषद्के तीन या चार सदस्योको सम्मिलित किया जाता है। अनुषद्को इस बातका अधिकार है कि वह प्रतिनिधि-सभा द्वारा स्वीकृत ऋणो (credits) को स्वीकार करे अस्वीकार करे, घटाये अथवा बढा दे।

व्यवस्थापिकाकी कार्य-प्रणाली (Legislative Procedure)

आधुनिक युगमें व्यवस्थापनका काम आसान नही है। इसके लिए कुशल आलेखको (draftsmen) की आवश्यकता होती है। विधेयकके सामान्य सिद्धान्तोकी सावधानी

पूर्वक विवेचना करनी होती है और साथ ही साथ प्रत्येक धारा-प्रतिधारा विवरणो पर भी विचार करना होता है। इगलैंडमें एक विधेयकको प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन, समिति-अवस्था (committee stage), सूचनावस्था (report stage) और तृतीय वाचनकी स्थितियोंको पार करना होता है। विरोधी दलकी अडगे लगाने वाली चालोको रोकनेके लिए और सदनका समय बचानेके लिए मुखबन्ध (guillotine) आदि समापन (closure) अर्थात् विवादका अन्त करने वाले साधनोको अपनाया जाता है।

राजनैतिक दलो और 'दबाव डालने वाले गुटो' का व्यवस्थापनकी कार्यवाही पर बडा प्रभाव पडता है। उम्मीदवारोको इस बातका वायदा करना पडता है कि वह दल की नीति और कार्य-क्रमका समर्थन करेंगे और तभी उन्हें आधिकारिक ढगसे स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी किसी विशेष योजनामें अभिरुचि रखने वाले मतदाताओके गुट उम्मीदवारोसे अपने समर्थनकी शर्तके रूपमें यह लिखवा लेते है कि वह उन योजनाओ का समर्थन करेगा। कुछ सविधानोमें, उदाहरणके लिए सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राज्य-सविधानोमें जब कोई व्यवस्थापक अपने निर्वाचक मडलका आशिक या सम्पूर्ण विश्वास खो देता है तब उसे दुबारा चुनाव लडनेके लिए बाध्य किया जा सकता है। यह कार्य व्यवस्थापककी अवधि समाप्त होनेके पहले प्रत्याहृति (Recall) द्वारा किया जाता है। आजकल दलो, दबाव डालने वाले गुटो और जनताकी आम सभाओकी शक्ति इतनी अधिक है कि अब इस पुराने प्रश्नका महत्त्व बहुत कुछ समाप्त हो गया है कि प्रतिनिधि केवल प्रतिनिधि-मात्र है या वह अपने विवेकका भी उपयोग कर सकता है। कुछ विचारको की सम्मतिसे एक प्रतिनिधि एक जिन्दा टेलीफोन-मात्र है जिसे सच्चाई और ईमानदारी के साथ वही कहना चाहिए जो कुछ उसका निर्वाचक मडल उससे कहलवाना चाहता है। इस अतिवादी रूपमें तो यह सिद्धान्त व्यावहारिक नही है। एक तो यह व्यक्तिके आत्म-सम्मानको गिराने वाली बात है और दूसरे यह कोई पहलेसे ही कैसे जान सकता है कि चुनाव समाप्त हो जानेके बाद कौन-सी और कैसी परिस्थितिया खडी हो जायगी और इसके अतिरिक्त एक प्रतिनिधिका अपने निर्वाचन क्षेत्रके प्रति जितना कर्त्तव्य होता है उतना ही कर्त्तव्य समूची जातिके प्रति होता है और इसलिए दूसरे प्रतिनिधियो और विभिन्न दलो द्वारा उपस्थित किए गए प्रश्नके सभी पक्षो पर विचार करनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

यद्यपि इस सम्बन्धमें कोई सामान्य नियम नही है कि किन परिस्थितियोमें किसी प्रतिनिधिका कर्त्तव्य होता है कि वह इस्तीफा दे दे फिर भी साधारण तौरसे यह स्वीकार किया जाता है कि जब कभी वह एक दलको छोड कर दूसरे दलमें जाए या एक ऐसी नीति या कार्य-पद्धतिको अपनाए जो उसके निर्वाचन-क्षेत्रकी स्पष्ट इच्छाके विरुद्ध हो अथवा चुनावके समय दिए गए अपने वचनोंको भग करता है तब उसे इस्तीफा दे देना चाहिए और फिरसे चुनाव लडना चाहिए।

ससदात्मक पद्धतिमें सत्तारूढ सरकारके सम्बन्धमें भी यही बातें लागू होती हैं। श्री फाइनर ने इन तीन परिस्थितियोंकी विवेचना की है जिनमें सरकारका भग करना इगलैंडमें उचित माना जाता है

(१) जब कोई मौलिक महत्त्वकी नई नीति लागू करनेकी बात सोची जाती है,

जैसा श्री बाल्डविन ने १६२३ ई० में किया था जब बोनर लॉ के बाद उन्होंने बेकारीको दूर करनेके लिए संरक्षण लागू करना चाहा था, और बोनर लॉ आम चुनावके समय यह घोषणा कर चुके थे कि वह चुंगीकी दरोंमें कोई वृद्धि नहीं करेंगे,

(२) जब कोई सरकार इस बातके प्रत्यक्ष लक्षण देख लेती है कि अब उस पर देश का विश्वास नहीं रहा,

(३) जब दलोंकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि गतिरोध पैदा हो जाता है जिससे आवश्यक विधानोंके पारित होनेमें बाधा पड़ती है और जब तीव्र आलोचनाएं सरकारके लिए प्रतिष्ठापूर्वक सत्तारूढ बने रहने देना असम्भव बना देती है।

समिति-प्रणाली (Committee System)

आधुनिक विधान-मंडल अपना अधिकांश काम समितियोंके माध्यमसे करते हैं। अमेरिका में कांग्रेसका सारा कार्य समितियों द्वारा होता है, इसका कारण है कार्यपालिका और व्यवस्थापिकाका अलग-अलग किया जाना। समितियां गुप्तरूपसे अपना काम करती हैं। यद्यपि दोनों दलोंके प्रतिनिधि इन समितियोंमें रहते हैं फिर भी बहुमत दलके सदस्य अधिक होते हैं और उसी दलका सदस्य सभापति होता है। दलके सदस्योंमें एक साथ मिल कर काम करनेकी प्रवृत्ति होती है। मन्त्रिपरिषद्के सदस्योंको कभी-कभी इन समितियों में उपस्थित होनेको कहा जाता है पर यह आवश्यक नहीं है कि उनकी सलाह स्वीकार कर ली जाए। कुछ समितियोंके सभापति वस्तुतः मन्त्रियोंकी भी स्थिति रखते हैं, जैसे साधनोपाय-समितियों और सविनियोग-समितियों (Committees on ways and means and on appropriations) के सभापति। फ्रांसमें भी ऐसी ही व्यवस्था प्रचलित है। वहां पर एक कमीशनका अध्यक्ष (Rapporteur) आर्थिक मामलोंमें भी मन्त्रीका प्रतिद्वन्द्वी बन सकता है। इस पद्धतिमें भवनशासन और व्यवस्थापन दोनोंका ही नियन्त्रण करना है। इंगलैंडके लोकसभामें समितियोंके सभापतियोंको उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त है जितना अमेरिकाकी कांग्रेसमें। यहां सभा-भवनमें मन्त्रीगण उन पर छाए रहते हैं।

संसदका कार्य-काल (Duration of Parliament)

इस बातका कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं है कि संसदकी कार्यावधि कितनी होनी चाहिए। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि संसदका कार्य-काल इतना छोटा होना चाहिए कि प्रतिनिधिगण जनतासे अपना निकट सम्पर्क बनाए रख सकें और इतना लम्बा भी होना चाहिए कि वह अनुभव प्राप्त कर सकें और जनताको बार-बार चुनावके झंझट में न पड़ना पड़े। लोक-नियन्त्रणकी उत्सुकतामें अमेरिकाके लोगोंने अपने निचले सदन का कार्य-काल बहुत ही छोटा रखा है। प्रतिनिधि-सभाकी अपेक्षाकृत कमजोरीके कारणों में से एक यह भी है कि प्रतिनिधियोंका चुनाव केवल दो वर्षके लिए होता है। इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनीमें निचले सदनके कार्य-कालके लिए अनुविहित अवधि (Statutary period) निश्चित कर दी गई है और उसमें यह शर्त लगा दी गई है कि कुछ विशेष परिस्थितियोंमें उसे पहले भी भंग किया जा सकता है। इंगलैंडकी लोकसभाके लिए निश्चित

५ वर्षकी सविहित अवधि वास्तवमें बहुत लम्बी अवधि है क्योंकि इस बातकी सम्भावना है कि भवनके सदस्य निर्वाचक मडलकी इच्छाओ और आवश्यकताओसे अपना सम्बन्ध न बनाये रख सकें। दूसरी ओर तीन वर्षकी अवधि बहुत छोटी है। १९१९ के सुधारमें हिन्दुस्तानकी प्रान्तीय कौसिलके लिए यही अवधि रखी गई थी। चार वर्षकी अवधि, इस अधिकारके साथ कि इसके पूर्व भी ससदको भग किया जा सकता है, ससदात्मक सरकारोके लिए सबसे अच्छी कार्यावधि जान पडती है। इगलेंडमें सम्राट् (Crown) पार्लियामेंट को भग करता है किन्तु भग करनेका अधिकार मत्रिपरिषद्के हाथोमें है।

जहा तक दूसरे सदनका सम्बन्ध है वशानुगत सस्थाओको छोडकर उन परिषदोको पाच वर्षसे अधिक नही चलाना चाहिए जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीतिसे निर्वाचित होती हैं अथवा जो अशत निर्वाचित और अशत मनोनीत होती हैं जैसा कि भारतकी प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदें होती आयी हैं। ऐसे दूसरे सदन जो अभग सस्थाके रूपमें काम करते हैं ६ वर्ष तक चल सकते हैं। उनके सदस्योका एक तिहाई भाग प्रति दूसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करता रहता है जैसा कि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में होता है। ९ वर्ष तक सदनके चलते रहनेकी फ्रासीसी व्यवस्था जिसमें एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं हमें उचित नही जान पडती। श्री एस० एस० आयगर, जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है, कहते है कि किसी भी व्यक्तिको किसी भी व्यवस्थापिकामें दो बारसे अधिक जनताका प्रतिनिधि नही बनने देना चाहिए क्योंकि इससे राजनीतिके क्षेत्रमें व्यावसायिकता फैलती है और बनावटी उद्देश्योको पूरा प्रोत्साहन मिलता है। श्री आयगर का विश्वास है कि ऐसे प्रतिबन्धोसे 'आज हमें राजनीतिमें जो सशाद और उत्तरदायित्वकी कुठित भावना तथा जान बचाने और आत्मतोषकी प्रवृत्ति दिखाई देती है उस पर रोक लग जायेगी।' इस दृष्टिकोणके विरुद्ध अनुभव और पदकी अभगता (Continuity) के सम्बन्धमें कुछ कहा जा सकता है। इसके अलावा यदि एक व्यक्तिको केवल दो ही बार जनताका प्रतिनिधि बननेकी अनुमति दी जाती है तो उससे जिन वर्गोको अवकाश नही मिलता और राजनीतिमें एक प्रतिष्ठित जीवनकी आशा रखते है उनके लिए द्वार बन्द हो जायगा, समस्या यह है कि व्यवस्थापिकाके प्रभाव-शून्य स्वार्थी और दब्बू सदस्यो को छाटकर बाहर कर दिया जाय।

व्यवस्थापकोका वेतन (Salary of Legislators)

अधिकाश आधुनिक सरकारें अपने व्यवस्थापकोको वेतन देती है। अमेरिका में अनुपद तथा काग्रेस दोनोके ही सदस्योको १२५०० पाउड प्रतिवर्ष दिया जाता है। फ्रासमें भी दोनो सदनोके सदस्योको वेतन मिलता है। इंगलेडमें भी मजदूर दलके आगमन (१९१९) के बादसे लोकसभाके सदस्योको वेतन मिलता है। श्री एस० एस० आयगरका विचार है कि वेतन देनेकी यह प्रथा हानिकारक है क्योंकि इससे बहुतसे व्यवस्थापक पार्टीके गुलाम बन जाते है। उनका ध्यान सेवाके बजाय वेतन पर लगा रहता है और वह थोडे स्वार्थके लिए अपने विश्वासोको छोडनेके लिए तैयार रहते है। दूसरी ओर यह भी कहना होगा कि यदि जनताके प्रत्येक वर्गको शासन-कार्यमें अपना उचित भाग लेना है तो की गयी सेवाके उचित परिश्रमका सिद्धान्त ही एक तर्क-सगत सिद्धान्त दिखाई देता है। इसके साथ ही साथ वेतन इतना अधिक नही होना चाहिए जिससे स्वार्थ-हीन सेवाका उद्देश्य

असम्भव हो जाये।

सरकारके प्रत्येक विभागमें किये जानेवाले कार्यका पुरस्कार जन-सेवासे उत्पन्न ह वाला सतोष और लाखो व्यक्तियोके भाग्य निर्माणका विशेषाधिकार ही है।

व्यवस्थापकोंके विशेषाधिकार (Privileges of Legislators)

सभी देशोमें विधान-मडलके सदस्योको कुछ विशेषाधिकार प्राप्त रहते है। अपने मौि रूपमें ब्रिटिश पार्लियामेंटने यह अधिकार सम्राटके साथ होनेवाले अपने सघर्षके फ स्वरूप प्राप्त किये थे। महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार है भाषणकी स्वाधीनता और दीवा मामलोमें गिरफ्तारीसे मुक्ति। किसी सदस्यको ऐसी किसी भी बातके लिए सजा नही जा सकती जो उसने सदनमें कही हो। इसका यह अर्थ नही है कि लोग अशिष्ट भाषा प्रयोग करें। इसका नियत्रण सदनके अध्यक्ष द्वारा होता है। इसका यह अर्थ भी नही है लोग ऐसे लम्बे भाषण दें जिनका अन्त ही न हो। इनका नियत्रण समापन (Closur और मुखबन्ध (Guillotine) सम्बन्धी नियमो द्वारा होता है। साधारणत व्य स्थापिकाके अधिवेशनसे ४० दिन पहले और ४० दिन बाद तक दीवानी मुकदमोके सम्ब में सदस्योको गिरफ्तारीसे मुक्ति मिली रहती है। अमेरिकामें यह छूट सदस्योके सद उपस्थित रहने और सदनमें आने-जानेकी अवधिके लिए रहती है। इसमें किसी भी दीवा मामलेमें समय दिये जानेसे छूट शामिल नही है।

व्यवस्थापिका और कार्यपालिकाके पारस्परिक सम्बन्ध (Relation between the Legislature and Executive)

इस सम्बन्धके चार विभिन्न स्वरूप होते है

(१) अग्रेज़ी आदर्शके अनुसार मत्रिपरिषद समदकी कर्णधार समिति (Steeri committee) है। वह पार्लियामेंटके समूचे नीति-विधान और आर्थिक उत्तरदायि आदिका नियमन करती है।

(२) फ्रासीसी आदर्शके अनुसार मत्रिपरिषद् अपने अस्तित्वके लिए भी व्य स्थापिका पर आश्रित है। वैसे फ्रासीसी आदर्श भी ससदात्मक है। परिषद्का भाग्य हमे व्यवस्थापकोकी सूझ-सनक पर निर्भर रहता है। कोई ऐसे निश्चित सिद्धान्त नही है जि अनुसार व्यवस्थापिका मत्रिपरिषद्के साथ सहयोग या असहयोग करे।

(३) स्विटज़रलैंडके आदर्शमें कार्यपालिका दलवन्दीसे मुक्त और सामूहिक हो है और उसका कार्य-काल निश्चित रहता है। यदि उसके कार्यो अथवा नीतियो व्यवस्थापिका अस्वीकार कर देती है तो वह पद-त्याग नही करती बल्कि व्यवस्थापिक प्रति आवश्यक समाधान कर लेती है।

(४) अमेरिकन आदर्शमें राष्ट्रपति और प्रतिनिधि सभाके बीच कोई वैधानि सम्बन्ध नही है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिकाके बीच कोई तात्त्विक सहयोग-मू सम्बन्ध नही है पर ऐसी अनेक बातें है (विशेषकर अनुपद्के सम्बन्धमें) जिनको ले उनके बीच सघर्ष हो सकता है।

(घ) कार्यपालिका (The Executive)

आधुनिक राज्योमें कार्यपालिकाका इतना महत्व पूर्ण भाग होता है कि प्राय.

'सरकार' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं जो एक समावेशक (inclusive) शब्द है। अप्रजातन्त्रवादी देशोंमें कार्यपालिकाकी अधिकार-सत्ता ही सब कुछ होती है। प्रजातन्त्रीय देशों में भी इनकी अधिकार-सत्ता सामान्य धारणाकी अपेक्षा बहुत अधिक होती है। श्री फाइनर का कहना है कि सरकारके अन्य अंग जैसे संसद और अदालतें जब अपना भाग ले चुकती हैं तब बचे हुए समस्त अधिकारोंका शेषाधिकारी (Residuary legatee) कार्यपालिका ही होती है। व्यवस्थापिका द्वारा बनाये और अदालतों द्वारा व्याख्या किये गये कानूनोंके कार्यान्वय(execution)के अतिरिक्त कार्यपालिका अन्य अनेक काम करतीहै।

नाम-मात्रकी कार्यपालिका (The Nominal Executive) प्राय कार्यपालिकाके तीन अवस्थानों (Aspects) में विभेद किया जाता है यह विभेद है नाम-मात्रकी या आलंकारिक (Ornamental) कार्यपालिका, राजनैतिक कार्यपालिका और स्थायी कार्यपालिका। इंगलैंडमें सम्राट् आलंकारिक कार्यपालिका है, प्रधान मंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद् राजनैतिक कार्यपालिका है और प्रशासन स्थायी कार्यपालिका है। स्वशासित ब्रिटिश उपनिवेशोंमें भी यही स्थिति है। अन्तर केवल इतना है कि वहा सम्राट्का प्रतिनिधित्व गवर्नर-जनरल करता है। अमेरिका में यह विभेद इतना स्पष्ट नहीं है। राष्ट्रपति राज्यका प्रधान भी है और वही राजनैतिक कार्यपालिका भी है। उसे अनेक प्रशासकीय कार्य करने पडते हैं। उसके द्वारा की जाने वाली अनेक नियुक्तियां उसकी पदावधि (Term of office) तक ही सीमित रहती हैं। फ्रासमें राष्ट्रपति नाम-मात्रकी कार्यपालिका होता है लेकिन चूकि वह सात वर्षके लिए निर्वाचित होता है और प्राय: एक दलसे सम्बद्ध राजनीतिज्ञ होता है इसलिए उसकी इतनी प्रतिष्ठा नही होती जितनी इंगलैंडके सम्राट्की होती है। वीमर-संविधान के अनुसार जर्मनीमें राष्ट्रपतिकी स्थिति अमेरिकन और फ्रासीसी राष्ट्रपतियोंके बीचकी होती थी यद्यपि फ्रासीसी राष्ट्रपतिकी स्थितिकी ओर उसका झुकाव अधिक रहता था। जिन देशोंमें संसदात्मक शासन प्रचलित है उनमें नाम-मात्र की या आलंकारिक कार्यपालिकाको देशके वास्तविक शासन-व्यापारमें बहुत कम करना-धरना रहता है यद्यपि सारा शासन उसीके नाम पर चलता है फिर भी उसके सारे कार्योंके लिए एक मंत्री द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित (countersigned) अर्थात् स्वीकृत होना आवश्यक होता है और यह मंत्री मंत्रीपरिषद्, व्यवस्थापिका और जनताके प्रति उत्तरदायी होता है। नाम-मात्रकी कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाले अनेक कार्य एक प्रकारसे रस्मी काम होते हैं जैसे कि इंगलैंडके सम्राट् द्वारा किये जाने वाले कार्य। वह संसदका आवाहन करता है,उसे स्थगित (Prorogue) करता है और उसे भंग करता है। पर यह सब तत्कालीन मंत्रिपरिषद् द्वारा की गयी व्यवस्थाके आधारपर होता है। सम्राट् तो नामधारी प्रभु (Titular sovereign) है। वह राज्य करता है पर शासन नहीं करता। यह सच है कि प्रधान मंत्रीके चुनावमें उसका कुछ हाथ रहता है विशेषकर जब किसी दलमें एकसे अधिक स्वीकृत नेता होते हैं या जब लोकसभा में किसी भी एक दलका पूर्ण बहुमत नहीं होता। पर इस क्षेत्रमें भी उसका विवेकाधिकार सीमित है। १८३४ से लेकर आज तक कोई भी मंत्रिपरिषद् भंग नहीं की गयी यद्यपि सम्राट्को ऐसा करनेका वैधानिक अधिकार है। निषेधाधिकार (The power of veto) का प्रयोग १७०७ से आज तक नहीं हुआ। देशमें सम्राट् की जो शक्ति है वह उसके प्रभाव और दलबन्दीसे स्वतन्त्र उसकी स्थितिके कारण है न कि

प्रत्यक्ष रूपमें बरती जाने वाली उसकी अधिकार-सत्ता के कारण। वह सरकारके प्रति आदर और कानूनोका पालन करनेकी भावना को जन्म देता है। श्री वेगहॉट (Bagehot) के शब्दोमें उसके वैधानिक अधिकार है

१ यह कि उससे सलाह ली जाये,
२ प्रोत्साहन देनेका अधिकार, और
३ चेतावनी देनेका अधिकार।

जहा तक अंग्रेजी साम्राज्यका सम्बन्ध है सम्राट् उसकी एकताका मूर्त प्रतीक है और ससारके भिन्न भागोमें फैले हुए विभिन्न देशो और विभिन्न जातियोको एकमें बाव रखने वाला महत्त्व-पूर्ण सूत्र है।

फ्रासमें राष्ट्रपति नाम-मात्रकी कार्यपालिका है। उसका चुनाव दोनो सदनोकी सम्मिलित बैठकमें होता है। यह अधिवेशन इसी उद्देश्यके लिए बुलाया जाता है। राष्ट्रपतिकी कार्यावधि ७ वर्षकी होती है। सिद्धान्त रूपसे उसे वह सब अधिकार प्राप्त है जो अमेरिका के राष्ट्रपतिको प्राप्त है—केवल एक निषेधाधिकारको छोड कर। इगलैडके सम्राट्को जो अधिकार है, वह अधिकार फ्रासके राष्ट्रपतिको भी प्राप्त है पर वास्तविक व्यवहारमें न तो वह राज्य करता है (reign) और न शासन करता है (governs)। यह बिल्कुल ठीक ही कहा गया है कि वह लाहेके पिजडेमें एक बन्दी है। उसके प्रत्येक कामके लिए मत्री के द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित (countersigned) होना आवश्यक है, और यह मत्री भी ससदके अधीन होता है। इसलिए फ्रासमें वास्तविक शासन करने वाली अधिकार-सत्ता ससद है न कि राष्ट्रपति। केवल एक ही काम ऐसा है जिसे राष्ट्रपति बिना मत्री की स्वीकृति के कर सकता है और वह कार्य है राष्ट्रीय उत्सवोमें सभापतिका आसन ग्रहण करना। वह केवल नाम-मात्र का प्रधान है। ससद उसकी पदावधि समाप्त होनेके पहले ही इस्तीफा देनेके लिए उसे बाध्य कर सकती है जैसा श्री मिलरैंड (Millerand) के मामलेमें हुआ था। प्रतिनिधि-सभा उसके ऊपर घोर देश-द्रोह का आरोप (impeachment) लगा सकती है और अनुपदमें उस पर विचार हो सकता है।

वीमर-सविधान के अनुसार जर्मनीमें राष्ट्रपति नाम-मात्रकी कार्यपालिका था। फ्रास के राष्ट्रपति से भिन्न उसका चुनाव जनता द्वारा हुआ था जिसे उसको वापस बुला लेनेका अधिकार था। फ्रासके राष्ट्रपतिको जो अधिकार प्राप्त है उसकी अपेक्षा उसे व्यापक अधिकार दिये गये थे। जर्मनीकी ससद द्वारा स्वीकृत जिन विधेयकोको वह स्वीकार नहीं करता था उन्हें जन-मत-गणनाके लिए जनताके सम्मुख उपस्थित कर सकता था। उसे निषेधाधिकार नही प्राप्त था। वह युद्ध-स्थितिकी घोषणा कर सकता था, नागरिकोके अनेक वैधानिक अधिकारोको स्थगित कर सकता था और एक तानाशाहकी भाति शासन कर सकता था। इसके विपरीत फ्रासमें युद्धकी स्थितिकी घोषणा केवल विधान-मडल ही कर सकता था। जहा फ्रासमें राष्ट्रपति अनुपदकी स्वीकृति से ही निचले सदनको भग कर सकता है वहा जर्मनी का राष्ट्रपति उसे अपने ही अधिकार-बल पर भग कर सकता है। पर व्यवहारके क्षेत्रमें इस अधिकारका कोई विशेष अर्थ नही था क्योकि अंग्रेजी सम्राट और फ्रासीसी राष्ट्रपतिकी भाति जर्मनीके राष्ट्रपतिके कार्योका भी किसी उत्तरदायी मत्री द्वारा

प्रति हस्ताक्षरित होना आवश्यक था। पर विधान-मडलको इस बातका अधिकार न
उसकी स्थितिको घटाकर उसे अपने अधीन कर ले और इस्तीफा देनेके लिए उसे वि
जैसा कि फ्रासमें हो सकता है। विधान-मडल यह कर सकता था कि लोकसभाके दो
वोटोंसे राष्ट्रपतिको स्थगित कर दे और उसे जन-प्रत्याहूति (Popular rec
लिए जनताके सम्मुख पेश करे। यदि उसका परिणाम यह निकले कि जनता राष्
अपना विश्वास करती है तो ससद (Reichstag) को भग कर देना होता था अ
भवनका चुनाव होता था। राष्ट्रपतिको, अनुमानत ७ वर्षके लिए, दूसरी पदावा
हो जाती थी। (Reichstag) के ⅔ वोटोंसे राष्ट्रपति पर आरोप भी लगाया जा
था और सर्वोच्च न्यायालयमें उसके ऊपर 'ससदके सविधानका अपराधमूलक उ
करनेके कारण मुकदमा चलाया जा सकता था।

राजनैतिक कार्यपालिका (The Political Executive) जब आल
कार्यपालिकासे हटकर हम राजनैतिक कार्यपालिकाकी ओर ध्यान देते है तो हम
चार भिन्न स्वरूप दिखायी देते है अंग्रेजी, अमेरिकन, स्विस और फ्रासीसी। इ
प्रधान मत्री और मत्रिपरिषद्को मिलाकर राजनैतिक कार्यपालिका बनती है।
तक अपने पद पर रह सकते है जब तक उन्हें ससदका विश्वास प्राप्त है। व
स्थापिकाके दो में से किसी न किसी भवनके सदस्य होते है और व्यवस्थापनके उपक्र
initiating legislation) महत्त्वपूर्ण भाग लेते है। वह विभागोके प्र
अध्यक्ष भी होते है और इस हैसियतसे वह ससदके सम्मुख न केवल नीतिके स
उत्तरदायी होते है बल्कि शासनके विवरणके सम्बन्धमें भी उनका उत्तरदायित्व
वे एक समुदाय (Team) की भाति काम करते है और ससदके सम्बन्धमें उन
और उत्थान एक साथ होता है। प्रधान मत्री मत्रिपरिषद्का स्वामी नही हो
सम्बन्धमें वह अमेरिकाके राष्ट्रपतिसे बिल्कुल भिन्न होता है। वह अपने बराबर वा
गियोमें से प्रथम होता है और सम्राट् और देशके सम्मुख समूची मत्रिपरिषद्के का
उत्तरदायी होता है। यह उसके अपने विवेककी बात है कि वह अकेले काम क
अन्य सदस्योंके साथ मिलकर करे। आवश्यक सुधार करना उसीका कर्त्तव्य है।

अंग्रेजी शासन-पद्धतिमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिकाके बीच शान्ति-
सुकर सम्बन्ध रहते है। ससदके साथ अपने व्यक्तिगत दैनिक सम्बन्धो तथा सस
अपने उत्तरदायित्वके कारण मत्रिगण अपने सीधे सही रास्ते पर चलते रहते है।
भी प्रशसा या निन्दाके योग्य वह होते है वह सब उन्हें उचित समय पर मिल
है, यद्यपि असली परीक्षा-काल तो आम चुनाव ही होता है। दूसरी ओर स
अनुत्तरदायित्व-पूर्ण व्यवहार करनेका साहस नही कर सकती क्योंकि मत्रिपरिष
५ वर्षकी निश्चित अवधिके पहले ही उसे भग कर देनेकी धमकी दे सकती है और
उस धमकीको कार्यान्वित भी कर सकती है। इन सब गुणोंके होते हुए भी व्यव
यह देखते है कि जब किसी दलका अत्यधिक बहुमत होता है तब वह विरोध
आलोचनाओ और जनमतकी ओरसे उदासीन हो जाता है। उसमें आलस्य
झूठी आत्मसतोषकी भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

ब्रिटेनके मत्रिपरिषद्की महत्ताका निचोड देते हुए श्री फाइनर लिखते है,

उत्तरदायी नेतृत्व प्राप्त होता है। उसका नियमन और नियत्रण होता है पर इससे वह कुठित नही हो जाता। उसे दडका भय रहता है पर उस भयको कार्यान्वित कभी नही किया जाता। उससे प्रश्न किए जाते है पर उस पर अविश्वास नही किया जाता। यह नेतृत्व राजनैतिक दृष्टिसे दलोमें विभक्त रहता है पर व्यक्तिगत ईर्ष्या द्वेषसे मुक्त रहता है। उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकारकी भावना और स्वय अपनी प्रथाओ तथा अनुज्ञाओ (Institutions and sanctions) से वह नियन्त्रित रहता है। जेनस की भाति (Janus like) वह एक साथ ही जनता और अनुपद दोनोका ध्यान रखता है (२० ६६४)।'

अमेरिकन-शासन-पद्धतिमें राष्ट्रपति राजनैतिक और आलकारिक दोनो ही प्रकारकी कार्यपालिकाका काम करता है। आज भी वैधानिक रूपसे उसका निर्वाचन ऐसे निर्वाचक मडल द्वारा होता है जिसमें सघके विभिन्न राज्योके प्रतिनिधि रहते है। पर वास्तविक व्यवहारमें उसका निर्वाचन जनता द्वारा होता है। उसकी पदावधि (Term of office) चार वर्षकी है और उसके पहले देश-द्रोहके अपराधके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणसे हटाया नही जा सकता। वह विधान-मडलका सदस्य नही है और इसलिए जो भी वैधानिक योजनाए वह कार्यान्वित करना चाहता है उन्हें वह व्यक्तिगत व्यवस्थापको अथवा काग्रेसकी समितियोकी सहायतासे ही कर सकता है। वह समय-समय पर काग्रेसको अपने सदेश भी भेजता रहता है जिसमें अपनी नीति और वैधानिक कार्य-क्रमकी रेखा भी स्पष्ट करता है। स्वभावत यह सतोषजनक पद्धति नही है और उससे व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिकाके बीच स्वस्थ सम्बन्धोकी कमी और परस्पर सघर्षकी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। राष्ट्रपति व्यवस्थापिकासे प्राय पूरी तरहसे स्वतत्र है। उसे व्यवस्थापिकाको स्थगित करनेका निषेधाधिकार (Suspensive Veto) है, पर इसका उपयोग तब तक नही किया जाता जब तक राष्ट्रपतिको इस विश्वासका आधार न मिले कि उसकी इस कार्यवाहीको जनताका समर्थन प्राप्त है। जब विधान-मडलमें बहुमत वाला दल दूसरा होता है और राष्ट्रपति दूसरे दलका व्यक्ति होता है तब तमाम कठिनाइया उत्पन्न होती है जैसा कि १६४६ में राष्ट्रपति ट्रूमन के समयमें हुआ था। कभी-कभी राष्ट्रपतिको बदनाम करने के लिए कल्याणकारी विधेयक भी अस्वीकृत कर दिए जाते है।

अपनी मत्रिपरिषद्के सदस्योको राष्ट्रपति स्वय ही मनोनीत करता है। यह लोग उसीके प्रति उत्तरदायी होते है काग्रेसके प्रति नही। वह व्यवस्थापिकाके सदस्य नही होते और इसलिए वह केवल राष्ट्रपतिके प्रति उत्तरदायी होते है। ससदमें पूछे जानेवाले प्रश्नो अथवा प्रश्नोत्तरोकी सुविधाके अभावमें अमेरिकाकी काग्रेसकी जाच-पडताल सम्बन्धी प्रस्तावो पर निर्भर रहना पडता है। ससदके होनेवाले प्रश्नोत्तर अनियमित प्रशासकीय कार्यवाहियोको रोकने और तत्कालीन महत्त्वकी समस्याओ पर सूचना प्राप्त करनेके सफल साधन है। पर अमेरिकन पद्धति तो ऐसी सूचनाए प्राप्त करनेका एक टेढा-मेढा तरीका है।

राष्ट्रपतिका व्यवस्थापिकाके साथ बहुत कम सम्बन्ध रहता है। इस कमीके कारण राष्ट्रपतिकी शक्ति भी कुछ कमजोर पड जाती है। पर उसके बावजूद अमेरिका का राष्ट्रपति ससारके सबसे अधिक शक्तिमान् राजनैतिक अधिकारियोमें से एक है। श्री विलसन राष्ट्रपतिके प्रभावको प्राय असीमित मानते थे। सरकारके कार्यपालक या प्रशासकीय प्रधानके रूपमें, अपने राजनैतिक दलके नेताके रूपमें और व्यवस्थापन तथा नीति-निर्धारण

में राष्ट्रके पथ-प्रदर्शकके रूपमें राष्ट्रपतिको व्यापक अधिकार-शक्तियां और प्रभाव प्राप्त है। वही एक ऐसा व्यक्ति है जिसे राष्ट्रका अधिवक्ता (Spokesman) माना जा सकता है और जिस सभा-मंच से वह अपने देशको सन्देश देता है वही राष्ट्रीय मंच होता है। संकटके समय उसे व्यापक अधिकार दिये जाते हैं।[1]

स्विटजरलैंडकी कार्यपालिका निस्सन्देह एक अनोखे ढंग की है। इसमें ७ सदस्योंकी एक समिति या परिषद् होती है। इन सदस्योंका चुनाव तीन वर्षकी अवधिके लिए दोनों सदनोंकी सम्मिलित बैठकमें होता है। इसका नियंत्रण विधान-मंडलके हाथोंमें रहता है और इस बातका कोई सवाल ही नहीं उठता कि वह अविश्वासके प्रस्ताव, या निन्दा-प्रस्ताव के कारण इस्तीफा दे दे। यदि व्यवस्थापिका समितिके कार्यों अथवा उसकी नीतियोंका समर्थन नहीं करती तो कौंसिल उनमें आवश्यक संशोधन कर लेती है और अपना काम चालू रखती है। यह दल-शासन नहीं है और न इसमें कोई प्रधान मंत्री ही होता है। सात सदस्योंमेंसे एक को प्रतिवर्ष सभापति चुना जाता है। वह केवल सभापति होता है। ब्रिटेनके प्रधान मंत्रीकी भांति 'समान सहयोगियोंमें प्रथम' नहीं होता। अपने सहयोगियोंकी अपेक्षा उसे कुछ अधिक अधिकार नहीं प्राप्त होते। कार्यपालिकाके रस्मी फर्जोंको वह पूरा करता है। समितिका कार्य विभागोंमें बंटा रहता है और प्रत्येक विभाग एक सदस्यके उत्तरदायित्वमें रहता है। चूंकि समितिका नियंत्रण किसी एक के हाथमें नहीं है इसलिए स्विटजरलैंडकी कार्यकारिणी समितिको साधारणतः समूहात्मक या बहुल कार्यकारिणी (Plural executive) कहा जाता है। यद्यपि साधारण रूपसे एक बहुल कार्यकारिणीके कारण एकत्र-निर्देशन और कार्य-हस्तान्तरण (Shifting of action) का अभाव हो जाता है फिर भी जिलोंमें इस प्रकारकी कार्यकारिणीके बहुत अधिक समय तक प्रचलित रहनेसे इस प्रथाकी अभ्यस्त जनताने इस समितिको भी सफल बनाया है। इसके अतिरिक्त स्विटजरलैंड के निवासियोंका स्वभाव दलबन्दीकी तीव्र भावनाओंसे मेल नहीं खाता।

फ्रांसकी कार्यपालिका एक संसदात्मक कार्यपालिका है। गुटबन्दीकी प्रथाके कारण प्रायः सर्वदा वहां कार्यपालिका किसी न किसी प्रकारके राजनैतिक दलोंके सम्मिश्रणसे बनती है और इसलिए इंगलैंडकी मंत्रिपरिषद्की अपेक्षा वह व्यवस्थापिका पर अधिक निर्भर रहती है। फ्रांसके मंत्रियोंको दोनों सदनोंमें प्रवेश करने और बोलनेका अधिकार है। फ्रांसकी मंत्रिपरिषदें अस्थायी होनेके लिए कुख्यात हैं। १८७८ से १६२८ तक मंत्रिपरिषदोंकी औसत अवधि ६½ महीने है। श्री फाइनर के शब्दोंमें फ्रांसमें कोई मंत्रिपरिषद् नहीं है, वहां मंत्रियोंका संकलन-मात्र रहता है। और इन मंत्रियोंको भी कोई वास्तविक प्रशासकीय नियंत्रण प्राप्त नहीं हो पाता क्योंकि उनकी कार्यावधि हमेशा खतरेमें रहती है। विभिन्न आयोग (Commissions) मंत्रिपरिषदोंकी अपेक्षा कहीं अधिक और उनके प्रतिस्पर्धी रूपमें भी सरकारके वैधानिक, आर्थिक और प्रशासकीय

---

[1] श्री लिंड्से राजर्स के अनुसार व्यवस्थापन, जो राष्ट्रपतिका उपान्तर (minor) कर्तव्य था वह अब उनका प्रधान कार्य हो गया है। अब वह प्रधान व्यवस्थापक है। उसका मूल्यांकन अब कार्यकारिणीके रूपमें उसकी सफलताकी अपेक्षा एक व्यवस्थापक के रूपमें उसकी सफलताके आधार पर किया जाता है।

कार्योंमें भाग लेते हैं। प्रेसीडेंटके सभापतित्वमें मन्त्रिमडल नीतिके सम्बन्धमें विचार-विमर्श करता है और प्रधान मन्त्रीके सभापतित्वमें (Cabinet) (कैबिनेट-मन्त्रिमडल) विविध चालो (tactics) पर विचार करती है (२० १०६३)।

१९३५ के सविधानके अनुसार भारतके गवर्नर-जनरल (राष्ट्रपाल) और प्रान्तोके गवनर (राज्यपाल) की स्थिति ब्रिटिश उपनिवेशोमें उनकी प्रतिमूर्तियो (counterparts) से बिल्कुल भिन्न कोटि की थी। वह नाम-मात्रकी कार्यपालिका से कही अधिक शक्तिमान् थे। उन्हें ऐसी अधिकार-शक्तिया प्राप्त थी जिनका प्रयोग वह अपने व्यक्तिगत विवेक और निर्णयके आधार पर कर सकते थे और इन अधिकारोके अतिरिक्त वह जनताके कुछ विशिष्ट वर्गो और सार्वजनिक पदाधिकारियो (Public officials) के हितोके सरक्षक भी थे।

श्री श्रीनिवास आयगर भारतके लिए एक विधान-मडल द्वारा निर्वाचित दल मुक्त राजनैतिक कार्यपालिका का समर्थन करते थे। कुछ दूसरे लोगोने विधान-मडलके विभिन्न दलोका प्रतिनिधित्व करने वाली कार्यपालिकाका समर्थन किया है। हमारे विचारसे न तो एक दल मुक्त कार्यपालिका और न सर्वदलीय कार्यपालिका ही एक सन्तोषजनक हल है। एक सर्वदलीय कार्यपालिकाका अर्थ होगा कैबिनेट (मन्त्रिपरिषद्) के भीतर निरन्तर सघर्ष। उसका परिणाम होगा एकता और सहयोगकी कमी, डावाडोल स्थिति और निरन्तर सघर्ष। जहा तक दल-मुक्त कार्यपालिका का सम्बन्ध है वह हमें व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रसे बाहरकी बात मालूम होती है। चूकि हम लोग ब्रिटिश ससदात्मक परम्पराके अभ्यस्त है इसलिए हमारे लिए सही रास्ता यही होगा कि हम ऐसे नए नए प्रयोगोका रास्ता न अपनावें जो प्रयोगमें नही लाए गए।

एकात्मक तथा बहुल कार्यपालिका (Single and Plural Executive)
सभी प्रसिद्ध विचारक इस बातमें एकमत है कि एकात्मक कार्यपालिका बहुल कार्यपालिकाकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त होती है। नेपोलियन ने बिल्कुल ठीक कहा था कि दो अच्छे सेनानायकोकी अपेक्षा एक बुरा सेनानायक अच्छा है। प्राचीन विधानमें कार्यपालिका शक्ति टुकडोमें बँटी हुई थी। रोममें भी बहुत लम्बे अर्से तक दो प्रशासक (magistrate) थे और उनकी शक्तियोंका कोई स्पष्ट विभाजन नही किया गया था। परिणाम यह था कि एक दूसरेके कार्योका निषेध कर सकता था। आधुनिक समयमें केवल स्विटजरलैंड में बहुल कार्यपालिका है पर वहा भी कार्यकारिणी परिषद्के सदस्योकी शक्तियो और कर्त्तव्योका अतिक्रमण नही दिखाई देता। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में नगरपालिकाओके प्रबन्धमें कमीशन या समिति-रूपको समाप्त किया जा रहा है जिसमें उत्तरदायित्व म्युनिस्पल कमिश्नरो (पौर प्रदेष्टाओ) के बीच बटा रहता था। इस प्रथा को हटाकर उसके स्थानमें नगर-प्रबन्धक (city manager) प्रथा को स्थापित किया जा रहा है जिसमें एक दृढ प्रबन्धक (administrator) नियुक्त किया जाता है।

कार्यपालिकाकी बहुलताका अर्थ है उत्तरदायित्वका विभाजन। इससे भूलोको छिपाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और समस्याओ पर शीघ्र निर्णय लेनेमें और उद्देश्यकी एकता में बाधा पडती है। इसमें एकता और क्रिया शक्तिका अभाव रहता है। इसके पक्षमें इतना कहा जा सकता है कि इससे शक्तिके दुरुपयोग और आकस्मिक राज्य-विप्लवकी

सम्भावना पर रोक लगती है। इसकी भी सम्भावना है कि इस प्रथासे राज्यकी सेवाके लिए एकात्मक कार्यपालिकाकी अपेक्षा अधिक उच्च कोटिकी सामर्थ्य वाले व्यक्ति प्राप्त हो सकें। पर इस प्रथाको अनुपयुक्त सिद्ध करनेके लिए इतना ही काफी है कि इसमें एकता, प्रत्यक्ष कार्यवाही और शीघ्र कार्य-सम्पादन-शक्तिका अभाव है। पर यह सम्भव है कि एकात्मक और बहुल कार्यपालिकाके सिद्धान्तोका समन्वय किया जा सके। आधुनिक शासन-व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी है कि कोई भी एक व्यक्ति, कितना ही योग्य क्यो न हो शासनकी प्रत्येक शाखाका विशेषज्ञ नही हो सकता। आवश्यकता इस बातकी है कि प्रशासनके विभिन्न स्तरो पर उत्तरदायित्व बटा हुआ हो और सिरे पर एकात्मक कार्यपालिका हो।

कार्यपालिकाकी कार्यावधि (Tenure of the Executive). आनुवशिक कार्यपालिकाओ (Hereditary executive) की कार्यावधि जीवन भरकी होती है। कार्यावधिका प्रश्न केवल निर्वाचित अथवा मनोनीत कार्यपालिकाओके सम्बन्धमें ही उठता है। आजकल यह कार्यावधि एकसे लेकर सात वर्ष तक विभिन्न अवधियोकी होती है। अमेरिकाके अधिकाश राज्योमें राज्यपाल दो वर्षके लिए निर्वाचित होते है। वहा का राष्ट्रपति चार वर्ष तक पदासीन रहता है। फ्रास और जर्मनीके राष्ट्रपतियोकी पदावधि सात वर्षोके लम्बे समयकी है। इगलैड और उसके उपनिवेशोमें अधिकतम कार्यावधि पाच वर्षोकी है पर इसमें भी मन्त्रिपरिषद्के लिए निचले सदनका विश्वास प्राप्त रहना आवश्यक है और इस अवधिके पहले भी कार्यपालिका भग की जा सकती है। भारत जब इगलैडके अधीन था तब राष्ट्रपाल तथा राज्यपालोकी नियुक्ति पाच वर्षके लिए होती थी। आधुनिक परिस्थितिमें १ या २ वर्षकी अवधि तो बिल्कुल ही व्यर्थ है। यह तो नीति की निरन्तरता अभग-स्थिति (continuity) के लिए घातक है। कार्यपालिकाको अनुभव प्राप्त करने और बड़ी-बड़ी योजनाए बनाने और उन्हें कार्यान्वित करनेके लिए पर्याप्त समय नही मिल पाता। जल्दी-जल्दी होने वाले चुनावोका प्रभाव सार्वजनिक जीवन पर बुरा पडता है। प्राय उससे भ्रष्टाचार और बुराइया उत्पन्न होती है। कार्य-पालिकाको जनताकी कृपा पर निर्भर रहना पडता है विशेषकर उस अवस्थामें जब उसे दुबारा चुनाव लडना होता है। वह दुर्बल और अस्थिर बुद्धि रहती है और साहस तथा स्वतन्त्रताके साथ कोई काम करनेसे डरती है।

दूसरी ओर सात वर्षकी अवधि एक निर्वाचित कार्यपालिकाके लिए ही नही एक नाममात्रकी अथवा आलकारिक कार्यपालिकाके लिए भी बहुत लम्बी अवधि है। यदि कार्य-पालिकाको केवल रस्मी कर्त्तव्य पूरे करने है तो उसकी कार्यावधि छोटी होनी चाहिए जिससे बहुतसे लोगोकी महत्त्वाकाक्षाए सन्तुष्ट हो सकें। इस दृष्टिसे मद्रासके मेयर (महानागरिक) का वार्षिक चुनाव समर्थनके योग्य है। राजनैतिक कार्यपालिकाओ और अनेक नाममात्रकी कार्यपालिकाओके लिए चार या पाच वर्षकी कार्यावधि उपयुक्त जान पडती है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि अमेरिकन सविधानके निर्माताओमेंसे श्री हैमिल्टन राष्ट्रपतिके लिए सद्व्यवहार आवश्यक समझते थे। प्रधान कार्यपालिकाको अपना ही उत्तराधिकारी बनने दिया जाय या नही यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। भारतमें राष्ट्रपाल और राज्यपालोकी नियुक्ति उसी पद पर या उस प्रकारके पदो पर बहुत कम होती थी। अमेरिकामें परम्पराके अनुसार राष्ट्रपति केवल एक ही बार दुबारा चुनाव लड

सकता है पर राष्ट्रपति रूजवेल्टके लगातार ४ बार इस पद पर चुन जानेसे यह परम्परा समाप्त हो गयी। वर्तमान वैधानिक व्यवस्था यह है कि किसी भी राष्ट्रपतिको लगातार दोसे अधिक चुनाव नही लडने दिया जा सकता। पुर्नानिर्वाचनके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि इससे 'कल्याणकारी नीतिकी निरन्तरता सुरक्षित होती है।' इसके विरोधमें यह कहा जाता है कि इससे जनतामें कुटिलता और टालूपनकी भावना उत्पन्न होती है क्योकि कार्य-पालिका इतनी दब्बू होती है कि स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य नही कर सकती। साधारणत हम यह देखते है कि एक स्वार्थी व्यक्ति चाहे पदके लिए एक बार खडा हो सके चाहे अनेक बार उसका व्यवहार स्वार्थ-पूर्ण ही होगा। वास्तविक समस्या तो यह निर्णय करनेकी है कि एक परखा हुआ प्रधान कार्यपालक असाधारण सामर्थ्य वाला ऐसा व्यक्ति है या नही जिसकी शक्तिया अभी परिपूर्ण है और जिसमें प्रगतिशील योजनाओ और नीतियोको कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक परिवर्तन लानेका सकल्प है। जब निर्वाचक मडलको एक ऐसा व्यक्ति प्राप्त हो जाय तब जनता उसको जितनी बार चाहे उतनी बार उसके चुने जानेमें कोई वैधानिक रुकावट न होनी चाहिए।

कार्यपालिकाकी अधिकार-शक्तिया और कर्त्तव्य (Powers and the functions of the Executive) विधान-मडल राज्यकी इच्छाको व्यक्त करता है और कार्यपालिका उसे कार्यान्वित करती है। श्री गार्नरने कार्यपालिकाकी अधिकार शक्तियोको पाच विभागोमें बाटा है। यह विभाग है कूटनीतिक शक्तिया, प्रशासकीय शक्तिया, सैनिक शक्तिया, न्यायिक शक्तिया और वैधानिक शक्तिया।

(१) दौतिक या कूटनीतिक शक्ति (diplomatic power) में वैदेशिक सम्बन्धोकी व्यवस्था सम्मिलित है। कार्यपालिका दूसरे देशोमें अपने कूटनीतिज्ञ प्रति-निधि नियुक्त करती है और उन देशोके प्रतिनिधियोका स्वागत करती है। दूसरे देशोके कूटनीतिक प्रतिनिधियोंका स्वागत करनेकी शक्तिका यह अर्थ लगाया जाता है कि कार्य-पालिकाको दूसरे देशोकी स्वाधीनता और उनकी सरकारोको स्वीकार या अस्वीकार करनेका अधिकार है।

कार्यपालिका अकेले ही या एक या दोनो सदनोकी सहमतिसे सन्धिया और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करती है। गोपनीयता सुरक्षित रखनेके लिए कमसे कम प्रारम्भिक अवस्थामें व्यवस्थापिकाको समझौतेकी बातचीतसे अलग रखा जाता है। १९१४-१९ के महायुद्धके दौरानमें और उसके बाद इगलैडमें इस नीतिकी बडी कडी आलोचना की गयी थी। कुछ लोगोने यह कहा था कि इगलैडको आत गुप्त कूटनीतियोने उसे जर्मनीके साथ युद्धमें डाल दिया। मजदूरदलीय सरकार सभी सन्धिया ससदके सम्मुख उसकी स्वीकृतिके लिए उपस्थित करनेको तैयार थी। द्वितीय महायुद्धमें कूटनीतिमें अधिक स्पष्टवादिता दिखायी दी। इगलैड और अमेरिका इस दौरानमें एक इकाईके रूपमें काम करते रहे। पश्चिमी राष्ट्रो और सोवियट सघ द्वारा सावधानी-पूर्वक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष साधनोंसे अन्य राष्ट्रोको अपना सहयोगी बनानेके प्रयत्नोके बावजूद सयुक्त राष्ट्र सघ की कार्यवाहीने उस समय तकके गुप्त एकपक्षीय सन्धि-समझौतेकी बातचीतको बहुत कुछ भग कर दिया है।

इगलैडमें आज भी सधि करनेकी शक्ति बहुत कुछ कार्यपालिकाके हाथोमें है। ससद का उसमें कोई हाथ नही रहता। जहा सधिको पूर्णता देने अथवा उसे प्रभाव-पूर्ण बनानेके

लिए व्यवस्थापनकी आवश्यकता होती है वही ससद सन्धियोमें दखल देती है। कार्यपालिका ही सन्धियोकी बातचीत करती और उन्हें पूरा करती है। अन्य अनेक देशोमें व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक होती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें कुछ खास तरहके अन्तर्राष्ट्रीय समझौते केवल राष्ट्रपतिके अधिकार पर ही किये जा सकते है। उदाहरणके लिए पारस्परिक व्यावसायिक समझौते (reciprocal trade agreements)। जहा तक दूसरे प्रकारकी सन्धियोका सम्बन्ध है उनके लिए नियमके अनुसार अनुपद (senate) की स्वीकृति आवश्यक है। अनुपदने इस अधिकारका यह अर्थ लगाया है कि उसे सन्धियोके मसविदेको न केवल स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेका अधिकार है बल्कि उसको सशोधन करनेका भी अधिकार है। प्रतिनिधि-सभा सन्धिया करनेमें धनके बलसे केवल अप्रत्यक्ष रूपसे ही भाग ले पाती है। किसी भी सन्धिकी शर्तोको कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक व्यय-विनियोगो (appropriations) को वह अस्वीकार कर सकती है। वह उन सन्धियोको भी अस्वीकार कर सकती है जो विदेशी व्यापारके नियमसे सम्बन्ध रखती है। जर्मन रिपब्लिक (गणतत्र) में छोटे किस्मके समझौतो (minor agreements) को छोडकर शेष सभी सन्धियो और समझौतोके लिए निचले सदनकी स्वीकृति आवश्यक थी। फ्रासमें अधिकाश सन्धियोको दोनो सदनो द्वारा स्वीकृत करानेकी पद्धति है। सदनोको सन्धिया स्वीकार या अस्वीकार करनेका ही अधिकार है, उनमें सशोधन करनेका नही। स्विटजरलेडमें यह व्यवस्था की गयी है कि जिन सन्धियोकी अवधि १५ वर्षसे अधिक हो उन्हें जनताके सम्मुख सार्वजनिक मत-गणनाके लिए पेश किया जाय। अमेरिकामें एक प्रस्ताव यह है कि वर्तमान पद्धतिके स्थान पर सन्धियोको दोनो सदनोमें साधारण बहुमत द्वारा स्वीकृत कराया जाय।

(२) प्रशासकीय शक्तिका अर्थ है कानूनोको कार्यान्वित करने और सरकारके प्रशासनकी अधिकार-शक्ति। कुछ देशोमें सरकारको प्रशासकीय शक्तियोको व्यापक रूपसे काममें लाया जाता है और कही-कही साधारण रूपसे। कुछ लोग कार्यपालिकाकी प्रशासकीय अधिकार-शक्तिको आन्तरिक अधिकार और कुछ लोग उसे गृह-अधिकार (Homepowers) कहते है। इसमें आर्थिक, व्यावसायिक, कृषि सम्बन्धी और शिक्षा सम्बन्धी प्रशासन सम्मिलित है। फ्रासमें कार्यपालिकाके राजनैतिक अथवा सरकारी कर्त्तव्यो और शुद्ध प्रशासकीय कर्त्तव्योके बीच एक उपयोगी विभेद किया गया है। अनेक देशोमें कार्यपालिका द्वाराकी गयी नियुक्तियोके लिए दो में से किसी एक सदनकी स्वीकृति आवश्यक होती है। अमेरिकामें अनुपद (senate) की स्वीकृति आवश्यक होती है किन्तु पदच्युत करनेका अधिकार केवल राष्ट्रपतिको है। साधारणत प्रधान कार्यपालिका द्वारा नियुक्तियोका यह अधिकार केवल उच्च कोटिके राजनैतिक, न्यायिक और सैनिक कर्मचारियो तक ही सीमित रहता है। जेकोस्लोवाकियामें विश्वविद्यालयके अध्यापकोकी नियुक्ति भी प्रधान कार्यपालिका ही करती है। अमेरिकाके राज्यो, नगरो आदिमें अनेक सार्वजनिक पदो पर नियुक्तिया सार्वजनिक निर्वाचन द्वारा होती है। इसके विपरीत स्विटजरलैंडमें व्यवस्थापिका द्वारा कर्मचारियोके चुने जानेकी व्यवस्था है। नियत्रण और निर्देशनका अधिकार विभिन्न राज्योमें और कभी-कभी एक ही राज्यके भीतर भिन्न प्रकारका दिखायी देता है। जिन देशोमें राजतत्रकी परम्परा जमी रह सकी है वहा मन्त्रि-परिषद्की शक्ति बहुत अधिक है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें नियत्रण और निर्देशन

सम्बन्धी राष्ट्रपतिकी अधिकार-शक्तिको प्राय वैधानिक साधनोसे सीमित और नियन्त्रित किया जाता है। पर राष्ट्रपतिको इस बातका अधिकार है कि वैभागिक अध्यक्षो (Departmental Heads) को निर्देश और आज्ञाए दे। इगलेडमें स्थायी पौर-अधिसेवक (Permanent civil service) मन्त्रिपरिषद्के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए अपना काम करते है।

(३) सैनिक अधिकार-शक्ति इगलैंडकी भाति जिन देशोमें राजतन्त्रकी परम्परा है उनमें कार्यपालिकाकी सैनिक अधिकार-शक्तिमें युद्ध घोषित करनेका अधिकार सम्मिलित है। फ्रासमें युद्ध घोषित करनेके लिए व्यवस्थापिकाके विधान-मडलके दोनो सदनोकी स्वीकृति आवश्यक है। अमेरिकामें केवल काग्रेस ही युद्ध घोषित कर सकती है। पर वैदेशिक सम्बन्धोके सचालनमें राष्ट्रपति देशको ऐसी परिस्थितिमें डाल सकता है जिसमें युद्धकी घोषणा अनिवार्य हो जाय। राष्ट्रपति स्थल, जल और नभ-सेनाओका सर्वोच्च सेनानायक होता है। सकटके समयमें वह 'मार्शल लॉ' की घोषणा कर सकता है और नागरिकोके वैधानिक अधिकारोको स्थगित कर सकता है जिसमें बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Writ of Habeas Corpus) जैसा महत्त्वपूर्ण अधिकार भी सम्मिलित है। वह समाचार-पत्रोको बन्द कर सकता है। विश्व-युद्धके दिनोमें काग्रेसके कई एक क़ानूनो द्वारा उसे व्यावहारिक रूपमें तानाशाही अधिकार दे दिये गये थे। दूसरे युद्धरत देशोमें भी कार्यपालिकाओको ऐसे ही अधिकार दिये गये थे।

(४) न्यायिक अधिकार-शक्ति इस विभागके अन्तर्गत कार्यपालिकाको मिलनेवाले अधिकारोमें एक महत्त्व-पूर्ण अधिकार है क्षमा या दयाका अधिकार। श्री मॉन्टेस्क्यू गणतन्त्र राज्योमें इस अधिकारको बिल्कुल अनावश्यक मानते थे। पर न्याय और मानवता के दृष्टिकोणसे प्रत्येक सविधानमें चाहे वह राजतन्त्रात्मक हो या गणतन्त्रात्मक, क्षमाके लिए स्थान होना ही चाहिए क्योंकि कानून या विधान अपूर्ण ही होता है और न्यायाधिकरण बहुत कठोर होता है। यह सम्भव हो सकता है कि वर्तमान कानूनमें, और जिस ढगसे न्यायाधीश उसका उपयोग करते है, उसमें त्रुटिया हो या जो परिस्थितिया अपराध को हल्का बनाती है और जिनमें वह अपराध किया गया था उन पर पूरी तरहसे विचार न किया गया हो अथवा, यह भी सम्भव है कि, फैसला सुनाये जानेके बाद अपराधके सम्बन्धमें नए तथ्य मालूम हो। इन सभी परिस्थितियोमें न्यायकी अपेक्षा (मांग) यह है कि अपराधीको सन्देहका लाभ मिले। और इस परमाधिकार (Prerogative) का प्रयोग करनेके लिए सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति सर्वोच्च कार्यपालिका ही है। इगलेडमें इस अधिकारका प्रयोग गृहमन्त्रीके परामर्शसे सम्राट् करता है। अमेरिकाके अनेक राज्यो में एक परामर्शदात्री समिति (advisory board) राज्यपालको इस परमाधिकारका प्रयोग करनेमें सहायता देती है। अनेक सविधानोके अनुसार क्षमाका अधिकार देश-द्रोह के अपराध पर नही लागू किया जा सकता। अमेरिकाके राष्ट्रपतिको अपराध सिद्ध होनेके पहले भी और उसके बाद भी क्षमा करनेका अधिकार प्राप्त है। वह जुर्माने और जब्तकी हुई सम्पत्तिको वापस कर सकता है। वह दडके व्याक्षेप (Reprieves) अर्थात् प्राण-दडके स्थगन और शमन (Commutation) अर्थात् हल्का करनेकी आज्ञा दे सकता है और अपराधोके लिए दडित तमाम व्यक्तियोको राज्य-क्षमा प्रदान करनेके अपने अधिकारका प्रयोग कर सकता है।

प्रजातन्त्रवादी संविधानोंके अन्तर्गत कार्यपालिकाके सामान्य निरीक्षणमें काम करने वाले सरकारी विभागोंको अर्धन्यायिक कोटिके व्यापक अधिकार दिए गये हैं। इस प्रकार इंगलैंडमें स्वास्थ्य-विभाग अपने प्रशासकीय कर्त्तव्योंके सम्पादनमें लोगों पर जुर्माने और अपनी क्षति-पूर्ति आदिके आदेश दे सकता है।

(५) **वैधानिक शक्तियां** सभी संविधानोंमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिकाको परस्पर एक दूसरे पर नियन्त्रण प्राप्त रहता है। संसदात्मक राष्ट्रोंमें कार्यपालिकाको इस बातका अधिकार है कि विधान-मंडलके अधिवेशनोंको बुलाये, प्रारम्भ करे, अथवा किसी निश्चित या अनिश्चित कालके लिए स्थगित कर दे। अध्यक्षात्मक प्रणालीकी सरकारोंमें कार्यपालिकाका यह अधिकार सीमित रहता है। क्योंकि वहां व्यवस्थापिकाके अधिवेशन अपने आप होते रहते हैं। संसदात्मक संविधानोंमें कार्यपालिकाको विधान-मंडल भंग करने और नए चुनाव करानेका अधिकार है। एक रस्मी तौरसे उसका प्रारम्भ भी होता है। अध्यक्षात्मक पद्धतिमें इन सब बातोंका अभाव रहता है।

जिन देशोंमें अध्यक्षात्मक सरकार है उनमें कार्यपालिकाका व्यवस्थापन सम्बन्धी क्षेत्र (Sphere of Legislation) बहुत सीमित रहता है। कार्यपालिकाके इस कार्य-क्षेत्र में निम्नलिखित कार्य सम्मिलित रहते हैं

'विधान-मंडलको देशकी वैधानिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें सूचना देना, व्यवस्थापिकाके विचारार्थ विधान सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करना, कभी-कभी वैधानिक आयोजनाओंका उपक्रम करना (यद्यपि ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं), व्यवस्थापिकाके अधिनियमोंको स्वीकार या अस्वीकार करना और स्वीकृत अधिनियमोंको लागू करना (२३ ७२६)।'

अध्यक्षात्मक प्रणालीमें कार्यपालिकाका एक असाधारण अधिकार है निषेधाधिकार (The power of veto)। अमेरिकामें यह एक स्थगनात्मक निषेधाधिकार (Suspensive veto) है। प्रत्येक सदनके दो तिहाई मतसे इस अधिकारका अतिक्रमण या उल्लंघन किया जा सकता है। इसे जल्दबाजीसे किये गये असुविचारित व्यवस्थापनके विरुद्ध एक रोक माना जाता है। अपने निषेधाधिकारका प्रयोग करते समय अध्यक्षको अपनी असहमतिके कारण भी देने होते हैं और विधान-मंडलको इस बातका अवसर भी दिया जाता है कि वह अपने निर्णय पर फिरसे विचार करे। फ्रांसमें स्थगनात्मक निषेधाधिकारकी व्यावहारिक दृष्टिसे अब कोई पूछ नहीं है।

अधिकांश आधुनिक राज्योंमें कार्यपालिकाको उपाश्रित या अवर व्यवस्थापन (Subordinate legislations) का अधिकार दिया गया है जिसे अध्यादेश-शक्ति (Ordinance power) कहते हैं। इस शक्तिकी अभिव्यक्ति आज्ञप्तियों, आदेशों, नियमों और अधिनियमोंमें होती है। इनके लिए संसदकी स्वीकृति आवश्यक होती है। इस शक्तिका उपयोग करनेकी सामान्य शर्त यह है कि इनसे व्यवस्थापित विधान न तो एकदम बदल जाय और न स्थगित हो बल्कि इसका उद्देश्य यह होना चाहिए कि व्यवस्थापित विधानके कार्यान्वयमें सहायता मिले या उनके विवरणोंकी पूर्ति हो। कभी-कभी संकटके समयमें कार्यपालिकाको असाधारण अधिकार दिये जाते हैं। यह अधिकार देश और जनताकी सुरक्षाके लिए अधिनियम लागू करनेका होता है और प्रायः सीमित होता है। इनके अन्तर्गत देशको वस्तुतः मार्शल लॉ के अधीन किया जा सकता है।

जर्मन लेखक वैधानिक अध्यादेशो और प्रशासकीय अध्यादेशोके बीच विभेद करते है। वैधानिक अध्यादेशोका परिणाम होता है, 'नए कानूनकी उत्पत्ति या वर्तमान कानूनका बदला जाना अथवा उसका सशोधन।' इसके विपरीत प्रशासकीय अध्यादेशोमें प्रशासकीय अधिकारियोको उनके अधीन कर्मचारियोके आचरण और कार्योके सम्बन्धमें आदेश या निर्देश (Orders or instructions) दिय जाते है। परिणामत जनता पर उनका कोई सीधा प्रभाव नही पडता और न वह उनसे बाध्य होती है।

श्री गार्नर अध्यादेशोके तीन विभेद करते है। प्रथम कोटिके अध्यादेशोमें ऐसे कानून सम्मिलित रहते है, जिन्हें 'प्रधान व्यवस्थापिका सविधि (Statute) द्वारा प्राप्त अपने सामान्य व्यवस्थापनके अधिकारके अनुसार लागू करती है।' फ्रासीसी उपनिवेशोमें राष्ट्रपति की आज्ञप्तियो (decrees) द्वारा चलनेवाला शासन-व्यापार इस कोटिमें आता है। अध्यादेशोकी दूसरी कोटिमें 'कुछ विशिष्ट विषयोका नियमन करनेके उद्देश्यसे कार्यपालिका द्वारा अपने व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकारोके अनुकूल लागू किये गये' अध्यादेश आते है। तीसरी कोटिमें वह अध्यादेश आते है जो विधान-मडल द्वारा आमन्त्रण पाने पर किसी विशेष विधानकी विवरण-पूर्ति और उसके कार्यान्वयके लिए अधिनियम स्वीकृत करनेके उद्देश्यसे लागू किए जाते है। इस कोटिके अध्यादेश फ्रासमें अधिक प्रयोगमें आते है क्योकि वहा ससद व्यवस्थापनकी सामान्य रूप-रेखा स्वीकृत करके ही सतोष कर लेती है और उसके विवरणोको अध्यादेशो द्वारा पूरा किये जानेके लिए छोड देती है। १९०७ ई० तक प्रधान प्रशासकीय न्यायालय अध्यादेशो द्वारा वर्तमान सविधियो (Statutes) का विरोध किये जाने पर भी उनको वैधताके सम्बन्धमें हस्तक्षेप करनेसे इनकार करता था। पर १९०७ में किये गये एक महत्त्वपूर्ण निर्णयके अनुसार अध्यादेश-शक्तिको न्यायके नियत्रणमें लाया गया है।

सयुक्त राष्ट्र अमरिका में अध्यादेशोके लिए अधिक स्थान नही है क्योकि वहा काग्रेस सविधियोकी पूरे विवरणके साथ रचना करती है। फिर भी कार्यपालिकाके प्रत्येक विभाग के कार्य-व्यापारका नियत्रण करनेके लिए राष्ट्रपतिकी उद्घोषणाओ (Proclamations) और कार्यकारिणाके आदेशो और अधिनियमोकी एक बडी सख्या होती है। इनके अतिरिक्त विभिन्न विभागो द्वारा जारी किये गये विशिष्ट नियमो, अधिनियमो और निर्देशोकी एक बडी सख्या होती है। इगलैड में अब सम्राट्को उद्घोषणो और अध्यादेशो द्वारा विधान निर्माणकी अन्तर्निहित शक्ति प्राप्त नही है फिर भी सम्राट्के सेवकोको सार्वजनिक कार्योके उपयुक्त सचालनके लिए अधिनियम जारी करनेकी शक्ति दी जा सकती है। अध्यादेशोकी रचना 'अनुविहित नियमो (Statutory rules) और आदेशो' के रूपमें होती है, और समाजमें इनका प्रभाव वैसा ही मान्य होता है जैसा अनुविहित विधानो का। विवरण पूरा करनेका काम प्राय प्रशासकीय विभागोके लिए छोड दिया जाता है, विशेषकर शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसे मामलोमें।

अच्छी कार्यपालिकाकी कसोटी (Tests of a Good Executive). एक अच्छी कार्यपालिकाकी कसौटी है शीघ्र निर्णय, एकता, पूर्णता (finality) कभी-कभी कार्य विधिकी गोपनीयता। कार्यपालिकाका आकार स्वभावत छोटा होना चाहिए अन्यथा शीघ्र निर्णय और कार्यलाघव (Promptness of action) अर्थात् तेजीसे काम करना असम्भव हो जाता है। इसी क्षेत्रमें आधुनिक तानाशाहीने प्रजातन्त्रवादी राज्योसे

बाजी मार ली थी। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि संकटके समयमें अमेरिकाके राष्ट्रपतिको असाधारण अधिकार दिए जाते हैं। ऐसे ही अधिकार युद्धके दौरानमें गवर्नर-जनरलको दिए गए थे। इंगलैंडमें शीघ्र निर्णय और कार्यलाघवके लिए युद्ध-परिषद् बनायी गई थी।

कार्यपालिकाकी दंड-मुक्ति (Immunity of the Executive). अच्छे शासनके लिए कार्यपालिकाका न्याय सम्बन्धी कार्यवाहीसे मुक्त रहना आवश्यक समझा गया है। इंगलैंडमें तो यह सिद्धान्त है कि 'राजा कोई अपराध नहीं कर सकता।' अमेरिका का राष्ट्रपति अपने कार्य-कालमें साधारण अदालतोंके न्याय-क्षेत्रसे मुक्त रहता है। उसके अपराधोंके लिए अनुपद एक 'अभियोग न्यायालय' (Court of impeachment) के रूपमें उस पर मुकदमा चला सकती है और अपराधी सिद्ध होने पर उसे पद-च्युत कर सकती है। उसके बाद साधारण अदालतोंमें उसके ऊपर मुकदमा चलाया जा सकता है। राष्ट्रपतिकी पदावधिमें उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न उसे व्यक्तिगतरूपमें किसी अदालतमें हाजिर होनेके लिए या किसी न्यायिक कार्यवाहीका पालन करनेके लिए बाध्य किया जा सकता है। ऐसी ही छूट भारतके राष्ट्रपाल और राज्यपालोंको भी प्राप्त थी।

(ङ) पौर-अधिसेवा (The Civil Service).

१. परिभाषा और इतिहास (Definition and History)

आधुनिक राज्यमें पौर-अधिसेवा स्थायी कार्यपालिका है जबकि संसद, मन्त्रिपरिषद् और राष्ट्रपति राज्य करते हैं तब वास्तवमें पौर-अधिसेवा ही शासन करती है। लोकप्रिय प्रभुसत्ता, संसदकी सर्वोच्चता और मन्त्रिपरिषदीय नियंत्रण आदिके सिद्धान्त राजनीति-शास्त्रका अध्ययन करने वाले विद्यार्थियोंके लिए केवल सैद्धान्तिक महत्त्व रखते हैं। किन्तु प्रशासकीय अधिकारियोंकी कार्यवाहियोंका सम्बन्ध उनके और साधारण नागरिकके दैनिक जीवन और सम्बन्धोंसे रहता है।

श्री फाइनर पौर-अधिसेवाकी परिभाषा करते हैं, 'एक स्थायी वेतनभोगी और कुशल कार्याधिकारी वर्ग।' यह सभी विशेषताएं तत्वत आधुनिक हैं। काफी लम्बे अर्से तक संसारके कुछ उन्नत देशोंमें भी शासन-कार्य अवैतनिक और अकुशल व्यक्तियों द्वारा अपने व्यवसायोंसे मिलने वाले अवकाशके समय पूरा किया जाता था। इंगलैंडमें १८वीं सदीके अन्त तक यही स्थिति थी पर तबसे पौर-अधिसेवा एक कुशल वृत्ति (Skilled profession) बन गई है।

पौर-अधिसेवाका यह नाम उसे सैनिक और न्यायिक अधिसेवासे पृथक् रखनेके लिए दिया गया है। इस बातके प्रमाण हैं कि प्राचीन मिस्रमें टोलमी और फेरो (Ptolemies and Pharaohs) राजाओंके कार्य-कालमें किसी न किसी प्रकारकी पौर-अधिसेवा वर्तमान थी। प्राचीन एथेन्समें एक व्यवसायके रूपमें पौर-अधिसेवाका अस्तित्व नहीं था। इसका कारण यूनानका यह अतिवादी प्रजातंत्रीय सिद्धान्त था कि पौर-अधिसेवाका एक व्यक्ति उतना ही उपयुक्त है जितना दूसरा। अधिकांश निर्वाचित होते थे। पर कभी-कभी निर्वाचन-पद्धतिके साथ-साथ चिट्ठी डाल कर चुनाव करनेकी प्रथा भी काममें लायी जाती थी। प्राचीन एथेन्सकी भांति गणतंत्रवादी रोममें भी कोई पौर-अधिसेवा नहीं थी पर साम्राज्यवादी रोमको विशिष्ट कोटिके प्रशासकोंकी सेवाएं

आनियोजित करनी पडी थी। उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासकीय पदोके लिए केवल अभिजात या कुलीन वर्गोके व्यक्ति ही चुने जाते थे। निम्न कोटिके लोगोको गुप्तचरों और अवर अधिकारियो (Subordinate officials) तथा साम्राज्यके दूर-दूरके भागोमें प्रधान अधिकारियोके पदो पर नियुक्त किया जाता था। प्राचीन चीन और भारतमें भी इसी प्रकारकी नौकरशाही थी।

योरपमें विभिन्न शिल्पो और शिल्प-सघोंके साथ-साथ पौर-अधिसेवाका विकास एक व्यवसाय या वृत्तिके रूपमें मध्य युगमें हुआ। पौर-अधिसेवाके पदोसे सम्बन्धित सम्मान और प्रतिष्ठा पर ऐसे पदोसे मिलने वाले वेतन या धनकी अपेक्षा अधिक जोर दिया जाता था। भर्ती सामन्तशाही कुलीन वर्गोकी अपेक्षा मध्य वर्गसे अधिक की जाती थी।

आधुनिक कालमें पौर-अधिसेवाका आयोजन करनेमें प्रशिया अगुआ रहा है। उस देशमें जनसेवको (Public servants) की भर्ती और उनके शिक्षणकी उचित प्रणालियो के सम्बन्धमें अत्यन्त सावधानी बरती जाती थी और पौर-अधिसेवाको कुशल और उपयोगी बनानेके उद्देश्यसे व्यापक नियम बनाए गए थे। आज भी जर्मनीमें पौर-अधिसेवकोके अधिकारो और उनकी प्रत्याभूतियो (guarantees) की सर्वोत्तम व्यवस्था है। जहा तक उत्तरदायित्वो या कर्त्तव्योका सम्बन्ध है, कहना पडेगा कि जर्मनीकी पौर-अधिसेवामें आधिकारिक प्रवृत्तिकी परम्परा अब भी कायम है। पर नाजियोके उदय होनेके पहले इस बातके सभी सम्भव प्रयत्न किए जा रहे थे कि पौर-अधिसेवाकी कठोरताको दूर किया जाए और उसकी अनधिकारपूर्ण हस्तक्षेपकी प्रवृत्तिको अच्छी सेवा-भावनामें बदल दिया जाए। फ्रासके बुअर्बन राजाओने योरोपमें पौर-अधिसेवाकी परम्परा बनानेमें कुछ योग दिया था, पर नियुक्तिया और पद-च्युति मनमाने ढगोसे ही की जाती रही।

आजकल इगलैंडमें गत शताब्दीके मध्य भागसे होती आयी एक सर्वोत्तम पौर-अधिसेवा मिलती है। श्री फाइनर इगलैंडकी पौर-अधिसेवाको ससारके लिए एक स्पर्धा या ईर्ष्याकी वस्तु कहते है। इसमें यान्त्रिक कौशल और मानवीय सेवा भावका सम्मिलन दिखाई देता है। जो अन्य किसी 'पौर-अधिसेवा' में नही दिखाई देता। श्री ग्रैहमवाल (Graham-wall) के शब्दोमें 'इस अधिसेवाका निर्माण १९वी शताब्दीके इगलेड में एक महान् राजनैतिक आविष्कार है।'

अपने उद्भव और विकासकी दृष्टिसे इगलैंडकी पौर-अधिसेवा वहाके कैबिनेट शासन की अपरिपक्वता या उसकी कमियोकी आवश्यक प्रतिपूर्ति है। इगलैंडके मन्त्रिमडलके ९० प्रतिशत मदस्योको जिन विभागोके प्रशासनका उत्तरदायित्व सौंपा जाता है उन विभागो की आन्तरिक कार्य-प्रणालीका ज्ञान उन्हें बहुत कम या नही के बराबर होता है। नवीन मत्री अपने उत्तरदायित्वको सभालनेमें पूर्व निर्धारित भावनाओं और नौकरशाहीकी अडगेबाजोसे मुक्त एक नवीन दृष्टिकोण और बुद्धि-बलसे काम लेता है और दूसरी ओर पौर-अधिसेवक उस विषयके कुशल वैज्ञानिक ज्ञान और अनुभवका सहारा उसे देता है। दोनोके समन्वयका परिणाम होता है सुन्दर शासन, पर लॉर्ड हेवर्ट (Hewart), रैमजे म्योर और सी० के० ऐलेन (C K Allen) इस पद्धतिकी आलोचना करते है। उनका कहना है कि इससे स्थायी पौर-सेवा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। श्री रैमजम्योर के अनुसार व्यवस्थापन, प्रशासन, अर्थ व्यवस्था और नीति-निर्धारणमें पौर-अधिसेवा ही वास्तवमें सारा निर्देशन करती है, यद्यपि यह काम पर्देके पीछेसे होता है। वह यह देखकर

आतंकित हो उठे है कि मन्त्रीय उत्तरदायित्वके पीछे वास्तवमें नौकरशाही पनप रही है।

उपर्युक्त आलोचनामें चाहे जितना सत्यांश हो पर इस बातसे कतई इनकार नही किया जा सकता कि इगलैंड ससारके उन देशोमें से एक है जिनका प्रशासन सर्वोत्तम ढग से होता है। और इसका कारण यह है कि उसे एक कर्म-कुशल विश्वसनीय और पक्षपात-हीन पौर-अधिसेवा प्राप्त है जो शासनके दैनिक कार्योको पूरा करती है।

अंग्रेजी राज्यमें भारतमें भी प्रशासनने बडा महत्त्व-पूर्ण काम किया। इसका कार्य-क्षेत्र इतना अधिक व्यापक था कि 'शासन' शब्दके अन्तर्गत जो कुछ भी आ जाता है वह सब उसके अन्दर समाहित या व्याप्त था। प्रशासनके अपने वैध उत्तरदायित्वको पूरा करनेके साथ-साथ नीति-निर्धारण और विधान-रचना में भी उसका एक महत्त्व पूर्ण हाथ रहता था। भारतमें प्राय प्रशासन-अधिकारियोको नौकरशाहीके पुर्जे कहा जाता था और इसका तात्पर्य यह होता था कि वह एक ऐसे शासन-यंत्रके पुर्जे है जो जन-मत से प्रभावित हुए बिना अनुत्तरदायी ढगसे अधिकारोका प्रयोग करनेका अभ्यस्त था। पर उत्तरदायी शासन के विकासके साथ यह परिस्थिति समाप्त हो रही थी।

सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में पौर-अधिसेवाका प्रारम्भ बडे ही असन्तोषजनक ढगसे हुआ। इसका कारण 'लूट-खसोटकी प्रथा' थी जिसके अनुसार हमेशा राष्ट्रपतिके चुनाव के बाद और-अधिसेवाके सैकडो पदोको चुनावमें विजयी दलके समर्थकोसे भरा जाता है। पदोके इस चक्रावर्तन तथा सार्वजनिक अधिकार-पदोको राजनैतिक रूप देनेकी इस नीतिका उत्तरदायित्व श्री ऐन्ड्र्यू जैक्सन (Andrew Jackson) पर है जिन्होने राष्ट्रपति (१८२६-३६) पदसे यह घोषणा की थी· 'पौर-अधिकारियो के कर्त्तव्य इतने स्पष्ट और सरल है कि समझदार आदमी आसानीसे अपने आपको उन कर्त्तव्योको पूरा करनेके योग्य बना सकता है, और मैं यह विश्वास करनेके लिए विवश हू कि एक लम्बी अवधि तक लोगोके पदो पर बने रहनेसे जो हानि होती है वह उनके अनुभवसे होने वाले कामकी अपेक्षा कही अधिक है। किसी भी व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिकी अपेक्षा अधिकारिक पद पर प्रतिष्ठित होनेका अधिक नैसर्गिक अधिकार नही है।' इस खतर-नाक नीतिका परिणाम हुआ अकुशलता, दलबन्दी, भ्रष्टाचार और घूसखोरी। बुराई इस हद तक पहुच गयी कि १८१८ में देशको मजबूर होकर प्रतियोगीय परीक्षाओके आधार पर स्थायी पौर अधिसेवाका सिद्धान्त स्वीकार करना पडा। जन सेवा-आयोगो (Public Service Commissions) की स्थापना की गयी पर उनकी उपयोगिता इस कारण बहुत कुछ समाप्त हो गयी कि उन्हें देशके दोनो प्रधान राजनीतिक दलोका प्रतिनिधि बना दिया गया। १६०५ में एक और सुधारकी लहर आयी पर वह भी लूट-खसोट की प्रथाको जड-मूलसे न वहा ले जा सकी। १६१६ तक पौर-अधिसेवाके आधेसे अधिक पदोको प्रतियोगीय परीक्षाओने भरा जाने लगा। कुछ विभागोके सर्वोच्च अधिकारयोको छोड कर आज सभी सरकारी कर्मचारी पौर-अधिसेवाके अन्तर्गत है और दलबन्दी तथा पक्षपातको मिटानेके लिए बहुत कुछ किया जा रहा है।

एक स्वस्थ पौर-अधिसेवाके निर्माणमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण प्रश्नोमें से एक प्रश्न है भर्ती और प्रशिक्षणका। इगलैंड और भारत दोनो ही देशोमें गत शताब्दीके मध्य भाग तक आश्रित वात्सल्य (Patronage) का बडा महत्त्व-पूर्ण भाग रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनीके सचालक मडलमें एक सदस्य स्कॉटलैंड के थे। उन्होने अपने १६ लडकोमें से प्राय

सबके लिए किसी न किसी पदकी व्यवस्था कर ली थी। नियन्त्रण-समितिके सभापतिकी हैसियतसे डेन्डास ने अनेक स्कॉट लोगोको हिन्दुस्तान भेज दिया था। १८५८ में जॉन ब्राइट (John Bright) ने कहा था, 'इगलैडकी वैदेशिक नीति अपने देशके अभिजात वर्ग (Aristocracy) को देशके बाहर सुविधाए देनेकी एक विशाल योजनासे अधिक और कुछ नही है।'

२ पौर-अधिसेवकों की भर्ती और उनका शिक्षण (Recruitment and Training of Civil Servants)

आश्रित वात्सल्य (Patronage) की बुराइया इतनी अधिक बढ गयी कि चुनाव करनेका कोई दूसरा तरीका खोजना पडा। भारतीय पौर-अधिसेवाके सम्बन्धमें पहला कदम यह उठाया गया कि उम्मीदवारोकी योग्यता परखनेके लिए एक परीक्षा और हेलीबरी (Haileybury) में व्यापक शिक्षणकी योजना करके आश्रित वात्सल्यका क्षेत्र सीमित किया गया। १८५३ में जब ईस्ट इडिया कैम्पनीका चार्टर पार्लियामेंटके सम्मुख पुनर्विचारके लिए पेश किया गया तब मैकॉले ने आश्रित वात्सल्य-प्रथाको समूल उखाड कर उसके स्थान पर प्रतियोगीय पद्धतिकी स्थापना की। उन्होने कहा "मुझे ऐसा मालूम होता है कि कभी भी कोई तथ्य इतने अधिक प्रमाणो और विविध अनुभवो से सत्य सिद्ध नही हुआ जितना यह तथ्य सत्य सिद्ध हुआ है कि जो लोग अपनी युवावस्थामें अपने समकालीन व्यक्तियोकी अपेक्षा अपने आपको एक विशिष्ट कोटिका सिद्ध कर देते है वह आजीवन अपनी उस विशेषताको कायम रखते है। पौर-अधिसेवा में भरती किये जानेके लिए मैकॉले किसी यान्त्रिक या व्यावसायिक शिक्षाका समर्थन नही करते थे। वह प्रतियोगीय परीक्षाओ द्वारा परखी गयी बौद्धिक चैतन्यता और सामर्थ्य पर अधिक जोर देते थे। उनका कहना था कि कार्य-सम्पादनका यान्त्रिक चातुर्य बादमें भी प्राप्त किया जा सकता है। वह किसी विशेष प्रकारकी शिक्षाकी अपेक्षा उदार व्यापक शिक्षाको अधिक पसन्द करते थे। भारतमें किये गये मैकॉले के सुधारोंका फल इगलैडको १८५३ में नॉर्थकोट और ट्रिवेलियन (Northcote and Trevelyan) की रिपोर्टके रूपमें मिला। उन्होने भी इन उम्मीदवारोके चुनावमें दलबन्दीको समाप्त करने और प्रतियोगिता प्रारम्भ करनेकी सिफारिश की। उनके सुझावोको कौंसिलकी सम्मतिसे दिये गये एक आदेशके द्वारा १८५५ में आशिक रूपमें कार्यान्वित किया गया और उसी वर्ष पहले पौर-सेवा-आयोग (Civil Service Commission) की स्थापना की गयी। आने वाले वर्षोमें दूसरे सुधार अपनाये गये।

इगलैड और भारतमें आजकल प्रचलित पद्धति यह है कि अधिकाश रूपसे भर्ती एक खुली प्रतियोगिता द्वारा होती है। इस प्रतियोगिताके पूरक रूपमें एक मौखिक परीक्षा भी होती है। यह प्रतियोगिता और मौखिक परीक्षा दोनो ही एक जन-सेवा आयोग द्वारा सम्पादित होती है। कुछ विशेष विभागोमें भर्ती करनेके लिए सीमित प्रतियोगिता (Limited Competition) होती है जैसे इगलैडकी वैदेशिक और कूटनीतिक सेवा के लिए। मौखिक परीक्षाको सभी प्रतियोगीय परीक्षाओमें एक मुख्य स्थान दिया जाता है। इगलैडमें मौखिक परीक्षा १९१७ से प्रारम्भ की गयी है।

पौर-अधिसेवकोकी भर्ती कम उम्रमें ही की जाती है क्योकि उस अवस्थामें नए विचारोको ग्रहण करने या अपनानेकी बौद्धिक शक्ति अधिक रहती है। इगलैड के पौर-सेवा आयोगमें तीन सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति स्वय सम्राट् कौंसिलमें पास किये गये

आदेश द्वारा करता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह नियुक्तियां मंत्रिपरिषद् व्यावहारिक रूपमें सर्वोच्च अधिकारी-सत्ताके परामर्शसे करती है। यह आयोग बाहरी प्रभावोंसे, विशेषकर राजनैतिक प्रभावोंसे मुक्त रहता है। इसके निर्णयों पर कभी आपत्ति नहीं की जा सकती। उसे ईमानदारी और कार्य-कुशलताका संरक्षक समझा जाता है। यह एक कठिन कार्यको पूरा करता है। १९३५ में इस आयोगने लगभग २३ हजार पदों पर नियुक्तियां की थीं। भारतमें भी ऐसे ही आयोग केन्द्रमें तथा राज्योंमें काम करते हैं।

इंगलैंडमें सफल उम्मीदवारोंको चुने जानेके बाद एक वर्षकी परीक्षण-अवधिमें रहना पड़ता था। इस अवधिमें उन्हें कुछ विशेष विषयों और कुछ सामान्य विषयोंका अध्ययन करना पड़ता था। उदाहरणतः यह विषय होते थे विधि संहिताएं (Codes), कानून, इतिहास, देशी भाषा, घुड़सवारी और स्वास्थ्य-विज्ञान आदि। परीक्षण-अवधिकी समाप्ति पर एक बार फिर एक परीक्षा होती थी। परीक्षण-अवधिमें प्रत्येक अंग्रेज उम्मीदवारको ३०० पौंड और हिन्दुस्तानी उम्मीदवारको ३५० पौंड मिलता था। उम्मीदवारोंके हिन्दुस्तान जानेका खर्च सरकार देती थी। ६ महीनेके बाद हिन्दुस्तानमें फिर परीक्षा होती थी। यह परीक्षा वह विभाग लेता था जिससे उम्मीदवारका सम्बन्ध होता था। जर्मनीमें १९४० के पहले भर्तीकी अवस्था इंगलैंड और हिन्दुस्तानमें निश्चित अवस्थासे भी कम थी। 'जर्मनीमें अब भी ज्ञान हासिल करने पर अधिक जोर दिया जाता है पर अब झुकाव अंग्रेजी पद्धति (अर्थात् एक उदार व्यापक शिक्षा) की ओर है। विधान-शास्त्र और समाज-शास्त्रोंके अध्ययन पर अधिक जोर दिया जाता था। जर्मन पौर-सेवकोंके शिक्षणका एक महत्त्व-पूर्ण अंग रहा है एक ऐसा निश्चित सेवा-काल जिसमें वह अपने कर्त्तव्य-पालनके लिए तैयार हो सकें। इस व्यवस्थाकी सबसे बड़ी आलोचना यह है कि इसमें अधिसेवकोंकी तैयारीमें ही बहुत समय लगा दिया जाता है।

इंगलैंडमें परीक्षा सामान्य योग्यताएं और सामर्थ्यको परखनेके लिए ली जाती है और अमेरिकामें यांत्रिक कर्म-कौशलको परखनेके लिए यह परीक्षाएं होती हैं। वहां पर अनेक नियुक्तियोंके लिए प्रतियोगीय परीक्षाओंके बजाय उम्मीदवारोंको योग्य घोषित करने वाली परीक्षाएं होती हैं और इनका परिणाम यह हुआ है कि अमेरिका की पौर अधिसेवा समर्थ और उच्च कोटिके शिक्षित व्यक्तियोंको अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती। अनेक वर्गके पदोंके लिए 'सामान्य हाई स्कूल शिक्षाके साथ कुछ व्यवहार-कुशलता' से अधिक शिक्षाकी आवश्यकता नहीं होती।

यदि राज्य अपने अधिसेवकोंसे यथासम्भव उच्च कोटिकी सेवा चाहता है तो उसे उनके लिए पर्याप्त वेतन और अभाव तथा अनुरक्षासे मुक्ति (विशेषकर वृद्धावस्थामें) की व्यवस्था करनी होगी।

इंगलैंड और भारतमें प्राप्त वयस्कता (Superannuation) की स्थिति आने तक सेवावधिकी सुरक्षाका सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है।

३ अधिसेवा की शर्तें (Conditions of Service)

जब कोई पौर-अधिसेवक सफलता-पूर्वक अपने परीक्षा-कालको समाप्त कर लेता है और विभागीय परीक्षाओं (जो भी हों) को पास कर लेता है तब उसे अपनी नौकरीके सम्बन्धमें तब तक किसी बातकी आशंका नहीं रहती जब तक उसका कार्य सन्तोषजनक रहता है तथा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियां

पर उसका पूरा काबू रहता है। इस प्रकारकी सुरक्षासे व्यक्तिको सरकारी नौकरी एक 'जीवन-वृत्ति' या ज़िन्दगीकी रोज़ीके रूपमें ग्रहण करनेमें सहायता मिलती है और उसमें वह अपने जीवनका सर्वोत्तम काल लगा देता है। अमेरिकामें जहा पौर-अधिसेवाकी परम्पराए अभी बन ही रही है, अधिसेवकोका दूसरी अधिक वेतन देने वाली नौकरियो की तलाश करते रहना कोई अनहोनी बात नही है।

१९४० के पहले इगलैंडमें पौर-अधिसेवकोका वेतन हिन्दुस्तानके असाधारण रूपसे लम्बे वेतनो और भत्तोकी अपेक्षा बहुत कम था। इगलैंडमें प्रधान प्रशासकीय अधिकारियो (जिनकी सख्या लगभग ४० थी) का अधिकतम वेतन ३ हज़ार पौंड प्रतिवर्ष था यद्यपि उनमें से बहुतोको शहरमें ७ हज़ार पौंड प्रतिवर्ष मिल सकता था। हिन्दुस्तानमें एक जिलाधीश (Collector) को उसके समुद्र पारके वेतनको मिला कर अधिकतम २६५० रुपए प्रतिमास मिलता था। पर एक बडी सख्या ऐसे पदोकी थी जो 'अवस्थाके प्रतिबन्ध से मुक्त थे' जैसे प्रादेशिक आर्थिक और न्यायिक कमिश्नरोके पद, प्रान्तीय मुख्य सचिवो (Provincial Chief Secretary) के पद और भारत सरकारके सचिवोके पद आदि जिनका वार्षिक वेतन २७ सौ पौंडसे लेकर ३६ सौ पौंड तक था। बहुतसे प्रान्तोमें राज्यपालका पद पौर-अधिसेवकोके लिए खुला हुआ था। मद्रास प्रान्तमें कमिश्नरका पद न होनेके कारण वहा के पौर-अधिसेवकोके अधिकतम वेतनका परिमाण अपेक्षा-कृत रूपमें ऊचा रहता था। अपनी जीवन-वृत्तिके प्रारम्भिक वर्षोमें एक पौर-अधिसेवक न्यायाधिकारी भी बन सकता था और तब क्रमश उच्च न्यायालय (High Court) तक उन्नति कर सकता था। वह राजस्व-परिषद् (Board of Revenue) का सदस्य बन सकता था जो कि राजस्व सम्बन्धी विषयोका अन्तिम पुर्नविचार-न्यायालय (Court of Appeal) था। अथवा वह एक अर्थ-आयुक्त (Financial Commissioner) बन सकता था। अनेक विशिष्ट पदोका द्वार उसके लिए खुला हुआ था। जैसा आय-व्यय-निरीक्षण (audit), आगम शुल्क (customs), डाक और तार-विभाग, राजनैतिक विभाग, पर्यात् परिषद् (Tariff Board) और जन-सेवा-आयोगोकी सदस्यता आदि।

समुद्रपारीय वेतन प्रारम्भिक चार वर्षोकी नौकरीके बाद दस रुपए प्रति पौंडके हिसाब से स्टर्लिगमें बदला जा सकता था। अवकाश-ग्रहणके समय एक अच्छी उदार पूर्वसेवा-वृत्ति या पेंशन दी जाती थी। भारतीय पौर सेवक अवधिसे पहले ही अवकाश-ग्रहण कर सकता था। ऐसी स्थितिमें उसे आनुपातिक पूर्वसेवा-वृत्ति (Proportionate Pension) मिल सकती थी। छुट्टियोके सम्बन्धमें भी उसे बहुत उदार सुविधाए प्राप्त थी।

कार्यावधिकी सुरक्षा (Security of tenure), पर्याप्त वेतन और छुट्टियोके लिए उदार सुविधाओके अतिरिक्त पौर-अधिसेवकके लिए पद-वृद्धिके उचित अवसर, योग्यता और सामर्थ्यके अनुकूल कार्य और निष्ठा-पूर्वक कर्त्तव्य-पालनमें सुरक्षाकी व्यवस्था भी की जानी चाहिए। इगलैंडमें हस्त कौशल या दस्तकारी सम्बन्धी और लेखक या लिपिक की अधिसेवाओको कार्यकारिणी और प्रशासकीय अधिसेवाओसे भिन्न माना जाता है और इन दोनो प्रकारकी अधिसेवाओके लिए भिन्न प्रकारकी प्रवेश-परीक्षाए ली जाती है। उच्च कोटिकी सेवाओके लिए भर्ती न केवल सीधे नागरिकोके बीचसे होती है बल्कि निम्नस्तरके सर्वाधिक समर्थ अधिसेवकोको भी पदोन्नति द्वारा भर्ती किया जाता है।

१९२० के बादसे एक विभागसे दूसरे विभागमें तबादला और तरक्की सम्भव हो गयी है।

वृत्तीय ज्येष्ठता (Seniority in Service) के अनुसार पदोन्नति करना अनेक स्थितिमें एक अच्छी नीति है। इससे कमसे कम तमाम प्रशासकीय असुविधाए टल जाती है। पर यह वृत्तीय ज्येष्ठता ही पर्याप्त नहीं है योग्यता और सामर्थ्य वाले व्यक्तियोको एकसे दूसरे पद पर तेज़ीके साथ उन्नति करनेका अवसर होना चाहिए। श्री फाइनर (Finer) का कहना है कि पौर-अधिसेवकोका वर्गीकरण, कर्म-कुशलताके आधार पर करनेसे और वेतनकी घटती-बढती, पदोन्नति, पदावनति और पद-च्युति (Promotion demotion and dismissal) को कर्म-कुशलतासे सम्बद्ध रखनेसे राज्यके कर्मचारियोमें कमसे कम बुराई पैदा हो पाती है। कर्मचारियोकी भर्त्सना या निन्दाकी कलामें अमेरिकाने बडी तेज़ीसे उन्नति की है। इगलैडमें विभिन्न विभागो द्वारा प्रयोगमें लाए जाने वाले रिपोर्ट-फार्मका उद्देश्य अधिसेवकोकी पिछली कर्म-कुशलताका तुलनात्मक लेखा रखना है। इन रिपोर्टोमें निम्नलिखितके सम्बन्धमें सूचना मागी जाती है. (क) शाखा, और (ख) विभाग सम्बन्धी ज्ञान, व्यक्तित्व और चरित्र-बल, विवेक-शक्ति, उत्तरदायित्व निभानेकी शक्ति, उपक्रम (Initiative), यथार्थता, वाक्-शक्ति और चातुर्य (Address and tact), कर्मचारी वर्गका नियत्रण करनेकी शक्ति, उत्साह और शासकीय व्यवहार। यह सच है कि इस प्रकारकी रिपोर्ट भरनेमें भी व्यक्तिगत साम्य-सम्बन्धका हाथ रहेगा ही, पर फिर भी इससे पक्षपात यथासम्भव निचले स्तर पर ही रहेगा।

पौर-अधिसेवा एक गूगी और नाम-हीन सेवा है। अपने सगठन स्वरूपके कारण वह खुलकर अपने ऊपर लगाए गए आरोपोका प्रत्युत्तर नही दे सकती। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि पौर-अधिसेवकको निष्ठा-पूर्वक अपने कर्त्तव्य-पालनमें आवश्यक सुरक्षा दी जाय। फास तथा अन्य योरोपीय देशोने इस तथ्यका अनुभव करते हुए विशेष प्रशासकीय न्यायालय स्थापित किए है जो ऐसे मुकदमोकी सुनवाई करते है जिसमें सरकारी कर्मचारी सम्मिलित रहते हैं। इसके विपरीत अग्रेज़ी बोलने वाले देशोमें व्यक्तिगत अपराधो तथा जिन अपराधोमें सरकारी कर्मचारी फसे रहते है, दोनोकी सुनवाईके लिए एक ही न्याय-पद्धति और एक ही प्रकारके न्यायालय काम करते है, यद्यपि हाल ही में आस्ट्रेलियाने इस व्यवस्थाका त्याग कर दिया है। सरकारी कर्मचारियोके उत्तरदायित्वका सार्वजनिक स्वरूप और कभी-कभी राजनैतिक स्वरूप भी यह न्यायालय समझ नही पाते। इस सम्बन्धमें हमें ऐसा लगता है कि अग्रेज़ी पद्धतिकी अपेक्षा योरोपीय देशोमें प्रचलित पद्धतिके पक्षमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। शासनके विरुद्ध प्रशासकीय न्यायालय कतई दयालु नही होते। यह न्यायालय मामलोके प्रशासकीय पक्ष पर विचार करते है और इन्होने अक्सर बडे सुन्दर फ़ैसले दिए है। अपने कर्मचारियो द्वारा किए गए अपराधो का उत्तरदायित्व राज्य स्वीकार करता है।

श्री फाइनर (Finer) के कथनानुसार जर्मनीकी पौर-अधिसेवाको सुनिश्चित अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार उसे कानून द्वारा प्राप्त है। और अन्तिम रूपमें वह जनता द्वारा स्वीकृत है। ऐसे साधन भी है जिनके द्वारा एक पौर-अधिसेवक अपने विरुद्ध की गयी छोटीसे छोटी अनुशासनकी कार्यवाहीके खिलाफ आवाज़ उठा सकता है।

पौर-अधिसेवा न केवल एक मूक सेवा-कार्य है बल्कि उसमें एक कठोर अनुशासनके

भी अधीन रहना होता है। विशेषकर इगलैडमें इस बातकी आशा की जाती है कि जो भी राजनैतिक दल सत्तारूढ हो, पौर-अधिसेवा समान श्रद्धा और तत्परताके साथ उसकी सेवा करे। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए अधिसेवकोको सार्वजनिक राजनैतिक मामलोमें सक्रिय भाग लेनेसे रोक दिया गया है। उन्हें चुनावमें उम्मीदवार बननेकी आज्ञा नही है यद्यपि वह जैसे चाहें वोट देनेके अधिकारी है। फ्रासमें पौर-अधिसेवकोको पर्याप्त रूपमें राजनैतिक कार्योमें भाग लेनेकी अनुमति है। यह एक दुर्भाग्य-पूर्ण बात है। जर्मनी के वीमर-सविधान में पौर-अधिसेवकोको चुनाव लडनेकी अनुमति दी गयी थी।

पौर-अधिसेवको द्वारा सभा करने और हडताल करनेके अधिकारके सम्बन्धमें पद्धतिया भिन्न-भिन्न है। १९१७ तक इगलैडमें व्यक्तिगत पौर-अधिसेवक और उनके सघ अपनी शिकायतो या कष्टोको स्मृतिपत्रो द्वारा दूर करवा सकते थे। यह स्मृति-पत्र विभागीय अध्यक्षोके पास पहुचनेके पहले विभिन्न अधिकारियोके हाथो गुजरते थे और अन्तमें वह सरकारके पास पहुचते थे। सारी बातचीत लिखित रूपमें होती थी और व्यक्तिगत विवादको बिल्कुल बचाया जाता था। १९१७ में असार्वजनिक उद्योगोके सम्बन्धमें ह्विटले-रिपोर्ट (Whitley Report) की सिफारिशोको स्वीकार किए जाने के बादसे अब सात सौ पौंड प्रतिवर्षसे कम वेतन पाने वाले निम्न वर्गके पौर-अधिसेवको के लिए सशोधित ह्विटले-समितिया (Whitley Council) काम करती है। इस वर्गके पौर-अधिसेवकोके वेतन और जिन परिस्थितियोमें वह काम करते है उनके सम्बन्धमें लागू होने वाली विधानकी धाराओकी व्याख्या करनेके लिए इगलैडमें विशिष्ट अदालतो की व्यवस्था है। पर अदालतो द्वारा दिए गए निर्णयोकी अन्तिम व्याख्या सरकार ही करती है। इगलैडमें एक पौर अधिसेवकको अपनी पद च्युतिके विरुद्ध कोई वैधानिक कार्यवाहीका अधिकार प्राप्त नही है क्योकि प्राप्त व्यस्कता सम्बन्धी अधिकारो (Superannuation Rights) की अन्तिम व्याख्या करनेका अधिकार सरकारको है किसी न्याय-अदालतको नही।

यदि जनताके विरुद्ध पौर अधिसेवकोकी सुरक्षा आवश्यक है तो पौर-अधिसेवको द्वारा अधिकार-सत्ताका मनमाना प्रयोग किए जानेके विरुद्ध जनताकी सुरक्षा भी आवश्यक है। यह सुरक्षा जनताको निग्रह और सन्तुलन (Checks and balances) की व्यवस्थासे प्राप्त होती है। इस व्यवस्थाकी प्रतिष्ठा प्रशासन पर रहने वाले कुछ वैधानिक और न्यायिक नियन्त्रणो द्वारा हुई है। इन नियन्त्रणोमें से कुछ है नियोग-समादेश (Writs of mandamus), निरोधाज्ञा (Injunction), बन्दी-उपस्थापन या बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Writs of Habeas Corpus), अधिकार-प्रच्छा-समादेश (Writs of quo warranto) और उन्नयन-समादेश (Writs of Certiorari)। यह सब अदालतो द्वारा जन-अधिकारियो (Public officers) को दी जाने वाली आज्ञाए है जिनके द्वारा कुछ करनेका आदेश या निषेध किया जाता है। श्री फाइनर (Finer) की सम्मतिमें जनताकी इस सुरक्षाके सम्बन्धमें फ्रास और जर्मनी की स्थिति सबके लिए स्पर्द्धाका विषय है। इगलैडकी स्थिति सबसे निम्न स्तरमें और अमेरिकाकी मध्यवर्ती है।

पौर-अधिसेवकोका यह कर्त्तव्य है कि जो विधान या कानून उनके हाथोमें सौंपा जाय उसे कार्यान्वित करें। इस दृष्टिसे वह लोग वस्तुत व्यवस्थापिका और सर्वोच्च

कार्यपालिकाके नौकर होते हैं। कमसे कम स्वशासन-सम्पन्न देशोके नीति-निर्धारणमें प्रत्यक्ष रूपसे उनका कोई दखल नही रहता, राजनैतिक कार्यपालिका (Political Executive) के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्धोके द्वारा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप चाहे कुछ कर सकें।

४ पौर अधिसेवको के कर्त्तव्य (Function of Civil Servants)

भारतीय और अंग्रेजी पौर-अधिसेवको द्वारा पूरे किये जाने वाले कार्योके स्वरूपमें मौलिक अन्तर है। ब्रिटेनकी पौर-अधिसेवा दक्ष विशेषज्ञोका एक चुना हुआ दल होते हुए भी देशकी राजनैतिक नीतिका निर्धारण नही करती। यह कार्य तत्कालीन मन्त्रिमडल करता है। स्थायी उपसचिव (Permanent Under-Secretary) और उसके सहायक कर्मचारी सभी प्रकार के आवश्यक परामर्श और सुझाव देते है, पर वह आदेश नही देते। प्रत्यक्षत मन्त्री लोग विशेषज्ञोसे परामर्श नही करते। यह सम्भव है कि पौर-अधिसेवक एक असमर्थ मन्त्रीका आसानीसे नेतृत्व कर ले जाय, पर एक समर्थ और दृढ व्यक्ति हमेशा अपने मनचाहे मार्ग पर चल सकता है।

पर अंग्रेजी राज्यमें भारतीय पौर-अधिसेवाकी स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। प्रान्तोके राज्यपालो, कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका समितियोके सदस्यो और राज्यपालोके सलाहकारोकी स्थितिमें भारतीय पौर-अधिसेवकोने नीतिके निर्धारण और कार्यान्वयमें एक निर्णायक भाग लिया था। माटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारके बाद और विशेष रूपसे प्रान्तीय स्वायत्त शासनका प्रारम्भ होनेके बाद उनकी यह शक्ति पर्याप्त रूपमें कम हो गयी। नवीन कोटिके भारतीय पौर-अधिसेवकोकी चर्चा करते हुए सर ई० ब्लट (Sir E Blunt) ने कहा है 'जहा उनके पूर्ववर्ती (अधिसेवक) आज्ञाए देते थे वहा अब उन्हें सलाह देनी चाहिए · जो पौर-अधिसेवक पहले शासन करके जनताकी सेवा करते थे उन्हें अब सेवा करके शासन करना सीखना चाहिए।' यह आशा कि निकट भविष्यमें ही भारतीय पौर-अधिसेवाको नीति-निर्धारणके जो कुछ अधिकार अभी प्राप्त है वह भी विलीन हो जायेंगे कोई बहुत बडी बात नही है। पौर-अधिसेवाका प्रधान कर्त्तव्य होगा परामर्श देना और प्रशासन करना (To administer)। स्वस्थ जनतात्मक शासनकी प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि मन्त्रिगण नीति-निर्धारण करें और अधिकारी वर्ग उस नीति को सचाईके साथ कार्यान्वित करें—भले ही वह उस नीतिसे सहमत हो या नही।

ब्रिटेन का पौर-अधिसेवक अपना अधिकाश समय अपनी मिसिलो और पोथियोंके बीच व्यतीत करता है। पर भारतके पौर अधिसेवकोका जीवन विविध-रूपी था। जिलाधीशके रूपमें उसे वर्षके तीन-चार-महीने जनतासे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए शिविरो में बिताने होते थे। वह जिलेका राजस्व-समाहर्ता (Collector of Revenue) और जिलेका दड-नायक (District Magistrate) होता था। वह 'मांके पर की सरकार' होता था। वही सरकार था—शासक था। ताल्लुकोके उपाधिकारी, अवर समाहर्ता (Deputy Collector), तहसीलदार आदि उसके अधीन होते थे। वह माल के मुकदमो (Revenue Cases) और फौजदारी मुकदमोकी सुनवाई करता था। और दूसरी तथा तीसरी कोटिके दड-नायको द्वारा किये गये फैसलोकी अपीलें सुनता था।

चाहे भारतमें हो या अन्यत्र कही भी केवल शुद्ध प्रशासन और अधिसेवकोका एक मात्र कर्त्तव्य नहीं है। उन्हें अर्धवैधानिक और अर्धन्यायिक अधिकार दिये जाते हैं। विभागो

के अधिकारियोंको ऐसे नियम व अधिनियम बनानेका अधिकार रहता है जो उनके अधीनस्थ कर्मचारियो और सामान्य जनताके लिए मान्य होते है। इनमेंसे कुछ तो, विशेषकर युद्ध-कालमें, ससदकी रस्मी स्वीकृति पानेके पहले ही लागू हो जाते हैं। स्थायी कार्यपालिका विवरण समेत यह निश्चित करती है कि किस प्रकार ससदीय सविधि द्वारा निर्दिष्ट आवश्यकताए पूरी की जायें और किस प्रकार उस सविधि द्वारा प्रदत्त अधिकारोका उपभोग किया जाय। प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated legislation) के सम्बन्धमें इगलेड की स्थिति फ्रास और अमेरिकाके बीचकी है। प्रशासकीय विभागोको सौंपे गये प्रदत्त व्यवस्थापनकी बढती हुई मात्राके कारण बताते हुए श्री मैरियट लिखते है अशत औद्योगिक और सामाजिक परिस्थितियोकी बढती हुई जटिलताके कारण, अशत समाजवाद के सूक्ष्म प्रभावके कारण, अशत 'रामभरोसे नीति' का सार्वजनिक त्याग किये जानेके कारण तथा जीवनके सभी क्षेत्रोमें सरकारी निर्देश और नियत्रणकी बढती हुई मागके कारण और अशत व्यवस्थापनकी बढती हुई मागको पूरा करनेकी अपनी असमर्थता और निराशाके कारण समदने यह प्रवृत्ति अपनायी है कि प्रशासकीय विभागोको अधिकाधिक रूपमें विवेकाधीन अधिकार सौप दिये जायें (मैरियट, दूसरा खड, पृष्ठ २३३)।

जैसा श्री मैरियट ने लिखा है अर्धवैधानिक कर्त्तव्य जहा एक ओर सुविधाजनक, वैध और अनिवार्य भी है वहा दूसरी ओर उनका दुरुपयोग किये जानेकी भी आशका है। इस खतरे से बचनेके लिए श्री मैरियट तीन सुरक्षा साधनोकी चर्चा करते है . (१) जिस शक्तिको अधिकार-सत्ता सौंपी जाय उसे पूरी तरहसे विश्वसनीय होना चाहिए। (२) जिन स्वार्थों पर प्रभाव पडनेवाला हो उससे परामर्श कर लिया जाय। (३) हर हालतमें प्रदत्त अधिकार-शक्तिकी सीमाए सुनिश्चित होनी चाहिए। १९१६ में प्रिवी कौंसिलने विख्यात जामोरा केस (Zamora Case) में यह फैसला दिया था कि सम्राट्को कौंसिल समेत अपने किसी आदेशसे देशके कानूनको बदलनेका तब तक कोई अधिकार नही है जब तक ऐसी शक्ति उसे सविधि द्वारा प्राप्त न हो। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालयने एन० आर० ए० (National Rejlo Association) की कुछ धाराओको इसलिए अवैध घोषित कर दिया कि कार्यपालिकाको बहुत अधिक व्यापक और अनिश्चित अधिकार शक्तियां सौंपनेमें व्यवस्थापिकाने अपने अधिकार-क्षेत्रका अतिक्रमण किया और ऐसे मानदड स्थापित नही कर सकी जिससे कार्यपालिकाके कार्योका पथ-प्रदर्शन हो सके।

अनेक देशोमें प्रशासकीय विभागोको अर्धन्यायिक कर्त्तव्य करने होते है उदाहरणके लिए अमेरिका में, अन्तर्राज्य-वाणिज्य-आयोग (Inter-State Commerce Commission)। अपने अधीन अधिकारियोंके राजकीय कार्योके विरुद्ध जनता द्वारा लगाये गये आक्षेपोकी सत्यता-असत्यताकी जाच करनेके लिए उन्हें व्यापक अधिकार दिये गये है। इस प्रकार आय-कर विभागके किसी अवर कर्मचारी (Subordinate) द्वारा किये गये आय-कर-निर्धारणके विरुद्ध व्यक्तिगत नागरिको द्वारा जो शिकायतें की जाती है उनकी सुनवाई करनेका अधिकार केवल आय-कर-कमिश्नरको ही है।

इसी प्रकार फैक्टरियोंमें काम करनेवाले मजदूरोको काम करते हुये अग-क्षति हो जाती है उसके लिए उन्हें मिलनेवाले मुआवजेका फैसला उद्योग-विभागका कोई उच्च अधिकारी ही करता है।

प्रशासन-कार्यके सम्बन्धमें एक और प्रश्न विचारणीय है। यह विचारणीय विषय

वह अस्त-व्यस्त ढंग है जिसमें विभागो और उनके उपविभागोकी सख्या बढने दी गयी है। यदि मितव्ययिता और कर्म-कुशलता एक अच्छे जन-प्रशासनकी कसौटिया है तो यह आवश्यक है कि सरकारके विभिन्न विभागोका सगठन सावधानी-पूर्वक किया जाय जिससे कार्यों और अधिकारोका पारस्परिक अतिक्रमण न हो और जो विभाग परस्पर घनिष्ठ रूपसे सम्बन्धित है वह एक सामान्य नियत्रणके अधीन लाये जा सकें। फ्रासकी भांति विभागोका केन्द्रीकरण उतना ही ग़लत है जितना अनुचित विकेन्द्रीकरण। विभिन्न विभागोका परस्पर सम्बन्ध रखना ही मध्यम मार्ग है क्योकि इससे प्रशासनके विभिन्न स्तरो पर सहयोगकी आवश्यकता होती है और अन्तिम रूपमें यह प्रगति एक सर्वोच्च अधिकार-सत्तामें परिणत हो जाती है।

१९१७ में स्थापित 'शासन-यत्र-समिति', जिसके सभापति लॉर्ड हेल्डेन (Lord Haldane) थे, सेवाके अनुरूप विभेद करनेके पक्षमें थी। उसने सरकारी विभागोके निम्नलिखित पुनर्गठनकी सिफारिश की थी. (१) अर्थ या वित्त-विभाग (Finance), (२) और (३) राष्ट्रीय सुरक्षा और वैदेशिक विभाग, (४) अनुसधान और सूचना-विभाग, (५) सरक्षण (जिसमें कृषि, जगल और मीन-क्षेत्र सम्मिलित है) यातायात और वाणिज्य-विभाग, (६) वृत्ति-नियोजन-विभाग (Employment), (७) रसद-विभाग (Supplies), (८) शिक्षा-विभाग, (९) स्वास्थ्य-विभाग, और (१०) न्याय-विभाग। कुछ बडे विभागोमें एकसे अधिक मत्रीकी आवश्यकता होगी। भविष्यमें मत्रिपरिषद्का आकार छोटा होना चाहिए जिसकी तुलना एक युद्धकालीन मत्रिपरिषद्से की जा सके। उसका काम विभिन्न विभागोका नियत्रण और सन्तुलन-सहयोग होगा न कि प्रशासकीय कार्य। हेल्डेन-कमिटी ने एक ऐसा सुझाव दिया था जिस पर बहुत ध्यान दिया गया। वह सुझाव था कि सरकारके प्रत्येक विभिन्न विभागके साथ सम्बद्ध एक स्थायी योजना-कमीशन या विचारक समिति होनी चाहिए। यह कमीशन या समिति विभिन्न विभागोंके साथ न रह कर अकेले सरकारके साथ सम्बद्ध रह सकती है। इसका काम होगा प्रशासनकी समस्याओके सम्बन्धमें शोध करना और भविष्यके लिए ऐसी योजनाए बनाना जिससे समूचा शासन-यत्र कर्म-कुशल, मितव्ययी, प्रगतिशील और जन-सेवामें समर्थ हो सके।

जन-प्रशासन, वाणिज्य-व्यवस्थाकी भाति पैसा कमाने वाली सस्था नही है। जहा कही भी सेवाकी सबसे अधिक आवश्यकता हो वहा सेवा करना उसका प्रधान उद्देश्य है।

५ पौर-अधिसेवाकी स्वस्थ व्यवस्थाकी कसौटिया (Tests of a Good System of Civil Service)

इस कर्तव्यको पूरा करते हुए पौर-अधिसेवकोको हरएकके प्रति न्याय-पूर्ण रहना चाहिए। उन्हें किसी एक व्यक्ति या वर्गका दूसरेकी अपेक्षा पक्षपात नही करना चाहिए। उन्हें सबके साथ समान विधानका प्रयोग करते हुए अपना मार्ग निश्चित करना चाहिए। पौर-अधिसेवकोको चाहिए कि वह अपने आपको सही अर्थोमें जनताका सच्चा सेवक समझें। भारतीय पौर-अधिसेवकोंके विरुद्ध प्राय यह एक आक्षेप लगाया जाता रहा है कि जनताके साथ अपने व्यवहारमें वह उद्धत, असहनशील और घमडी होते थे।

श्री फाइनर का कहना है कि पौर-अधिसेवकमें सजीवता अर्थात् चैतन्यता, अनुसन्धान रुचि, जनताकी आवश्यकताओको पूरा करनेकी क्षमता और उद्योगशीलता होनी चाहिए। पौर-अधिसेवकोकी एक बहुत बडी बुराई यह होती है कि वह लकीरके फकीर

बन जाते हैं और उससे ऊपर उठनेकी आवश्यक प्रवृत्ति और क्षमता उनमें नही होती। इसमें कोई सन्देह नही कि सार्वजनिक कार्योकी व्यवस्थामें थोडी-बहुत दीर्घसूत्रता या लाल फीताशाही (Red tapism) और परिपाटीका पालन आवश्यक होता है पर इसीको प्रधान स्थान नही देना चाहिए। राजकीय कार्योकी याजनामें और योजनाओको कार्यान्वित करनेमें सर्वदा माननीय मूल्योको प्रधान स्थान देना चाहिए।

सरकारी कर्मचारियोके विरुद्ध साधारण रूपसे जनतामें जो भय और विरोधकी भावना रहती है उसे दूर करनेके लिए पौर-अधिसेवकोको सभी सम्भव प्रयत्न करने चाहिए। श्री फाइनर इस विषय पर सामान्य रूपसे लिखते है 'जनता सरकारी कर्मचारीका विरोध करनेकी प्रवृत्ति रखती है, वह उससे डरती है, उसके सम्बन्धमें उसकी धारणाए भ्रान्त रहती है और कभी-कभी वह उसकी प्रशसाए भी करती है।' इगलैडमें श्री फाइनर ही के अनुसार साधारणत आम जनता पौर-अधिसेवा (Civil Service) के अस्तित्व और उसके कार्योके प्रति कुछ थोडा सा उदासीन भाव रखती है। भारतमें अशिक्षित ग्रामीणको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास रहता है कि सरकारी कर्मचारी आश्चर्यजनक कार्य करनेकी सामर्थ्य रखता है। इसके साथ ही उसे इस बातका बडा भय रहता है कि उसका भाग्य सरकारी कर्मचारीकी मुट्ठीमें ही है।

शासकको जहा एक ओर भय और पक्षपातसे मुक्त रह कर कार्य करना चाहिए वहा दूसरी ओर उसे जान-बूझ कर अपने उच्च पदके कारण जनमतकी अवहेलना नही करनी चाहिए। किसी भी परिस्थितिमें उसे राजनैतिक कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिकाके अधिकारोका अपहरण नही करना चाहिए। उसे अपने निर्णयको ही मान्य माननेकी प्रवृत्ति छोड देनी चाहिए। उसे बहुत अधिक पत्र-व्यवहार नही करना चाहिए। उसे सम्मानका भूखा न होना चाहिए और दीर्घसूत्री वैधिकताओ (Dilatory formalities) को नही अपनाना चाहिए।

प्रतिस्पर्धी साम्प्रदायिक सघो वाले भारत जैसे देशमें साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वको सुन्दर शासन-व्यवस्थाकी आवश्यक शर्त माना गया था। इस सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि यदि शासन-व्यवस्थाकी ईमानदारी और कर्म कौशलको सुरक्षित रखना है तो जन-प्रशासनको राजनीतिज्ञोके हाथका खिलौना नही बनने देना चाहिए। यदि और सब बातें बराबर है तो देशके किसी भी सम्प्रदायकी शक्ति और अधिसेवाओमें उसके प्रतिनिधित्वमें परस्पर उचित अनुपात होना चाहिए। पर यह हमेशा याद रखना चाहिए कि प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय द्वारा विभिन्न अधिसेवाओमें नपा-तुला प्रतिशत प्राप्त करनेके अधिकारकी अपेक्षा कुन्द और निकम्मे अधिकारियोसे सुरक्षित रहनेका नागरिकोका अधिकार कही अधिक बडा और महत्त्व-पूर्ण अधिकार है।

श्री फाइनरके अनुसार जर्मनीके पौर-अधिसेवकके कर्त्तव्य निम्नलिखित है

१ पौर-अधिसेवकको सविधान और कानूनोके अनुकूल अपने कर्त्तव्योका पालन करना चाहिए और अपने ऊपरके अधिकारियोकी आज्ञाओका वहा तक पालन करना चाहिए जहा तक वह आज्ञाए कानूनके प्रतिकूल न हो।

२ उसे अपने पदके कर्त्तव्योको पूरी ईमानदारी और सच्चाईके साथ, बिना अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सुविधाका ख्याल किये, पूरी तरह पक्षपात-हीन रह कर पूरे उद्योग और सावधानीके साथ पूरा करना चाहिए।

३. उसे अपने काम पर आने और वापस जानेके समयका ठीक-ठीक पालन करना चाहिए।

४. बिना अधिक वेतनकी माग किये हुए उसे ऐसे अधिक कर्त्तव्यो या दूसरे कामो को करनेके लिए तैयार रहना चाहिए जिन्हें पूरा करनेके लिए अपनी योग्यताके अनुसार वह उपयुक्त है।

५. अपने पदके कर्त्तव्योमें और उस पद पर रह कर किए गए कार्योमें उसे सच्चाई बरतनी चाहिए, उसे ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्योकी मूक अभिव्यक्ति नही करनी चाहिए जिनका खुल जाना विभागके लिए चिन्ताकी बात हो सकती हो।

६. अपनेसे उच्च अधिकारियोका उसे अपने कार्यालय, कार्य-क्षेत्रके भीतर और बाहर सब कही सम्मान करना चाहिए भले ही ऐसे उच्च अधिकारीका चरित्र और व्यवहार आपत्तिजनक हो।

७. जनताके साथ अपने व्यवहारमें अधिकारियोको सर्वदा विनम्र होना चाहिए।

८ पौर-अधिसेवकको अपमान चुपचाप बर्दाश्त नही करना चाहिए अन्यथा अधि-सेवाकी प्रतिष्ठा गिर जानेका भय है।

९. किसी भी अधिकारीको ऐसा अतिरिक्त पद या वृत्ति (Employment) स्वीकार नही करनी चाहिए जिसके लिए उसने उपयुक्त विभागीय अधिकारीसे अनुमति न प्राप्त कर ली हो।

१० पौर-अधिसेवकको शासकीय गोपनीय बातो (official secrecy) की रक्षा करनी चाहिए।

(घ) न्यायपालिका (The Judiciary).

१ न्यायपालिका का महत्त्व (The Importance of the Judiciary)

यदि किसी देशमें एक बहुत सुन्दर व्यवस्थापिका और एक कुशल कार्यपालिका हैं पर एक स्वतत्र और पक्षपात-हीन न्यायपालिका नही है तो उसके सविधानका कुछ अधिक मूल्य-महत्त्व नही होगा। प्रत्येक नागरिक एक सभ्य सरकारसे यह आशा रखता है कि वह निरकुश शासन से उसकी रक्षा करेगी और एक सुसगठित न्यायपालिका इस सुरक्षाका सर्वोत्तम उपाय है। इसी कारणसे प्राय. यह कहा जाता है कि किसी देशकी न्यायपालिकाकी उत्तमतासे ही उस देशकी सरकारकी उत्तमता नापी जाता है। न्याय-कार्यके सम्बन्धमे सर्वदा कुछ दिव्यता या दिव्य गुणोकी कल्पना की गई है और इसी बातसे यह सिद्ध हो जाता है कि जनताकी दृष्टिमें न्यायपालिकाको सर्वदा एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। न्याय एक दैवी गुण माना जाता है। और न्यायाधीशकी कल्पना एक ऐसे व्यक्तिके रूपमें की गई है जो आखें मूद कर सबके साथ भय और पक्षपात-हीन होकर समान न्याय-व्यवहार करता है। पुराने जमाने में न्यायाधीशके कर्त्तव्यको धर्माध्यक्ष या पुरोहितके कर्त्तव्यका एक अग माना जाता था।

जनताकी दृष्टिमे न्यायपालिकाका महत्त्व तो बहुत अधिक है पर उसका व्यवहारिक विकास अत्यन्त मन्दगतिसे हुआ है। प्रारम्भिक युगमें जो न्याय प्रचलित था वह न्यायकी एक वन-जातीय या कबीली धारणा थी। इस बातकी कोई परवाह नही रहती थी कि अपराधी व्यक्तिको दड मिला या न मिला, अपराधी दल या कबीलेको यदि दड दे दिया

गया तो न्यायका उद्देश्य पूरा हो गया समझा जाता था। अधिकाश अवसरो पर जो दड दिया जाता था वह अपराधकी तुलनामें बहुत अधिक होता था। इसलिए जब 'शठे शाठ्यम्' या जैसेको तैसाके सूत्रानुसार नाप-तोल कर प्रतिकार लेनेकी भावनाका उदय हुआ तब वह प्रगतिकी दिशामें ही एक स्पष्ट क़दम था। कुछ समय बाद यह विचार उत्पन्न हुआ कि शारीरिक क्षतिके स्थान पर पदार्थो या साधनके रूपमें क्षति-पूर्ति की जा सकती है। इस समूचे युगमें न्याय एक व्यक्तिगत निजी बात थी। सताया हुआ व्यक्ति या क़बीला जो कुछ भी कार्यवाही वह कर सकता था करता था। इसके अतिरिक्त अनेक मामलोमें किसी भी निश्चयको कार्यान्वित करनेका कोई साधन भी न होता था। प्राय एक कठोर दड यह दिया जाता था कि अपराधीको समाजसे बहिष्कृत कर दिया जाता था जैसा कि 'ओल्ड टेस्टामेंट' (बाइबिल) को कैन (Cain) वाली कहानीमें दिखाई देता है। परमात्मा और विभिन्न भूत शक्तियोका भय भी प्रारम्भिक मनुष्यको सकीर्ण पर सही रास्ते पर चलनेके लिए विवश करता रहा है।

धीरे-धीरे 'राजशान्ति' की धारणाका विकास हुआ। सबसे पहले इसमें सुविधा-हीन अपराध अर्थात् ऐसे अपराध जिनका प्रतिकार धन देकर करनेकी सुविधा नही थी, सम्मिलित थे। कुछ समय बाद चोरी तथा ऐसे अन्य अपराध राज्य-शान्तिकी धारणामें सम्मिलित कर लिये गये। एक लम्बे समय तक सामन्त-सरदार और धर्म-सघ अपनी अलग-अलग न्याय-व्यवस्था चलाते रहे और राजाके न्यायाधिकरणको उन्होने विना सघर्ष के स्वीकार नही किया। आधुनिक राज्यमें यद्यपि हम व्यक्तिगत विधान और सार्वजनिक कानूनकी बात करते है फिर भी सभी अपराधोको राज्यके विरुद्ध किये गये अपराध माना जाता है। विभिन्न सामाजिक सस्थाए अपने सदस्यो पर एक निश्चित आचार-पद्धति लागू करनेके लिए शका-निवृत्ति, नैतिक दबाव और सामाजिक बहिष्कारका प्रयोग कर सकती है। पर लोगोको गिरफ्तार करने, प्राण-दड देने या अन्य ऐसी सजाए देनेका उन्हें कोई अधिकार नही है। न्यायाधिकरण राज्यका कर्त्तव्य है।

एक स्वतत्र न्यायपालिकाका सबसे बडा शत्रु है एक सर्वशक्तिमान् कार्यपालिका। इगलैडमें प्रथम दो स्टुअर्ट राजाओके राज्य-काल में न्यायपालिकाको कार्यपालिकाका उपाश्रित या उसके अधीन बनानेके प्रयत्न किये गये और कुछ तत्कालीन न्यायाधीश भी इस अपवित्र उद्योगमें सम्मिलित रहे। बेकनके अनुसार न्यायाधीशोको निस्सन्देह सिंहो की भाति स्वतत्र होना चाहिए 'पर वह सिंह सिंहासनके नीचे ही रहेंगे।' दूसरें शब्दोंमें उन्हें कार्यपालिकाके हाथोका खिलौना होना था। इगलैडमें न्यायपालिकाकी स्वाधीनता अन्तिम रूपसे भूमि व्यवस्था-विधान (Act of Settlement) के द्वारा प्रतिष्ठित हुई और यह निश्चित हो गया कि न्यायाधीशोको ससदके दोनो भवनोकी स्वीकृतिके बाद ही पद-च्युत किया जा सकता है।

२. कुशल न्यायपालिकाके लिए अपेक्षित परिस्थितिया

न्यायपालिकाकी एक सुन्दर व्यवस्थाके लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बातकी है कि वह स्वतत्र हो। न्यायाधीशोंको नियुक्त करनेकी पद्धति और उनकी नौकरीकी शर्ते ऐसी होनी चाहिए जिससे वह स्वतत्र रूपसे कार्य करनेमें समर्थ हो सकें। कार्यपालिका अथवा सामान्य जनताके भयसे उसके कर्त्तव्य-पालन में किसी प्रकारका भी प्रभाव नही पडना चाहिए।

न्यायाधिकरण या न्याय-प्रशासन (Administration of Justice) में पक्षपात-हीनता उतनी ही महत्त्व-पूर्ण है जितनी स्वाधीनता। प्राय: यह कहा जाता है कि इंगलैंडमें 'सबके लिए एक ही कानून है' और 'सभी व्यक्ति कानूनकी दृष्टिमें समान हैं।' धन-सम्पत्ति, बड़प्पन और सामाजिक प्रतिष्ठाके विभेदोंका न्यायाधीशों पर कोई प्रभाव न पड़ना चाहिए। किसी भी परिस्थितिमें कार्यपालिकाको यह अधिकार या अनुमति न मिलनी चाहिए कि वह न्यायाधीशोंको उनके द्वारा दिए जाने वाले निर्णयोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारके आदेश आदि दें, विशेषकर जब कार्यपालिका स्वयं ही मुकदमेके किसी एक पक्षमें हो।

स्वतंत्र और पक्षपातहीन होनेके अतिरिक्त न्यायाधीशको विद्वान् और अपने कार्यमें दक्ष होना चाहिए। एक असमर्थ न्यायाधीश निश्चय ही न्यायपालिकाकी प्रतिष्ठाको जनता की दृष्टिमें घटा देता है। अपने कर्त्तव्य-पालनमें न्यायाधीशको अत्यन्त निर्भय, सच्चा और दृढ़ चरित्र होना चाहिए।

न्यायाधीशोंकी बात छोड़कर न्यायालयोंके सम्बन्धमें विचार करते हुए यह कहना पड़ेगा कि न्याय त्वरित या शीघ्र और निश्चयात्मक (Swift and sure) होना चाहिए। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशोंकी संख्या काफी हो जिससे न्यायमें विलम्ब न हो। संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें यह कहा जाता है कि न्याय न तो त्वरित होता है और न निश्चयात्मक। कानून और उसकी कार्य-पद्धतिमें इतने अधिक गुप्त छिद्र होते हैं कि एक चतुर वकील या मुवक्किल न्यायमें अनावश्यक विलम्ब तो करा ही सकता है भले ही उसे एकदम रोक न पाए, यदि न्यायपालिकामें गरीबोंका भी कोई लाभ होता है तो यह आवश्यक है कि न्याय इतना महंगा न हो जितना वह आजकल अनेक देशोंमें है। न्यायकी पद्धति साधारण, सीधी और ऐसी होनी चाहिए कि खर्चा अधिक न हो। जहां एक ओर इस बातकी पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए कि न्यायमें हो जाने वाली भूलों का सुधार करनेके लिए एक सुसंगठित पुनर्विचार-व्यवस्था हो वहां दूसरी ओर इस बात का भी हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए कि लम्बी और दुःखदायी मुकदमेबाजी न होने पाये। अदालतोंको भरपूर कोशिश करनी चाहिए कि जहां कहीं सम्भव हो आपसमें समझौता या पंचों द्वारा फैसला हो जाये। झगड़ोंको इस प्रकार शान्ति-पूर्ण ढंगसे सुलझाने की दिशामें भारतकी छोटी अदालतोंको उपयोगी कदम उठाने चाहिए। पर ऐसा आज-कल नहीं किया जा रहा है। इसके लिए उन्हें आदेश मिलने चाहिए।

३. न्यायपालिकाके कर्त्तव्य (Functions of the Judiciary)

(१) न्यायपालिकाका प्रधान कर्त्तव्य है, निर्दिष्ट दीवानी और फौजदारी मामलों में विधानको कार्यान्वित करना। यह कर्त्तव्य उतना सरल नहीं है जितना वह ऊपरसे दिखाई देता है। अनेक ऐसे मामले होते हैं जिनमें कानून या तो स्पष्ट रूपसे कुछ निर्देश नहीं करता या उसका निर्देश कुछ न कुछ अस्पष्ट रहता है। इसलिए न्यायाधीश को विधानके अर्थकी व्याख्या करनी होती है और ऐसा करते हुए न्यायाधीशों ने वृहत् परिमाणमें न्यायाधीश-निर्मित विधान या नजीरोंकी सृष्टि की है। आंग्ल-सैक्सनी देशोंमें जो मसले व्यवस्थापित विधानकी परिधिमें नहीं आते उनके सम्बन्धमें न्यायाधीश सामान्य (कॉमन) विधानके अनुकूल अपना निर्णय घोषित कर देते हैं। फ्रांसमें लगभग समूचा प्रशासन सम्बन्धी विधान राज्य-परिषद् (Council of State) के निर्णयों द्वारा निर्मित हुआ है। यह राज्य-परिषद् देशकी

सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय है। यद्यपि दृष्टान्त (Precedents) भविष्यके निर्णयों पर लागू नही होते फिर भी उनका बडा सम्मान किया जाता है। वकील और न्यायाधीश दोनो ही उनका उपयोग करते हैं। आग्ल सैक्सनी देशोमें दृष्टान्त न केवल विधानके प्रमाण माने जाते हे वलिक उन्हें विधानका स्रोत भी माना जाता हैं पर फ्रास, जर्मनी और अन्य योरोपीय देशोमें सामान्य रूपसे न्यायिक दृष्टान्त छोटे न्यायालयोके लिए अनिवार्यत मान्य नही होते।

श्री गार्नर के अनुसार दृष्टान्त दो प्रकारके होते है (१) वह दृष्टान्त जिनसे भविष्य के लिए नए कानूनकी सृष्टि होती हैं और (२) वह दृष्टान्त जो वर्तमान कानूनकी घोषणा-मात्र करते हैं। दूसरी कोटिके दृष्टान्त बहुसख्यक पर कम महत्त्व-पूर्ण होते हैं। दृष्टान्त का एक दूसरा वर्गीकरण है आधिकारिक दृष्टान्त (Authoritative Precedents) और हृदयग्राही या अनुरोधात्मक दृष्टान्त। जैसा कि नामसे ही प्रकट हैं आधिकारिक दृष्टान्त भविष्यके न्यायाधीशोके लिए मान्य होते हैं। उच्च वर्ग और निम्न वर्गके न्यायालयो के सम्बन्धके विषयमें यह बात सच हैं। एक उच्च वर्गके न्यायालयका न्यायाधीश एक आधिकारिक दृष्टान्तका भी अतिक्रमण कर सकता है, यदि उसे वह दृष्टान्त तर्क अथवा काननके विपरीत मालूम हो। एक अनुरोधात्मक दृष्टान्तकी मा यता अनिवार्य नही होती और न्यायाधीश उसे उसके उपयुक्त ही महत्त्व देता है।

(२) राज्यके अनुचित हस्तक्षेपके विरुद्ध व्यक्तिकी रक्षा करना न्यायपालिकाका दूसरा महत्त्व-पूर्ण कर्त्तव्य हैं। अग्रेजी बोलने वाले देशोमें या बेल्जियममें इसके लिए कोई अलग विधान नही है क्योकि इन देशोंमें विधान-राज्य (Rule of Law) प्रचलित है जिसके अनुसार राजकीय पदाधिकारियों और व्यक्तिगत नागरिकोके लिए एक ही विधान और एक ही प्रकारकी अदालतें काम करती हैं। जो विशेष अदालतें है भी वह साधारण अदालतोके अधीन हैं। फ्रास, जर्मनी, इटली और अन्य योरोपीय देशोमें विशिष्ट प्रशासकीय न्यायालय है जिनमें प्रशासकीय विधान लागू होता है।

इस प्रश्न पर बडा विवाद चला हैं कि विधान-राज्य प्रशासकीय विधानसे श्रेष्ठ है या इसका विपर्यय (Vice Versa)। विधान-राज्यको अत्युक्तिपूर्ण महत्त्व दिलानेका उत्तरदायित्व श्री ए० वी० डाइसी (A V Dicey) को है। अग्रेजी बोलने वाले देशो में प्रचलित इस सम्मतिका श्रेय भी उन्हीको है कि राजकीय पदाधिकारियोके विरुद्ध व्यक्ति की स्वाधीनताकी रक्षा केवल विधान-राज्य ही कर सकता है। श्री डाइसीके समय फ्रास के विशिष्ट प्रशासकीय न्यायालयो (Special Administrative Court) के सम्बन्धमें जितना कुछ मालूम हो सकता था उससे अधिक निकट ज्ञानके बल पर अब विचारकोको इस बात पर विश्वास हो गया है कि प्रशासकीय न्यायालयो और प्रशासकीय विधानका अर्थ अनिवार्यत मनमाना विधान नही है। इस प्रचलित विश्वासका कोई ठोस आधार नही है कि प्रशासकीय न्यायालयोमें अधिकारियोंकी कृपा-प्राप्ति अथवा प्रशासकीय सुविधाके विचारसे उल्टा न्याय किया जाता है। प्रशासकीय न्यायालयोके न्यायाधीश न केवल विधानके पडित होते है वल्कि उन्हें पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव भी होता है, और इसलिए, जिन मामलोमें राजकीय पदाधिकारी फसे होते है उनके सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनो ही पक्षो पर विचार करनेमें वह समर्थ होते है। समय बीतनेके साथ-साथ वह सरकार और उसके प्रशासकीय घटको या एजेंटो अर्थात् राजकीय कर्मचारियोके मनमाने और अवैध कार्योके विरुद्ध नागरिकोके रक्षक बन गए हैं।

एक दृष्टिसे प्रशासकीय विधान विधान-राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। फ्रांस जैसे देशमें व्यक्ति राज्य पर मुकदमा चला सकता है और राज्यके अधिकारियों द्वारा उसके साथ यदि अन्याय हुआ है तो उसकी क्षति-पूर्ति करवा सकता है। इसके विपरीत इंगलैंडमें साधारणत व्यक्ति राज्य पर मुक़दमा नहीं चला सकता। उसे उस अधिकारी पर मुकदमा चलाना होता है जो उसके साथ अन्याय करता है और यदि वह अधिकारी दिवालिया है या हर्जाना अदा करनेमें असमर्थ है तो फिर क्षति-पूर्ति भी नहीं हो पाती। जब किसी उच्च पदाधिकारी पर मुकदमा चलाना होता है तब उसके लिए एक अधिकार-प्रार्थना-पत्र (Petition of Right) द्वारा अनुमति प्राप्त करनी होती है, और इस अनुमतिका प्राप्त कर लेना हमेशा आसान काम नहीं होता।

कुछ हालके वर्षोंमें, एक महत्व-पूर्ण बात यह हुई है कि विधान-राज्य (Rule of Law) और प्रशासकीय विधान (Administrative Law) दोनोंमें ऐसे परिवर्तन हुए हैं कि यह एक दूसरेके नजदीक आ गये हैं और इनके पारस्परिक विभेद कम पड़ गये हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इंगलैंडमें स्वास्थ्य तथा श्रम जैसे अनेक प्रशासकीय विभागोंको अर्द्ध-न्यायिक अधिकार प्राप्त है और कुछ मामलोंमें उच्च अधिकारियोंके पास अपील भी नहीं की जा सकती। दूसरी ओर योरोपके देशोंमें प्रशासकीय न्यायालयोंने साक्ष्य (Evidence) या गवाही और निर्णय आदिके सम्बन्धमें एक निश्चित कार्य-विधि (Procedure) को अपना लिया है और अधिक न्याय-संगत बन गये हैं। संसार में ऐसा कोई देश नहीं है जहांके जन-पदाधिकारी अपनी विशेष सुविधाओं और विमुक्तियों (Immunities) या छूटोंके सम्बन्धमें सामान्य जनताके साथ एक ही समान स्तर पर हों। ऐसी स्थितिमें फ्रांसीसियोंके इस दृष्टिकोणको स्पष्ट रूपमें स्वीकार कर लेना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि कर्त्तव्य पालनकी स्थितिमें व्यक्तिगत नागरिकोंके साथ एक जन-पदाधिकारीका जो सम्बन्ध होता है वह नागरिकोंके पारस्परिक सम्बन्धोंकी अपेक्षा एक बिलकुल भिन्न कोटिका होता है। यह कथन एक अंग्रेज लेखक श्री सी० के० एलेन (C. K Allen) का है। 'फ्रांसमें प्रजाको राज्यके विरुद्ध जो प्रतिकार (Remedies) प्राप्त हैं वह आज इंगलैंडमें प्राप्त प्रतिकारोंकी अपेक्षा अधिक आसान, शीघ्र साध्य और बहुत अधिक सस्ते हैं।' यह कथन विधानवादियोंके लिए एक सूत्र और फ्रांसीसी प्रजातन्त्रके लिए एक ढाल बन गया है कि राज्य-परिषद् (Counseild' Etat) जनता और नौकरशाहीके बीच एक निरोधक निवारक शक्ति बन गयी है।

पहले फ्रांसकी राज्य-परिषद्का सभापति न्याय-मन्त्री होता था, पर अब इस सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालयका सभापति राजनीतिसे मुक्त एक तटस्थ व्यक्ति होता है। एक आधुनिक लेखकका कहना है कि परिषद्की स्थिति कुछ दृष्टियोंसे भारतके जन-सेवा-आयोग (Public Service Commission) की सी है जिसका काम पौर-अधि-सेवकोंके लिए नियम बनाना, उनकी तकलीफोंकी जांच करना और उनकी शिकायतोंकी सुनवाई करना है। राज्य-परिषद् इससे अधिक और काम यह करती है कि जो प्रत्यादेश या नियम व्यवस्थापिका द्वारा बनाए हुए नहीं होते उनका न्यायिक पर्यालोचन करती है।

(३) संघात्मक संविधानोंमें न्यायपालिकाका एक महत्त्व-पूर्ण कार्य होता है संविधान की व्याख्या करना और ऐसे कानूनोंको अमान्य घोषित करना जो संविधानसे मेल नहीं खाते। यह बिलकुल ठीक कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें चार प्रकारके क़ानून

विवाद-मुक्त न्याय-क्षेत्र (Non-Contentious Jurisdiction) का प्रयोग करते हैं।

अमेरिका की सघीय न्याय-व्यवस्थामें जिला-अदालतें, चक्रमी पुनर्विचारालय (Circuit Courts of Appeal) या दौरा-अपील अदालतें और सर्वोच्च न्यायालय सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त अनेक विशेष अदालतें भी रहती हैं। सर्वोच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश और आठ सहयोगी न्यायाधीश होते हैं। ६ सदस्योंका कोरम होता है। सर्वोच्च न्यायालयके मूल न्याय क्षेत्रका निर्धारण सविधान द्वारा हुआ है और इसमें वही मामले आते है जिनमें वादी-प्रतिवादी-रूपमें राजदूत या राज्य होते है। सर्वोच्च न्यायालयके पुनर्विचार न्याय-क्षेत्रका निर्धारण प्रधानत सविधि (Statute) द्वारा होता है और निम्नलिखित मुकदमें इसकी परिधिमें आते है राज्य न्यायालयोंके यह सब मुकदमें जिनमें व्यवस्थापित विधान और सघीय विधानके बीच झगडा हो, वह सब मुकदमें जिनमें राज्य-विधान और सघीय विधानमें सघर्षका प्रश्न हो, वह सब मामले जिनमें सघीय सविधान अथवा सन्धि या किसी भी सघीय विधानकी व्याख्याका प्रश्न हो, वह मामले जिनमें किसी राज्य-सविधान और सघीय सविधानके बीच सघर्ष हो और वह सब मामले जिनमें चक्रमी पुनर्विचारालयके निर्णय अन्तिम रूपसे मान्य नही होते (५८० दूसरा भाग ३०१)।' कुछ दूसरे प्रकारकी अपीलें भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्वीकार की जाती हे, पर उनके सम्बन्धमें अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नही है। इगलैडमें न्यायाधीशोंको सविधानकी व्याख्या करनेके लिए कभी नही कहा जाता पर अमेरिकामें अक्सर उन्हें ऐसा करना पडता है। उन्हें स्वय कानूनोकी वैधता पर निर्णय देनेका अधिकार है, और इस प्रकार, वह यथार्थत सविधानके सरक्षक है। उनकी नियुक्ति राष्ट्रपतिके हाथो होती है और अनुषद (Senate) की स्वीकृति उसके लिए आवश्यक होती है। एक बार नियुक्त हो जाने पर वह आजीवन पद पर बने रहते है क्योंकि वहा अवसर ग्रहण या सेवा-निवृत्ति (Retirement) के लिए कोई निश्चित अवस्थाका विधान नही है। प्राभियोग (Impeachment) द्वारा ही उन्हें उनके पदसे पृथक किया जा सकता है।

'सघ-विधानकी भाति सघ-न्यायालय भी व्यक्तिगत नागरिको पर सीधे सीधे लागू होता है (५८ ३०७)।' इसके विपरीत स्विटजरलैंडमें कार्यकारिणी-समिति द्वारा बनाये गये क़ानूनो और आज्ञप्तियोंको कार्यान्वित करनेका उत्तरदायित्व प्रादेशिक प्रशासको और न्यायालयो पर छोड दिया जाता है।

'राज्य-न्यायालय (State Courts) और सघ न्यायालय (Federal Courts) एक दूसरेसे बिल्कुल पृथक् रहते हैं। इनके बीच न्याय-शासनका बटवारा बिल्कुल स्पष्ट और पूर्ण रूपसे है। प्रत्येक राज्यकी अपनी एक न्यायालयोंकी शृखला है। इन न्यायालयोसे सघ-न्यायालयोंको पुनर्विचारके लिए प्रार्थना तभी हो सकती है जब मुक़दमे में स घ-विधानसे कुछ सम्बन्ध हो या मुकदमेका कोई एक पक्ष किसी भिन्न राज्य का नागरिक हो (५८ ३०८)।'

इगलैडके न्यायालयोमें केन्द्रीय और स्थानीय न्यायालय सम्मिलित है। केन्द्रीय न्याया-लय लन्दनमें स्थित हैं और स्थानीय न्यायालय देश भरमें फैले है जैसे ग्रामीण क्षेत्रोके न्यायालय, अकालमृत्यु-परीक्षकोंके न्यायालय (Coroner's Courts), माप-आदेशक

न्यायालय (Assizes) और शिविर-न्यायालय (Quarter Sessions) आदि। लन्दन के उच्च-न्यायालय में २५ न्यायाधीश बैठते है। यह एक ही निकाय (Body) के रूपमें काम नही करता बल्कि तीन शाखाओमें विभक्त है राज न्यायपीठ (The King's Bench), धनागारी न्यायालय (Court of Chancery) और मृत-लेख या वसीयत, विवाह-विच्छेद या तलाक तथा नौसेना सम्बन्धी न्यायालय। इन न्यायालयोको मौलिक और पुनर्विचार सम्बन्धी दोनो ही न्याय क्षेत्र प्राप्त है। 'पुनर्विचारालयका काम इगलैड भरके नागरिकोकी उन अपीलोकी सुनवाई करना है जिनके मुकदमो पर अधीनस्थ छोटी अदालतो द्वारा पहले विचार हो चुका होता है।' सचिव-परिषद् (Privy Council) की न्याय समिति (Judicial Committee) साम्राज्यके विभिन्न भागोसे आने वाली अपीलोकी सुनवाई करती है।

स्थानीय न्याय-प्रशासनके लिए इगलैड आठ मडलोमें विभाजित है और यह आठ मडल कई ताल्लुकोमें बटे हुए है। अनारोप्य (Non-Indictable) या छोटे-छोटे अपराधोमें सरसरी तौरसे न्याय-क्षेत्रका विचार किया जाता है। ऐसे अपराधोमें न्याय-सभ्यो (Juries) द्वारा सुनवाई नही होती। इन अदालतोका प्रधान एक अवैतनिक शान्ति-न्यायाधीश होता है। उसका सहायक एक विधान-वेत्ता लेखक (Clerk) होता है। आरोप्य (Indictable) अपराधोकी सुनवाई माप-प्रादेशक न्यायालयो और शिविर न्यायालयो द्वारा होती है इसमें न्याय-सभ्य (Jury) न्यायाधीशके पूरक-रूप में काम करते है। किसी भी अपराधीको दड देनेसे पहले अपराधके दृढ प्रमाणकी आवश्यकता होती है।

फौजदारी मामलोमें वादीका स्थान स्वय राज्य ग्रहण करता है पर दीवानी मामलो में वादी और प्रतिवादी दोनो ही अपने व्यक्तिगत रूपमें उपस्थित होते है। दौरा-अदालतें अथवा माप-आदेशक न्यायालय दीवानी मुकदमोकी भी सुनाई करते है पर उनकी कार्य-विधि और अदालत-भवन भिन्न होते है।

फ्रासमें साधारण अदालतो और प्रशासकीय अदालतोकी सहअस्तित्वी प्रभुता चलती है। उन्हे मौलिक और पुनरावेदन सम्बन्धी न्याय-क्षेत्र प्राप्त है। राज्य-परिषद् वहाका सर्वोच्च प्रशासकीय न्यायालय है, उसके नीचे अधिकारी परिषदें होती है जो 'उन मामलो की सुनवाई करती है जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष कर-निर्धारणसे और नागरिकोके साथ निम्न कोटिके अधिकारियोके व्यवहारसे रहता है (३५ २५९)।' प्रशासकीय न्यायालय निर्वाचन-सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रोकी भी सुनवाई करते है। सामान्य विधान सम्बन्धी फ्रास के उच्च न्यायालयको सर्वोपरि न्यायालय (Court of Cassation) कहते है। यह पुनरावेदन सम्बन्धी सर्वोच्च न्यायालय है और उन सभी फैसलोको रद्द भी करता है जो देशके विधानके प्रतिकूल होते है। सामान्य न्यायालय और प्रशासकीय न्यायालयके न्याय-क्षेत्र-सम्बन्धी विवादोकी सुनवाई और उनका निर्णय विरोध-शामक न्यायालय (Court of Conflicts) करता है। फ्रासके ताल्लुकोमें काम करने वाले शान्ति-न्यायाधीश अपने निर्णय देनेकी अपेक्षा लोगोमें परस्पर शान्ति-पूर्ण समझौता करानेमें ही अधिक व्यस्त रहते है।

स्विटजरलैडकी सघ-न्यायपालिकाको उतना महत्त्व-पूर्ण स्थान नही प्राप्त है जितना अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालयको प्राप्त है। उसे केवल ताल्लुकोकी सविधियो

(Statutes) और सविधानोका न्यायिक प्रत्यालोचन करनेका अधिकार प्राप्त है, सघ-सविधियो और सघ-सविधानके प्रत्यालोचन करनेका नही। वह तालुकोको सघ-सविधान और सघ-सविधियोका पालन करनेके लिए विवश कर सकती है पर तालुकोके नागरिको को विवश नही कर सकती। इन नागरिको तक उसकी पहुच उस प्रदेशके प्रशासनके माध्यम से ही हो सकती है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की भाति स्विटजरलैडमें सघ-न्यायालयो की कोई शृखला नही है, केवल एक सघ-न्यायालय है जो लॉसेन (Lausanne) में स्थित है और जिसमें २४ न्यायाधीश बैठते है।

कनाडा और आस्ट्रेलिया में सघ-न्यायपालिका और प्रान्तीय अथवा राज्य-न्यायपालिकाके बीच कोई भेद नही है। वहा न्यायपालिकाकी केवल एक ही व्यवस्था है जो सघ-सरकारके अधीन है। उसे न्यायिक प्रत्यालोचनका कोई अधिकार नही है जैसा कि अमेरिका में प्राप्त है। 'अगीभूत राज्यो अथवा प्रान्तोके बीच होने वाले झगडोमें उसे मौलिक न्याय-क्षेत्र प्राप्त है, और राज्यो अथवा प्रान्तोमें स्थापित अधीनस्थ न्यायालयों से आने वाले मुक़दमोके सम्बन्धमें पुनरावेदन सम्बन्धी न्याय-क्षेत्र प्राप्त है तथा आश्रित विधान-निर्माता निकायो अर्थात् कानून बनाने वाली सस्थाओ द्वारा पास किये गये कानूनों का न्यायिक प्रत्यालोचन करनेका अधिकार प्राप्त है (६५ ३६१)।' १६३१ में वेस्टमिन्स्टर-सविधि (Statute of Westminster) पास होनेके बादसे कोई भी उपनिवेश औपनिवेशिक न्यायालयोके निर्णयोके विरुद्ध सवित्-परिषद् (Privy Council) में पुनरावेदनकी आज्ञा नही देता। विधान-राज्य, न्याय-सभ्य-प्रथा (Jury System) और अवैतनिक न्यायाधीशोकी प्रथा समेत अग्रेजी न्याय-पद्धतिको आवश्यक सशोधनो, परिवर्तनोके साथ भारतमें भी लागू किया गया था। भारतके उच्च न्यायालयो (High Courts) को वही अधिकार और कर्त्तव्य नही प्राप्त हैं जो इगलैडके उच्च न्यायालयको प्राप्त है। इगलैडके सवित्-परिषद्की न्याय-समिति भारत के लिए भी सर्वोच्च न्याय सम्बन्धी अधिकार-सत्ता थी और उच्च न्यायालयके विरुद्ध अनेक प्रकारके पुनरावेदन इस समितिके सम्मुख उपस्थित करनेकी आज्ञा थी। भारत के एक जिलेका राजस्व-समाहर्ता (Collector) साथ ही साथ जिलेका दड-नायक या विषयपति (Magistrate) भी होता था। अपने इस पद पर वह जिलेकी शान्ति और व्यवस्था तथा दडाधिकार क्षेत्र (Criminal Jurisdiction) की प्रतिष्ठाके लिए उत्तरदायी होता था। वह अपने अधीन न्यायाधिकरणके प्रशासकीय नियत्रणके लिए भी उत्तरदायी होता था। वह फौजदारी मुकदमोकी सुनवाई बहुत कम करता था पर इस बातका उत्तरदायित्व उस पर था कि जो न्यायाधीश इन मुक़दमोकी सुनवाई करें वह अपना काम ठीक ढगसे करें।

जिलेके प्रत्येक विभागमें काम करने वाले उप-जिलाधीश (Sub divisional Magistrate) प्राय ऐसे सभी महत्त्व-पूर्ण मामलोकी सुनवाई करते थे जिन्हें इतना गम्भीर नही समझा जाता था कि उन्हें सत्र-न्यायालय (Court of Sessions) भेजना आवश्यक हो। अपने प्रशासकीय नियत्रणमें काम करने वाले अवर दड नायको (Subordinate Magistrates) के विरुद्ध पुनरावेदनोकी भी सुनवाई वह करते थे। स्वय उसके निर्णयोके विरुद्ध पुनरावेदन सत्र-न्यायालयमें हो सकता था।

तहसीलदारको भी दड-नायकके अधिकार प्राप्त थे पर वह उनका उपयोग बहुत कम करता था। अवर दड-नायक हर तालुकेमें ऐसे फौजदारी मामलोकी सुनवाई करता था

जो न तो इतने गम्भीर होते थे कि उन्हें उप-जिलाधीशके पास भेजा जाना आवश्यक होता और न इतने मामूली होते थे कि गावकी अदालतमें ही उनकी सुनवाई हो सकती। जहा कही उप-तहसीलदार होता था वहा वह ऐसे मामलोकी सुनवाई करता था जिनकी सुनवाई अन्यथा स्थितिमें अवर दड-नायक तहसीलदारके प्रधान कार्य-केन्द्रमें करता।

प्रातमें दीवानी तथा फौजदारी न्याय-क्षेत्रके लिए उच्च न्यायालय (High Courts) सर्वोच्च न्यायालय होता था। उच्च न्यायालयके अधीन जिलोके न्यायाधीश और सत्र न्यायाधीश (Session's Judge) होते थे जो दीवानी और फौजदारी मामलो की सुनवाई करते थे। अधीनस्थ अथवा अवर न्यायाधीशो (Subordinate Judges) का न्याय-क्षेत्र मूल-वादो (Original Suits) और दीवानी कार्यवाहियो तक सीमित था। साधारणत. उन्हें पुनरावेदनका न्याय-क्षेत्र नही प्राप्त था। दीवानी शाखामें अवर न्यायाधीशके पदसे नीचे जिलेके मुसिफ और गावके मुसिफ होते थे। छोटे-छोटे मुकदमोकी सुनवाई सरकारी तौर पर जिला-मुसिफ और अवर न्यायाधीश करते थे, यद्यपि उच्च न्यायालयको प्रत्यालोचनका अधिकार प्राप्त था।

कुछ समय बाद एक सघ-न्यायालयकी स्थापना हुई जिसका न्याय-क्षेत्र सीमित था। उस समय दीवानी मुकदमोके सम्बन्धमें सवित्-परिषद् (Privy Council) को जो अधिकार प्राप्त थे उनमेंसे कुछ अधिकार सघ-न्यायालयको सौपे जानेकी व्यवस्था की गयी।

अग्रेजी न्याय-पद्धतिसे एक विभेद यह किया गया कि भारतमें यदि राज्य किसी व्यक्तिगत नागरिककी सम्पत्तिका अतिक्रमण करता या किसी नागरिकके साथ कोई अनुबन्ध करता तो सम्राट्के विरुद्ध साधारण तरीकेमे ही एक नियमित मुकदमा चालू किया जा सकता था। पर इसके विपरीत इगलैडमें जिस किसीको क्षति पहुची हो उसे अधिकार-प्रार्थना-पत्र (Petition of Right) के माध्यमसे आगे बढना होता था, और प्रार्थना-पत्र अधिपतिकी सद्भावनाके प्रति आवेदन-मात्र है। भारतमें जो अंतर किया गया उसका कारण यह था कि चूकि सरकार ईस्ट इंडिया कम्पनीकी उत्तराधिकारी थी इसलिए कम्पनीके दायित्वको वर्तमान वैधानिक व्यवस्थामें कायम रखा गया।

न्यायपालिकाके सगठनकी विवेचना तब तक पूरी नही हो सकती जब तक कि न्याय की कार्यवाहीमें साधारणजनके दायित्वकी भी चर्चा न की जाय। छोटे-छोटे मामलोकी सुनवाईके लिए अविशेषज्ञ साधारण लोगोको थोडी अवधिके लिए अवैतनिक न्यायाधीशके पद पर नियुक्त किया जाता है। इगलैडमें यह काम शान्ति-न्यायाधीश (Justices of the Peace) करते है और भारतमें अवैतनिक दंड-नायक। सम्यक् रूपसे यह व्यवस्था सतोषजनक रूपसे काम नही कर सकी। नियत्रणोमें एकरूपताका अभाव रहता है। इगलैड में 'शान्ति-न्यायाधीशोका न्याय' अव्यवस्थित होता है और एकरूप नही होता। दूसरी ओर इस व्यवस्थासे सम्पन्न लोगोको, जिनके पास पर्याप्त समय है, राजनैतिक शिक्षा और सामाजिक सेवाका अवसर मिलता है, यद्यपि इस बातकी सम्भावना है कि उन्हें जो अधिकार दिया जाय उसका दुरुपयोग हो।

अवैतनिक दड-नायकोंसे मिलती-जुलती व्यवस्था न्याय-सभ्यो (Juries) की है जो अनेक देशोमें प्रचलित है। इसका उद्देश्य यह है कि न्यायाधीशको मुकदमोंके तथ्योंको समझनेमें सहायता मिले। इस व्यवस्थाकी उत्पत्ति इगलैडमें हुई थी और अनेक देशोने

इसे अपना लिया। इस व्यवस्थाके समर्थनमें यह कहा जाता है कि इससे घूसखोरी और न्यायाधीशको प्रभावित करनेवाले अन्य भ्रष्ट उद्देश्यों और उपायों पर एक रोक लग जाती है। नागरिक कर्त्तव्यों और दायित्वोंकी शिक्षाका महत्त्व-पूर्ण साधन भी इसे बताया जाता है। यह कहा जाता है कि अपनी निरपेक्ष भावना और अपने व्यावहारिक ज्ञानके प्रयोगसे न्याय-सभ्य मुकदमेके तथ्योंको ठीक-ठीक समझनेमें न्यायाधीशको सहायता दे सकते हैं।

पर व्यावहारिक क्षेत्रमें न्याय सभ्य प्रथा (Jury System) बहुत अधिक सफल नहीं हुई। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें एक सच्चे न्यायाधीशको पक्षपात और राग-द्वेप-पूर्ण न्याय सभ्य (Jury) से बाधा ही पड़ी है। इस दोषके कुख्यात उदाहरण वह मुकदमे हैं जिनमें अमेरिका के नीग्रो लोगों पर लगाये गये अभियोगोंकी सुनवाई केवल श्वेताग न्याय-सभ्योंके सामने हुई है। जब कोई मुकदमा कई दिनों या सप्ताहों तक लगातार चलता है तब अवैतनिक न्याय-सभ्य अपना समय देनेमें सकोच करते हैं। जिन मामलोंमें प्राविधिक तथ्यों (Technical issues) पर विचार करना होता है उनमें न्याय-सभ्य बिल्कुल ही व्यर्थ होते हैं।

हिन्दुस्तानमें न्याय-सभ्य प्रथा १८६१ ई० में प्रचलित हुई थी। अनेक वर्षों तक इसका परीक्षण होनेके बाद भी यह कहना पड़ेगा कि इसमें सफलताकी अपेक्षा असफलता ही अधिक हुई है।

एक और पद्धति है निर्देशकों या न्यायाधीश सहायकों (Assessors) की जिसका औचित्य न्याय-सभ्योंकी अपेक्षा भी बहुत कम है। भारत की फौजदारी अदालतों में निर्देशोंकी प्रथासे कोई भी उपयोगी उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सका। जैसा कि एक प्रसिद्ध न्याय शास्त्रीने कहा है 'न्यायाधीश-सहायक अपने पद पर रहनेके इच्छुक नहीं हैं और न्यायाधीश उन्हें अपने सहायक रखनेके इच्छुक नहीं हैं।'

५ न्यायाधीशोंकी नियुक्ति, कार्यावधि और अपनयन (Appointment, Tenure & Removal of Judges)

न्यायाधीशोंकी नियुक्तिके तीन प्रधान ढंग हैं, अर्थात् (१) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन, (२) जनता द्वारा निर्वाचन, (३) कार्यपालिका द्वारा स्वय नियुक्ति अथवा कुछ प्रतिबन्धोंके अनुसार जैसे न्यायालयों द्वारा प्रस्तुत की गई एक नामावलीसे नियुक्ति या प्रतियोगीय परीक्षाके आधारपर नियुक्ति या कार्यकारिणी समितिके अनुमोदन से या व्यवस्थापिकाके उपरिसदनकी स्वीकृतिसे नियुक्ति।

(१) व्यवस्थापिका द्वारा नियुक्तिका प्रचलन स्विटजरलैंड में है। सघ न्यायालयके न्यायाधीश, जिनकी सख्या २४ हैं, व्यवस्थापिकाके दोनों सदनोंके सम्मिलित अधिवेशनमें ६ वर्षके कार्य-कालके लिए निर्वाचित होते हैं। उनका निर्वाचन चाहे जितनी बार हो सकता है। अमेरिका में क्रान्तिके कुछ वर्षों बाद तक यही प्रथा प्रचलित थी। तब से चार राज्योंको छोड़कर शेष सभी राज्योंने इस व्यवस्था को त्याग दिया है। इस व्यवस्था की बुराइयां यह हैं कि न्यायपालिका अनुचित रूपसे व्यवस्थापिका पर आश्रित हो जाती है और नियुक्तियां राजनैतिक दलोंकी गुप्त समितियों द्वारा होती हैं। नियुक्तियोंमें प्राविधिक योग्यताओं (Technical qualifications) की अपेक्षा राजनैतिक और भौगोलिक तथ्योंको अधिक महत्त्व दिया जाने लगता है। इन सब बुराइयोंके बावजूद भी, जो विशेष रूपसे अमेरिका पर लागू होते हैं, स्विटजरलैंड में यह व्यवस्था सफलतापूर्वक काम करती

आ रही है, इसका कारण यह है कि वहा व्यवस्थापिकाका आकार छोटा है और राजनीतिमें अपेक्षाकृत रूपसे दलबन्दीकी कमी है।

(२) **जनता द्वारा निर्वाचन.** सबसे पहले इस प्रथाका प्रचलन १७६० ई० में फ्रासमें हुआ था। १७९३ ई० में इसका बहुत दुरुपयोग हुआ जब पत्थर काटने वालो, क्लर्कों, मालियो और साधारण मजदूरोको न्यायाधीशोके पद पर चुना गया। जहा तक फ्रासका सम्बन्ध था नैपोलियन ने इस प्रथाको समाप्त कर दिया।

आजकल यह प्रथा स्विटजरलैडके कुछ ताल्लुको और अमेरिकाके कई एक राज्योमें प्रचलित है। सुयोग्य और कुशल न्यायाधीशोको प्राप्त करनेका यह सबसे बुरा तरीका है। जिन न्यायाधीशोकी नियुक्ति जनता द्वारा होती है उनमें स्वाधीनता और वैधानिक ज्ञान के अभावकी आशका है। जनताके पास इतना विवेक और ज्ञान नही है कि वह कुशल न्यायाधीशोका निर्वाचन कर सके। जब न्यायाधीशोको दुबारा चुनाव लडनेका अवसर दिया जाता है तब तो यह व्यवस्था अत्यन्त बुरी हो जाती है। जनताका वोट पानेके लिए न्यायाधीश ऐसे निर्णय देते है जिनसे जनता प्रसन्न हो। समर्थ और निरपेक्ष-न्यायाधीश प्राय पराजित होते है। इस व्यवस्थाकी निन्दा करते हुए श्री गार्नर (Garner) लिखते है 'इससे न्यायपालिकाकी प्रतिष्ठाको बट्टा लगता है—उसका चारित्रिक पतन होता है, न्यायाधीशको यह व्यवस्था एक राजनीतिज्ञ बनानेका प्रयत्न करती है और न्याय-बुद्धि पर कुछ ऐसे दबाव डालती है, जिनका विरोध वह हमेशा कर नही पाती (७९५:९६)।'

इस व्यवस्थाकी बुराइयोको सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अशत समाप्त कर दिया गया है। यह कार्य इस प्रकार हुआ है कि दलबन्दीसे मुक्त प्रायमिक सभाए उम्मीदवारोको नामजद करती है और वकीलवर्ग निर्वाचकोके पास उपयुक्त उम्मीदवारोका समर्थन करके भेजता है।

(३) **कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति** यह व्यवस्था सर्वोत्तम जान पडती है। इगलैड ब्रिटिश उपनिवेशो, अमेरिका के सघ-शासन और उसके ६ राज्योमें यह प्रथा प्रचलित है। यद्यपि चुनावमें राजनैतिक बातोका भी ध्यान रखा जाता है पर एक बार नियुक्त हो जानेके बाद न्यायाधीश स्वतत्र रहते है और कार्यपालिकाका कोई प्रभाव उन पर नही आता है। फ्रानमें कार्यपालिकाको स्वतत्रता-पूर्वक काम नही करने दिया जाता। निचले स्तर पर खाली जगहोंको भरनेके लिए प्रतियोगीय परीक्षा होती है और वहासे पदोन्नति प्राथमिकताके आधार पर की जाती है। इगलैड और अमेरिकामें न्यायालयोमें काम करने वाले वकील लोग प्राय न्यायाधीशोके पदके लिए चुने जाते है।

अन्तिम रूपमें कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति ही सर्वोत्तम पद्धति है। नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियोकी योग्यताकी परख व्यवस्थापिका अथवा जनताकी अपेक्षा कार्यपालिका अधिक अच्छे ढगसे कर सकती है। इस व्यवस्थासे न्यायपालिकाकी स्वतत्रता सुरक्षित रहती है क्योकि न्यायाधीशोकी कार्यावधि उनके सद्व्यवहार पर निर्भर रहती है। फ्रासमें यह शिकायत की जाती है कि न्याय-मत्री नियुक्तियाँ करनेमें प्राय प्रतिनिधियो द्वारा प्रभावित रहता है। यह और ऐसी ही अन्य त्रुटियोको दूर करनेके लिए कुछ लोगो का यह सुझाव है कि कार्यपालिका एक ऐसी नामावलीसे चुनाव किया करे जो उस अदालत द्वारा तैयारकी जाय जिसमें न्यायाधीशकी नियुक्ति की जाने वाली हो।

न्यायाधीशोकी कार्यावधि. अमेरिका की सरकारोमें अल्पकालीन पदावधि साधारणत प्रचलित है। कार्य-काल २ से २१ वर्ष तक भिन्न-भिन्न अवधिके होते है।

दूसरोकी भलाईकी भावनाए भिन्न-भिन्न मात्राओमें विराजमान रहती है। श्री हेनरी ड्रमन्ड (Henry Drummond) के शब्दोमें व्यक्तिके भीतर न केवल अपनी सत्ता और स्थितिके लिए एक सघर्ष चला करता है बल्कि दूसरोकी सत्ता और स्थितिके लिए भी सघर्ष चलता रहता है। इसलिए मनुष्य-स्वभावके केवल एक ही पहलूके आधार पर, बिना दूसरे पहलूका ध्यान किए हुए, कोई मनोवैज्ञानिक या नैतिक सिद्धान्त बनाना बहुत गलत बात है। श्री बेन्थम (Bentham) इस समस्याको टाल जाते है। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी होता है पर स्वय उनके सम्बन्धमें स्वार्थका रूप परार्थ होता है। शुद्ध परमार्थ या परोपकारवाद मनुष्यके लिए सम्भव है।

सुखवादीकी दृष्टिमें सुख इन्द्रिय-जन्य सतोष तक ही सीमित है। जैसा श्री जेम्स सेठ (James Seth) कहते है इन्द्रिय-चेतना मनुष्यके जीवनमे एक व्यापक और महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है पर वही अन्तिम और विशिष्ट तत्त्व नही है। मनुष्य भाव-मात्र नही है। उसमें तर्कका तत्त्व भी है। 'जीवनका सुखवादी सिद्धान्त बहुत ही सरल और स्पष्ट मालूम होता है पर यह सरलता और स्पष्टता उसे दृष्टिकोणकी गहराई और व्यापकताको खोकर मिली है। इसका सूत्र आवश्यकतासे अधिक सरल है ('७१ ११५)।' इसी लेखकके शब्दोंमें सुखवाद भलाई या कल्याणके प्रकार या गुण-मूलक व्याख्या नही कर सकता। वह केवल उसके परिमाण-मूलक स्वरूपको ही देखता है। वह केवल 'अधिक' और 'कम' का विभेद कर सकता है, उसमें 'उच्चतर' और 'निम्नतर' के लिए कोई स्थान नही है। वह सबसे अधिक कल्याणकी ओर सकेत करता है, पर सबसे उच्च कल्याणके लिए नही।

उपर्युक्त आलोचनाओके होते हुए भी हम यह नही भूल सकते कि उपयोगितावाद मनुष्यकी परमार्थ-मूलक भावनाओको भी सबल रूपसे आकृष्ट करनेका दावा करता है। पर हमारी धारणा यह है कि ऐसा करनेमें वह स्वय अपना विरोध करता है। विश्ववादी सुखवाद एक आत्मविरोधी बात है। जो बात विश्ववादी होगी वह सुखवादी नही हो सकती, और विपर्यय रूपमें जो सुखवादी होगी वह विश्ववादी नही हो सकती। सुख स्वभावत व्यक्तिवादी है। इसलिए सार्वजनिक सुखकी बात करना और उससे सार्वजनिक सन्तोषका अर्थ निकालना, जैसा कि उपयोगितावादी करते है, एक व्यर्थकी बात है। 'क' को यह बात मालूम है कि उसे किस चीजसे सुख सन्तोष मिला है और 'ख' को मालूम है कि उसे कौन सी चीज आनन्द देती है पर 'क' और 'ख' में से किसीको भी यह पता नही कि सार्वजनिक सुख क्या वस्तु है। हम दूसरेके सुख-दुखसे सहानुभूति रख सकते है पर हम स्वय उसका अनुभव नहीं कर सकते, हम उसकी भावानुभूति नही कर सकते। सुख एक और अर्थमें व्यक्तिवादी होता है, व्यक्ति स्वय ही अपने सुखका निर्णायक हो सकता है, कोई चीज उसे सुख देती है या नही देती यह केवल वही बता सकता है पर उपयोगितावादियोका नैतिक मापदड है सार्वजनिक सुख। हमारी धारणा यह है कि सुखके लक्ष्यके सार्वजनिक सुखमें परिणत होनेमें कोई तर्क नही दिखाई देता।

इस प्रकार अपने सिद्धान्तका विकास करते हुए उपयोगितावादीको इस विरोधका सामना करना पडा कि व्यक्ति समूचे समाजके सुखकी उन्नति क्यो करे? श्री जे० एस० मिल (J S Mill) ने इसका उत्तर यो दिया है कि व्यक्तिका सुख दूसरोके सुखके साथ जुडा हुआ है—जैसे माता-पिता और बच्चोका सुख। मिल का तर्क यह है कि चूकि हमारे तमाम सुख दूसरोंके सुखके साथ घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है इसलिए हमेशा व्यक्ति

पर ही जोर देना जरूरी नही है। पर बेन्थम का उत्तर इससे भिन्न है। वह इस बातको स्वीकार करते है कि व्यक्ति प्राय समुदायको हानि पहुचा कर सुख पानेकी कोशिश करता है। पर श्री बेन्थम सार्वजनिक सुखके लिए इतने उतावले है कि वह समुदायके सुखकी उन्नतिके लिए व्यक्तिको कमसे कम कभी-कभी अपने सुखका बलिदान करनेके लिए बाध्य करनेके पक्षपाती है और इसके लिए वह अनुज्ञप्ति (Sanctions) के सिद्धान्तका सहारा लेते है। यह अनुज्ञप्तिया ४ है : शारीरिक, राजनैतिक (अथवा देशका विधान), नैतिक (अथवा जनमतका दवाव) और धार्मिक।

यद्यपि एक नैतिक सिद्धान्तके रूपमें उपयोगितावाद त्रुटि-पूर्ण है, फिर भी व्यावहारिक राजनीतिमें अनेक महत्त्व-पूर्ण सुधार करनेमें वह सहायक हुआ है। इस ऊपरी अन्त-विरोधका कारण क्या है? इसका उत्तर इस तथ्यमें मिलता है कि उपयोगितावादी जब कभी नैतिक क्षेत्रको छोड कर राजनीतिके क्षेत्रमें आता है तभी वह कलाबाजी खाता है। एक नैतिक विचारकके रूपमें उपयोगितावादी सार्वजनिक सुखकी व्याख्या सार्वजनिक आनन्द के रूपमें करता है। उसकी दृष्टिमें मनुष्यके व्यवहारका लक्ष्य यह है कि वह यथासम्भव अधिकसे अधिक लोगोको आनन्द देने वाले अधिकसे अधिक काम करे। उसकी धारणा है कि आनन्दमें केवल मात्राका भेद होता है गुणका नही और इसलिए उसकी वृद्धि की जा सकती है। (पर श्री जे० एस० मिल के अनुसार, जो कि उपयोगितावादके अन्धभक्त नही हैं, यह विभेद गुण और मात्रा दोनोका होता है।) इस विचारधाराके नेता श्री बेन्थम के शब्दोमें, 'आनन्दकी मात्रा समान है, और इसलिए लडकोका खेल उतना ही अच्छा है जितनी अच्छी कविता होती है।' आनन्दका निष्कर्ष देनेमें और 'सार्वजनिक सुख' से सार्वजनिक आनन्दका अर्थ निकालनेमें जो कठिनाइया पडती है वह इतनी स्पष्ट है कि उनके सम्बन्धमें कुछ लिखना आवश्यक है। उपयोगितावादी स्वय ही इस निष्फल प्रयासके इच्छुक नही है।

एक राजनैतिक विचारकके रूपमें उपयोगितावादी सार्वजनिक सुखकी व्याख्या बडे ढीले-ढाले ढगसे करते है और उससे सार्वजनिक कल्याण या सामाजिक भलाईका अर्थ निकालते है। वह आनन्द-मूलक भावोकी धारणाको सकीर्ण करते है और उपयोगिता पर ध्यान केन्द्रित करते है। यह स्पष्ट है कि 'सामाजिक कल्याण' और 'उपयोगिता' जैसे शब्द इतने सामान्य और व्यावहारिक स्वरूपके है कि जो कोई भी उन्हें अपने राजनैतिक कार्य-क्रमका आधार बनायेगा उससे बरबस काफी भलाई हो जायगी। इस प्रकार हम देखते है कि उपयोगितावादियो द्वारा की गई उनके लक्ष्यकी व्याख्यामें ही असगति है और व्यावहारिक राजनीतिमें जो गडबडी उन्होने की है उसका कारण यही असगति है। उनका राजनैतिक सिद्धान्त एक राज्य सिद्धान्तकी अपेक्षा शासन-सिद्धान्त ही अधिक था।

यदि उपयोगितावादकी आलोचना करनी हो तो श्री हैलोवेल के साथ हम यह कह सकते है कि अधिकतम लोगोके अधिकतम सुखके लिए अल्पसख्यकोके समाहार-शिविरो (Concentration Camps) या बन्दी-शिविरोको भी उचित ठहराया जा सकता है। इसी प्रकार निरकुशता और दासताको भी उचित कहा जा सकता है। श्री हैलोवेल का कहना है कि बेन्थमवाद (Benthamism) 'एक ऐसा उदारतावाद है जो निरकुशता के लिए बहुत ही अनुकूल है (३१ २१७)।' पर श्री बेन्थम ने उपयोगितावादकी व्याख्या इस अर्थमें नही की थी और न कभी वे उपयोगितावादका यह अर्थ निकालते थे।

२ उपयोगितावादका मूल्याकन (१३ अध्याय १) (Appreciation of Utilitarianism)

एक नैतिक सिद्धान्तके रूपमें उपयोगितावादकी आलोचना करनेका यह अर्थ नही है कि राजनीतिके क्षेत्रमें भी हम उसकी उचित प्रशसा न कर सकें। उपयोगितावाद मनुष्य-जातिके कल्याणमें हमारी अभिरुचिका प्रतिनिधित्व करता है। इस अभिरुचिके साथ वह मनुष्य-जीवनकी परिस्थितियोमें तर्क-सगत सिद्धान्तोके आधार पर सुधार करनेके लिए व्यावहारिक प्रयत्नोका सयोग करता है। उसका विश्वास है कि प्रभाव-पूण राजकीय व्यवस्थापन द्वारा जनताके जीवनका स्तर उठाया जा सकता है। सभी उपयोगितावादियो के मनमें सार्वजनिक कल्याणकी भावना रहती है। उन्हें सबसे अधिक और सबसे पहली चिन्ता मानव-जीवन, मानव कार्यकलाप और मानव-कल्याणकी रहती है। निरकुशता और अन्यायके वह प्रबल विरोधी होते हैं और व्यक्तिगत स्वाधीनताके प्रबल समर्थक। वह सभी 'कुटिल' स्वार्थोके विरोधी होते है। इन अर्थोमें उपयोगितावाद निश्चित रूपसे व्यावहारिक सिद्धान्त है। वह सुधारवादी है। उपयोगितावाद मानववादका ही दूसरा नाम है।

प्राय उपयोगितावादकी अनुचित आलोचना यह कह कर की जाती है कि वह एक लाभ-मूलक सिद्धान्त है या सुविधा-मूलक दर्शन है। लाभसे अर्थ है किसी उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि। सामान्य व्यवहारकी भाषामें प्राय इसका अर्थ होता है कोई निम्न कोटिका उद्देश्य या लक्ष्य। उपयोगितावादी मनुष्यकी कल्पना केवल एक व्यक्तिके रूपमें ही नही करते, वह उसे ऐसा व्यक्ति मानते है जो स्वभावत सामाजिक जीव होता है। "उपयोगितावादियोके लिए उपयोगिताका अर्थ है वह चीज जो मानव-स्वभावके सभी तत्त्वोके लिए सबसे अधिक उपादेय या उपयोगी हो, जिससे उसके पूर्ण और चरम कल्याणकी सर्वाधिक सिद्धि हो सके और साथ ही उसके सगी-साथियोके पूर्ण और चरम कल्याणकी भी सिद्धि हो।" उपयोगितावादी सिद्धान्तको व्यक्त करनेके लिए कुछ ऐसे वाक्य-खडोका प्रयोग किया गया है 'अधिकतम लोगोका अधिकतम सुख', 'प्रबुद्ध उदारता (Enlightened Benevolence)', और 'सार्वजनिक सुख (१३ १३)।'

इसी प्रकार उपयोगितावादको कभी-कभी निम्नतम कोटिके भौतिकवादका पर्याय माना गया है। भ्रान्त धारणाओसे बचनेके लिए यह सोचा गया है कि 'उपयोगिता' और 'सुख' के स्थान पर 'भलाई' और 'कल्याण' शब्दोका प्रयोग किया जाय। भलाईके क्षेत्रमें वह सभी तत्त्व आ जाते है जिनसे मनुष्यके सुखका निर्माण होता है। इस सुझावके विरुद्ध केवल एक ही आपत्ति है और वह यह कि इससे उपयोगितावादका जो सुखवादी प्रस्थान-विन्दु है उससे बहुत अन्तर पड जायगा। यदि उपयोगितावादी सुखवादके साथ अपने सम्बन्धको छोडनेको तैयार हो तो उनका सिद्धान्त स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि आदर्श उपयोगितावाद सुखवादको अस्वीकार करता है और आदर्शवाद और उपयोगितावादके सर्वोत्तम तत्त्वोका समन्वय करता है। मानव-व्यक्तित्वके विकासको यह समाजके कल्याणके साथ सम्बद्ध करता है। श्री टी० एच० ग्रीन (T H Green), जिनमें यह प्रवृत्ति दिखलायी देती है और जो कई प्रश्नोमें श्री मिल के ही समान विचार रखते है, यह तर्क करते है कि सुखवादसे प्रारम्भ होने वाले

उपयोगितावादको सामाजिक कल्याणकी कसौटीका कोई अधिकार नही है। 'स्थायी आत्मसन्तोषकी सिद्धिको अपना लक्ष्य बताते हुए श्री ग्रीन उन कठिनाइयोको टाल जाते हैं जो सुखो और कष्टोंके सन्तुलनमे पडती है।' उपयोगितावादके सम्बन्धमें श्री ग्रीन की व्याख्या पर टीका करते हुए श्री डी० जी० रिची (D. G. Ritchie) लिखते हैं 'इस बातका कोई कारण नही दिखलायी देता कि सुखवादके सम्बन्धमें अपनी आपत्तियोको स्पष्ट कर देनेके बाद आदर्शवादी उपयोगितावादियोसे समझौता क्यो न कर लें।' इन्ही लेखकका कहना है कि श्री ग्रीन की नैतिक व्यवस्था वही है जो श्री मिल का उपयोगितावाद है, उसमें एक सुदृढ नींव और एक मानदडकी अधिकता है।

अब उपयोगितावादके सर्वोत्तम स्वरूपकी विवेचना करे। उपयोगितावादीका कहना है कि बिना दूसरोका ख्याल किये हुए स्वतत्र रूपसे सुखकी प्राप्ति नही हो सकती क्योकि व्यक्तिको एक व्यक्ति-मात्र समझना भूल है। उपयोगितावादीका विश्वास है कि व्यक्तिका सुख राज्यके अस्तित्व और सगठन पर आवश्यक रूपसे निर्भर है। परम्पराओ, कानून और व्यवस्थापनको व्यक्तिके सुखकी प्राप्ति और उसके सीमित रखनेमें योग देना चाहिए क्योकि सुख व्यक्तिके स्वार्थ-मूलक सन्तोषका पर्यायवाची-मात्र नही है। उपयोगितावादीका कहना है कि व्यवस्थापकको सबसे अधिक सामान्य जनताका कल्याण ध्यानमें रखना चाहिए। उपयुक्त व्यवस्थापनके निषेधात्मक और आदेशात्मक दो पहलू होते हैं। निषेधात्मक रूपमें उसे उन परिस्थितियोंसे मुक्ति पानी चाहिए जो पतन करने वाली और कष्टकारक होती हैं। आदेशात्मक या धनात्मक रूपसे उसे प्रोत्साहनो-प्रलोभनोकी उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि उपयोगितावादमें आदर्शवादिताकी कमी है। यह आरोप ठीक नही है। 'समाजके भावी उत्थान और मानव-जातिके पुनरुज्जीवनका आदर्श स्वप्न ही उसे (उपयोगितावादीको) उत्साहित और सक्रिय बनाता है और कठिनाइयो तथा असफलताओके सम्मुख उसे स्थिर रखता है (१३ · २६)।' उपयोगितावादीके आदर्श निश्चित रूपसे व्यावहारिक हैं और समूची मानव-जातिके आदर्श है। जिन आदर्शोको उपयोगितावादी अस्वीकार करता है वह या तो अवाछनीय है या अप्राप्त हैं या दोनो ही प्रकारके है। उपयोगितावादी न तो एक धर्मान्ध व्यक्ति होता है और न स्वप्न-दर्शी। उसके पैर हमेशा कठोर भूमि पर रहते हैं—उसका आधार यथार्थमें रहता है।

उपयोगितावादका आधार है अनुभव। अनुभव ही उसकी अन्तिम कसौटी है। परिणाम ही उनके लिए सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण होते है। वह अनुभवको ही ज्ञानका मूल-स्रोत और उद्गम तथा सत्यका अन्तिम मानदड मानता है। वह कल्पना और भाव-सूक्ष्मताका विरोधी है।

इस प्रकार उपयोगितावाद एक अत्यन्त मानवीय और व्यावहारिक दर्शन है। यह कोई नवीन भौतिक सिद्धान्त नही है। 'राजनीतिके क्षेत्रमें प्रवेश करके इसका उद्देश्य अपने आपको राज्यके व्यवस्थापनमें प्रतिमूर्त करना होता है (१३ · २६)।' लोगोंके सक्रिय आन्दोलनो और उनकी अभिरुचियोंके साथ इसका सीधा सम्बन्ध रहता है (१३ : २६)। 'समयने इसमें बहुत कुछ सुधार कर दिए है, समय इससे बहुत आगे बढ गया है और इसके बहुतसे भ्रमको निरसन भी कर दिया है; पर अन्यायका जो तीव्र विरोध उपयोगितावादियोकी विशेषता रही है, दीनो और दलितोके प्रति उनकी निरन्तर सक्रिय

सहानुभूति और मानव-कल्याणके प्रति उनका उत्साह अब भी उनमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान है (१३ २४६-५८)।' उपयोगितावादियोकी अपनी त्रुटिया रही है और उनकी अपनी असफलताए भी रही है, 'पर उनकी दृष्टि सर्वदा भविष्यकी ओर लगी रही है (१३ २४६-५८)।'

३. उपयोगितावादी विचारक.

इगलैंडमें उपयोगितावादके नेता श्री जेरमी बेन्थम थे। वह इस दृष्टिसे बहुत सौभाग्यशाली थे कि उनके पास योग्य और श्रद्धालु लोगोका एक ऐसा दल था जिसने इगलैंडके सामाजिक जीवनके विभिन्न विभागोंमें उपयोगितावादी सिद्धान्तका प्रयोग करनेमें अपने आपको लगा दिया। यह लोग थे श्री जेम्स मिल और उनके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल, इतिहासकार ग्रोटे (Grote), मनोवैज्ञानिक अलेक्जेंडर बेन (Alexander Bain), न्याय-शास्त्री जॉन आस्टिन (John Austin) और अर्थ-शास्त्री रिकार्डो (Ricardo)। आशिक रूपमें एकको छोडकर इनमें से शेष सभी अतिवादी या क्रान्तिकारी, दार्शनिक और व्यवहार-कुशल लोग थे। उनके समयका इगलैंड सामाजिक बुराइयोसे उत्तेजित हो रहा था। इससे उन्हें अपनी 'सुधारकी उत्कठा' को कार्यान्वित करनेका पर्याप्त अवसर मिला।

१. « जेरमी बेन्थम » १७४८ से १८३२ तक जीवित रहे। इन्होने उपयोगितावादी विचारधाराकी नीव डाली और अन्यायोको दूर करने तथा स्थायी सुधार करानेमें इन्होने महत्त्व-पूर्ण भाग लिया। अपने व्यापक, वैधानिक शिक्षण, अपनी स्वस्थ व्यावहारिक बुद्धि और दलित-सताए हुए लोगोंके प्रति अपनी गहरी सहानुभूतिके कारण श्री बेन्थम अपने इस महान् कार्यके लिए बहुत अधिक उपयुक्त थे। उनके सिद्धान्तका केन्द्र-बिन्दु यह है 'प्रकृतिने मनुष्यको दो सर्वसमर्थ अधिपतियोंके अधीन रखा है। यह अधिपति है दुख और सुख। हम जो कुछ भी करते है, जो कुछ भी कहते है, जो कुछ भी सोचते हैं, अपनी अधीनता दूर करनेके लिए हम जो कुछ भी करते है सबसे इसी तथ्यकी पुष्टि होती है, इसीका प्रमाण मिलता है।' उनका कहना है कि उपयोगिताका सिद्धान्त इस अधीनताको स्वीकार करता है क्योकि सुखकी वृद्धि या विरोधकी प्रवृत्तिके अनुरूप ही इनमें सभी कार्योको स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। आगे चलकर वह इस सिद्धान्तको 'सर्वोच्च सुख-सिद्धान्त' कह कर पुकारते है। उनका कहना है कि सुखके बटवारेमें 'प्रत्येककी गणना एक इकाई, अधिक किसीको एक न पाई' के सिद्धान्तका व्यवहार होना चाहिए। दूसरे शब्दोमें व्यक्तियोंके साथ पूर्ण पक्षपात-हीनताका व्यवहार होना चाहिए।[1]

श्री बेन्थम के अनुसार गम्भीरता, अवधि, निश्चय और सम्बन्ध-सामीप्य (Propinquity) की दृष्टिसे सुखोमें अन्तर होता है, पर गुणकी दृष्टिसे सुख एक ही हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी एक सुख या आनन्दको दूसरेकी अपेक्षा 'उत्तम' या 'उच्चतर' नही मान सकते। सुखोका परिणाम-मूलक निष्कर्ष निकालना समान होना चाहिए।' हमें यह सब स्पष्टत अर्थ-हीन मालूम होता है। श्री बेन्थम का व्यावहारिक उद्देश्य यह जान

[1] उन्होंने लिखा था कि 'समाजका हित' 'उस समाजका निर्माण करने वाले विभिन्न सदस्योंके हितोंके पूर्ण योग या निष्कर्ष से' न कुछ कम है और न अधिक।

पड़ता है कि सद्भावना-पूर्ण व्यक्तियोंको, जिसे वह अपना 'वास्तविक सुख' मानते हैं उसी को दूसरोंका भी सुख निर्धारित करनेसे रोका जाय। बेन्थम का सिद्धान्त निस्सन्देह संकुचित और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे गलत है। फिर भी, जैसा कि श्री आइवर ब्राउन (Ivor Brown) ने कहा है, इस सिद्धान्तका 'अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि उच्च स्थितिके जो व्यक्ति अपनी नैतिकता और सुख-सम्बन्धी अपनी धारणाको दूसरों पर इस विश्वासके साथ लादनेका प्रयत्न करते हैं कि उनके अतिरिक्त दूसरे लोग दयनीय, मूर्ख और अज्ञानी है, यह सिद्धान्त उनके इस दावेको अस्वीकार करता है कि वह अभ्रान्त है और कभी कोई भूल कर ही नहीं सकते (६:९६)।' 'अपनी रूक्षता और अधूरेपनसे मुक्त होकर बेन्थमवाद शुद्ध मानववाद हो जाता है (६:१०२)।'

श्री बेन्थम का मूल उद्देश्य था समाजका हित या कल्याण। उनका विश्वास था कि सभी सामाजिक समस्याओंमें, और विशेषकर संविधानिक, वैधानिक (Constitutional and Legislative) तथा विधान-सुधार सम्बन्धी प्रश्नोंमें, उनके उपयोगितावादका सफल और लाभप्रद प्रयोग हो सकता है। 'एक व्यावहारिक और सजीव उद्देश्य उनका लक्ष्य था, एक कोरे काल्पनिक सिद्धान्तमें ही वह व्यस्त नहीं थे (१३ ४८)।'

जिस समय श्री बेन्थम एक सुधारक और विचारकके रूपमें आये उस समय नैसर्गिक अधिकार-सिद्धान्तका और अंग्रेजी संविधान और कानूनकी महत्ताके सम्बन्धमें श्री ब्लैक्स्टन (Blackstone) के भारी-भरकम सिद्धान्तका बोलबाला था। इन दोनों ही पर बेन्थम ने अपनी घृणाकी सरस वृष्टि की। दोनों ही की उन्होंने निर्मम आलोचना की। नैसर्गिक अधिकारोंको उन्होंने, 'शुद्ध प्रलाप, नैसर्गिक और अविहित अधिकार, आलंकारिक प्रलाप—मूर्खताका नंगा नाच'—बताया। नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्तके स्थान पर उन्होंने अपने उपयोगिताके सिद्धान्तकी स्थापना की। यद्यपि नैसर्गिक अधिकारों के प्रबल समर्थक श्री थॉमस पेन (Thomas Paine) और श्री बेन्थम के दार्शनिक दृष्टिकोणमें बहुत अधिक अन्तर था फिर भी दोनोंने मिलकर कई एक उदार सुधारोंका समर्थन किया था। जैसा कि श्री आइवर ब्राउन लिखते हैं· 'शायद ही कभी अन्य दो व्यक्ति इतने पृथक् मार्गोंसे एक ही लक्ष्यकी ओर बढ़े होंगे (६ ९८)।'

अपनी पहली महत्त्व-पूर्ण पुस्तक « A Fragment on Government » में, जो सन् १७७६ ई० में प्रकाशित हुई थी, श्री बेन्थम ने ब्लैक्स्टन की बड़ी कड़ी आलोचना की थी। श्री ब्लैक्स्टन ने अंग्रेजी विधानको परमात्माकी इच्छाके अनुकूल क्रमिक स्वाभाविक विकास बताते हुए उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। बेन्थम ने यह सिद्ध किया कि यह (विधान) एक निर्लज्ज निरंकुशता थी जो केवल दुर्बलों और गरीबोंको सताती थी, शिक्षित और शक्ति-सम्पन्न लोगोंको सहायता देने और अनजान दलित लोगोंको दबाये रहनेकी एक व्यापक योजना थी (६ १०२)।' बेन्थम ने ब्लैक्स्टन की आलोचना इसलिए भी की थी कि ब्लैक्स्टन ने राजनैतिक कर्तव्यका आधार मूल सामाजिक अनुबन्ध माना था। बेन्थम का तर्क यह था कि अतीतमें ऐसा कोई अनुबन्ध हुआ ही नहीं, और, यदि हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी उस अनुबन्धसे बाध्य नहीं है। आज्ञानुवर्तिता (Obedience) का केवल एक मान्य कारण है और वह है उपयोगिता या सार्वजनिक कल्याण। सरकारोंका अस्तित्व इसलिए कायम है कि उनके द्वारा उनके अधीन रहनेवाले लोगोंकी सुख-वृद्धिका विधान किया जाता है। श्री बेन्थम की अपनी विशिष्ट भाषामें· 'आज्ञापालनके जो दुराग्रह

सम्भव है वह उन बुराइयोकी अपेक्षा कम है जो आज्ञापालन न करनेसे सम्भव है।' इस प्रकार, जैसा कि श्री डनिंग कहते हैं, रूढिवादी इगलैडके मान्य सिद्धान्तो और पद्धतियोंके लिए श्री बेन्थम एक भ्रान्ति-दूतसे बन गये (२७ २१२)।'

शासन-सिद्धान्त (Theory of Government) अपने समकालीन विचारकोकी भाति अग्रेजी-सविधानकी प्रशसा करनेके बजाय श्री बेन्थम ने दृढता और सच्चाईके साथ उसकी आलोचना की। उन्होने वार्पिक ससद, गुप्त मत-दान और पढनेकी योग्यताका प्रतिबन्ध रखते हुए बालिग पुरुष-मताधिकारका समर्थन किया। उनके सभी प्रस्तावोका उद्देश्य था जनताका वास्तविक और प्रभाव-पूर्ण प्रतिनिधित्व स्थापित करना और राजनैतिक भ्रष्टाचारको रोकना। यह ध्यान देनेकी बात है कि इन सुझावोमें से दो सुझाव तबसे अब तक कानून बन चुके है। वार्षिक ससदकी माग छोड दी गयी है और अब उसके पुनरुज्जीवित होनेकी सम्भावना नही है। बेन्थम की कामना थी कि प्रजातत्रका पूरा बोलबाला हो। इस उद्देश्यसे उन्होने निर्वाचन-क्षेत्रोकी समानता और समाचार पत्रोकी स्वाधीनताकी मागें रखी। इससे भी आगे बढकर उन्होने अभिजात-सदन (House of Lords) और राजतत्रकी उपयोगिता पर भी इस आधार पर आपत्ति उठायी कि इनके स्वार्थोका साधारण जनताके स्वार्थोसे कोई मेल नही बैठता। उन्हें इस बातका विश्वास हो गया था कि एक सदनात्मक व्यवस्थापिका, जिसका प्रति वर्ष नया सगठन हो, प्रजातत्रीय सिद्धान्तोंके सबसे अधिक अनुकूल होगी। बेन्थम का विश्वास गणतंत्र पर था। वह सोचते थे कि गणतत्र 'कर्म-कौशल, मितव्ययिता और जनताके आधिपत्य' के अनुकूल स्थिति उत्पन्न करेगा।

सावेधानिक सहिताकी सहायतासे वह 'इस कुटिल ससारको गणतत्रोसे भर कर' सुन्दर बनानेकी आशा करते थे। उनकी दृष्टिमें न तो पूर्ण राजतत्र और न सीमित राजतत्र ही सबसे अधिक सुखकी सिद्धि कर सकता है। 'जब प्रजातत्रका शासन होता है तभी शासक और शासित एकरूप हो पाते है क्योंकि तब अधिकतम लोगोका अधिकतम सुख ही चरम लक्ष्य होता है (१३ ७८-७९)।'

व्यवस्थापन (Legislation) बेन्थम ने अपनी सबसे बडी देन इसी क्षेत्रमें दी। अपनी पुस्तक (Principles of Morals and Legislation) के प्रकाशित होने पर वह व्यवस्थापन (Legislation) के एक प्रकारसे पैगम्बर बन गये। ससारके विभिन्न भागोंके राज्य-मर्मज्ञ व्यावहारिक पथ-प्रदर्शनके लिए उनकी ओर ताकने लगे। प्लेटो की धारणाके अनुसार वह एक आदर्श व्यवस्थापक होनेके सर्वथा उपयुक्त थे क्योंकि वह राजनैतिक दलो और व्यक्तिगत स्वार्थोसे ऊपर उठे हुए व्यक्ति थे और सार्वजनिक कल्याणमें दत्त-चित्त थे। उनके अनुसार व्यवस्थापनके उद्देश्य या लक्ष्य है सुरक्षा, आजीविका और समानता। सीधी-सादी भाषामें जनताका कल्याण ही उसका उद्देश्य है। बेन्थम का कहना है कि यदि कानूनोका पालन कराना है तो यह आवश्यक है कि व्यवस्थापन जनताको साथ लेकर—उसके हितके अनुकूल हो। अनिच्छा-पूर्वक किये गये आज्ञापालन और सार्वजनिक असन्तोपका अर्थ है आखिरकार क्रान्ति होना। इसलिए जनता द्वारा प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञापालन करानेके लिए व्यवस्थापनके कारणोको जनताके सम्मुख स्पष्ट कर देना चाहिए। भय और प्रलोभन द्वारा लोगोको अपनी स्वार्थ-सिद्धिमें लगने से रोकना चाहिए।

श्री बेन्थम ने अनेक व्यावहारिक सुधारोका प्रस्ताव और समर्थन किया था। श्री डेविड्सन (Davidson) द्वारा दिये गये निष्कर्षके अनुसार, उन सुधारो मेंसे प्रधान यह हैं: भ्रष्ट और सीमित ससदीय पद्धतिका सुधार, नगरपालिकाओका व्यापक सुधार, तत्कालीन कठोर दड-विधानका मानवीयकरण, कारावास अर्थात् जेल और उनकी व्यवस्था में सुधार, ऋण या कर्जके लिए कारावास-दडका विनाश, व्याज-वृत्ति या सूदखोरी सम्बन्धी कानूनोको समाप्त करना, धार्मिक परीक्षणका विलोपन (Repeal of the Religious Test), दरिद्र-रक्षा-विधान (Poor Law) में सुधार, 'स्वस्थ भिखमगो' की भिक्षा-वृत्तिको रोकना, समर्थ दरिद्रोकी शक्तिका उपयोग करना, भिखमगोके बच्चोका शिक्षण, राष्ट्रीय शिक्षाकी एक व्यापक योजना बनाना और कार्यान्वित करना, 'मितव्ययिता-कोषो' (आजकल जिन्हे सेविग्स बैंक कहते है) और 'मित्र-मडलो' की स्थापना करना, व्यापारिक पोत-वाहिनीके लिए विधि-सहिताका निर्माण क॰ना, आविष्कारकोकी रक्षा करना, स्थानीय अदालतोको प्रोत्साहन देना, स्वास्थ्यके सम्बन्धमें व्यापक व्यवस्थापन, गरीबोके लिए वकीलो और जन-अभियोक्ताओ या सरकारी अभियोक्ताओ (Public Prosecutors) की नियुक्ति करना, वशानुगत अधिकारोका व्यापक सशोधन, वैज्ञानिक और दार्शनिक सस्थानोकी देख-रेख रखना और जन-पदाधिकारियोकी प्रत्याहूति (Recall of Public Officials)। यह कहनेकी जरूरत नही है कि जिन सुधारोके लिए बेन्थम इतनी तत्परता और लगनके साथ काम कर रहे थे उनमे से अनेक सुधार आज विभिन्न देशोमें विधान या कानूनका रूप पा चुके हैं।

विधान-शोधन (Law Reform). बेन्थम का लक्ष्य था एक महान् विधान-सुधारक बनना। वह 'न्याय शासनकी स्थापना और दलितो तथा योग्य व्यक्तियोंके लिये सुखकी प्रतिष्ठा' के लिये बहुत व्यग्र थे (१३ ६२)। इसी उद्देश्यसे वह तत्कालीन कानूनो की और उन कानूनोको कार्यान्वित करनेके लिए तत्कालीन शासन-यत्रकी आलोचना करते थे। पर वह केवल विध्वसक आलोचक नही थे। उनका उद्देश्य मौलिक रूपसे रचनात्मक था और आलोचना तो उस उद्देश्यकी सिद्धिका साधन-मात्र थी। उन्होने न केवल विभिन्न योरोपीय देशोके विधानोकी विवेचना की बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी भी विवेचना उन्होने की और बडे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये। श्री हेनरी मेन (Henry Maine) ने न्याय सुधारके इतिहासमें बेन्थम के योग-दानकी बडी प्रशसा की है। उन्होने लिखा है 'बेन्थम के समयसे लेकर आज तक ऐसा कोई भी विधान या कानून सम्बन्धी सुधार मेरी दृष्टिमे नही आता जिसकी मूल प्रेरणा पर उनका प्रभाव न हो।'

बेन्थम ने इस बातका अनुभव किया कि तत्कालीन विधान एव अस्त-व्यस्त स्थितिमें थे और उन्होने उन विधानोको विधि-बद्ध करनेका दायित्व स्वय ही अपने ऊपर ले लिया। पर अपने देशमें ही उन्हे कोई प्रोत्साहन नही मिला। विदेशोमे—विशेषकर फ्रान्स और रूसमे—बेशक उन्हे प्रोत्साहन मिला। इन देशोकी विधान-व्यवस्था में अपने उपयोगिता-वादी सिद्धान्तोका प्रयोग करके बेन्थम ने यह दिखा दिया कि किस प्रकार उनका सिद्धान्त यथातथ्य परिस्थितियोमें कार्यान्वित किया जा सकता है।

विधानोको विधि-बद्ध करनेके बाद बेन्थम ने अपना ध्यान उनके स्वरूप-सगठनकी ओर दिया। जो अनावश्यक पारिभाषिकता और प्राविधिकता (Technicality), व्यर्थ का शब्द-जाल, और अप्रचलित शब्दावली विधान-निर्माताओको बहुत प्रिय है, श्री बेन्थम

उससे बहुत चिढते थे। वह कहते थे कि कानूनोको सीधे-सादे, आसानीसे समझमें आने वाले छोटे-छोटे वाक्योमें व्यक्त करना चाहिए। विधान उनके लिये सुलभ और सुगम बनाये जाने चाहिये जिन पर उनके पालन करनेका उत्तरदायित्व है। बेन्थम ने विधानो की उस प्रशासन-पद्धतिकी बडी कडी आलोचना की जिसमें सबसे अधिक बोझ गरीबो पर जा पडता है। न्यायाधीशोके उन विलम्बकारी प्रपचोकी उन्होने बडी भर्त्सना की जिससे मुकदमोसे सम्बन्धित पक्षोका अनावश्यक खर्च बढ जाता था और वैधानिक प्राविधिकताओ (Technicalities) के कारण न्यायका उद्देश्य ही सिद्ध न हो पाता था। न्यायाधीशो के प्रति उनके हृदयमें बहुत कम सम्मान था और उनकी निरकुशताकी रोक-थामके लिए वह न्याय-सभ्यो (Juries) का बहुत समर्थन करते थे। 'न्यायके पदो पर वह व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर बहुत जोर देते थे और इसीलिए वह न्याय-मडलकी अपेक्षा एक अकेले न्यायाधीशको अधिक पसन्द करते थे। मुकदमेंकी सुनवाईमें न्यायाधीशोंकी बहुलता (Plurality) का अर्थ है प्रत्येकके उत्तरदायित्वकी शिथिलता (१३ ९७)।'

शिक्षा मानव-जातिका सुधार करनेमें शिक्षाकी शक्ति पर बेन्थम का अटल विश्वास था। उन्होने दो प्रकारकी शिक्षा-पद्धतियोकी रूप-रेखाए बनायी थी—एक अकिंचन दरिद्र बालकोंके लिए और दूसरी सम्पन्न वर्गके बालकोके लिये। उनकी शिक्षा-पद्धतिका प्रस्थान-बिन्दु यह था 'शिक्षा उस बातकी प्रारम्भ करो जो उपयोगी है—जो शिक्षा-कालके बाद विद्यार्थीकी जीवन-वृत्तिमें सबसे अधिक उपादेय हो सके (१३ ८९)।' उन्होने ही इस वर्तमान सिद्धान्तकी नीव डाली 'सबसे पहले वही चीजें सिखाओ जो सबसे अधिक सुगमतासे सीखी जा सकती है अर्थात् विद्यार्थीकी सामर्थ्यका ध्यान रखो और उसे उसकी योग्यता और स्वाभाविक प्रवृत्तिके विरुद्ध विवश मत करो (१३ ९०)।'

दड और कारावास सम्बन्धी सुधार बेन्थम का कहना था कि दडका प्रधान उद्देश्य अपराधोको रोकना है। दड केवल प्रतिहिंसात्मक (Vindictive) नही होना चाहिए। प्रतिहिंसासे मिलने वाले सन्तोष-सुखको स्वीकार करते हुए भी, बेन्थम का मत था कि दड देनेमें प्रतिहिंसा-भावनाको गौण स्थान दिया जाना चाहिए। दड उद्देश्यके ठीक अनुकूल होना चाहिए। न उसे अधिक होना चाहिए न कम। उससे समाजका कल्याण सिद्ध होना चाहिए। यदि समाजकी सुरक्षा और प्रतिष्ठाके लिए मृत्यु-दड आवश्यक हो तो वह उचित और न्याय्य है, अन्यथा नही। हत्याके अपराधोके अतिरिक्त अन्य अपराधोमें मृत्यु-दड की व्यवस्था दी जाय या नही इसका निर्णय बेन्थम की सम्मतिसे, उपयोगिताके विचार से होना चाहिए अर्थात् इस बातके आधार पर कि सार्वजनिक कल्याण पर उसका कैसा प्रभाव पडेगा। जहा तक सम्भव हो, न्याय अर्थात् दड-व्यवस्था जनताकी आँखोंके सामने ही कार्यान्वित होनी चाहिए जिससे भावी अपराधी उसे देखकर भयभीत हो जायें और अपराध-वृत्तिसे विरत हो जायें।

सम्यक् रूपसे बेन्थम निरोधात्मक दड-सिद्धान्त (Deterrent Theory of Punishment) पर जोर देते थे। पर अपराधीका सुधार इसकी परिधिसे बाहर नही है। बेन्थम अपराधीके सुधारको 'दड देते समय उससे होने वाले परिणामोका जो सन्तुलन किया जाता है उसका एक अग' मानते थे (१३ १०१)। उनका विश्वास था कि अनेक अपराधी और दुर्वृत्ति वाले व्यक्ति सुधारे जा सकते हैं और समाजके उपयोगी और आत्म-सम्मानपूर्ण सदस्य बनाये जा सकते हैं। इसी विश्वासके बल पर उन्होने अपराधियोंके

पुनर्प्रतिष्ठापन (Rehabilitation) के लिए अनेक महत्त्व-पूर्ण सुधारोंका समर्थन किया था जैसे कारावासकी अवधिमें अपराधियोको औद्योगिक शिक्षा देना। अपराधियो के दैनिक जीवनकी व्यवस्थित देख-रेखके लिए उन्होंने एक योजना बनायी थी जिसे 'वर्तुलाकार' (Panopticon) कहते है। इसके अनुसार कारागारकी इमारतें इस ढगसे—वर्तुलाकार या अर्द्ध-चन्द्राकार बनायी जानी चाहिए कि कारावीक्षक (Superintendent of Jail) अपने निवास-स्थानसे उन सबको देख सके। इस योजनामें सावधानी-पूर्वक निरीक्षण, सहानुभूति-पूर्वक अनुशासन और उन्नत वातावरणकी व्यवस्था थी। अपराधियोको न केवल व्यवसायोकी शिक्षा दी जाती थी बल्कि उन्हे प्रारम्भिक शिक्षा देनेकी भी व्यवस्था थी। नैतिक और धार्मिक शिक्षाका प्रभाव भी उन पर डालना था। उनके सामने आदर्श चरित्रोको इस ढगसे उपस्थित करना था कि वह स्वय अपने चरित्र का सुधार करनेमें तत्पर हो जाये। कारावाससे मुक्ति पाने पर अपराधियोंके लिए तब तक रोजीकी व्यवस्था करनी थी जब तक उन्हे जनताका विश्वास फिरसे न प्राप्त हो जाय और वह स्वय अपने पैरो पर न खडे हो सकें। यद्यपि इनमें से अनेक सुधार बेन्थम के जीवन-कालमें कार्यान्वित न हो सके फिर भी 'उनके समयसे अब तक कारागारो और अनुतापालयो (Penitentiaries) में जो व्यापक सुधार हुए है और औद्योगिक विद्यालयो तथा सुधार-शालाओ (Reformatories) की जो स्थापना हुई है, उन सब की प्रेरणा उन्हीसे प्राप्त हुई है और उनका आधार वही सिद्धान्त है जिसे वह प्रतिष्ठित कर गये थे (१३ १११)।'

एक और दृष्टिसे श्री बेन्थम अपने समयसे आगे थे। उनका विश्वास था कि दड अपराधीके अनुरूप होना चाहिए न कि अपराधीको दडके अनुरूप बनना या बनाना चाहिए। उनका विश्वास था कि दडका वर्गीकरण निम्नलिखित बातोका विचार रखते हुए किया जाना चाहिए अपराध कैसा था, अपराधीका अपराध करनेसे पहले कैसा चरित्र था, अपराधीका वश-कुल, वह परिस्थितिया जिनमें अपराध किया गया, अपराधी का उद्देश्य और जिन्हें क्षति पहुची है वह किस कोटिके व्यक्ति है। दडकी व्यवस्था सुनिश्चित और पक्षपात-हीन होनी चाहिए।

उन्नीसवी शताब्दीके प्रारम्भमें सामाजिक परिस्थितियोंके सुधारमें श्री बेन्थम ने जो विशिष्ट योग-दान दिया उसकी उपर्युक्त विस्तृत रूप-रेखासे पाठकोको यह स्पष्ट हो गया होगा कि उपयोगितावादका स्वरूप कितना अधिक व्यावहारिक और सुधारवादी है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सब सुधारोंमें जो सिद्धान्त छिपा है वह 'सार्वजनिक सुख' का सिद्धान्त नही है बल्कि साधारणत सार्वजनिक कल्याण या सामाजिक औचित्य अथवा उपयोगिताका सिद्धान्त है। बेन्थम के सम्बन्धमें यह ठीक ही कहा जाता है कि उन्होंने सभी प्रकारकी सस्थाओंके सम्बन्धमें यह परख की है कि उनके अस्तित्वका औचित्य उनकी उपयोगितासे सिद्ध होता है या नहीं।

२. श्री जेम्स मिल (James Mill, १७७३-१८३६) अपने जीवन भर बेन्थम के श्रद्धालु अनुयायी रहे। वह 'बेन्थम के सभी शिष्योंमें सबसे अधिक उद्योगी, सम्भवत सबसे अधिक समर्थ और सबसे अधिक दुराग्रही थे (१३ ११४)।' सामाजिक और राजनैतिक समस्याओंमें उनकी अत्यधिक अभिरुचि थी और उपयोगितावादकी व्याप्ति-मूलक और प्रयोगात्मक पद्धति (Inductive and Experimental Method) पर उनकी

निष्ठा थी, वेन्थम की भाति समाजके निम्न और उच्च दोनो ही वर्गोके लिए शिक्षाके महत्त्व पर उनका पूरा विश्वास था। बेन्थम की भाति ही विधान और विधान-शोधनमें उन्हें बडी रुचि रहती थी और इस क्षेत्रमें वह उत्साहसे काम करते थे। राजतत्र पर उन्हे बहुत बडी आपत्ति नही थी। वह एक व्यवस्थित प्रतिनिधि-पद्धतिको सरकारोकी स्वार्थ-वृत्ति पर रोक या प्रतिबन्ध जैसा मानते थे। यद्यपि उन्होने अभिजात-सदन या लॉर्ड-भवन (House of Lords) के उन्मूलनका समर्थन नही किया, जैसा कि बेन्थम करते थे, फिर भी उसके अधिकारोको कम करनेके लिए उन्होने क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखे थे और इस दृष्टिसे १९११ के ऐक्टकी पूर्वकल्पना उन्होने की थी। उनका विश्वास था कि राजनैतिक अधिकार-शक्ति जब समाजके मध्यवर्गके हाथोमें रहेगी तो व्यवस्था और विकासके लिए सबसे अधिक प्रेरणा मिलेगी। जैसा कि डैविड्सन (Davidson) ने कहा है, जेम्स मिल, 'बेन्थम के बाद अतिवादी उपयोगितावादियोके नेता थे और इस राजनैतिक सम्प्रदायके व्यावहारिक सुधारोको कार्य-रूप देनेमें प्रधान सक्रिय शक्ति थे (१३ १४२)।'

३ जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill १८०६-७३) जेम्स मिल के पुत्र थे और दोनोमें से अधिक विख्यात थे। उन्होनें बेन्थम की कठोर नैतिक मान्यताओ को नम्र बना दिया और ऐसा करके 'उन्होनें उपयोगितावादको अधिक मानवीय पर साथ ही कम स्थिर और दृढ बना डाला (६ ११९)।' वह इस बातको स्वीकार करते थ आनन्दमें न केवल मात्राका पर गुणका भी भेद होता है। उनके इन शब्दोका प्राय उल्लेख किया जाता है 'एक सन्तुष्ट शूकर होनेकी अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना ज्यादा अच्छा है। एक सन्तुष्ट मूर्ख बने रहनेकी अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात (Socrates) अर्थात् पडित होना ज्यादा अच्छा है। और यदि उस मूर्ख या शूकरका मत इससे भिन्न है तो वह इसलिए है कि वह प्रश्नके केवल एक पहलू—अपने पहलूको ही देखता-समझता है। तुलनाका दूसरा पक्ष दोनो पहलुओको देखता-समझता है।'[1] व्यक्तिगत स्वार्थ और सार्वजनिक सुखके विभेदको कम करनेमें भी मिल ने बेन्थम से भिन्न मान्यताए स्वीकार की है। वह कहते है 'व्यक्तिका अधिकतम सुख उपयोगितावादका मानदंड नही है बल्कि सामाजिक रूपमें अधिकतम सुख ही उसका मानदंड है।' 'अपने और पराए सुखके बीच व्यक्तिको, उपयोगितावादके अनुसार, इतना अधिक पक्षपात-हीन होना चाहिए जितना एक निरपेक्ष और उदार दर्शक होता है।' नज़ारथ के ईसामसीह (Jesus of Nazareth) के स्वर्णिम सिद्धान्तमें हमें उपयोगिताकी पूर्ण नैतिक भावना मिलती है। 'जैसे व्यवहारकी हम दूसरोंसे अभिलाषा करते है दूसरोके साथ वैसा ही व्यवहार करना और अपने पडोसीको आत्मवत् प्रेम-भावसे अपनाना,—इन दोनो उपदेशोमें उपयोगितावादी नैतिकताकी पूर्णता है (६१ अध्याय ११)।' व्यक्तिको सामाजिक सुखकी उन्नतिके लिए विवश करनेमें बेन्थम ने केवल बाह्य अनुज्ञप्तियो (External Sanctions) या दबावोको ही स्वीकार किया था पर मिल ने बाह्य और आन्तरिक दोनो अनुज्ञप्तियोको स्वीकार किया है। उनका कहना था कि प्रयेत्क व्यक्तिमें 'मनुष्य

---

[1] उपयोगितावादका इस प्रकार सशोधन करनेमें मिल ने उसे एक प्रकारसे अस्वीकार ही कर दिया। उनके विचारोके अनुसार कुछ आनन्द अन्य दूसरोकी अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

जातिके सुखकी भावना' रहती है और इसलिए उसे सार्वजनिक सुखके लिए उत्सुक होना चाहिए और उसकी वृद्धि करनी चाहिए। उनका तर्क यह है "चूंकि 'क' का सुख अच्छा अर्थात् कल्याणकारी है, 'ख', 'ग' आदि का भी सुख अच्छा है इसलिए इन सब अच्छाइयो का योग भी अच्छा होना ही चाहिए (६१. ११-११६)।"

मिल को समाज-सुधारमें उतनी ही अभिरुचि थी जितनी दार्शनिक चिन्तनमें। १८५९ में प्रकाशित अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'स्वाधीनता' (Liberty) में वह व्यक्तित्वके निर्भीक समर्थकके रूपमें प्रकट हुए। उनकी यह रचना विचार-स्वातन्त्र्य, भाषण-स्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्यका औचित्य युक्ति-युक्त ढगसे सिद्ध करती है। प्रजातन्त्रके प्रबल समर्थक होते हुए भी मिल को इस बातकी आशका थी कि प्रजातन्त्र व्यक्तित्व और मौलिकताको कुचल डालता है। इसीलिए वह विचार, भाषण और कर्मके क्षेत्रमें यथा-सम्भव अधिकसे अधिक स्वाधीनताका समर्थन करते थे। वह मतभेदको सहानुभूति-पूर्वक स्वीकार करने और पारस्परिक विवाद या विचार-विमर्षको स्वाधीनता पर विश्वास करते थे। उनका यह दृढ विश्वास था कि विचारोंके सघर्षमें सत्य ही अन्तमें विजयी होगा। वास्तवमें उन्होंने विचारोके क्षेत्रमें योग्यतमके अति जीवन (Survival of the fittest) की शिक्षा दी है। उनका विश्वास था कि सामाजिक शान्तिके पहले सामाजिक चेतनाका होना आवश्यक है। उनका कहना था कि व्यक्तियों और व्यक्ति-सघोंको तब तक पूरी-पूरी कर्म-स्वाधीनता दी जानी चाहिए जब तक उनके कार्योंसे दूसरो के हितो और अधिकारोंमें कोई गम्भीर हस्तक्षेप नहीं होता।

व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रमें मिल एक अतिवादी या क्रान्तिकारी थे। वह स्त्रियोंके अधिकारोंके बडे उत्साही समर्थक थे और उन्हे पुरुषोंकी 'दासता' से मुक्त करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि लिंग-भेद कोई मौलिक और अनिवार्य भेद नही है। १८६६ से १८६८ तक ससदके एक अतिवादी सदस्यके रूपमें उन्होंने श्रमिक-वर्गके हितोंका, स्त्रियोंके मताधिकारका, राष्ट्रीय ऋणके कम किये जाने और आयरलैंड में भूमि-सुधारका उद्योग और तत्परताके साथ समर्थन किया। सभी प्रकारके वर्ग-स्वार्थों और एकागी व्यवस्थापनका उन्होंने विरोध किया। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश पार्लियामेंटमे अल्पसख्यकोंको उचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है और इसलिए उन्होंने आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representations) का समर्थन किया, जिसका सम्बन्ध हरे (Hare) के नामके साथ है। सभी करदाताओंके व्यापक मताधिकार (Universal Suffrage) का समर्थन करते हुए भी मिल उच्च चरित्र और बौद्धिक शक्ति वाले व्यक्तियोंके लिए बहुल मताधिकार (Plurality of Votes) के पक्षपाती थे। सरकारकी शुद्धता और कर्म-कुशलताकी दृष्टिसे वह ससदके सदस्योंको वेतन दिये जानेका विरोध करते थे। वह गुप्त मत-पत्रका भी विरोध इस आधार पर करते थे कि इससे स्वार्थ-प्रेरित और अनुत्तरदायित्वपूर्ण मत-दानको प्रोत्साहन मिलता है। लोक-सभा (House of Commons) की उच्चतर व्यवस्थापन अधिकार-शक्तिको स्वीकार करते हुए भी मिल का विश्वास था कि ससदके सम्मुख उपस्थित किये जानेके लिए विधेयकोंकी रचना या ससदनका काम अभिज्ञान-सदन या लॉर्ड-सभाको सौंपा जाना चाहिए क्योंकि उनमें वैधानिक योग्यता वाले व्यक्ति रहते हैं। वह राज्य द्वारा व्यवस्थित अनिवार्य शिक्षाके पक्षपाती थे यद्यपि उन्हे इस

बातका भय था कि इससे सरकारी विभाग द्वारा निर्धारित एक ही साचेके ढले नागरिक निकलेंगे। वह कहते थे कि यह 'लोगोको ठीक एक दूसरेके समान ढालनेके लिए एक कपट-योजना-मात्र है।'

आर्थिक क्षेत्रमें मिल एक कट्टर व्यक्तिवादी न होकर उससे कही परे थे। जब कभी उन्हें समाजका हित सिद्ध होता दिखायी दिया, उन्होने व्यापक राजकीय कार्य-क्षेत्रका समर्थन किया। अपने जीवनके उत्तर कालमें वह ऐसे समाजवादी आदर्शकी ओर आखें लगाये थे जिसमें 'ससारके कच्चे माल पर सार्वजनिक प्रभुत्व होगा और सभी लोग सामूहिक श्रमसे होने वाले फलोके समान भागीदार होगे।' उन्होने राजनैतिक उदारवाद के साथ आर्थिक समाजवादका योग किया था। जैसा कि श्री आइवर ब्राउन कहते है. 'जहा तक व्यक्तिगत कल्याणके सिद्धान्तसे समाजवादका मेल बैठता है उस हद तक मिल के राजनैतिक आदर्शोका भी समाजवादके साथ पूरा-पूरा मेल बैठ जाता है (६ १२६)।'

मिल ने जो कुछ भी लिखा और कहा उस सबका मूल लक्ष्य था सामाजिक कल्याण की सिद्धि और व्यक्तित्वकी रक्षा करना। विकास और उन्नतिका उन्होने अपनी समूची शक्तिसे समर्थन किया। उन्हें विश्वास था कि विवेकपूर्ण मानवीय प्रयासोसे मनुष्य-जातिका सुधार व उत्थान हो सकता है। एक अच्छे उपयोगितावादीके रूपमें उन्होने सुख को ही मानव-व्यवहारका अन्तिम मानदड माना और उसी पर जोर दिया, पर इसके साथ ही वह स्वाधीनताको भी अत्यन्त आवश्यक मानते थे। जिस स्वाधीनताका वह इतना जोरदार समर्थन करते थे वह व्यक्तिगत स्त्री-पुरुषोकी स्वाधीनता थी, सघो और सिद्धान्तोकी स्वाधीनता नही। उनकी प्रधान विशेषता यह है कि वह सभी सामाजिक समस्याओका विवेचन उन्हे मनुष्य-सापेक्ष्य मान कर करते थे। यद्यपि उनके सामाजिक और राजनैतिक विचारोमें बडी आसानीसे छिद्रान्वेषण किया जा सकता है, पर इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि उनके चिन्तनमें ऐसे तत्त्व हैं जिनका महत्त्व स्थायी है। 'यही कारण है कि, यद्यपि उपयोगितावादी सिद्धान्तकी बहुत दिनोसे निन्दा होती आयी है, फिर भी उसमें अमरताकी शक्ति और सम्भावना है (६ १२६)।'

अन्य उपयोगितावादी विचारकोंके सम्बन्धमें अधिक समय देनेकी आवश्यकता नही है। श्री जॉन आस्टिन (John Austin, १७७०-१८५६) की सबसे बडी देन यह है कि उन्होने न्याय-शास्त्रकी दृष्टिसे विधान-शास्त्रका व्यापक विवेचन किया। व्यावहारिक राजनीतिके क्षेत्रमें उन्हे प्रजातन्त्रीय सरकारके प्रति कोई बहुत अधिक उत्साह नही था। वह स्पष्टत रूढिवादी थे और १८५६ के पार्लियामेंट्री सुधारके विरोधी थे। जॉर्ज ग्रोटे (George Grote, १७६४-१८७१) एक कट्टर बेन्थमवादी थे। वह एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी थे और एक राजनैतिक दार्शनिक भी। वह गुप्त मत-दानके पक्षपाती थे। वह 'परिवर्धित मताधिकारके उत्साही समर्थक थे (१३ २३८)।' अलेक्जेंडर बेन (Alexander Bain, १८१८-१९०३) एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थे। उन्होने उपयोगितावादी नीति-शास्त्रको एक वैज्ञानिक रूप दिया, जिसकी उसे आवश्यकता थी। उन्होने 'अनुभव' को अपने साहचर्य-मूलक मनोविज्ञानका प्रत्यय-शब्द (Watchword) या सकेत-सूत्र बना दिया।

'ऊपर जिन अनिवादी उपयोगितावादियोका सक्षिप्त विवेचन किया गया, ब्रिटेन पर

उनका बहुत बडा ऋण है। उन्नीसवी शताब्दीके अधिकांशमें उनके विचारोका बोलवाला रहा और इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक राजनीतिमें, सामाजिक सुधारोमें और कल्याण-मूलक व्यवस्थापनमें जनताकी रुचि इतनी अधिक उत्पन्न हुई जिसकी पहले कभी कल्पना भी न की गयी थी। उससे होने वाले लाभका अनुभव हम आज कर रहे हैं ……। अपने सिद्धान्तोको उन्होने क्रमश एक-एक क़दम आगे बढाया। प्रत्येक महान् विचारक कुछ स्थायी महत्त्वकी देन देता गया। विकास और उत्थान उनका सकेत-सूत्र था और स्वाधीनता तथा जन-हितके लिए उनके उत्साह और उमगसे उन्हे आगे बढनेकी प्रेरणा और शक्ति मिलती थी। आधुनिक युगके लिए यही उनकी देन है। उन्होने ससारको कोई परिपूर्ण दार्शनिक पद्धति नही दी। वह कुछ ऐसे सुनिश्चित सिद्धान्त दे गये है जो परिणामोकी कसौटी पर खरे उतरे है और भविष्यमें कल्याणकारी प्रयोग किए जानेकी जिनमें अभी अपरिमित क्षमता है (१३ . २४९-५०)।'

SELECT READINGS

ALBEE, E.—*History of English Utilitarianism.*

BENTHAM, J.—*An Introduction to the Study of Morals and Legislation—A Fragment on Government.*

BROWN, I —*English Political Theory*—Chs VIII and X.

DAVIDSON, W. L.—*Political Thought in England, The Utilitarians from Bentham to Mill.*

DUNNING, W. A.—*Political Theories, from Rousseau to Spencer*—Ch VI

HALLOWELL—*Main Currents in Modern Political Thought*—Ch. 7

JOAD, G E. M.—*Guide to the Philosophy of Morals and Politics*—pp 334-5

MACCUNN, J —*Six Radical Thinkers*—Chs I-II.

MILL, J. S —*Utilitarianism.*

POLLOCK, F —*History of the Science of Politics*—pp. 98-111.

RITCHIE, D. G.—*Principles of State Interference.*

SETH, JAMES—*Ethical Principles*—Part I. Ch. I.

STEPHEN, LESLIE—*The English Utilitarians.*

WILLOUGHBY, W W.—*Nature of the State*—Chs. IX and XI.

१३

राजनीति में आदर्शवाद
(Idealism in Politics)

१ राजनीतिमें आदर्शवादी परम्परा (The Idealistic Tradition in Politics)

राज्यका आदर्शवादी सिद्धान्त अनेक नामोंसे प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसे चरमतावादी सिद्धान्त कहते हैं, कुछ लोग इसे दार्शनिक सिद्धान्त कहते हैं और कुछ लोग इसे आध्यात्मिक सिद्धान्त कहते हैं। मैकआइवर तो उसे रहस्यवादी सिद्धान्त तक कह डालते हैं। नाम चाहे जो कुछ हो पर आदर्शवादी परम्पराका एक लम्बा इतिहास है यद्यपि उसकी शृखला कही-कही टूटी हुई है। सबसे पहले इसके सूत्र प्लेटो और अरस्तू की रचनाओंमें मिलते हैं। यह यूनानी विचारक, अपने अन्य समकालीन विचारकोंके साथ, राज्यको स्वाभाविक और आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टिमें राज्य ही सब कुछ था और बिना राज्यके उससे अलग रह कर मनुष्य अपनी सम्भव चरम पूर्णताको प्राप्त नही कर सकता था। अरस्तू का मत था कि पहले राज्यका उदय मनुष्यके जीवनकी आवश्यकताओको पूरा करनेके लिए हुआ था, पर उसका अस्तित्व नैतिक जीवनकी आवश्यकताओंके कारण बना रहा। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही की दृष्टिमें राज्य अपने सर्वोच्च रूपमें एक नैतिक सस्था है। सच्चा राज्य एक सद्गुण-सम्पन्न जीवनकी साझेदारी है। राज्य पर इस प्रकार एक नैतिक दृष्टिसे विचार करने और राजनैतिक सिद्धान्तकी विवेचना नीति-शास्त्रके अनुसार करनेका प्रभाव आदर्शवादी विचारको पर बहुत कुछ पडा है। यूनानी दार्शनिकोका प्रभाव आधुनिक आदर्शवादियो पर एक और दृष्टिसे भी पडा है और वह है राज्य और समाजकी व्यावहारिक एकरूपता। विशेष रूपसे श्री बोसाके में यह प्रवृत्ति दिखायी देती है। यूनानी चिन्तनका विशेषकर प्लेटो के विचारोका तीसरा प्रभाव उत्तरकालीन आदर्शवादियो पर यह पडा है कि वह राज्यको एक सघटित इकाईके रूपमें स्वीकार करते हैं। आदर्शवादियोका प्रस्थान-बिन्दु यह है कि राज्य एक केन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था है जिसमे व्यक्ति को अपना उपयुक्त स्थान बनाना होता है। व्यक्तिका स्वय अपने आपमें न कोई महत्त्व है न मूल्य। उसका जो कुछ भी महत्त्व है वह उस सघटित समाजके नाते है जिसका वह अभिन्न अग है। व्यक्ति और समाजके बीचके जिस तीव्र विभेदसे आज हम बहुत परिचित है वह यूनानियोको मालूम न था। उनकी दृष्टिमें नागरिकताका जीवन ही सामाजिक जीवन था और नागरिक जीवनमें ही जीवनकी पूर्णता थी। उनकी दृष्टिमें समाजसे अलग व्यक्ति एक अनैतिक सूक्ष्म भाव-मात्र था (७१ २८८)।

यूनानी युगमें भी प्लेटो और अरस्तू का राज्य सम्बन्धी महान् आदर्श सार्वभौम रूप से स्वीकृत न हो सका था। जैसा कि जेम्स सेठ कहते हैं, यूनानी नीति शास्त्र 'व्यक्तिवाद और विश्वबन्धुत्वकी पुकारके साथ समाप्त हो गया (७१ २८९)।' एपीक्यूरियन (Epicureans अर्थात् चारवाकपथियोंके यूनानी रूपान्तर) और स्टोइक (Stoics)

दार्शनिकोके उपदेशोसे यह बात स्पष्ट होती है। मध्ययुगमें धर्म-संघने बहुत कुछ राज्य का स्थान, उसे पद-च्युत करके ग्रहण कर लिया था और धर्म-संघ तथा राज्यके अधिकार-क्षेत्रके सम्बन्धमें विवाद चलता रहा। इस युगमें जो परिस्थितिया थी—धर्म-संघ और राज्य तथा राजतन्त्र और सामन्तशाहीके बीच चलने वाले संघर्ष—उनमें यूनानी चिन्तन में जो सबसे उत्तम तत्त्व था उसकी सफलताके अनुकूल वातावरण न मिल सका। इस प्रकार लगभग एक हज़ार वर्ष तक यूनानी राजनैतिक दर्शन प्राय निर्जीव और सुप्त पडा रहा। पुनर्जागरण (Renaissance) और सुधार (Reformation) के समय यूनानी ज्ञानमें फिरसे अभिरुचि उत्पन्न हुई। अपनी यूटोपिया (Utopia) लिखते समय सर थॉमस् मोर (Sir Thomas More) पर प्लेटो की रचना 'रिपब्लिक' (Republic) का काफी प्रभाव रहा। पर प्लेटो के चिन्तनमें मोर जिस चीज़की ओर अधिक आकृष्ट हुए वह उनके आदर्शवादी उपदेश न थे बल्कि उनका साम्यवाद था। व्यक्तिकी महत्ता सम्बन्धी सुधार-युगके सिद्धान्तने व्यक्तिको एक नई स्वाधीनता दी और व्यक्तित्व सिद्धान्त (Doctrine of Personality) का रास्ता साफ किया जो आधुनिक आदर्शवादकी आधार-शिला है। सुधार-युगके बाद आने वाले युगकी विशेषता थी व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयता, प्रतियोगिता और व्यापारवाद, इनमें से अन्तिम दो का 'गठबन्धन हुआ जिससे पूंजीवादका बेरोकटोक प्रसार बढा (६ २६)।' इस युगमें भी आदर्शवादी परम्परा बहुत आगे न बढ सकी। पर्याप्त समय तक राजाओंके दैवी अधिकार-सिद्धान्तकी मान्यता रही और इस प्रकार हीगेल द्वारा प्रतिष्ठित राज्यके दैवी अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तकी दो शताब्दी पहले पूर्व-कल्पना की जा चुकी थी।

आधुनिक चिन्तन पर यूनानी राजनैतिक सिद्धान्तका स्थिर और निरन्तर प्रभाव रूसो के साथ प्रारम्भ होता है। इस कारण रूसो को यदि यह श्रेय दिया जाता है कि सदियो पहले यूनानी दार्शनिको द्वारा खोजे गये महान् सत्योंको उन्होंने फिरसे खोज कर हमारे सामने रखा, तो ठीक ही है।

रूसो के विचारो पर प्लेटो का सबसे अधिक प्रभाव पडा है। उन्हींकी सहायतासे वह अपने-आपको लॉक के व्यक्तिवादी सिद्धान्तसे मुक्त कर सके और सामाजिक अनुबन्धमें प्रतिष्ठित समष्टिवादी सिद्धान्तको अपना सके। अपनी युगान्तरकारी रचना 'सामाजिक अनुबन्ध' (Social Contract) में रूसो ने राज्यकी धारणा एक नैतिक संघटनाके रूपमें की है और सार्वजनिक इच्छा या लोक-सम्मतिके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। उनकी सम्मतिमें राज्य मूलत नागरिकोंके वैधानिक अधिकारोंकी रक्षाके लिए किया गया कोई कानूनी संगठन नही है। तत्त्वत. राज्य एक नैतिक संगठन है जिसके सामान्य जीवनके माध्यमसे ही मनुष्य अपनी नैतिक पूर्णताको प्राप्त करता है। राज्यकी सदस्यता से दूर रह कर व्यक्ति एक मूर्ख और संकुचित पशु-मात्र रह जाता है। अपनी इस सदस्यता से वह एक समझदार जीव और मनुष्य बन जाता है। राज्य मनुष्यकी प्रेरणाके स्थान पर न्याय और उसकी क्षुधाके स्थान पर विधानको प्रतिष्ठित करता है। मनुष्यके कार्योंमें जो नैतिकता पहले नही प्राप्त थी वही वह उसे प्रदान करता है। राज्यका प्रधान कर्तव्य यह है कि वह अपने नागरिकोंको स्वतन्त्र अर्थात् भौतिकताके बन्धनसे मुक्त करके उन्हे नैतिक रूपसे स्वाधीन करे। राज्यको चाहिए कि वह मनुष्योंको स्वाधीन बननेके लिए विवश करे। प्लेटो की भांति रूसो को राज्यके प्रति तीव्र अनुराग था यद्यपि राज्य सम्बन्धी

उनकी धारणा कुछ दृष्टियोसे प्लेटो की धारणासे भिन्न थी। प्लेटो ने सार्वजनिक इच्छा या लोक-सम्मतिके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया और यह कहा कि उस इच्छाके निर्माण में प्रत्येक व्यक्तिका भाग है।

रूसो के गम्भीर उपदेशोंका प्रभाव काट और अन्य समकालीन दार्शनिकोंके चिन्तन पर पडा और उनके माध्यमसे वह प्रभाव अग्रेजी आदर्शवादियो पर पडा। उनकी विचार-धाराकी ज्यादा समीक्षा इस अध्यायके अगले हिस्सेमें करेंगे, इस समय हम सामान्य आदर्श-वादी धारणाकी विवेचना करेंगे।

२ राज्यके आदर्शवादी सिद्धान्तकी व्याख्या (Statement of the Idealistic Théory of the State)

आदर्शवादियोका विश्वास है कि राज्य एक नैतिक सस्था है। श्री वोसाके के शब्दो में राज्य एक नैतिक विचारका मूर्त रूप है। समाजकी अन्य महत्त्व-पूर्ण नैतिक सस्थाए हैं परिवार और धर्म-सघ। इन सभी सस्थाओमें राज्य सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। एक दृष्टिसे तीनो ही सस्थाए इसमें सम्मिलित हैं। यदि विशुद्ध व्याख्या की जाय तो राज्य एक वैधानिक सगठन है पर व्यापक रूपसे विचार करने पर राज्य एक नैतिक सघटना सिद्ध होता है जो समाजके साथ प्राय एकरूप है। व्यक्तिके प्रति न्याय इस बातमें है कि समाजके जीवन और कार्य-व्यापारमें उसे अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त हो और उस स्थान से सम्वद्ध कर्त्तव्योको वह पूरा करे।

मानव-व्यक्तित्वके परिपूर्ण विकास और उत्थानके लिए राज्य अनिवार्य है। मनुष्य स्वभावत एक सामाजिक जीव है और राज्य समाजकी प्रभाव-पूर्ण सघटना है जिसका उद्देश्य एक नैतिक लक्ष्यकी सिद्धि है। व्यक्ति और राज्योके उद्देश्यके बीच कोई वास्तविक विरोध नही है। व्यक्तित्वकी पूर्णता दोनोंका ही उद्देश्य है। नैतिक दृष्टिकोणसे राज्य स्वय अपने आपमें कोई उद्देश्य नही है वह एक उद्देश्य-सिद्धिका साधन है।

व्यक्ति ही नैतिक इकाई है। 'राज्यका अस्तित्व व्यक्तिके लिए है न कि व्यक्तिका अस्तित्व राज्यके लिए। राज्यका कर्त्तव्य यह नहीं है कि व्यक्तिका अवक्रमण—उसकी अवहेलना—करे। राज्यका कर्त्तव्य यह है कि वह व्यक्तिको उसके व्यक्तित्वके विकासमें सहायता पहुचाए, उसे अवसर और स्थान दे। व्यक्तिके लिए ही राज्यका अस्तित्व है न कि राज्यके लिए व्यक्ति का। राज्य व्यक्तिका कार्य-क्षेत्र है, उसके नैतिक जीवनका माध्यम (७१ २९३) है।'

इस दृष्टिसे देखने पर राज्य व्यक्तिका सच्चा मित्र है। मनुष्य और राज्यकी विरोधी धारणा एक नितान्त भ्रान्त धारणा है। अराजकतावादी जो राज्यको केवल एक बुराई-मात्र मानते हैं और व्यक्तिवादी, जो राज्यको एक आवश्यक बुराई मानते हैं, दोनो ही राज्यके सच्चे महत्त्वको समझनेमें असफल रहे हैं। अराजकतावादका परिणाम होता है भीडशाहीकी धीगा-धींगी और व्यक्तिवाद आज अपनी असगतिको प्राय प्राप्त हो चुका है (७१ २९३)। यह आदर्श कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने ही लिये जीनेका अधिकार मिलना चाहिए एक असम्भव और आत्मविरोधी आदर्श है। अतिवादी व्यक्तिवादकी प्रतिक्रिया के रूपमें ही समाजवाद और आदर्शवादका उदय हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आदर्शवादकी मान्यता यह है कि व्यक्ति और समाजके सच्चे दिल एक और अभिन्न हैं अर्थात् मनुष्यके व्यक्तित्वका परिपूर्ण और स्वतत्र विकास। आदर्शवादी इस यूनानी

धारणाको स्वीकार करता है कि समाज व्यक्ति पर और व्यक्ति समाज पर आधारित है। उसका विश्वास है 'कि राज्य कोई विदेशी शक्ति नही है जो व्यक्ति पर बाहरसे लादी गयी हो बल्कि अपने वास्तविक स्वरूपमें राज्य और व्यक्ति एकरूप है (७१ : २९२)।' इसलिए राज्यकी आज्ञाका पालन नागरिकके स्वय अपने ही उत्तम अशकी आज्ञाका पालन है।

यद्यपि व्यक्ति ही नैतिक इकाई है और राज्यका अस्तित्व व्यक्तिके लिए है, फिर भी, आदर्शवादियोका विश्वास है कि राज्यकी अपनी एक इच्छा और उसका अपना एक व्यक्तित्व है। उसका अतीत इतिहास, वर्तमान जीवन और उसकी भावी सम्भावनाए है। और इस प्रकार कुछ अर्थोमें राज्य उन व्यक्तियोसे भिन्न है जिनको मिला कर उसकी स्थिति बनती है। उसके उद्देश्यमें निरन्तरता है और उसका लक्ष्य स्थिर है। एक आदर्श राज्य जिसमें युक्ति-सगत इच्छा अपने परम पूर्ण रूपमे व्यक्त हुई हो कभी भी ऐसी कोई अभिलाषा नही कर सकता जो उसके व्यक्तिगत सदस्योके सर्वोच्च हितोंके विरुद्ध हो। आदर्शवादी इस बातसे घबडा नही जाते कि ऐसे राज्यका कभी कही अस्तित्व नही रहा, वह उसे एक ऐसा आदर्श या लक्ष्य मानते है जिसकी सिद्धिके लिए वर्तमान राज्योके कार्य-व्यवहारका निर्देश होना चाहिए।

एक आदर्शवादीके अनुसार राज्यका आधार इच्छा है न कि दबाव डालने वाली शक्ति। इसमें सन्देह नही कि राज्य शक्तिका प्रयोग करता है, पर शक्ति ही राज्यकी प्रधान और महत्त्व-पूर्ण विशेषता नही है। राज्य इच्छा या सम्मतिका मूर्त रूप है। आदर्शवादीका कहना है कि हमें राज्यका आदेश इसलिए मानना चाहिए कि हम यह अनुभव करते है कि इस आदेश-पालनसे एक ऐसे सार्वजनिक हितकी अभिवृद्धि होती है व्यक्तिका हित जिस का एक अभिन्न अग है। आदर्शवादीका विश्वास है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और निरन्तर उसके विवेकको उद्बुद्ध करते रहनेसे स्थायी कल्याणकी सिद्धि हो सकती है। विचारोकी शक्ति पर उसे विश्वास रहता है।

आधुनिक विचारो और प्रयत्नोमें प्रवृत्ति साधारणत राज्यका प्रभाव-क्षेत्र घटानेकी ओर नही है। प्रवृत्ति तो यह है कि या तो 'राज्यका समाजीकरण हो या समाजका राष्ट्रीय-करण किया जाय (७१ २९२)।' 'राज्यका सच्चा कर्त्तव्य यह है कि नागरिकके व्यक्ति-गत जीवनको सुलझाये और उसे परिपूर्ण बनाये (७१ : २९४)।' व्यावहारिक भाषामें इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यको सुन्दर जीवनके मार्गमें पडनेवाली बाधाओको दूर करना चाहिए। धर्म और नैतिकता न तो राज्य लागू कर सकता है और न उसे लागू करना ही चाहिए। उसे व्यक्तिके सबसे महान् उद्देश्यको निरन्तर अपने सम्मुख रखना चाहिए। व्यक्तिका चरम उद्देश्य है व्यक्तित्वका विकास, जिसे आत्मानुभव (Self-Realisation) अथवा आत्मतोष कहते है। सार्वभौम और पक्षपात-हीन अधिकार लागू करके उसे वह स्वाधीन परिस्थितिया बनाये रखनी चाहिए जो मनुष्यके सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक है। और, जैसा पहले कहा गया है, अधिकार वह बाह्य परिस्थितिया है जो मनुष्यके आन्तरिक विकासके लिए आवश्यक है।

राज्यकी सेवा करनेका अर्थ यह नही है कि हम अपने उच्चतम महत्त्वके प्रति या अपनी सर्वोच्च सत्ताके प्रति निष्ठा-हीन हो जाते है। हम दो स्वामियोकी सेवा नही करते। हमारी नैष्ठिक सेवाका अधिकारी केवल एक ही स्वामी होना है और वह है नैतिक और व्यक्तिगत आदर्श (१७ : २९४)। राज्यसे पृथक एकाकी व्यक्तिको आदर्शवादी कोई महत्त्व नही

देता। 'ऐसा व्यक्ति समाज-विरोधी और राजनीति-विरोधी होता है (७१.२९५)। उसका जीवन पूरा-पूरा रामभरोसे-नीतिका अनुयायी होता है (७१ २९६)।' आदर्शवादी जो धारणा व्यक्तिकी वनाता है वह, 'एक सामाजिक और राजनैतिक तथा व्यक्तिगत मनुष्य की धारणा होती है (७१ २९५)।' 'व्यक्तिको अन्य व्यक्तियोसे पृथक् करनेका अर्थ होगा उसके जीवनको विकलाग और कुठित कर देना जहा तक राज्यका कार्य हस्तक्षेप माना जा सकता है, वह हस्तक्षेप केवल व्यक्तिके साथ होता है, मनुष्यके साथ नही और राज्यके इस हस्तक्षेपका उद्देश्य बिल्कुल यही होता है कि मनुष्यको अन्य व्यक्तियोके हस्तक्षेपसे वचाया जाय। न तो राज्य और न व्यक्ति ही चरम या सर्वोच्च नैतिक उद्देश्य और इकाई है। यह उद्देश्य और इकाई तो मनुष्य है (७१ ३०१)।'

साधारणत व्यक्तिको राज्यकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। इसका यह अर्थ नही है कि वह राजनैतिक व्यवस्थाकी आलोचना नही कर सकता। व्यक्ति एक साथ ही अधिपति भी है और प्रजा भी। पर जव राज्य उसके व्यक्तित्वके क्षेत्रका अतिक्रमण करता है तव उसे विद्रोह करनेका अधिकार है। ऐसी स्थितिमें विद्रोह एक सार्वजनिक कर्त्तव्य हो जाता है। विद्रोहकी स्थितिमें भी व्यक्तिको यह याद रखना चाहिए कि वह अव भी जो सर्वोत्तम तत्त्व है और जिसके लिए राज्यका अस्तित्व है उसके प्रति निष्ठावान् है। श्री जेम्स सेठ का कहना है कि दो ऐसी स्थितिया है जिनमें व्यक्तिका विद्रोह उचित है, (क) जव राज्य एक व्यक्तिगत नागरिक अथवा एक व्यक्ति-समूहके रूपमें काम करने लगता है, (ख) जव सार्वजनिक इच्छा या लोक-सम्मतिका तत्कालीन निर्माण इतना अनुपयुक्त हो जाता है कि उसके सुधारकी आवश्यकता होती है।

(क) अग्रेजी और फासीसी क्रान्तिया पहली स्थितिके अच्छे उदाहरण है। इन स्थितियोमे 'वास्तविक राज्य आदर्श राज्यके प्रतिकूल हो गया था। वह व्यक्तित्वके उन्ही अधिकारोको समाप्त करनेका प्रयत्न कर रहा था जिनका उसे सरक्षक वनना चाहिए था और जिसके सम्मुख अपनी सरक्षताका उत्तरदायित्व सिद्ध करना चाहिए था।' इसलिए क्रान्ति स्पष्ट रूपसे उचित और न्याय्य थी। 'सच्चे अधिपतिको भी वस्तु अपनी नही समझनी चाहिए, सार्वजनिक कार्योमें उसका कोई व्यक्तिगत हाथ नही होना चाहिए, जनताका हित ही उसका हित होना चाहिए और जनताकी इच्छा उसकी इच्छा। यदि वह इसके विरुद्ध चलता है, अपनी व्यक्तिगत इच्छा पर जोर देता है और नागरिकोंके हितोको अपने व्यक्तिगत हितोंके अधीन वना देता है तो वह अपने ही कार्योसे अपना सिहासन, अपनी प्रभुता खो देता है। ऐसी स्थितिमें उस सर्वोच्च शक्तिको प्रयोगमें लानेकी आवश्यकता होती है जो जनताके ही हाथोमें रहती है (७१ ३०१)।'

(ख) रिफॉर्म विल (Reform Bill) के पूर्व इगलैंडकी स्थिति उस अवस्थाका अच्छा उदाहरण है जव सार्वजनिक इच्छाके पुनर्निर्धारणकी—उसके फिरसे निश्चित किए जानेकी आवश्यकता थी। इस प्रकारकी स्थितियोमें यह आवश्यक नही है कि पुनर्निर्धारण क्रान्तिका रूप ग्रहण करे, सुधार ही पर्याप्त होता है। ऐसा सुधार एक अच्छे राज्यमें, जहा जनमत जाग्रत् है, वरावर चलता रहता है।

३. सुधारवादी विचारक (Idealistic Thinkers).

आदर्शवादियोंके विरुद्ध वहुत अधिक अनुचित आलोचना की गई है। इसका कारण

यह है कि लोग, एक ओर तो, जर्मन और अंग्रेजी आदर्शवादियोंकी शिक्षाओंमें विभेद नहीं कर सके और दूसरी ओर व्यक्तिगत आदर्शवादी विचारकोंके सिद्धान्तोंका भी भेद नहीं समझ पाये। उदाहरणके लिए श्री जोड समूची आदर्शवादी विचारधाराकी इस कारण निन्दा करते हैं कि हीगेल ने उसका एक अतिवादी रूप चित्रित किया है। ऐसा करना बिल्कुल अनुचित है।

(क) जर्मन आदर्शवादी. इनमें से पहले विचारक जिन पर हमें ध्यान देना होता है श्री इमैनुवल काट (१७२४-१८०४) हैं जिन्हें साधारणत आधुनिक आदर्शवादी सिद्धान्त का जन्मदाता माना जाता है। पर कुछ लेखक हैं जो यह श्रेय उनके उत्तराधिकारी हीगेल को देना पसन्द करेंगे। अपने राजनैतिक गुरु रूसो की भांति काट भी १८वी सदीके व्यक्तिवाद और नैसर्गिक अधिकार तथा सामाजिक अनुबन्धके सिद्धान्तसे जो सक्रमण या परिवर्तन १९वी शताब्दीके आदर्शवाद और राज्यकी एक नैतिक सघटना-मूलक धारणामें हुआ उसको स्पष्ट करते है। जैसा कि श्री जॉन डिवी (John Dewey) ने कहा हैं शुद्ध अर्थोमें काट दार्शनिक चिन्तनके पुराने युगके अन्तका सकेत करते है। स्पष्टत उनसे आधुनिक चिन्तनका आरम्भ होता है।

काट के राजनैतिक दर्शनमें मौलिक अश बहुत अधिक नही है। उनके राजनैतिक चिन्तन पर रूसो और माटेस्क्यू का बहुत अधिक रचनात्मक प्रभाव पडा है। श्री डनिंग ने इस तथ्यको इन शब्दोमें व्यक्त किया है. 'राज्यके उद्‌भव और स्वरूपके सम्बन्धमें काट का सिद्धान्त ठीक वही सिद्धान्त है जो रूसो का था और जिसे उन्होने अपनी शब्दावलीमें अपनी तर्क-नीतिके साथ व्यक्त किया है इसी प्रकार उन्होने सरकारका विवेचन करनेमें माटेस्क्यू का अनुकरण किया है (१७ १३१)।'

आदर्शवादी दर्शनको काट की सबसे बडी देन यह है कि उन्होने राजनीतिका विवेचन नैतिकताके दृष्टिकोणसे किया है। उन्होने अपने चिन्तनके प्रारम्भिक कालमें ही यह अनुभव कर लिया था कि राजनैतिक चिन्तन नैतिक चिन्तनके निर्देशमें ही होना चाहिए। नैतिक दर्शनसे अलग राजनैतिक दर्शनको वह अर्थहीन मानते थे।

सदाचार और नीति दोनो ही क्षेत्रोमें काट ने रूसो के 'नैतिक इच्छा' वाले सिद्धान्तको अपनाया और उसीको अपने समूचे चिन्तनकी आधार-शिला बनाया। उनका कहना था कि सच्चे अर्थोमें वही व्यक्ति स्वतन्त्र है जो नैतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र है। उनके द्वारा रचित वाक्य-खड 'नैतिक इच्छा की स्वायत्तता, (Autonomy of the Moral Will) राजनैतिक विचारकोंके बीच एक घरेलू कहावत-सा बन गया है। स्वाधीनताकी उनकी धारणामें उसका अर्थ निरकुश और अनुपाधिक स्वाधीनतासे नही है। वह स्वाधीनता अपनी प्रत्येक इच्छाको, चाहे वह उचित हो या अनुचित, सन्तुष्ट करनेका पर्याय नही है। स्वाधीनताका अर्थ स्वच्छन्दता नही है। व्यक्तिको केवल एक ही प्रकारकी स्वाधीनताका अधिकार है और वह ऐसी स्वाधीनता है जिस पर दूसरोके सम्मान और सार्वभौम विधानों के नियमनका प्रतिबन्ध लगा हुआ है (७९ द्वितीय खड पृष्ठ ८६)।' इस प्रकार काट के विचारसे स्वाधीनता और अधिकार समवृत्त (Coincident) है। इस पर टीका करते हुए वॉघ (Vaughan) कहते है, 'अधिकारका विकास स्वाधीनतामें और स्वाधीनता का विकास अधिकारमें है।'

व्यक्तित्वका सम्मान काट के दर्शनका केन्द्र-बिन्दु है। उनका कहना है कि प्रत्येक

व्यक्ति अपने आपमें एक लक्ष्य और उद्देश्य है और किसीको भी दूसरेकी लक्ष्य-सिद्धिका साधन-मात्र नही बनाया जाना चाहिए। जिस निश्चित और पवित्र आदेश द्वारा एक विवेकशील व्यक्तिके कार्योका निर्देश होना चाहिए वह यह है 'एक ऐसे सिद्धान्तके अनुसार कार्य करो जिसे तुम एक सार्वभौम विधान बनानेकी अभिलाषा कर सको। सभी काम एक उसी सिद्धान्तके अनुकूल होने चाहिए। 'व्यक्तिको किसी विशेष लाभ और सन्तोषको अपना उद्देश्य नही बनाना चाहिए, उसे उन लक्ष्योकी ओर आगे बढना चाहिए जिनकी सार्वभौम उपयोगिता हो। उसकी इच्छा तभी स्वतन्त्र समझी जायगी जब वह विवेकशील अथवा सार्वभौम उद्देश्योकी अभिलाषा करे। सदिच्छा ही ऐसी इच्छा है और उसकी पूर्ति ही व्यक्तिके प्रयत्नोका चरम उद्देश्य होना चाहिए। काट के शब्दोमें सदिच्छाको छोड कर ससारमें या ससारके बाहर ऐसी किसी वस्तुकी कल्पना नही की जा सकती जिसे बिना किसी शर्तके अच्छा कहा जा सके।' राज्यका अस्तित्व इसलिए है कि वह ऐसी इच्छाको विकसित और उन्नत करे और सभी स्वार्थपूर्ण लालसाओको रोके। श्री ग्रीन काट के नैतिक इच्छा वाले सिद्धान्तसे बहुत प्रभावित थे जिसके बल पर मनुष्य सर्वदा स्वत एक उद्देश्य बना रहता है।

काट स्वाधीनता और समानताको विवेकशील प्राणियोके आवश्यक गुण बताते है। इन गुणोको वह मनुष्यकी चरम महत्ता और उसके सर्वोच्च महत्त्वका निचोड या सार-तत्त्व मानते है। व्यक्तिगत स्वाधीनताके प्रति उनकी इतनी अधिक ममता है कि वह उसे राज्य की वेदी पर बलिदान करनेको तैयार नही है। वह इस बातका अनुभव करते है कि न्याय की माग यह है कि कोरी व्यक्तिगत स्वाधीनताको सामाजिक जीवनकी आवश्यकताओंका उपाश्रित बनाना चाहिए। पर इसका यह अर्थ नही है कि काट व्यक्तिगत स्वाधीनताको छोडनेके लिए तैयार है। 'स्पष्टत यह न्याय और व्यक्तिगत स्वाधीनताके बीच चलने वाला उनका मानसिक सघर्ष है। इन दोनोके समन्वयका— इनमें मेल बैठानेका मार्ग उन्हें नही दिखायी देता और वह इतने ईमानदार है, कि दो में से किसी एकको भी बलिदान करनेके लिए तैयार नहीं है (७९ ८०)।' काट के राजनैतिक दर्शनकी नैतिक आधार-भूमिको छोडकर जब हम निश्चित राजनैतिक समस्याओको लेते है तो यह देखते है कि उन्होने निम्नलिखित विषयोका विवेचन किया है

(क) सामाजिक अनुबन्ध,
(ख) समाज और राज्य तथा सभ्यता और सस्कृतिके बीचके सम्बन्ध,
(ग) सम्पत्ति,
(घ) दड,
(ङ) अधिकार और कर्त्तव्य,
(च) राज्यका कार्य-क्षेत्र,
(छ) विद्रोह या क्रान्तिका अधिकार,
(ज) सरकारके विभेद, और
(झ) विश्व-शान्ति,

उपर्युक्त विषयो पर काट के विचारोकी सक्षिप्त विवेचनासे यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका आदर्शवाद उनके अनुयायियोंके आदर्शवादसे किस प्रकार भिन्न है।

(क) सामाजिक अनुबन्ध—राज्यकी उत्पत्ति सम्बन्धी समस्याका विवेचन काट ने नही किया। वह उसे अनावश्यक और खतरनाक मानते है। फिर भी वह सामाजिक

मनुष्यकी अन्तरात्माकी कृति है। इसके विकासके लिए नैतिकता आवश्यक है। सस्कृति के लिए मनुष्यके आन्तरिक जीवनकी शिक्षाका श्रम आवश्यक होता है। व्यक्ति द्वारा सस्कृतिकी प्राप्ति जिस समाजका वह सदस्य है उसके बहुत लम्बे प्रयत्नो पर निर्भर रहती है। वह मूलत कोई व्यक्तिगत विशेपता या व्यक्तिगत सम्पत्ति नही है बलिक वह पूरे समाजकी एक विजय है जो उसे कर्त्तव्यनिष्ठाके बल पर प्राप्त होती है(९७ दूसरा खड ८०)।

समाज और राज्य तथा सभ्यता और सस्कृतिका यह विभेद काट की रचनाओं में अपने प्रारम्भिक रूपमें ही दिखाई देता है। इस विभेदकी पूरी-पूरी विवृत्ति या उसका विकास हीगेल और उनके उत्तराधिकारियोकी रचनाओमें हुई है।

(ग) सम्पत्ति साधारण आदर्शवादियोकी भाति काट भी व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्था स्वीकार करते है। वह लॉक के इस सिद्धान्तको नही स्वीकार करते कि जिस किसी वस्तुमें व्यक्तिका श्रम सम्मिलित हो जाय वह वस्तु उसकी है। वह सम्पत्ति सम्बन्धी आत्यन्तिक व्यक्तिवादी सिद्धान्तको अव्यवहार्य और असम्भव कह कर अस्वीकार करते है। वह व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थन इस आधार पर करते है कि मनुष्यकी इच्छा की अभिव्यक्तिके लिए वह आवश्यक है। पर केवल इच्छा ही मनुष्यको किसी वस्तु या सभी वस्तुओका अधिकारी नही बना देती। किसी भी वस्तुके प्राप्त करनेमें मनुष्यको इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि अपनी इच्छा अथवा अपने कार्य द्वारा वह अपने पडोसीको कोई प्रत्यक्ष आघात या हानि न पहुचाए। दूसरे शब्दोमें सम्पत्तिके लिए उन सबकी स्पष्ट स्वीकृति आवश्यक है जिनका उस सम्पत्तिमें किसी प्रकार भी स्पष्ट स्वार्थ निहित है। वह एक प्राप्त अधिकार है और मनुष्यको वह प्रकृतिसे ही प्राप्त नही है।

(घ) दड काट यह अनुभव करते है कि अधिकार-व्यवस्था द्वारा न्यायकी प्रभुता प्रतिष्ठित रखनेके लिए दबाव और दड आवश्यक है। अधिकारकी रक्षा अधिकारके ही अर्थ होनी चाहिए। इसलिए दडका प्रधान उद्देश्य दड देना ही होता है। काट न तो व्यवहारमें और न सिद्धान्तरूपमें ही दडका समर्थन इस आधार पर करते है कि भावी अपराधियोके दिलोमें भय उत्पन्न करनेके लिए वह आवश्यक है और न वह दडका औचित्य इस रूपमें ही मानते है कि वह मूलत तत्कालीन अपराधीको सुधारनेका साधन है। काट की सम्मति में दड-सम्बन्धी यह दोनो ही दृष्टिकोण—निरोधात्मक और सुधारवादी—व्यक्तिके व्यक्तित्वके साथ कुछ भी न्याय नही करते। मनुष्यको स्वत अपने आपमें एक उद्देश्य माननेके बजाए यह सिद्धान्त उसे शासन कलाके यन्त्र-मात्र मानते है।

(ङ) अधिकार और कर्त्तव्य जैसी कि आशा की जानी चाहिए काट व्यक्तिके अधिकारो और कर्त्तव्यो पर बहुत अधिक जोर देते है। अधिकारोकी व्याख्या वह रूसो के अनुसार ही करते है। अधिकार नैतिक स्वाधीनताका पर्याय है। उनका कहना है, 'मनुष्य की मानवताके नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त है वह है स्वाधीनता।' एक दूसरी जगह वह लिखते है, 'स्वाधीनताका अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करनेकी शक्ति जिससे अपने पडोसी पर किसी प्रकारका कोई आघात न पहुचे।'

राजनीतिमें अधिकार केवल आत्मपरक ही नही है। इसका यह अर्थ नही है कि व्यक्ति अपने राग-द्वेपकी पूर्ति करे—अपने मनकी तरगोको पूरा करे। नीति-शास्त्रकी भाति ही राजनीतिमें भी आवश्यक रूपसे अधिकारका सम्बन्ध अपराधसे जुडा हुआ है। अधिकारके साथ उसके अनुरूप कर्त्तव्य भी जुडा हुआ है। व्यक्तिका स्वय अपने प्रति

एक कर्त्तव्य होता है, राज्यके अन्य व्यक्तिगत सदस्योंके प्रति एक कर्त्तव्य होता है और समूचे राज्यके प्रति एक कर्त्तव्य होता है। अधिकार कभी भी एक सुविधा या विशेषाधिकार-मात्र नहीं होता। वह एक भार और आभार या उत्तरदायित्व भी होता है—एक ऐसा आभार या कर्त्तव्य जिसकी अवज्ञा करनेसे कुछ परिस्थितियोंमें व्यक्तिको दंड भी मिल सकता है (७६)।

अधिकारों और कर्त्तव्योंमें कांट विशेष जोर कर्त्तव्यों पर देते हैं। श्री बर्नहार्डी का कहना है, 'जब फ्रांसीसी लोग आत्मिक और ऐहिक या भौतिक निरंकुशताके विरुद्ध विद्रोह करके अपनी दासताकी शृंखलाओंको तोड़ चुके थे और अपने अधिकारोंकी घोषणा कर चुके थे तब प्रशियामें एक बिल्कुल भिन्न कोटिकी क्रान्ति हो रही थी—वह कर्त्तव्यकी क्रान्ति थी और इस क्रान्तिके देवदूत थे श्री कांट। उनकी दृष्टिमें कर्त्तव्य आत्मारोपित (Self-imposed) है। कर्त्तव्य विशुद्ध रूपमें अन्तर्विवेकके—अन्तरात्माके विषय हैं। कर्त्तव्योंका उद्देश्य है मनुष्यके निम्न भौतिक अहमका उच्च विवेकशील अहम् द्वारा शोधन करना। कांट इस बातको स्वीकार करते हैं कि कर्त्तव्यकी यह धारणा, किसी विशेष परिस्थितिमें मनुष्यके क्या निर्दिष्ट कर्त्तव्य होंगे, इस सम्बन्धमें कोई प्रकाश नहीं डालती। यह एक विषय-विहीन धारणा है। स्वभावतः अस्पष्ट होनेके कारण अपने राग-द्वेषके अनुकूल इसकी व्याख्या कर लेना बहुत आसान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बर्नहार्डीने नैतिक कर्त्तव्य और सार्वभौम सैनिक सेवाको एक समान बताते हैं।

(च) राज्यका कार्य-क्षेत्र. कांट राज्यके अन्धभक्त नहीं हैं। उनके राजनैतिक दर्शनकी सामान्य प्रवृत्ति व्यक्तिवादी है। इसीलिए हम देखते हैं कि उन्होंने राज्यके लिए कोई व्यापक कार्य क्षेत्र नहीं निर्धारित किया। प्रत्येक वैधानिक और राजनैतिक वस्तुको वह बाह्य मानते हैं और इसलिए उसे 'अन्तर्प्रेरणाओंकी नैतिक परिधिके भीतर नहीं मानते।' फिर भी वह राज्यको पूर्णरूपेण अनैतिक बता कर उसे और उसके विधानको छोड़नेके लिए तैयार नहीं हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिके स्वाभाविक उद्देश्य अहंकार-मूलक होते हैं। वह उद्देश्य हैं: 'शक्तिका मोह, लाभकी लालसा और गौरवकी कामना। इसका परिणाम होता है सबका सबके विरुद्ध युद्ध। प्रत्यक्षतः नैतिक स्वाधीनता की उन्नति करना राज्यका कर्त्तव्य नहीं है। यह कार्य केवल व्यक्ति ही कर सकता है। राज्यको केवल बाधाओंको बाधित करना चाहिए और इस प्रकार एक बाह्य व्यवस्थाकी ऐसी सामाजिक स्थिति प्रतिष्ठित करनी चाहिए जिसमें वास्तविक नैतिक कार्य क्रमशः मानवताके राज्यका विकास कर सकें।' राज्य द्वारा स्वाधीनताका विरोध करने वाली सभी प्रकारकी शक्तियोंका प्रतिकार किया जाना उचित है। राज्य द्वारा प्रयुक्त होने वाला बल अन्य प्रकारके बलोंसे भिन्न है। 'उसकी एक पवित्र महत्ता है; क्योंकि वह उस शक्तिका प्रतिनिधि है जो आध्यात्मिक, नैतिक और विवेक-मूलक चरम कल्याणकी प्रतिष्ठा और उसके विकासमें तत्पर है (१८)।'

राज्यके प्रति कांट का दृष्टिकोण कुछ असन्तोष-पूर्ण और व्यक्तिवादी है (२:२५)।' उनके इस दृष्टिकोणको कि राज्यका प्रधान कर्त्तव्य स्वाधीनताकी बाधाओंको बाधित करना है ग्रीन और बोसांके दोनोंने अपना लिया था पर हीगेल ने ऐसा नहीं किया।

(छ) शान्तिका अधिकार. चूंकि श्री कांट आजन्म शान्ति-क्रान्तिके दिनों रह रहे थे इसलिए उनकी प्रधान राजनैतिक रचना पर, जो १७९७ में प्रकाशित हुई थी, उस

राज्य-क्रान्तिका प्रभाव स्पष्ट है। काट क्रान्तिसे बहुत ही भयभीत थे और अपने भयके कारण उन्होने 'एक ऐसी अपरिवर्तनशीलताका उपदेश दिया जिसे बर्क भी आवश्यकतासे अधिक मानते है (७६ ८२)।' मनुष्यकी नैतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिए राज्यका अस्तित्व इतना अधिक आवश्यक है कि क्रान्तिका कोई अधिकार हो ही नही सकता। काट का कहना है कि अधिपतिका गद्दी से उतारा जाना और उसे प्राण-दड देना एक 'अनैतिक और अमोचनीय पातक है। यह वैसा ही पातक है जैसा धर्म-शास्त्रोमें 'पवित्रात्मा' के प्रति किये जाने वाला पातक होता है जिसके लिए न इस लोकमें और न परलोकमें ही क्षमा मिल सकती है।' यदि सविधानमें त्रुटिया है और उसमें परिवर्तन करना है तो यह कार्य केवल स्वय अधिपति द्वारा ही सुधारके माध्यमसे ही किया जाना चाहिए न कि जनता द्वारा क्रान्तिके माध्यमसे।

राज्यका प्रतिरोध करनेके प्रश्न पर काट सच्ची जर्मन परम्पराका अनुसरण करते है। हीगेल और कुछ अशो तक बोसाके भी काट के दृष्टिकोणोको अपनाते है पर ग्रीनका दृष्टिकोण इससे बिल्कुल ही भिन्न है।

(ज) **सरकारके विभेद**. काट राज्यके तीन विभेदोकी चर्चा करते है एकतत्र, कुलीनतत्र और प्रजातत्र तथा सरकारके दो विभेदोकी गणतत्रीय और तानाशाही, यह विभेद 'इस आधार पर है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पृथक्-पृथक् है, या नही (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १३३)।' सरकारका जो भी स्वरूप प्रतिनिधि-मूलक नही है, काट उसे अविवेक-पूर्ण मान कर उसे अस्वीकार करते है। पर प्रतिनिधिका कार्य राजा या अभिजात-वर्गको भी उसी प्रकार सोपा जा सकता है जिस प्रकार निर्वाचित प्रतिनिधियो को (१७ तीसरा खड १३३)। यह एक ध्यान देनेकी बात है कि जर्मन आदर्शवादी पूरी तरहसे सार्वजनिक इच्छा और जनताकी सर्वोपरिताका समर्थन करते हुए भी राजतत्रके प्रति अपनी अन्धविश्वास-मूलक श्रद्धाको छोडनेमें समर्थ नही है। विशेष रूपसे श्री काट जो 'प्रशियाके राज्यके एक राजकीय विश्वविद्यालयमें वयोवृद्ध प्रोफेसर थे,' वह भी इस बात पर विश्वास न कर सके कि राजा केवल एक प्रधान कार्यपालिका-मात्र होता है। उनकी दृष्टिमें भी कुछ न कुछ प्रभुसत्ता उसे जन्मसे ही प्राप्त है।

(झ) **विश्व-शान्ति** श्री काट १६ वी शताब्दीकी उपज थे, —इतना अधिक कि वह विश्वबन्धुत्वको अपने सिद्धान्त रूपसे न अपना सकते थे। जहा तक जर्मनीका सम्बन्ध है उस समय तक राष्ट्रीयता बहुत ही नगण्य तत्त्व था। काट ने समूची मानवताको एक इकाईके रूपमें देखा और एक ऐसे सघात्मक राष्ट्र-सघका समर्थन किया 'जिसमें प्रत्येक सदस्य सार्वजनिक, सामूहिक निर्णयके अधीन होगा (३ २७)।' उनका विश्वास था कि मानव-जातिके ऐसे सघ-मूलक सगठनके आधार पर जातियोके बीच परस्पर स्थायी शान्ति स्थापित हो सकती है। उनकी एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पुस्तकका नाम है 'स्थायी शान्ति के लिए (For Perpetual Peace)'।

काट के राज्य-सिद्धान्तकी आलोचना

काट के राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्तकी निम्नलिखित चार आलोचनाए की जाती है

(क) जैसा कि ऊपर कहा गया है काट ने जिस आदर्शकी रूप-रेखा दी है वह एक विषय-विहीन आदर्श है। वह अत्यधिक भाव-सूक्ष्म और बुद्धि-विषयक है। इसमें

ऐहिक या भौतिक पद्धतिका पर्याप्त उपयोग नही किया गया। जैसा कि श्री डीवी कहते है, "ऐहिक उद्देश्यो और परिणामोसे पृथक् कर्त्तव्यका उद्देश्य बुद्धिको कुठित कर देता है।" व्यावहारिक जीवनमें भाव-सूक्ष्म अधिकारो और कर्त्तव्योका कोई अधिक मूल्य नही होता। उनसे प्रगति और सुखकी कोई अभिवृद्धि नही होती। विवेक-पूर्ण स्वार्थका जो मानदड उपयोगितावादी देते है उसे भी अन्तिम आदर्शके रूपमें नही स्वीकार किया जा सकता, पर फिर भी उससे कमसे कम अपने स्वार्थमें लगे हुए व्यापारियोका एक चित्र तो सामने आता है, जब कि निर्दिष्ट कर्त्तव्यका सिद्धान्त एक कवायद कराने वाले फौजी अफसरकी याद दिलाता है।

(ख) राज्य और सस्कृतिकी जो व्याख्या जर्मन लोगोने की है और जिसमें काट की व्याख्या भी शामिल है उसका बहुत अधिक दुरुपयोग हो सकता है। एक दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि राज्य एक ऐसी सस्था है जिसमें जनताकी भावना मूर्तिमती या साकार होती है पर जर्मन विचारक इसका अत्यधिक शाब्दिक अर्थ लेते है। उदाहरणके लिए जर्मन लोगोने महायुद्धको 'एक महान् आत्मिक सघर्षकी बाह्य अभिव्यक्ति' बताया था। दूसरे विश्वयुद्धको भी उन्होने इसी दृष्टिसे देखा है।

(ग) 'नैतिक स्वाधीनता' सम्बन्धी अपनी धारणाका अत्यधिक उपयोग करते हुए श्री काट कभी भी यह निश्चय न कर सके कि वह स्वाधीनताका साधारण अर्थ 'स्वतत्र अकेले छोड दिए जाना' लेना चाहते थे या स्वाधीनताका प्रयोग वह इस ऊचे अर्थमें करते थे कि मनुष्यकी उच्चतर शक्तियोके विकासके लिए आवश्यक अवसरोकी व्यवस्था की जाय। वॉघा (Vaughan) का कहना है, 'वह असफल इसलिए हो गए कि राज्य सम्बन्धी दो पृथक् धारणाओंके बीच वह चक्कर काटते रहे'—१८वी शतीके व्यक्तिवाद और उत्तरकालीन आदर्शवादके बीच वह हमेशा डावाडोल रहे।

फिश्ते (Fichte १७६१-१८१४) एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके राजनैतिक दर्शन पर अधिकाश रूपमें उनकी समकालीन ऐतिहासिक घटनाओका प्रभाव पड़ा था। एक विश्वबन्धुत्ववादीसे प्रारम्भ होकर वह एक राष्ट्रीयतावादीमें बदल गये। इस परिवर्तनके लिए नेपोलियन के विजय-अभियानकी विपत्तिया उत्तरदायी है।

जहा तक उनके राज्य-विषयक सिद्धान्तका सम्बन्ध है, अपनी प्रारम्भिक रचनाओमें उन्होने रूसो का अनुगमन किया है। व्यक्ति और उसके अधिकारोको केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। उत्तरकालीन रचनाओमें अभिरुचिका सन्तुलन कुछ निश्चित रूपसे बदल गया है। इन रचनाओमें जनता और जातिको प्रधान महत्त्व दिया गया है और राष्ट्रीय अथवा जातीय राज्यके आदर्श रूपमें एक राजकीय समाजवाद (State Socialism) की योजना प्रस्तुत की गयी है।

सभी आदर्शवादियोकी रचनाओकी भाति फिश्ते की रचनाओमें भी राज्यको मनुष्यके व्यक्तित्वकी एक आवश्यक अभिव्यक्ति माना गया है। राज्य सम्बन्धी फिश्ते के विचारोमें सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्तके चिह्न मिलते है पर नैसर्गिक अधिकारो और समान पूर्व प्राकृतिक राज्यकी धारणा नही मिलती। व्यक्तिको केवल एक ही पूर्ण और चरम अधिकार प्राप्त है और वह है अपनी विवेक-सगत इच्छा या सम्मतिका प्रयोग करनेका अधिकार। कांट इच्छाकी व्याख्या करते है बुद्धि-विवेकका कार्य-क्षेत्रमें प्रयोग और फ़िश्ते तर्कको इच्छाकी अभिव्यक्ति मानते है।

फिश्ते सावधानी पूर्वक व्यक्तिको सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यमें विलीन होनेसे बचाये रखते हैं और इस दृष्टिसे वह हीगेल और उनके अनुयायियोसे भिन्न और काट तथा ग्रीन के अनुरूप हैं। वह रूसो के इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं कि राज्यमें प्रवेश करते ही व्यक्ति अपने आपको और अपनी सभी सम्पत्तिको सामूहिक सत्ताके हाथो समर्पित कर देता है। अपनी एक उत्तरकालीन पुस्तक «Closed Commercial State» में फिश्ते ने राज्यका कर्त्तव्य यह बताया है 'सबसे पहले जो जिसका है वह उसे देना, प्रत्येक को पहली बार उसकी सम्पत्तिमें प्रतिष्ठित कर देना और तब सबसे पहले उसकी उस स्थितिमें रक्षा करना, हीगेल की भाति वह मानवताकी आध्यात्मिक स्वाधीनतामें योग देना जर्मन राष्ट्रका कर्त्तव्य और लक्ष्य मानते हैं।

सम्पत्तिके प्रश्न पर फिश्ते और काट का प्रस्थान-विन्दु एक ही है पर फिश्ते उसके विवेचनमें काट द्वारा सावधानी-पूर्वक निर्धारित सीमाओसे काफी आगे बढ गये हैं। उनका कहना है कि सम्पत्ति केवल अधिकार-मात्र नही है। सम्पत्तिका एक गम्भीर नैतिक महत्त्व है। सम्पत्तिका अर्थ है मनुष्यकी इच्छा द्वारा प्रकृतिकी विजय, अहम् (ego) द्वारा अहमेतर (non-ego) का अपने अधीन किया जाना। सम्पत्तिका एक सामाजिक आधार और लक्ष्य है। 'यह व्यक्तिके अहकारकी अभिव्यक्ति नही है बल्कि सार्वभौम इच्छाकी अभिव्यक्ति है। इसलिए सम्पत्ति और राज्यकी धारणाका यह एक तात्त्विक अग है कि समाजके सभी सदस्योको सम्पत्ति प्राप्त करनेका समान अवसर मिले।' इसी-लिए राज्यका भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक सदस्यके लिए काम करनेका अधिकार और किए गए कामका प्रतिफल दिलाए। विना इस अधिकारके मिले प्रत्येक व्यक्तिका नैतिक आत्मनिर्णयका सर्वोच्च अधिकार एक मखौल-मात्र बन जाता है।

अपनी पुस्तक «Closed Commercial State» में फिश्ते राजकीय समाज-वादका समर्थन करते हैं। यह समर्थन आर्थिक आधार पर न होकर नैतिक और आदर्श-वादी आधार पर किया गया है। अपने नैतिक व्यक्तित्वके विकासके लिए प्रत्येक व्यक्ति को काम करने और एक निश्चित परिमाणमें सम्पत्ति प्राप्त करनेका अधिकार है। 'उनकी दृष्टिमें चरम लक्ष्य एक ऐसा विश्व-राज्य (Universal State) है जो उतना व्यापक होगा जितनी व्यापक स्वय मानवता है और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति, विना राज्य द्वारा रक्षित अधिकारो और राज्य द्वारा लागू किए गए कर्त्तव्योको, स्वतन्त्रता-पूर्वक काम करेगा।' पर इस युग तक पहुचनेके पहले राष्ट्रवादी राज्योकी स्थितिसे पार होना आवश्यक है। इस प्रकार जैसा श्री डीवी कहते है, काट का नैतिक व्यक्तिवाद फिश्ते की विचार-धारामें एक नैतिक समाजवाद बन जाता है। हैलोवेल के अनुसार श्री फिश्ते जैसे-जैसे वृद्ध होते गए वैसे वैसे अधिकाधिक मात्रामें वह राजकीय नियन्त्रण और समूहवादको स्वीकार करते गए। काट की भाति ही फिश्ते भी एक प्रजातन्त्रीय सविधानमें वशानुगत सम्राट्की स्वाधीन स्थितिका समर्थन करते थे।

विल्हेल्म वॉन हमोल्ट (Wilhelm Von Humboldt) काट के साथ हमोल्ट का भी विश्वास है कि राज्यकी उत्पत्ति मनुष्योके वीच पारस्परिक हितके लिए हुए एक अनुबन्धसे हुई है। राज्य स्वय अपने आपमें कोई उद्देश्य नही है। उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्यके लक्ष्यको सिद्ध करना है और मनुष्यका लक्ष्य है अपनी समूची शक्तियोका एक सतुलित सर्वोच्च विकास। प्रत्येक व्यक्तिके यथासम्भव परिपूर्ण विकाससे पृथक् रह

कर मानव-जाति अपने आपको पूर्ण नही बना सकती।

राज्यका कार्य-क्षेत्र 'व्यक्तिगत नागरिकोके जान-मालकी सुरक्षाकी व्यवस्थासे आगे नही बढना चाहिए। राज्यको नागरिकोके कल्याणकी धनात्मक उन्नति कभी भी अपने हाथमें नहीं लेना चाहिए। उसे शिक्षा, धर्म और नैतिक उत्थानके झमेलेमें कभी नही पडना चाहिए। चरित्रका विकास सीधे-सीधे व्यक्तिका कर्त्तव्य है।' इस प्रकार हमोल्ट का राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण एक व्यक्तिवादीका दृष्टिकोण है। अन्य अनेक व्यक्तिवादियो से भिन्न रूपमें श्री हमोल्ट प्रजातन्त्रके लिए उतावले नही है।

समाजकी रक्षाके लिए किये जाने वाले युद्धको हमोल्ट उचित मानते है। युद्धसे होनेवाले भयानक परिणामोके बावजूद भी हमोल्ट उसे मानव-चरित्रके विकास पर बहुत अच्छा प्रभाव डालनेवाला मानते है।

हीगेल (Hegel १७७०-१८३१). जर्मन आदर्शवादियोमें हीगेल का प्रभाव अपने देश पर सबसे अधिक पडा है। अनेक ऐसे लोग है जिनका यह दावा है कि १९१४-१८ के महायुद्धका उत्तरदायित्व अन्य किसी भी व्यक्तिकी अपेक्षा हीगेल पर अधिक था। जिस दार्शनिक सिद्धान्तकी उन्होने प्रतिष्ठा की उसने राज्यको एक रहस्यपूर्ण उच्च शिखर पर पहुचा दिया, और इस मान्यताको स्थिर किया कि शेष समस्त ससारके प्रति जर्मन जातिका एक पवित्र सदेश है और उस सदेशको उसे कार्यान्वित करना है।

यद्यपि उन्हें एक विशिष्ट आदर्शवादी कहकर विख्यात किया गया पर हीगेल वास्तव में एक यथार्थवादी थे। "वह ऐसे 'विचार' या 'परम भाव' (absolute) को बर्दाश्त नही कर सकते थे जिसका आधार आसमानमें हो।" उनके आदर्शका राज्य ऐसा नही था जिसे किसी सुदूर भविष्यमें प्राप्त किया जाता बल्कि वह आदर्श राज्य उनके सम-कालीन जर्मन राज्यसे व्यवहारत. एकरूप था। राज्यके प्रति उनका दृष्टिकोण एक स्वेच्छाचारीका दृष्टिकोण था। वह एकरूपसे लगभग एक पशु-बलवादी थे।

हीगेल के दर्शनका प्रस्थान-विन्दु यह है कि, 'जो यथार्थ है वह युक्ति-पूर्ण है और जो युक्तिपूर्ण है वह यथार्थ है। तत्वत. ईश्वर या परम सत्ता विचार ही है और विचार ही अन्तिम वास्तविकता या परम सत्य है। विचार जीवन है और जीवन विचार।'

१. काट और हीगेल. हीगेल ने काट और फिश्ते की विचारधाराको लेकर उसे अपने समयकी परिस्थितियो और अपनी प्रतिभाके अनुकूल बनाया, और यही उनका राजनैतिक दर्शन है। अपने महान् पूर्ववर्ती काट की भाति उन्होने अपनी पद्धतिका आधार एक आध्यात्मिक विचारको बनाया। पर उस विचारका प्रयोग करनेमें उन्होने एक बिल्कुल भिन्न ढग अपनाया। कांट ने तो स्वयसिद्धि-मूलक या निगमनात्मक पद्धति अपनायी थी पर हीगेल ने ऐतिहासिक या विकासवादी पद्धतिका अनुगमन किया। जैसा कि वॉघा (Vaughan) ने लिखा है. 'व्याख्यान-मूलक आलोचना काट का प्रधान विचार है, और हीगेल की सफलताका केन्द्र-विन्दु है विकास।' इसी लेखकके शब्दोमें, 'काट ने अपना चिन्तन व्यक्तिगत चेतनासे प्रारम्भ किया और हीगेल ने बाहरी ज्ञान और सगठित सस्थाओकी दुनिया से।' अपने जीवनके अन्त तक कांट ने, अपनी आदर्शवादी विचारधारा के बावजूद भी, राज्य-कार्यकी व्यक्तिवादी धारणाका समर्थन किया। हीगेल ने व्यक्ति-वादको पूर्ण रूपसे अस्वीकार कर दिया और स्वाधीनताकी एक ऐसी धारणाका समर्थन किया जो कांट की एतद् सम्बन्धी धारणाकी अपेक्षा अधिक निश्चयात्मक और बाह्यार्थ-

मूलक थी। हीगेल के अनुसार स्वाधीनताका अर्थ है प्रसार (Expansion)। 'यह (स्वाधीनता) मेरे (व्यक्तिके) स्वाभाविक अहम्‌को विचारशील अहम्‌के अनुसार परिपूर्ण बनानेकी इच्छामें छिपी हुई है (३ ' १७)। यह रचनात्मक है। 'इसका प्रकाशन बाहरी अभिव्यक्तियोकी एक शृंखला द्वारा होता है—पहले विधान द्वारा, फिर आन्तरिक नैतिकताके नियमोंके रूपमें और अन्तमें प्रथाओ और प्रभावोकी एक ऐसी समूची व्यवस्था द्वारा जो जातीय राज्यकी पवित्रतामें योग देती है (५ २७)।'

हीगेल ने जातीय राज्यको बहुत गौरव दिया और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकताको बिना किसी आडम्बरके अस्वीकार कर दिया। इसके विपरीत काट विश्व-शान्ति और एक ऐसे राष्ट्र-सघमें विश्वास रखनेवाले थे जिसका आधार सघीय व्यवस्था हो। पर दोनो ही राजतत्र पर दृढ़ विश्वास रखते थे और प्रतिनिधि-मूलक सस्थाओ या प्रथाओ पर उन्हें कोई विश्वास नही था। हीगेल ने राज्यकी अनुबन्ध-मूलक धारणाको अस्वीकार कर दिया, जिस पर काट को विश्वास था। हीगेल ने यह शिक्षा दी कि राज्य एक 'स्वाभाविक आवश्यकता' है। इस दृष्टिसे वह यूनानी विचारकोके मूल आदर्शवादी सिद्धान्तोके प्रति काट की अपेक्षा अधिक निष्ठावान् थे।

२ **फिस्ते और हीगेल** हम ऊपर कह चुके है कि फिश्ते की विचारधारामें १८ वी शतीके विश्वबन्धुत्ववादको छोडकर १९ वी शतीके राष्ट्रीयतावादको ग्रहण करनेकी सक्रमण स्थिति स्पष्ट दिखायी देती है। यह विश्वबन्धुत्व हमें काटमें मिलता है और राष्ट्रीयतावाद हीगेल में। हीगेल की विचारधारामें जर्मन राजदर्शनको उसके इतिहास-दर्शनके साथ मिलाकर एक करनेका प्रयत्न दिखायी देता है। अपनी उत्तरकालीन रचनाओ में वह इस विचारको प्रतिपादित करते है कि मानव-इतिहास द्वारा विशेषकर जर्मन इतिहास द्वारा, एक दैवी उद्देश्यकी अभिव्यक्ति हुई है। वह राष्ट्रीयतावादको सामान्यत, और जर्मन राष्ट्रीयतावादको विशेषरूपसे, बहुत अधिक महत्त्व देते है। राज्य उनकी दृष्टिमें दिव्य शक्तिका एक अग है और इसलिए देश-प्रेम धर्मका समानार्थवाची है।

फिश्ते का दावा है कि जर्मन जाति ही ससारकी एकमात्र धार्मिक जाति है। इसलिए केवल जर्मन लोग ही देश-भक्तिके लिए समर्थ है।

राज्य और इतिहास सम्बन्धी इन मौलिक विचारोको हीगेल के राजनैतिक दर्शनमें स्वीकार कर लिया गया है और यह विचार उनकी कुछ रचनाओमें अधिक उग्र रूपमें व्यक्त हुए है जैसे 'आउटलाइन्स ऑफ दि फिलॉसफी ऑफ् राइट्स' (Outlines of the Philosophy of Rights, 1820) और आउटलाइन्स ऑफ् दि फिलॉसफी ऑफ् हिस्ट्री' (Outlines of the Philosophy of History 1822-31) में।

३. **हीगेल के राजनैतिक सिद्धान्तका दार्शनिक महत्त्व** काट और फिश्तेकी भाति ही हीगेल ने भी अपने राजनीति-शास्त्रका विकास एक व्यापक दार्शनिक पद्धतिके एक अग रूपमें किया है। इस दर्शनका मूलमन्त्र है 'जो तर्क-सगत है वह यथाथ है जो यथार्थ है वह तर्क-सगत है।'- यद्यपि हीगेल ने ऐतिहासिक और विकासवादी पद्धतिका उपयोग बहुत अधिक किया है पर यह प्रयोग एक व्यापक सूक्ष्म चिन्तनके परिशिष्टके रूपमें ही किया गया है।

इन तीनो लेखकोका प्रस्थान-बिन्दु रूसो की यह शिक्षा है कि स्वधीनताकी भावना ही व्यक्तिका मूल तत्व है। रूसोकी व्याख्या करते हुए हीगेल कहते है, 'स्वाधीनता मनुष्य

का विशिष्ट गुण है। किसीकी स्वाधीनताको अस्वीकार करनेका अर्थ है उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करना। इसलिए स्वाधीन न होनेका अर्थ है अपने मानवीय अधिकारोका और अपने कर्त्तव्योका भी त्याग करना।' एक स्थान पर उन्होने और लिखा है, "प्राकृतिक स्वाधीनता या स्वाधीन होनेकी क्षमता ही वास्तविक स्वाधीनता नही है क्योकि स्वाधीनता का यथार्थ रूप राज्यसे भिन्न या उससे कम कोई चीज़ नही है। स्वाधीनताका यह अर्थ कभी नही लिया जाना चाहिए कि वह प्रत्येक व्यक्तिकी आकस्मिक स्वतत्र इच्छा है वल्कि उसका अर्थ है एक विवेक-पूर्ण इच्छा। वह इच्छा जो स्वय अपने अर्थमें और अपने में पूर्ण होती है (५:२२०-२१)।'

चूकि स्वाधीनता मनुष्यका मूल तत्व है इसलिए हीगेल की धारणामें, मनुष्यकी इच्छा भी स्वतत्र है। काट और फिश्ते ने मनुष्यकी इच्छाको "व्यक्तिगत मनुष्यकी विशेषता या उसकी शक्ति" कहा है (१७ तीसरा खड, पृष्ठ ५५) पर हीगेल उसकी व्याख्या शुद्ध सूक्ष्म विवेकके एक पक्ष रूपमें करते है। यह इच्छा 'अनादि, अनन्त, सार्वभौम, स्वय चेतन, आत्मनिर्णायक है (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १५५-५६)।' हीगेल के शब्दोमें, "अन्तिम सूक्ष्म व्याख्याके रूपमें इच्छाकी धारणा यह है कि वह स्वतत्र इच्छा या सम्मतिकी अवधारणा करने वाली स्वतत्र इच्छा है।"

इच्छा इस प्रकार स्वतत्र और परम पूर्ण है और उपयुक्त तर्कके प्रयोग द्वारा वह विविध विचारोके रूपमें व्यक्त होती है। इनमेंसेपहला स्वरूप है विधान, दूसरा स्वरूप है आन्तरिक नैतिकता और तीसरा स्वरूप है "उन प्रथाओं या सस्थाओ और प्रभावोंकी वह समूची पद्धति जो जातीय राष्ट्रमें पवित्रताकी उत्पत्ति करती है (२ १७)।" विधान के अन्तर्गत हीगेल व्यक्तित्व, सम्पत्ति और अनुवन्धके विचारोका विवेचन करते है और यह सिद्ध करते है कि यह सभी स्वतत्र इच्छाकी मूर्त अभिव्यक्तिया है। एक जीवित प्राणी जिस हद तक व्यक्ति वननेकी अपनी स्वतत्र इच्छाका प्रयोग करता है उसी हद तक वह एक व्यक्ति वन पाता है। भौतिक पदार्थ सम्पत्ति है क्योकि वह मनुष्यकी इच्छाके प्रकाशन है और उनकी स्वय कोई इच्छा नही है। एक दासकी स्थिति सम्पत्तिकी अपेक्षा कोई बहुत अच्छी नही है क्योकि उसमें स्वाधीन होनेकी स्वतत्र इच्छाका अभाव है। अपने सम्पूर्ण विवेचनमें हीगेल विधानो और अधिकारोको किसी निश्चित मानदडसे नही परखते। वह इनकी परख सस्कृति और आत्मचेतनाकी विभिन्न स्थितियोकी कसौटी पर करते है जो इतिहास द्वारा प्रकट होती है (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १५७)।"

दूसरी अवस्था है आत्मिक नैतिकता की। इसके अन्तर्गत हीगेल आत्मनिर्णयके उन पक्षोकी विवेचना करते है जिनमें व्यक्ति अपने समान अन्य व्यक्तियोंके अस्तित्वकी चेतना से प्रभावित होता है (१७: तीसरा खड, पृष्ठ १५७)।'

तीसरी और अन्तिम अवस्था वह है जिसे हीगेल इन तीनोमें सवसे ऊची मानते है। यह अवस्था है «Sittlichkeit» जिसका अनुवाद विभिन्न रूपोमें किया गया है: 'सामाजिक नीति-शास्त्र', 'नैतिक व्यवस्था', 'नैतिक जीवन' और 'परम्परागत अथवा प्रथागत नैतिकता।' यह वह क्षेत्र है जिसमें विधानकी एकान्त वाह्यरूपता और नैतिकताकी एकान्त आन्तरिकताका समन्वय होता है। यह यथातथ्य नैतिकता अथवा आचरणका क्षेत्र है। इसमें विधान, प्रथा, भावना, शाब्दिक क़ानून और नैतिक इच्छा सम्मिलित है। यह काट के शुद्ध सदिच्छा-सिद्धान्तका विरोधी है। समाजकी प्रथागत नैतिकताका

पालन करनेमें व्यक्तिकी स्वतत्र इच्छाकी पूर्ण सिद्धि हो जाती है। समाजकी प्रथागत नैतिकता सार्वभौम ध्येयकी कार्यान्विति है।

यह स्वय अपनी सीमासे बाहर अपनेको प्रसारित करती है और ऐसा करनेमें ही अपनी पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। दार्शनिकके शब्दोमें, 'विधान (Recht) और सूक्ष्म नैतिकता (Moralıtat) जो नही है प्रथा (Sıtle) वही है अर्थात् वह भावात्मा है और भावात्मामें ही व्यष्टि और समष्टिकी एकता है (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १५३)।

नैतिकता चेतनाकी इस अन्तिम अवस्थाकी तीन क्रमिक स्थितिया यह है--परिवार, नागरिक अथवा मध्यवर्गीय समाज और राज्य।

परिवार. इस सम्बन्धमें हीगेल के विचार वही है जो उनके समयमें परम्परागत विचार थे और जो अधिकाश रूपमें ग्रीन की विचारधारामें सम्मिलित है। आधुनिक परिवार समाज और राज्यका एक आवश्यक अग है और साथ ही साथ दोनोंसे भिन्न भी है। अन्य प्रथाओकी भाति यह भी बुद्धि-तत्वका प्रतिनिधित्व करता है। परिवार एक विवेक-पूर्ण उद्देश्यको अभिव्यक्त करता है। एक भावना या अनुबन्ध-मात्र पर ही यह आधारित नही है। इसका एक नैतिक और सार्वजनिक पक्ष भी है। नैतिक पक्ष भी इसमें एक-पत्निव्रत और पति पत्नीके बीच समान और स्थायी सम्बन्ध निहित है। एकपत्निव्रतसे हीन परिवार अनैतिक परिवार है। एकपत्निव्रत पर आधारित आधुनिक परिवार प्राचीन कबायली प्रथा या अन्य किसी ऐसी प्रथाकी अपेक्षा एक उच्चतर सभ्यताका प्रतिनिधित्व करता है जिसमें 'पति-पत्नीका सम्बन्ध केवल प्राकृतिक भावना, दया, उदारता अथवा स्नेह पर निर्भर था (५ २५०)।'

राज्यको परिवारका रूप दे देना, चाहे वह परिवारको ऊचे उठाकर किया जाय अथवा राज्यको नीचे गिराकर, इन दोनोके सम्बन्धोको ग़लत समझना है (५ २५०)।' दोनो ही मनुष्यकी बुद्धिकी अभिव्यक्तिया है, पर दोनोका स्वरूप भिन्न है। इसलिए दोनोकी अपनी-अपनी विशेषताओको कलकित या भ्रष्ट नही करना चाहिए (५ १५०-३)।'

नागरिक समाज हीगेलकी दृष्टिमें नागरिक समाज, 'जीवन और मानव-मस्तिष्क का जो रूप परिवारमें मूर्तिमान् है उसका ठीक विरोधी दूसरा छोर है (५ २५२-३)।'

नागरिक समाज एक आर्थिक और व्यावसायिक ससारका समर्थन करता है जिसमें लोग रोटी कमाने वाले जीव-मात्र दिखाई देते हैं। अपने आर्थिक हितोका सफलता-पूर्वक अनुगमन करनेके लिए वह पुलिस-व्यवस्था और न्याय-शासनकी माग करते है। इस प्रकार का समाज राज्यसे बहुत अधिक भिन्न नही होता पर हीगेल इस विभेद पर ज़ोर देते है। उनका यह ज़ोर अशत इस कारण भी है कि वह अपनी विचार-पद्धतिको एक कला-पूर्ण सहिति देनेके लिए उसे तीन अवस्थाओमें विभाजित करके राज्यको सर्वोच्च स्थान देना चाहते है। उनकी दृष्टिमें नागरिक समाज कोई पृथक् समाज नही है बल्कि एक व्यापक व्यवस्थाका एक रूप-मात्र है (५ ३५५)। शुद्ध राज्यके भीतर और उसकी शक्तिके सबल आधार पर ही मध्यवर्गीय समाज जैसी कोई दुनिया बन सकती है या उसकी कल्पना की जा सकती है। 'राज्यकी अपेक्षा नागरिक समाजकी पूर्ववर्तिता परिवारकी पूर्ववर्तिताके समान ही है। यह पूर्ववर्तिता अपेक्षाकृत सकीर्णता अथवा सरलता की है—अपेक्षाकृत कम तथ्यो तथा समस्याओका समाधान करने और मानव-स्वभावके एक विशिष्ट यद्यपि आवश्यक स्वरूपका प्रतिनिधित्व करनेकी पूर्ववर्तिता है (५ ३५५)।'

तीसरी अवस्था है राजनैतिक संगठन अथवा शुद्ध अर्थोमें राज्यकी।

विकासकी धारणा. हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तोकी उपर्युक्त विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासकी धारणा उन सिद्धान्तोमें बीज रूपसे निहित है। प्रकृतिकी व्याख्या इस रूपमें की गयी है कि वह मनुष्यकी आध्यात्मिक प्रेरणाओको अधिकसे अधिक बाहरी अभिव्यक्ति देनेमें तत्पर है। हीगेल के सिद्धान्तमें विकासका विधान कोई यान्त्रिक विधान-मात्र नही है, वह एक आत्मिक विधान है। 'यह पदार्थके माध्यमसे बुद्धिका विकास नही है बल्कि बुद्धिके माध्यमसे पदार्थका विकास है। इसका लक्ष्य विवेकको भौतिक या पदार्थ रूप देना नही है बल्कि प्रकृतिको आत्मिक रूप देना है (७९)।' 'विवेक और पदार्थ, प्रकृति और आत्माकी धारणाकी विवेचना परस्पर विरोधी धारणाओके रूपमें नही की गयी। एक अर्थमें विवेक और पदार्थ, प्रकृति और आत्मा हमारी अनुभवकी दुनियामें सहयोगी तत्त्व है। एक दूसरे और पूर्ण अर्थमें विवेक ही सब कुछ है (७९)।' हीगेल ने जिस विकासका इतिहास खोजा है वह घटनाओ अथवा प्रथाओ या संस्थाओका विकास नही है बल्कि कल्पना-मूलक विचारका विकास है। हमारे अध्ययनका मुख्य विषय विचार है—घटनाए नही। 'अन्य वस्तुओकी भाति विचारका भी एक इतिहास है और उसका इतिहास समझ कर ही—समयानुकूल उसके विकासको जान कर ही हम उसके सच्चे स्वरूपको समझ सकते है (७९)। हीगेल की पद्धतिके दो केन्द्रीय विचार यह है

१. 'मनुष्यके अनुभवकी दुनियामें ऐसी कोई चीज़ नही है जो मनुष्यके तर्क या विवेक की सृष्टि न हो,

२ विवेक या तर्क तत्त्वत एक विकासका सिद्धान्त है और इसलिए उसकी कोई भी अभिव्यक्ति तब तक समझमें नही आ सकती जब तक उसके निरन्तर विकासकी दृष्टिसे उसका अध्ययन न किया जाये।'

प्रगति और स्वाधीनता (Progress and Freedom) प्रगतिकी नाप-तोल एक निश्चित लक्ष्यको दृष्टिमें रखकर ही की जा सकती है। यह निश्चित लक्ष्य है स्वाधीनताके सिद्धान्तके अनुकूल आत्माकी अनुभूति। स्वाधीनता एक विचार है। वह एक ऐसा आदर्श है जिसे सब व्यक्तियोको प्राप्त करना चाहिए। प्रगतिका अर्थ है स्वाधीनताकी धारणाकी क्रमिक अनुभूति। स्वाधीनताका अर्थ बाहरी रुकावटोका अभाव-मात्र नही है। स्वाधीनता व्यक्ति की इस आज़ादीका समानार्थी नही है कि वह अपनी शक्तियो और अपनी सम्पत्तिका जैसा चाहे वैसा उपयोग करे। स्वाधीनताका लक्ष्य है मनुष्यकी अपनी प्रकृतिके आधारभूत नियमोके अनुकूल उसकी नैतिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तिका स्वतन्त्र विकास।

इतिहास. हीगेल की दृष्टिमें इतिहास मानव-आत्मा द्वारा आत्मशोधके लिए की गयी तीर्थ-यात्रा है। इतिहास तर्क-संगत है। उसकी गति तर्क या परमात्मा द्वारा संचालित होती है। व्यक्ति इतिहासमें एक महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, और इतिहास, समाजके माध्यम से, उसके व्यक्तित्वके विकासके लिए पर्याप्त अवसर देता है। एक नैतिक प्राणीके रूपमें मनुष्यके अस्तित्वके लिए समाज अनिवार्य है।

विश्व-इतिहास विश्वका निर्णय है (हीगेल)। हीगेल द्वारा प्रयुक्त 'निर्णय (Judgment)' का अर्थ है एक जातिकी विजय और दूसरी जातिकी पराजय। विजय इस बात का अन्तिम प्रमाण है कि विश्व-चेतनाने एक जातिको छोडकर दूसरी जातिको अपना निवास-स्थान बनाया है। किसी भी जातिका इस प्रकार पराजित होना कि उसे जातियो

पालन करनेमें व्यक्तिकी स्वतन्त्र इच्छाकी पूर्ण सिद्धि हो जाती है। समाजकी प्रथागत नैतिकता सार्वभौम ध्येयकी कार्यान्विति है।

यह स्वय अपनी सीमासे बाहर अपनेको प्रसारित करती है और ऐसा करनेमें ही अपनी पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। दार्शनिकके शब्दोमें, 'विधान (Recht) और सूक्ष्म नैतिकता (Moralıtat) जो नही है प्रथा (Sıtle) वही है अर्थात् वह भावात्मा है और भावात्मामें ही व्यष्टि और समष्टिकी एकता है (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १५३)।

नैतिकता चेतनाकी इस अन्तिम अवस्थाकी तीन क्रमिक स्थितिया यह हैं--परिवार, नागरिक अथवा मध्यवर्गीय समाज और राज्य।

परिवार. इस सम्बन्धमें हीगेल के विचार वही है जो उनके समयमें परम्परागत विचार थे और जो अधिकाश रूपमें ग्रीन की विचारधारामें सम्मिलित है। आधुनिक परिवार समाज और राज्यका एक आवश्यक अग है और साथ ही साथ दोनोसे भिन्न भी है। अन्य प्रथाओकी भाति यह भी वुद्धि-तत्त्वका प्रतिनिधित्व करता है। परिवार एक विवेक-पूर्ण उद्देश्यको अभिव्यक्त करता है। एक भावना या अनुबन्ध-मात्र पर ही यह आधारित नही है। इसका एक नैतिक और सार्वजनिक पक्ष भी है। नैतिक पक्ष भी इसमें एक-पत्निव्रत और पति पत्नीके बीच समान और स्थायी सम्बन्ध निहित है। एकपत्निव्रतसे हीन परिवार अनैतिक परिवार है। एकपत्निव्रत पर आधारित आधुनिक परिवार प्राचीन कवायली प्रथा या अन्य किमी ऐसी प्रथाकी अपेक्षा एक उच्चतर सभ्यताका प्रतिनिधित्व करता है जिसमें 'पति-पत्नीका सम्बन्ध केवल प्राकृतिक भावना, दया, उदारता अथवा स्नेह पर निर्भर था (५ २५०)।'

राज्यको परिवारका रूप दे देना, चाहे वह परिवारको ऊचे उठाकर किया जाय अथवा राज्यको नीचे गिराकर, इन दोनोके सम्बन्धोको ग़लत समझना है (५ २५०)।' दोनो ही मनुष्यकी वुद्धिकी अभिव्यक्तिया है, पर दोनोका स्वरूप भिन्न है। इसलिए दोनोकी अपनी-अपनी विशेषताओको कलकित या भ्रष्ट नही करना चाहिए (५ १५०-३)।'

नागरिक समाज हीगेलकी दृष्टिमें नागरिक समाज, 'जीवन और मानव-मस्तिष्क का जो रूप परिवारमें मूर्तिमान् है उसका ठीक विरोधी दूसरा छोर है (५ २५२-३)।'

नागरिक समाज एक आर्थिक और व्यावसायिक ससारका समर्थन करता है जिसमें लोग रोटी कमाने वाले जीव-मात्र दिखाई देते है। अपने आर्थिक हितोका सफलता-पूर्वक अनुगमन करनेके लिए वह पुलिस-व्यवस्था और न्याय-शासनकी माग करते है। इस प्रकार का समाज राज्यसे वहुत अधिक भिन्न नही होता पर हीगेल इस विभेद पर ज़ोर देते है। उनका यह ज़ोर अशत इस कारण भी है कि वह अपनी विचार-पद्धतिको एक कला-पूर्ण सहिति देनेके लिए उसे तीन अवस्थाओमें विभाजित करके राज्यको सर्वोच्च स्थान देना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें नागरिक समाज कोई पृथक् समाज नही है वल्कि एक व्यापक व्यवस्थाका एक रूप-मात्र है (५ ३५५)। शुद्ध राज्यके भीतर और उसकी शक्तिके सवल आधार पर ही मध्यवर्गीय समाज जैसी कोई दुनिया वन सकती है या उसकी कल्पना की जा सकती है। 'राज्यकी अपेक्षा नागरिक समाजकी पूर्ववर्तितता परिवारकी पूर्ववर्तितताके समान ही है। यह पूर्ववर्तितता अपेक्षाकृत सकीर्णता अथवा सरलता की है—अपेक्षाकृत कम तथ्यो तथा समस्याओका समाधान करने और मानव-स्वभावके एक विशिष्ट यद्यपि आवश्यक स्वरूपका प्रतिनिधित्व करनेकी पूर्ववर्तितता है (५ ३५५)।'

तीसरी अवस्था है राजनैतिक सगठन अथवा शुद्ध अर्थोमें राज्यकी।

विकासकी धारणा. हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तोकी उपर्युक्त विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासकी धारणा उन सिद्धान्तोमें बीज रूपसे निहित है। प्रकृतिकी व्याख्या इस रूपमें की गयी है कि वह मनुष्यकी आध्यात्मिक प्रेरणाओको अधिकसे अधिक बाहरी अभिव्यक्ति देनेमें तत्पर है। हीगेल के सिद्धान्तमें विकासका विधान कोई यान्त्रिक विधान-मात्र नही है, वह एक आत्मिक विधान है। 'यह पदार्थके माध्यमसे बुद्धिका विकास नही है बल्कि बुद्धिके माध्यमसे पदार्थका विकास है। इसका लक्ष्य विवेकको भौतिक या पदार्थ रूप देना नही है बल्कि प्रकृतिको आत्मिक रूप देना है (७९)।' 'विवेक और पदार्थ, प्रकृति और आत्माकी धारणाकी विवेचना परस्पर विरोधी धारणाओके रूपमें नही की गयी। एक अर्थमें विवेक और पदार्थ, प्रकृति और आत्मा हमारी अनुभवकी दुनियामें सहयोगी तत्त्व है। एक दूसरे और पूर्ण अर्थमें विवेक ही सब कुछ है (७९)।' हीगेल ने जिस विकासका इतिहास खोजा है वह घटनाओ अथवा प्रथाओ या सस्थाओका विकास नही है बल्कि कल्पना-मूलक विचारका विकास है। हमारे अध्ययनका मुख्य विषय विचार है—घटनाए नही। 'अन्य वस्तुओकी भाति विचारका भी एक इतिहास है और उसका इतिहास समझ कर ही—समयानुकूल उसके विकासको जान कर ही हम उसके सच्चे स्वरूपको समझ सकते है (७९)। हीगेल की पद्धतिके दो केन्द्रीय विचार यह है:

१. 'मनुष्यके अनुभवकी दुनियामें ऐसी कोई चीज़ नही है जो मनुष्यके तर्क या विवेक की सृष्टि न हो,

२ विवेक या तर्क तत्त्वत एक विकासका सिद्धान्त है और इसलिए उसकी कोई भी अभिव्यक्ति तब तक समझमें नही आ सकती जब तक उसके निरन्तर विकासकी दृष्टिसे उसका अध्ययन न किया जाये।'

प्रगति और स्वाधीनता (Progress and Freedom) प्रगतिकी नाप-तोल एक निश्चित लक्ष्यको दृष्टिमें रखकर ही की जा सकती है। यह निश्चित लक्ष्य है स्वाधीनताके सिद्धान्तके अनुकूल आत्माकी अनुभूति। स्वाधीनता एक विचार है। वह एक ऐसा आदर्श है जिसे सब व्यक्तियोको प्राप्त करना चाहिए। प्रगतिका अर्थ है स्वाधीनताकी धारणाकी क्रमिक अनुभूति। स्वाधीनताका अर्थ बाहरी रुकावटोका अभाव-मात्र नही है। स्वाधीनता व्यक्ति की इस आज़ादीका समानार्थी नही है कि वह अपनी शक्तियो और अपनी सम्पत्तिका जैसा चाहे वैसा उपयोग करे। स्वाधीनताका लक्ष्य है मनुष्यकी अपनी प्रकृतिके आधारभूत नियमोके अनुकूल उसकी नैतिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तिका स्वतत्र विकास।

इतिहास. हीगेल की दृष्टिमें इतिहास मानव-आत्मा द्वारा आत्मशोधके लिए की गयी तीर्थ-यात्रा है। इतिहास तर्क-सगत है। उसकी गति तर्क या परमात्मा द्वारा सचालित होती है। व्यक्ति इतिहासमें एक महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, और इतिहास, समाजके माध्यम से, उसके व्यक्तित्वके विकासके लिए पर्याप्त अवसर देता है। एक नैतिक प्राणीके रूपमें मनुष्यके अस्तित्वके लिए समाज अनिवार्य है।

विश्व-इतिहास विश्वका निर्णय है (हीगेल)। हीगेल द्वारा प्रयुक्त 'निर्णय (Judgment)' का अर्थ है एक जातिकी विजय और दूसरी जातिकी पराजय। विजय इस बात का अन्तिम प्रमाण है कि विश्व-चेतनाने एक जातिको छोड़कर दूसरी जातिको अपना निवास-स्थान बनाया है। किसी भी जातिका इस प्रकार पराजित होना कि उसे जातियो

के बीच निम्न श्रेणीका स्थान स्वीकार करनेके लिए विवश होना पड़े इस बातका निश्चित सकेत है कि दैवी निर्णय उस जातिके विरुद्ध हो चुका है। इसी ढगसे परमात्मा मानव-इतिहासमें काम करता है। विश्व-इतिहासमें स्वाधीनताकी धारणाकी अनुभूति चार स्पष्ट अवस्थाओमें प्रकट होती है। यह अवस्थाए क्रमश पौर्वात्यो (Orientals) अर्थात् पूर्वी जातियो, यूनानियो, रोमन लोगों और जर्मन जातिकी राज्य-व्यवस्थाओंकी विजयोसे प्रकट होती हैं। पौर्वात्य लोग पहले भी यही जानते थे और आज भी यही जानते है कि केवल (अधिपति) ही स्वतत्र है, यूनानी और रोमन लोग समझते थे कि कुछ लोग स्वतत्र है और जर्मन लोग जानते है कि सभी स्वतत्र है (३४ १०४)।

हीगेल का राज्य-सिद्धान्त. हीगेल राज्यकी विवेचना एक ऐसी पद्धतिके रूपमें करते है जिसमें परिवार और नागरिक समाजको 'सुरक्षा और पूर्णता' प्राप्त होती है (५ १५६)। इतिहासमें राज्य ही व्यक्ति है। जीवन-चरित्रमें जो स्थान व्यक्तिका है इतिहासमें वही स्थान राज्यका है। राज्य स्वाधीनताका यथार्थ रूप है क्योकि वह विवेकका मूर्त रूप है। वह एक विवेकशील धारणाकी प्रतिमूर्ति है (५ २६)। इतिहास तर्ककी गूढ लिपि है, पूर्ण विचार-शक्ति है। इच्छाके दृष्टिकोणसे इतिहास सार्वजनिक अथवा वास्तविक इच्छा का जीता-जागता स्वरूप है। इसलिए व्यक्तिकी सच्ची स्वाधीनता इस बातमें है कि वह राज्यके विधानका पालन करे और 'समष्टिकी समृद्धिको हमारा मूलभूत उद्देश्य और हमारे जीवनकी आधार-शिला माननेका दैनिक अभ्यास करे (५ २६३)।'

राज्य व्यक्तिकी इच्छामें जो कुछ सर्वोत्तम है उसका प्रतिनिधित्व करता है। राज्य की अपनी एक इच्छा और उसका अपना एक व्यक्तित्व है जो उसके अगभूत व्यक्तियोकी इच्छाओ और उनके व्यक्तित्वोसे उच्चतर है। व्यक्ति राज्यके एक सदस्यके रूपमें ही उच्चतर स्वाधीनताकी प्राप्ति कर सकता है। अधिकार राज्य द्वारा प्राप्त होते है और राज्यके विरुद्ध किसीको भी कोई अधिकार नही है। राज्यका 'स्वय अपनेमें ही निश्चित चरम उद्देश्य' है। वह सार्वभौम इच्छा और व्यक्तिगत इच्छाकी एकता है अथवा दूसरे शब्दोमें वह बाहरी और आन्तरिक स्वाधीनताओका समन्वय है, और सार्वभौमिकता और विशिष्टताका समन्वय ही चरम विवेकशीलता है। इस प्रकार राज्य आत्माका एक अनादि, अनन्त और आवश्यक तत्त्व है (१७ तीसरा खड, १५६)।'

इन उपनयोंके आधार पर श्री जोड तीन निष्कर्ष निकालते है जो कुछ-कुछ आत्म विरोधी है।

(क) राज्य कभी भी अप्रतिनिध्यात्मक रूपसे काम नही कर सकता, इस प्रकार जो पुलिसमैन सेंध लगानेवालेको पकडता है और जो दडनायक उसे कारावासमें बन्द करता है, दोनो ही उस सेंध लगाने वालेकी वास्तविक इच्छाको अभिव्यक्त करते है—राज्यके एक सदस्यके रूपमें यह सेंध लगानेवालेकी वास्तविक इच्छा है कि वह गिरफ्तार किया जाय और कारावासमें बन्द कर दिया जाय।

(ख) जो सम्बन्ध व्यक्तिको समाजके अन्य व्यक्तियोसे और समूचे राज्यसे सम्बद्ध रखता है वह उसके व्यक्तित्वका एक अवयवभूत अश है। इसलिए वह एक पृथक् इकाईके रूपमें काम नहीं कर सकता। उसे राज्यके एक अवयवभूत अगके रूपमें ही काम करना होता है। जिस इच्छाके साथ वह काम करता है वह एक शुद्ध व्यक्तिगत इच्छा-मात्र नही है बल्कि राज्यकी इच्छाका एक अग है।

(ग) राज्य अपने समस्त नागरिकोकी सामाजिक नैतिकताको अपने भीतर समेटे रहता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। इसका यह अर्थ नही है कि राज्य स्वय ही नैतिक है अथवा यह कि वह अन्य राज्योके साथ अथवा स्वय अपने भीतरके अन्य सघोके साथ नैतिक सम्बन्धोसे बधा हुआ है। राज्य नैतिकतासे ऊपर है।

इस सबका परिणाम आसानीसे राज्यकी निरकुशता, सर्वसमर्थता और अभ्रान्तता (Infallibility) निकल आता है। राज्य धरती पर परमात्मा है। इतिहासमें परमात्मा की ही गति दिखायी देती है। 'धरती पर जो अस्तित्व है वह दैवी धारणा है।' यह दैवी इच्छा ही है जो वर्तमान आत्माके रूपमें अपने आपको ससारके वास्तविक आकार और सगठनमें अभिव्यक्त या प्रकट कर रही है। 'यह अपने व्यक्तिगत सदस्योके व्यक्तित्वोको शुद्ध उद्देश्योसे स्वार्थसे मुक्त बना कर समृद्ध करती है। हीगेल के शब्दोमें, 'व्यक्तिकी प्रवृत्ति यह है कि वह अपना ही केन्द्र बन जाना चाहता है, राज्य उसे उस सकुचित दायरे से खीच कर सार्वभौम तत्वके जीवनमें ले जाता है।' हीगेल की दृष्टिमें राज्य 'वास्तविक स्वाधीनताका मूर्त रूप है। वह 'स्वाधीनताकी यथार्थता' है, सामाजिक नैतिकताका स्पष्ट पदार्थ रूप है।

(५) युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (War and Internationalism) हीगेल जाति-राज्यकी बडी प्रशसा, उसका बड़ा आदर करते है। वह उसे व्यापक मानवता में विलीन नही होने देना चाहते। एक अन्तर्राष्ट्रीय सघको वह दलदलमें जुगनूका प्रकाश मानते है, क्योकि, उनकी सम्मतिसे जाति-राज्यका तात्त्विक सिद्धान्त सघर्ष है और यह दैवी उद्देश्यके अनुकूल है। दूसरे राज्योकी तुलना में ही कोई राज्य पूर्णता और अनुपमता प्राप्त कर सकता है। एक समय केवल एक ही जाति परमात्माकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। इतिहासमें परमात्माकी गति इसीसे प्रकट होती है कि सर्वोच्च शक्ति एक जातिसे दूसरी जातिके हाथोमें किस प्रकार जाती है। दैवी आत्माकी बाहरी या ऊपरी क्रियाशीलता में जो तीव्रता आती है युद्ध उसका सबसे अच्छा उदाहरण है। 'दैवी योजनाका व्यग्य' युद्ध द्वारा सफलता-पूर्वक प्रकट होता है। युद्ध जातीय जीवनके लिए वही काम करता है जो तूफान समुद्रके लिये। यह निष्क्रियतासे उत्पन्न होने वाले पतन और भ्रष्टाचारसे मनुष्य-जातिकी रक्षा करता है' (हीगेल) समस्त सीमित स्वार्थोकी तुच्छता का यह स्पष्ट प्रदर्शन है। यह व्यक्तिकी उस स्वार्थी अहम् भावनाको नष्ट कर देता है जिसके कारण वह अपने जीवन और अपनी भौतिक सम्पत्तिको अपनी या अपने परिवारकी सम्पत्ति मानता है। हीगेल का कहना है 'युद्धकी स्थिति अपने व्यक्ति रूपमें राज्यकी सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन कर देती है।' युद्ध एक बुराई है पर वह पूर्ण बुराई नही। हीगेल का उद्देश्य युद्धकी प्रशसा करना नही बल्कि उसका औचित्य सिद्ध करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान शुद्ध अर्थोमें कोई विधान ही नही है क्योकि राज्यसे ऊपर कोई शक्ति ही नही है जो अपनी इच्छाको राज्य पर लागू कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय विधान केवल कुछ परम्पराओको प्रकट करता है जो तब तक स्वीकार की जाती है जब तक राज्यके चरम उद्देश्यके साथ उनका कोई सघर्ष नही होता। जो राज्य 'किसी समयमें विश्वात्माके तेज का वाहक होता है उसके चरम अधिकारके विरुद्ध अन्य जातियोकी आत्माओको बिल्कुल ही कोई अधिकार प्राप्त नही है। 'यह दूसरी कोटिकी जातिया, उन जातियोकी भाति हो, जिनका युग समाप्त हो चुका है, विश्वके इतिहासमें अब कोई महत्त्व नही रखती'

(हीगेल)। 'चूकि दैवी व्यवस्थाके दृष्टिकोणसे ऐसी जातिया पहले ही पीछे छोड दी गयी हैं इसलिए युद्ध, इस तथ्यको प्रदर्शित करनेके अतिरिक्त और कुछ नही कर सकता कि उनका युग समाप्त हो गया। विश्व-इतिहास विश्वकी न्यायपीठिका है' (डीवी)।

(६) संविधान. हीगेल के अनुसार राज्य अपने आपको एक सविधान या आन्तरिक सार्वजनिक कानून, बाह्य सार्वजनिक कानून और विश्व-इतिहासके रूपमें प्रकट करता है। इनमें से प्रत्येक स्वाधीनताकी क्रमिक प्राप्तिको प्रकट करता है—सार्वभौम और व्यक्तिगत इच्छाके समन्वयको प्रकट करता है। हीगेल के विवेकशील राज्यकी तीन महत्त्व-पूर्ण शक्तिया हैं—व्यवस्थापिका, प्रशासिका या कार्यपालिका (न्यायपालिका समेत) और राजतत्र। इन तीनोमें से राजतत्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह राज्यको एक सूत्रमें बाधने वाली शक्ति है जो शेष दोनों शक्तियोको 'राज्यको विशृखल करनेसे रोकती है। पूर्ण विवेकशीलताकी सिद्धि वैधानिक राजतत्रमें होती है क्योकि उसमें राज्यके तीनो परम्परागत स्वरूपो —राजतत्र, कुलीनतत्र और प्रजातत्रके सर्वोत्तम तत्त्व सम्मिलित और समन्वित रहते है। वैधानिक राजतत्रमें राजा एक का, प्रशासन कुछ का और व्यवस्थापिका अनेकका प्रतिनिधित्व करती है।

एक दार्शनिक धारणाके रूपमें प्रभुसत्ता पर समूचे राज्यका अधिकार होता है। प्रभुसत्ताका निवास किसी एक तत्त्वमें नही रहता। प्रभुसत्ता केवल ऐसी सगठित समष्टि में निवास करती है जो सगठित समष्टिके रूपमें ही काम करती हो। फिर भी व्यवहारके क्षेत्रमें प्रभुसत्ताका अर्थ होता है कुछ व्यक्तियों द्वारा निर्णय या निश्चय किया जाना, भले ही उसका अर्थ केवल किसी व्यक्तिका हस्ताक्षर करना हो। ऐसा अधिपति, हीगेल के मत से, राजा है। और इस प्रकार राजतत्रीय सिद्धान्त प्रत्येक राज्यमें वर्तमान और क्रियाशील है।

इसलिए वैज्ञानिक ढगसे प्रभुसत्ता राजाको समर्पित की जानी चाहिए न कि जनता की इच्छाको जो अनिश्चित और अस्पष्ट है।

व्यवस्थापिकामें राजा, प्रशासन और जनता तीनो सम्मिलित है। प्रथम दो तत्त्वोके सम्मिलित न होनेसे राज्यकी एकताका नष्ट होना अवश्यम्भावी है। व्यवस्थापिकामें सम्मिलित होने वाला जनताका जो अश हो उसे स्वार्थो और वर्गोका प्रतिनिधि होना चाहिए न कि व्यक्तियोके झुडोका। 'कार्यकारिणी सरकारके विभागोके साथ अपना सम्पर्क रखनेके कारण व्यावसायिक सघोके सस्थानो (Corporations) का भी एक महत्त्व-पूर्ण स्थान होता है (पृ २६२)।'

जहा तक शक्तिके विभाजनका सम्बन्ध है, व्यवस्थापिका सामान्य सिद्धान्त निश्चित करती है, कार्यपालिका विशिष्ट विषयों या मामलोमें उनका प्रयोग करती है और राजा, 'राज्यके कार्योको व्यक्तिगत सकल्पका, शीर्ष-स्थानकी भाति, अन्तिम आकार देकर उन्हें पूर्ण स्थिति पर पहुचा देता है (पृ २६३)।' सच्ची स्वाधीनता केवल एक ऐसे राजतत्र में ही सम्भव है जिसका वर्णन हीगेल ने किया है। भू सम्पत्तिशाली कुलीन-तत्र शासन करनेके लिए सर्वोत्तम है क्योकि आर्थिक दृष्टिसे वह स्वाधीन है।

(७) सम्पत्तिका सिद्धान्त (Theory of Property) हीगेल व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्थाका समर्थन इस परिचित तर्कके आधार पर करते है कि वह एक भौतिक साधन है जिस पर व्यक्तिकी इच्छा अपने आपको क्रियाशील रख सकती है। सम्पत्ति व्यक्तिकी पूर्णताके लिए आवश्यक है।

(८) दंड-नीति (Theory of Punishment). कांट की भांति हीगेल भी इस प्रश्न पर अधिकार और नैतिकताके दृष्टिकोणसे विचार करते हैं। हीगेल का कहना है कि यदि किसी अधिकारका अतिक्रमण किया गया है तो यह राज्यका कर्त्तव्य है कि वह दबाव डाल कर, यदि आवश्यक है तो दंडकी सहायतासे, उस अधिकारको फिरसे प्रतिष्ठित करे। दंडका मौलिक आधार सार्वजनिक सुरक्षा या अपराधी और समाजके बीच हुए किसी प्रकट या अप्रकट अनुबन्धका अतिक्रमण नहीं है। दंडका अर्थ केवल इतना है कि किसी अधिकारकी अवज्ञा की गयी है और उस अधिकारका शोध या प्रतिष्ठापन केवल इसी प्रकार हो सकता है कि 'प्रथमत व्यक्तिके प्रति किये गये अत्याचारका और दूसरे उसके माध्यमसे समाज और न्याय-विधानके प्रति किये गये अत्याचारका सार्वजनिक प्रतिकार किया जाय।' दंड पाना अपराधीका भी उतना ही अधिकार है जितना दंड देना समाजका। अपराधीको दंड न देकर उसके प्रति दयालु होनेका अर्थ यह है कि उसके साथ एक पागल या मूर्खका सा व्यवहार किया जा रहा है। केवल सार्वजनिक सुरक्षाके आधार पर उसे दंड देना उसे एक पशु माननेके बराबर है। दंड अच्छे और बुरे दोनो ही अर्थोमें अपराधीको उसका प्राप्य—उसका हक—दिला देता है। यह उसका अधिकार है जिससे उसे वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

(९) हीगेल के कार्यका महत्त्व. श्री सी० ई० वॉघा (Vaughan)ने हीगेल के सम्बन्धमें निम्नलिखित विशेषताए बतायी है

(क) हीगेल ने राजनीति और नीति या आचार-शास्त्रके पारस्परिक सम्बन्धको अपने पूर्ववर्त्ती विचारकोकी अपेक्षा अधिक स्पष्टताके साथ समझा और बहुत ही सूक्ष्म दृष्टिके साथ उसका विवेचन किया। उनके पूर्ववर्ती विचारकोने मनुष्यके नैतिक और राजनैतिक विकासके बीच एक गहरा विभेद बना रखा था और कांट ने मनुष्यके कल्पना-मूलक विवेक और व्यावहारिक विवेकके बीच जो अन्तर बताया था उस सबको भाव-सूक्ष्म और अयथार्थ कह कर हीगेल ने अलग कर दिया।

(ख) व्यक्ति और राज्यके बीच गहरे अन्तरकी जो प्रचलित धारणा थी हीगेल ने उसकी बडी कठोर आलोचना की। उन्होने सिद्ध किया कि राज्यमें मनुष्यके जीवनका सम्पूर्ण क्षेत्र समाया हुआ है। इसलिए व्यक्तिकी कल्पना उस समाजसे पृथक् रूपमें नही की जा सकती जिसका वह अभिन्न अंग है। व्यक्ति जो कुछ भी है वह समाजके सदस्यके नाते है। हीगेल ने यह अस्वीकार किया कि शुद्ध व्यक्तिगत नैतिकता असम्भव है और इस प्रकार कांट की एक बहुत बडी भूलका सुधार किया। उन्होने राज्यके व्यक्तिवादी सिद्धान्तको अस्वीकार कर दिया।

(ग) ऐतिहासिक पद्धतिकी पूर्ण व्याप्तिको समझने वाले वह पहले विचारक थे।

(घ) समाजकी प्रेरणा-मूलक वृद्धिका जो ऋण व्यक्ति-चेतना पर है, उसे समझने, स्वीकार करने वाले वह पहले विचारक थे।

(ङ) विकासकी धारणाका आधार आकस्मिक परिस्थितियोके बजाय तर्क या विवेक के स्वरूपको जताने वाले वह पहले व्यक्ति थे। उनके अनुसार विकास या प्रगतिका अर्थ है एक नियमानुकूल परिवर्तन। और यह नियम पग-पग पर तर्क या विवेकके विधानसे मेल खाता है।

(१०) हीगेल की सीमाएं या संकीर्णताएं (Hegel's Limitations). इन

महत्त्व-पूर्ण विशेषताओंके होते हुए भी हीगेल के सिद्धान्तमें अनेक गम्भीर सकीर्णताए या त्रुटिया है

(क) उनका सिद्धान्त आसानीसे निरकुशता और सर्वशक्तिमत्ताकी ओर ले जाता है। यदि १७वी सदीके विचारकोने राजाके दैवी अधिकारका झडा फहराया था तो हीगेल ने राज्यके दैवी अधिकारके गीत गाये है। जैसा कि श्री बार्कर ने कहा है हीगेल ने जातीय राज्यको एक रहस्यात्मक शिखर पर पहुचा दिया। राज्यकी कल्पना उन्होने स्वत एक उद्देश्यके रूपमें की है और नागरिकोको उसकी पूजा करनेका उपदेश दिया है। राज्यकी वेदी पर व्यक्तिका यह बलिदान स्वधीनता और प्रजातत्र सम्बन्धी हमारे विचारोसे मेल नही खाता। व्यवहारके क्षेत्रमें हीगेल के सिद्धान्तका अर्थ है आत्मिक दासता, शारीरिक वश्यता या अनिवार्य सैनिक-भर्ती, राष्ट्रीय हितोके लिए युद्ध और शान्ति कालमें मनुष्यो द्वारा लेवियाथन (Leviathan) दैत्य की उपासना और युद्ध-कालमें मोलोक (Moloch) की उपासना (६ १४५)।' हीगेल ईश्वर-भक्तिके स्थान पर राज्य-भक्ति को स्थापित करते है।

(ख) ऐतिहासिक पद्धतिका समर्थन करते हुए भी हीगेल राज्यकी विवेचना एक ऐतिहासिक अनुलक्षणके रूपमें न करके एक बौद्धिक धारणाके रूपमें करते है। वह राज्य सम्बन्धी अपने सिद्धान्तका निर्माण अपने दार्शनिक चिन्तनके आधार पर करते है। और यह ताज्जुबकी बात है कि वह अपनी कल्पनाके आदर्श राज्यको अपने समकालीन जर्मन राज्यसे एकरूप सिद्ध करते है। विशेषकर राजनीतिमें वह इस बात पर जोर देते है कि यथार्थ ही तर्कपूर्ण है। उनका कहना है कि दर्शन-शास्त्रका कार्य यह है कि 'जो कुछ है उसे समझे क्योकि जो कुछ है वही तर्क या विवेक है। इस दृष्टिकोणका व्यावहारिक परिणाम है प्रतिष्ठित व्यवस्थाके प्रति अन्धभक्ति और जो कुछ भी उस व्यवस्थाको सशोधित या छिन्न-भिन्न करनेकी धमकी दे उस पर अनुचित अविश्वास करना। (वॉघा)

(ग) हीगेल में 'वर्तमान तथ्यकी केवल इसलिए प्रशसा करनेकी प्रवृत्ति है कि वह एक तथ्य है, इसी प्रकार सफल बर्बरताको केवल इसलिए दैवी रूप देते है कि वह सफल हो गयी है।' इसमें कोई आश्चर्य नही है कि जर्मनीमें हीगेल के शिष्योने उनके आदर्शवादको क्रूरतावाद या पशुवादमें परिवर्तित कर दिया।

(घ) विश्व-इतिहास और दैवी शक्तिकी जो व्याख्या हीगेल ने की है वह बिल्कुल प्रभाव-हीन है। हम यह सोचनेके लिये विवश है कि हीगेल ने जर्मन-राष्ट्र का गौरव बढाने के उद्देश्यसे इस व्याख्याको बरबस अपने पूर्व-निर्धारित विचारोके साथ जोडा-गाठा है

(ड) हीगेल ने राज्यकी धारणा स्वाधीनताकी सिद्धिके रूपमें की है। श्री ग्रीन इस दृष्टिकोणकी आलोचना निम्नलिखित शब्दो में करते है

"एक एथेंसवासी दाससे, जिसका उपयोग उसके स्वामीकी वासना तृप्तिके लिए होता हो, यह कहना कि राज्य स्वाधीनताकी प्राप्ति है उसका मखौल उडाना होता, और एक अशिक्षित तथा आधे पेट रहकर लन्दनके वार्डोमें काम करने वाले कृतक नागरिक (Denizen) से जिसके दाए-बाए शराबकी दूकानें रहती है, यह बताना कि राज्य स्वाधीनताकी प्राप्ति है कुछ कम मखौलकी बात नही है। राज्यमें प्राप्त होने वाली स्वाधीनताका जो विवरण हीगेल ने दिया है वह जैसा समाज है उसके तथ्योसे मेल नही खाता और न मानव-स्वभावकी अपरिवर्तनीय परिस्थितियोमें समाज जैसा कभी हो सकता

है उससे ही मेल खाता है (२९ ८)।' हीगेल के सिद्धान्तमें वास्तविक त्रुटि यह है कि उन्होने प्रवृत्तियोको सम्पादित तथ्य मान लिया है।

(च) हीगेल राज्यकी नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी पवित्रता सम्बन्धी सिद्धान्तोको अस्वीकार करते है। उनकी यह अस्वीकृति आदर्शवादकी सामान्य धारणा के साथ मल नही खाती।

(छ) हीगेल राज्यको समाजके साथ एकरूप बताते है। यह बहुत बडी भूल है। राज्य और समाजके बीच चाहे जितना घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो फिर भी, यदि हम राज्यकी निरकुशतासे बचना चाहते है तो हमें दोनोका विभेद स्पष्टरूपसे अपनी दृष्टि में हमेशा रखना होगा।

(ज) हीगेल का सिद्धान्त अपने सम्पूर्णरूपमें भाव-सूक्ष्म और आध्यात्मिक है और जीवनकी वास्तविकताओसे कोसो दूर है।

हीगेल के शिष्य हीगेल की राज्य-सम्बन्धी धारणाके कुछ तत्वोको उनके बादके जर्मन राजनैतिक लेखको और सैन्यवादियोने बहुत बढा-चढा कर प्रतिपादित किया है। इनमें से विशेष उल्लेखनीय है—नीत्शे, त्रीत्शके और बर्नहार्डी (Nietzsche, Treitschke and Bernhardi)। इन सभीने युद्धकी अनिवार्यता और उसकी उच्चता (Nobility) की भी शिक्षा दी है, उन्होने राज्यको देवत्व ही नही ईश्वरत्व तक प्रदान किया है। उनका कहना था राज्य स्वय अपनी नैतिकताके मानदड स्थिर करता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय विधानके कानूनोसे केवल उसी सीमा तक बधा हुआ है जिस सीमा तक वह उन कानूनोको स्वय स्वीकार कर ले और प्रत्येक राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वोका निर्णायक स्वय ही है आदि (२३ : २३२-३३)।' त्रीत्शके का कहना था कि राज्य शक्ति है और उसके कार्य-क्षेत्र पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाना चाहिए। उनके अनुसार राज्यका पहला कर्त्तव्य है स्वय अपने आपको सुदृढ और शक्तिशाली बनाना। उनका विश्वास था कि एक उच्च सभ्यता वाले राज्यको कम सभ्य और असस्कृत देशो पर अपनी सभ्यता लादनेका अधिकार और कर्त्तव्य है। वह राज्यको दृढतापूर्वक अपनी प्रधानता स्थापित करने वाला (Self-assertive), आक्रमणशील (Aggressive) और सैन्यवादी बनाना चाहते थे। छोटे राज्योके प्रति उनमें घृणा भरी थी। उनका तर्क था कि सभ्यताका विकास केवल राज्यके माध्यमसे ही हो सकता है और पूर्ण राजनैतिक सिद्धान्तका परिणाम हुआ सैनिकवाद और पशुवाद।

जर्मन आदर्शवादियोका प्रभाव (Influence of the German Idealists). हीगेल के उपर्युक्त शिष्योको हम छोड देते है, इन्हें आदर्शवादी कहलानेका कोई अधिकार नही। पर काट, फिश्ते और हीगेल ने पश्चिमी राजनैतिक धारा पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। श्री डनिंग (Dunning) ने एक निचोडके रूपमें उनके प्रभावको इस प्रकार सकलित किया है :

१. उन सबका एक सामान्य विश्वास यह था कि राजनीति-शास्त्रके महान् सत्योका उद्घाटन शुद्ध अनुभवकी कसौटीके बजाय शुद्ध चिन्तन द्वारा ही हो सकता है (१७: तीसरा खड, पृष्ठ १९९)।

२. उन सबोने तत्कालीन राजनीतिकी कुछ व्यवस्थाओ और महत्त्वाकांक्षाओको रहस्यवादी नाम और रूपका पवित्र जामा पहनाया है (१७: तीसरा खड, पृष्ठ १९९)।

३. 'इच्छाकी धारणाको राजनीति और विधानके अन्तिम तत्वके रूपमें इन सबों ने अन्तिम सीमा तक विकसित किया (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १६७)।'

४. अनुबन्धके जिस सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिगत इच्छा ने सामाजिक और राजनैतिक अधिकार-सत्ताकी सृष्टि की है उसे काट और फिश्ते ने उच्चतम कोटिकी दार्शनिक पूर्णता दी (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १६७)। 'हीगेल ने उसे अपने राज्यके विवेचनमें बिल्कुल छोड दिया (१८ तीसरा खड, पृष्ठ १६७)।'

५ 'हूमोल्ट को छोड कर उनमें से शेष सभीने राज्यको असीम महत्ता और विभूति-सम्पन्नता प्रदान की (१७ तीसरा खड, पृष्ठ १६८)।

६ 'फिश्ते और हीगेल दोनोने ही राजनैतिक सगठनके मौलिक सिद्धान्तके रूपमें राष्ट्रीयताके सिद्धान्तको बहुत अधिक बल दिया (१७ १६६)।'

अग्रेज आदर्शवादी (The English Idealists) अग्रेज आदर्शवादियोमें से प्रधान थे सर हेनरी जोन्स, टी० एच० ग्रीन, एफ० एच० ब्रैडले, विलियम वैलेस, आर० एल० नेटल शिप और बी० बोसाके।

(१) टी० एच० ग्रीन (T H Green १८३६-१८८२) के विचारोके स्रोत ग्रीन के विचारोके स्रोत है प्लेटो, अरस्तू, रूसो, काट और हीगेल। यूनानी दार्शनिको के साथ ग्रीन इस बातमें सहमत है कि राज्य स्वाभाविक और आवश्यक है और व्यक्तिका जीवन समाजके जीवनका एक अभिन्न अग है। साथ ही वह यूनानी दार्शनिकोसे उनकी उस धारणासे भिन्न हैं जो जीवनके कुलीनतावादी दृष्टिकोणके सम्बन्धमें उन्होने ग्रहण की थी। यूनानी विचारक आत्मतोष और आत्मानुभवका जीवन कुछ थोडे ही व्यक्तियोके लिए सम्भव मानते थे। ग्रीन-इस सम्बन्धमें इस प्रजातत्रीय दृष्टिकोणको स्वीकार करते है कि नागरिकताका जीवन उन सब व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जो एक सार्वजनिक हितकी धारणामें समर्थ हैं। ग्रीन पर प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का प्रभाव अधिक पडा है। अरस्तू की भाति ही वह अपने नीति-शास्त्रको राजनीतिसे पूरा करते है और यह विश्वास करते है कि राज्यका सर्वोपरि कर्तव्य यह है कि अपने व्यक्तिगत सदस्योंके लिए वह एक ऐसे कल्याणकी सिद्धि सम्भव बनाए जो सार्वजनिक कल्याण हो। अपने नीति-शास्त्रमें ग्रीन 'आत्मतोप' या 'आत्मानुभूति (Self-satisfaction or self-realisation)' को आचरणका लक्ष्य बताते है, और अपनी राजनीतिमें वह बराबर सार्वजनिक कल्याणको परम कल्याण कहते है। उनकी विचारधारामें यह सभी शब्द एक दूसरेके साथ परिवर्तित किए जा सकते है।

काट और हीगेल की भाति ग्रीन भी रूसो की इस धारणाको स्वीकार करते है कि 'नैतिक स्वाधीनता मनुष्यका विशिष्ट और अनुपम गुण है।' वह मनुष्यकी स्वाधीन इच्छा को स्वीकार करते हैं यद्यपि यह स्वीकृति कुछ दृष्टियोसे सीमित है—और निम्नलिखित युग्मो या जोडोमें वह स्पष्ट विभेद करते है 'ऋणात्मक' और 'घनात्मक' स्वाधीनता में, सामान्य और विशिष्ट स्वाधीनतामें, 'न्याय-मूलक' स्वाधीनता और 'आध्यात्मिक' स्वधीनतामें और 'भौतिक' अहता और 'शुद्ध' अहतामें। इन जोडोसे प्रथम कोटिकी—अर्थात् ऋणात्मक, सामान्य, न्याय-मूलक और भौतिक—स्वाधीनताका सीधा-सा अर्थ है आत्मनिर्णय या अपनी वरीयत्व (Preference) की भावनाके अनुसार काम करना। इसका अर्थ अपने मनकी मौज और सुखका अनुगमन करना भी हो सकता है। दूसरे कोटिकी

—अर्थात् धनात्मक, विशिष्ट, आध्यात्मिक और शुद्ध स्वाधीनताका उद्देश्य होता है तर्क या विवेक और इच्छाके लक्ष्योका समवृत्त या एकरूप होना। दूसरे शब्दोमें स्वतत्र कार्य विवेकशील कार्य होते है। जैसा कि श्री रिची कहते है, ग्रीन ने हीगेल के इस सिद्धान्तको कि राज्य ही स्वाधीनता है, इसी अर्थमें स्वीकार किया है।

शुद्ध अर्थोमें स्वाधीनताका मतलब यह नही होता कि व्यक्तिको बिल्कुल अकेला स्वच्छन्द छोड दिया जाय। जिस सतोषकी मनुष्य खोज करता है वह यदि सच्चा सन्तोष नही है तो यह कहा जा सकता है कि उसकी इच्छा स्वतन्त्र नही है। ऐसी स्थितिमें कोई नैतिक स्वाधीनता नही हो सकती। सच्चे सतोषको शान्ति या परमानन्दकी स्थिति कहा जा सकता है। वह मनकी वह स्थिति है जिसमें व्यक्तिकी सम्पूर्ण इच्छाकी अपनी तृप्ति हो चुकी होती है। वह किसी विशिष्ट इच्छाकी तृप्ति-मात्र नही है। वह मनुष्यकी सम्पूर्ण अहताकी स्वानुभूति है। जैसा श्री काट ने कहा है, 'ऐसा व्यक्ति इसलिए स्वाधीन होता है कि उसे आत्मबोध हो चुका होता है, वैसे ही जैसा कि किसी विधानका स्रष्टा जो स्वय उस विधानका पालन कर रहा हो।' स्वधीनताका अर्थ है विवेकपूर्ण उद्देश्यो द्वारा इच्छाका निर्धारण—ऐसे उद्देश्यो द्वारा जो विवेककी मागोको—पूर्णताके प्रयत्नोको पूर्ण और सन्तुष्ट करनेमें सहायक हो।

हीगेल के इन सिद्धान्तको ग्रीन निरुपाधिक रूपसे अर्थात् बिना शर्त स्वीकार नही करते कि राज्य स्वाधीनताकी—या प्रत्यक्षीभूत स्वाधीनताकी प्राप्ति है। वह इस तथ्यको स्वीकार करते है कि प्रथाए व्यक्ति पर लगनेवाले बन्धन नही है बल्कि नैतिक धारणाओ के मूर्तरूप है। साथ ही वह यह भी कहते है कि किसी भी राज्यको स्वाधीनताकी पूर्ण-प्राप्ति कहना एक मखौल बनाना है। आदर्श और यथार्थके बीच एक खाइ रहती है और इसलिए राज्यमें अधिकसे अधिक यह प्रवृत्ति ही हो सकती है कि वह स्वाधीनताकी जीती जागती मूर्ति बन जाय। ग्रीन हीगेल के इस सिद्धान्तका समर्थन नही करते कि 'जो यथार्थ है वह तर्क-सगत है और जो तर्क-सगत है वह यथार्थ है।' प्रचलित या प्रतिष्ठित नैतिकता को भी वह इतना ऊचा स्थान नही देते। वह इस बातको स्वीकार करते है कि व्यक्तिके राजनैतिक विकासमें प्रतिष्ठित राजनैतिकताका बडा हाथ रहता है। पर विकासकी अन्तिम स्थिति तभी प्राप्त होती है, जब व्यक्ति पूर्णताके लिए पूर्णता की ही खोज करता है। तभी वह वास्तवमें स्वतत्र हो पाता है।

श्री ग्रीन कई एक दृष्टियोसे हीगेल के विचारोसे पृथक् हो जाते है और काट के दृष्टि-कोणके समीप पहुचते है, उदाहरणके लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकताको ही लीजिए। इन समस्याओके विवेचनमें हीगेल की अपेक्षा वह काट के अधिक नजदीक है। काट की भाति ग्रीन का विश्वास है कि सदिच्छा ही केवल एकमात्र भलाई है। स्वाधीनता ऋणात्मक नही है। वह धनात्मक है। प्रतिनिधि-शासनका महत्त्व, सविधानमें राजाका स्थान, दडकी तर्क-सगति आदि प्रश्नोके सम्बन्धमें वह काट और हीगेल दोनो ही जर्मन लेखकोसे भिन्न दृष्टिकोण अपनाते है पर साथ ही राज्यके गौरवकी नैतिक महत्ता पर वह जोर देते है और इस अर्थमें वह हीगेल के अनुयायी है। पर राज्य के गौरवकी महत्ता पर जोर देनेमें उन्होने 'जनताकी स्वाधीनताका बलिदान नही किया।'

(२) ग्रीन का राज्य-सिद्धान्त श्री ई० बार्कर का कहना है कि ग्रीन के राजनैतिक दर्शनको तीन परस्पर सम्बद्ध प्रमेयो (Propositions) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

मनुष्यकी चेतनामें स्वाधीनता पूर्वकल्पित है, स्वाधीनतामें अधिकार निहित है, अधिकारोके लिये राज्यकी आवश्यकता है।

ग्रीनकी स्वाधीनता सम्बन्धी धारणा पर हम पहले ही विचार कर चुके है और अब दुबारा उसका विवेचन करनेकी आवश्यकता नही। इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वाधीनताके सम्बन्धमें ग्रीन का सिद्धान्त काट का स्वतन्त्र नैतिक इच्छाका सिद्धान्त है जिसके बल पर मनुष्य सर्वदा अपने आपको एक लक्ष्य रूपमें माननेकी इच्छा करता है (३ ३३२)। ग्रीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सदस्योके लिए आत्मानुभूति का जीवन सम्भव और सुगम बनानेका सर्वोत्तम साधन यह है कि उनके लिए वह पक्षपात-हीन और सार्वभौम अधिकारोकी व्यवस्था करे। उनका कहना है अधिकार मनुष्यके आन्तरिक विकासके लिए आवश्यक बाहरी परिस्थितिया है। प्रत्येक विवेकशील व्यक्तिका सबसे बडा अधिकार यह है कि वह वैसा बन सके जैसा मनुष्यको होना चाहिए, 'अपने अस्तित्वके विधानको पूरा करते हुए उसे जो कुछ होना है' वह हो सके (२६ १७)। अन्य सभी अधिकार इसी अधिकारसे प्राप्त होते है। समाजसे पूर्व अधिकारोके अथमें प्राकृतिक अधिकारोकी कल्पना एक अर्थ-हीन धारणा है पर नैतिक अथवा आदर्श अधिकारोंके रूपमें प्राकृतिक अधिकार सार-पूर्ण है। 'जिस उद्देश्यकी पूर्ति मानव-समाजका लक्ष्य है, उसके लिए यह आवश्यक है (२६ ३४)।' अधिकारोका आधार केवल वैधानिक स्वीकृति नही है। यह आधार सार्वजनिक नैतिक चेतना है। अधिकार विधान-सापेक्ष न होकर नैतिकतासे सम्बद्ध है। मनुष्यके नैतिक लक्ष्यकी सिद्धिके लिए अधिकार आवश्यक शर्ते है।

किसी भी व्यक्तिको कोई भी अधिकार तब तक प्राप्त नही हो सकता जब तक कि वह (क) समाजका एक सदस्य न हो और (ख) एसे समाजका जिसके सदस्यो द्वारा कोई सार्वजनिक कल्याण अपने आदर्श कल्याणके रूपमें स्वीकृत न हो, ऐसा कल्याण 'जो उनमें से प्रत्येक व्यक्तिका कल्याण हो (२६ ४४)।' इसका अर्थ यह है कि केवल ऐसे मनुष्यो के बीच ही अधिकारोकी स्थिति हो सकती है जो नैतिक दृष्टिसे मनुष्य हो (२६ ४४)। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकारोको प्राप्त करके एक सार्वजनिक कल्याणको अपना कल्याण बना लेता है। अधिकारोका नियमन पारस्परिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिए।

ग्रीन राज्यको आदर्शवादी परम्पराके अनुसार प्राकृतिक और अनिवार्य मानते है। यह नैतिक सस्था है जो व्यक्तिके आत्मिक विकासके लिए आवश्यक है। इसका मूल उद्दश्य अधिकारोको लागू करना है, यदि आवश्यक हो तो दवाव डालकर भी। राज्य शक्ति का प्रयोग करनेमें भी न्याय्य (Justified) है क्योकि वह लोक-इच्छाकी अभिव्यक्ति है और ग्रीन लोक इच्छाका अर्थ सार्वजनिक उद्देश्यकी लोक-चेतना मानते है। "शक्ति नही वरन् इच्छा ही राज्यका आधार है।'

ग्रीन के अनुसार राज्य न तो परम पूर्ण है और न सर्वशक्तिमान्। वह भीतर और बाहर दोनो ओर से सीमित है। भीतरसे (क) वह इस तथ्य द्वारा सीमित है कि विधान केवल बाह्य कार्यो और अभिप्रायोसे ही सम्बन्ध रख सकता है उद्देश्योसे नही, इसलिए राज्य प्रत्यक्ष रूपमें सुन्दर जीवनकी उन्नति नही कर सकता। वह केवल उन बाधाओको ही दूर कर सकता है, जो सुन्दर जीवनकी प्राप्तिमें बाधक होती है। (ख) राज्य इस तथ्य द्वारा भी सीमित है कि कुछ अपवादभूत परिस्थितियो (Exceptional circumstances) में व्यक्तिका कर्तव्य है कि प्रतिरोध करे। (ग) ग्रीन इस बातको स्वीकार

करते है कि समाजके भीतर विभिन्न स्थायी सघोकी एक अपनी आन्तरिक अधिकार-व्यवस्था होती है और राज्यका अधिकार उन पर केवल समन्वय स्थापित करनेका होता है। जैसा श्री ई० वार्कर कहते है · "राज्य प्रत्येक सघकी आन्तरिक अधिकार-व्यवस्थाका सन्तुलन करता है और ऐसी प्रत्येक अधिकार-व्यवस्थाका शेष अन्य व्यवस्थाओ के साथ वाहरी समन्वय करता है (३ ४३)।" ग्रीन का कहना है कि समन्वय स्थापित करनेके अपने अधिकारके कारण राज्यको अन्तिम अधिकार-सत्ता प्राप्त है। वहुलवादी सिद्धान्तको पूरी तरहसे न अपना लेनेके कारण मैकआइवर ग्रीन की इन शव्दोमें आलोचना करते है 'प्रारम्भसे अन्त तक वह इसीका विवेचन करते है कि जिन परिस्थितियोमें व्यक्ति एक स्वतत्र नैतिक प्राणीके रूपमें कार्य कर सकता है उन परिस्थितियोको सुलभ वनानेके लिए राज्य क्या कर सकता है और इसलिए उसे क्या करना चाहिए। पर उनके चिन्तनके आधार-स्तम्भ फिर भी राज्य और व्यक्ति ही वने रहते है। वह इस वात पर विचार नही करते कि राजनैतिक विधानसे भिन्न अन्य साधनोसे सम्पन्न जो दूसरे सघ है उनके अस्तित्व का व्यक्ति और राज्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि उन्होने इसका विचार किया होता तो उन्हें यह स्पष्ट हो गया होता कि प्रश्न केवल इतना ही नही है कि राज्यको क्या करना चाहिए, वल्कि प्रश्न यह भी है कि राज्यको क्या करनेकी अनुमति है, क्योकि राज्य दूसरी शक्तियोसे घिरा हुआ है, दूसरी कोटिके सगठनोसे सीमित है जो अपने ढगसे अपने उद्देश्यो को पूरा कर रहे है। ग्रीन प्रभुसत्ताकी आधुनिक समस्याके छोर तक पहुच कर—उसे छू कर ही रह जाते है, उसका हल नही दे पाते (५५ ४१)।'

ग्रीन के मतसे ऊपरसे राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधानसे सीमित है। काट की भाति ग्रीन भी मानव-जातिके सार्वभौम वन्धुत्व पर विश्वास करते है और इस दृष्टिसे वह हीगेल से भिन्न है। मनुष्यके मनुष्य रूपमें स्वतत्र जीवन वितानेके अधिकारमें एक सामान्य मानवता और सामान्य सामाजिक सघटनाकी धारणा निहित है।

(३) युद्ध (२६) उपर्युक्त दृष्टिकोण पर आस्था रखते हुए युद्धके प्रति ग्रीन की धारणा हीगेल और उनके जर्मन शिष्योकी धारणासे विल्कुल भिन्न है। ग्रीन का कहना है कि युद्ध कभी भी एक पूर्ण अधिकार नही हो सकता, अधिकसे अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार है। यह मनुष्यके स्वाधीन जीवन वितानेके अधिकारका अतिक्रमण करता है। पहले की गई एक वुराई या अपराधको ठीक करनेके लिए एक दूसरी वुराईके रूपमें उसका औचित्य माना जा सकता है, अर्थात् युद्ध एक निर्दय आवश्यकता (Cruel necessity) के रूपमें ही उचित है। पर फिर भी है वह एक अपराध ही। नैतिक दृष्टिसे युद्ध हत्या नही। सैनिक हत्यारा नही। यदि हम यह कहें कि युद्धके विधायक हत्यारे है, तो कठिनाई यह है कि हम उन व्यक्तियोको निश्चित रूपसे निर्दिष्ट नही कर सकते। यदि हम युद्धका उत्तरदायित्व कुछ व्यक्तियो पर आरोपित कर भी ले जाय तो भी वह इतना निश्चयात्मक नही हो सकता जितना व्यक्तिगत हत्याओके मामलेमें होता है। उनके उद्देश्य चाहे जितने स्वार्थ-पूर्ण हो, पर न्यायपूर्वक उनकी यह व्याख्या नही की जा सकती कि युद्धमें मारे जाने वाले व्यक्तियोके प्रति उनके हृदयमें कोई दुर्भाव था।

फिर भी युद्ध एक नैतिक अपराध है। यह तर्क अधिकारके अतिक्रमण (Violation) को किसी प्रकार भी कम गम्भीर नही वना देता कि जो लोग युद्धमें लोगोको मारते है उनका अभिप्राय किसी व्यक्ति-विशेषकी हत्या करना नही होता। इस मृत्यु

को किसी जगली जानवर द्वारा की गयी हत्याका विजली गिरने जैसी दैवी आपत्ति द्वारा हुई मौत नही कहा जा सकता। युद्धमें होने वाली मौतें स्पष्ट रूपसे मनुष्य द्वारा होती है और एक अभिप्रायसे की जाती है।

युद्धके समर्थनमें एक दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि सभ्य जातियोके वीच होने वाले युद्धोंमें सैनिक स्वेच्छा पूर्वक मृत्युका खतरा अगीकार करते है और, इसलिए, स्वतन्त्र जीवनके अधिकारका कोई अतिक्रमण नही होता। ग्रीन इस तर्कका खडन करते है। उनका खडन यह है कि व्यक्तिको इस वातका अधिकार नही है कि वह मनमाने ढगसे अपने जीवित रहनेके अधिकारको चाहे कायम रखे और चाहे छोड दे। (यही कारण है कि आत्महत्या सर्वत्र निंद्य मानी जाती है।) सैन्य-सग्रह चाहे स्वेच्छा-पूर्वक भर्ती होनेके आधार पर किया गया हो और चाहे अनिवार्य भर्तीके आधार पर, राज्य कुछ लोगोके जीवनका खतरा बलात् उन पर लादता है। युद्धका अर्थ है मानव-जीवनका सहार जो मरने वाले व्यक्तियो पर साभिप्राय एक स्वेच्छा पूर्वक मनुष्यो द्वारा सगठित शक्ति-साधन द्वारा ढहाया जाता है।

कभी-कभी युद्धके समर्थकों द्वारा युद्धके पक्षमें एक तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि भौतिक जीवनके अधिकारका अतिक्रमण नैतिक जीवनकी आवश्यकताओंसे उत्पन्न अधिकार द्वारा किया जा सकता है। दूसरे शब्दोमें, कभी-कभी यह कहा जाता है कि कुछ विशेष परिस्थितियोमें युद्ध न करना युद्ध करनेसे भी बुरा होता है। ग्रीन इस तर्क पर विश्वास नही करते। उनका कहना है कि इस तर्क द्वारा केवल युद्धके दायित्वको उन लोगों पर लाद दिया जाता है जो उन परिस्थितियोके लिए उत्तरदायी हो। पर युद्ध तो फिर भी एक वैसी ही बुराई और अपराध बना रहता है। युद्धमें मानव-जीवनका सहार एक अपराध-कार्य है, अपराध करने वाला चाहे जो भी हो।

कुछ लोग युद्धके समर्थनमें एक चौथा तर्क यह देते है कि युद्धमें मनुष्यके कुछ विशिष्ट गुणोका विकास होता है जैसे वीरता और आत्मबलिदान, और यह भी कहा जाता है कि मनुष्यके नैतिक विकासके उपयुक्त सामाजिक परिस्थितियोके बनाए रखनेका एकमात्र साधन युद्ध है। और इस प्रकार, इन लोगोका तर्क है, युद्ध मानव प्रगतिके लिए एक आवश्यक तत्व है। इस तर्कके बलको स्वीकार करते हुए भी ग्रीन का कहना यह है कि युद्धमें जीवनका सहार सर्वदा एक अपराध कार्य है। गॉल (Gaul) में अर्थात् फ्रासमें सीजर के विजय अभियानो और भारतमें अग्रेजी युद्धोके बाद निश्चय ही लाभदायक परिवर्तन हुए। पर ग्रीन का कहना यह है कि यह परिवर्तन अन्य साधनोसे भी ठीक उसी रूपमें लाए जा सकते थे जैसे युद्ध द्वारा लाए गए। युद्ध मनुष्यके अधिकारोका अतिक्रमण करता है। यदि मनुष्यका बाहरी कल्याण केवल युद्ध ही द्वारा सम्पादित हो पाया तो इसका कारण मनुष्यकी दुष्टता ही है। ग्रीन इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार है कि युद्ध द्वारा मानव-जातिका कल्याण करनेकी इच्छा किसी युद्ध-विशेषके अपराधको कम कर देती है पर फिर भी युद्ध अपराध ही रहता है। पर वह कहते है, वास्तवमें युद्धोमें भाग लेने वाले बहुसख्यक लोग इन प्रशसनीय उद्देश्योसे प्रेरित नहीं होते। प्राय उनके उद्देश्य स्वार्थ पूर्ण होते है। मनुष्य-जातिकी सामान्य स्वार्थपरता ही युद्धका कारण है।

इसका निचोड यह निकलता है कि यदि राज्य अपने सिद्धान्तके प्रति सच्चा है तो वह

दूसरे राज्योके साथ संघर्ष करके मनुष्यके मनुष्य रूपमें प्राप्त अधिकारोका उल्लंघन नही कर सकता। राज्यकी पूर्ण स्थितिमें युद्ध उसका आवश्यक गुण नही है। राज्यकी अपूर्ण स्थितिमें ही युद्ध उसका गुण हो सकता है पर जैसे-जैसे राज्य अधिकाधिक रूपमें पूर्ण होता जायगा वैसे-वैसे युद्धकी आवश्यकता कम होती जायगी।

अत हम युद्धके समर्थकोके इस अगले तर्कको स्वीकार नही करते कि राज्योके बीच संघर्ष अनिवार्य है। एक राज्यको होने वाले लाभका यह अर्थ नही है कि दूसरे राज्यकी हानि आवश्यक है। किसी निश्चित भू-प्रदेशमें रहने वाले सभी व्यक्तियोकी शक्तियोको विकासका पूर्ण अवसर देनेका उद्देश्य जितना ही अधिक कोई राज्य पूरा करेगा उतना ही अधिक आसान यह कार्य दूसरे राज्योके लिए भी होता जायगा, और जितनी मात्रामें सभी राज्य इस उद्देश्यकी पूर्ति करेंगे उसीके अनुपातसे संघर्षका भय समाप्त होता जायगा। युद्ध इसलिए आवश्यक नही है कि राज्योका अस्तित्व है, बल्कि इसलिए आवश्यक हो जाता है कि सार्वजनिक अधिकारोके सन्तुलन और संरक्षणका अपना कर्त्तव्य यह राज्य पूरा नही करते। इस प्रकार ग्रीन इस नतीजे पर पहुचते है कि किसी भी राज्यके लिए मनुष्य-जाति के प्रति अपराध करना पूरी तरहसे उचित नही हो सकता, भले ही कोई राज्य-विशेष कुछ विशेष अवस्थाओमें कुछ अशो तक न्याय-युक्त हो। युद्धकी निन्दा इस आधार पर नही की जा सकती कि वह राज्योके अस्तित्वका आवश्यक परिणाम है। इस मान्यताका तो कोई आधार ही नही है कि किसी एक राज्यको अपने स्वार्थोकी सिद्धिके लिए वह जो भी आवश्यक समझे वही करनेका अधिकार है और सो भी बिना इस बातकी परवाह किये कि दूसरे लोगो पर इसका क्या प्रभाव पडता है। युद्ध, अपने सर्वोत्तम रूपमें भी, केवल एक आपेक्षिक अधिकार है।

ग्रीन का विश्वबन्धुत्व-मूलक दृष्टिकोण देश-प्रेम और राष्ट्रीय जीवनको नष्ट कर देगा और एक विश्वव्यापी साम्राज्य आवश्यक बना देगा—यह तर्क युद्धके पक्षमें रखा जाने वाला छठा और अन्तिम तर्क है। इस तर्कका उत्तर ग्रीन यह देते है कि शुद्ध जन-भावना को राष्ट्रीय होना ही चाहिए, पर जितना ही अधिक कोई जाति एक सच्च राज्यका रूप धारण करती है उतने ही अधिक मार्ग उसकी राष्ट्रीय भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए मिलते है, और यह मार्ग अन्य जातियोके साथ संघर्षसे भिन्न दूसरे मार्ग होते है। यह कहना बिल्कुल मूर्खताकी बात है कि दूसरी जातियोकी अपेक्षा अपनी जातिको अधिक प्रबल सैनिक शक्तिके रूपमें देखनेकी इच्छा ही देश-भक्तिका सच्चा स्वरूप है। जिस हद तक प्रत्येक राष्ट्रके भीतर अधिकारोकी पूर्ण व्यवस्था स्थापित हो जाती है उसी हद तक राष्ट्रोके बीच संघर्षके कारण कम होते जाते है।

ग्रीन यह स्वीकार करते है कि राष्ट्रीयता एक अच्छी चीज है। उनका विश्वास है कि जीवन पर और जीवनके कार्य-व्यापार पर कोई अधिकार प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि मानव-जातिके प्रेमको विशेष रूपसे महत्त्व दिया जाय। पर इस बातका कोई कारण नही दिखायी देता कि यह सीमित स्थानीय अथवा राष्ट्रीय विश्व-प्रेम दूसरी जातियोंके प्रति द्वेष या इनसे स्वय या प्रतिनिधियोके द्वारा युद्ध करनेकी इच्छामें बदल जाय। जिस हद तक राज्योकी परिपूर्ण व्यवस्था बन जाती है उस हद तक इस बातकी कोई आवश्यकता नही है कि देश-भक्ति सैनिक कार्यवाहियोमें प्रकट की जाय। देश-भक्ति और सैनिकवाद की एकरूपता उस युगका अवशेष है जब राज्योका पूर्ण अर्थोमें कोई अस्तित्व न था। देश-

भक्ति और सैनिक राज्य किसी प्रकार भी एकरूप नही है। स्थायी सेनाए इस बातका प्रमाण है कि मनुष्य-जाति अभी राजनैतिक जीवनमें व्यवस्थित नही हो पायी। यह सेनाए राज्योकी किसी एक व्यवस्थाके विकासके कारण नही है बल्कि उन परिस्थितियों के कारण है जो उस व्यवस्थाकी त्रुटियोको प्रकट करती हैं। हमने ग्रीन की युद्ध सम्बन्धी आलोचनाका सविस्तार वर्णन किया है क्योकि यह आलोचना 'उनके भाषणके सर्वोत्तम और सबल अशोमें से एक है (३ ४६)' और हीगेल के साथ उनके विभेदको स्पष्ट करती है जिनका कहना यह था कि 'युद्धकी स्थिति व्यक्ति रूपमें राज्यकी सर्वशक्तिमत्ताको प्रकट करती है।'

(४) **राज्यका कार्य** (State Action) जैसा पहले कहा जा चुका है ग्रीन ने राज्यके कार्यकी धारणा ऋणात्मक रूपमें की है। सुन्दर जीवन अधिकाश रूपमें स्वत अर्जित जीवन होना है। राज्य प्रत्यक्ष रूपमें उसकी उन्नति नही कर सकता। राज्य जो कुछ कर सकता है वह यही है कि 'जो काम करने योग्य हो' उन कामोको जब मनुष्य करना चाहता है तब उसकी शक्ति-सामर्थ्यके मार्गमें जो बाधाए आती है उनको दूर करे। अच्छा कार्य अच्छा तभी होता है जब वह स्वय अपने मनसे किया जाय, अर्थात् एक निरपेक्ष उद्देश्यसे किया जाय। दबावके कारण किये गये कार्योका नैतिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। इसलिए राज्यको यही करना चाहिए कि वह केवल ऐसे कार्योको लागू करे जिनका किया जाना समाजके भीतर सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक हो, वह कार्य किये चाहे जिस उद्देश्य से जायें।

अपने सिद्धान्तको अपने समयकी व्यावहारिक परिस्थितियो पर लागू करते हुए ग्रीन अज्ञान, नशाखोरी, शराबखोरी और भिखमगेपनको मानव-शक्तिकी स्वतत्र अभिव्यजना में बाधक मानते हैं और इसलिए इन बाधाओको दूर करनेके लिए पर्याप्त क्षेत्रमें राज्य-कार्यका समर्थन करते हैं। प्राकृतिक अधिकारो या निहित स्वार्थो पर आधारित तर्कोसे ग्रीन अपनी विचारधारासे विचलित नही होते, और न इस सिद्धान्त पर आधारित तर्को से ही विचलित होते है कि मनुष्यकी स्वतत्र इच्छाको इस बातका पूरा अवसर मिलना चाहिए कि वह 'निरक्षरता, नशाखोरी और दरिद्रतासे विजय-पूर्वक स्वय ही अपना छुटकारा प्राप्त कर ले (२ ५१)।' ग्रीन इस बातको समझते है कि स्वतत्र इच्छा जीवन की बाहरी परिस्थितियोसे मुक्त या उनसे उच्चतर नही है, और इसलिए इन परिस्थितियो की सन्तुलित व्यवस्था हो जाने पर ही स्वतत्र इच्छा वास्तवमें अपनी स्वतत्रताका प्रयोग कर सकती है। इस तथ्य पर जोर देनेकी आवश्यकता है क्योकि आदर्शवादकी कभी-कभी यह आलोचना भी होती है कि वह अवरोधक रूढिवाद (Hide-bound Conservatism) का एक आडम्बर-पूर्ण औचित्य-मात्र है। श्री सैफाइन (Safine) लिखते हैं 'उदारवादी सिद्धान्तमें ग्रीन ने जो अभिवृद्धि की वह यह धारणा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता और उत्तरदायित्वके लिए सामूहिक कल्याण एक आवश्यक और पूर्वगामी शर्त है।'

श्री ग्रीन द्वारा दिये गये उदाहरणमें अनिवार्य शिक्षा माता-पिता पर बच्चेके कल्याण के लिए दबाव डालती है और मद्य-निषेधमें प्रत्येक व्यक्तिके और सभी व्यक्तियोके कल्याण के लिए दबाव डाला जाता है।

(५) **दड** (Punishment) दड सम्बन्धी ग्रीन की विवेचना उनके राज्य-कार्य-

सिद्धान्तका एक अभिन्न अंग हैं। अपराधीकी इच्छा, जो समाज-विरोधी है, एक स्वतन्त्रता-विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थितिमें दंड उस शक्तिका विरोध करने वाली शक्ति बन जाता है। दंड अपराधीके किसी पिछले नैतिक अपराधसे प्रत्यक्षत सम्बन्धित नही होता और न उसके भावी नैतिक सुधारसे उसका सम्बन्ध है (३ ४८) दडकी नाप-तौल नैतिक अपराध के अनुसार करना एक असम्भव कार्य है। राज्य न तो दंड द्वारा होने वाले कष्टकी नाप-तौल कर सकता है और न अपराधके नैतिक दोषकी ही नाप जोख हो सकती है और यदि राज्यके लिए यह सम्भव भी हो कि वह दंडसे होने वाले क्लेश और अपराधकी नैतिक दुष्टताके बीच कोई अनुपात स्थिर भी कर ले तो प्रत्येक अपराधके लिए भिन्न प्रकारका दंड देना होगा। इसका अर्थ होगा दंड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमोकी समाप्ति। और इसके अतिरिक्त दंड और नैतिक अपराधके बीच अनुपात स्थिर करनेका अर्थ यह है कि राज्य अपराधको ही दंडित करना चाहता है। ग्रीन का विचार है कि यह राज्यका कार्य नही है। यदि राज्य (शुद्ध) अनैतिकताको ही दंडित करना चाहे तो उससे निरपेक्ष नैतिक आयासो पर रोक लग जायगी। इसलिए अपराधके लिए दंड 'न तो अपराधमें छिपी हुई तथाकथित नैतिक दुष्टताके साथ सन्तुलित होता है न हो सकता है और न किया जाना चाहिए (३ १९५)।'

इसी प्रकार दंडका मूल उद्देश्य यह नही है कि अपराधीका नैतिक सुधार किया जाय। सभी सच्चे सुधार मनुष्यकी अन्तरात्मासे ही होते हैं, इसलिए चाहे कितना ही दंड क्यो न दिया जाय, अपराधीकी इच्छाके विरुद्ध वह उसका सुधार नही कर सकता। राज्य अधिकसे अधिक यही कर सकता है कि वह अपराधीकी अपनी इच्छाको फिरसे जागरित कर दे। 'वास्तवमें दंडकी व्यवस्था इसलिए की जाती है कि इच्छाके स्वतंत्र रूप से कार्य करनेके लिए आवश्यक वाह्य परिस्थितिया बनी रहें, स्वयं आन्तरिक इच्छाके साथ दंडका कोई मेल नही बिठाया जाता (३ ४९)।' दंडका अन्तिम उद्देश्य यह है कि 'समाजके प्रत्येक सदस्यकी नैतिक इच्छाके लिए कार्य-स्वाधीनता सुरक्षित रहे (३ ४९)।' इसका अर्थ यह है कि दंडका नियमन, जिस अधिकारका उल्लंघन किया गया हो उसकी महत्ताके अनुसार होना चाहिए। अप्रत्यक्ष रूपमें दंड अपराधीको इसके लिए प्रेरित कर सकता है कि वह अपनी दुराग्रह पूर्ण इच्छाका सुधार करे। "पर इस दृष्टिसे भी दंड केवल 'बाधाओंको बाधित करना' ही है, क्योंकि जिस बाधाका विरोध अपराधी करता है वह केवल एक शक्ति ही नही बल्कि एक इच्छा है (३ ५०)।'

ग्रीन इस नतीजे पर पहुचते है कि दंडका मूल उद्देश्य 'अपराधीको क्लेश पहुचानेके लिए ही दंड देना नही है, और न मुख्य रूपसे उसे दुबारा अपराध करनेसे रोकना है, बल्कि अपराधके साथ भयका सम्बन्ध दूसरे ऐसे लोगोके मस्तिष्कमें स्थापित करना है जिनमें ऐसा अपराध करनेकी प्रवृत्ति या प्रलोभन हो (३·१९२)।' इसका अर्थ यह हुआ कि दंडका प्रधान उद्देश्य है भविष्यमें अपराधका निवारण। इस उद्देश्यकी सिद्धिका साधन यह है कि सार्वजनिक जनताकी धारणामें अपराधके साथ इतना भय स्थापित कर दिया जाय जितना कि उस अपराधका निवारण करनेके लिए आवश्यक हो।

(६) सम्पत्ति (Property) अन्य अनेक प्रश्नोकी भाति इन प्रश्न पर भी ग्रीन अपने समयकी तुलनामें एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाते है। न तो वह व्यक्तिगत सम्पत्तिका हर पहलूसे समर्थन करते है और न वह उसकी आदिसे अन्त तक आलोचना

भक्ति और सैनिक राज्य किसी प्रकार भी एकरूप नहीं है। स्थायी सेनाए इस बातका प्रमाण है कि मनुष्य-जाति अभी राजनैतिक जीवनमें व्यवस्थित नहीं हो पायी। यह सेनाए राज्योकी किसी एक व्यवस्थाके विकासके कारण नहीं है बल्कि उन परिस्थितियो के कारण है जो उस व्यवस्थाकी त्रुटियोको प्रकट करती है। हमने ग्रीन की युद्ध सम्बन्धी आलोचनाका सविस्तार वर्णन किया है क्योंकि यह आलोचना 'उनके भाषणके सर्वोत्तम और सबल अशोमें से एक है (३ ४६)' और हीगेल के साथ उनके विभेदको स्पष्ट करती है जिनका कहना यह था कि 'युद्धकी स्थिति व्यक्ति रूपमें राज्यकी सर्वशक्तिमत्ताको प्रकट करती है।'

(४) राज्यका कार्य (State Action) जैसा पहले कहा जा चुका है ग्रीन ने राज्यके कार्यकी धारणा ऋणात्मक रूपमें की है। सुन्दर जीवन अधिकाश रूपमें स्वत अर्जित जीवन होता है। राज्य प्रत्यक्ष रूपमें उसकी उन्नति नही कर सकता। राज्य जो कुछ कर सकता है वह यही है कि 'जो काम करने योग्य हो' उन कामोको जब मनुष्य करना चाहता है तब उसकी शक्ति-सामर्थ्यके मार्गमें जो बाधाए आती है उनको दूर करे। अच्छा कार्य अच्छा तभी होता है जब वह स्वय अपने मनसे किया जाय, अर्थात् एक निरपेक्ष उद्देश्यसे किया जाय। दबावके कारण किये गये कार्योका नैतिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। इसलिए राज्यको यही करना चाहिए कि वह केवल ऐसे कार्योको लागू करे जिनका किया जाना समाजके भीतर सुन्दर जीवनके लिए आवश्यक हो, वह कार्य किये चाहे जिस उद्देश्य से जायें।

अपने सिद्धान्तको अपने समयकी व्यावहारिक परिस्थितियो पर लागू करते हुए ग्रीन अज्ञान, नशाखोरी, शराबखोरी और भिखमगेपनको मानव-शक्तिकी स्वतत्र अभिव्यजना में बाधक मानते है और इसलिए इन बाधाओको दूर करनेके लिए पर्याप्त क्षेत्रमें राज्य-कार्यका समर्थन करते है। प्राकृतिक अधिकारो या निहित स्वार्थो पर आधारित तर्कोसे ग्रीन अपनी विचारधारासे विचलित नही होते, और न इस सिद्धान्त पर आधारित तर्को से ही विचलित होते है कि मनुष्यकी स्वतत्र इच्छाको इस बातका पूरा अवसर मिलना चाहिए कि वह 'निरक्षरता, नशाखोरी और दरिद्रतासे विजय-पूर्वक स्वय ही अपना छुटकारा प्राप्त कर ले (२ ५१)।' ग्रीन इस बातको समझते है कि स्वतत्र इच्छा जीवन की बाहरी परिस्थितियोसे मुक्त या उनसे उच्चतर नही है, और इसलिए इन परिस्थितियो की सन्तुलित व्यवस्था हो जाने पर ही स्वतत्र इच्छा वास्तवमें अपनी स्वतत्रताका प्रयोग कर सकती है। इस तथ्य पर जोर देनेकी आवश्यकता है क्योंकि आदर्शवादकी कभी-कभी यह आलोचना भी होती है कि वह अवरोधक रूढ़िवाद (Hide-bound Conservatism) का एक आडम्बर-पूर्ण औचित्य-मात्र है। श्री सैफाइन (Safine) लिखते है 'उदारवादी सिद्धान्तमें ग्रीन ने जो अभिवृद्धि की वह यह धारणा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता और उत्तरदायित्वके लिए सामूहिक कल्याण एक आवश्यक और पूर्वगामी शर्त है।'

श्री ग्रीन द्वारा दिये गये उदाहरणमें अनिवार्य शिक्षा माता-पिता पर बच्चेके कल्याण के लिए दबाव डालती है और मद्य-निषेधमें प्रत्येक व्यक्तिके और सभी व्यक्तियोके कल्याण के लिए दबाव डाला जाता है।

(५) दड (Punishment) दड सम्बन्धी ग्रीन की विवेचना उनके राज्य-कार्य-

सिद्धान्तका एक अभिन्न अग है। अपराधीकी इच्छा, जो समाज-विरोधी है, एक स्वतन्त्रता-विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थितिमें दड उस शक्तिका विरोध करने वाली शक्ति बन जाता है। दड अपराधीके किसी पिछले नैतिक अपराधसे प्रत्यक्षत सम्बन्धित नही होता और न उसके भावी नैतिक सुधारसे उसका सम्बन्ध है (३ ४८) दडकी नाप-तोल नैतिक अपराध के अनुसार करना एक असम्भव कार्य है। राज्य न तो दड द्वारा होने वाले कष्टकी नाप-तौल कर सकता है और न अपराधके नैतिक दोषकी ही नाप जोख हो सकती है और यदि राज्यके लिए यह सम्भव भी हो कि वह दडसे होने वाले क्लेश और अपराधकी नैतिक दुष्टताके बीच कोई अनुपात स्थिर भी कर ले तो प्रत्येक अपराधके लिए भिन्न प्रकारका दड देना होगा। इसका अर्थ होगा दड सम्बन्धी सभी सामान्य नियमोकी समाप्ति। और इसके अतिरिक्त दड और नैतिक अपराधके बीच अनुपात स्थिर करनेका अर्थ यह है कि राज्य अपराधको ही दडित करना चाहता है। ग्रीन का विचार है कि यह राज्यका कार्य नही है। यदि राज्य (शुद्ध) अनैतिकताको ही दडित करना चाहे तो उससे निरपेक्ष नैतिक आयासो पर रोक लग जायगी। इसलिए अपराधके लिए दड 'न तो अपराधमें छिपी हुई तथाकथित नैतिक दुष्टताके साथ सन्तुलित होता है न हो सकता है और न किया जाना चाहिए (३ १९५)।'

इसी प्रकार दडका मूल उद्देश्य यह नही है कि अपराधीका नैतिक सुधार किया जाय। सभी सच्चे सुधार मनुष्यकी अन्तरात्मासे ही होते है, इसलिए चाहे कितना ही दड क्यो न दिया जाय, अपराधीकी इच्छाके विरुद्ध वह उसका सुधार नही कर सकता। राज्य अधिकसे अधिक यही कर सकता है कि वह अपराधीकी अपनी इच्छाको फिरसे जागरित कर दे। 'वास्तवमें दडकी व्यवस्था इसलिए की जाती है कि इच्छाके स्वतन्त्र रूप से कार्य करनेके लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितिया बनी रहें, स्वय आन्तरिक इच्छाके साथ दडका कोई मेल नही बिठाया जाता (३ ४९)।' दडका अन्तिम उद्देश्य यह है कि 'समाजके प्रत्येक सदस्यकी नैतिक इच्छाके लिए कार्य-स्वाधीनता सुरक्षित रहे (३ ४९)।' इसका अर्थ यह है कि दडका नियमन, जिस अधिकारका उल्लघन किया गया हो उसकी महत्ताके अनुसार होना चाहिए। अप्रत्यक्ष रूपमें दड अपराधीको इसके लिए प्रेरित कर सकता है कि वह अपनी दुराग्रह पूर्ण इच्छाका सुधार करे। "पर इस दृष्टिसे भी दड केवल 'बाधाओंको बाधित करना' ही है, क्योकि जिस बाधाका विरोध अपराधी करता है वह केवल एक शक्ति ही नही बल्कि एक इच्छा है (३ ५०)।'

ग्रीन इस नतीजे पर पहुचते है कि दडका मूल उद्देश्य 'अपराधीको क्लेश पहुचानेके लिए ही दड देना नही है, और न मुख्य रूपसे उसे दुबारा अपराध करनेसे रोकना है, बल्कि अपराधके साथ भयका सम्बन्ध दूसरे ऐसे लोगोके मस्तिष्कमें स्थापित करना है जिनमें ऐसा अपराध करनेकी प्रवृत्ति या प्रलोभन हो (३:१९२)।' इसका अर्थ यह हुआ कि दडका प्रधान उद्देश्य है भविष्यमें अपराधका निवारण। इस उद्देश्यकी सिद्धिका साधन यह है कि सार्वजनिक जनताकी धारणामें अपराधके साथ इतना भय स्थापित कर दिया जाय जितना कि उस अपराधका निवारण करनेके लिए आवश्यक हो।

(६) सम्पत्ति (Property) अन्य अनेक प्रश्नोकी भाति इस प्रश्न पर भी ग्रीन अपने समयकी तुलनामें एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाते है। न तो वह व्यक्तिगत सम्पत्तिका हर पहलूसे समर्थन करते है और न वह उसकी आदिसे अन्त तक आलोचना

ही करते हैं। आधुनिक शब्दावलीमें न तो वह व्यक्तिवादी हैं और न समाजवादी। वह साधारणत सम्पत्तिका समर्थन इस आधार पर करते है कि मनुष्यके व्यक्तित्वके लिए वह अनिवार्य है। सम्पत्ति मनुष्यके स्वाधीन जीवनके अधिकारकी एक उपसिद्धि (Corollary) है। प्रत्येक व्यक्तिको सम्पत्ति पैदा करनेका अवसर मिलना चाहिये क्योकि प्रत्येक व्यक्तिमें यह सामर्थ्य है कि वह सामान्य सामाजिक कल्याणमें भाग ले सके। पर प्रत्येक व्यक्तिमें यह सामर्थ्य भिन्न कोटिकी है। इसलिए सम्पत्ति भी असमान होनी चाहिए। विभिन्न व्यक्तियोको समूचे समाजके जीवनमें विभिन्न कर्त्तव्य पूरे करने होते हैं, और सम्पत्तिकी असमानता उसकी एक आवश्यक शर्त है। पर जब कुछ लोग सम्पत्तिका अर्जन या सग्रह इस ढगसे करते हो कि दूसरे लोगोकी इच्छाओकी पूर्तिमें गम्भीर रूपसे बाधा पडती हो तब राज्यको दखल देना चाहिए और अवस्था सुधारनी चाहिए। इस आधार पर ग्रीन व्यक्तिगत भूमम्पत्ति पर रोक लगाना उचित मानते है और पारिवारिक समझौतोका विरोध करते हैं। 'एक ऐसा वर्ग जिसमें छोटे-छोटे भूस्वामी स्वय अपनी भूमिको जोतते हो,' यही ग्रीन का आदर्श है। राज्यको अनार्जित वृद्धि (Unearned increment) का विनियोग (Appropriation) नही करना चाहिए। ग्रीन उत्तराधिकार और व्यापारकी स्वाधीता का समर्थन करते है।

(७) **प्रतिनिधि-मूलक सरकार और व्यावहारिक राजनीति**　काट और हीगेल के विपरीत, ग्रीन प्रतिनिधि-मूलक सरकार पर दृढ विश्वास रखने वाले और व्यापक मताधिकारके समर्थक थे। राजनीतिमें वह एक सक्रिय उदारवादी थे, केवल शास्त्रीय पडित नही। "मध्य वर्ग और राजधर्म-अस्वीकृति (Non-conformity) के प्रति उनकी सर्वदा सक्रिय सहानुभूति रही है। इसके अतिरिक्त उन्हें शिक्षा और अनुमति-व्यवस्थाके सुधार (Licensing reform) से बहुत अधिक अभिरुचि थी　　आक्सफोर्ड की नागरिक राजनीतिमें उन्होने कुछ ऐसा भाग लिया था कि उनका नाम विश्वविद्यालय में एक परम्परा और आदर्श बन गया है। राष्ट्रकी राजनीतिमें वह जॉन ब्राइट के समुदाय के उदारवादी थे और १८६७ के बाद वह राजनैतिक मचो पर आये (३　३१)।"

(८) **आलोचना और मूल्याकन (Criticism and Appreciation)**　जिन लोगोने आदर्शवादी दृष्टिकोणको अपनाया है, ग्रीन उन सबमें अधिक गम्भीर मालूम पडते है। ई० बार्कर के शब्दोमें ग्रीन एक ऊची उडान लेने वाले आदर्शवादी भी थे और ठोस यथार्थवादी भी। जहा तक विवरणोका सम्बन्ध है ग्रीन से हमारा मतभेद है पर जिन सिद्धान्तोकी स्थापना उन्होने की वह आज भी ठीक मालूम पडते है। सम्भव है आज पूजी-मूलक सम्पत्तिका समर्थन और राज्य द्वारा अनार्जित वृद्धिके विनियोगका विरोध, दडके निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent theory) पर उनका जोर देना हमें उचित न मालूम हो 'पर किन्ही विशेष परिस्थितियोका जो विश्लेषण उन्होने किया या किसी नीति-विशेषके जो सुझाव उन्होने दिये, उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्व-पूर्ण वह सिद्धान्त है जिन की स्थापना उन्होने की। यदि उनके सिद्धान्त सत्य है तो प्रत्येक युग अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल उनकी प्रगतिशील व्याख्या कर सकता है।' व्यक्तिके महत्त्व पर उनका दृढ विश्वास, व्यक्तिकी स्वाधीनता पर उनकी गहरी आस्था, उनका यह विश्वास कि व्यक्ति का कल्याण सामाजिक कल्याणका एक अग है, राज्यको रहस्यवादी शिखर पर पहुचाने की उनकी अस्वीकृति, एक सार्वभौम भ्रातृत्व या विश्वबन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीय विधान

की स्वीकृति, नैतिक कार्योंकी आत्मप्रेरणाको जीवित रखनेके उद्देश्यसे राज्यकी शक्ति का परिसीमन करनेकी उनकी उत्सुकता, अधिकारो पर उनका ज़ोर, उनका यह विचार कि सम्पत्ति व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिका एक साधन है और उनका यह स्वीकार करना कि अतिवादी परिस्थितियोमें व्यक्तिको प्रतिरोधका अधिकार है—यह सब आज भी उतना ही ठीक है जितना उस समय ठीक था जब ग्रीन ने अपने भाषण दिए थे (१८७९-८०)।

एफ० एच० ब्रैडले (F. H Bradley, १८४६-१९२४) हीगेल के इतने अधिक अनुयायी हैं जितने कि ग्रीन कभी नही थे। 'माई स्टेशन ऍड इट्स ड्यूटीज़ इन एथिकल स्टडीज़' (My Station and its Duties in Ethical Studies) के अपने अध्यायमें ब्रैडले ने अपने राज्य-सिद्धान्तका विवेचन किया है। ई० बार्कर उनके सिद्धान्तको न्याय सम्बन्धी प्लेटो की धारणा और हीगेल की «Sittlichkeit» सम्बन्धी धारणाका समन्वय मानते हैं। ब्रैडले के राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तके विवरणोमें पडे बिना ही हम यह कह सकते है कि एक नैतिक सघटनाकी धारणा उसकी प्रधान विशेषता है। व्यक्तिके सम्बन्धोका योग समाजमें उसकी मर्यादा या स्थितिका निर्माण करता है। ब्रैडले का कहना है कि समाजमें अपनी वह स्थिति प्राप्त करना और उसके कर्त्तव्योको पूरा करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य है। ऐसा करनेमें वह अपने अस्तित्वके विधानका पालन करता है। 'वास्तवमें हम जिसे एक मानव-व्यक्ति कहते हैं वह वही कुछ है जो समाजके कारण और समाजके बलसे बन पाता है, और विभिन्न समाज केवल नाम नही हैं बल्कि कुछ वास्तविक सत्य हैं।' किसी भी व्यक्तिकी स्थिति अकेली नही है। उसका जन्म समाजके एक सदस्यके रूपमें होता है और पग पग पर समाज उस पर अपना प्रभाव डालता है। जिस वातावरणमें वह सास लेता है वह आदिसे अन्त तक सामाजिक है, 'जिससे कि उसके आचरणके प्रत्येक अशमें समाजका सम्बन्ध छिपा हुआ है। वह जो कुछ है वह अपने तत्त्वमें सामाजिक राज्यके सम्बन्धोको सम्मिलित करनेसे ही है, और यदि नैतिकताका अर्थ आत्माकी पूर्णता हो, तो उन सम्बन्धोकी पूर्णता ही नैतिकता है (२ ' ६३)।' इस सबका अर्थ यह हुआ कि नैतिकता व्यक्ति द्वारा अपने स्थान और उसके कर्त्तव्योकी पूर्ति है।

राज्य 'समस्त इकाइयोकी व्यवस्था है'। उसमें वह सभी सम्प्रदाय सम्मिलित है जो मनुष्य पर प्रभाव डालते हैं। वह एक नैतिक सघटना है, 'एक व्यवस्थित समष्टि जो एक सामान्य उद्देश्य और कर्त्तव्यसे अनुप्राणित और प्रेरित है (३: ६३)।' दूसरी दृष्टिसे राज्य सस्थाओका एक निकाय (Body of Institutions) है। आन्तरिक दृष्टिसे राज्य एक आत्मा या शक्ति है जो इस सस्था—निकायको जीवित रखती है। इस सघटनाके प्रत्येक अगकी अपनी पृथक् आत्मा और चेतना है। इस दृष्टिसे राज्य जैसी एक नैतिक सघटना पशु-सघटनासे मूल रूपमें भिन्न है। इसका एक अपना जीवन और उस जीवनका अपना निरन्तर प्रवाह है। व्यक्ति उसी सीमा तक अपनी पूर्णताका जीवन बिता सकता है जिस हद तक वह अपना विशिष्ट क्षेत्र तैयार कर लेता है। 'मेरे जीवनका विस्तार मेरी प्रवृत्तियोकी बहुलतासे नही नापा जा सकता है और न उस स्थानसे ही नापा जा सकता है जो मुझे अन्य व्यक्तियोके बीच प्राप्त है, बल्कि मेरे अपने समूचे जीवनकी पूर्णतासे ही वह नापा जा सकता है'।

ब्रैडले इस बातका अनुभव करते है कि जिस आदर्शकी रूप-रेखा उन्होंने खीची है

भी राज्य उसका परिपूर्ण मूर्तरूप नही कहा जा सकता। किसी भी निश्चित समयमें की नैतिकता लोगोकी जन-चेतना अथवा आदर्श नैतिकताकी अपेक्षा एक निम्न स्तर ही हो सकती है और फिर यह भी सम्भव है कि व्यक्ति समाजमें अपनी सकीर्ण स्थितिसे उठकर विश्वबन्धुत्वकी नैतिकताको प्राप्त करनेकी इच्छा करे। इस सबका परिणाम हो सकता है कि 'समस्त मानवताकी एक दैवी समग्र सघटनाके रूपमें' सिद्धि हो जाये ६६)।

ब्रैडलेके सिद्धान्तकी प्रधान आलोचनाए निम्नलिखित है

(१) राज्य और समाजके बीच कोई भी स्पष्ट युक्ति-युक्त भेद नही किया गया। यका वर्णन यहा कुछ एसा हुआ है कि वह वास्तवमें राज्य और समाज दोनो ही है। सम्पर्कसे उत्पन्न होनवाले प्रभावोका जटिल मिश्रित रूप है (३ ६६)।' राज्यको ाजसे विभक्त न करनेका परिणाम यह होगा कि जीवन पर राज्यका नियत्रण असीमित जायगा।

(२) 'मेरी स्थिति और उसके कर्त्तव्य', एक ऐसा वाक्य खड है कि इसकी व्याख्या ी कठिन है। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि व्यक्तिको अपने भाग्यसे तुष्ट होना चाहिए, भाग्य उसे जिस स्थितिमें डाल दे उस स्थितिके कर्त्तव्योका पालन ना कभी किसी प्रकारकी शिकायत किए करते रहना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे धर्म-धानमें जातिके लिए व्यवस्था है। ऐसी व्याख्या तो निस्सन्देह आदर्शवादको अवरोधक ढिवाद (Hide-bound Conservatism) का समानार्थक बना देगा। 'यदि ावनमें मेरी स्थिति' का कोई अर्थ हो सकता है, तो यही अर्थ होना चाहिए कि वह स्थिति ासके लिए व्यक्तिकी शक्तियां और क्षमताए उसे सबसे अधिक उपयुक्त सिद्ध करती है। आधुनिक व्यावसायिक राज्यमें बहुसख्यक जनताको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अपनी मताओकी दृष्टिसे जीवनमें सबसे अधिक उपयुक्त स्थान प्राप्त करनेके अवसरसे वचित र दिया गया है।

बी० बोसांके (१८४८-१९३३) श्री हॉबहाउस बोसाके को हीगेल का 'आधुनिक म और सबसे अधिक निष्ठावान् व्याख्याता' बताते है। यह तो थोड़ी-बहुत अत्युक्ति । पर यह कहते हुए हमें कोई सकोच नही है कि बोसाके का प्रारम्भ रूसो और ग्रीन होता है और उनकी परिणति हीगेल में हो जाती है।

बोसाके के सिद्धान्तका प्रस्थान बिन्दु मनुष्यकी स्वतत्र नैतिक इच्छाकी वह धारणा जिसकी व्याख्या रूसो ने की थी। सभी आदर्शवादियोके अनुसार सच्ची स्वाधीनता विवेकशील, सार्वभौम उद्देश्योकी इच्छा करनेमें है। बोसाके के सिद्धान्तका विवेचन तीन विभागोमें हो सकता है

१. व्यक्तिकी 'वास्तविक' इच्छा और 'यथार्थ' इच्छा (Actual Will and Real Will) के बीच विभेद,

२ व्यक्तिकी 'यथार्थ' इच्छा और समाजकी 'सार्वजनिक' इच्छाके बीच सम्बन्ध,

३ सार्वजनिक इच्छाकी चरम अभिव्यक्तिके रूपमें राज्यकी धारणा।

(१) 'वास्तविक' और 'यथार्थ' शब्दोका पारिभाषिक प्रयोग करते हुए बोसाके ने 'वास्तविक' शब्दका प्रयोग बराबर मनुष्यकी प्रेरणा-मूलक अविचारित अथवा दुराग्रह-पूर्ण इच्छाकी अभिव्यक्तिके लिए किया है और यथार्थ शब्दका प्रयोग उसकी विवेकशील

या स्थायी इच्छाके लिए किया है। उनकी शब्दावलीके अनुसार जब कोई मनुष्य प्रत्येक क्षण एक चेतन व्यक्तिके रूपमें काम करता है तब वह अपनी 'वास्तविक' इच्छाका प्रयोग करता है, और जब उसकी इस इच्छाका उस इच्छा द्वारा शोधन हो जाता है जो वह शेष अन्य सभी क्षणोंमें चाहता है और जब दूसरोकी इच्छाओंके साथ उसका सन्तुलन हो जाता है तब वह इच्छा 'यथार्थ' हो जाती है।

(२) व्यक्तिकी 'यथार्थ' इच्छा अकेली नही रहती। वह समाजके अन्य व्यक्तियोकी 'यथार्थ' इच्छासे सम्बद्ध होती है और 'सार्वजनिक' इच्छा बन जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति केवल समाजमें ही अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त कर सकता है। अपने प्रति-कार-मूलक एकाकीपन (Repellent Isolation) में व्यक्तिका कोई मूल्य नही है। 'सार्वजनिक इच्छा' और समाजका 'सार्वजनिक जीवन' परस्पर परिवर्तनीय वाक्य-खड है। सार्वजनिक इच्छाकी तुष्टिसे परे व्यक्तिका पूर्ण सन्तोष असम्भव है।

(३) राज्य सार्वजनिक इच्छाका पूर्ण मूर्त्त रूप है। समाजका सार्वजनिक जीवन राज्य द्वारा दिए गए विधान और राजनैतिक व्यवस्था पर निर्भर रहता है। बोसाके के अनेक आलोचक उनके द्वारा बतायी गयी पहली दो अवस्थाओंकी मान्यता स्वीकार करने को तैयार है पर तीसरी अवस्थाकी मान्यता स्वीकार करनेके लिए तैयार नही है।

समाजके सार्वजनिक जीवनकी कल्पना बोसाके के सिद्धान्तकी प्रधान विशेषता है। उनका कहना है कि मनुष्यका जीवन प्रारम्भसे अन्त तक सामाजिक है और उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध भी सार्वजनिक सामाजिक जीवनसे प्रभावित रहते है। समाज व्यक्तियोका एक ऐसा समुदाय है जो किसी सार्वजनिक सामान्य उद्देश्य या प्रधान हितसे सम्बद्ध रहता है। इस सबका अर्थ यह है कि सामान्य चेतना या सार्वजनिक इच्छाका आदर्श एक कल्पना-मात्र नही है। यह एक जीवित यथार्थ है। उदाहरणके लिए किसी स्कूल या सेना या क्रिकेटके खेलको ले लीजिए। इनमेंसे प्रत्येक एक मस्तिष्क या अनेक मस्तिष्कोंकी क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणके लिए हम स्कूलमें विद्यार्थीकी मानसिक क्रियाको उसके माता-पिता या उसके अध्यापककी मानसिक क्रियासे भिन्न नही समझ सकते है। इस प्रकार सस्थाए नैतिक विचारोकी मूर्त्त रूप है। बोसाके के शब्दोमें, 'एक सस्थामें एक से अधिक मस्तिष्कोका उद्देश्य या उनकी भावना छिपी रहती है और वह उस भावना या उद्देश्यका कम-बेश एक स्थायी मूर्त रूप होती है ... ... सस्थाओंमें व्यक्तिगत मस्तिष्कोका वह सम्मिलन होता है जिसे हम सामाजिक मस्तिष्क कहते है। अथवा यो कहें कि .. ... सस्थाओंमें हमें आदर्श तत्त्व मिलता है जो अपनी व्यापक सघटनामें सामाजिक है पर विभक्त विषयोमें व्यक्तिगत मस्तिष्क है (५.२७७)।'

बोसाके का सस्था सम्बन्धी सिद्धान्त निम्नलिखित है :

१ प्रत्येक सामाजिक सस्था या समुदाय व्यक्तिगत मस्तिष्कोकी एक जटिल मिश्रित क्रियाशीलता है।

२ समुदायकी सामूहिकता व्यक्तिके मस्तिष्कमें प्रतिबिम्बित होती है।

३. प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यो पर अपना विशिष्ट दृष्टिकोण या अपनी विशिष्ट धारणा लादनेकी प्रवृत्ति रखता है।

समाजमें विभिन्न नैतिक सस्थाए परिवार, पडोसी समुदाय, जातीय राज्य आदि है। इनमेंसे राज्य सबसे ऊचा है। वही नैतिक आदर्श है। वह सर्वव्यापक सन्तुलनोका स्रोत

है। राज्य सभी संस्थाओंकी एक प्रभावकारी आलोचना है। संकीर्ण अर्थमें राज्य एक राजनैतिक संगठन है जो शक्तिका प्रयोग करता है। वह सभी लाभकारी सामाजिक उद्योगों पर अपनी स्वीकृतिकी मुहर लगाता है।

व्यापक अर्थमें राज्यका उद्देश्य जीवनका सार्वजनिक संगठन और समन्वय है और राज्य व्यावहारिक रूपमें समाजका पर्याय है। राज्यकी यह दूसरी व्याख्या कि वह समूचे जीवनकी एक क्रियाशील धारणा है, बोसांके को हीगेलके बहुत समीप ले आती है।

ग्रीन और बोसांके इन दोनों लेखकोंका गम्भीर और तुलनात्मक अध्ययन करने से इनमें परस्पर न केवल महत्त्व-पूर्ण समानताएं मिलती है बल्कि महत्त्व-पूर्ण अन्तर भी दिखायी देते हैं

समानताएं

१. ग्रीन की भांति बोसांके मनुष्यके उच्चतर जीवनकी प्राप्तिके लिए राज्यको अनिवार्य मानते है पर उनके विपरीत वह हीगेल की इस धारणाके अधिक निकट है कि जातिकी भावनामें व्यक्तिको स्वाधीनता-पूर्वक विलीन होने देना चाहिए। ग्रीन राज्यको चाहे जितना ऊंचा स्थान देनेके लिए तैयार हो पर वह राज्यके गौरव और अधिकारके लिए प्रजाका बलिदान करनेके लिए तैयार नहीं है। पर बोसांके के सम्बन्धमें यह बात बिना संकोच और बिना शर्तके नहीं कही जा सकती।

२ राज्यके स्वरूप और राज्यके उपयुक्त कार्य-क्षेत्रके सम्बन्धमें बोसांके तथा ग्रीन के सिद्धान्तोंमें बहुत कम भेद है। दोनों ही लेखकोंका यह विश्वास था कि राज्य एक नैतिक संस्था है पर वह अपनी प्रकृतिके कारण ही प्रत्यक्ष रूपसे नैतिकताकी उन्नति नहीं कर सकता। कला नैतिकता और धर्म राज्यके कार्य-क्षेत्रसे बाहर है, और सर्वोत्तम जीवन के हितमें राज्यको इन्हें बिल्कुल अलग छोड़ देना चाहिए। राज्यका मूल कर्त्तव्य यह है कि वह सुन्दर जीवनके मार्गमें आनेवाली बाधाओंको पक्षपात हीन अधिकार-व्यवस्थाके द्वारा बाधित करे। इस प्रकार बोसांके और ग्रीन दोनों ही राज्यके कार्य-क्षेत्रके सम्बन्ध में एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाते हैं जो ऋणात्मक (Negative) मालूम होता है।

३ जर्मन आदर्शवादियों और विशेषकर हीगेल के विपरीत ग्रीन और बोसांके में से कोई भी निरंकुश राजतंत्र पर विश्वास नहीं करता। अंग्रेजी परम्पराके अनुसार दोनों ही प्रतिनिधि-मूलक सरकारको सबसे उत्तम मानते है। पर बोसांके राज्यका इतना अधिक आदर करते है और उसे इतना अधिक महत्त्व देते है कि उनका वह आदर बड़ी आसानीसे राज्यकी निरंकुशताकी सृष्टि कर सकता है। यह सही है कि वह किसी राज-नैतिक संगठनके लिए अधिकार-शक्तिकी वकालत नहीं करते बल्कि वह केवल राज्यका समर्थन करते हैं। पर व्यवहारमें इसका अर्थ यह हो सकता है कि किसी भी समय तत्कालीन सरकारको असीमित अधिकार-शक्ति दे दी जाय।

अन्तर (Difference).

१ राज्यका विरोध करनेके प्रश्न पर बोसांके ग्रीन की अपेक्षा एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। समाजकी इच्छाके प्रतिनिधि रूपमें एकमात्र राज्यको ही यह

निर्णय करनेका पूर्ण अधिकार है कि व्यक्तिगत विवेककी अभिव्यक्ति कब सामाजिक कल्याणके लिए घातक हो जाती है। इसका यह अर्थ नही है कि व्यक्तिको 'विद्रोहका अधिकार नही है'। उसे वह अधिकार प्राप्त है, पर यह अधिकार उसे उसके व्यक्तिगत विवेकके आधार पर नहीं दिया गया बल्कि समाजके विवेकके आधार पर दिया गया है। जब व्यक्ति विद्रोह करता है तब अनुमान यह किया जाता है कि वह सामाजिक विचारो का राज्यके प्रतिनिधियोकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त ढगसे प्रतिनिधित्व कर रहा है। बोसाके इस बातको स्वीकार करते हुए से जान पडते है कि ऐसा अनुमान सही हो सकता है, 'पर वह इस बात पर अधिक जोर देते दिखायी देते है कि व्यक्ति द्वारा भूल किए जाने की सम्भावना अधिक है और व्यावहारिक दृष्टिसे जो थोडा सा लाभ हो सकता है, सम्भव है उसका मूल्य सामाजिक सगठनकी स्थिरता और दृढताको पहुचने वाली हानिके सामने कुछ भी न हो (८१:६८)।' उनका सामान्य निष्कर्ष यह है कि 'अधिकारोके एकमात्र व्यवस्थापक और नैतिक मूल्योंके एकमात्र सरक्षक' के रूपमें राज्यके जो व्यवस्थित कार्य-व्यापार होते हैं वह इतने महत्त्वपूर्ण होते है कि 'विद्रोहके अधिकार' को प्राय नगण्य या छोटा माना जा सकता है।

२. दड-नीति सम्बन्धी अपने सिद्धान्तमें बोसाके ग्रीन से कुछ अलग हो जाते है। यह दोनो ही विचारक दडमें निरोधात्मक तत्त्वको सबसे अधिक आवश्यक मानते है। पर बोसाके का दृष्टिकोण ग्रीन की अपेक्षा अधिक धनात्मक है। जिस तर्कका वह उपयोग करते है वह एक मनोवैज्ञानिक तर्क है। मनुष्यके उपचेतनमें जो कुछ घटित होता है उसका प्रभाव उसके चेतन अहम् पर देर-सवेर पडता ही है। ऐसी स्थितिमें दड, जो कि स्वय प्रेरित सम्बन्धोके क्षेत्रकी वस्तु है, मनुष्यकी चेतन-मति पर कुछ ऐसा प्रभाव डाल सकता है कि दड पाने वाले व्यक्तिके चरित्रमें परिणामस्वरूप स्थायी सुधार हो जाय। 'इस प्रकार दडका अर्थ यह हो सकता है कि मै आजसे (दड पानेके बाद) भूलें करना बन्द कर दूगा, इसलिए नही कि मै दुबारा इसी प्रकारका दड पानेसे घबड़ाता हू बल्कि मै आजसे भूलें करना इसलिए बन्द कर दूगा कि मेरी बुद्धि ठिकाने आ गई है, आदतोकी एक पूर्ण व्यवस्थामें अर्थ सम्बन्धी मेरी चेतना जाग्रत् हो गई है, और इस चेतनाके प्रकाशमें मैने यह देख लिया है कि मेरे इस अपराधका परिणाम क्या होता है (३ : ७६-७७)' इस प्रकार दड निरोधात्मक होनेके साथ-साथ सुधार-मूलक भी है।

३ युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकताके विवेचनमें बोसाके सबसे अधिक निश्चयात्मक रूपमें ग्रीन से पृथक् हो जाते है। जैसा पहले कहा जा चुका है ग्रीन युद्धको अपराध मान कर उसकी निन्दा करते है क्योकि यह प्रत्येक विवेकशील व्यक्तिके स्वाधीन जीवनके अधिकारका अतिक्रमण करता है। बोसाके एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाते है। वह राज्यके राज्यरूपमें किए गए कार्यो और व्यक्तिगत राजनीतिज्ञोके कार्यो के बीच विभेद करते है और इस बात पर जोर देते है कि राज्यके कार्योके सम्बन्धमें हत्या और चोरी जैसे नैतिक शब्दोका प्रयोग करना नितान्त अनुपयुक्त है। वह कहते है कि राज्य 'हमारे समूचे नैतिक ससारका सरक्षक है, वह हमारे सगठित नैतिक संसारका एक तत्त्व नही है।' पर, उनके अनुसार, इस सबका यह अर्थ नही है कि राज्यके नैतिक उत्तर-दायित्वको अस्वीकार किया जा रहा है। फिर भी, वह लिखते है, 'राज्य एक राज्यके रूप में व्यक्तिगत अनैतिकताका दोषी कभी नही हो सकता, और यह समझ पाना एक कठिन

बात है कि जिन अर्थोंमें चोरी और हत्या नैतिक अपराध है उस अर्थमें राज्य किस प्रकार चोरी या हत्या कर सकता है (५ ३००)।' बोसाके यह नही कहते कि राज्यके हित या स्वार्थके नाम पर प्रचलित व्यक्तिगत नैतिकताका प्रत्येक उल्लघन उचित सिद्ध किया जा सकता है। यह एक आपेक्षिक महत्त्वकी बात है। उनका कहना है कि सम्पूर्ण व्यक्तिगत जीवनमें यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है। 'अधिकार स्थिति-सापेक्ष होते है, जो कार्य आपको करना चाहिए और आप कर सकते है वही कार्य मुझे नही करना चाहिए और मै नही कर सकता (५ पृ० ५३)।'

राज्यकी अपनी एक इच्छा और उसका अपना एक व्यक्तित्व होता है और इस रूप में अपने नागरिकोके प्रति उसका एक उत्तरदायित्व होता है। उसके प्रधान उत्तरदायित्वो मे से एक है शान्तिकी खोज करना और उसे सुरक्षित रखना। एक प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विधानके अभावमें यह राज्यका कर्त्तव्य है कि यह अपने नागरिकोकी रक्षा करे—आवश्यक हो तो बल-प्रयोग द्वारा भी। 'जैसे व्यक्तिको अन्त तक अपनी अन्तरात्मा या अपने विवेकका अनुगमन करना चाहिए, उसी प्रकार राज्यको भी, यदि उसे नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी होना है तो, अपने विवेकका अनुगमन करना चाहिए। वह नैतिक हितोका सरक्षक है, और अपने कर्त्तव्यके प्रति उसे निष्ठावान् या ईमानदार होना ही चाहिए (५ पृ० ५०)।' इस बातकी सवदा सम्भावना है कि कोरे जीवनके दावे सुन्दरतर जीवनके दावोके साथ टक्कर लें। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें एक सुव्यवस्थित राज्यको पहली कोटिके जीवनकी अपेक्षा दूसरी कोटिके जीवनको ही चुनना चाहिए। बोसाके का कहना है कि हर व्यक्ति इस बातको जानता है कि उसे सब सत्य ही नही बोलना चाहिए, न सभी भूलोके सुधारनेकी कोशिश करनी चाहिए और न सभी वायदोको पूरा करना चाहिए। यह स्पष्ट सीमाए या असमर्थताए है। प्रत्येक बडी सस्थाकी बात तो छोडें, प्रत्येक व्यक्ति दूसरोसे सम्बन्ध रखता है और उसे अपने कार्योके परिणामो पर विचार करना होता है और एक बहुत बडे सगठनके लिए, चाहे वह राजनैतिक हो या किसी अन्य प्रकारका अपना काम करनेमें सच्चाई, न्याय और ईमानदारीके प्रतिबन्ध अधिकाधिक रूपमें आवश्यक हो जाते है। हमें पथ प्रदर्शनके लिए जो कुछ मिल सकता है और वास्तवमें जिसकी आवश्यकता है वह है उच्चतम मूल्यो या आदर्शोके प्रति, सामान्य व्यवहार-बुद्धि और सद्भावनाके प्रति निष्ठा (५ पृष्ठ ५२ पादटिप्पणी)।' 'आवश्यकता इस बातकी है कि प्रत्येक नैतिक प्राणीकी स्थिति और उसके सच्चे कर्त्तव्योका स्पष्ट विभेद किया जाय विशेषकर शक्तिशाली सगठनोकी स्थिति और कर्त्तव्योका। इस बातका प्रयत्न किया जाय कि जितना अनिवार्य हो उससे अधिक हानि न होने पाए (५ पृष्ठ ५४)।'

समूची मानवताकी एक इकाई स्वीकार कर लेनेसे जीवनकी बहुरूपतासे उत्पन्न होने वाले सघर्षोको दूर करना सम्भव है या नही, इस प्रश्नका उत्तर बोसाके नकारात्मक देते है। उनका कहना है कि इस समय मानव-जातिका कोई सगठन नही है, कोई सम्बद्ध सामाजिक चेतना नही है। विभिन्न राज्य परस्पर इस प्रकार एक सूत्रमें बधे हुए नही है जिस प्रकार राज्यके भीतर विभिन्न व्यक्ति बधे होते है। उनका कहना है कि राष्ट्रसघ (League of Nations) अन्तर्राष्ट्रीय विधानको अधिक प्रभावशाली बनानेका एक साधन-मात्र था। वह एक अकेला समाज नही था, उसका कोई सामान्य उद्देश्य और सामान्य जीवन नही था। मानवता एक सकलन (Aggregate) सघटना (Organism)

नही है। हमारी मूल निष्ठा गुणके प्रति है झुडके प्रति नही, यह निष्ठा हमारे समाजके सर्वोत्तम जीवनके प्रति है। धार्मिक दृष्टिकोणसे तो यह कहा जा सकता है कि इन दोनो निष्ठाओको समवृत्त या एकरूप होना चाहिए पर व्यावहारिक धर्म-निरपेक्ष जीवनमें नही।

बोसांके के सिद्धान्तकी आलोचना और उसका मूल्यांकन.

(१) श्री हॉबहाउस बोसाके के कठोर आलोचक है। वह उनके इच्छा सम्बन्धी सिद्धान्तकी आलोचना करते है। उनका कहना है कि 'वास्तविक' इच्छा और 'यथार्थ' इच्छा के बीचका विभेद बिल्कुल झूठा है। उनका दावा है कि जो वास्तविक है वही यथार्थ है और जो यथार्थ है वही वास्तविक है। बोसाके के प्रति इस आलोचनामें कोई न्याय नही किया गया क्योकि वह इन शब्दोका प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थमें करते है। हॉब हाउसका यह कहना कि व्यक्तिकी तत्कालीन इच्छा ही उसकी 'यथार्थ' इच्छा है, एक शब्दोका खिलवाड-मात्र है। यह वह इच्छा है जिसे बोसाके वास्तविक इच्छा कहेंगे। हमारा अनुभव अटूट गतिसे चलता रहता है और हममें से अधिकाश लोग हमेशा लगातार उन्नति करते रहते है। इसलिए हमारे कार्योको इस तरह विभक्त कर देना कि मानो उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध ही न हो, एक भूल है। हॉब हाउस यही करते है। बोसाके द्वारा की गयी 'इच्छा' की विवेचना अधिक सन्तोष्जनक मालूम होती है। वह मनुष्यके कार्योको एक समग्र रूपमें सम्बद्ध रखते है। व्यक्तिकी इच्छाका सुधार होता रहता है, पर इसका अर्थ यह नही है कि वह एक भिन्न इच्छा हो जाती है।

हॉब हाउस का कहना है कि व्यक्तिका कोई भी एक भाग दूसरे भागकी अपेक्षा अधिक यथार्थ नही है। पर हम अनुभवसे यह जानते है कि हमारा कोई एक काम ठीक वैसा ही नही होता जैसा दूसरा होता है। हम अपने कार्यो और अपनी चित्तवृत्तियोमे विभेद करते है। 'यथार्थ' से हॉब हाउसका अर्थ यह है कि हमारी अच्छी-बुरी सभी प्रकारकी इच्छाओ को अभिव्यक्त करने वाले कार्य उसमें सम्मिलित है। इस बातको कोई अस्वीकार नही करता। प्रश्न यह है कि क्या उन सबका मूल्य और गुण एक ही कोटिका होता है।

अपनी पुस्तक, दि मेटाफिजिकल थ्योरी ऑफ दि स्टेट (The Metaphysical Theory of the State) में हॉब हाउस अपने अपरिपक्व या असिद्ध प्रकथनका सशोधन करते है। उनकी विचारधाराका तर्क उन्हें बोसाके द्वारा किये गये विभेदको स्वीकार करनेके लिए विवश करता है यद्यपि वह 'यथार्थ' और 'वास्तविक' के स्थान पर 'स्थायी' और 'अस्थायी' शब्दोका प्रयोग करते है। बोसाके को हॉब हाउस की शब्दावली स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति न होती पर तथ्य यह है कि व्यक्तिकी 'स्थायी इच्छा' सकीर्ण और स्वार्थपूर्ण हो सकती है और इस प्रकार उसकी 'यथार्थ' इच्छामे बहुत निम्न कोटिकी हो जायगी। उदाहरणके लिए एक अपराधीकी 'स्थायी' इच्छा बोसाके के अनुसार उसकी यथार्थ इच्छा नही है। न तो स्वार्थ-पूर्ण मनुष्य ही अपने जीवनका सर्वोत्तम उपयोग कर सकता है और न अपराधी ही। इन दोनो ही उदाहरणोमें 'यथार्थ' और 'वास्तविक' इच्छाए एक दूसरेसे पृथक् होती है।

हॉब हाउस का तर्क यह है कि यदि किसी भी साधारण व्यक्तिको अपनी स्वार्थ-पूर्ण इच्छा छोड देनी है तो उसकी इच्छाका रूपान्तर हो जायगा। पर बोसाके रूपान्तर शब्दका प्रयोग न करेंगे क्योकि व्यक्ति प्रारम्भमें भी विवेकशील होता है। जिसे बोसाके

यथार्थ कहते है उसीको हॉब हाउस 'अच्छी', 'विवेकशील' अथवा 'सामजस्यपूर्ण' कहते हैं और साथ ही यह भी कहते है कि सामान्य मनुष्यमें यह इच्छा 'यथार्थ' नहीं है अथवा हममें से सर्वोत्तम व्यक्तिमें भी यह इच्छा पूर्ण नही है। बोसाके इनमें से दूसरे विकल्प (Alternative) को स्वीकार कर लेंगे क्योकि 'यथार्थ' इच्छा एक आदर्श है और कोई भी व्यक्ति पूर्ण नही है। पर फिर भी जिस हद तक व्यक्ति अपनी प्ररणाओके प्रवाहमें बह नहीं जाता और अपने अनुभवके आधार पर अपना सुधार करता है उस हद तक यथार्थ इच्छा उसमें पर्याप्त मात्रामें विद्यमान रहती है। बोसाके को यह कहनेमें कोई आपत्ति न होगी कि यथार्थ इच्छा वास्तवमें एक साधारण व्यक्तिमें पर्याप्त मात्रामें विद्यमान रहती है, यद्यपि इस बातको स्वीकार करने वाले वह पहले व्यक्ति होगे कि अच्छी इच्छा अपने पूर्ण रूपमें हममें से सर्वोत्तम व्यक्तिमें भी नही मिलती। हॉब हाउस का कहना है कि 'यथार्थ' और 'अस्थायी' अथवा तुच्छ इच्छामें विभेद करते हुए बोसाके समस्याको और भी अधिक उलझी हुई बना देते है। हॉब हाउस का अपना दृष्टिकोण यह है कि प्रत्येक तीव्र लालसा 'यथार्थ' होती है। यह एक ग़लत दृष्टिकोण है। एक पृथक् लालसाकी तीव्रता और व्यक्तिके व्यापक हितोकी गहराई बिल्कुल भिन्न चीजें है। पर हॉब हाउस उनको एक में मिला देते है। बोसाके की दृष्टिमें किसी लालसाकी तीव्रता यह नहीं सिद्ध करती कि वह किसी अन्य वस्तुकी अपेक्षा अधिक यथार्थ है। हॉब हाउस का कहना है कि असगत और अस्थायी इच्छाए भी समान रूपसे यथार्थ है पर बोसाके यह कहेंगे कि वह वास्तविक है।

हॉब हाउस की आलोचना यह है कि 'यथार्थ' इच्छाको ज्ञात करनेकी विधि (Process of Eliciting) इतनी चक्करदार है कि जब व्यक्ति उस इच्छाको पा भी जाता है तब उसे पहचान नही पाता। इसलिए उनका प्रश्न है यह क्यों न स्वीकार कर लिया जाय कि यथार्थ इच्छा एक आदर्श-मात्र है जिस तक हम कभी पहुच नही सकते ? श्री बोसांके इस प्रश्नका उत्तर यह देते है कि मनुष्यके अपूर्ण जीवनमें भी 'यथार्थ' इच्छा विद्यमान रह सकती है। एक साधारण व्यक्तिका जीवन 'वास्तविक' और 'यथार्थ' इच्छाओंका सम्मिश्रण है और वह निरन्तर यथार्थकी ओर प्रगति करता जाता है।

'वास्तविक' और 'यथार्थ' इच्छाके विभेदको छोडकर अब हम सार्वजनिक इच्छा की धारणाको लेते है। सार्वजनिक इच्छाके सम्बन्धमें हॉब हाउस का प्रश्न यह है इस धारणाके लिए क्या आधार है कि व्यक्ति और समाजके बीचका सामजस्य व्यक्तिकी सच्ची इच्छाको प्रकट करेगा ? मान लीजिए कि एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंसे आगे बढ जाना चाहता है। हम उसे यह कैसे समझायेंगे कि यह उसकी यथार्थ इच्छा नही है ? हॉब हाउस इस प्रश्नका उत्तर यह देते है, 'अनुकूलता और स्थिरताको गोली मारो—मुझे जो अच्छा लगेगा मैं करूगा।' यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि यह उचित उत्तर नही है। यदि व्यक्ति जो मन आए वही करनेके लिए कटिबद्ध है तो उसे उसके परिणाम भुगतनेके लिए भी तैयार रहना चाहिए। उसकी अनस्थिरताका अर्थ है दूसरोके साथ व्यावहारिक सघर्ष। बोसांके व्यक्तिके विवेकका ही विवेचन नही करते, वह उसकी भावना और इच्छाका भी विचार करते है।

बोसाके जब 'सार्वजनिक इच्छा' का प्रयोग करते है तब उनके मनमें एक सार्वजनिक प्रकृति या सार्वजनिक सगठनमें व्याप्त एक सामान्य व्यवस्था रहती है। सार्वजनिक प्रकृति का अर्थ यह नहीं है कि सभी एकरूप है। सार्वजनिक इच्छाका उद्देश्य है व्यक्तियोके जीवनको

निर्धारित करनेवाला एक सार्वजनिक सामाजिक स्वरूप। पर प्रत्येक जातिमें यह स्वरूप एक ही जैसा नही है। हॉव हाउस का कहना है 'गुण और चरित्रमें यह इच्छाए अविभेद्य (Indistinguishable) है—उनमें अन्तर नही किया जा सकता। यह एक स्पष्ट भूल है।

कुछ आगे चलकर हॉव हाउस अहम् या आत्माकी परिभाषा देनेका प्रयत्न करते है। इस परिभाषामें वह भौतिक शारीरिक वस्तुओ पर जोर देते है। वह यह भूल जाते हैं कि जो वस्तुए हमें दूसरोंसे सम्बन्धित रखती है वह केवल व्यक्तिगत निजी चीजें नही है। धर्म और नैतिकता जैसी चीजोमें ही सार्वजनिक अहम्की यथार्थता है। व्यक्तिके व्यक्तित्व को उसकी व्यक्तिगत भावनाओमें अवस्थित करना हॉव हाउस की भूल है। बोसाके उसे उच्चतर क्षेत्रोमें अवस्थित करते है। उनके अनुसार मनुष्यके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति उन कार्योंमे होती है जो वह समाजके सार्वजनिक जीवनमें करता है। बोसाके का काम हॉव हाउस की शब्दावली 'एक उच्चकोटिका व्यक्ति' से उसी प्रकार चल सकता है जिस प्रकार 'सार्वजनिक इच्छा' से। याद रखनेकी बात यह है कि हम दो व्यक्तित्वोके बाच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीच सकते, यद्यपि शारीरिक पक्षमें ऐसा किया जा सकता है।

(२) सामाजिक बुद्धि अथवा सामाजिक इच्छा और सामाजिक सघटना सम्बन्धी बोसाके की धारणाओ पर भी आलोचकोने आपत्ति की है। पर वहा भी हमें यही मालूम होता है कि बोसाके का आधार उनके आलोचकोकी अपेक्षा अधिक दृढ है। शारीरिक भावोकी दृष्टिसे लोग एक समष्टिका निर्माण करते है पर बुद्धि और इच्छाकी दृष्टिसे ऐसी समष्टि नही बन पाती। बुद्धि-भेद इतना बडा नही है जितना शारीरिक भेद। अत हम बुद्धियोका विवेचन उतने पृथक् रूपमें नही कर सकते जितने पृथक् रूपमें शरीरोका कर सकते है। उदाहरणके लिए हम सब एक ही भोजन नही कर सकते पर हम सब एक ही विचार सोच सकते है। विवादकी पद्धति एक साथ मिलकर सोचनेकी पद्धति है और सुन्दर ढगसे होनेवाले विवादका परिणाम केवल एक पूर्ण इकाई होता है।

'युगकी भावना' कोई भूल नही है। यह व्यक्तिगत इच्छासे भिन्न कोई दूसरी चीज नही है। और फिर भी वह किसी एक व्यक्तिकी इच्छाकी कृति नही है। वह एक सामूहिक कृति है। युगकी भावना उसी अर्थमें एक है जिस अर्थमें हम परिवारकी इच्छा, श्रमिक सघकी इच्छा और राज्यकी एक इच्छा मानते है। चूकि कोई सामाजिक मस्तिष्क नही है इसलिए यह कहना कि सामाजिक बुद्धि या भावना भी नही है, एक व्यर्थकी बात है। हमारे विचारोका एक दूसरे पर प्रभाव पडता है, इसलिए, व्यक्तिगत बुद्धि या भावनाको निस्सग रूपसे उसे बिल्कुल अलग करके नही समझा जा सकता। उसे केवल सामाजिक बुद्धिके सम्बन्धसे ही समझा जा सकता है। 'सामाजिक इच्छा' का अर्थ यह नही है कि कोई एक बहुत बडी इच्छा है जो अनेक छोटी-छोटी इच्छाओसे ऊपर है। इसका अर्थ है विभिन्न इच्छाओकी परस्पर प्रभावशीलता और सार्वजनिक व्यवस्था द्वारा उनकी व्यावहारिक एकता। इस प्रकार दो वकील एक ही मुक़दमेंकी पैरवी कर सकते है। यद्यपि वह दो पृथक् व्यक्ति है पर जिस मुकदमेंकी वह पैरवी करते है वह एक ही है। बौद्धिक एकताको शारीरिक एकता नही समझना चाहिए। इसी प्रकार एक टीमके खिलाडियोमें, यदि वह सहयोग-पूर्वक खेलते है, एक ही इच्छा होती है। सभी खिलाडी एक ही उद्देश्य या सार्वजनिक इच्छाकी अभिव्यक्ति करते है।

बोसाके इस बात पर जोर देते है कि व्यक्ति समाजके भीतर ही अपने जीवनका सबसे अधिक उपयोग कर सकता है और यह ठीक है। समाजसे अलग रहकर कोई भी अपने मानव-स्वभावका परिपूर्ण विकास नही कर सकता। पर इसका यह अर्थ नही है कि व्यापारिक क्षेत्रमें व्यक्ति और समाजके बीच कोई सघर्ष नही है, जैसा कि श्री बोसाके कहते हैं। आइवर ब्राउन, जो बोसाके को अच्छी तरह समझे बिना ही उनकी आलोचना करते है, कहते है, 'राज्यकी एक ऐसी सामाजिक सघटनाके रूपमें धारणा करना जो उसका निर्माण करनेवाली व्यक्तिगत सघटनाओसे उच्चतर स्थिति पर हो मूलत एक प्रजातत्रवादी धारणा है (६ १४४)।' पर फिर भी ब्राउनके इस आरोपमें कुछ सत्य अवश्य है कि अपने सावजनिक इच्छाके सिद्धान्तमें बोसाके ने, शासक वर्गके और जो लोग उस वर्ग तक किसी प्रकार अपनी पहुच कर ले जाय उनके हाथोंमें लोगोको भयभीत करनेकी एक अपरिमित शक्ति दे दी है। (६ १४५)।' 'यदि सामाजिक सघटनाके सिद्धातका दृढता-पूर्वक प्रयोग किया जाय तो उसका परिणाम होगा राज्यकी एक ऐसी दासता जैसी पहले कभी नही हुई (६ ४८)।'

(३) जैसा ऊपर कहा गया है बोसाके राज्य और समाजको प्राय एकरूप बना देते है और एक विवेकशील राज्यमें व्यक्तिके स्वेच्छा पूर्वक विलीन हो जानेके विश्वासके बहुत निकट आ जाते हैं। उनके सिद्धान्तकी यह कुछ ऐसी कमिया है जिनका समर्थन हम नहीं कर सकते।

(४) हम युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकतासे सम्बन्धित बोसाके के विचारोका समर्थन भी नही कर सकते। राज्य अपने घटको (Agents) के कार्योके लिए उत्तरदायी है। यह कहना तो शब्दोका खिलवाड मात्र है कि राज्यके राज्य रूपमें किये गये कार्य उन कार्योसे भिन्न हैं जो उनके अधिकृत प्रतिनिधियो द्वारा पूरे किये जाते हैं। राज्य और उसके घटक दोनो ही ससारके नैतिक न्यायके सम्मुख उत्तरदायी है। जैसा श्री अर्नेस्ट बार्कर कहते है, 'जब एक नागरिक अपने राज्यको, वैधानिक रीतिसे क्षति-पूर्तिके लिए उत्तरदायी मान सकता है, तब यह समझमें नही आता कि वैधानिक उत्तरदायित्वको स्वीकार करनेवाले राज्यके लिए नैतिक उत्तरदायित्व स्वीकार करना क्यो कठिन हो यदि नैतिक दृष्टिका कोई व्यक्ति ऐसा उत्तरदायित्व उस पर स्थित करता है (३ ७८-९)।' बोसाके का यह कहना है कि 'राज्यका एक वृहद् समाजमें कोई निश्चित कर्त्तव्य नही है बल्कि राज्य स्वय ही सर्वोच्च समाज है, वह एक सम्पूर्ण नैतिक जगत्का सरक्षक है, पर किसी व्यवस्थित नैतिक जगत्के भीतर वह एक अग नही है (५ ३०२)।'

राज्यका आदर्शवादी व्याख्याकी अनेक और विभिन्न आलोचनाए है। यद्यपि उनमें से अनेक आलोचनाओमें सत्यका अश है फिर भी हमारा विश्वास है कि आदर्शवाद उनके विरुद्ध अपनी स्थिति कायम रख सकता है।

आदर्शवाद आलोचना और समर्थन

(१) आदर्शवादके आलोचकोका कहना है कि वह एक भाव-सूक्ष्म और आध्यात्मिक सिद्धान्त है और जीवनकी यथार्थताओका वह विवेचन नही करता। जिन धारणाओको वह व्यक्त करता है वह जीवनकी वास्तविक परिस्थितियोसे बहुत दूर हैं। इस प्रकार विलियम जेम्स आदर्शवादी सिद्धान्तको एक ऐसा बुद्धिवादी दर्शन कहते है 'जिसे निस्सन्देह धार्मिक कहा जा सकता है-पर जो ठोस सत्यो, सुखो और दु खोके निश्चित सम्पर्कसे बिल्कुल अलग रहता है। यह एक शुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त है।' इसमें व्यक्तिको 'एक विवेकशील

प्राणी माना गया है और मानव-स्वभावके दूसरे पक्षका कोई ध्यान नही रखा गया। राज्य को एक चेतन विवेक या इच्छाके रूपमें चित्रित किया गया है और अभ्यास, अनुकरण, भावना तथा लालसा आदि तत्वोकी ओर बिल्कुल ही ध्यान नही दिया गया।'

यह सच है कि आदर्शवाद विचारोकी शक्तिको बहुत ऊचा स्थान देता है। पर इसका यह अर्थ नही है कि आदर्शवादका आधार-कोप भ्रम है। मनुष्यकी बुद्धिको अस्वीकार करके केवल उसकी भावनाओ और तात्कालिक अनुभवोका सहारा लेना, जैसा कि कुछ आधुनिक लेखक करते है, मनुष्यको निम्न कोटिके प्राणियोकी स्थितिमें ला देना है। हमें इस बातमें कोई आपत्ति नही है कि हमारे सामाजिक हितो और हमारी सामाजिक भावनाओ तथा अभिरुचियोका उद्गम आदिम प्रेरणाओ तक खोजा जाय। पर उसके पहले ही रुक जाना तो एक ऐसी नीव है जिस पर कोई भीत उठायी ही न गयी हो। इसमें कोई सन्देह नही कि मनुष्यके महान् सामाजिक प्रश्नोकी आधुनिक मनोवैज्ञानिक विवेचना में बहुत कुछ प्रशसनीय है। पर इसका यह अर्थ नही है कि हम विवेकको तिलाजलि देकर सोलह आने भावनाओ और प्रेरणाओके अधीन होनेको तैयार है। यह स्मरण रखना चाहिए कि विकास क्रम में जो उच्चतर (तर्क या विवेक) है उसीको निम्नतरकी व्याख्या करनी चाहिए न उसका उल्टा होना चाहिए। व्यवस्थित विचारोकी शक्तिको अस्वीकार करके मनोवैज्ञानिक हमें एक विचित्र अज्ञेयतावाद (Agnosticism)' की ओर ले जाता है। उसकी स्थिति तुरन्त निराशावादी हो जाती है।

हम इस बातको स्वीकार करते है कि आदर्शवादियोके सिद्धान्तका अधिकाश भाव सूक्ष्म और आध्यात्मिक है। व्यावहारिक तथ्योके लिए उसमें एक सैद्धान्तिक आधार मिलता है। राजनीति विज्ञान एक आदर्श-मूलक विज्ञान है और इसलिए यदि वह हमें आदर्श रीतिया और आदर्श मानदड नही देता तो अपने कर्त्तव्यमें असफल होता है। वह केवल एक व्याख्या-मूलक विज्ञान नही है। इसी सम्बन्धमें श्री गार्नर लिखते है: 'नीति-शास्त्रकी भाति राजनीति-शास्त्रका भी विवेच्य-विषय है क्या होना चाहिए और वास्तव में क्या है। पदार्थका वास्तविक स्वरूप वह है जो उसके पूर्ण विकासके बाद होता है; इसलिए राजनीतिका दार्शनिक भली भाति राज्यका आदर्श रूप चित्रित कर सकता है और उसकी काल्पनिक महिमा और पूर्णताकी विवेचना कर सकता है (२३.२३८)।' तथा-कथित यथार्थवादी प्राय: अपनी क्षुद्र परिधिके बाहर देख ही नही पाते। आदर्शवादके आलोचक वर्तमान अपूर्ण राज्यो पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते है। आदर्शवादीमें इतना विश्वास और इतनी कल्पनाशीलता होती है कि वह भविष्यमें एक आदर्श राज्यकी भी आशा कर सकता है। जो आदर्श वह चित्रित करता है वह जड आदर्श नही है बल्कि सजीव—सक्रिय आदर्श है और परिवर्तनशील परिस्थितियोके अनुकूल बननेकी क्षमता उसमें है। 'विचारोके हाथ-पैर होते है।' उनमें जीवन होता है, प्राण-शक्ति होती है।

यथार्थवादी जो कुछ करता है वह है आदर्शवादीकी आलोचना। उसकी रचनात्मक देन बहुत कम है। एक राजनीतिक दार्शनिकसे यह आशा नही कि जाती कि वह केवल इस बातका सीधा-सादा विवरण दे दे कि एक व्यवस्थित समाजके सदस्योके रूपमें मनुष्यो का परस्पर व्यवहार कैसा होता है। उसे इससे आगे बढकर इस बातका भी चित्रण करना चाहिए कि उन्हें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। यथार्थवादियोकी आलोचना करते हुए श्री हेनरी जोन्स ठीक ही कहते है: 'वह कोई अपना सिद्धान्त नहीं प्रतिष्ठित

करते, बल्कि आदर्शवादमें त्रुटिया और कमिया गिनाकर और यह दिखा कर कि आदर्शवादने कौन समस्याए हल नही कीं—जो कोई बहुत कठिन काम नही है—वह अपनी डावाडोल स्थिति बनाये रहते है (४२ १३)।'

आदर्शवादी जब यह कहता है कि राज्य विवेक और तर्क-पूर्ण इच्छाकी उत्पत्ति है ब वह यह दावा नही करता कि राजनैतिक जीवन और राजनैतिक सस्थाए सावधानी र्वक सोच-विचार द्वारा उत्पन्न हुई है। उसके कहनेका अर्थ केवल इतना है कि 'युगोके स विकासको देखते हुए यह स्पष्ट है कि मनुष्यका विवेक सर्वदा सक्रिय रहा है, भले ही ह अप्रत्यक्ष और छिपे हुए रूपमें रहा हो।' 'यदि विवेक सक्रिय न रहा होता तो वकासका अन्त आज तक एसा न हुआ होता जैसा हुआ है, सगठित जीवनकी एक तर्कगत और बुद्धि-गम्य व्यवस्थाके स्थान पर स्वाभाविक प्रेरणाओ, अभ्यासो या आदतो और नषेधोका एक ऐसा गडबडघोटाला सम्मिश्रण तैयार हुआ होता जिसका न कोई अर्थ होता, कोई सम्बन्ध होता और न कोई कारण होता (३ ८३)।'

आदर्शवादी इस बातको स्वीकार करता है कि आज भी, विभिन्न दिशाओमें इतनी अधिक प्रगति कर लेनेके बाद भी, मनुष्यके कार्य प्राय चैतन्य विवेक द्वारा प्रेरित नही होते। अक्सर वह अभ्यास अथवा अनायास अनुकरणके परिणाम होते है। फिर भी, आदर्शवादीका कहना है कि तर्क-बुद्धि द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है। आदर्शवादी चाहता यह है कि अभ्यास और अनुकरणको विवेकका सहायक बनाया जाय क्योकि वह विवेकके दास है, उसके स्वामी नही है।

(२) राज्यके जीवनकी विवेचना करनेमें विवेक और इच्छाके महत्त्वको जो लोग स्वीकार करते है वह भी कभी-कभी ऐसा अनुभव करते है कि आदर्शवाद आदर्शोको वास्तविक तथ्य मान लेनेकी भूल करता है। आदर्शोको यथार्थ बनानेके बजाय वह यथार्थ को ही आदर्श बना देता है। विशेषकर रूसो और हीगेल में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखायी देती है। श्री हॉबसन (Hobson) तो यहा तक कहते है कि आदर्शवाद 'रूढिवादिताकी एक चाल है।' समाज सुधार को उससे निराशा होती है, क्योकि ऐसा लगता है कि आदर्शवाद 'यथातथ्य स्थितिके दैवी अधिकार' का उपदेश देता है।

यह आलोचना बिल्कुल ग़लत नही है। अरस्तू दास-प्रथाको आदर्श बनाते है, हीगेल युद्धको गौरवान्वित बनाते है और ग्रीन अपनी उदार प्रवृत्तियोंके साथ पूजीके व्यक्तिगत स्वामित्वका मेल बिठाते है। हमारा केवल एक तर्क यह है कि आदर्शवाद और रूढ़िवाद के बीच कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। आदर्शवादके आधार पर एक क्रान्तिकारी सामाजिक सुधार-योजनाका समर्थन भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार रूढिवादका। 'सुन्दर जीवनकी बाधाओको दूर करना' एक इतना व्यापक उद्देश्य है कि उसमें राज्यका विस्तृत कार्य क्षेत्र समा सकता है। हा, यह जरूर है कि यह सब कुछ बाहरी परिस्थितियो और उन व्यक्तियोके राग-द्वेष पर निर्भर करता है जो आदर्शवादी सिद्धान्त का उपयोग कर रहे हो।

(३) उपर्युक्त आलोचनासे सम्बन्धित एक दूसरी आलोचना यह है कि आदर्शवादी सिद्धान्तका स्वरूप अत्यधिक नकारात्मक (Negative) है—विशेषकर राजकीय कार्य-क्षेत्रके सम्बन्धमें। आदर्शवादियोका कहना है, कि राज्य केवल बाह्य व्यापारोंसे ही सम्बन्ध रख सकता है क्योकि वह दबाव डालनेकी शक्तिका उपयोग करता है। वह

उद्देश्योंके सम्बन्धमें कुछ नही कर सकता। ऐसा कोई साधन नही है जिससे राज्य प्रत्यक्ष रूपमें नैतिक महत्ता या पूर्णताकी उन्नति कर सके। समस्याके इस पहलूका विवेचन करते हुए श्री बोसांके लिखते हैं: 'आध्यात्मिक रूपमें आध्यात्मिक प्रभावोंका उपयोग राज्यके लिए सयोग-वश ही प्राप्त हो सकता है, पर बाहरी साधनो द्वारा विशेषकर ऐसे बाहरी साधनो द्वारा जिनमें दवाव डाला जाता हो—आध्यात्मिक उद्देश्योंकी उन्नति करना केवल नम्र और अप्रत्यक्ष साधनो द्वारा ही सम्भव है (५. पृष्ठ ३२)।'

आदर्शवादके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राज्यके कार्य-क्षेत्रका सिद्धान्त ऋणात्मक या नकारात्मक शब्दोंमें व्यक्त किया गया है, पर परिणाम धनात्मक है। राज्य के कार्य-व्यापारके ऋणात्मक स्वरूप पर अधिक जोर देनेका प्रधान कारण है उस आत्म-प्रेरणा या निरपेक्षताको सुरक्षित रखना जिसके द्वारा ही नैतिक कार्योंको सम्पादित होना चाहिए। मनुष्यके सुन्दर जीवनके हितमें यदि राज्य प्रत्यक्ष रूपसे धनात्मक कार्यवाही प्रारम्भ कर दे तो उसका परिणाम होगा एक अकिंचनता या भिखमगेपनकी भावना और अनुचित रूपसे राज्य पर निर्भर रहनेकी प्रवृत्तिका उदय। इससे उस कार्यवाहीका उद्देश्य ही असफल हो जायगा। व्यक्तिवाद व्यक्तिके गौरव-गीत गाता है और उसे स्वय एक ऐसा उद्देश्य मानता है समाज जिसकी सिद्धिका एक साधन-मात्र है। समाजवाद और हीगेलवाद बिल्कुल दूसरे छोर पर है और राज्यको 'वह रहस्यात्मक गौरव या महत्त्व प्रदान करते हैं जो उच्चतम आत्माभिव्यक्तिकी वस्तु है और जिसके द्वारा मनुष्य अपने पृथक् एकाकीपनसे ऊपर उठ जाता है (५. पृष्ठ ३३)।' इसके विपरीत, अंग्रेज़ी आदर्शवादियोंने मध्यम मार्ग अपनाया है, यद्यपि हमें बरबस यह मालूम होता है कि ग्रीन और बोसांके दोनोंने ही राजकीय कार्य-व्यापारके शुद्ध नकारात्मक पक्षको बढा-चढा कर कहा है। एक निम्नकोटिका व्यक्ति और समाज एक उच्च कोटिके व्यक्ति और समाजकी स्थिति तक पहुचनेके लिए एक साधन-मात्र है।

(४) बोसांके कहते हैं कि आदर्शवादी सिद्धान्तको बहुत सकीर्ण और कठोर बताया गया है। आलोचकोंका कहना है कि वह सिद्धान्त प्राचीन यूनानके सीधे-सादे नगर-राज्योंके लिए व्यावहारिक हो सकता था। उनमें राज्य और समाजके बीच कोई विभेद न किया जाता था। पर आधुनिक युगकी बदली हुई परिस्थितियोंमें राज्य और समाजके बीच सावधानी-पूर्वक विभेद किया जाना चाहिए और समाजके भीतर स्थायी सघोंको परम्परागत एकात्मवादी सिद्धान्त (Monistic theory) में जो स्थान अब तक प्राप्त रहा है उसकी अपेक्षा अधिक समुचित स्थान दिया जाना चाहिए।

हम यह स्वीकार करते हैं कि अनेक आदर्शवादी राज्य और समाजके बीच विभेद नही कर पाते और उनकी इस असफलताका परिणाम होता है समाजके लिए व्यक्तिका बलिदान। साथ ही हम बहुलवादी सिद्धान्तको भी माननेके लिए तैयार नहीं है जो राज्य को समाजके अन्य सघोंके साथ एक समान धरातल पर उतार लाना चाहता है। आजकी परिवर्तित परिस्थितियोंके बावजूद भी, श्री बोसांके के शब्दोंमें, राज्य 'एक व्यापक सन्तुलन और सहयोगका स्रोत है, विभिन्न सघों-समुदायोंको एक शृंखलामें बाध रखने वाली शक्ति है, और स्वयं राजा या सरकार या स्थानीय सस्थाओंकी भाति—जिनके साथ हम उसे एकरूप करना चाहते हैं—वह विभाज्य नही है (५. पृष्ठ २८ और २९)।'

एक और दृष्टिसे आदर्शवादको बहुत सकीर्ण कहा जाता है। वह यह है कि आदर्शवाद

ट करता है कि किस प्रकार समाज राज्य द्वारा एक सूत्रमें बधा रहता है। एकाकीपन व्यक्तिगत उन्नति असम्भव है। व्यक्तिका सच्चा कल्याण इस बातमें है कि वह समाज सार्वजनिक जीवनमें अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर ले।

(३) आदशवाद यह मानता है कि सर्वोच्च कल्याण आत्मार्जित (Self-earned) याण है। राज्यका जो भी कार्य आत्मप्रेरित नैतिक कार्योंमें बाधा डालता है, निन्दनीय प्रत्येक सुव्यवस्थित समाजमें व्यक्तिगत उपक्रम (Initiative) उद्योग और लिकताको अपनी अभिव्यक्तिके लिए पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए।

(४) आदर्शवादी हमारे सम्मुख एक एसा लक्ष्य उपस्थित करते हैं जिसकी प्राप्ति ओर हमारी राजनैतिक प्रगति अग्रसर हो सके, और यह उचित है। जहा तक यह दर्श एक काल्पनिक स्वर्ग या किसी एक व्यक्तिकी कल्पना-मात्र है, उस हद तक तो यह र्थ है। पर जिस हद तक यह आदर्श मानव-स्वभाव और सामाजिक जीवनकी व्याव-रिक परिस्थितियोके सम्बन्धमें हमारे ज्ञान और अनुभव पर आधारित है उस हद तक ह महत्त्वपूर्ण है। आदर्शवादियोने जो आदर्श उपस्थित किया है वह प्राप्त किया जा कता है। वह एक बेकारीमें ऊघने वालेका स्वप्न मात्र नही है।

(५) आदर्शवादकी यह मान्यता ठीक है कि मनुष्यके सर्वोच्च गुण बुद्धि और इच्छा म्बन्धी गुण है। आदिम प्रेरणाओ और प्रवृत्तियोको मनुष्यके विवेकका उद्गम मानने आदशवादको कोई आपत्ति नही है। पर जिस बात पर आदर्शवाद जोर देता है वह ह है कि विकास-क्रम में जो—विवेक— उच्चतर स्तर पर है वह निम्नतर की व्याख्या रे, न कि इसका उल्टा हो।

(६) बिना किसी असम्मानकी भावनाके जिसे 'उपयोगितावादके दशनमें शूकर-त्ति' कहा जा सकता है उसके विरुद्ध आदर्शवाद एक अभिनन्दनीय प्रतिक्रिया है। जो र्वोच्च मूल्य-महत्त्व हमें ज्ञात है वह नैतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक है। भौतिक दार्थो और हितोको उनका दास होना चाहिए, स्वामी नही।

आदर्शवादके पक्षमें निचोडके रूपमें श्री गार्नर लिखते है 'आदर्शवादके विरुद्ध जो आलोचनाए की गयी है उनमें से अधिकाशके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि वह अनुचित और अत्युक्तिपूर्ण है और इस सिद्धान्तकी एक ग़लत धारणा पर टिकी हुई है। आदर्शवादियोकी निम्नलिखित मान्यताओका जहा तक सम्बन्ध है, वहा तक यह सिद्धान्त बेल्कुल सही और निर्दोष है राज्यको अन्य समस्त मानव-सघोसे उच्चतर मानना, सुन्दर जीवनकी प्राप्तिके लिए राज्यको अनिवार्य मानना, और इसलिए उसे नागरिको की निष्ठाका और अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिए नागरिकोसे बलिदान मागनेका अधिकारी मानना, राज्यको विधान और अधिकारोका एकमात्र उद्गम मानना, यह मानना कि राज्यमें ही व्यक्ति अपने अस्तित्व या जीवनका उद्देश्य पूण रूपसे प्राप्त कर सकता है और यह मानना कि बिना राज्यके मानव-प्रगति और मानव-सभ्यता असम्भव है (२३ २३८)।'

Select Readings

Barker, E — *Political Thought in England from Spencer to Today* —Chs I-III

BOSANQUET, B —*The Philosophical Theory of the State.*
BRADLEY, F. H.—*Ethical Studies, esp, Ch on 'My Station and its Duties.'*
BROWN, I.—*English Political Theory*—Ch XI
DEWEY, J.—*German Philosophy and Politics.*
DUNNING, W.A —*Political Theories from Spencer to Rousseau*—Ch. IV.
ELLIOT, C Y —*The Pragmatic Revolt in Politics.*
FOLLETT, M.P —*The New State*
GREEN, T.H.—*Lectures on the Principles of Political Obligation*
HEGEL—*The Philosophy of Right.*
HALLOWELL, J.H —*Main Currents in Modern Political Thought*—Ch. 8.
HOBHOUSE, L T —*The Metaphysical Theory of the State*
HOCKING, W E.—*Man and the State*
JOAD, C.E.M —*Modern Political Theory*—Ch I
JOAD, C E M—*Guide to the Philosophy of Morals and Politics*
JONES, SIR H.—*Idealism as a Practical Creed.*
JONES, SIR H —*The Working Faith of the Social Reformer.*
KANT, I.—*Critique of Pure Reason.*
,, *Critique of Practical Reason*
,, *Principles of Politics*
,, *Perpetual Peace.*
LASKI, H J —*Authority in the Modern State*
LORD, A R —*Principles of Politics*—Ch XI
MAC CUNN, J —*Six Radical Thinkers*—Ch. VI.
MACKENZIE, J.S —*An Introduction to Social Philosophy*
MERRIAM, C.E —*New Aspects of Politics*
MUIRHEAD, J H.—*The Service of the State*
RITCHIE, D G —*The Principles of State Interference.*
ROCKOW, J —*Contemporary Political Thought in England*
SABINE, G H —*A History of Political Theory.*
SETH, J.—*Ethical Principles*—pp. 287-320
VAUGHAN, C E —*Studies in the History of Political Philosophy*—Vol. II.
WALLAS, G.—*Human Nature in Politics.*
WILDE, N.—*Ethical Basis of the State.*

१४

प्रजातंत्र
(Democracy)

१ प्रजातन्त्र पर पुनर्विचार (Democracy Under Revision)

आज यह कहना एक साधारण बात है कि ससार प्रजातन्त्रके सम्बन्धमें अब उतना आशावान् नही है जितना एक पीढ़ी पहले था। आज प्रवृत्ति यदि आलोचना करनेकी नही है तो सावधान रहनेकी जरूर है। श्री उडरो विल्सन (Woodrow Wilson) के शब्दो में महायुद्ध ससारको 'प्रजातन्त्रके लिए सुरक्षित' बनानेके उद्देश्यसे लडा गया था। पर उस समयसे जो समस्या हमारे सामने है वह ससारके लिए प्रजातन्त्रको सुरक्षित रखनेकी हो गयी है। द्वितीय विश्व-युद्धके बादके वर्षोने यह स्पष्ट रूपसे दिखा दिया है कि प्रजातन्त्र शान्ति, समृद्धि और प्रगतिके लिए कोई जादूका मन्त्र नही है। यह आवश्यक नही है कि बहुसख्यक लोगोकी चिल्ल-पोमें कोई बुद्धिमानीकी बात प्राप्त हो। अब हम बेन्थम की इस आशासे सहमत नही है कि 'इस कुटिल जगत्को गणतन्त्र राज्योसे भरपूर बना कर' हम उसे एक क्रान्तिकारी रूपमें सुधार ले जायेंगे। प्रजातन्त्रका माया-रूप यदि हमारी आखो से बिल्कुल ही नही हट गया तो कमसे कम हम अब अधिक सयत अवश्य हो गये है। श्री लुडाविसी अपने निम्नलिखित आलकारिक प्रश्नोमें प्रजातन्त्रके प्रति वर्तमान पीढ़ीके गम्भीर असन्तोषका ही अभिव्यक्त करते है 'प्रजातन्त्रमें आजकल कौन विश्वास करता है ? ससदात्मक शासन (Parliamentary Government), विश्व-भ्रातृत्व और व्यापक मताधिकार पर आज किसे निष्ठा है ?' वह श्री अल्फीडाइडीस के साथ प्रजातन्त्र को एक 'स्वीकृत पागलपन' माननेके लिए तुरन्त तैयार हो जायेंगे।

प्रजातन्त्र पर आज अनेक दिशाओसे प्रहार हो रहे है, प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी दोनो ही उस पर चोटें कर रहे है। एकतन्त्र और तानाशाही पर विश्वास रखनेवाले इसकी बडी कठोर आलोचना करते है। इनमें से अनेक प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) का उपदेश प्रचारित करते है जिसके अनुसार एक सुसगठित दृढ इच्छा शक्तिवाले और आत्महितका दावा रखनेवाले अल्पसख्यक समुदायको असहाय बहुमत पर बल-पूर्वक अपनी इच्छा लादनी चाहिए, यदि आवश्यक हो तो, निर्दय आतकवादके द्वारा भी। एक दूसरे सन्दर्भमें ओलिवर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell) ने प्रत्यक्ष कार्यवाहीके सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया था 'प्रश्न यह है कि उनका कल्याण किस बातमें है—न कि उन्हें क्या अच्छा लगता है।' प्रत्यक्ष कार्यवाहीमें विश्वास रखनेवालोके प्रधान तर्क, जैसा कि श्री हार्नशॉ ने कहा है, यह है

१ पार्लियामेंट मजदूर वर्गका उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही करती।

२ औद्योगिक मसलोके सुलझानेमें राजनैतिक तरीके उपयुक्त नही होते।

३ राजनैतिक कार्यवाहीकी अपेक्षा प्रत्यक्ष कार्यवाही अधिक तात्कालिक और प्रभावपूर्ण होती है।

४. अल्पसंख्यक प्राय ठीक और सही बात कहते है और बहुमत प्राय गलत बात करता है।

इसलिए बहुमतकी बात अनसुनी कर देनी चाहिए और बल-पूर्वक उसे अपने कल्याण के मार्ग पर लाना चाहिए। प्रत्यक्ष कार्यवाहीकी एक अवस्था वह भी होती है जब औद्योगिक शक्तिका पूरा-पूरा प्रयोग किया जाता है। 'यह अल्पजन-तंत्र (Oligarchy) और अन्तिम स्थितिमें निरकुशता या तानाशाहीके विरोधी सिद्धान्तोकी स्पष्ट रूपसे मान्यता स्थापित करना है'।

श्री एच० जी० वेल्स को इस बातका विश्वास हो गया है कि ससदात्मक प्रजातन्त्रमे विकसित होनेवाले राजनैतिक विधानो और राजनीतिज्ञोके प्रति अविश्वास और असन्तोष बढता जा रहा है। उसका कहना है कि आम चुनाओसे सरकार बनानेकी पद्धतिका जादू समाप्त हो गया है और 'प्रजातत्र प्रत्यालोचनके एक ऐसे युगमें प्रवेश कर रहा है जिसमें हमारी आजकी परिचित ससदो, ससदात्मक सस्थाओ और इस राजनैतिक जीवनका समाप्त हो जाना अनिवार्य है।' श्री वेल्स को सभी कठिनाईकी जड सार्वजनिक मसलोके प्रति साधारण मनुष्यकी उदासीनता, उसका अज्ञान और उसकी असमर्थता जान पडती है। उनका विश्वास है कि साधारण मतदाता अपने मतकी ज़रा भी परवाह नही होती।

इन सब आलोचनाओके होते हुए यह सोचना कि प्रजातन्त्रका भविष्य निश्चित और उज्ज्वल है और वह हमारी सभी सामाजिक और राजनैतिक बुराइयोके लिए रामबाण सिद्ध होगा एक मूर्खताकी बात होगी। यह निस्सकोच रूपसे कहा जा सकता है कि यदि हम प्रजातन्त्रके उन दोषोको दूर नही करते जो कि अधिकाधिक रूपमें सामने आ रहे है, तो प्रजातन्त्रको किसी दूसरे प्रकारके राजनैतिक संगठनके लिए स्थान छोडना पडेगा।

२. प्रजातन्त्रका अर्थ (The Meaning of Democracy).

प्रजातत्र सरकार या शासनका एक भेद-मात्र नही है। यह राज्यका एक प्रकार भी है और समाजकी एक व्यवस्था भी। प्रजातन्त्रके शुभचिन्तकोने भी कभी-कभी उसकी व्याख्या एक शासनके प्रकार—रूपमे ही की है। इस प्रकार श्री जे० पी० लावेल (J P. Lowell) कहते है कि प्रजातन्त्र शासनके क्षेत्रमें 'एक प्रयोग' है। लेकिन उसकी परिभाषा देते है 'प्रजाके लिए, प्रजा द्वारा, प्रजाका शासन।' सीली (Seeley) कहते है कि प्रजातन्त्र वह 'शासन है जिसमें प्रत्येकका एक भाग होता है।' डाइसी (Dicey) उसे सरकार का एक ऐसा भेद बतलाते है जिसमें शासक सभामें अपेक्षाकृत रूपसे जनताका एक बडा अंश रहता है।' अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मॉडर्न डेमाक्रेसीज़' (Modern Democracies) में लार्ड ब्राइस भी प्रजातन्त्रको सरकारका एक प्रकार-मात्र मानते है। इन सबको देखते हुए हम यह कह सकते है 'परमात्मा हमारे मित्रोकी रखवाली करे, हम अपने शत्रुओकी खबरदारी कर लेंगे।'

प्रजातन्त्र शासनका एक स्वरूप या प्रकार-मात्र नही है, वह प्रधानत शासनका विभेद नही है। प्रजातन्त्रवादी सरकारमें एक प्रजातन्त्रवादी राज्य निहित है पर एक प्रजातन्त्रवादी राज्यका यह अर्थ आवश्यक नही है कि प्रजातन्त्रात्मक सरकार हो। एक प्रजातन्त्रवादी राज्य किसी प्रकारके भी शासनसे मेल खा सकता है, चाहे वह प्रजातन्त्रात्मक हो, चाहे एकतन्त्रात्मक हो और चाहे राजतन्त्रात्मक। वह चाहे तो सर्वोच्च अधिकार-सत्ता किसी

करने और राज्यकी विभिन्न सेवाओंमें उसका विनियोग करनेका अधिकार इन सब प्रणा-लियोमें जनताके प्रतिनिधियोका रहता है। यह सब राजनैतिक दलो द्वारा कार्यान्वित होती हैं।

प्रजातन्त्रका व्यापक अर्थ (Democracy in its Broader Sense) अपने व्यापक अर्थमें प्रजातन्त्र 'एक राजनैतिक स्थिति,' 'एक नैतिक धारणा' और 'एक सामाजिक परिस्थिति' है। प्रजातन्त्रका अर्थ है सामान्य मनुष्यमें विश्वास। अथवा जैसा श्री ए० डी० लिड्से (A D.Lindsay) कहते है, इसका अर्थ यह है कि सभी मनुष्यो का एक अपना मूल्य—महत्व है। कोई भी किसी दूसरेकी उद्देश्य-सिद्धिका साधन मात्र नही है। इस सम्बन्धमें काट का प्रसिद्ध सूत्र यह है, "ऐसा व्यवहार करो जिससे तुम्हारी अपनी या किसी भी अन्य व्यक्तिकी मनुष्यताका उपयोग हर हालतमें एक उद्देश्य रूपमें हो सके, और कभी भी उसका उपयोग केवल एक साधन-रूपमें न हो।" सत्रहवी शताब्दीके एक अनति प्रसिद्ध लेखकके शब्दोमें 'इगलैंडके एक दरिद्रतम व्यक्तिको भी वैसे ही एक जीवन जीना है जैसे सबसे धनी व्यक्तिको जीना है (५३)।'

व्यक्तित्वकी महत्ता प्रजातन्त्रका सार-तत्त्व है, पर इसका यह अर्थ नही है कि सभी व्यक्ति एक समान या बराबर है। प्रजातन्त्र समानताके सिद्धान्त या समानताकी भावना का मेल प्राकृतिक असमानताके साथ बिठाना चाहता है। वह प्रयत्न करता है कि एक 'ऐसी सामाजिक व्यवस्थाकी स्थापना हो जिसमें व्यक्तिकी उन्नति और अभिव्यक्ति को अनुकूल अवसर मिल सके।' श्री सी० डी० बर्न्स (C D. Burns) कहते है व्यवहारमें प्रजातन्त्रका यह अनुमान है कि सभी व्यक्ति समान है और इस कल्पना या अनुमान का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि जो सर्वोत्तम हो उन्हें खोजा जा सके।

प्रोफेसर स्मिथ का कहना है कि इस दृष्टिसे देखने पर प्रजातन्त्र एक धार्मिक सिद्धान्त है और प्रजातन्त्रीय जीवन ही सच्चा धार्मिक जीवन है। हमारा विश्वास है कि प्रजातन्त्र मानवताके प्रति हमारे उत्साहका व्यावहारिक प्रदर्शन है। स्वाधीनता, समानता और भाईचारेकी बाहरी विरोधी सिद्धान्तोमें पारस्परिक मेल बैठानेका यह एक ठोस प्रयत्न है जिसका उद्देश्य यह है कि समाजके प्रयेक व्यक्तिके लिए यह सम्भव बनाया जा सके कि वह अपनी शक्ति भर अपने लिए सर्वोच्च कल्याणकी सिद्धि कर सके। हम सर फिट्ज़जेम्स स्टेफेन (Sir Fitzjames Stephen) के इस कथनसे सहमत नही है कि 'स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व के द्वारा जिस विचार-क्रमकी ओर सकेत किया गया है उसके प्रति विवेकपूर्ण उत्साहके लिए कोई अवसर शेष नही रह जाता, क्योकि अनेक ऐसी बातें है जिनके सम्बन्धमें मनुष्यको स्वाधीनता मिलनी ही नही चाहिए, मनुष्य मौलिक रूपसे असमान है, वह परस्पर बन्धु तो है ही नही, और यदि हैं तो ऐसे प्रतिबन्धोके साथ कि बन्धुत्वका उनका दावा महत्त्व-हीन हो जाता है।'

३ प्रजातंत्रका शास्त्रीय समर्थन (The Classical Case for Democracy)

वास्तविक व्यवहारके क्षेत्रमें जो दोष प्रजातन्त्रमें दिखाई देते है उनकी ओर से हम थोडी देरके लिए आखें मूद लेते है और यह देखना चाहते है कि प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्तके पक्षमें कौनसे तर्क रखे जा सकते हैं। यह तर्क निम्नलिखित है

(१) पूर्वविधारण-मूलक तर्क (The Precautionary),
(२) मनोवैज्ञानिक तर्क (The Psychological reason),

(३) शिक्षा-सम्बन्धी तर्क (The Educational reason),
(४) नैतिक तर्क (The moral reason),
(५) व्यावहारिक तर्क (The Practical reason)।

प्रथम तीन तर्कोंकी पूरी-पूरी विवेचना प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० हॉकिंग ने निम्नलिखित रूपोमें की है :

१. पूर्वावधारण-मूलक तर्क. प्रजातन्त्र हमें यह प्रत्याभूति या गारटी देता है कि समाजमें प्रत्येक व्यक्तिकी इच्छा पर उपयुक्त विचार किया जायगा और सरकार द्वारा जो कुछ भी किया जायगा उसमें किसी भी व्यक्तिकी अवहेलना नही की जायगी। पर इसका यह अर्थ नही है कि प्रजातन्त्र प्रत्येक व्यक्तिकी इच्छाओंको कार्यान्वित करनेका वचन देता है, क्योंकि यह तो स्पष्टत किसी भी समाजमें असम्भव है। इसका अर्थ यह है कि 'दरिद्रतम' व्यक्तिको भी अपनी इच्छा व्यक्त करनेकी उतनी ही स्वाधीनता मिलेगी जितनी 'धनीसे धनी व्यक्ति' को। यदि कर्म-कुशलता ही अच्छी सरकारकी एकमात्र कसौटी होती तो नौकरशाही या तानाशाही भी प्रजातन्त्रकी अपेक्षा अच्छी होती। पर कर्म-कुशलता ही एकमात्र कसौटी नही है। सर्वोत्तम सरकार वह है जो यथासम्भव सर्वोत्तम नागरिकोंका निर्माण करती है। यदि हम अपने शासकोंका चुनाव ठीक-ठीक कर सकें तो एकतन्त्र या नौकरशाही बहुत सन्तोषजनक ढगसे काम कर सकती है। पर इस प्रकारकी सरकारोंके साथ कठिनाई यह है कि यह समाजके किसी भी वर्गसे विशेष रूपसे अभिरुचि या सहानुभति नही रखती। एकतन्त्र या नौकरशाहीमें व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहोंको जहा-तहा कष्ट हो सकता है पर उसका समूचे समाज पर कोई प्रभाव नही पडता। पर इसके विपरीत, प्रजातन्त्रमें, कमसे कम सैद्धान्तिक रूपसे, एक भी व्यक्ति ऐसा नही है जिसे कोई कष्ट हो और शेष समाज उसके कष्टमें साझीदार न बने। दूसरे शब्दोंमें एकतन्त्र या नौकरशाही कुछ अशोंमें विकलाग रहती है। इसके विपरीत, यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र अपने सभी सदस्योंकी इच्छाओं और उनके कष्टोंका अनुभव करता है। एक एकतन्त्र या नौकरशाहीमें आदेशों और अधिनियमोंके रूपमें अनेक बहिर्गामी सम्बन्ध (Outgoing relations) शासकोंसे व्यक्तियों तक प्रसारित रहते है पर सम्मतियों और इच्छाओंके रूपमें व्यक्तियोंसे शासकोंकी ओर प्रसारित होने वाले अन्त गामी सम्बन्धोंकी सख्या उतनी नही होती। प्रोफेसर हॉकिंग का कहना है कि प्रजातन्त्र प्रत्येक व्यक्तिमें एक धमनी जोड देता है। वह व्यक्ति और केन्द्रके बीच एक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित कर देता है। उसमें बहिर्गामी सम्बन्धोंकी जितनी सख्या होती है उतनी अन्त गामी सम्बन्धोंकी भी होती है। 'एक पूर्ण प्रजातन्त्रमें कोई भी यह शिकायत नही कर सकता कि उसे अपनी बात कहनेका अवसर नही मिला (ए० एन० लॉवेल)।'

२. मनोवैज्ञानिक तर्क जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कर्म-कुशलता ही पर्याप्त नही है। हृदय-हीन कर्म-कौशलने ही रोमको समाप्त कर दिया। प्रत्येक प्रकारकी सरकार में हमारा प्रयत्न यही होगा कि शासन विशेषज्ञों द्वारा हो। पर विशेषज्ञ जनताकी पूरी इच्छाओं व सम्मतियोंको नही जानते। विशेषज्ञता मस्तिष्कको जकड देती है। विशेषज्ञ विषयके अपने पक्षको भली भाति जानता है। पर उसे हमेशा इस बातका ज्ञान नही रहता कि उसकी प्रकल्पनाओं (Prescription) या तदबीरोंका जनता पर सामान्य रूपसे क्या प्रभाव पडता है। दर्द तो वही समझता है जिसके पैरमें काटा चुभता है। एक अच्छे

शासनकी आवश्यकता यह है कि विशेषज्ञो और सर्वसाधारण मनुष्योंके बीच सहयोग हो, एक व्यावहारिक समझौता हो, और प्रजातत्र इस आवश्यकताको सर्वोत्तम ढगसे पूरा करता है। प्रोफ़ेसर हॉकिंग तो यहा तक कहते है कि अत्यन्त उच्च कोटिके शिक्षित मनुष्य द्वारा शासित होना एक दुर्योग है। ऐसे शासकके लिए एक भाव-सूक्ष्म सिद्धान्तवादी (Doctrinaire) हो जाना—जीवनकी ठोस परिस्थितियोसे परे दूरकी ऊची उडान लेना बहुत स्वाभाविक है।

यदि एक क्षणके लिए हम विभिन्न व्यवसायोकी ओर दृष्टि डालते है तो हम देखते है कि इन क्षेत्रोंके विशेषज्ञ अब अधिकाधिक रूपमें सामान्य जनता पर भरोसा करने लगे है। जो डॉक्टर अब तक एक तानाशाहीकी भाति काम करता था वह अब रोगीको निदान-व्यवस्थामें सहयोगी बनाकर इस बातका प्रयत्न करता है कि रोगी स्वय अपने आपको अच्छा कर ले। इसी प्रकार सगीतका विशेषज्ञ सगीत-शास्त्रके नियमोको सिखा कर ज्ञान भी देता है और साथ ही अच्छे सगीतकी धारणाके सम्बन्धमें जनताके निर्णय पर भी ध्यान देता है और अपना एकपक्षीय निर्णय नही देता कि जनताको कैसा सगीत पसन्द करना चाहिए। इसी प्रकार प्रजातत्र भी सामान्य व्यक्तिको सार्वजनिक समस्याओके सामान्य हल ढूढनेमें सरकारसे सहयोग करनेके लिए निमत्रित करता है। प्रजातत्रका पहला काम यह है कि वह जनताके प्रश्न—क्यों?—का समाधान करता है और जब वह ऐसा कर देता है तभी सरकार और जनताके बीच एक सहानुभूति-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्ति एक निष्क्रिय स्वीकृति देने वालेके बजाय एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है। प्रोफेसर हॉकिंग कहते है, 'प्रजातत्र चेतन और उपचेतन मनकी एकता है।'

३ शिक्षा-सम्बन्धी तर्क प्रजातत्र जन-शिक्षाका एक व्यापक प्रयोग है। यह अभिरुचि जाग्रत् करता है और ज्ञानवर्धक है। जिन लोगों पर प्रजातत्रका शासन होता है उनमें वह एक उच्च कोटिकी मनोवृत्ति उत्पन्न करता है। जब कभी आम चुनाव होता है तब सभी तर्क-सगत या उचित सम्मतियोको अभिव्यक्तिका अवसर मिलता है। समस्याओका सभी दृष्टिकोणोसे विवेचन होता है और जो बातें व्यक्तिगत थी वह सभी सार्वजनिक हो जाती है। भाषण दिये जाते है, लेख लिखे जाते है, योजनाए बनायी जाती है और नीतियोकी व्याख्या होती है इसका परिणाम यह होता है कि सरकार व शासन सम्बन्धी समस्याओंके विषयमें जनताका ज्ञान बहुत बढ जाता है। कुछ ही दिनो या सप्ताहोके समयमें जनता तत्कालीन समस्याओसे भलीभाति परिचित हो जाती है। काफी बहस, सोच-विचार और निर्णयके बाद चुनाव किया जाता है। सभीके दृष्टिकोण और विचार स्पष्ट और सशुद्ध हो जाते है। इस सम्मिलित विवाद और विचारके प्रारम्भमें यदि जितने व्यक्ति होते है उतनी ही सम्मतिया होती है तो अन्तमें हम एक सामान्य समिति या सार्वजनिक इच्छा तक पहुच जाते है। प्रत्येक व्यक्तिका मस्तिष्क अधिक व्यापक और विकसित हो जाता है। प्रजातत्रीय शासनका धीमा-धीमा प्रभाव जो लोग उसमें भाग लेते है उन पर यह होता है कि उनका मानसिक स्तर ऊपर उठ जाता है। श्री सी० डी० बर्न्स लिखते है 'सभी प्रकारका शासन शिक्षाकी एक पद्धति है, पर आत्मशिक्षा ही सर्वोत्तम शिक्षा है, इसलिए सर्वोत्तम शासन आत्मशासन है जो प्रजातत्र है।'

४ नैतिक तर्क प्रजातत्र जनताको शिष्ट और सद्वृत्ति-सम्पन्न बनाता है। प्रजातत्रका आधार यह सिद्धान्त है कि मनुष्य स्वय अपने उद्योगसे अपने लिए जो कुछ

पैदा करता है वह उसके लिए उससे कही अधिक महत्त्व-पूर्ण है जो कोई दूसरा व्यक्ति उसे दे देता है। प्रजातन्त्र आत्मसहाय, उपक्रम (Initiative) और व्यक्तिगत उत्तर-दायित्वकी भावनाको सबसे अधिक बल देता है। श्री जे० एस० मिल कहते है कि 'अन्य किसी भी राजपद्धतिकी अपेक्षा प्रजातन्त्र एक उत्तम और उच्च कोटिके राष्ट्रीय चरित्रका विकास करता है।' इस प्रकार हम देखते है कि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में प्रजातन्त्रका प्रभाव हुआ है मानव-सहानुभूतिका विस्तार और विकास। प्रजातन्त्रके विकासके परिणाम स्वरूप वहा लोकोपकारकी भावनामें वृद्धि हुई है और राजस्वके आधार पर जनताके लिए शिक्षाकी सुविधाजनक व्यवस्था की गयी है। प्रेसीडेंट लॉवेल (President Lowell) ठीक ही कहते है कि किसी भी सरकारकी उत्तमता या कुशलताकी कसौटी शान्ति और व्यवस्था, आर्थिक समृद्धि या न्याय भी नही है। यह कसौटी है 'राज्य-व्यवस्था को स्थिर रखने वाले नागरिकोका वह चरित्र जिसका कोई राजपद्धति निर्माण करती है। अन्तिम रूपमें सर्वोत्तम शासन वह है जो एक जातिके नैतिक तत्त्वको, उसकी सत्यशीलता को, उसके उद्योग, आत्मनिर्भरता और साहसको दृढ बनाता है।' यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि अपनी सर्वोच्च स्थितिमें प्रजातन्त्र इस कसौटी पर खरा उतरता है। इसी प्रकार ब्राइस कहते है कि राजनैतिक मताधिकार द्वारा नागरिकोका महत्त्व—उनकी प्रतिष्ठा बढती है। हम कह सकते है कि प्रजातन्त्र पूर्ण मनुष्यके विकासमें सहायक है। किसी भी अन्य प्रकारके शासनमें आत्मसिद्धि (Self-realisation) इतनी सुगम नही है जितनी प्रजातन्त्रमें।

५. व्यावहारिक तर्क   व्यावहारिक दृष्टिकोणसे प्रजातन्त्रसे कई एक लाभ है।

(१) यह देश-प्रेम को बढाता है। जिस व्यक्तिको मताधिकार नही प्राप्त होता उसका राजनैतिक प्रश्नोकी ओरसे असन्तुष्ट या उदासीन हो जाना स्वाभाविक है। यह अनुभूति ही साधारण मनुष्यमें अपने देशकी समस्याओके प्रति सच्ची अभिरुचि उत्पन्न करती है कि यदि तत्कालीन सरकार जनमतकी ओर ध्यान नही देती तो उसे तुरन्त ही बदला जा सकता है। श्री लावेल का कहना है कि फ्रासके लोगोको क्रान्तिके बाद जब शासनमें भागी-दार बनाया गया था उससे पहले कभी भी फ्रांसको सच्चे दिलसे उन्होने प्यार नही किया था। और तबसे वह अपने देशके कट्टर प्रेमी हो गये है।

(२) प्रजातन्त्र देश-प्रेम को दृढ करता है। इस तथ्यकी एक उपसिद्धि यह भी है कि प्रजातन्त्र क्रान्तिके खतरेको कम करता है। प्रजातन्त्र तो समझा-बुझा कर स्वीकृतिके आधार पर चलने वाला शासन है। हर दूसरे प्रकारका शासन कम या अधिक शक्तिके भरोसे चलता है। पर प्रजातन्त्रका विश्वास विवाद और विचार-विमर्शमें है और यही एक ऐसा ढग है जो अन्तमें सफल होगा। जैसा श्री हॉर्नशा कहते है, 'जनताको शिक्षित और अपने मतका बनानेमें समय चाहे जितना लग जाय पर केवल शिक्षा और मत-परिवर्तनके द्वारा ही कोई उद्देश्य अन्तिम रूप में सफल हो सकता है।' जनप्रिय सरकार के लिये यह एक अनन्त गौरवकी बात है कि उसका आधार भाषण-स्वातंत्र्य, सभा या सम्मिलनकी स्वाधीनता और सामूहिक उद्योग पर है।

इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र ही एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें व्यवस्था और प्रगति दोनो साथ-साथ आसानी से चल सकती है। इन तथ्यसे क्रान्तिकी सम्भावना पर एक और रोक लगती है। तानाशाही में हमें व्यवस्था मिलती है पर कोई अधिक प्रगति नही होती

दल-प्रथा सम्मति-विभाजनके लिए इतनी अधिक यान्त्रिक जान पडती है कि उससे किसी भी अशमें सार्वजनिक इच्छाका सही-सही प्रतिनिधित्व नही हो सकता (५४ १६२)।'

४ फ्रांसीसी लेखक श्री फैगुइट प्रजातन्त्रको अयोग्यताका पोषण करने वाला सिद्धान्त कहते है। यही निर्णय कुछ ऐसे और लोगोका भी है जिनके हृदयमें प्रजातन्त्रके विरुद्ध कोई द्वेष-भावना नही है। कुछ खुले आम कहते है कि प्रजातन्त्रका अर्थ है एक उत्तरदायित्व-हीन सरकार। वह यह भी कहते हैं कि प्रजातन्त्र कोई विवेक-पूर्ण नीति-निर्धारित करनेमें असफल रहता है। विशेष रूपसे मन्त्रियोकी योग्यता व सामर्थ्य, राष्ट्रीय सुरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध और कूटनीतिक मसलोके क्षेत्रमें प्रजातन्त्र बहुत कमजोर रहता है। यह तो नौसिखियोका या एकदम अपरिपक्व लोगोका शासन है। इसका आधार सामान्य भीड है जो अकृतज्ञ, भावुक और भावनाकी बाढमें बह जाने वाली होती है, और इस दृष्टिसे प्रजातन्त्र का आधार एक छिन्न-तन्तु ही होता है। साधारण लोग बहुत अधिक तर्क वितर्क नही करते। आज वह किसी व्यक्तिकी प्रशसा करके उसे आसमान पर चढा देते है और दूसरे दिन उसे कूडे की नालीमें ढकेलनेको तैयार हो जाते है। सिद्धान्तो और व्यक्तियो दोनो ही के सम्बन्धमें उनकी धारणाए बडी अस्थिर और उनकी मान्यता बडी चपल होती है। कोई स्थिर और सामजस्य-मूलक आदर्श उन्हें प्रेरित नही करता। कभी-कभी वह आदर्शवाद और वीर-पूजा की भावनासे प्रेरित होते है, 'जातियोके आत्मनिर्णय' जैसे आकर्षक सूत्रो और 'कैसर को फ़ांसी दो' जैसे नारोंके आवेशमें उनके पैर बडी आसानीसे उखड जाते है—वह स्थिर नही रह पाते। कभी वह अस्पष्टवादी हो जाते है और सभी प्रकारकी प्रगतिका विरोध करते हैं। वह सकीर्ण बुद्धिके होते है। कुछ प्रजातन्त्रवादी देशोमें आलोचकोको जनतामें प्रवृत्ति दिखाई दी है कि नियोगो (Mandates), प्रार्थनाओ और विरोधो द्वारा वह अत्यधिक विवरणोमें हस्तक्षेप करती है। दूसरे देशोमें अवहेलना और अराजकताकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। नेताओका अपमान किया जाता है। श्री हॉर्नशा के शब्दोमें नेता लोग ऐसे अध्यापकोकी स्थितिमें रहते हैं जिनका 'चुनाव विद्यार्थियो द्वारा होता हो और जो विद्यार्थियो द्वारा ही दडित और पद-च्युत किये जा सकते हो।'[1]

५ यह दावा किया जाता है कि जनता द्वारा शासन प्रजातन्त्र है। आलोचक प्रश्न करता है कि क्या वास्तवमें ऐसा ही होता है? वह कौनसे लोग है जिन्हें बुद्धिमत्ता, न्याय और शक्तिका स्वरूप माना जाता है? क्या इसका अर्थ निर्वाचकोके बहुमतसे है? यदि यही बात है तो उन लोगोको हम क्या उत्तर दे सकते है जिनका यह कहना है कि मतदाताओ का बहुमत अनिवार्य रूपसे जनताका बहुमत नही व्यक्त करता, इगलैंडमें त्रिदलीय पद्धति और कुछ अन्य देशोमें गुट-पद्धति (Group System) के प्रचलित होनेसे जो लोग शासन करते है वह वास्तवमें प्राय. अल्पमतका ही प्रतिनिधित्व करते है न कि बहुमतका। और यदि तर्कके लिए हम यह मान भी लें कि बहुमतके वोटका अर्थ अनिवार्यत देशका बहुसख्यक जन-मत होता है तो भी एक दूसरा प्रश्न यह है कि क्या बहुमतका ठीक होना जरूरी है? बहुत सम्भव है कि जनताकी सम्मति एक भूल भरी सम्मति हो—शैतानकी आवाज हो। यह कल्पना करना एक भूल है कि प्रतिनिधि सर्वदा जनताकी इच्छा का

---

[1] प्रजातन्त्रकी व्यापक आलोचनाके लिए हॉर्नशा की पुस्तक 'डिमॉक्रेसी ऐट दि क्रॉसवेज' (Democracy at the Crossways) पढिये।

प्रतिनिधित्व करते है। वह जान-बूझ कर या अनजानमें उसका गलत प्रतिनिधित्व भी कर सकते हैं। वह सर्वदा स्वतन्त्र नही रहते। दलगत अनुशासनका अकुश उन पर हमेशा रहता है और अपने निर्वाचकोकी अपेक्षा कभी-कभी वह समाचार-पत्रो और निहित स्वार्थोसे अधिक भयभीत रहते हैं।

६ प्रजातन्त्रके विरुद्ध फैगुइट का एक सबल तर्क यह है कि प्राणिशास्त्रकी दृष्टिसे प्रजातन्त्र अनुपयुक्त है—एक भयकर भूल है। उनकी इस आलोचनाका अर्थ यह है कि प्रजातन्त्रका विकास-पद्धतिसे मेल नही बैठता। उनका कहना है कि विकास-क्रममें हम ज्यो-ज्यो ऊपर चढते है, हमें अधिकाधिक मात्रामें केन्द्रीकरण मिलता है, शरीरके विभिन्न अगोको पृथक्-पृथक् कार्य सौप दिये जाते है। प्रजातन्त्र एक विकास-विरोधी सिद्धान्त है क्योकि उसमें कोई केन्द्रीय स्नायविक व्यवस्था है ही नही। सघटनाके एक अग मस्तिष्कका कार्य—समूची सघटनाके लिए सोचने और योजना बनानेका कार्य—उसे ही सौपनेके बजाय इसमें सघटनाके किसी भी अगमें, कही भी मस्तिष्क खोज निकालनेकी आशा की जाती है। रूपककी भाषा छोडें तो फैगुइट का कहना यह है कि शासनका कार्य बुद्धिमान् अल्पतन्त्र पर छोड देना चाहिए और शेष लोगोको आश्वस्त और नि सशय रह कर उसकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक शासनकी व्याख्या वह अत्यधिक विकेन्द्रीकरण और अयोग्यता व असमर्थताके रूपमें करते हैं।

७ प्रजातन्त्रके विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह है कि वह एक बहुत खर्चीली शासन-पद्धति है। प्रजातन्त्रका अर्थ है जन-मतका निर्माण, प्रचार और बार-बार चुनाव। इस सबमें तमाम खर्चा होता है। उदाहरणके लिए प्रति चार वर्षमें लाखो डालरका धन अमेरिकामें राष्ट्रपतिके चुनावमें व्यय हो जाता है। अभी हाल ही में केवल एक सीनेटके सदस्यके चुनावमें पाच लाख डालरका खर्चा हुआ था। जो सम्पत्ति रचनात्मक या उत्पादक योजनाओमें लगनी चाहिए वह चुनाव-प्रतियोगितामें और 'निर्वाचन-क्षेत्रको अनुकूल बनाने' में व्यय की जाती है। प्रजातन्त्रका खर्चीलापन एक तथ्य है जिससे इनकार नही किया जा सकता। दुरुपयोग केवल धनका ही नही होता, समय और अवसरका भी दुरुपयोग होता है। एक आधुनिक लेखकने प्रजातन्त्रकी परिभाषा एक 'अतिवर्धित समिति' (Exaggerated Committee) के रूपमें की है और समितिकी परिभाषा हास्यजनक ढगसे यह दी है कि जो काम एक व्यक्ति एक दिनमें कर सके सात आदमियो द्वारा सात दिनमें वही काम किये जानेका नाम समिति है। इस परिभाषासे प्रजातन्त्रमें होने वाली बरबादीका सामान्य सिद्धान्त ही लक्षित होता है। ससदात्मक सरकारका कार्य बहुत सुस्त होता है क्योकि उसे लोगोको समझाने और बहुमत की प्राप्ति पर निर्भर रहना पडता है।

८. कुछ लोगोने प्रजातन्त्रके नैतिक महत्त्व पर भी गम्भीर आशकाए प्रकट की है। आलोचकोका कहना है कि प्रजातन्त्रमें सर्वदा असत्य-भाषणकी प्रवृत्ति रहती है। 'अ' कहता है कि 'ब' झूठा है और 'ब' इस प्रशसाका प्रत्युत्तर 'अ' को और भी बडा झूठा सिद्ध करके देता है। जनताके बीच प्रभाव पूर्ण बनानेके लिए समस्याओको गँवारू रूप दे कर जनप्रिय बनाया जाता है। शान्त और सन्तुलित ढगसे समस्याओ पर विचार नही किया जाता। उन पर इस ढगसे विवाद किया जाता है जिससे वोट अधिक मिल सकें। सत्य अथवा न्यायका तो बहुत कम या बिल्कुल ही ख्याल नही किया जाता। केवल एक प्रधान

और अल्पतत्रकी परख विभिन्न समयोंमें की गयी है और उन्हें साधारणत असफल पाया गया है। हम अब वापस उन तक नही जा सकते, क्योकि श्री सी० डी० बर्न्स के प्रभाव-पूर्ण शब्दोमें 'कोई भी इस बातको अस्वीकार नही करता कि वर्तमान प्रतिनिधि-सभाए दोष-पूर्ण है, पर यदि एक स्वयचालित यत्र ठीक ढगसे काम नही करता तो भी, उसके स्थान पर एक बैलगाडीको स्वीकार करना मूर्खता है, चाहे जितना भी आकर्षक वह क्यो न मालूम हो (६ ८०)।' ससार अभी उस अवस्थाके उपयुक्त नही है कि एक ऐसे समाजकी स्थापना की जाय जिसका सपना बहुत समयसे दार्शनिक अराजकतावादी देखते आ रहे हैं। पिछले कुछ दिनोसे वर्तमान प्रवृत्ति अधिनायकतत्र (Dictatorship) की ओर है। अधिनायकतत्रमें चाहे जितनी अच्छाइया हो, पर इस तथ्यसे इनकार नही किया जा सकता कि उसमें व्यक्तिगत स्वाधीनता और उद्योगका अभाव रहता है, और इस दृष्टि से वह व्यक्तित्वके विकासके प्रतिकूल है जिसे हम मनुष्यका सर्वोच्च लक्ष्य और उद्देश्य मानते हैं। अधिनायकतत्र सभी प्रकारकी आलोचनाओंको दबा देता ह, उन सभी सगठनो को कुचल देता है जो खुद उसके अपने नही होते। स्वर्गीय लॉर्ड लोदियन के शब्दोमें अधिनायकतत्र तत्कालीन सकटकी परिस्थितियोमें अस्थायी शान्ति-व्यवस्था और दृढता का विश्वास दिलाता है।

२ आजकल प्रजातत्र उन अनेक बुराइयोके लिए दोषी ठहराया जाता है जो पिछले दो महायुद्धोसे उत्पन्न हुई हैं। इस शताब्दीके तीसरे दशककी मन्दी और उत्साह-हीनता और आजकी मुद्रा-स्फीति ससारकी अव्यवस्थित परिस्थितियोके परिणाम-स्वरूप है जिसमें अकेले प्रजातत्र ही उत्तरदायी नही है। आज ससार जिस आर्थिक और राजनैतिक दुरवस्था में पडा है वह ऐसी नही है कि प्रजातत्रके गुणोका निष्पक्ष रूपसे मूल्याकन उसमें किया जा सके। जैसा श्री ए० एल० लॉवेल कहते है 'यह उचित नही है कि किसी व्यक्तिके व्यवहारकी परख उस समय की जाय जब वह लड रहा हो, या नशेकी स्थितिमें हो या उत्तेजित हो। प्रजातत्रकी परख भी हम अत्यन्त असाधारण परिस्थितियोमें होने वाली घटनाओंके आधार पर नही कर सकते।'

३ फॅगुइट प्रजातत्रको एक प्राणिशास्त्रके प्रतिकूल सगठन बताते हैं और कहते है कि उसके अनुसार सामाजिक सघटनामें मस्तिष्कको कही भी, किसी भी अगमें खोज निकालने की आशा की जाती है। यह कोई उचित आलोचना नही है। प्रजातत्र अधिकारसत्ताके दुरुपयोग या भ्रष्ट करनेका समर्थन नही करता। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है एक स्वस्थ प्रजातत्रमें व्यवस्थित कुलीनतत्रके लिए भी स्थान रहता है। श्री मैजिनी के शब्दोमें प्रजातत्र 'सर्वोत्तम और सर्वाधिक बुद्धिमान् लोगोके नेतृत्वमें सबके माध्यमसे सब की उन्नति है।' आधुनिक प्रजातत्रवादी राज्य यह अनुभव करते है कि शासन एक कला है और वह उन्ही लोगोको नि सशय होकर सौंपा जा सकता है जिन्होने उसमें एक विशेषता प्राप्त कर ली हो। हम फिर कहते हैं कि प्रजातत्रमें विशेषज्ञो द्वारा शासन किए जानेकी व्यवस्था का तिरस्कार नही है। एक कुलीनतत्रमें विशेषज्ञ अपने आपको जनतासे दूर रखता है, प्रजातत्रमें उससे उन सामाजिक सद्गुणोकी आशा की जाती है जो उसे उन लोगोके साथ अपनापा अनुभव करनेमें समर्थ बना सकते है जिन पर उसे शासन करना होता है। यह कहनेकी आवश्यकता नही है कि यह अन्तर प्रजातत्रके पक्षमें है। ब्रिटेनके प्रजातत्रमें योग्य और समर्थ व्यक्ति भरे पडे है यद्यपि ब्रिटेनके मन्त्रिशासनको प्राय 'नौसिखियोका शासन' कहा जाता है।

इस सबको देखते हुए हम यह स्वीकार करनेके लिए तैयार नही है कि प्रजातत्र एक अयोग्य, असमर्थ शासन-प्रणाली है। कुछ लेखकोका तर्क यह है कि बहुत बडे पैमानेके शासनमें प्रजातत्रकी भावना भरना असम्भव है और राजनैतिक प्रजातत्रकी सफलताका केवल एक यही मार्ग है कि उसमें उद्योगोकी एकतत्रीय प्रणालीको प्रारम्भ किया जाय। हम इस दृष्टिकोणको स्वीकार नही करते जिसमें, डॉक्टर ए० डी० लिड्से के अनुसार 'शैतान ही से शैतानको बाहर निकालने' की आशा की जाती है। इन्हीका कहना है कि 'उद्योगोमें लोगोको मशीन बना दिया जाता है, उसमें हीन और क्षीण व्यक्तित्वकी आवश्यकता होती है, समृद्ध व्यक्तित्वकी नही।'

४ जो लोग प्रजातत्रके कट्टर विरोधी है वह साधारण जनताकी ओर घृणा-पूर्वक सकेत करते हुए कहते है कि यह लोग अपना शासन अपने आप कर सकनेमें असमर्थ है। हमें इसमें सन्देह है। हम यह स्वीकार करते है कि प्रजातत्रमें नेताका चुनाव हमेशा ठीक नही हुआ है। पर इसके लिए जनताको ही पूरा दोष नही दिया जा सकता। गलत नेताओके चुने जानेका आशिक कारण प्रजातत्रके बजाय एकतत्र हो सकता है। सम्पत्ति, शक्ति और पदसे सम्बन्धित प्रतिष्ठा अभी समाजसे मिटी नही है। इसका उपाय प्रजातत्रको कम करना नही है बल्कि उसे और अधिक बढाना है। समर्थ व्यक्तियोके नेता-रूपमें न चुने जानेका एक और कारण यह है कि उनमें सामाजिक विनम्रताकी कमी होती है और वह अपनी बात जनताके समझने योग्य सरल नही बना पाते। श्री० सी० डी० बर्न्स कहते है: 'प्रतिनिधिको ऐसा होना ही चाहिए कि उसे समझा जा सके। यदि वह समझदार भी है तो सौभाग्यकी बात है पर समझा जाने लायक उसे होना ही चाहिए।' यह सोचना भूल है कि लोग हमेशा गलत आदमियोको ही चुनते है। प्रजातत्रवादी देशो का अनुभव यह सिद्ध करता है कि निम्नलिखितके सम्बन्धमें जनता अधिक अच्छा निर्णय देती है: (क) विधानोकी अपेक्षा मनुष्योके सम्बन्धमें, (ख) आदेश-मूलक विधानोकी अपेक्षा निषेधात्मक विधानोके सम्बन्धमें, (ग) उन प्रश्नोके सम्बन्धमें जो पारिभाषिक और विवरण युक्त मसलोकी अपेक्षा सामान्य नीतिसे सम्बन्धित होते है, और (घ) ऐसे मामलोके सम्बन्धमें जिनमें नैतिक सिद्धान्तोकी बात होती है (उदाहरणके लिए वैदेशिक नीति सम्बन्धी प्रश्न) जनता उन प्रश्नोकी अपेक्षा अच्छा निर्णय देती है जो उसकी भावनाओको जाग्रत् करते है।

यदि जनतासे समझदारीके साथ चुनाव कराना है तो यह अधिक उपयुक्त होगा कि उसके सम्मुख एक समय एक ही प्रश्न उपस्थित किया जाय और स्पष्ट, असदिग्ध रूपसे व्यक्त किया जाय। अनेक विवरणो और पारिभाषिक बातोसे उसे लादना उचित नही है। जो लोग यह कहते है कि साधारण मनुष्यको इस बातमें कोई अभिरुचि नही है कि वह अपना शासन स्वय करे और यह कि प्रजातत्रकी सबसे बडी आलोचना मतदाताकी उदासीनता है उनसे हम यह कह सकते है कि दूसरी शासन पद्धतियोसे भी इससे अच्छा परिणाम तो नही निकलता। यदि प्रजातत्रमें जनता कभी उदासीन रहती है तो कभी-कभी वह अत्यन्त सलग्न और निष्ठावान् भी हो जाती है। प्रजातत्रसे भिन्न सरकार जब तक जनता पर सुख-सुविधाकी वर्षा करती है तब तक निश्चित रूपसे उसे उसका सहयोग प्राप्त रहता है, पर जैसे ही वह कोई भार डालना प्रारम्भ करती है वैसे ही गहरा असतोष फैल जाता है।

५ यद्यपि प्रजातंत्रके कुछ आधुनिक आलोचक प्रतिनिधित्वके सिद्धान्तको बुरा कहते है फिर भी वह अपने मस्तिष्कको उनसे भली-भांति मुक्त नही कर पाए। कोई भी प्रसिद्ध विचारक आज विशुद्ध एकतंत्रको उचित कहनेके लिए तैयार नही है। यह एक ध्यान देने योग्य शिक्षाप्रद बात है कि अधिनायकतंत्रके अत्यन्त प्रबल समर्थक भी उसका औचित्य इस आधार पर सिद्ध करते है कि वह जनताका सही-सही प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार मेजर ईट्न ब्राउनका दावा है कि फासीवाद आधुनिक प्रजातंत्रकी अपेक्षा जनताका अधिक प्रतिनिधित्व करता है। उनका तर्क यह था कि प्रजातंत्र अधिनायकतंत्रका विरोधी नही है, बल्कि आधुनिक जीवनकी कठिनाइयोके लिए वह अनुपयुक्त है। हम इस व्यवस्थासे सहमत हो या न हो, पर तथ्य की बात यह है कि प्रतिनिधित्वके आधार पर अधिकार-सत्ताका सिद्धान्त आजके राजनैतिक दर्शनका एक स्थायी अंग बन चुका है। यदि इस तथ्यको हम स्वीकार कर लेते है तो अगला प्रश्न यह रह जाता है कि जनताके प्रतिनिधित्वका सबसे अधिक सफल व प्रभावपूर्ण ढंग क्या है। हमें इस दृष्टिकोणको स्वीकार करनेमें सकोच है कि अधिनायकतंत्र जनताका सच्चा प्रतिनिधि है, विशेषकर जब हम यह देखते है कि उसमें आलोचना और स्वतंत्र विचारो की अभिव्यक्तिको कुचल दिया जाता है।

६ इस आरोपका कि प्रजातंत्रमें दलगत शासन आवश्यक होता है और दल-शासन जन-मत-विभाजनका एक असंतोषजनक ढंग है, हम यह उत्तर देते है

(क) दल अनिवार्य है क्योंकि उनके बिना प्रजातंत्रीय सरकारका चलाना असम्भव है। दल विशृंखलतामें व्यवस्था स्थापित करते है। वह जन-मतको बनाते है और उसे शिक्षित करते है। जैसा श्री ब्राइस कहते है ''राजनैतिक दल राष्ट्रके मस्तिष्कको जागरूक या सचेत रखते है जैसे ज्वार-भाटेकी लहरें सागरकी लम्बी खाडियोके जलको स्वच्छ रखती है।'

(ख) उसी लेखकके शब्दोमें 'दलगत अनुशासन स्वार्थपरता और भ्रष्टाचारको रोकता है।'

७ प्रजातंत्रका अर्थ कुशिक्षा है—इस आरोपका तथ्योके आधार पर शायद कोई संतोषजनक उत्तर नही है। प्रजातंत्रसे जनतामें बहानेबाजी और खुशामदकी उत्पत्ति अवश्य होती है। जनता तक पहुचनेके लिए मानदड गिरा दिए जाते है। लोग अपने आपको कला, विज्ञान और साहित्यका पारगत मानने लगते है। यह सब ठीक है, पर प्रश्न यह है कि इनसे बचनेका रास्ता क्या है? दूसरी शासन-प्रणालियोमें तो जन-शिक्षा का इनसे भी कम अवसर मिलता है। और फिर उचित विनम्रता प्रजातंत्रमें कोई असम्भव बात नही है। जनताकी कुशिक्षाको क्रमश उसके भीतर शिक्षित किये जाने की भावना भर कर दूर किया जा सकता है। इस दिशामें प्रगतिके सकेत मिलने लगे है। प्रजातंत्रके विरोधियोके इस आरोपको हम स्वीकार करते है कि प्रजातंत्रमें बहुत अधिक दुरुपयोग और बर्बादी होती है। पर हमारा कहना यह है कि यह बुराई प्रजातंत्रके लिए आवश्यक नही है। जन मतके शिक्षित हो जानेसे बहुत अधिक अशोमें यह बुराई समाप्त हो जायगी।

८ दुरुपयोग और बर्बादीके साथ-साथ अधिकाश प्रजातंत्र राज्योमें घूसखोरी और भ्रष्टाचार बहुत प्रचलित है। पर इनके लिए हमें देशके सार्वजनिक जीवनको दोष देना होगा न कि अकेले प्रजातंत्रको। लॉवेल का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि व्यावसायिक

जीवनमें जिन बुराइयोको हम सहन करते है उनके लिए हम न्याय-पूर्वक प्रजातंत्रको दोषी नही ठहरा सकते। 'अधिकार और अपराध—उचित और अनुचितका अस्तित्व हमेशा रहा है और रहेगा। सार्वजनिक जीवनमें सच्चाई व ईमानदारीका अभाव कोई नई बात नही है।' अठारहवी शताब्दीके योरोपमें पदाधिकारियोके बीच जितना भ्रष्टाचार था उसकी अपेक्षा आज निस्सन्देह कम है, पर जनप्रिय सरकारें भ्रष्टाचारसे तब तक बिल्कुल मुक्त नही हो सकती जब तक राह चलते साधारण नागरिक पर उच्चतर व्यावहारिक मानदड नही लागू किया जाता और जो लोग उसका उल्लघन करें उनका सामाजिक बहिष्कार नही किया जाता।

९ आजकल यह एक फैशन-सा हो गया है कि 'प्रजातंत्र मर चुका' की घोषणा की जाय। अन्य अनेक फैशनोकी भाति, सम्भव है इस फैशनका भी कोई ठोस आधार न हो। कुछ समय तक अधिनायकतत्रका प्रयोग करनेके बाद स्पेन प्रजातत्र-पद्धति पर वापस आ गया यद्यपि वह फिर अधिनायकतत्रकी ओर वापस लौट गया है। इगलैड और अमेरिका जैसे देशोमें, जहा प्रजातत्रका विकास हुआ है और जहा वह एक अर्सेसे सफलता-पूर्वक प्रयोगमें लाया जा रहा है, इस बातके कोई लक्षण नही दिखायी देते कि उसे छोड दिया जाय। अधिनायकतत्रके प्रति उत्साह केवल यही सकेत करता है कि प्रजातत्रको अपने आपको बदली हुई परिस्थितियोके अनुकूल बनाना चाहिए। एक फ्रासीसी लेखक ऐंड्री मॉरोइस का कहना है 'कोई देश ससदात्मक शासनके अधीन यदि है तो इसका अर्थ यह नही है कि एक निश्चित समयके लिए और एक निश्चित उद्देश्य की सिद्धिके लिए वह एक व्यक्तिके नेतृत्वको अस्वीकार कर दे। प्रजातत्रको परिस्थिति के अनुकूल बनानेका अर्थ यह नही होगा कि अधिनायकतत्रके लिए द्वार खोल दिया गया बल्कि उसका अर्थ होगा अधिनायकतत्रको दूर हटाना (५३. ३१-२)।' जैसा कि डॉक्टर ए० डी० लिंड्से ने कहा है 'एक आत्मविश्वास-पूर्ण प्रजातत्रवादी समाज अपनी कार्य-प्रणाली में बहुत अधिक नमनशील हो सकता है। वह अपनी सरकारके हाथोमें अपरिमित शक्ति दे सकता है, जैसा कि सकट-काल में किया जाता है, और प्रसन्नता-पूर्वक इस विश्वासके साथ दे सकता है कि सकट टल जाने पर वह उन अधिकारोको वापस ले सकता है (५२ १७)।' इगलैड और अमेरिका में श्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने थोडे ही समयमें जो अपरिमित शक्ति प्राप्त कर ली और उनके देशवासियो ने जिस शान्ति और विश्वासके साथ उनके अधिकारोकी वृद्धि स्वीकार कर ली वह उनकी दुर्बलताका नही बल्कि उनकी शक्ति और प्रजातत्र पर उनके विश्वासका प्रमाण है।

६ प्रतिकार और निष्कर्ष (Remedy and Conclusions).

अनिवार्यत हम इस नतीजे पर पहुचते है कि प्रजातत्रका कोई निरुपाधिक या बिना शर्त का महत्त्व नही है, उसका केवल एक परिस्थिति-सापेक्ष महत्त्व है। ससारकी सभी बुराइयो को दूर करनेके लिए वह कोई रामबाण नही है। प्रजातत्रकी सबसे खराब बुराइया अपरि-पक्वता के कारण है और अनुभव बढनेके साथ-साथ उन्हें दूर किया जा सकता है। उसका सब से बडा महत्त्व नैतिक और शिक्षा सम्बन्धी है। जिस आधार पर प्रजातत्र टिका है—अर्थात् प्रत्येक मानव-व्यक्तित्वका महत्त्व—वह आधार अटल है। हमारा विश्वास है कि डी० टॉकवाइल का यह कथन यथार्थ है 'प्रजातत्रकी प्रगति अप्रतिहत या अनिवार्य जान पड़ती

है, क्योकि यह इतिहासमें मिलने वाली सबसे अधिक एकरूप, प्राचीन और स्थायी प्रवृत्ति है।' एक आधुनिक लेखकका कहना है, 'एक सिद्धान्त रूपमें प्रजातन्त्र सामाजिक जीवनके अन्य सिद्धान्तोका विकल्प (Alternative) नही है। वह समाजका ही सिद्धान्त है 'प्रजातन्त्र अपनी पूर्ण स्थितिको प्राप्त करेगा क्योकि प्रजातन्त्र स्वतन्त्र और समृद्ध सामाजिकताका ही नाम है।'

हमारा विश्वास है कि प्रजातन्त्र एक उचित व्यवस्था है जिसमें एक सुन्दर सिद्धान्त छिपा है। जो दोष हमें उसमें दिखायी देते है वह ऐसे नही है कि दूर न किये जा सकें। शिक्षा, चिन्तन और अनुभव द्वारा जनता उन दोषोको स्वय दूर कर सकती है। हम उन लोगोकी बात स्वीकार नही कर सकते जो यह कहते है कि प्रजातन्त्रके दोषोको दूर करने का एक यही मार्ग है कि प्रजातन्त्रको ही समाप्त कर दिया जाय। समाप्त ही करना हो तो अन्तर्राष्ट्रीय अराजकताको समाप्त किया जाना चाहिए और इसके साधन है एक प्रभाव-पूर्ण विश्व-सरकार, एक सुनियोजित अर्थनीति (Planned Economy), नि शस्त्रीकरण (Disarmament) और आयात-निर्यात-करो तथा जातीय विभेदो (Racial barriers) को दूर किया जाना।

यदि प्रजातन्त्रको समाप्त करनेके बजाय उसे और अधिक शुद्ध रूपमें प्रजातन्त्रात्मक बनानेकी आवश्यकता है, और हमारा विश्वास है कि ऐसी आवश्यकता है, तो प्रश्न यह है कि इसके लिए निश्चित उपाय क्या होगें? अनेक लेखकोने इस प्रश्न पर विचार किया है। कुछ लोगोने जनताकी शिक्षा और चरित्र-सुधार पर ध्यान दिया है जिसे वह प्रजातन्त्रकी सफलताके लिए आवश्यक मानते हैं। दूसरे लोगोने प्रजातन्त्रके सगठनको बदली हुई परिस्थितियोके अनुकूल बनानेके लिए उसमें कुछ निश्चित सुधार किये जानेका प्रस्ताव किया है।

हम प्रथम वर्गके लेखको द्वारा दिये गए सुझावो पर पहले विचार करते है। प्रोफेसर हॉर्नशा निम्नलिखित शर्तोको आवश्यक मानते है

(१) ईमानदारी और आत्मगौरवका एक ऊचा मानदड और नैतिक स्वस्थता परमावश्यक है। जब तक बदाग हाथ और साफ दिल न होगा, विशेषकर नेता वर्गका, तब तक प्रजातन्त्रकी असफलता निश्चित है। एक भ्रष्ट प्रजातन्त्र सभी प्रकारके राजनैतिक सगठनोसे गया बीता और अधम कोटिका सगठन है। प्रजातन्त्रके लिए यह आवश्यक है कि जनतामें अपनी सचाईके लिए गर्वकी भावना हो, आत्मनिर्भरताका सकल्प हो और आत्मगौरवकी विनम्र वृद्धि हो। सामान्य लोगोमें मौलिक ईमानदारी और न्याय-प्रियताका होना प्रजातन्त्रके लिए आवश्यक है। प्रत्येकके लिए समान अधिकार होना चाहिए, कानूनकी दृष्टिमें सब समान हो और सबको समान अवसर प्राप्त हो।

(२) एक उच्च कोटिकी बुद्धिमत्ता और एक सुन्दर शिक्षा-पद्धति। साधारण व्यवहार-बुद्धिका अभाव प्रजातन्त्रके लिए घातक होता है। 'सामान्य जनतामें साधारण न्याय-बुद्धि यदि न हुई तो प्रजातन्त्र या तो भीडका शासन बन जायगा या तानाशाहीकी ओर ले जायगा। मूर्ख सज्जन चतुर दुष्टोसे भी गये-बीते होते है।' यदि लिकन के इस कथनको सत्य बनाना है कि 'जनताके कुछ अशको आप हमेशा मूर्ख बना सकते है, समूची जनताको कुछ समयके लिए धोखा दे सकते है, पर समूची जनताको आप सदैव बेवकूफ नही बनाये रह सकते', तो सार्वजनिक शिक्षाकी एक स्वस्थ प्रणालीकी हमें आवश्यकता होगी ही।

(३) एक स्पष्ट सामाजिक चेतना। प्रजातन्त्रके लिए 'परस्पर सगठित होनेकी एक प्रबल भावना, एकता पर *गम्भीर विश्वास और सामाजिक जीवनकी एक व्यापक भावना*' बहुत आवश्यक होती है। जातीय विद्वेष, धार्मिक विवाद, वर्ग-सघर्ष और सामाजिक अन्तर प्रजातन्त्रको कमजोर बना देते है। जितना अधिक सटीक यह कथन प्रजातन्त्र पर लागू होता है उतना और किसी पर नही कि 'भेड़ियेकी शक्ति झुडमें है और झुडकी शक्ति भेडियेमें है।'

(४) एक स्वस्थ जनमत, एक चैतन्य सामाजिक विवेक और प्रभाव-पूर्ण सार्वजनिक इच्छा। तत्कालीन जनमतकी अपेक्षा प्रजातन्त्र न तो बहुत अच्छा हो सकता है और न बहुत बुरा। इसलिए, जब कभी और जहा कही भी प्रजातन्त्र असफल होता है, उसकी असफलताका एक प्रधान कारण होता है अस्वस्थ और प्रभाव-हीन जनमत। इन शर्तोंके साथ हम एक शर्त और जोड सकते हैं।

(५) सामाजिक और औद्योगिक प्रजातन्त्र। यदि प्रजातन्त्रको सफल होना है तो मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो और आर्थिक जीवन पर भी उसका अधिकार पूर्ण प्रयोग होना चाहिए।

श्री जे० डब्ल्यू० गार्नर प्रजातन्त्रके लिए निम्नलिखित आवश्यक शर्ते बतलाते हैं:

(१) एक अपेक्षाकृत उच्च कोटिकी राजनैतिक समझदारी और सार्वजनिक मामलो में स्थायी अभिरुचि, सार्वजनिक उत्तरदायित्वकी तीव्र भावना और बहुमतके निर्णयोको स्वीकार करने और उनका पालन करनेकी तत्परता (२३ : ४०५), और इसके साथ-साथ अल्पमत या अल्पसख्यकोंके अधिकारोके प्रति सम्मानकी भावना।

(२) प्रारम्भिक शिक्षाकी सुविधाए।

(३) राजनैतिक विषयोंकी शिक्षा और सरकारकी कार्य-विधियोका प्रशिक्षण।

(४) एक उच्च कोटिका नैतिक स्तर।

प्रोफेसर डब्ल्यू० ई० हॉकिंग इसी बातको इस प्रकार कहते हैं.

(१) प्रजातन्त्र जनताकी शिक्षा, प्रशिक्षा (Training) और कर्म-कुशलताकी अपेक्षा अधिक उच्च कोटिका नही हो सकता। प्रजातन्त्रकी सफलताके लिए बाहरी समानताओंके भीतरी तत्त्वोंको सोचने-समझनेकी क्षमता आवश्यक होती है।

(२) सचाई और सत्य-तथ्योंके अभावमें प्रजातन्त्र सफल नही हो सकता। इसका अर्थ *यह है कि समाचारोकी गन्दगी दूर की जानी* चाहिए और सत्यको ही *समाचारोका* लक्ष्य बनाया जाना चाहिए।

(३) प्रजातन्त्र जनताकी सदिच्छा पर निर्भर है। प्रजातन्त्र जन-समूहके लिए सम्भव है या नही ?—इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जन-समूहके लिए विनम्रता सम्भव है या नही? और विनम्रता जन-समूहके लिए सम्भव है या नही इसका उत्तर यह प्रश्न है कि जन-समूह के लिए धर्म सम्भव है या नही ? क्योंकि धर्म मनुष्यको निरन्तर उसकी अपूर्णताकी याद दिलाता रहता है। दूसरे शब्दोंमें प्रजातन्त्रके लिए जनतामें विनम्रताकी भावना या शिक्षित किये जानेकी आवश्यकताकी अनुभूति अनिवार्य है, और इसके लिए धार्मिक भावनाकी आवश्यकता है।

(४) प्रजातन्त्रके लिए यह आवश्यक है कि नेताओंमें जनताके प्रति विश्वास हो। प्रत्येक व्यक्ति और व्यक्तियोका नेता, जैसे-जैसे वह बुड्ढा होता है, सनकी होता जाता

है। अनेक बातें ऐसी होती है जिनसे उसकी आस्थाओको—उसके विश्वासोको धक्का लगता है। यदि प्रजातत्रको सफल होना है तो उसे मनुष्योके यथातथ्य रूपको अपना आधार न बना कर उनके सम्भाव्य आदर्श रूपको अपना आधार बनाना चाहिए। इसका अर्थ है विश्वास। प्रजातत्र धर्म और विश्वासकी एक अन्तर्धाराके बल पर ही फल-फूल सकता है।

श्री ए० एल० लॉवेल प्रजातत्रके लिए आवश्यक शर्तोका निचोड इन शब्दोमें देते है 'किसी प्रकारकी भी शासन-व्यवस्थाका जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस हद तक ऐसे व्यक्तियोका निर्माण कर पाती है जो उसे आगे चला सकें और किस हद तक वह नेतृत्वके लिए सबसे अधिक समर्थ व्यक्तियोको आगे बढा पाती है। क्या प्रजातत्रमें एक ऐसी जातिका निर्माण करनेकी प्रवृत्ति है जो अपने आशिक हितोकी अपेक्षा सार्वजनिक कल्याणको अधिक महत्त्व दे, जिसके विभिन्न वर्गोमें ईर्ष्याकी भावना न होकर परस्पर सहानुभूति हो, जो भावी कल्याणके लिए वर्तमान कठिनाइयोको दूरदर्शिता और साहसके साथ झेल सके? और क्या प्रजातत्र अपने प्रतिनिधियो और दडनायकोके पदो पर ऐसे व्यक्तियोको चुनता है जिनमें यह सब गुण हो? यदि प्रजातत्र यह सब करता है तो जो भी तूफान उठते है वह उसकी जडोको न हिला सकेंगे और वह अडिग रहेगा, भले ही दूसरे देशोमें उत्पात मचे, और यदि वह ऐसा नही करता तो उसके पैर अस्थिर कीचड पर टिके समझने चाहिए।

प्रजातत्रवादी व्यवस्थाको सुधारनेके लिए जो व्यावहारिक सुझाव दिये गये है उनमें से निम्नलिखित लेखकोके विचार उल्लेखनीय है।

लॉर्ड लोदियन का कहना है

(१) यह कि सरकारका शासन-यत्र इस प्रत्याभूति या गारटीके साथ चले कि व्यक्ति के लिए भाषण, आलोचना और राजनैतिक तथा आर्थिक उपक्रम (Initiative) या उद्योगकी स्वाधीनता रहेगी, और

(२) यह कि वयस्क निर्वाचक-मडलके अन्तिम निर्णय पर सरकार बिना हिंसात्मक कार्रवाईके बदली जा सकेगी।

श्री ऐंड्री मॉरोइस तानाशाहीको रोकनेके लिए 'एक निश्चित अवधि और निर्दिष्ट उद्देश्य-सिद्धिके लिए वैयक्तिक नेतृत्व' का सुझाव देते है। कुछ दूसरे लोग एक सशक्त कार्यपालिकाका प्रस्ताव रखते है। लॉर्ड यूस्टॉस का कहना है कि ब्रिटेनका सविधान राजतत्रात्मक प्रधान मन्त्रित्व (Monarchical Prime Ministership) द्वारा अपनी रक्षा करता है और जिस दिन वह (प्रधान मत्री) दलगत सत्ताधारियोके दबावमें पड कर असफल हो जायगा उस दिन अधिनायकतत्रसे बचनेका कोई रास्ता शेष न रहेगा। इसलिए 'पार्लियामेंटोका प्रधान और प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह सबल-सशक्त प्रधान मत्री बनायें। प्रधान मन्त्रियोकी स्वाधीनता ससदकी स्वाधीनता है, उनकी शक्ति उसकी शक्ति है।'

लॉर्ड पर्सी द्वारा दिये गये दूसरे सुझाव यह है

(१) ससदको नीति सम्बन्धी व्यापक प्रश्नो पर विचार करना चाहिए, छोटे-छोटे विवरणोमें नही पडना चाहिए। नीति सम्बन्धी व्यापक प्रश्नोके रूपमें उसे कर लगाने और व्यय करनेकी व्यवस्था पर विचार करना चाहिए और अनुचित व्यय तथा करोसे उत्पन्न होने वाली शिकायतोको सामने रखना चाहिए। 'ससदको कार्य-पद्धतिकी उस

अर्थ-हीन परम्पराको समाप्त कर देना चाहिए जिसके अनुसार प्राय सभी साधारण विवादोमें व्यवस्थापनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नोके पूछे जाने पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है।'

(२) विधेयको (Bills) की रचनामें ससदको कदम उठाना चाहिए। व्यवस्थापन सम्बन्धी प्रस्तावोकी रचनाके लिए ससदको सरकारी विभागो पर बहुत अधिक निर्भर नही रहना चाहिए। इस कार्यके लिए उसे ससदकी कई एक समितिया बना लेनी चाहिए। इन समितियोको केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारो और व्यक्तिके बीचके सम्बन्धो पर पूरी तौरसे फिर से विचार करना चाहिए।

(३) 'विशिष्ट विभागोके प्रशासकीय कार्यका निरीक्षण करनेके लिए, जारी किये जानेसे पहले विभागीय आज्ञाओ और अनुज्ञप्तियोकी जाच करनेके लिए, व्यक्तिगत शिकायतोका पता लगानेके लिए और मन्त्रियोके पास आवश्यक प्रतिनिधित्व करनेके लिए' ससदकी अन्य समितियोका निर्माण किया जाना चाहिए।

(४) सम्राट् द्वारा मनोनीत सदस्योकी एक अर्थ-परिषद्का सगठन होना चाहिए जो यथासम्भव आर्थिक सम्मतिके बजाय आर्थिक शक्तिका प्रतिनिधित्व कर सके। सरकार और ससदको अपने व्यवस्थापनकी तैयारीमें इस परिषद्का उपयोग करना चाहिए। सरकार और उद्योगोके पारस्परिक सम्बन्धोकी पूरी-पूरी जाच इस परिषद्को करनी चाहिए।

(५) सम्राट्को आजीवन अभिजात (Life Peers) बनानेकी स्वाधीनता रहनी चाहिए। और अभिजात-सदन या लॉर्ड-सभाको व्यवस्थापनकी पुनर्योजनामें पूरा-पूरा भाग मिलना चाहिए।

'ससदका आदर्श रूप (Parliament as it Should Be)' नामक अपनी रचनामें सर स्टैफर्ड क्रिप्स लिखते है कि प्रजातन्त्रके तीन गुण है.

(१) यह कि जनताको अपने प्रतिनिधियोके निर्वाचनमें पूरी-पूरी स्वाधीनता मिलनी चाहिए और साथ ही निश्चित समय पर उनकी प्रत्याहूति (Recall) का भी अधिकार मिलना चाहिए,

(२) यह कि जनताको यह स्पष्ट निर्देश करना चाहिए कि कौन-सी नीति वह कार्यान्वित करना चाहती है,

(३) यह कि प्रतिनिधियोमें इतनी योग्यता और सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह वाछित नीतिको विना अनावश्यक विलम्ब किये और बिना किसी भी स्वार्थ या व्यक्ति-विशेषके हस्तक्षेपके सफलता-पूर्वक कार्यान्वित कर सकें।

प्रजातन्त्रके इन व्यावहारिक गुणोको कार्य रूप देनेके लिए सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स निम्न-लिखित साधनोका अनुमोदन करते है:

(१) विधान-निर्माणके उन्नीसवी सदी वाले आरामतलब तरीकोको समाप्त करना;

(२) लोकसभा द्वारा, जब उसे देशका समर्थन प्राप्त हो, एक साहस-पूर्ण नीतिका अपनाया जाना और एक अप्रजातन्त्रीय दूसरे सदनकी धमकियोमें न आकर देशके विकास की प्रगति और पद्धतिका प्रभाव-पूर्ण नियंत्रण किया जाना।

(३) मंत्रियोके व्यवस्थापकीय तथा प्रशासकीय कार्योका निरीक्षण करनेके लिए कार्याधिकारी परिषदो (Functional Committees) का संगठन करना।

एच० साइडबोथम का विश्वास है कि ससदात्मक पद्धतिका मेल समितियोकी ताना-शाहीसे ठीक बैठ सकता है।

प्रजातन्त्रके गुण-दोषोका अपना विवेचन लॉर्ड ब्राइस इस प्रकार समाप्त करते है

यदि आशावादियोने प्रजातन्त्रके नैतिक प्रभावकी अत्युक्ति की तो निराशावादियोने उसकी व्यावहारिक क्षमताको बहुत कम समझा। अन्य शासन-पद्धतियोमें जो बुराइया थी उनमें से अधिकाश प्रजातन्त्रमें, दूसरे रूपोमें ही सही, फिरसे दिखाई दे रही है, और जो दोष प्रजातन्त्रमें नए नए दिखाई दे रहे हैं वह इतने गम्भीर नही है जितने गम्भीर पुरानी सरकारोके वह दोष थे जिनसे प्रजातन्त्र साफ बच गया है।

(१) व्यक्तिगत नागरिककी स्वाधीनता सुरक्षित रखते हुए भी प्रजातन्त्रने सार्व-जनिक व्यवस्था कायम रखी है।

(२) प्रजातन्त्रने उतना ही कर्म-कुशल नागरिक शासन स्थापित किया है जितना अन्य प्रकारकी सरकारोने किया है।

(३) अन्य सरकारोकी अपेक्षा प्रजातन्त्रका व्यवस्थापन निर्धन वर्गोके हितकी ओर साधारणत अधिक प्रेरित रहा है।

(४) प्रजातन्त्र अस्थिर और अकृतज्ञ नही रहा।

(५) उसने देश-भक्ति अथवा साहसको दुर्बल नही बनाया।

(६) प्रजातन्त्र प्राय दुरुपयोगी और साधारणत अपव्ययी रहा है।

(७) वह प्रत्येक राष्ट्रमें सार्वजनिक सतोष नही उत्पन्न कर सका।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोको सुधारने तथा शान्ति स्थापित करनेका उसने बहुत कम प्रयत्न किया है, वर्गगत स्वार्थोको उसने कम नही किया, विश्वबन्धुत्व-मूलक मानवता-वादका प्रसार उसने नही किया और न भिन्न वर्णोके लोगोके प्रति घृणा-भावको ही कम किया है।

(९) भ्रष्टाचारको और सरकार पर सम्पत्तिके अवाछनीय प्रभावको प्रजातन्त्र दूर नहीं कर सका।

(१०) क्रान्तियोके भयको वह दूर नही कर सका।

(११) राज्यकी सेवामें सबसे अधिक ईमानदार और समर्थ नागरिकोको प्रजातन्त्र नही भर्ती कर सका।

(१२) फिर भी, सब ले-देकर प्रजातन्त्रने एक व्यक्तिके शासन या एक वर्गके शासनकी अपेक्षा उत्तम व्यावहारिक परिणाम दिखाये है, क्योकि इसने कमसे कम उन अनेक बुराइयोको समाप्त कर दिया है जिनके कारण इन शासन-पद्धतियोका विनाश हो गया।

हमारा निष्कर्ष वही है जो एडवर्ड कार्पेंटर का है 'ऐ अनभिनन्दनीय प्रजातन्त्रवाद ! मै तुझे प्यार करता हू।' श्री टी० वी० स्मिथ के शब्दोमें 'यदि हमें स्वर्ग नही प्राप्त हो सकता तो जब तक नरकसे बचनेके साधन हमारे हाथमें है तब तक निराश होना मूर्खता है।'

SELECT READINGS

BURNS, C D —*Democracy Its defects and Advantages*

BRYCE, J —*Modern Democracies* (Especially Part III)

DEWEY, J,—*The Public and its Problems*
FAGUET, E —*The Cult of Incompetence.*
FAGUET, E —*The Horror of Responsibility.*
FOLLET, M P —*The New State.*
GARNER, J. W —*Political Science and Government*—pp. 305-11 and 387-412.
GETTELL, R G —*Introduction to Political Science*—Chs XIII and XVI
HEARNSHAW, F J C —*Democracy at the Crossways.*
HEARNSHAW, F. J C —*Democracy and Labour.*
HOBSON, E. W —*Democracy and a Changing Civilisation.*
LINDSAY, A D —*Essentials of Democracy.*
" " —*I Believe in Democracy.*
" " —*The Modern Democratic State.*
LOTHIAN LORD AND SEVERAL OTHERS—*Parliament or Dictatorship* (Spectator Series).
MALLOCK, W. H —*Limits of Pure Democracy.*
MILL, J S.—*Representative Government.*
SMITH, T V —*The Democratic Way of Life.*
STEPHEN FITZJAMES—*Liberty, Equality & Fraternity.*
WATKINS, F —*The Political Tradition of the West.*
WELLS, H G —*Democracy Under Revision.*

१५

सर्वाधिकारवादी राज्य
(The Totalitarian State)

१ सर्वाधिकारवादका अर्थ

आधुनिक राजनैतिक साहित्यमें 'सर्वाधिकारवादी राज्य' का प्रयोग 'उदार प्रजातन्त्र-वादी राज्य' के विरोधमें किया जाता है। सर्वाधिकारवादी राज्य मनुष्यके सम्पूर्ण जीवन पर अपना अधिकार-क्षेत्र रखनेका दावा करता है। व्यक्तिके जीवनका कोई भी अंश उसके सूक्ष्म नियन्त्रण और निर्देशसे मुक्त नहीं है। जहा बाइबिलका उपदेश यह है कि 'परमात्मसत्तामें ही हमारा जीवन, हमारी क्रियाशीलता और हमारा अस्तित्व है' वहा सर्वाधिकारवादका कहना है कि 'राज-सत्ताके भीतर ही हमारा जीवन, हमारी क्रिया-शीलता और हमारा अस्तित्व है।' सर्वाधिकारवादके अनुसार व्यक्तिका जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति नहीं है। वह राज्य द्वारा दी गई एक धरोहर है जिसका उपयोग राज्यकी सेवामें ही होना है। श्री मुसोलिनीके शब्दोंमें यदि उन्नीसवीं सदी समाजवाद, उदारवाद और प्रजातन्त्रवादका युग था तो बीसवी शताब्दी अधिकार, समष्टिवाद (Collectivism) और सर्वाधिकारवादी राज्यका युग है।

पुराने जमानेमें यूनानके नगर-राज्य भले अर्थोंमें सर्वाधिकारवादी थे। तब परि-स्थितिया आजकी परिस्थितियोंसे एकदम भिन्न थी और इसलिए राज्यके कर्त्तव्य भी अनेक प्रकारके थे। राज्य तब धर्म-संघ, शिक्षा-संस्थान और राज्य सबका सम्मिलित रूप था। व्यावहारिक दृष्टिसे राज्य और समाज प्राय समानार्थवाची थे—उन्हें एक ही माना जाता था। नागरिक जीवन तो यूनानियोंकी साँसोंमें व्याप्त था। जैसा कि श्री मैक आइवर कहते हैं नागरिकता तो लगभग एक व्यवसाय था। अपने नगरके प्रति एक यूनानी नागरिक की इतनी गम्भीर आस्था होती थी कि 'नगर हमारा है और हम नगरके हैं' यही उनका आदर्श था और यह आदर्श उनके लिए बिल्कुल उचित था।

आधुनिक सर्वाधिकारवादी राज्य यूनानके नगर-राज्योंसे एकदम भिन्न है। आज तो वह चौदहवें लुई की प्रसिद्ध उक्ति 'मैं ही राज्य हूँ' का आधुनिक रूपान्तर है। इसके दार्शनिक स्रष्टा श्री हीगेल थे जिन्होंने राज्यको एक रहस्यात्मक उच्च धरातल पर पहुचा दिया था उनके अनुसार 'राज्य धरती पर ईश्वर-रूप है।' 'इतिहासमें वह परमात्मा की गति है' 'विवेकका प्रत्यक्षीकरण है', 'मूर्त स्वाधीनताका वास्तविक यथार्थ रूप है।'

सर्वाधिकारवादके अनुसार राज्य ही सब कुछ है। वह सर्वशक्तिमान है और उससे कभी कोई भूल नहीं हो सकती। मुसोलिनीके शब्दोंमें 'राज्यसे परे कुछ भी नहीं है। राज्य एक परम पूर्ण सत्ता है और उसकी तुलनामें व्यक्तियों और समुदायोंकी स्थिति आपेक्षिक है। राज्य एक परम पूर्ण, चिरस्थायी और दैवी शक्तिसे प्रेरित होने वाली संस्था है। इटलीके लोगोंको मुसोलिनी द्वारा दिया गया आदर्श यह है 'सबकी स्थिति राज्यके भीतर है, राज्यके बाहर किसीकी स्थिति नहीं, राज्यके विरुद्ध किसीकी स्थिति नहीं।'

अमेरिका के वैदेशिक नीति-समिति (Foreign Policy Association)

ने सर्वाधिकारवादकी परिभाषा इस प्रकार की है · 'आधुनिक प्रजातन्त्रवादी राज्यके बहुलवाद (Pluralism) के स्थान पर, जिसमें राज्य उन अनेक संघोंमें से एक संघ माना जाता है जिन्हें व्यक्तियोंकी निष्ठा प्राप्त रहती है, फासीवादने सर्वाधिकारवादी राज्यकी स्थापना की है जो व्यक्तियोंके समस्त कार्य-व्यापारोंको अपनेमें समेट लेता है और उन्हें राष्ट्रीय हितों या उद्देश्योंका अनुवर्ती या अनुगामी बना देता है।' इटलीके एक उच्च पदाधिकारीने सर्वाधिकारवादी राज्यकी परिभाषा की है 'एक ऐसा राज्य जिसमें वस्तुतः एक प्रभुसत्ता हो जो देशकी अन्य समस्त शक्तियोंको अपने अधीन रखे।'

सर्वाधिकारवाद बड़ी लगनसे राज्यकी पूजा करना सिखाता है। इसके उपदेशोंके अनुसार व्यक्ति राज्यकी सेवा करके ही कोई महत्त्व प्राप्त कर सकता है और इस सेवामें ही उसकी चरम पूर्णता है। सीबर्ग (Seiburg) का कहना है कि नाजीवादके उदयसे 'अब जर्मनीमें कोई मनुष्य नहीं रह गया, अब यहां केवल जर्मन है।' 'जो कोई जर्मनीके साथ और जर्मनीके माध्यमसे रहना चाहता है उसे बरबस जातिके सम्मुख सिर झुकाना होगा और अपने आपको सर्वाधिकारवादी राज्यके अनुकूल बनाना होगा।' 'प्रत्येक व्यक्तिका जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति नहीं है बल्कि वह राज्यकी और केवल राज्यकी ही सम्पत्ति है।'

इस प्रकार सर्वाधिकारवादी राज्य एक असीमित राज्य है। स्वेच्छा-प्रेरित संघ-जीवनकी बहुरूपता और समृद्धिके विरुद्ध यह आघात करता है। धर्म, नीति, आचार और शिक्षा राज्यके अधीन रहते हैं। इटलीमें खेल-कूदके शिक्षा सम्बन्धी और मनोरंजन सम्बन्धी संघ भी फासिस्टोंके हाथमें केन्द्रित हैं। एक नाज़ी सैद्धान्तिक श्री फ्रेंज शानवेहर (Franz Schanwecher) ने लिखा है . 'जातिकी ईश्वरके साथ एक प्रत्यक्ष और घनिष्ठ एकता है · · जर्मनी ईश्वरका राज्य है।' सर्वाधिकारवादका उद्देश्य है राज्य और समाजके बीचके मौलिक विभेदको समाप्त करके राज्यको सर्वशक्तिमान् बना देना।

विभिन्न देशोंमें सर्वाधिकारवाद विभिन्न रूप धारण करता है। रूसमें इसने साम्यवादका रूप धारण किया, इटलीमें फासीवादका और जर्मनीमें नाज़ीवादका। आंग्ल-सैक्सनी देशोंमें भी जहां कि व्यक्तिगत स्वाधीनताका प्रेम बहुत गहरा है, राज्यका कार्य-क्षेत्र बढ़ रहा है और उससे एक नये प्रकारका सर्वाधिकारवाद उत्पन्न हो सकता है जिसे प्रजातन्त्रीय सर्वाधिकारवाद कहा जा सकता है। यह सम्भव है कि अमेरिकामें एक प्रकारकी 'वैधानिक तानाशाही' (Constitutional Dictatorship) का उदय हो, इंगलैंडके सम्बन्धमें लन्दनके एक दैनिक समाचार-पत्रने परिहास-पूर्वक लिखा है: 'हमारा देश सर्वोत्तम रीतिसे शासित भले ही न हो, हमारा देश निकृष्टतम रूपसे शासित भले ही न हो, पर, ईश्वर-कसम, हमारा देश सर्वाधिक शासित अवश्य है।'

यह सोचना गलत है कि राज्यका सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त प्रारम्भसे ही एक परिपूर्ण सिद्धान्त रहा है जिसकी प्रेरणासे आधुनिक सर्वाधिकारवादी आन्दोलन हुए हैं। वास्तविकता यह है कि सर्वाधिकारवादी सिद्धान्तका आविष्कार व्यावहारिक आन्दोलन और जीवनकी यथार्थ परिस्थितियोंसे हुआ है। यह एक ऐसा उदाहरण है जिसमें सिद्धान्त तथ्योंका अगुवा न हो कर उनका अनुगामी रहा है। फ़ासीवाद और नाज़ीवाद के सम्बन्धमें यह तथ्य विशेष रूपसे सत्य है, यह दोनों ही तत्त्वतः बुद्धि विरोधी आन्दोलन थे और उनकी इस विशेषताको प्रथम महायुद्धके बाद इटली और जर्मनीकी विशिष्ट आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियोंकी दृष्टिमें रखकर ही समझा जा सकता है।

२. सर्वाधिकारवादी राज्यके लक्षण (Features of the Totalitarian State)

(१) सर्वाधिकारवादी राज्यमें बुद्धि-विवेकका तिरस्कार और स्वाभाविक प्रवृत्तियो तथा प्रेरणाओकी उपासना है। फासीवादी इटली और नाजी जर्मनीके सम्बन्धमें यह बात विशेप रूपसे सत्य थी। इन देशोमें जिस राज्य-सिद्धान्तका विकास किया गया वह बुद्धि विरोधी था। प्रेरणा और इच्छाको बुद्धि-विवेकसे अधिक मान लिया गया। पश्चिमी ससारमें सम्पूर्ण रूपसे मनुष्यको परमात्माकी प्रतिमूर्ति और उसके अनुरूप मानने की धारणा समाप्त होती जा रही है।

(२) सर्वाधिकारवादी राज्यका स्वरूप तानाशाही होता है। वह उदारवाद और ससदात्मक शासनका विरोधी होता है।[1] यह एक व्यक्ति या एक दलके हाथमें सर्वोच्च शक्ति सौप देता है। रूस की तानाशाही वामपथियोकी तानाशाही है और इटालियन तथा जर्मन तानाशाही दक्षिणपथी तानाशाही थी। रूस की तानाशाही एक दलकी तानाशाही है और इटली तथा जर्मनी की तानाशाही एक व्यक्तिकी तानाशाही थी। फासीवादी इटली और नाजी जर्मनी में एक व्यक्तिके नेतृत्वका अन्धानुगमन होता था।

समदात्मक प्रजातत्र सर्वाधिकारवादी राज्यके लिए एक अभिशाप है। उसे मूर्ख-भ्रष्टाचारी और दीघसूत्री या नौ दिन चले अढाई कोस कह कर उसकी आलोचना की जाती है। ससदोका बतक्कडोका बाजार कहकर उनकी अवहेलना की जाती है, ससदें कुछ कर दिखानेमें असमर्थ मानी जाती है, सकट-कालमें तो वह बिल्कुल ही असहाय है। एक फासीवादीके कथनानुसार प्रजातत्र एक सडती हुई लाश है। सर्वाधिकारवाद प्रत्येक कार्यवाहीके सिद्धान्त पर विश्वास रखता है फिर भी सर्वाधिकारवाद शुद्ध रूपमें एकतत्र-वाद नही है। इसमें कुलीनतत्रके विशेपाधिकार प्राप्त विशिष्ट वर्ग द्वारा शासन करनेके सिद्धान्तको निर्वाचनके प्रजातत्रवादी विस्तृत आधारके साथ मिलानेका प्रयत्न किया गया है।

(३) सर्वाधिकारवादी राज्य व्यक्तिगत स्वाधीनताको कुचल देता है। साम्यवाद व्यक्तिगत स्वाधीनताको मध्यवर्गीय धारणा मानता है। साम्यवादके राजनैतिक विरोधियों और सेनानायकोका समय-समय पर हटाया जाना इस बातका प्रमाण है। फासीवाद और नाजीवाद तो सामान्य व्यक्ति पर कोई विश्वास ही नही रखते। वह व्यक्तिगत स्वाधीनताकी धारणाको पुराने जमानेकी एक असभ्य धारणा मानते हैं।

सर्वाधिकारवाद राजनैतिक विरोधको सहन नही करता। वह एक दलका शासन है। आलोचना करनेकी जो भी अनुमति है वह दलके भीतर ही है। आलोचना करनेमें उद्देश्य

---

[1] नाजी दलका नारा इस प्रकार था

'व्यक्ति नही, राष्ट्रका महत्त्व विधानके सम्मुख सर्व-प्रधान है।'

'उदारवाद जीवनका वह दर्शन है जिसे अब जर्मन युवक घृणा, क्रोध और हेयताकी दृष्टिसे देखता है क्योकि दूसरा कोई भी जीवन-दर्शन इससे अधिक घृणास्पद और उसके स्वय अपने जीवन-दर्शनके विरुद्ध नही है। आज जर्मनीका युवक उदारवादीको अपना शत्रु स्वीकार करता है।'

—मोयलर फॉन डेर वक, १९२४

यह होना चाहिए कि वर्तमान दलका शासन-यंत्र और अधिक सुचारु रूपसे कार्य कर सके न कि यह उसको उखाड फेंका जाय। सर्वाधिकारवादी राज्य विचार, भाषण और लेखनकी कोई स्वाधीनता नही देता। समाचार-पत्रो पर, पुस्तकोके प्रकाशन पर, रेडियो, चलचित्रों, व्यवसाय, रंग-मंच, संगीत और कला पर बहुत कडा नियंत्रण रखा जाता है। सभा करने और संघ आदि बनानेकी कोई स्वतंत्रता नही रहती।[1] फासीवादी इटलीमें हडताल करनेकी मनाही थी।

इटली और जर्मनीमें प्रोफेसरो और स्कूल-मास्टरोकी बार-बार जांच-पडताल होती थी। स्कूलोका प्रयोग राजनैतिक प्रचारके लिए किया जाता था। स्थानीय जीवनका स्थान राजकीय केन्द्रीकरणने ले लिया था। 'पौर-अधिसेवा (Civil Service), न्याय-पालिका, सेना और विश्वविद्यालयसे राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों' को निकाल बाहर किया गया था। यूनिवर्सिटीके अध्यक्ष (President) की नियुक्ति जर्मनीमें संस्कृति विभागके मंत्री द्वारा होती थी। समाचार-पत्रोमें शासन-सत्ताकी आलोचना करनेकी अनुमति नही थी। इटलीके विख्यात मनीषियो और विचारकोकी या तो हत्या कर दी गयी या उन्हें जेलमें बन्द कर दिया गया या उन्हें देशसे बाहर निकाल दिया गया। १९२४ में इटलीसे मत्ति-योटीका रहस्य-पूर्ण ढंगसे गायब हो जाना और जर्मनीमें १९३४ में रोएम तथा उनके दल की हत्या विख्यात है और उस पर टीका-टिप्पणी करनेकी कोई आवश्यकता नही।

फासीवाद और नाजीवाद दोनो ही ने जनताको प्रभावित करनेके लिए बडा व्यापक प्रचार किया और सभी सम्भव मनोवैज्ञानिक प्रयोगोका उपयोग किया। जनतामें उत्साह उत्पन्न करनेके लिए उन्होने सेनाओके प्रदर्शन, सैनिक कवायदो और भाषण-कलाका उपयोग किया। जर्मनीमें राजनैतिक विरोधियोके लिए जेलो और बन्दी-शिविरोकी व्यवस्था की गयी। सत्तारूढ होनेके कुछ ही महीनोके अन्दर नाज़ियोने पचास हजारसे लेकर ८० हजार तक राजनैतिक बन्दियोको बन्दी-शिविरोमें ठूंस दिया। हिटलरका उपदेश था कि प्रचारमें उद्देश्य ही साधनोका औचित्य सिद्ध करता है।

सर्वाधिकारवादी राज्योमें समाचार-पत्रोके लिए सरकारका पूरा पूरा समर्थन करना आवश्यक था। डॉक्टर गोयबेल्स के कथनानुसार समाचार-पत्रोंको एक पियानोके रूपसे विकसित होना चाहिए जिससे प्रचार-विभाग अपने इच्छानुकूल उनसे स्वर निकाल सके। देशमें केवल एक ही जन-मत हो सकता था और समूचे राष्ट्रको एकमत होकर सोचना

---

[1] 'व्यक्तिकी कोई स्वाधीनता नही है। स्वाधीनता केवल जातियो अथवा राष्ट्रोकी है, क्योंकि यही वह पार्थिव और ऐतिहासिक वास्तविकताएं है जिनके द्वारा व्यक्तिके जीवनका अस्तित्व रहता है।'

—(डाक्टर ओटो डीट्रिस १९३७)

'आवागमनकी स्वाधीनताकी अस्वीकृति हमारे समूचे भावी जीवनके लिए अत्यन्त आवश्यक है, और इस पर जोर देना ही चाहिए, भले ही लाखो व्यक्ति व्यक्तिगत स्वाधीनता पर लगने वाली इस रोकको हानिकारक समझें' (रोजेनबर्ग) 'उन सभी व्यक्तियोकी विधानके सम्मुख समानता स्वीकार की जायगी जो राष्ट्रीय उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक है और सरकारका समर्थन करनेसे इन्कार नही करते।'

—(हिटलर १९३३)

पडता था। जर्मन रेडियो पर होने वाले भाषण अलकृत सैनिक और सामाजिक भाषणो की एक माला जैसी होते थे। युद्धके लिए तैयारी उनका स्थायी विषय होता था। युद्धकी स्थिति में शत्रुके प्रचारको सुनना एक अपराध था जिसके लिए मृत्यु-दड दिया जा सकता था। इसी प्रकार फासीवादी इटलीमें समाचार-विभागका सरकारी प्रधान यह निश्चय करता था कि कौनसा समाचार प्रकाशित किया जाय और कौन दबा दिया जाय। ऐसी परिस्थितियोमें यदि लोगोने समाचार-पत्र पढनेकी आदत भी छोड दी तो इसमें कोई आश्चर्यकी वात नही।

सर्वाधिकारवादी राज्यमें व्यक्तिको इसी तरहसे नेता व नेतृवर्गकी अधिकार-सत्ताके अधीनस्थ बना दिया जाता है। फासिस्तोकी शपथ इस प्रकार है 'ईश्वर और इटलीके नाम पर मै शपथ लेता हू कि विना किसी प्रकारका विवाद किये दुचे (मुसोलिनी) की आज्ञाओका पालन करूगा और फासीवादी क्रान्तिका उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए अपनी समूची शक्ति और आवश्यकता पडने पर अपने जीवन-दानके लिए भी तत्पर रहूगा।' अधिकार-सत्ता, अनुशासन और अधीनता यह फासी दलके मूल मन्त्र थे। इटलीके युवक संगठनको मुसोलिनीने जो आदर्श सूत्र दिया था वह यह है 'विश्वास करो, आज्ञा मानो, लडो।'

(४) सर्वाधिकारवाद राष्ट्रको गौरव-गरिमा देता है और राज्यको एक शक्ति-व्यवस्थाके रूपमें चित्रित करता है। सकीर्ण राष्ट्रीयता, अन्धदेश-प्रेम आक्रमण-मूलक युद्ध और साम्राज्यवादी विस्तार यह सब फासीवाद और नाजीवादके कुछ तात्विक लक्षण थे। रूसी साम्यवाद भी राष्ट्रीयतावादी और सैन्यवादी हो गया है।

फासीवादके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एक कायरका सपना है। शान्तिप्रियता 'वलिदानके सम्मुख भीरुता-मात्र है।' फासीवादी राष्ट्रीय भावनाओका दुरुपयोग करते है। वह साम्यवादियो और समाजवादियोके अन्तर्राष्ट्रीयतावादकी अत्युक्ति करते है और उसका विकृत रूप चित्रित करते है। समाजवादियो पर वह यह ताना मारते है कि वह अपने देशको छोडकर अन्य सभी देशोके हितचिन्तक है।

इटलीकी फासीवादी शिक्षा वहुत अधिक अन्धदेश-प्रेम पूर्ण थी। स्कूलोका सचालन एक सैनिक कवायद और अनुशासन-पूर्ण पद्धतिसे होता था। शक्ति और हिंसाकी प्रशसा की जाती थी। विचारककी अपेक्षा क्रियाशील व्यक्तिको अधिक मान-महत्त्व दिया जाता था।

इटली और जर्मनी दोनो ही कच्चे मालके लिए, अपनी बनायी हुई चीजोकी बिक्रीके लिए और अपनी 'अधिकार-लिप्सा' को शान्त करनेके लिए, उपनिवेश चाहते थे। मुसोलिनी का कथन है 'साम्राज्यवाद जीवनका वहुत पुराना और कभी न वदलने वाला विधान है। • हम अपने सकीर्ण पर सुन्दर प्रायद्वीपमें चार करोड व्यक्ति किसी प्रकार वसर करते है।' मुसोलिनीका कहना था कि इटलीका विस्तार एक जीवन-मरणका प्रश्न है। इटलीका 'या तो विस्तार होगा या विनाश होगा।'

मुसोलिनी और हिटलर युद्धकी आवश्यकताका खुले आम प्रचार करते थे। पौरुष-पूर्ण सदगुणोके विकासके लिए यह आवश्यक है। फ़ासीवादने एक ऐसी आन्तरिक नीति चुनी जिसका वाहरी परिणाम युद्ध था। हिटलरको विजेताकी तलवारकी शक्ति पर विश्वास था। उसने लॉर्ड वर्कनहेड (Lord Birkenhead) के इस कथनकी सचाई सिद्ध की कि ससार उन्हीकी भूरि-भूरि प्रशसा करता आया है और उन्हीको

उपहार देता है जिनकी तलवारकी धार तेज है और जिनके दिल मजबूत है। रोएम ने कहा था 'एक सैनिकके दृष्टिकोणसे शान्तिवाद एक सैद्धान्तिक कायरता है। कायरता कोई जीवन-दर्शन नही है बल्कि चरित्रकी एक त्रुटि—एक कमी है। सर्वाधिकारवादी देश सैन्य-वादी होते है और शस्त्रीकरणके लिए वह अपार सम्पत्ति बर्बाद करते है भले ही भोजनमें भी कटौती करनी पडे।'

हिटलर की आकाक्षा न केवल उन प्रदेशोको फिरसे जीत लेनेकी थी जिन्हें वारसाई की सन्धि द्वारा जर्मनीने खो दिया था बल्कि वह उन सब प्रदेशोको भी जर्मनी में शामिल कर लेना चाहता था जिसमें पर्याप्त जर्मन अल्पसख्यक थे। म्युनिक-समझौतेके बादकी घटनाओने यह स्पष्ट कर दिया था कि हिटलर तब तक सतुष्ट नही होगा जब तक वह मध्य और पूर्वी योरोप पर मुनरो डाक्ट्रिन जैसी व्यवस्था स्थापित न कर ले। पर रूसके हाथो जो लगातार उसकी सैनिक पराजय हुई, उससे इस सपनेका पूरा हो सकना असम्भव हो गया।

(५) सर्वाधिकारवादी राज्य बहिष्कार-मूलक होता है। उदारवाद और मानवता-वाद पर उसे कोई विश्वास नही होता। जर्मनी में जातीय विद्वेष और घृणाकी तीव्र भाव-नाए उत्पन्न की गई थी। जर्मनीका विश्वास था कि नार्डिक जाति समस्त जातियोमें सबसे श्रेष्ठ है यद्यपि विज्ञानके अनुसार जातीय उच्चताका कोई प्रमाण नही मिलता। यद्यपि लगभग आधेसे भी कम जर्मन जनता नार्डिक जातिकी है फिर भी नाजीवादका उद्देश्य एक शुद्ध आर्य जातिका विकास करना था। नाज़ियोने अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपनी जातिकी शुद्धता सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया था।

सर्वाधिकारवादी राज्य इस अर्थमें भी बहिष्कार-मूलक होता है कि वह आर्थिक दृष्टि से भी अपने आपको स्वत पूर्ण बना लेना चाहता है। इटली और जर्मनी दोनोकी ही आर्थिक नीति यह थी कि युद्ध-सचालनके लिए आवश्यक पदार्थोके सम्बन्धमें वह अपने आपको जहा तक सम्भव हो दूसरे देशो पर निर्भर न रखें। इसी नीतिके अनुसार जर्मनी ने काफी तादादमें बनावटी ऊन, रुई और रबड पैदा की थी। विदेशी व्यापार-व्यवसायके क्षेत्रमें एक राष्ट्रके रूपमें जर्मनी का प्रवेश इस उद्देश्यसे हुआ था कि अपने तैयार मालकी बिक्रीको वह आगे बढाये।

(६) सर्वाधिकारवादी राज्य धर्मका प्रतिद्वन्द्वी हो गया। साम्यवादने तो प्रारम्भमें धर्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, पर फासीवाद और नाजीवादने धर्मको सर्वाधिकारवादी राज्यकी उद्देश्य-सिद्धिका एक साधन बना दिया। विशेषकर नाज़ीवादने तो यह आदेश दिया कि लोग जो कुछ ईश्वरको अर्पण करना चाहते हो वह शासकको दें। नाज़ीवादका उद्देश्य था एक सकीर्ण बहिष्कार-मूलक और अईसाई ईसाई धर्म (Un-Christian Christianity) की स्थापना करना जिसे वह लोग नार्डिक ईसाई धर्म कहते थे। बाईबिलमें ईसा के उपदेशोमें और ईसाई परम्पराओमें जो भी ऐसे तत्त्व थे जिनका मेल नार्डिक विचारधारासे नही मिलता था वह निकाल बाहर किए गए। हिटलर को नए त्राताके रूपमें स्वीकार किया गया। वह मसीहा था, धरती पर परमात्माका उपप्रतिनिधि था। सर्वाधिकारवादी राज्य, सर्वाधिकारवादी धर्मका शत्रु था। श्री जे० ए० स्पेंडर (J A. Spendar) ने लिखा है: "रूसने धर्मको समाप्त करनेकी चेष्टा की है, मुसोलिनीने उसे निष्क्रिय, निष्प्राण बनानेकी चेष्टा की है और हिटलर ने उसे अपने अधीन करनेकी चेष्टा

की है।[1] यह भी कह दिया जाना चाहिए कि फ्रेंको धर्मका शोषण कर रहा है।

(७) तीनों ही तानाशाही राज्योंमें सर्वाधिकारवाद एक जन-आन्दोलन बन गया। स्वतंत्र मतदानके अभावमें यह कहना कठिन है कि किस हद तक सर्वाधिकारवाद वास्तविक जन-समर्थन पर आधारित है। प्रारम्भमें सर्वाधिकारवादी विचार और तानाशाही तरीके कुछ थोड़ेसे लोगों तक ही सीमित थे और अधिकांश लोग उनकी हंसी भी उड़ाते थे। पर अपने दृढ़ निश्चय, संकल्प और उद्देश्यके बल पर कुछ थोड़ेसे सुसंगठित और अनुशासन-पूर्ण सदस्योंके एक दलने अपने सुनिश्चित राजनैतिक और राष्ट्रीय उद्देश्यको लक्ष्यमें रखते हुए अपने आपको परिस्थितियोंका नियामक या विधाता बनानेमें सफलता प्राप्त की। इतना ही नहीं उन्हें जनताका पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त करनेमें भी सफलता मिली। इस समर्थनकी प्राप्तिमें विशेषकर इटली और जर्मनी में, जन मनोविज्ञान, प्रत्यक्ष कार्यवाही और आतंकवादने बड़ा काम किया। रूस में जनताको बोल्शेविक आन्दोलनके पक्षमें लाने में खाने-पीनेकी अत्यधिक सुख-सुविधाके वादोंने बड़ा काम किया है। इटली और जर्मनी में जन समर्थन प्राप्त करनेके लिए घृणा और प्रतिहिंसाकी भावनाओं, साम्यवादके भय तथा दूर तक विस्तृत साम्राज्य-विजयके लालचका उपयोग किया गया जिसके द्वारा यह कल्पना की जाती थी कि लोगोंके अभाव दूर हो जायंगे और उन्हें अपना विस्तार करनेके लिए पर्याप्त प्रदेश मिल जायंगे। मनुष्यके बुद्धि-विवेकको जाग्रत करनेके बजाय उसकी ओछी वासनाओंको उकसाया गया। और इसका परिणाम यह हुआ कि जनताने राज्य की आज्ञाओं का पालन अन्धे बनकर मशीनकी तरह किया। उन्हें कवायद करायी गयी, अनुशासन सिखाया गया—और यह सब इतने अच्छे व्यापक ढंगसे किया गया कि वह दूसरी जातियोंके प्रदेशोंको जीतनेके लिए युद्ध-क्षेत्रमें इस प्रकार पिल पड़ते थे जैसे टिड्डियों का दल किसी अन्ध-विवेकहीन प्रवृत्तिके वशवर्ती होकर चल पड़ता है।

३. सर्वाधिकारवादकी सफलता (What Totalitarianism Has Done)

सर्वाधिकारवादके उद्देश्यों और उनकी नीतियोंसे हम चाहे कितना ही असहमत क्यों न हों पर इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि साम्यवाद, फासीवाद और नाजीवाद ने अपने-अपने देशोंके लोगोंको जीनेका विश्वास और मरनेका उद्देश्य दिया। सर्वाधिकार-वादने लोगोंको एकताके सूत्रमें बांधा और राष्ट्रीय एकताकी वृद्धि की।

नाजी जर्मनी और फासीवादी इटलीमें सर्वाधिकारवादने जनताका कुछ कल्याण भी किया पर उसका मूल्य जनताको अपनी स्वाधीनतासे चुकाना पड़ा। इस कल्याणके लिए लौह अनुशासन, सैनिक शक्ति और युद्धका आश्रय लेना पड़ा। जो कुछ भी समृद्धि वहां दिखायी दी वह अल्पकालीन थी क्योंकि उसका आधार ही भ्रम भरा था।

यद्यपि इन देशोंमें सर्वाधिकारवादकी पराजय हो चुकी है फिर भी इस बातकी कोई

---

[1] जर्मन धरती, जर्मन रक्त, जर्मन आत्मा और जर्मन कला—जर्मन लोगोंके लिए धरती पर यह चार चीजें सबसे अधिक पवित्र हो जानी चाहिए। और जब प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्रीके भीतर यह चारों पवित्र भावनाएं प्रवेश कर पायेंगी तभी वह उस कार्यके लिए तैयार होंगे जो उन्हें एकताके सूत्रमें बांधनेवाला है और विजयका मुकुट देनेवाला है अर्थात् वह जर्मन नार्डिक धर्मको स्वीकार करनेके लिए तैयार होंगे।

गारंटी नही है कि फिर से उसका उत्थान न होगा। जर्मन लोगो जैसी एक समझदार और विचारशील जाति किस प्रकार अपने आपको सर्वाधिकारवादके हाथो समर्पित कर सकती है यह काफी समय तक एक रहस्यकी बात नही रहेगी। सर्वाधिकारवादकी सफलतासे यह संकेत मिलता है कि मनुष्यमें नेतृत्व और अधिकार-सत्ताका अनुगमन करनेकी तथा कार्य करनेकी उत्कट इच्छा रहती है। यदि इस इच्छाका ठीक-ठीक नियोजन करना है तो आत्म-सहाय और आत्मनिर्देशन तथा चिन्तनके साधनोका विकास चाहने वाली इच्छाके साथ इसका मेल बिठाना होगा।

४. भविष्यकी रूप-रेखा (What of the future?)

सर्वाधिकारवादने जो कुछ कल्याण किया है वह उस मूल्यके सामने कुछ भी नही है जो जनताका उस कल्याणके लिए चुकाना पडा है। जैसा कि ए० डी० लिड्से (A. D. Lindsay) ने कहा है 'ऐसी सरकारके साथ प्रजातन्त्रका मौलिक सघर्ष इस बातका नही है कि यह सरकार तानाशाही होती है, बल्कि सघर्ष इस बातका है कि ऐसी सरकार न केवल अपनी उन्नतिके साधनो—निर्वाचन या अन्य मार्ग—में ही सर्वाधिकारवादी होती है बल्कि अपने उद्देश्यो और कार्य-व्यवहारमें भी तानाशाही होती है। क्योकि सर्वाधिकारवादी सरकारकी घोषणा यह है कि व्यक्तिका केवल यही एक कर्त्तव्य है कि वह राज्यकी सेवा करे और उसकी शक्तिको बढ़ाये और उसके गौरव-गीत गाये। उसके विपरीत प्रजातन्त्र-वादीकी मान्यताके अनुसार राज्यका एकमात्र कर्त्तव्य यह है कि वह समाजकी सेवा करे और उसके स्वतन्त्र जीवनका उत्थान करे (५२ ७-८)।'

सर्वाधिकारवादका परिणाम हुआ है व्यक्तिगत स्वाधीनताकी समाप्ति, मानव-व्यक्तित्वका दबाया जाना, देशके भीतर हिंसा और विदेशोमें लज्जाहीन आक्रमण, मानव-स्वभावका पाशवीकरण और एक समूची जातिका सैन्यीकरण। वारसाईकी सन्धिमें होने वाले अन्याय जो तानाशाहोकी सामरिक और आक्रमण-मूलक नीतियोके लिए छिपे हुए वरदान बन गये अथवा वर्तमान समयमें होने वाले अन्य अन्याय हमेशाके लिए नही टिक सकते।

सर्वाधिकारवादने स्पष्टत सिद्ध कर दिया है कि स्वाधीनताके लिए हमें निरन्तर सावधान रहना होगा। स्वाधीनता, समानता, बन्धुत्व और मानवतावादके प्रति मौखिक सहानुभूति ही पर्याप्त नही है। वास्तविक कार्य-रूपमें उसे उतारना चाहिए। आधुनिक तानाशाहियोके उदय और विस्तारने यह दिखा दिया है कि तानाशाही भय और अरक्षाका परिणाम है। जब मध्यवर्ग भयभीत हो उठता है तभी फासीवादका उदय होता है।

सर्वाधिकारवादको इतने मार्केकी सफलता इसलिए हुई कि उसने एक अर्ध-सत्यसे पूरा-पूरा लाभ उठाया, वह अर्ध-सत्य यह है कि मनुष्य मूलत विचारशील नही होता। मनुष्यकी प्रवृत्तियो, भावनाओ और राग-द्वेषोका सावधानी-पूर्वक अध्ययन करके और इनका कुशल उपयोग करके सर्वाधिकारवाद शक्तिशाली बना। इसने स्पष्टत सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ और शासकके लिए वर्गगत मनोविज्ञानका गम्भीर ज्ञान और प्रचार-कला पर पूरा-पूरा अधिकार बहुत आवश्यक है। जब समाज और संस्कृति राजनीतिपरक बन रही हो तब राजनैतिक शक्तियोके यथार्थवादी अध्ययनकी अत्यन्त आवश्यकता होती है—सर्वाधिकारवाद हमें यही बताता है। सर्वाधिकारवाद

हमारा ध्यान इस तथ्यकी ओर भी आकर्षित करता है कि जब लोग किसी प्रकारके जीवन-दर्शनके प्रति सचाईके साथ उन्मुख हो और उसके लिए सब कुछ करने और मरनेके लिए तैयार हो तब कोई न कोई जीवन दर्शन—वह चाहे जैसा भी हो—अच्छा होता है बजाय इसके कि जीवन-दर्शनका अभाव हो।

सर्वाधिकारवादकी एक मौलिक कमजोरी यह है कि वह मानव-प्रकृतिकी यूथ-वृत्ति (Gregarious Nature) का महत्व तो पूरा-पूरा समझता है पर प्रत्येक व्यक्तिमें एकान्त-चिन्तन और आत्मपरीक्षणकी जो लालसा रहती है उसकी ओरसे आखें मूद लेता है।

यदि प्रजातन्त्रवादको सफल होना है तो तानाशाहीसे केवल युद्ध करते रहनेका कोई अर्थ नही है। एक विधि-विहित धारणा बने रहनेके बजाय प्रजातन्त्रको एक जीवित तथ्य बनना होगा, उसे अपने आपको वगगत आधिपत्य, आर्थिक अन्याय और साम्राज्यवादी शोषणसे मुक्त करना होगा। उसे जीवनके प्रत्यक क्षेत्रको अपने भीतर समेटना होगा और स्वाधीनता तथा समानताके ऊपरसे विरोधी जान पडने वाले सिद्धान्तोकी प्रतिष्ठा करनी होगी।

रूसका सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism in Russia)

१ रूसमें सर्वाधिकारवादका उदय (Emergence of Totalitarianism in Russia).

इटली और जर्मनीके सर्वाधिकारवादकी तुलनामें रूसी सर्वाधिकारवादका उदय भिन्न रूपमें हुआ है। उसका एक निश्चित बौद्धिक आधार था। व्यावहारिक रूप देनेके पहले साम्यवादका एक विशिष्ट सिद्धान्त शास्त्रीय पद्धतिसे प्रतिष्ठित किया गया। जारशाही रूस एक निरकुश एकतन्त्र शासन वाला देश था भले ही इधर-उधर प्रजातन्त्रके झूठे जाल बिछे रहे हो, जैसे डूमा। उदारवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलन पूर्ण रूपसे दबा दिये गये थे। सर्वहारा वर्गमें प्रजातन्त्रवादी सगठनोको जन्म देनेकी आज्ञा नही थी। किसान लोग अशिक्षित, अनजान, अन्धविश्वासी और दरिद्र थे। धर्म-सघ पतनोन्मुख था और राज्यके साथ पाप-सन्धि कर चुका था। शेष योरोपकी तुलनामें समूचा देश बिल्कुल पिछडा हुआ था।

इस सबका अर्थ यह था कि देश क्रान्तिकारी परिवर्तनोके लिए बिल्कुल तैयार था। प्रथम महायुद्धमें रूस के पतनने बोल्शेविकोको जो कि मेनशेविकोकी अपेक्षा बहुमतमें थे एक मौका दिया कि वह अपने सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप दें। बोल्शेविक दलके नेता और विचारक लेनिन थे। जार और उसके परिवारको फासी दे दी गयी और उसकी पुरानी व्यवस्थाको समाप्त कर दिया गया। कमजोर प्रजातन्त्रवादी सगठन दबा दिये गये। किसानो को धरती देनेका वायदा किया गया और समूची शक्ति मजदूर और सैनिक समितियोके हाथो में सौंप दी गयी। बोल्शेविकवाद, जिसे अब साम्यवाद कहा जाने लगा था, आश्चर्यजनक ढगसे सफल हुआ, 'क्योंकि राज्य दुर्बल था, उद्योग-धन्धे पिछडे हुए थे, प्रजातन्त्रवादी परम्पराओका अभाव था और लेनिन तथा ट्राट्स्की की प्रतिभाका बल उसे प्राप्त था। इस सफलताको सुदृढ बनानेमें पहले जर्मनी और फिर मित्र राष्ट्रोके हस्तक्षेपने योग दिया

क्योंकि उससे बोल्शेविकोंको देश-प्रेम और राष्ट्रीयताका सबल और आकर्षक नारा मिल गया (१२ : २४१-२)।'

१९१८ से १९२१ तक चलने वाले युद्ध-मूलक 'साम्यवाद' की अवधिमें रूसी लोगों के जीवनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस अवधिमें सारे औद्योगिक संस्थानोंका राष्ट्रीय-करण और पौरसघीकरण (Municipalisation) किया गया। किसानोंको अपनी उपजका केवल उतना ही अश अपने पास रखनेकी अनुमति दी गयी जितना उनके अपने उपयोगके लिए आवश्यक था। उत्पादनमें तेजीसे कमी हुई और लाखो आदमी मर मिटे। और इन कठिनाइयोंके साथ-साथ सरकारको श्वेतांगियोंकी क्रान्ति-विरोधी (Counter-revolutionary) सेनाओंके विरुद्ध अनवरत युद्ध करना पडा था। इस अवधिकी समाप्ति पर रूस लगभग वर्बाद हो चुका था। इसलिए १९२१ में सोवियट क्रान्तिके स्रष्टा लेनिन ने एक नवीन आर्थिक नीति लागू की जिसमें पूजीवादको अनेक सुविधाए दी गयी। यह वास्तवमें एक और लम्बी छलाग लेनेके लिए कुछ पीछे हट जाने वाली नीति थी। इससे सरकारको कुछ सास लेनेकी फुर्सत मिली जिसकी उसे बडी आवश्यकता थी और उसने अपनी आन्तरिक स्थितिको सुदृढ बना लिया।

प्रयोगात्मक साम्यवादकी इस प्रारम्भिक अवस्थामें रूसके अनेक नेताओंको इस बात का विश्वास हो गया कि जिस विश्व-क्रान्ति पर उनका दृढ विश्वास था वह लगभग असम्भव है। १९२० तक यह स्पष्ट हो गया कि अधिक प्रगतिशील और औद्योगिक देश समाजवादी आन्दोलन, विश्व-क्रान्ति और विश्व-व्यापी साम्यवादके लिए व्यवस्थित प्रगति करने और जातीय राज्य पर अपने विश्वासको छोडनेके लिए तैयार नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि रूसमें साम्यवाद क्रमश एक राष्ट्रीय आन्दोलनका रूप धारण करता गया और अन्य देशोंकी भाति रूसका विकास भी एक जातीय राज्यके रूपमें होता रहा।

१९२१ से रूसने गासप्लेन, प्रथम पचवर्षीय योजना (१९२८-३२) और उसके बादकी योजनाओं द्वारा साम्यवादकी दिशामें बहुत उन्नति की है। दूसरोंकी मेहनतका फल भोगने वाले और कुलक अथवा समृद्ध किसानोंको प्राय समाप्त कर दिया गया। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और खेतीका समूहीकरण तेजीसे होता गया। प्रारम्भिक वर्षोंमें भारी उद्योगों पर अधिक जोर दिया गया और एक बडी मात्रामें विदेशोंसे मशीनें मंगाई गयीं। देशके औद्योगिक जीवनका निर्माण करनेके लिए देशमें प्राप्त समूची श्रम-शक्तिका उपयोग किया गया, यहा तक कि कुछ वर्षो तक खाद्यान्न, कपडो, जूतो और मकानोंकी कमी रही। लोगोको अपना दैनिक राशन लेनेके लिए लम्बी क़तारोंमें खडा रहना पडता था। साधारण वस्तुए जैसे तागा, सुइया और दर्जियो द्वारा अगुलियोंमें पहनी जाने वाली लोहेकी टोपिया आदि रूसके बडे-बडे नगरोंमें नहीं मिलती थीं। १९३२-३३ में ग्रामीण क्षेत्रोंमें एक भयानक अकाल उत्पन्न करनेकी जिम्मेदारी भी सरकारके ऊपर थी 'जिसने उन कुलक लोगों अर्थात् समृद्ध किसानोंके विरुद्ध एक निर्मम युद्ध छेड दिया था' जिन्होंने सहयोग करनेसे इन्कार कर दिया था। इस अकालमें लगभग चालीस लाख व्यक्ति मरे।

तबसे परिस्थितियोंमें सुधार हुआ है। वेब (Webb) तथा अन्य आलोचकोंका कहना है कि सोवियट-साम्यवाद एक नवीन सभ्यता है। निर्मम कठोरता और आतंकवादका जो प्रयोग साम्यवादी आदर्शकी प्राप्तिके लिए किया गया, वेब आलोचक उसकी कोई सफ़ाई नहीं पेश करते, पर उनका कहना है कि 'इस कथनमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि १९१७ से रूस

की जनताका दूसरा जन्म हुआ है।' द्वितीय विश्व-युद्धके प्रारम्भ तक जहा एक ओर ससार के अनेक देश बेकारीके बोझसे पिसे जा रहे थे वहा रूस में बेकारीकी कोई समस्या ही नही थी। १९३८ में सामूहिक खेतीसे व्यक्तिवादी व्यवस्थाकी तुलनामें चौगुना उत्पादन हुआ था।[1] किसानोकी वैयक्तिक प्रवृत्तिके सन्तोषके लिए उन्हें अपने निजी मकान, उद्यान, कुछ सुअर, गाएँ और मुर्गिया रखनेकी सहूलियत दी गयी है। गेहूँ उत्पन्न करने वाले खेतोंका समूहीकरण हो गया है।

रूस का अत्यधिक औद्योगीकरण हो चुका है। उत्पादन और वितरणकी व्यवस्था एक केन्द्रीकृत योजनाके अनुसार होती है और फैक्ट्री-सभाओ और केन्द्रीय समितियोकी एक शृखला द्वारा कार्यान्वित की जाती है। एक साधारण मजदूरको भी इस बातके निर्णयमें योग देनेका अवसर है कि किन वस्तुओका उत्पादन किया जाय और कैसे उनका वितरण हो। योजना इतनी सावधानी और सतर्कतासे बनायी जाती है कि बर्बादी या तो बिल्कुल नहीं हो पाती या बहुत कम होती है। विदेशोसे व्यापार कुछ इस प्रकार सगठित और सचालित किया जाता है कि विदेशोकी मुद्रा-स्फीति या मुद्रापकर्ष (Inflation or deflation) का सोवियट अर्थ नीति पर कोई प्रभाव नही पडने पाता। आयातका मूल्य निर्यात द्वारा चुकाया जाता है। प्रत्येक व्यक्तिको श्रमिक सघके अनुसार उदार वेतन मिलता है। वेतन और जीवनके मानदडमें असमानता है पर यह असमानता उस प्रकारकी नही है जैसी पूजीवादी समाजमें दिखायी देती है। उद्योगोके क्षेत्रमें भी खेल-कूदकी भावना लायी गयी है। अनेक उत्साही मजदूर सम्मानके लिए और कामके आनन्दके लिए श्रम करते हैं। मुनाफेकी भावना समाप्त कर दी गयी है और पूजीवादको हमेशाके लिए विदा दे दी गयी है।

सोवियट रूस में ऐसे उत्पादक भी है जो मालिक होते है। पर किसीको भी मुनाफेके लिए किराये पर श्रम लेनेकी आज्ञा नही है। पर कुछ हालके पर्यवेक्षकोका कहना है कि मालिक किसानोको मजदूर रखनेकी आज्ञा है। मुनाफा लेकर बेचनेके लिए कोई वस्तु खरीदना एक अपराध है। स्त्रियोको पुरुषोके बराबर कामके लिए बराबर वेतन मिलना है।

सोवियट साम्यवादके आलोचकोका कहना है कि आजकी रूसी व्यवस्था न तो साम्यवाद है और न समाजवाद बल्कि स्टालिनवाद है, और स्टालिनवाद सैनिक तानाशाहीका ही दूसरा नाम है। इस आलोचनाका औचित्य सिद्ध करनेके लिए यह कहा जाता है कि आज रूसमें न तो समाजवाद है, जिसका अर्थ है कामके अनुसार सम्पत्तिका वितरण और न साम्यवाद है जिसका अर्थ है आवश्यकताके अनुसार वितरण, और न उत्पादनके साधनोका राष्ट्रीयकरण है।[2] एक तर्क यह और दिया जाता है कि वेतन या पारिश्रमिकमें बहुत बडा असमानता है, एक फैक्ट्रीका सचालक सामान्य मजदूरकी अपेक्षा १०० गुना अधिक पाता

---

[1] रूसमें 'सामाजिक उपयोगके लिए व्यवस्थित उत्पादन होता है' (वेब आलोचक)। एक हाल ही के अधिकारी व्यक्तिके कथनानुसार सार्वजनिक स्वामित्वकी व्यवस्थामें १९२७ और १९३८ के बीच रूसी लोगोने अपना औद्योगिक उत्पादन ८०० प्रतिशत बढा लिया जब कि ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका व्यक्तिगत स्वामित्वकी व्यवस्थामें केवल पचास प्रतिशत ही वृद्धि कर सके।

[2] १९३६ के सविधानके अनुसार वेतन की गयी सेवाके अनुरूप लिया जाता है।

है। यह कहा जाता है कि जो वर्ग-व्यवस्था समाजवाद और साम्यवादके लिए एक अभि-शाप है वह रूसमें लुके-छिपे फिर आ गई है। यह भी कहा जाता है कि उत्पादन इतना कम होता है कि जनताको स्वस्थ जीवन बितानेके लिए पर्याप्त वस्तुए नही मिलती। यह भी दावा किया गया है कि रूसके एक सामान्य मजदूरके जीवनका मानदड भारतके कुछ ान औद्योगिक नगरोके मानदडसे नीचा है। एक और दावा यह किया जाता है कि कि राज्यकी नीति सैनिक प्रसारकी है इसलिए अपेक्षाकृत रूपमें आर्थिक पक्षकी ओर धिक ध्यान नही दिया जाता।

जहा तक ऊपर बतायी गयी इन सब आलोचनाओका सम्बन्ध है विश्वसनीय सूचना अभावमे प्रचार और सत्यके बीच विभेद कर सकना असम्भव है। जर्मनीका प्रतिरोध रनेमें रूसी लोगोने जो गौरवमय कार्य किया है वह इन सब आलोचनाओका पर्याप्तसे धिक प्रत्युत्तर है। ऐसा प्रतिरोध एक गुलाम द्वारा किया जा सकता है ऐसी आशा हम ही कर सकते।

आर्थिक क्षेत्रसे हट कर यदि हम मानव-जीवनके अन्य पक्षो पर दृष्टि डालते है तो म देखते है कि विवाह और तलाक सम्बन्धी कानून बहुत आसान बना दिये गये है और वीन पारिवारिक व्यवस्थाका मार्ग सुगम कर दिया गया है। दबाव समाप्त कर दिया गया है। अन्तिम लक्ष्य पूर्ण यौन-स्वाधीनता हो सकता है। स्वतत्र यौन-सम्बन्धके परिणाम-स्वरूप वेश्या-वृत्ति बडी तेजीसे समाप्त होती चली जा रही है। जो वर्तमान व्यवस्थासे अनुचित लाभ उठाते है और अपने जीवन-सगीका बार-बार परिवर्तन करते है उनका या तो जातीय बहिष्कार किया जाता है या दड दिया जाता है। बार-बार तलाक देनेका अर्थ ाधीनताका दुरुपयोग लगाया जाता है। हालके वर्षोमें तलाकोकी संख्या कम पड ो है।

राज्य अनेक सामाजिक सेवाके कार्य करता है। सोवियट रूसकी सबसे बडी सफलता क्षाके क्षेत्रमें हुई है। शिक्षा अनिवार्य है और राज्य उदारताके साथ उसका भार न करता है। पहले जनताका लगभग ७० या ८० प्रतिशत भाग निरक्षर था। 'आज ूचे योरोपीय रूसमें और साइबेरियाके सभी व्यवस्थित भागोमें कुछ वयस्क और वृद्ध गोको छोड कर कोई भी निरक्षर नही है।' हालके वर्षोमें स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवा-कार्यो, युर्वेदिक अनुसन्धानो, शिशु-पालन और माताओकी सुविधामें बहुत अधिक विकास ा है, योग्य डॉक्टरोकी सख्यामें अत्यधिक वृद्धि हुई है और जेल-व्यवस्थामें सुधार ा है।

सोवियट-सघमें प्रतिनिधित्व प्रादेशिक न होकर व्यावसायिक है। राजनैतिक व्यवस्था ावियटो या समितियोकी एक शृखला द्वारा कार्यान्वित होती है। १७ करोड जनतामें २० से ३० लाख तक कम्युनिस्ट पार्टीके सदस्य है और यह पार्टी एक महत्वपूर्ण भाग ती है। पार्टीके निर्णयोको राजनैतिक संगठन स्वीकार करते है। पार्टीके सदस्यो पर ठोर अनुशासन रहता है और पार्टीको आदर्श रूपमें बनाये रखनेके लिए उन्हें कभी-कभी पना खून भी देना पडता है। हालके वर्षोमें यह प्रवृत्ति देखी गयी है कि जो लोग पार्टीके न्दर उच्च स्थानो पर है वह अपना एक विशिष्ट वर्ग बनाना चाहते है। जो लोग पार्टीके दस्य नहीं है उनकी अपेक्षा पार्टीके सदस्योको रहनेके लिए अधिक अच्छे मकान और ाधिक सामाजिक सुविधाएं प्राप्त है।

वर्तमान समयके लिए तो, किसी न किसी प्रकार रूस ने विश्व-क्रान्तिका विचार त्याग दिया है। वह अपने आपको पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा सत्रस्त या सताया हुआ—घिरा हुआ मानता है और इसलिए बडी तेजीसे उसमें एक राष्ट्रीय और सैनिक भावनाका विकास हो रहा है।

सोवियट रूस ने चाहे जितने लाभजनक कार्य किये हो, हम इस तथ्यकी ओरसे आख नही मूद सकते कि वह सब निर्दयता और कष्टोके परिणाम है। आज भी वहा विरोध सहन नही किया जाता। अनेक अवसरो पर वास्तविक स्थिति आदर्शसे बहुत नीचे रही है। अन्य देशोमें रूसी प्रयोगके सहानुभूतिपूर्ण विद्यार्थी यह कहते हैं कि साम्यवाद शान्तिपूर्ण उपायोसे भी स्थापित किया जा सकता है। पर यह तो एक कोरा सपना मालूम होता है।

२ साम्यवादकी विचारधारा (The Ideology of Communism)

साम्यवादको बीसवी सदीमें पूजीवादकी उन जन्मजात बुराइयोका उत्तर बताया जाता है जो हालके वर्षोमें अधिकाधिक रूपमे स्पष्ट होती गयी हैं। साम्यवाद पूजीवादका प्रतिकार है। पूजीवादके प्रधान लक्षण हैं उत्पादनके साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व, व्यक्तिगत उद्योग और व्यक्तिगत मुनाफा। पूजीवादमें वस्तुओका उत्पादन उपयोगके लिए न होकर मुनाफेके लिए होता है। जैसा श्री फॉक्स (Fox) ने कहा है 'सामाजिक उत्पादनको व्यक्तिगत पूजीपति हडप लेता है।' यद्यपि उत्पादन एक सामाजिक कार्य है फिर भी विनिमय और स्वामित्व व्यक्तिगत ही बना रहता है। हमारे युगकी विभीषिका यह है कि समृद्धिके होते हुए भी अभाव और दरिद्रता है। आवश्यकतासे अधिक उत्पादन होता है और आवश्यकता से कम उपयोग।

श्री जूलियस हेकर (Julius Hecker) के कथनानुसार आधुनिक पूजीवाद ससारकी इन तीनो महान् आवश्यकताओको पूरा करनेमें असमर्थ है आर्थिक सुरक्षा, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा और आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) की स्वाधीनता। उनका दावा है कि साम्यवादमें उन तीनो आवश्यकताओके पूरा करनेकी सामर्थ्य है।

आधुनिक साम्यवादको कार्ल मार्क्स से उतनी ही प्रेरणा मिली है जितनी कि समाजवाद को। उनकी पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Kapital) और ऐंजेल के सहयोगसे लिखा गया कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (The Communist Manifesto 1848), दोनो साम्यवादके लिए बाइबिल है। मार्क्स और एजेल्स के उपदेशोका आगे चल कर लेनिन ने और अधिक गम्भीर और व्यापक विवेचन किया। रूसी साम्यवादके उस अधिष्ठाताने उन उपदेशोको आधुनिक साम्राज्यवाद द्वारा की गयी परिस्थितियोके अनुकूल बनाया। इस प्रकार मार्क्स, एजल्स और लेनिन साम्यवादके त्रिदेव है। मार्क्सके उपदेशोमें पहली बार समाजवाद और साम्यवादने अपनी काल्पनिक स्वर्गवाली वृत्तिको छोड कर एक वैधानिक और यथार्थ रूप ग्रहण किया।

मार्क्सवादका प्रस्थान-बिन्दु है हीगेल का द्वन्द्ववाद, जिसके अनुसार (१) समस्त शरीरी सघटनाए द्वन्द्वात्मक होती है, (२) वास्तविकता एक सघटनात्मक प्रक्रिया है, (३) वास्तविकता विचार है। साधारण भाषामें राज्यके लिए द्वन्द्ववादका अर्थ यह है कि मानवीय विकास विरोधोके माध्यमसे होता है। यह प्रक्रियावाद, प्रतिवाद और

सश्लेषणके रूपमें होता है। यह विरोधी तत्त्वोकी एक एकता है। इतिहास एक सरल और सम्बद्ध विकास नही है। मानव-विकास एक कमानीदार जीनेके चढावकी तरह होता है। इनमें विभेद, अभाव और प्रतिवाद सम्मिलित है। मार्क्स के अनुसार समाज जिन तीन स्थितियोंसे होकर गुजरता है वह हैं, (१) आदिम साम्यवाद, (२) ऐतिहासिक समाज (वर्तमान और औद्योगिक), और (३) उन्नतर साम्यवाद। तीसरी अवस्थामें आदिम युगके साम्यवादका ऐतिहासिक युगकी सफलताओ और उसके यान्त्रिक विज्ञानके साथ समन्वय हो जाता है। प्रथम अवस्थासे दूसरी अवस्था तक प्रगति बहुत ही धीमी और क्रमिक होती है। पर दूसरी अवस्थासे तीसरी अवस्थामें परिवर्तन बरबस, बहुत तेज और आकस्मिक होता है।

इतिहासकी व्याख्याके रूपमें मार्क्सवाद निश्चित रूपसे पडिताऊ और वैज्ञानिक है। मार्क्स के सिद्धान्तकी पहली और तीसरी अवस्थाओका हमारे ऐतिहासिक ज्ञानमें कोई आधार नही मिलता। पहली अवस्था तो एक शकाओसे भरा हुआ अनुमान-मात्र है और तीसरी अवस्था आशाका स्वप्न है। दूसरी अवस्थाके लक्षण सम्भवत. पहली अवस्थामें वर्तमान थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पारिवारिक जीवन प्रारम्भिक युगमें बहुत दूर बहुत पहले तक दिखायी देते है। कुछ लेखकोंके अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मानवतासे भी पूर्व-कालीन है। पर साम्यवादका सौभाग्य है कि वह मार्क्स के द्वन्द्ववादके आधार पर ही उठने या गिरने वाला नही हैं। साम्यवादी निस्सन्देह विकासके सिद्धान्त पर विश्वास करता है पर उसके विकासकी पूरी-पूरी सिद्धि साम्यवादमें ही होती है।

हीगेल के द्वन्द्ववाद और फ्योरवाश (Fuerbach) के प्रभावसे प्रारम्भ करके मार्क्स ने इतिहासकी आर्थिक व्याख्या, वेतनके लौह-नियम, अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त (Theory of surplus value) और वर्ग-युद्धके सिद्धान्तका विकास किया। इसमें लेनिन ने साम्राज्यवादको पूजीवादकी अन्तिम अवस्था बताने वाला सिद्धान्त तथा सर्वहारा वर्गकी तानाशाहीका सिद्धान्त और जोड़ दिया।

१. इतिहासकी आर्थिक व्याख्या (The Economic interpretation of History)

मार्क्स इस सिद्धान्तके पोषक थे कि नीति-आचार, धर्म अथवा राष्ट्रीयता जैसी अन्य किसी भी शक्तिकी अपेक्षा आर्थिक शक्तिया मानव-व्यवहार पर बहुत अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार उनका कहना था कि अमेरिकामें दास-प्रथाका विनाश किसी मानवतावादी कारणसे न हो कर आर्थिक कारणोंसे हुआ था। अमेरिकाके उत्तरी राज्योने यह अनुभव किया कि गुलाम मजदूर स्वतत्र मजदूरोकी अपेक्षा कम लाभदायक और कम कुशल होते है। इसलिए उन्होने युद्ध करके दासोको मुक्त किया। समाज जिन चार अवस्थाओसे गुजरता है वह है—दासोका समाज, सामन्तशाही समाज, पूजीवादी समाज और साम्यवादी समाज।

धर्म, नीति-आचार, सस्कृति और शिक्षा मनुष्यके जीवनको मोड देने वाले तत्त्व होनेके बजाय स्वय आर्थिक व्यवस्थाकी सृष्टि है। मार्क्स ने धर्मका दृढ विरोध किया, क्योंकि उनकी सम्मतिमें धर्म जनताको नीदमें सुला देने वाला अफीमका सा नशा है। मजदूर-वर्गको अपने भाग्यसे सन्तुष्ट बनाये रखनेके लिए पूजीपतियो द्वारा उपयोगमें लाया जाने वाला यह एक साधन है। उनका विश्वास था कि नीति-आचारके सम्बन्धमें भी यही बात सत्य है।

वर्तमान समयके लिए तो, किसी न किसी प्रकार रूस ने विश्व-क्रान्तिका विचार त्याग दिया है। वह अपने आपको पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा सत्रस्त या सताया हुआ—घिरा हुआ मानता है और इसलिए वडी तेजीसे उसमें एक राष्ट्रीय और सैनिक भावनाका विकास हो रहा है।

सोवियट रूस ने चाहे जितने लाभजनक कार्य किये हो, हम इस तथ्यकी ओरसे आख नही मूद सकते कि वह सब निर्दयता और कष्टोके परिणाम है। आज भी वहा विरोध सहन नही किया जाता। अनेक अवसरो पर वास्तविक स्थिति आदर्शमे वहुत नीचे रही है। अन्य देशोमें रूसी प्रयोगके सहानुभूतिपूर्ण विद्यार्थी यह कहते है कि साम्यवाद शान्तिपूर्ण उपायोसे भी स्थापित किया जा सकता है। पर यह तो एक कोरा सपना मालूम होता है।

२ साम्यवादकी विचारधारा (The Ideology of Communism)

साम्यवादको वीसवी सदीमें पूजीवादकी उन जन्मजात वुराइयोका उत्तर बताया जाता है जो हालके वर्षोमें अधिकाधिक रूपमे स्पष्ट होती गयी हैं। साम्यवाद पूजीवादका प्रतिकार है। पूजीवादके प्रधान लक्षण है उत्पादनके साधनो पर व्यक्तिगत स्वामित्व, व्यक्तिगत उद्योग और व्यक्तिगत मुनाफा। पूजीवादमें वस्तुओका उत्पादन उपयोगके लिए न होकर मुनाफेके लिए होता है। जैसा श्री फॉक्स (Fox) ने कहा है 'सामाजिक उत्पादनको व्यक्तिगत पूजीपनि हडप लेता है।' यद्यपि उत्पादन एक सामाजिक कार्य है फिर भी विनिमय और स्वामित्व व्यक्तिगत ही बना रहता है। हमारे युगकी विभीषिका यह है कि समृद्धिके होते हुए भी अभाव और दरिद्रता है। आवश्यकतासे अधिक उत्पादन होता है और आवश्यकता से कम उपयोग।

श्री जूलियस हेकर (Julius Hecker) के कथनानुसार आधुनिक पूजीवाद ससारकी इन तीनो महान् आवश्यकताओको पूरा करनेमें असमर्थ है आर्थिक सुरक्षा, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा और आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) की स्वाधीनता। उनका दावा है कि साम्यवादमें उन तीनो आवश्यकताओंके पूरा करनेकी सामर्थ्य है।

आधुनिक साम्यवादको कार्ल मार्क्स से उतनी ही प्रेरणा मिली है जितनी कि समाजवाद को। उनकी पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Kapital) और ऐंजेल के सहयोगसे लिखा गया कम्युनिस्ट मेनाफेस्टो (The Communist Manifesto 1848), दोनो साम्यवादके लिए वाइविल है। मार्क्स और एंजेल्स के उपदेशोका आगे चल कर लेनिन ने और अधिक गम्भीर और व्यापक विवेचन किया। रूसी साम्यवादके उस अधिष्ठाताने उन उपदेशोको आधुनिक साम्राज्यवाद द्वारा की गयी परिस्थितियोंके अनुकूल वनाया। इस प्रकार मार्क्स, एंजल्स और लेनिन साम्यवादके त्रिदेव है। मार्क्सके उपदेशोमें पहली वार समाजवाद और साम्यवादने अपनी काल्पनिक स्वर्गवाली वृत्तिको छोड कर एक वैज्ञानिक और यथार्थ रूप ग्रहण किया।

मार्क्सवादका प्रस्थान-बिन्दु है हीगेल का द्वन्द्ववाद, जिसके अनुसार (१) समस्त ससारी सघटनाए द्वन्द्वात्मक होती है, (२) वास्तविकता एक सघटनात्मक प्रक्रिया है, (३) वास्तविकता विचार है। साधारण भाषामे राज्यके लिए द्वन्द्ववादका अर्थ यह है कि मानवीय विकास विरोधोके माध्यमसे होता है। यह प्रक्रियावाद, प्रतिवाद और

सश्लेषणके रूपमें होता है। यह विरोधी तत्त्वोकी एक एकता है। इतिहास एक सरल और सम्बद्ध विकास नही है। मानव-विकास एक कमानीदार जीनेके चढावकी तरह होता है। इनमें विभेद, अभाव और प्रतिवाद सम्मिलित है। मार्क्स के अनुसार समाज जिन तीन स्थितियोंसे होकर गुजरता है वह है, (१) आदिम साम्यवाद, (२) ऐतिहासिक समाज (वर्तमान और औद्योगिक), और (३) उच्चतर साम्यवाद। तीसरी अवस्थामें आदिम युगके साम्यवादका ऐतिहासिक युगकी सफलताओ और उसके यान्त्रिक विज्ञानके साथ समन्वय हो जाता है। प्रथम अवस्थासे दूसरी अवस्था तक प्रगति बहुत ही धीमी और क्रमिक होती है। पर दूसरी अवस्थासे तीसरी अवस्थामें परिवर्तन बरबस, बहुत तेज और आकस्मिक होता है।

इतिहासकी व्याख्याके रूपमें मार्क्सवाद निश्चित रूपसे पडिताऊ और वैज्ञानिक है। मार्क्स के सिद्धान्तकी पहली और तीसरी अवस्थाओका हमारे ऐतिहासिक ज्ञानमें कोई आधार नही मिलता। पहली अवस्था तो एक शकाओसे भरा हुआ अनुमान-मात्र है और तीसरी अवस्था आशाका स्वप्न है। दूसरी अवस्थाके लक्षण सम्भवत पहली अवस्थामें वर्तमान थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति और पारिवारिक जीवन प्रारम्भिक युगमें बहुत दूर बहुत पहले तक दिखायी देते है। कुछ लेखकोंके अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मानवतासे भी पूर्व-कालीन है। पर साम्यवादका सौभाग्य है कि वह मार्क्स के द्वन्द्ववादके आधार पर ही उठने या गिरने वाला नही है। साम्यवादी निस्सन्देह विकासके सिद्धान्त पर विश्वास करता है पर उसके विकासकी पूरी-पूरी सिद्धि साम्यवादमें ही होती है।

हीगेल के द्वन्द्ववाद और फ्योरबाश (Fuerbach) के प्रभावसे प्रारम्भ करके मार्क्स ने इतिहासकी आर्थिक व्याख्या, वेतनके लौह-नियम, अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त (Theory of surplus value) और वर्ग-युद्धके सिद्धान्तका विकास किया। इसमें लेनिन ने साम्राज्यवादको पूजीवादकी अन्तिम अवस्था बताने वाला सिद्धान्त तथा सर्वहारा वर्गकी तानाशाहीका सिद्धान्त और जोड दिया।

१. इतिहासकी आर्थिक व्याख्या (The Economic interpretation of History)

मार्क्स इस सिद्धान्तके पोषक थे कि नीति-आचार, धर्म अथवा राष्ट्रीयता जैसी अन्य किसी भी शक्तिकी अपेक्षा आर्थिक शक्तिया मानव-व्यवहार पर बहुत अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है। इस प्रकार उनका कहना था कि अमेरिकामें दास-प्रथाका विनाश किसी मानवतावादी कारणसे न हो कर आर्थिक कारणोंसे हुआ था। अमेरिकाके उत्तरी राज्योंने यह अनुभव किया कि गुलाम मजदूर स्वतत्र मजदूरोकी अपेक्षा कम लाभदायक और कम कुशल होते है। इसलिए उन्होने युद्ध करके दासोको मुक्त किया। समाज जिन चार अवस्थाओंसे गुजरता है वह है—दासोका समाज, सामन्तशाही समाज, पूजीवादी समाज और साम्यवादी समाज।

धर्म, नीति-आचार, सस्कृति और शिक्षा मनुष्यके जीवनको मोड़ देने वाले तत्त्व होनेके बजाय स्वय आर्थिक व्यवस्थाकी सृष्टि है। मार्क्स ने धर्मका दृढ विरोध किया, क्योंकि उनकी सम्मतिमें धर्म जनताको नीदमें सुला देने वाला अफीमका सा नशा है। मजदूर-वर्गको अपने भाग्यसे सन्तुष्ट बनाये रखनेके लिए पूजीपतियो द्वारा उपयोगमें लाया जाने वाला यह एक साधन है। उनका विश्वास था कि नीति-आचारके सम्बन्धमें भी यही बात सत्य है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मार्क्स और उनके अनुयायियोका ऐतिहासिक भौतिकवाद एक बहुत बडी अत्युक्ति है। 'पूंजीवादी युगके आधार पर उतावलेपनमें निर्धारित यह एक सामान्य सिद्धान्त है।' यह कथन सत्य नही है कि आर्थिक शक्तियां ही मनुष्यके समूचे जीवनको निर्धारित करती हैं। जब एक बार मनुष्यकी मौलिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती है तो विशुद्ध आर्थिक आवश्यकता आप ही आप समाप्त हो जाती है। जापान, इटली और जर्मनीकी घटनाओने दृढता-पूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि उन्मत्त देश-प्रेम के नाम पर लोग किस हद तक जा सकते है, 'मक्खनके स्थान पर बन्दूकों' को श्रेष्ठ मान सकते है और अपने आर्थिक स्वार्थोका बलिदान कर सकते है।

२ अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (The Theory of Surplus Value)

इस सिद्धान्तके अनुसार समस्त मूल्यो-महत्त्वोका सर्जन श्रमिक करता है पर उसे बदलेमें मज़दूरी केवल जीवन यापन भरके लिए मिलती है। कच्चे माल की खरीद और मज़दूरको जीवित रखने भरकी मज़दूरी देनेके बाद जो कुछ बच रहता है वह सब मुनाफेके रूपमें पूंजीपतिकी जेबमे जाता है। इस प्रकार पूंजीपति, चाहे वह एक व्यक्तिगत स्वामित्व हो और चाहे कोई कार्पोरेशन, श्रमिक वर्गका शोषण करने वाला होता है। यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि मार्क्स मालिको द्वारा किये जाने वाले अतिरिक्त व्यय और उन तमाम राज-करोकी कोई बात-व्यवस्था नही करते जो मालिक लोग राज्यको देते हैं और जिन का एक अच्छा-खासा भाग समाजके हितके लिए की जाने वाली सामाजिक सेवाओमे खर्च होता है।

पूंजीपतियो द्वारा होने वाले शोषणका प्रतिकार मार्क्स ने यह बताया है कि उत्पादन, वितरण और विनिमयके समस्त साधनोका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। भूमि, कारखाने, मशीनें यातायातके साधन आदि सबका स्वामित्व और नियन्त्रण सरकारके हाथमें होना चाहिए।

३ वर्ग-युद्धका सिद्धान्त (The doctrine of class war)

मार्क्स ने मानव-जीवनका चित्रण पूंजीपतियो और श्रमिकोंके बीच होने वाले लगातार संघर्षके रूपमें किया है, अर्थात् यह संघर्ष दूसरोकी मेहनतका फल भोगने वाले वर्ग और सर्वहारा वर्गके बीच चलता है। जब तक वर्तमान वेतन-व्यवस्था कायम रहेगी, जिसका आधार है कमसे कम वेतन और अधिकमे अधिक लाभ, तब तक पर-श्रम भोगी वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्गका शोषण अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी व्यवस्थाके सक्रिय रहनेके लिए एक ओर सम्पत्ति-हीन श्रमिकोकी सख्यामें वृद्धि और दूसरी ओर क्रमश कमसे कम लोगोंके हाथोमें सम्पत्तिका केन्द्रीभूत होना आवश्यक है। मार्क्स का कहना है कि यह दोहरी पद्धति ही पूंजीपतियोके लिए निश्चित मुनाफे को सुरक्षित रख सकती है। आखिरकार इस प्रवृत्तिका परिणाम होता है पूंजी पर एकाधिकार और निरन्तर बढती हुई दुखदायी मन्दी क्योकि जनताकी क्रय-शक्ति बहुत कम हो जाती है। तेज़ी और मन्दी एकके बाद दूसरी बराबर आती है, तेजीकी अवधि निरन्तर घटती जाती है और अन्तत यह व्यवस्था चकनाचूर हो जाती है और पर-श्रम-भोगियोकी शासन-व्यवस्थाके स्थान पर सर्वहारा वर्गकी तानाशाहीके लिए रास्ता साफ हो जाता है।

पूंजीवादी व्यवस्थाका विनाश ऊपर बतायी गयी पद्धतिके अनुसार प्राकृतिक शक्तियो

के भरोसे छोडनेके वजाय मार्क्स और उनके अनुयायी दूसरोकी मेहनतका फल भोगने वाले मध्यवर्गका पूर्ण विनाश करके वर्ग-विहीन समाजकी स्थापना करनेके पक्षपाती है। वर्ग-विहीन होने पर भी आदर्श समाजमें ऐसे विभेद तो रहेंगे ही जैसे कुशल और भोदू मजदूरका विभेद और सरकारी अधिकारी तथा आज्ञापालन करने वाली प्रजाके वीचका विभेद। पर जन्म, सम्पत्ति और स्थिति या प्रतिष्ठाके आधार पर होने वाले विभेदोके लिए कोई स्थान नही रहेगा। किसीको भी इस वातकी अनुमति नही होगी कि वह दूसरेका शोपण करे या निष्क्रिय होकर वैठे। धीरे-धीरे राज्य भी स्वय ही 'विलीन' हो जायगा, क्योकि राज्यका जो सगठन है वह 'एक वर्गका दूसरे वर्ग पर आधिपत्य वनाये रखनेका साधन-मात्र' है (लेनिन)। एक वर्गहीन और राज्यहीन समाजका आदर्श सिद्ध होनेसे पहले एक अवधि सक्रान्तिकालकी होगी जिसमें सर्वहारा वर्गकी तानाशाही सर्वोपरि होगी।

इस सवके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि मार्क्सकी सभी भविष्यवाणिया सत्य नही सिद्ध हुई। अनेक देशामें धनी लोगोके अधिकाधिक धनी होते जाने पर भी ग़रीव लोग अधिकाधिक गरीव नही होते गये। इसके विपरीत धीरे-धीरे उनकी गरीवी कम होती जा रही है। अमेरिकामें साम्यवादके पनप न सकनेका एक प्रधान कारण यह है कि वहाके श्रमिक वर्गकी हालत अपेक्षाकृत रूपमे अधिक समृद्ध है।

दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जा सकता है कि अमेरिकाके मजदूरोकी आपेक्षिक समृद्धि वहाके मजदूर-सघ आन्दोलनकी शक्तिके कारण है और समूचे देशकी समृद्धि इसलिए है कि अमेरिका ने ससारकी आर्थिक सम्पत्तिको वटोर रखा है। यदि इस दूसरी धारणाको सिद्ध किया जा सके तो एक जातिके व्यक्तियोकी अपेक्षा जातियोके सम्वन्धमें मार्क्स का जो सिद्धान्त है वह लागू हो सकता है जिसका अप्रिय निष्कर्ष यह होगा कि अमेरिका जितना ही अधिक धनी होता जायगा, शेष ससार उतना ही अधिक कगाल होता जायगा और इस प्रकार विश्वव्यापी साम्यवादका रास्ता साफ़ होता जायगा।

मार्क्स ने सर्वहारा वर्गकी तानाशाहीको अस्थायी स्वरूपका वताया था, पर यहा भी उनकी भविष्यवाणी सत्य नहीं सिद्ध हो सकी। रूसमें सोवियटवादकी स्थापनाको लगभग ३५ वर्ष वीत चुके जवसे वोल्शेविक दलको तानाशाही अधिकार प्राप्त हैं। और फिर भी अभी तक उस दल या उसकी तानाशाहीके कमजोर पडनेके कोई लक्षण नही दिखायी देते, ऐसा मालूम देता है कि जिस व्यवस्थाको इस दलने जन्म दिया है उसे सुचारु रूपसे सक्रिय वनाये रखनेके लिए उसका निरन्तर अस्तित्व आवश्यक है। समस्त वर्ग-विभेदोको मिटा देनेके वजाय वोल्शेविकने नए विभेद उत्पन्न कर दिये हैं। वोल्शेविक दलके सदस्यो और सरकारी अधिकारियोको सव कही विशेष सुविधाए दी जाती है।

लेनिनवाद (Leninism) ऐतिहासिक और सामाजिक तत्त्वोके विश्लेपण और व्याख्यामें न तो लेनिन ने और न ट्राट्स्की ने ही हीगेल और मार्क्सवादी द्वन्द्ववादका अनुसरण किया है। उन्होने किया यह है कि साम्राज्यवादको 'पूजीवादकी चरमावस्था' और 'समाजवादी क्रान्तिका श्री गणेश' मानने पर ज़ोर दिया है। लेनिन ने मार्क्सवादको वर्तमान समयके साम्राज्यवादके अनुकूल वनाया। 'लेनिनवाद साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति (Proletarian Revolutions) के युगके अनुकूल वनाया गया मार्क्सवाद ही है।' उसे 'मार्क्सवादसे पृथक् नही किया जा सकता, मार्क्सवादके विरुद्ध तो उसे और भी नही रखा जा सकता।'

लेनिन क्रान्ति, सर्वहारा वर्गकी तानाशाही और एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाजकी सृष्टिके पक्षपाती हैं। इस प्रकार उनका कहना है 'पूजीवादी समाजमें हमें ऐसा प्रजातन्त्र दिखायी देता है जो विकलाग है, निम्न कोटिका है और झूठा है, वह ऐसा प्रजातन्त्र है जो केवल धनिक वर्गके लिए है, एक अल्प समुदायके लिए है।' सर्वहारा वर्गकी तानाशाही जो साम्यवादके सक्रमण कालकी अवधि है पहली बार जन-प्रजातन्त्रकी सृष्टि करेगी, बहुमत के प्रजातन्त्रकी सृष्टि करेगी, और साथ ही साथ शोषक वर्गका जो अल्प समुदाय है आवश्यकतानुसार उसे दबायेगी भी। पूजीवादी व्यवस्थामें राज्य 'एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्गको दबाये जानेका एक विशिष्ट साधन बन जाता है' और सो भी अल्पमत द्वारा बहुमतको दबाये जाने का। 'पूजीवादसे साम्यवादके सक्रमण कालमें दबाव फिर भी आवश्यक है, पर इस अवस्थामें दबाव शोषित बहुमत द्वारा शोषक अल्पमत पर डाला जाता है।'

लेनिनके उपदेशोंके अनुसार निर्दिष्ट आदर्श एक ऐसा समाज है जो न केवल वर्ग-विहीन होगा बल्कि राज्य-विहीन भी होगा। 'केवल साम्यवादमें ही राज्य बिल्कुल अनावश्यक हो जायगा, क्योकि ऐसा कोई नही होगा जिसको दबाना आवश्यक हो —"कोई नही" इस अर्थ में कि कोई एक वर्ग नही रहेगा जिसे दबाया जाय, जनताके एक निश्चित अशके विरुद्ध व्यवस्थित सघर्षकी आवश्यकता नही रहेगी।'

लेनिन का कहना है कि राज्यके पूर्णरूपसे समाप्त हो जानेके लिए परिपूर्ण साम्यवाद आवश्यक है। जब तक राज्यका अस्तित्व है तब तक किसी प्रकारकी स्वाधीनता नही हो सकती है। जब स्वाधीनता होगी तब राज्य नही रहेगा। जब राज्य इस सूत्रको अनुभव कर लेगा कि 'प्रत्येक व्यक्तिसे उसकी सामर्थ्यके अनुकूल श्रम और प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आवश्यकताके अनुसार वेतन' की व्यवस्था होनी चाहिए तब वह धीरे-धीरे 'विलीन हो जावेगा।'

स्टालिनवाद (Stalinism) एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और कम्युनिस्ट पार्टी के महामन्त्रीके रूपमें स्टालिन ने साम्यवादकी विचारधारामें कोई नया तत्त्व नही जोडा सिवाय इसके कि उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी एक देशमें साम्यवादकी सफल कार्यान्वितिके लिए विश्व-क्रान्ति और विश्व व्यापी साम्यवाद आवश्यक नही है। १९२४ में लेनिन की मृत्युके बादसे स्टालिन रूसके सर्वप्रधान व्यक्ति रहे है। उनके प्रतिस्पर्धी ट्राट्स्की, जो विश्व-क्रान्ति पर दृढ विश्वास रखने वाले थे, १९२९ में रूससे निकाल दिये गये और १९४० में एक हत्यारेके हाथो उनका जीवन समाप्त हो गया।

द्वितीय विश्व युद्धमें स्टालिन की नीति स्पष्टत अवसरवादी थी। काफी लम्बे समय तक उन्हें हिटलर से सन्धि करनेमें हिचकिचाहट रही और जब एक बार हिटलर ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया तो स्टालिन ने तुरन्त पडोसी प्रदेशा पर हमला करके उन्हें रूसके नियन्त्रण में ले लिया और इस प्रकार अपने देशकी नौसेना शक्ति मजबूत बनायी, पश्चिममें अपने देशकी सीमाको स्वाभाविक बनाया और समुद्र तक देशकी पहुच सुलभ कर दी, इसके बाद स्टालिन ने जर्मनीके विरुद्ध बडी चतुराईसे एक योजनाके अनुसार ऐसा युद्ध किया जिससे जर्मनीकी शक्ति क्षीण होती गई और उसकी पूर्ण पराजय हो गयी।

कुछ वर्ष पूर्व ट्राट्स्की ने स्टालिन के सम्बन्धमें जो कुछ लिखा था वह यद्यपि अत्युक्तिपूर्ण है फिर भी उससे उस व्यक्ति और आजकी उसकी नीतिको समझनेमें बडी सहायता मिलती है 'स्टालिन क्या है? इसका सबसे छोटा उत्तर यह है कि स्टालिन हमारे दल

का सबसे अधिक प्रसिद्ध साधारण मनुष्य है। वह एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ है जिसके पास कोई रचनात्मक कल्पना-शक्ति नहीं है। अपने दलके बाहर उसने कोई राजनीतिक अनुभव नही प्राप्त किया क्योकि व्यापक क्षेत्रोमें वह बिल्कुल ही अज्ञात है। सभी व्यावहारिक राजनीतिज्ञोकी भाति स्टालिन भी विरोधोसे परिपूर्ण है। वह प्रेरणा के बल पर, बिना किसी कल्पना-शक्ति के, काम करता है। उसकी नीति टेढी-मेढी है। जिस चीजको उसने कल काली बताया था उसे आज सफेद कहनेमें उसको कोई झिझक नहीं होती। स्टालिन के आत्मविरोधोकी एक आश्चर्यजनक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। जिसे लेनिन अपना टेस्टामेंट कहते थे। उसमें उन्होंने स्टालिन की दो विशेषताओ पर नीची नजर डाली है उसकी अशिष्टता और उसका अन्याय। यह एक ऐसा रसोइया है जो केवल कडवी चीजें ही तैयार करता है।' लेनिन ने १९२१ में ही कम्युनिस्ट पार्टीको यह चेतावनी दी थी।

ट्राट्स्की ने जो कुछ भी कहा हैं उसके बावजूद इतिहासमें स्टालिन का नाम रूसी क्रान्तिके सम्बन्धमें लेनिन के बाद शायद दूसरा ही होगा। आधुनिक साम्यवादकी वह कुजी है और नाजी जर्मनीके विरुद्ध युद्ध-सचालन में वह 'तीन बडो' में से एक थे।

समाजवाद और साम्यवादकी विचारधाराएं (The Ideologies of Socialism and Communism). समाजवाद और साम्यवादको किसी प्रकार भी एक ही जैसी धारणा नही कहा जा सकता। मार्क्स समाजवादको साम्यवादी समाजकी निचली या पहली सीढी बताते हैं। समाजवाद साम्यवादकी मंजिलके आधे रास्ते पर है। समाजवाद और साम्यवादके बीच प्रधान अन्तर निम्नलिखित है (क) जहा समाजवादके अनुसार उत्पादक वस्तुओ पर ही समाजका स्वामित्व होना है वहां साम्यवादके अनुसार इनके अतिरिक्त सभी प्रकारकी उपभोग्य वस्तुओ पर भी समाजका स्वामित्व होना चाहिए; (ख) समाजवादी व्यवस्था में वेतन, की गयी सेवा अथवा समाजके लिए उपयोगी श्रम जो किया जाय उसके अनुकूल दिया जाता है, पर साम्यवादी व्यवस्था में वेतन व्यक्तिगत आवश्यकताके अनुसार दिया जाना चाहिए क्योकि साम्यवादका आदर्श सूत्र है 'प्रत्येकसे उसकी सामर्थ्यके अनुकूल कार्य और प्रत्येकको उसकी आवश्यकताके अनुसार वेतन', (ग) समाजवाद अपने उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए विकासवादी या वैधानिक उपायोका समर्थन करता है। इसके विपरीत साम्यवादका विश्वास क्रान्ति पर है। उसका उपदेश है कि क्रान्ति विकासका ही एक अग है और उसकी तुलना निम्न जीव-जगत्के आकस्मिक विकाससे की जा सकती है, (च) जहा समाजवादका उद्देश्य राज्यको सुरक्षित रखना और सामाजिक आवश्यकताओकी पूर्तिमें उसका प्रयोग करना है वहा साम्यवादका विश्वास धीरे-धीरे राज्यके 'विलीन हो जाने' पर है, (छ) कमसे कम सिद्धान्त-रूप में साम्यवाद इस बात पर विश्वास करता है कि किसी भी देशमे साम्यवादके सफल प्रयोग के लिए विश्व-क्रान्ति और विश्वव्यापी समाजवाद आवश्यक है। पर समाजवाद अधिकाश रूपमें एक राष्ट्रीय योजना से ही सन्तुष्ट रहता है।

इटली का सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism in Italy)

इटली और जर्मनीके सर्वाधिकारवादके बीज हमें सीधे वारसाईकी सन्धिमें और उसके बादकी घटनाओमें ठीक उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार प्रथम विश्व-युद्धके बाद योरोपमें फैलने वाली साम्यवादकी लहरें।

महायुद्धके बाद कमसे कम कुछ समयके लिए उदार प्रजातन्त्रकी उन्नति दिखायी दी। विजयी और पराजित दोनो ही युद्धसे पूरी तरह थक गये थे, शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और प्रजातन्त्रके लिए एक वास्तविक उत्साह था पर ससारका भविष्य बनानेके लिए जो राजनीतिज्ञ वारसाईमें इकट्ठे हुए वह समस्याके अनुकूल ऊपर न उठ सके। 'राज्योंके आत्मनिर्णय' के रूपमें सर्वप्रभत्व-सम्पन्न जातीय राज्यका पिटापिटाया सिद्धान्त ही भविष्यकी व्यवस्था का आधार बनाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कई एक ऐसे छोटे-छोटे राज्य बन गये जो अपने पैरो पर टिक भी नही सकते थे। निष्कपट होकर एक योरोपीय सघ बनानेके बजाय राष्ट्र-सघकी स्थापना की गयी जिसका उपयोग बडी शक्तियोंने अपने स्वार्थोंकी सिद्धिके लिए किया। नियोगीय प्रणाली (Mandatory system) के बहाने विजेताओंने अपने उपनिवेश बढा लिए।[1] पराजित राज्यो पर युद्धकी क्षति-पूर्ति के रूपमें लम्बी-लम्बी रकमें लादी गयी। जर्मनीसे कहा गया कि युद्धके लिए अकेला वही उत्तरदायी है, 'युद्धके दायित्व सम्बन्धी उपधारा बादमें बहुत वर्षो तक जर्मनीके लिए एक काटा बनी रही।' कमसे कम युद्धके बादके प्रारम्भिक वर्षोंमें युद्धके बादकी आर्थिक समस्याओंको सुलझानेका कोई प्रयत्न नही किया गया यद्यपि ऑस्ट्रिया को लीग द्वारा कर्ज दिया गया और जर्मनीको डॉस-ऋण (Dawes Loan) दिया गया। राज-नीति और अर्थ-नीति को एक दूसरेसे बिल्कुल अलग रखा गया और ससारका आर्थिक नियत्रण जीते हुए राष्ट्रोंके हाथोमें रहा। सामूहिक सुरक्षाकी शर्त भी रखी गयी पर वह कागज पर ही बनी रही, व्यवहारमें उसका स्थान, क्रॉसमैनके शब्दोमें, 'सामूहिक शान्तिवाद' (Collective Pacifism) ने ले लिया। 'ऐसा लगता है कि विजयने ब्रिटेन और फ्रासकी गतिशीलता छीन ली थी, इन देशोंके रूढिवादी उत्कट साम्राज्यवादी न रह गये और इनके समाजवादियोने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति खो दी' (क्रॉसमैन, २५६)। अब भी उनके पास काफी सैनिक शक्ति थी, पर जब तक तत्कालीन मौजूदा हालत बर्दाश्त हो सकती थी तब तक वह उस शक्तिका उपयोग करनेसे हिचकते रहे। अनुज्ञप्तियो (Sanctions) का जाल रचा गया, पर उनका प्रयोग कभी नही किया गया। केवल एक बार (अबीसीनियाके युद्धके समय) जब उसका प्रयोग किया भी गया था तो जिन शक्तियोंने उसका प्रयोग किया उन्हीने उसको चुपचाप खत्म भी कर दिया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि प्रजातन्त्रका नैतिक बल समाप्त हो गया। दूसरी ओर, विशेषकर युद्धके बाद तात्का-लिक वर्षोंमें, साम्यवादका हौवा था जो विश्व-क्रान्तिकी धमकीसे भयभीत कर रहा था। युद्धके बाद योरोपीय परिस्थितियोंकी इस भूमिकामें हमें इटलीमें फासीवाद और जर्मनीमें नाज़ीवादके उदयको समझना है और उसकी व्याख्या करना है।

१　इटली में फासीवादका उदय (The Emergence of Fascism in Italy)

फ्रासिज़्म शब्दकी उत्पत्ति 'फासिओ' शब्दसे हुई है जिसका अर्थ है डडोका एक बडल जो अनुशासन, एकता और शक्तिका प्रतीक है। महायुद्धके दौरानमें इसका अर्थ था वह

---

[1] क्रॉसमैन (Crossman) के शब्दोमें 'जातीय राज्योकी पुरानी व्यवस्था क़ायम की गयी, औपनिवेशिक स्वराज्य बढा लिये गये, आर्थिक साम्राज्यवादको प्रोत्साहन दिया गया और मध्य योरोपके टुकडे कर दिये गये।'—(गवर्नमेंट एड दि गवर्न्ड, पृष्ठ २५३)।

सव लोग जो 'इटलीके कल्याणके लिए' एकमें बधकर जीवन-मरणके लिए तैयार हो। प्रथम 'फासिओ' मिलान शहरमें १६१५ ही में मुसोलिनी के नेतृत्वमें सगठित हुआ था और फिर १९१६ में एक 'लडाकू दल' के रूपमें साम्यवादसे मोर्चा लेनेके लिए उसका फिरसे सगठन हुआ था। १६१६ के ससदीय चुनावमें फासीवादियोको एक भी सीट नही मिल सकी। स्वय मुसोलिनीकी ही मिलानमें गहरी हार हुई थी और उसे 'दफनाये जाने की प्रतीक्षा करती हुई लाश' बताया गया था। पर वह लाश जीवित थी, जीवित रही, और तीन ही वर्षोंके भीतर फासीवाद देशकी राजकीय अधिकार-सत्ता बन गया।

फासीवादके उल्काकी भाति तेजीसे सत्तारूढ होनेमें घटनाओकी एक शृखलाने योग दिया। इनमें से एक घटना थी युद्धके बाद इटलीकी उदारवादी सरकारोका दुर्बल होना। इनके ऊपर यह आरोप लगाया गया कि पेरिसके शान्ति-सम्मेलन में इन्होने इटली के हितोकी पूरी रक्षा नही की। युद्धके विजेताओमें से एक होते हुए भी इटलीको कोई मूल्यवान् प्रादेशिक लाभ नही हुआ—उसे कोई अच्छे प्रदेश नही मिले। स्मरना (Smyrna) अथवा कोई नियोगीय प्रदेश न मिलनेके कारण इटलीको बहुत अधिक दुःख और क्षोभ रहा है। आगमें घीका काम आग्ल-सैक्सनी देशोके बढते हुए कर्जने किया। लगातार हडतालोकी एक शृखला सी शुरू हो गयी जिसने देशके सामाजिक जीवनको बुरी तरहसे छिन्न भिन्न कर दिया। समाजवादी एक क्रान्तिकी योजना बना रहे थे। ससदीय प्रथा में बाधा डालने वाले आजादीसे काम कर रहे थे। तत्कालीन सरकार यह सब होते हुए भी कुछ न कर सकी, इनके विरुद्ध चोट करनेमें वह डरती रही। ऐसे ही समय मुसोलिनी 'एक सयुक्त इटलीका पोषक और व्यवस्था, अनुशासन और शक्तिशाली सरकार का समर्थक बन कर' रग-मच पर अवतरित हुआ। प्रथम विश्व-युद्धके दौरानमें ही उसने अपने प्रारभिक क्रान्तिकारी उत्साह और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद पर अपने विश्वासको खो दिया था और दो वर्ष तक एक सिपाहीकी तरह युद्धमें लडा था। अब उसके हृदयमें एक चोट खाये हुए देश-प्रेमकी आग जल रही थी और इटलीको उसने प्रथम श्रेणीका राष्ट्र बनानेका सकल्प कर लिया था। उसका दावा था कि उदारवादी प्रजातत्र एक ऐशकी चीज है जिसे इगलैंड, फास और अमेरिका जैसे धनी देश ही बर्दाश्त कर सकते है, इटली जैसा गरीब देश नही। उसका कहना था कि इटलीको नेतृत्व और अनुशासनकी आवश्यकता है। इटलीमें प्रजातत्रकी असफलता और शान्ति-सम्मेलनमें तथा उसके बाद इटलीके विरुद्ध पश्चिमी प्रजातत्रवादी राज्योकी सफलताने इटलीकी जनताकी दृष्टिमें प्रजातत्र को एक अभिशाप बना दिया। प्रजातत्र पर अविश्वासके साथ-साथ राष्ट्र सघ पर भी गहरा अविश्वास उत्पन्न हो गया और इटलीकी जनताने आग्ल-फ्रासीसी प्रभुत्वको समाप्त करनेका दृढ सकल्प कर लिया। इस समस्त व्यापक और उबलते हुए असतोषने मुसोलिनी में एक मूर्त रूप धारण किया।

अपने जीवनके प्रारम्भिक कालमें मुसोलिनी पर सोरेल (Sorel) के शिल्पसघवादी विचारोका गहरा प्रभाव पडा था। इस प्रभावके कारण ही आम हडताल और वर्ग-युद्ध पर उसे पक्का विश्वास हो गया था। पर युद्धोत्तर इटलीकी परिस्थितियोने उसे सोरेलकी इस विचारधाराको छोडनेके लिए विवश किया, यद्यपि सामान्य शिल्पसघवादी मान्यताओ पर से, विशेषकर प्रत्यक्ष कार्यवाहीके सूत्रसे, उनका विश्वास नही हटा। पहली अगस्त १९२२ को एक आम हडतालकी घोषणा की गयी। फासीवादियोंके लिए वह घोषणा एक वरदान

बन गयी। मौलिक सेवाओंका कार्य फासीवादियोंने स्वयं अपने ऊपर ले लिया और इस प्रकार २४ घंटेके भीतर ही हड़ताल समाप्त हो गयी। अपने इस कार्यसे फासीवादियोंको जनताके एक बहुत बड़े अंशकी कृतज्ञता और उनका विश्वास प्राप्त हो गया।

तत्कालीन इटलीकी सरकार जनताकी दृष्टिमें और भी नीची गिरती गयी और २८ अक्टूबर, सन् १९२२ को मुसोलिनी ने अपने अनुयायियोंके साथ रोम पर धावा करके सार्वजनिक कार्यालयों, रेलों, डाक और तारघरों आदि पर कब्जा कर लिया। सब ले-दे कर यह घटना शान्तिपूर्ण ही रही। सरकार इस्तीफा देनेके अतिरिक्त और कुछ न कर सकी। एक दिन बाद इटली के राजाने मुसोलिनी को मन्त्रिमंडल बनानेके लिए आमन्त्रित किया और यह काम उसने बड़ी प्रसन्नतासे ३१ अक्टूबर, सन् १९२२, को पूरा किया। उसके बाद मुसोलिनी २४ जुलाई, १९४३, तक इटलीका एकछत्र शासक रहा और उस दिन उसका पतन हो गया।

आन्दोलनके प्रारम्भिक दिनोंमें जब मुसोलिनी राज्य-सत्ताकी ओर अपने कदम बढ़ा रहा था तब उसके पास कोई निश्चित कार्य-क्रम नहीं था और उसे कई बार अपनी स्थिति बदलनी पड़ी थी। उसकी घोषणा थी कि इटलीको 'कार्य-क्रम नहीं, कार्य' चाहिए। उसके प्रारम्भिक मन्त्रिमंडलोंमें विभिन्न दलोंके लोग थे। १९२६ के बाद ही इटलीकी सरकार पूरी तरहसे फासीवादी और तानाशाही बन सकी। १९२६ के नवम्बर महीनेमें फासी-दल को छोड़ कर शेष सभी राजनैतिक दल दबा दिये गये और समाचार-पत्रोंका मुंह बन्द कर दिया गया। कई एक कानून पास करके संसदके प्रति मन्त्रिमण्डलके उत्तरदायित्वको समाप्त कर दिया गया। मुसोलिनी 'सरकारका प्रधान' बन गया और केवल राजाके प्रति उत्तरदायी रहा और उसे ऐसे आदेश देनेका अधिकार हो गया जो कानूनोंके समान शक्ति-पूर्ण थे। मन्त्रिगण अधिनायकके अधीन हो गये, उसके सहयोगी न रह सके। मुसोलिनी को ड्यूचे 'द्वितीय' पुकारा जाने लगा जिसका अर्थ था 'नेता।'

१९२८ में पुराने प्रतिनिधि-भवनको समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर एक 'सुसंगठित संसद' (Corporative Parliament) की स्थापनाकी गयी। इस संसद में ४०० सदस्य थे जो किसी आबादी या प्रदेशका प्रतिनिधित्व न करके आर्थिक हितोंका प्रतिनिधित्व करते थे। इस संसदकी सदस्यताकी व्यवस्था फासी-दलके संगठन द्वारा की जाती थी जिसे फासीवादकी महासमिति कहते थे और जो जातीय राज्यकी भी महासमिति थी। प्रतिनिधि-भवनको उपक्रम-अधिकार (Power of initiative) नहीं दिया गया था। वह केवल प्रधान द्वारा दिये गये सुझावोंको ही पेश कर सकता था पर उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता था। फासी-दलका प्रधान ही फासी सरकारका प्रधान था।

अनुपद (Senate) में राजवंशके राजकुमार और प्रधान मन्त्रीकी सलाहसे राजा द्वारा नियुक्त किये गये तमाम आजीवन सदस्य सम्मिलित थे। निचले सदन द्वारा भेजे गये विधेयकों पर अनुपद विवाद करती थी, उनमें सुधार कर सकती थी और उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर सकती थी। अनुपद द्वारा संशोधित या अस्वीकृत विधेयक निचले सदनमें दुबारा विचार करनेके लिये भेज दिये जाते थे।

२ फासीवादकी विचारधारा (The Ideology of Fascism)

पूरे इक्कीस वर्ष तक इटली पर निरंकुश राज्य करनेके बावजूद भी फासीवादके पीछे

कोई व्यवस्थित और सुविचारित विचारधारा नही रही। फासीवाद प्रथम विश्व-युद्धके समाप्त होने पर इटलीकी तत्कालीन परिस्थितियोकी व्यावहारिक उपज है। फासीवाद जातीय या राष्ट्रीय कार्यकी शिक्षा देता है। शक्ति और सजीवता उसका प्रधान मंत्र है। फासीवाद व्यक्तिवाद, पूजीवाद, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद, उदारवाद और ससदात्मक प्रजातन्त्रका विरोधी है। विशेष रूपसे फासीवाद साम्यवादका विरोधी है जिसका आधार है वर्ग-युद्ध और सर्वहारा वर्गकी तानाशाही। पर साम्यवादका तो अपना एक दर्शन है जो प्रमाणो द्वारा तर्क-पूर्ण ढगसे व्यवस्थित और सिद्ध किया गया है और जिसका विचार-पूर्ण मूल्याकन किया गया है, भले ही जो पद्धति अपनायी गयी उसका आधार एक बौद्धिक उलझन ही हो। इसके विपरीत 'फासीवादका दर्शन अधिकाश रूपमें लक्ष्य-सिद्धिका दर्शन रहा है और किये गये कार्योका औचित्य सिद्ध करनेके लिए अथवा तत्काल सामने आने वाली परिस्थितियोका सामना करनेके लिए प्राप्त विचारधाराओमें से इधर-उधरसे जोडगाठ कर बनाया हुआ सिद्धान्त रहा है।' फासीवाद 'मूलत तर्क-हीन है। प्रेरणा अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा उत्पन्न एक कपोल-कल्पना ही उसमें मिलती है, जिसे सत्य मान लेनेकी इच्छा या उसका विश्वास ही 'सत्य' बना पाता है।

फासीवाद एक शक्तिपूर्ण सक्रिय राज्यका समर्थन करता है। मुसोलिनी ने लिखा है. 'फासीवाद एक धार्मिक धारणा है जिसमें व्यक्तिका एक उच्चतर विधानसे आन्तरिक सम्बन्ध है।' व्यक्ति एक ऐसी बाह्यार्य वृत्तिसे सम्बन्धित रहता है जो व्यक्ति-विशेषसे ऊपर उठी हुई रहती है और उसको एक आध्यात्मिक समाजकी चेतन सदस्यताकी स्थिति तक उठा ले जाती है। 'यह राज्य सम्बन्धी हीगेल के सिद्धान्तका आधुनिक रूप है। यह इतिहास और प्रजातन्त्रवादी व्यक्तिवादकी मार्क्सवादी व्याख्याको अस्वीकार करता है। जातिको सबसे ऊची नैतिक सत्ता माननेवाला सिद्धान्त ही इसका आधार है।'

१९१९ में मुसोलिनी ने लिखा था, '...दूसरोंके विरुद्ध और स्वय अपने विरुद्ध · हमने प्रत्येक ज्ञात सिद्धान्तको नष्ट कर दिया है, हम प्रत्येक मतका तिरस्कार कर चुके है, हमने सभी प्रकारके स्वर्गोको अस्वीकार कर दिया है, सभी प्रकारके ऐसे मायावियोको धता बतायी है—चाहे वे सफेद हो, चाहे काले या लाल—जो मानव-जातिको सुखी बनानेवाली आश्चर्यजनक औषधियोका व्यापार करते है। हमें किसी भी पद्धति, औषधि, सन्त या देवदूत पर विश्वास नही. मुख, मुक्ति अथवा स्वर्ग पर तो हमें और भी कम विश्वास है। हमें व्यक्तिके पास फिर वापस जाना चाहिए। हम उस प्रत्येक बातके समर्थक है जो व्यक्तिको ऊपर उठाती है, उसे महान् बनाती है, उसे अधिक आराम, अधिक स्वाधीनता और व्यापक जीवन देती है। हम उस प्रत्येक बातके विरुद्ध युद्धमें लगे है जो व्यक्ति पर नियन्त्रण लगाती है और उसे हानि पहुचाती है। आजकल दो धर्म—एक काला और एक लाल—हमारे मन और ससार पर आधिपत्य जमानेके लिए लड रहे है, दो देवदूत चारो ओर अपने आज्ञा-पत्र भेज रहे है—एक रोम ने और एक मास्को से। हम इन दोनो ही धर्मोके नास्तिक है (१२ २६८)।'

फासीवाद तर्क और बुद्धि पर अविश्वास करता है; विवाद और समझौतेके द्वारा चलनेवाली सरकार और साम्यवाद जैसे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनोंके प्रति निष्ठाके विरुद्ध उसे कार्य, राष्ट्रीय एकता और दृढता पर विश्वास है। नैतिकवादियो, आडम्बर-पूर्ण कृत्यो और भाषण-कला द्वारा वह लोगोकी भावनाओ पर बहुत प्रभाव डालता है। लोगोकी भावनाओको जाग्रत् करनेके लिए उसने एक कल्पित गाथा गढ ली थी। फासीवादकी

मान्यता यह है कि जनताको राजनीतिसे कोई अभिरुचि नही होती और उसमें स्वय अपना शासन कर सकनेकी क्षमता नही होती। इस विचारधाराके अनुसार एक साधारण व्यक्ति उद्योगोका नियन्त्रण और स्वायत्त-शासन नही चाहता, वल्कि वह तो एक अच्छी आजीविका चाहता है और एक राष्ट्रीय नेता चाहता है जिसका वह आख मूदकर अनुगमन कर सके। यह ध्यान देनेकी वात है कि ससदात्मक प्रजातन्त्रकी नीव इटलीकी परम्परामें कभी भी गहरे नही गई, इटलीके लिए तानाशाही कोई अनोखी आकस्मिक वात नही है।

जिस देशमे राजनैतिक दल और सरकारकी दल-पद्धति (Party System) हमेशा दुवलताका ही कारण रही, ऐसे देशकी राष्ट्रीय विचारधारा पर आधारित होने के कारण फासीवाद प्रत्यक्षत और सकल्प रूपसे एक दलके शासनका समर्थक है। उसमें विरोधके लिए कोई स्थान नही है। रहस्यमय परिस्थितियोमें इटलीके ससदके सदस्य श्री मत्तियोटीकी १९२४ में होनेवाली हत्याकी सफाई आसानीसे नही दी जा सकती, उनका एकमात्र अपराध यही था कि उन्होने स्वतन्त्रता-पूर्वक ससदमें अपने विचार व्यक्त किये थे। इसी प्रकार रहस्यात्मक अवस्थामें काउन्ट वाल्वोका भी जीवन अफ्रीका में समाप्त हो गया। फासीवादी दलको इटलीमें नवीन चेतनाका प्रतीक माना जाता है। जो कोई भी उसका विरोध करता है उसे देशका शत्रु माना जाता है। फासीवादी श्रमिक-सगठनके पक्षमें श्रमिक-सघ (Trade Unions) भी समाप्त कर दिये गये। नाजी जर्मनीकी अपेक्षा फासीवादी इटलीमें मजदूरोंके शिल्पिसघो (Syndicates) और किसानोकी सहकारी समितियोको कुछ स्वाधीनता प्राप्त थी।

यह सोचना भूल है कि इटली में आतकवादके अतिरिक्त और कुछ था ही नही। २० वर्षोसे भी अधिक लम्बी अवधि तक फासीवादकी सफलताका मुख्य कारण मुसोलिनीका गतिशील नेतृत्व था। जिस समय मुसोलिनी सत्तारूढ हुआ उस समय पश्चिमके प्रजातन्त्र-वादी राज्य इटलीके साथ एक निम्नकोटिकी शक्ति सा व्यवहार करते थे। पर कुछ ही वर्षोमें मुसोलिनी ने इटलीको मध्यसागरकी प्रधान शक्ति वना दिया, जो उत्तरी अफ्रीका का आधिपत्य और साम्राज्यका प्रयत्न करने लगी। युद्धके बादके तात्कालिक वर्षोमें इटली को जिस नेतृत्वकी आवश्यकता थी वह न समाजवादी ही दे सके और न साम्यवादी ही। समाजवादी अपनी ससदात्मक भावनाके दास थे और तर्क द्वारा तथा समझा-बुझाकर जनताका समर्थन प्राप्त करना चाहते थे। इसके विपरीत साम्यवादी वरावर वर्ग-युद्ध और विश्व-क्रान्तिका ही राग अलापते रहे और इस प्रकार न केवल पूजीपतियो और मध्यवर्ग को भयभीत कर दिया वल्कि मजदूर-वर्गका भी एक वहुत वडा हिस्सा उनसे चौकन्ना हो गया। इन परिस्थितियोमें मुसोलिनी और उसके दलके लिए सत्तारूढ होना और अपने आपको जनताके सच्चे प्रतिनिधि वता सकना वहुत आसान हो गया।

फासीवादी आदिसे अन्त तक राष्ट्रीयतावादी थे पर उनकी राष्ट्रीयता एक सकीर्ण और अन्धी राष्ट्रीयता थी जो आक्रमण, युद्ध और साम्राज्यवादी विस्तारका खुले आम समर्थन करती थी। फासीवादियोके सिद्धान्त और व्यवहारमें मैकियावेली (Machiavelli) फिरसे जीवित हो उठा। इटलीके गौरवको वढाने वाला प्रत्येक कार्य फासीवादियोंके अनुसार उचित था। द्वितीय विश्व-युद्धमें इटली ने खुले आम एक अवसरवादी नीति वरती जव उसने देखा कि फ्रास कमजोर पड रहा है तव उसने जर्मनीके साथ अपना भाग्य जोडा और फ्रासका पतन आसान कर दिया।

फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीयतावादका शत्रु है। उसका कहना है, 'अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एक कायर का सपना है।' मुसोलिनी का कहना था, 'साम्राज्यवाद जीवनका एक पुराना और कभी न वदलने वाला विधान है।' एक दूसरे स्थान पर उसने लिखा है 'अपने सकीर्ण पर सुन्दर प्रायद्वीप पर हम चार करोड व्यक्ति ठूंसे हुए है।' और इस 'सुन्दर प्रायद्वीप' के इन चार करोड व्यक्तियोको फैलनेका अवसर मिल सके, इसलिए १९३६ में एक ज़रासे वहाने को लेकर एक वर्वर युद्धके वाद अवीसानिया को इटलीमे मिला लिया गया। मुसोलिनी का कहना था इटलीका विस्तार हमारे जीवन-मरणका प्रश्न है। 'इटलीका विस्तार होना ही चाहिए अन्यथा उसका विनाश होगा।'

सरकारकी आन्तरिक कठिनाइयोसे लोगोका ध्यान अलग करनेके लिए इटलीमें युद्ध का प्रयोग किया जाता था। फासीवादने जान-बूझकर एक ऐसी आन्तरिक नीति अपनायी थी जिसका वाहरी परिणाम युद्ध था। उसे न तो विश्व-शान्तिकी सम्भावना पर ही विश्वास था और न उसकी उपयोगिता पर ही।

फासीवादी विचारधारा पर लिखते हुए श्री हैलोवेल (Hallowell) कहते है कि फासीवाद व्यक्तिगत स्वाधीनता और समानताकी धारणाओको अस्वीकार करता है। व्यक्तिका अस्तित्व राज्यके हितके लिए है और राज्यको मुसोलिनी ने 'स्वय अपने आपमें एक नैतिक और आत्मिक शक्ति' वताया है।

फासीवाद प्रेरणा और स्वाभाविक प्रवृत्तिसे काम करता है, विवेकसे नही। उसकी दृष्टि में समस्त मूल्य—महत्त्व आपेक्षिक है। सत्य वही है जिसे अधिनायक सत्य कह दे, और अधिकार वही है जिसे वह अधिकार वना दे। यदि नाज़ीवाद एक जाति-मूलक कपोल-गाथा है तो फासीवाद एक राष्ट्र-मलक। दोनो ही के मूलमें नैराश्य है।

३ फासीवादकी सफलताएं (Achievements of Fascism)

सत्तारूढ होनेके वाद प्रारम्भिक वर्षोमें मुसोलिनी तथा उसके अनुयायियोने सचमुच अपने देशके लिए वहुत कुछ किया। राष्ट्रीय अर्थ-नीतिको उन्होने नए सिरेसे संभाला। राष्ट्रीय जीवनके प्रत्येक विभागका पुन सगठन उसे कुशल वनानेके उद्देश्यसे किया गया था। खेतीकी उन्नति की गयी। उद्योगोकी स्थापना एक सुदृढ आधार पर की गयी। दल-दलोको साफ किया गया और जहा पहले मच्छर भिन्नाते थे वहा एक नया शहर वसाया गया। यातायातके साधनोका इतना विकास हुआ कि उनका स्वरूप ही वदल गया। प्रभाव डालने वाली सुन्दर आकारकी इमारतें वनायी गयी।

पर वादके वर्षोकी कहानी इससे भिन्न है। वस्तुओका मूल्य वरावर वढता गया और वेतन जान-बूझकर घटाये गये। औद्योगिक मजदूरोकी अपेक्षा ज़मींदारो और किसानो की भलाईके लिए राज्यने अधिक प्रयत्न किये। अवीसीनियाके युद्धके पहले वेकारीकी समस्या वहुत ही चिन्ताजनक हो गयी थी और इस समस्याको हल करनेके लिए युद्धकी व्यापक तैयारियोका सहारा लिया गया। जीवनका मूल्य कुछ कम पडा। इटली वालोका अस्वास्थ्यकर भोजन फासीवादी शासनमें और भी वुरा हो गया। वडे-वडे पूंजीपतियोकी अपेक्षा छोटे-छोटे व्यापारियोको अधिक हानि हुई। पूंजीवादकी भाति फासीवादमें भी व्यापार-चक्र थे और मन्दीका ज़माना लौट-लौटकर आता था। जैसा श्री सैवाइन (Sabine) लिखते है: 'आत्मवलिदान, आज्ञा-पालन और राष्ट्रीय युद्धोमें प्राणार्पणके

आदर्शोकी शिक्षा उनके नैतिक महत्त्वकी पूरी-पूरी स्वीकृतिके कारण नही है। हमेशा लोगो के सामने यह सपना चित्रित किया जाता है कि यह आदर्श तो वर्तमान बलिदानके बदले भविष्यके आर्थिक लाभके साधन-मात्र है और यह लाभ उन्हीके लिए है जो सबसे अधिक बलिदान करते है भविष्यका यह स्वप्न सच्ची धर्मान्धता अथवा कुटिल स्वार्थ द्वारा सरल चित्त आदर्शवादियोका एक यथार्थ कल्याणके स्थान पर दिया जाने वाला भावनात्मक पूरक है (१२ ७७४-५)।'

सुसस्थित राज्य (The Corporative State) फासीवादका दावा है कि आर्थिक क्षेत्रमें उसकी सबसे अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन है सुसस्थित राज्य। फासीवादको इस बातका गर्व है कि सुसस्थित राज्य न तो पूजीवाद है और न समाजवाद बल्कि वह स्वत एक नवीन और उच्च कोटिकी चीज़ है। मुसोलिनीके शब्दोमें 'सस्थान-वाद (Corporation) समाजवाद और उदारवाद दोनो ही से उच्चतर है, उसने एक नई व्यवस्थाको जन्म दिया है। एक दूसरे स्थान पर उसने लिखा है कि उसके समस्त कार्योमे से सुसस्थित राज्य 'सबसे अधिक साहस पूर्ण और मौलिक कार्य है, दूसरे शब्दों में, सबसे अधिक क्रान्तिकारी कार्य है।' यद्यपि हम इन अत्युक्ति-पूर्ण दावोको स्वीकार करने के लिए तैयार नही है फिर भी हम इतना विश्वास करनेके लिए तैयार है कि सुसस्थित राज्यके बजाय सुसस्थित समाजकी धारणामें हमें आधुनिक राज्यके पुनर्गठनका आधार मिल सकता है।

फासीवादी सुसस्थित राज्यकी धारणामें मध्यकालीन श्रेणीवाद और आधुनिक शिल्पिसघवादकी विचारधाराओका मेल बैठाया गया है। जैसा कुमारी विल्किन्सन ने सकेत किया है, फासीवाद कोरा पूजीवादका प्रक्रियात्मक रूप ही नही है। उसमें उसके अपने समाजवादी तत्त्व भी है। एक दूसरे लेखकके कथनानुसार फासीवादी समाजवादी भी है और पूजीवादी भी, क्योकि पूजीवादी और समाजवादी दोनो ही प्रवृत्तिया उसमें यथार्थ रूपमें है।

फासीवाद आधुनिक पूजीवादकी यह आलोचना करता है कि आजके पूजीवादमें मालिक और मजदूर विरोधी दलोमें सगठित हो गए हैं और जनताके सार्वजनिक कल्याण को भुला दिया गया है। फासीवाद मजदूरो, मालिको और उपभोक्ता जन-समाज सबके हितोको एकमें मिलानेका प्रयत्न करता है। फासीवादके पथ निर्देशके सिद्धान्त है राष्ट्रीय उत्पादन और सार्वजनिक कल्याणकी सिद्धि। यह दावा किया जाता है कि मालिक, मजदूर और उपभोक्ता जन-समाज सभी एक सगठनात्मक इकाईके अवयव हैं—उसीके अग है और उनके हित परस्पर बधे हुए एक है।

सिद्धान्त रूपमें यह सब चाहे सत्य भी हो पर व्यावहारिक प्रश्न तो हमारे सामने यह है कि फासीवादी राज्य इस उद्देश्यको किस हद तक पूरा कर पाता है। १९३४ तक इटली एक सुसस्थित राज्य था पर उसमें एक भी सस्थान या कार्पोरेशन नही था यद्यपि मन्त्रि-मडलमें सस्थान-विभाग बहुत वर्षोसे काम कर रहा था। ५ फरवरी, १९३४, के कानून द्वारा सरकारी तौरसे सस्थानोकी स्थापना की गयी।

इटलीके सुसस्थित राज्यका सगठन इस बातको स्पष्ट कर देता है कि राज्यको और फासीवादी दलको प्रमुख स्थान दिया गया है। इसका कारण यह कहा जाता है कि राज्य और फासीवादी दल उपभोक्ताओके हितोका प्रतिनिधित्व करता है—पर इस धारणाको

आसानीसे सिद्ध नही किया जा सकता। मालिको और मजदूरोका प्रतिनिधित्व दो भिन्न समानान्तर सस्थाओ द्वारा होता है, और राज्य दोनोके बीच सयोजक और पचका काम करता है। सस्थानोकी स्वीकृतिके लिए सरकारने कुछ नियम बनाए है। जो सघ इन नियमो या शर्तोको पूरा नही करते उनकी कोई वैधानिक स्थिति नही होती। कच्चे मालसे लेकर तैयार माल तककी उत्पादनकी सभी स्थितिया एक सस्थानमे सम्मिलित रहती है। प्रत्येक सस्थानका नियत्रण एक समिति करती है जिसका अध्यक्ष मत्रिमडलका कोई सदस्य, राज्यका कोई अवर सचिव (Under-Secretary) या फासी-दलका मत्री होता है।

सुसस्थित राज्यका सगठन असाधारण रूपसे जटिल होता है। विभागीय कामोका दोहराया जाना और एक दूसरेका उपरिभार बहुत अधिक होता है। १९०५ मे २२ सस्थान और ९ राष्ट्रीय सघ थे जो बादमें १३ हो गये। राष्ट्रीय सघोका सगठन मालिको और मजदूरोके यथाक्रम सम्बन्धके आधार पर होता था और सस्थानोका सगठन समान आधार पर। सुगठित सस्थानोके अधिकार अधिकाश रूपमें परामर्श-मूलक है। यह सस्थान मजदूरो के झगडोका निबटारा करते है, सामूहिक श्रम-अनुबन्धो (Collective Labour Contracts) को पूरा कराते है शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक कार्य करते है और राष्ट्रीय उत्पादनकी अभिवृद्धि करते है। वेतन, कामके घटे, उत्पादन और वितरण भी वही निर्धारित करते है और शिक्षार्थी मजदूरोका नियत्रण भी वही करते है।

सुसस्थित राज्य एक योजनाका सुझाव देता है, ऐसी योजना जिसका आधार व्यक्ति-वादी न होकर सामूहिक श्रम होता है पर वास्तवमें बात ऐसी नही है। उत्पादन फिर भी व्यक्तिगत उद्योग पर ही निर्भर रहता है। व्यक्तिगत उपक्रम और व्यक्तिगत सम्पत्तिकी व्यवस्था बनी रहती है। मुसोलिनी के कथनानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्यके व्यक्तित्व को पूर्णता देती है। यह एक अधिकार है और यदि यह एक अधिकार है तो कर्त्तव्य भी है। श्री जॉन स्ट्रैची (John Strachey), जो सुसस्थित राज्यके कठोर आलोचक है, कहते है कि फासीवादी योजना पूजीपतियोकी सहमतिसे बनती है। यह योजना कमसे कम विरोधका मार्ग अपनाती है।

मजदूर-सघो और मालिकोके सगठनोको हटा दिया गया और उनके स्थान पर सस्थानो (Corporations) की स्थापना की गयी जो पूरी तरहसे राज्यके आश्रित थे। सस्थानो में मजदूरो और मालिकोको समान प्रतिनिधित्व दिया गया, पर जैसा श्री सैबाइन कहते है, 'यह सोचना कि समान प्रतिनिधित्वका अर्थ समान शक्ति अथवा मत्रिमडल तक समान पहुच है एक भारी भूल होगी। यह सोचना भी भूल है कि सस्थानके यथाविधि माध्यमसे ही हमेशा प्रभाव प्राप्त होता है।' हडताल करना और मिलो या फैक्ट्रियोमें तालाबन्दी करना कानून द्वारा बन्द कर दिया गया। हडताल करनेके अपराधमे सबसे बडा दड सात वर्षका कारावास था। तीनसे अधिक मजदूरोके एक साथ हडताल करने पर मजदूरोको दड देनेके लिए विशेष मजदूर-पचायतोको अधिकार दिए गए थे, भिन्न वर्गोके बीच होनेवाले विवादोको तय करनेके लिए मजदूर-न्यायालय स्थापित थे और इनका फैसला समूचे राष्ट्र के हितको दृष्टिमें रखकर होता था। फैसला करनेके लिए यह अदालतें आवेदनकी प्रतीक्षा नही करती थी बल्कि इसके पहले ही स्वय हस्तक्षेप भी कर सकती थी। श्री जॉन स्ट्रैची का कहना है कि यह व्यवस्था प्राचीन कम्बीनेशन ऐक्ट (Combination Act) का

दोवारा लागू करने जैसी मालूम होती है। श्रमिक वर्गको एक 'श्रमिक अधिकार-पत्र' दिया गया जिसमें उन्हें कुछ अधिकार जैसे वेतन सहित अवकाश, नाम-मात्रके खर्च 'पर डॉक्टरी सहायता, अनेक प्रकारके मुआवजे, बुढापा और मृत्यु सम्बन्धी बीमा' आदि दिए गए। श्री जोड (Joad) ने इस अधिकार-पत्रको 'श्रमिकोका महाधिकार-पत्र' कहकर इसका स्वागत किया था।

केवल हडतालो पर ही कानूनी निषेध नही लगा वल्कि सट्टेवाज़ी और बहुतसे मुनाफे पर भी रोक लगाई गई। १६३० और १६३३ में सरकारी आज्ञाओ द्वारा चीज़ोंके दाम कम किए गए। मालिकोको अपनी मनमानी करनेका अधिकार नही दिया गया।

संस्थानीय राज्य ने उत्पादनको वढ़ाया पर वेतनोके सम्बन्धमें कोई अधिक सुधार नही हुआ। १६२६-२७ के वाद इटलीके वेंको पर नियत्रण कर लिया गया और इटलीके वेंक (Bank of Italy) ने समस्त ऋणका नियत्रण प्रारम्भ कर दिया। सरकारकी स्वीकृतिके बिना कोई नया वेंक नही खोला जा सकता था। कुछ उद्योगोको एकमें मिला दिया गया जैसे लोहेका उद्योग और कुछ उद्योगोको सरकारी सहायता दी गयी जैसे जहाज़ी उद्योग।

इटली और जर्मनी दोनो ही में इस समूची योजनाका उद्देश्य साम्राज्यवादी विस्तार और युद्ध था। उद्योग-धन्धे ही नही खेती तक पर्याप्त मात्रामें सरकारी सैनिक नियत्रणके अधीन थी। सारा सगठन ही सैनिक आधार पर किया गया था और इस सगठनके मूल सिद्धान्त थे 'महन्तशाही, नेतृत्वकी एकता और अनुशासन।' यह सगठन पूर्ण रूपसे फ़ासीवादी दल पर निर्भर था जो आर्थिक व्यवस्था तथा राजनैतिक शासन दोनोका एक समान मुख्य आधार और स्तम्भ था।

यद्यपि हम संस्थानीय राज्यके नाम पर इटलीमें किए गए सभी कार्योंका समर्थन नही करते, फिर भी सुसस्थित समाजका विचार एक ऐसा विचार है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। जैसा कि रेवे`ड पी० कार्टी ने कहा है समाजका सार्वजनिक कल्याण, राज्यके अधिकार और व्यवितयोके अधिकार सबका समान सम्मान और समान विकास होना चाहिए। इटलीके संस्थानीय राज्यके साथ कठिनाई यह थी कि उसका सगठन युद्धके लिए हुआ था। आवश्यकता हमें एक ऐसे संस्थानीय समाजकी है जिसका सगठन शान्तिके लिए हो। संस्थानोकी सृष्टि राज्यके उपक्रमका परिणाम न होकर 'स्वतत्र व्यक्तियोंके व्यक्तिगत उपक्रम' का परिणाम होना चाहिए जो 'राज्यकी सहमतिसे अपना सगठन करें।' संस्थानीय राज्य और संस्थानीय समाजके वीच यही प्रधान अन्तर है। इसके अतिरिक्त एक संस्थान या कार्पोरेशनको राजनैतिक दलके नियत्रणसे मुक्त होना चाहिए क्योकि उसका कार्य-क्षेत्र राजनैतिक न होकर आर्थिक और सामाजिक होता है। इटली और जर्मनीकी भाति श्रमिक सघो और स्वामिसघोका विनाश करनेके वजाय उन्हें संस्थानीय समाजका ही एक अग वना देना चाहिए।

प्रोफेसर कार्टी (Carty) के ही शब्दोमें एक संस्थानीय समाजमें ऐसा प्रत्येक संस्थान सार्वजनिक विधान द्वारा स्वीकृत और सूचीवद्ध किया जायगा जो किसी एक निश्चित समुदायके स्थायी हितोका प्रतिनिधित्व करता होगा। अधिकार-पत्र द्वारा दिए गए अपने अधिकारोकी सीमाके भीतर प्रजातत्रीय पद्धतिसे उसका नियत्रण होता है। और अपने सदस्यो पर वह व्यवस्थापिका कार्यकारिणी और न्यायपालिकाके कर्त्तव्योको पूरा

करता है। पर इसका यह अर्थ नही है कि राज्यकी प्रभुता (Sovereignty) समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि उन सस्थानोको राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकार-पत्रकी सीमाओके भीतर और सामान्य सार्वजनिक हितके अनुकूल मात्रा मे स्वायत्त-शासनका अधिकार मिल जाता है (११ १५४) श्रमिकोको समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है पूरी तरह विवाद हो जानेके बाद सस्थान एक ऐसी नियमावली बनाता है जो समूचे व्यावसायिक समुदाय पर एक निश्चित अवधिके लिये लागू होगा (११ १५५)।

प्रभावपूर्ण होनेके पहले ऐसी नियमावलीको राज्यकी स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। स्वीकृति देनेके पहले राज्य सामान्य सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे उस नियमावलीकी परीक्षा करेगा और विभिन्न नियमावलियोको एक मानव-अर्थ-नीतिमें समन्वित करेगा।

यह नियमावली 'सम्बन्धित व्यावसायिक समुदायकी आर्थिक कार्यवाहियोका दृढता-पूर्वक नियत्रण करेगी, उत्पादनकी मात्रा, व्यापार, कोटा (Quota) और ढग, मूल्य और सौदा, विज्ञापन, यातायात-कर, सम्भावित सौदे जो कि सम्बन्धित व्यावसायिक सम्बन्धोके साथ होने वाले हो आदि सबका नियत्रण करेगी (११ · १५५)। इसके साथ वह 'स्वय व्यवसायके भीतर सामाजिक व आर्थिक सम्बन्धोका भी नियत्रण करेगी, वेतन, कामके घटे और परिस्थितिया, मुआवजा, वैतनिक छुट्टिया, पारिवारिक भत्ते, लाभ और विभिन्न प्रकारके बीमोमें व्यवस्थापकोका भाग आदिका नियत्रण करेगी (११ १५५)।'

सस्थानोकी एक ऐसी व्यवस्था होने पर राज्यको राजनैतिक और सैनिक कर्त्तव्यो पर ध्यान देनेके लिये पर्याप्त अवसर मिलेगा क्योकि यह सस्थान अपने सदस्योके आर्थिक और व्यावसायिक हितोको देख-भाल करेंगे। व्योरेवार यह बताना तो कठिन है कि प्रत्येक सस्थानके क्या उद्देश्य होगे, उनकी क्या पद्धतिया और शक्तिया होगी। उद्देश्य तो यह हो सकता है कि अधिकसे अधिक उत्पादन हो, वेतनके अनुकूल वस्तुओके दाम रहे, प्रतियोगिता समाप्त की जाय और अधिकतम राष्ट्रीय शक्ति या अधिकतम सामाजिक शान्तिकी स्थापना हो। उद्देश्य चाहे जो कुछ हो, और उद्देश्य देश और कालके अनुसार भिन्न होगा ही, प्रधान उद्देश्य यह होना चाहिए कि एक 'विवेकशील और व्यावहारिक मानव-उद्देश्य' का विकास हो।

जर्मनीका सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism in Germany)

१. नाजीवादका उदय (The Emergence of Nazism).

जर्मनीमें नाजीवादका उदय जिन परिस्थितियोमे हुआ वह अनेक रूपोमें उन परिस्थितियोसे मिलती-जुलती है जिनमें फासीवादका उदय हुआ था। यद्यपि कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है।

१९१८ में जर्मनी एक पराजित देश था जिसे अपनी भयावह स्थितिका ज्ञान हो चुका था। लोगोको पहले इस बातका विश्वास दिलाया गया था कि उनकी सेनाए अजेय है, पर जब मित्र राष्ट्रोकी सेनाओके सामने उनका पतन हुआ तब जनता स्तब्ध रह गयी। वारसाईकी सन्धि, जिसके द्वारा युद्ध बन्द हुआ, जर्मनीमें कभी जनप्रिय नही हो सकी। बहुत जल्दी उसे विजेताओ द्वारा आरोपित शान्ति कहा जाने लगा। सन्धिकी अनेक शर्तें

बहुत ही कठोर थी और उनका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमे जर्मनीको एक दूसरी या तीसरी श्रेणीकी शक्ति बना देना था। नि शस्त्रीकरणकी एक बहुत बडी योजना बनायी गयी जिससे जर्मनीकी सैनिक प्रतिष्ठाको नीचे गिरा दिया गया। सन्धि द्वारा कई वर्षो तक जर्मनीकी अपनी हवाई सेना निषिद्ध रही। जर्मनीसे क्षति-पूर्तिके रूपमे बडी लम्बी रकमें मागी गयी जो जर्मनी अपनी उस अवस्था में दे ही नही सकता था। यह सच है कि बाद में वह रकमे कम कर दी गयी, विशेषकर डॉम-योजना (Dawes Plan), यग-योजना (Young Plan) द्वारा कम कर दी गयी और अन्तत उन्हे बिल्कुल ही अस्वीकार कर दिया गया। पर जब तक उनकी माग पेश की जाती रही, जर्मनीके लोगोका खून खौलता रहा और जर्मनीके नौजवानोके मनमे यह भावना बनती रही कि बहुत दिनो तक उन्हे मित्र राष्ट्रोके वेतनभोगी दास बन कर रहना है।[1] राइन नदीके पश्चिमके प्रदेशका नि सैन्यीकरण हो गया और जर्मनीके सैनिक क्षेत्रमे प्रवेश करनेकी सम्भावना पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। जब क्षति-पूर्तिकी रकमे न अदा हो सकी तब फ्रास और बेल्जियम न रूर पर आक्रमण कर दिया और कुछ वर्षो तक वहा अपनी सेनाए जमाये रहे।

इस सबके ऊपर जर्मनीसे उसके उपनिवेश छीन लिये गये और मित्र राष्ट्रोके राजनीतिज्ञोने राष्ट्रपति विल्सनकी आखोमें धूल झोक कर उन उपनिवेशोको नियोजित प्रदेशो (Mandated Territories) के रूपमें आपसमें बाट लिया। नियोगीय प्रथा के नामसे एक भारी-भरकम योजना बनायी गयी और इस बातका दावा किया गया कि नियोगीय शक्तियोका प्रधान उद्देश्य अपने सरक्षणमें आने वाले लोगोको यथासम्भव शीघ्र स्वशासनके उपयुक्त बनाना है। मित्र राष्ट्रोकी कथनी और करनीमें कितना महान् अन्तर रहा है यह सबको भली भाति मालूम है और उस पर टीका करनेकी आवश्यकता नही। एक आध अपवादको छोड कर विजेताओने नियोजित प्रदेशोको अपने औपनिवेशिक प्रदेश ही माना।

स्वय जर्मनीके भीतर उसकी आर्थिक व्यवस्था ढह गयी थी। जर्मनी सिक्का मार्कका तेजीसे मूल्य घटता जा रहा था और मुद्रा-स्फीति (Inflation) हो रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावसायिक वर्गोका बिल्कुल विनाश हो गया। मध्य वर्ग दरिद्र हो गया था और युद्धके दौरानमें तथा उसके बाद मुनाफाखोरी करके बने हुए नए समृद्ध लोग अपनी सम्पत्तिका प्रदर्शन कर रहे थे। इस वर्गमें यहूदियोकी सख्या कम नही थी। बेकारी बढती जा रही थी, १९३२ में बेकारोकी सख्या ६० लाख हो गयी थी। जर्मनी के भारी उद्योग देशकी नई सीमाओंके कारण बर्बाद हो गये थे। इन नई सीमाओने मध्य योरोप के मानचित्रको ही बदल दिया था, जर्मनी से उसके कुछ प्रदेश छिन गये थे और उसके कुछ नागरिक दूसरे देशोमे बिखर गये थे।

जब जर्मनीकी इतनी शोचनीय स्थिति थी तब साम्यवाद तेज़ीसे आगे बढ रहा था और ऐसा मालूम होता था कि जर्मनी भी इस तेज़ीसे बढ़ने वाली साम्यवादी विचारधारा और पद्धतिका शिकार हो जायगा। इस सम्भावनाका केवल एक ही विकल्प दिखायी देता था और वह यह कि पश्चिमीय प्रजातत्रकी परम्पराके अनुरूप जर्मनी के लिये एक

---

[1] १९३१ मे एक नवजवान जर्मन ने लिखा था 'हम एक ऐसे युवक-समाजके सदस्य है जिमे न तो भविष्यमें कोई आशा है और न वर्तमान समयमें कोई सुख।'

प्रजातन्त्रवादी सविधान वनाया जाय। फलत. वीमर-गणतन्त्र (Weimar Republic) की स्थापना हुई। पर प्रारम्भ ही से वह जनतामें लोकप्रिय न हो सकी। वह एक पडिताऊ सविधान था—कोरा शास्त्रीय सविधान जिसमे जर्मनी की विशिष्ट परम्पराओ और जर्मन लोगोकी विशिष्ट प्रवृत्तियोका कोई ध्यान नही रखा गया था। जर्मन लोग जिस एकतत्र निरकुश सत्ताकी पूजा करते हैं उनके वजाय उन्हे एक राष्ट्रपति, एक अध्यक्ष (Chancellor) और एक मन्त्रिमडल दिया गया जो ससदके प्रति उत्तरदायी था और मौलिक अधिकारोकी एक लम्बी सूची उन्हे दी गयी। इसके अतिरिक्त जो लोग वीमर-सविधान वनानेके उत्तरदायी थे उन पर यह आरोप लगाया गया कि विजयी मित्र राष्ट्रोसे जर्मनी के लिए वह यथासम्भव उत्तम शर्ते नही मनवा सके। पुराने शासक वर्ग, नौकरशाही और मध्यवर्गोके हृदयमें राष्ट्रीय गौरवके अपमानका वडा गहरा आघात लगा। वारसाईकी सन्धि और जर्मन-गणतत्रको आवश्यक वुराइयोके रूपमें ही स्वीकार किया गया, केवल औद्योगिक मजदूरोका ही उनके प्रति कुछ उत्साह था।

वीमर-सविवानके अन्तर्गत वनने वाली विभिन्न सरकारोको अनेक असाध्य कठिनाइयोका सामना करना पडा देशके भीतर असन्तोष और निरुत्साह और विदेशी शक्तियो द्वारा लादी गयी असम्भव शर्तोको पूरा करनेका प्रयत्न। १९१९ और १९३३ के वीच २१ मन्त्रिमडल वने और १२ अध्यक्षोने उनका नेतृत्व किया। देशमे असख्य दल हो गए जो एक दूसरेके विरोधी उद्देश्योको लेकर काम करते थे। १९३२ के होने वाले—राइखस्टाग (Reichstag)—जर्मन पालियामेंटके चुनावमें ३८ राजनैतिक दलोने भाग लिया था। सोशल डेमोक्रेट्स अर्थात् सामाजिक प्रजातन्त्रवादी दल यदि अपनी घोषणाओके प्रति सच्चा होता और देशके आर्थिक पुनर्निर्माणके लिए एक व्यापक रचनात्मक कार्य-क्रमको अपनाता तो वह देशका रक्षक वन सकता था। पर साम्यवादके डरके कारण वह कोई भी साहसपूर्ण क़दम उठानेसे हिचकते रहे और उल्टे उद्योगपतियो और भूस्वामियोंसे उन्होने समझौता कर लिया। परिणाम यह हुआ कि जहा तक राजनैतिक शक्तिके विभाजनका प्रश्न था युद्धोपरान्त गणतत्र जर्मनी युद्धके पहलेके जर्मनीसे कुछ अधिक भिन्न न हो सका। जॉन स्ट्रेची के कथनानुसार सामाजिक प्रजातन्त्रवादियोकी कायरता-पूर्ण और समझौता-परस्त नीति ही नाजियोंके राजनैतिक क्षेत्रमें शक्तिशाली होनेके लिए प्रत्यक्षतः उत्तरदायी है।

मित्रराष्ट्रोकी नीति यह थी कि वह जर्मनीको कमजोर वनाये रखें और उसकी प्रजातन्त्रवादी सरकारको अपने नियन्त्रणमें रखें। शान्तिके प्रारम्भिक वर्षोमें मित्रराष्ट्रो में लोभी शाइलॉककी भाति जर्मनीसे क्षति-पूर्तिका धेला-धेला वसूल करनेकी प्रवृत्ति थी। वारसाई-सन्धिकी अन्याय-पूर्ण धाराओको हटानेके लिए यदि कोई सुझाव दिया जाता था तो उसकी उपेक्षा की जाती थी। जर्मन राजनीतिज्ञोकी अनेक अधिकतम नम्रता-पूर्ण प्रार्थनाओको भी तिरस्कारके साथ ठुकरा दिया गया। वादमें रियायतें की गयी पर वह खेती सूख जाने पर वर्षाके समान थी। १९३० में राइन प्रदेश खाली कर दिया गया—निश्चित समयसे पाच वर्ष पहले ही। १९३२ में क्षति-पूर्तिकी मागें रद कर दी गयी पर इनमेंसे किसी भी कार्यके लिए न तो जर्मनीकी गणतत्र सरकारको ही कोई श्रेय मिला जिसके कूटनीतिज्ञोने इन विजयोको प्राप्त किया और न मित्रराष्ट्रोको ही जिन्होने यह रियायतें स्वीकार की।

इस राजनैतिक और आर्थिक पृष्ठभूमिमे ही हमें नाजीवादके शक्तिशाली होनेका तथ्य समझना है। जब इसका जन्म हुआ तब वह एक अत्यन्त सामान्य आन्दोलन था जो कुल २८ व्यक्तियो तक ही सीमित था। इस आन्दोलनका जन्मदाता एक ताले बनानेवाला लुहार था जिसका नाम ऐंटन ड्रैक्सलर था। प्रारम्भमें इस आन्दोलनका कोई निश्चित कार्य-क्रम नही था सिवाय इसके कि जर्मन सेनाओकी पराजयको वह अस्वीकार करता था और यह दावा करता था कि ठीक मौके पर जर्मन सेनाओकी पीठमें 'छुरा भोका गया'। २८ प्रारम्भिक सदस्योमेंसे केवल ६ सदस्य सक्रिय थे। ऐडोल्फ हिटलर इस दलमें सातवें सदस्यके रूपमें प्रविष्ट हुआ। उस समय हिटलर एक बिल्कुल ही अज्ञात व्यक्ति था। वह एक ऑस्ट्रियन जर्मन था और १९१२ में जर्मनी चला आया था। वह युद्धमें लडा था और घायल हो गया था। उसकी सेवाओके उपलक्षमें उसे एक लौह पदक दिया गया था और सेनामें वह एक कारपोरलके पद तक उठ चुका था। इसके विपरीत, उसकी प्रतिमूर्ति मुसोलिनी इटलीका एक राष्ट्रीय नेता था और फासीवादी तानाशाही स्थापित करनेके पहले भी युद्धके दौरानमें उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

इन दोनो व्यक्तियोमें एक अन्तर यह भी था कि जहा मुसोलिनी एक प्रतिभावान् विचारक था और दर्शन-शास्त्र तथा राजनीतिक सिद्धान्तीकरण (Theorising) में अभिरुचि रखता था वहा हिटलर की शिक्षा ही अपूर्ण थी यद्यपि उसमें जातीय गुण थे। वह भावनाओ और प्रेरणाओका एक समूह मात्र था और उसे स्वय अपने महत्त्वका अत्यधिक ध्यान रहता था। सम्भवत उसने हीगेल और हाउस्टन चेम्बरलेनके मूल ग्रन्थोको कभी नही पढ़ा था। पर उनके नेक विचारोको उसने अपने आत्मचरित्र (Meinkampf) में अगीकृत किया है।

प्रारम्भमें नाजी-आन्दोलन जर्मन श्रमिक दल (German Workers' Party) के नामसे विख्यात था पर अपने अस्तित्वके दूसरे वर्ष, १९२०, में उसका नाम राष्ट्रीय-समाजवादी-जर्मन श्रमिक-दल (National Socialist German Workers' Party) रखा गया और फिर कुछ वर्षो बाद उसे केवल राष्ट्रीय समाजवादी दल (National Socialist Party) के नामसे पुकारा जाने लगा। यह अन्तिम परिवर्तन महत्त्वपूर्ण था क्योकि वह सभी लोग जो अपनेको राष्ट्रीयतावादी और समाजवादी कहते थे उन्हें इस दलमें सम्मिलित करनेके लिए इस नामने बड़ा काम किया। गॉटफ्रायड फीडर (Gottfried Feder) के प्रारम्भमें दलने अपना जो कार्य-क्रम २५ अनुच्छेदों में तैयार किया था उसमें अनेक क्रान्तिकारी मागे की गयी थी जैसे अनार्जित आयका उन्मूलन (Abolition of Unearned Income), युद्ध-कालमें उठाये गये मुनाफ़ो का जब्त किया जाना, न्यायोका राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of trusts) और भूमिका निःस्वामीकरण (expropriation of land) आदि। प्रारम्भिक दिनोमें इस आन्दोलनको किसीने भी अधिक महत्त्व नही दिया यद्यपि यह बिल्कुल स्पष्ट था कि मित्रराष्ट्रो द्वारा किये गये जर्मनीके राष्ट्रीय अपमानकी प्रतिक्रिया ही इस आन्दोलन के मूलमें थी। निम्न मध्यवर्गीय जनता सैनिक सगठन और विद्यार्थी ही इस आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए, अधिकाश उद्योगपति और उच्च मध्यवर्ग इस आन्दोलनसे दूर ही रहा। जो लोग आन्दोलनकी ओर आकर्षित भी हुए वह उसके क्रान्तिकारी कार्य-क्रमके कारण उनकी ओर उतना नही झुके जितना उसकी सैनिक भावनाके कारण। घृणा और

बदलेके आधार पर ही इस दलकी स्थापना हुई। इस दलने 'सच्चे जर्मनी' के सभी शत्रुओ से लोहा लेनेकी कसम खायी थी, विशेषकर मार्क्सवादी-उदारपंथियो, साम्यवादियो और यहूदियोंके खिलाफ।

१९२३ तक आन्दोलनका विकास धीरे-धीरे हुआ। उस वर्ष हिटलर ने जनरल लूडेनडार्फ (General Ludendorf) के साथ म्यूनिखके 'धावे' में भाग लिया, पर धावा असफल रहा। हिटलर गिरफ्तार हो गया, उस पर मुकदमा चला और उसे ५ वर्ष के जेलकी सजा मिली पर आठ महीने बाद उसे छोड दिया गया। जेलकी छुट्टियोंके दिनो मे हिटलर ने अपनी आत्मकथा "Mein-Kampf" लिखी जो नाजीवादका धर्म-ग्रथ बन गयी।

इस समयसे लेकर यह आन्दोलन सख्या और लोकप्रियताकी दृष्टिसे बढ़ता ही गया और लगातार शक्तिशाली होता गया। आन्दोलनके प्रारम्भिक क्रान्तिकारी कार्य-क्रमको कुछ इस प्रकार सशोधित किया गया जिससे धनी वर्ग भयभीत न हो जाय। उदाहरणके लिए 'बिना मुआवज़ेके जमीनके राष्ट्रीयकरण' की व्याख्या कुछ इस प्रकारकी गयी कि वह भूमिके सम्बन्धमें यहूदी सट्टेबाज़ो पर ही लागू हो सकी। सेनाके कुछ भूतपूर्व अधिकारी दलमे सम्मिलित हो गये थे। उन्होंने स्टॉर्म ट्रूपर्स—तूफानीदल—के सगठनमे सहायता दी। यह दल नाजी आन्दोलनका मेरुदड बन गया। सैनिक प्रदर्शन, सैनिक वर्दिया, स्वस्तिक जैसे दलके चिह्न, साम्यवादियो और पुलिसके साथ मुक्केबाजी आदि जर्मन युवकोंकी लडाकू और स्वच्छन्द प्रवृत्तिको बहुत अधिक आकर्षक लगा। जिन अन्य साधनोंमे दलको और अधिक समर्थन प्राप्त करनेमें सफलता मिली वह थे नाजी नेताओ द्वारा कुशलतापूर्वक प्रचार, हिटलर की बहुत अधिक जोशीले भाषण देनेकी शक्ति और नाजी नेताओ द्वारा सगठित महान् जर्मनीके नाम पर बलिदान और अनुशासन की अपीलें।

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे उद्योगपति सम्पत्तिशालीवर्ग और नौकरशाही भी अधिकाधिक रूपमें नाजी दलके प्रति सहानुभूतिपूर्ण होते गये। उग्र राष्ट्रीयताका उन पर अधिक प्रभाव पडा, विशेषकर, इसलिए भी कि उन्हें इस बातका विश्वास हो गया था कि हिटलर की मशा उन क्रान्तिकारी योजनाओको कार्यान्वित करनेका नही है जिन्हे प्रारम्भिक दिनोमे नाजीदलने अपने कार्य-क्रममें रखा था।

यद्यपि प्रारम्भिक वर्षोमे नाजीवादके विकासमें कोई आश्चर्य-जनक बात नही दिखाई दी पर १९२९ मे निश्चित रूपमें पासा नाजीवादके पक्षमे पलटा और विश्वव्यापी मन्दी और व्यापक बेकारीने इस आन्दोलनको और भी बल दिया। १९३२ में होनेवाले राष्ट्रपतिके चुनावमें हिटलर हिंडेनबर्ग के विरुद्ध खडा हुआ और प्रथम बैलेट (छन्दक) में उसे १ करोड १३ लाख और द्वितीय छन्दकमें उसे १ करोड ३४ लाख मत मिले। इस समय से लेकर नाजीदल व्यवस्थापिकामें सबसे अधिक शक्तिशाली दल बना रहा यद्यपि बादमें कुछ अस्थायी हानिया भी होती रही। सामाजिक प्रजातन्त्रवादियो (Social Democratcs) को नाजी दलको आधी सीटोसे कुछ ही अधिक सीटें मिल सकी। नवम्बर १९३२ मे हिंडेनबर्ग ने एक सयुक्त सरकार बनानेके उद्देश्यसे हिटलर से भेंट की, पर हिटलर ने उसे अस्वीकार कर दिया। ३० जनवरी १९३३ को हिंडेनबर्ग ने फिर अपने निमन्त्रणको दुहराया और इस बार हिटलरने उसे स्वीकार कर लिया। इस समयसे लेकर जर्मनीमें हिटलर और उसके नाजी सहयोगियोका प्रभुत्व प्रधान रहा।

हिटलर की पहली मत्रिपरिषद् कुछ नरम और अक्रान्तिकारी थी पर अपने व्यवस्थित सगठन और राजनैतिक व्यवस्था तथा पुलिस पर अपने नियत्रणके कारण देश पर नाजी दलका प्रभुत्व अपरिमित था। पाच मार्च १९३३ को राइखस्टाग—जर्मन ससद—भग कर दी गयी। कुछ दिन पहले जो रहस्यमय आग लगी थी जिसने ससदके भवनको जला डाला था वह साम्यवादी क्रान्तिका सकेत-चिह्न वन गयी। जो व्यवस्था उसके परिणाम-स्वरूप फैली उससे विवश होकर राष्ट्रपतिने सविधानमें स्वीकृत नागरिकोंके अनेक मौलिक अधिकारोको अस्वीकार कर दिया। इसी उत्तेजना-पूर्ण वातावरणमें ससद का चुनाव किया गया जिसमें नाजी दलको ५२ प्रतिशत सीटें मिली। जिस सक्षम विधान (Enabling Act) को लेकर चुनाव लडा और जीता गया था उसने नाजी सरकार को चार वर्षके लिए अपरिमित शक्ति दे दी।

उस समयसे लेकर खास नाजी कार्य-क्रम व्यवहार रूपमे लाये जाने लगे। पौर अधिसेवा और न्यायपालिकासे 'अनार्यो' को निकाल बाहर किया गया। एक जन-न्यायालयकी स्थापना की गयी जो सरकारके हाथोमें कठपुतली वन सके। समाचारपत्र, रेडियो, थियेटर और सिनेमा डॉक्टर गोयवेल्स के अधीन कर दिये गये जो नवीन चेतना और प्रचारके मत्री थे। इसी प्रकार स्कूलो और विश्वविद्यालयोको शिक्षा-मत्रीके सरक्षणमें रखा गया। एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार नाजी दलको देशका एकमात्र कानूनी दल घोषित किया गया और किसी प्रकारके भी दूसरे दलकी स्थापनाको एक अपराध वना दिया गया। श्रमिक सघोको भग कर दिया गया और मजदूरवर्गको नाजियोंके नियत्रणमें लाया गया। नवम्बर [illegible] में ससदका निर्वाचन हुआ जिसमें नाजी दलको ९२ प्रतिशत नोट मिले [illegible] प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दबाव [illegible] पहली दिसम्बरको नाजी दलको राज्यके शासन-यत्रमें सम्मिलित कर लिया गया।

सघ-प्रणाली खत्म कर दी गयी और राज्योमे (जो अब वनावटी जिलोमे विभाजित है) हिटलरके अपने निजी प्रतिनिधि नियुक्त किये गये जिन्हे वस्तुत तानाशाही अधिकार प्राप्त थे। दूसरा क़दम यह उठाया गया कि उपरिसदन (Upper House) राइखसरॅट को भग कर दिया गया। इस सदनमें सघकी अगभूत इकाइयोंके प्रतिनिधि बैठते थे। जब १९३४ में हिंडेनवर्ग मर गये तब हिटलर ने राष्ट्रपति और अध्यक्ष दोनोके पदो और अधिकारोको अपने हाथमें कर लिया, और कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिकाके सर्वोच्च अधिकारोको भी अपनी ही मुट्ठीमें ले लिया। वह जर्मनीका अध्यक्ष, नेता और एकछत्र शासक वन गया। राइखस्टाग (ससद) की बैठक भी कभी-कभी बुलायी जाती थी,—कोई निर्णय करनेके लिए नही वल्कि हिटलरकी कारगुजारियोकी प्रशसा करनेके लिए।

२. नाजीवादको विचारधारा (The Ideology of Nazism)

नाजीवादकी विचारधाराकी व्याख्या करना आसान नही है क्योकि नाजीवाद राज्य अथवा शासनका कोई व्यवस्थित सिद्धान्त नही है, वह केवल एक आन्दोलन है जो कि एक व्यापक भावनात्मक अभावकी पूर्तिके लिए उठ खडा हुआ था। इसलिए उसकी जडें युद्धके वाद जर्मनीकी वौद्धिक और भावनात्मक विशिष्ट परिस्थितिमें है—विशेषकर हिटलर की वौद्धिक और मानसिक स्थितिमें। यह सच है कि नाजीवादी राजनैतिक

सिद्धान्तके कुछ तत्त्व जर्मन जातिकी विशेषताओंके अनुरूप ही हैं पर इस सिद्धान्तके अनेक तत्त्वोंको युद्धके बाद जर्मनीकी परिस्थितियोंकी भूमिकामें ही समझा जा सकता है। हिटलर का व्यक्तित्व और जाति तथा समाजमें स्त्रियोंका स्थान जैसे प्रश्नोंके सम्बन्धमें उनकी विशिष्ट मनोवैज्ञानिक धारणाएं नाजी सिद्धान्तके साथ इस प्रकार घुली-मिली हैं कि नाजीवादको 'हिटलरवाद' कहना अधिक ठीक होगा। नाजी आन्दोलनके आत्मिक या मानसिक जन्मदाताओंमें से कांट, फिश्ते, हीगेल, गॉबिन्यू और एच० एस० चेम्बरलेन जैसे आदर्शवादी तथा इटलीके मुसोलिनी हैं।

जर्मन परम्पराके अनुसार ही नाजीवाद राज्यको अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुंचा देता है। पर यह कार्य एक उच्च दार्शनिक पद्धतिसे नहीं किया गया जैसा कि हीगेल ने किया था। जर्मनीकी वास्तविक आवश्यकताओंसे प्रेरित होकर यह कार्य एक अत्यन्त व्यावहारिक ढंगसे किया गया। यह अनुभव किया गया कि देशके राष्ट्रीय गौरवको फिरसे वापस लानेके लिए राष्ट्रीय एकता पहली आवश्यकता है। इसीलिए नाजीवादियोंने राज्यको एक मानवोत्तर-सत्ता (Superhuman Entity) का रूप दिया। 'वाल्क' (Volk) या समाजको एक कच्चे मालके रूपमें माना गया जिससे राज्यका निर्माण होता है और समाज को मजबूत बनानेके लिए नाजियोंने देशके सामने लगातार यह आदर्श रखा कि 'एक व्यक्ति के हितोंकी अपेक्षा समाजके हित' अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिटलर के सिद्धान्तके अनुसार 'व्यक्ति कुछ भी नहीं है, समाज ही सब कुछ है।' अधिकारोंकी अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक जोर दिया जाता है।

अंग्रेजी परम्पराके अनुसार राज्यकी स्थिति एक गुलामकी सी है। प्रशाकी परम्परा के अनुसार राज्य स्वामी है। इन दोनोंका विरोध दिखाते हुए श्री स्पेंग्लर (Spengler) लिखते हैं कि अंग्रेजी परम्परामें 'हमें उत्तरदायित्व, आत्मनिर्णय, संकल्प (Resolution) और उपक्रम दिखायी देता है यहां राज्य-भक्ति, अनुशासन, आत्मबलिदान और आत्मशिक्षण दिखायी देता है। ...... व्यक्तिका कोई महत्त्व—मूल्य नहीं है; उसे समाजके लिए अपने आपको बलिदान करना ही चाहिए। किसी एक व्यक्तिका जीवन स्वयं उसके लिए नहीं है. सबका जीवन सबके लिए है और आज्ञापालनसे मिलने वाली आन्तरिक स्वाधीनता सबको प्राप्त है।' इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्तिको स्वयं कुछ चुन सकनेकी अथवा व्यक्तिगत उपक्रम (Private Initiative) की स्वाधीनता नहीं है। एक सुव्यवस्थित राज्यकी आज्ञाओंका पालन करनेमें ही उसे अपने जीवनका महत्त्व और सुख-सफलता माननी चाहिए। राज्यकी अनिवार्य सेवा ही पूर्ण स्वाधीनता है। नाजियोंके इस सिद्धान्तमें हमें हीगेल के सितलिखकीट (Sittlichkeit) सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी प्रतिध्वनि ही सुनाई देती है। जैसा कि एक सूक्ष्मदर्शी आलोचकने कहा है, इस सिद्धान्त और शिक्षाका व्यावहारिक परिणाम था जर्मनीको महान् पर जर्मन लोगोंको बौना बना देना।

समाज और राज्यके बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी नाजीदल ही था। उसने लोगों को एक दृढ़ संगठनमें बांधा और एक सार्वजनिक नेतृत्वके अधीन एक होकर काम करना सिखाया। राज्यने तो केवल इतना ही किया कि नाजीदलके कार्य-क्रम और उनके कार्यकलापोंको अपनी प्रभु-शक्तिका बल दिया। व्यवहारतः इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य और नाजीदल एकरूप हो गये। किसी भी दूसरे दलका अस्तित्व सहन नहीं किया जा

सकता था क्योकि उससे राज्य कमज़ोर होता और उनकी शक्तियोका अपव्यय होता। जुलाई, १९३३ के कानूनके अनुसार, '(१) जर्मनीमें केवल एक ही राजनैतिक दल है और वह है राष्ट्रीय-सामाजिक जर्मन-श्रमिक दल, जो कोई भी किसी दूसरे राजनैतिक दलकी स्थापना करनेका कदम उठाता है, या किसी दूसरे राजनैतिक दलका अस्तित्व बनाये रखना चाहता है उसे अनुतापालयमें तीन वर्ष कैदकी सजा दी जायगी।' कोई आश्चर्यकी बात नही है कि हिटलर और उसके सहयोगी प्रजातत्र और प्रजातत्रवादी सस्थाओको नफरत करते रहे। उन्हें तो राष्ट्रीय एकता और दृढ सगठन चाहिए था, वह किसी प्रकारकी खिलाफत नही चाहते थे।

अपनी परम्पराओके अनुकूल नाज़ियोने अपने दलका सगठन नेतृत्व और नेताशाहीकी धारणाके अनुरूप किया। जिस नेताशाहीका समर्थन उन्होने किया उसकी कार्य-पद्धति नीचेसे ऊपरकी ओर न होकर इसकी उल्टी थी। जिस नेतृत्वकी कल्पना उन्होंने की थी वह प्रजातत्रवादी नेतृत्व नही था जिसका व्यापक आधार होता है और जो जनताकी इच्छाओ के प्रति उत्तरदायी भी होता है और उनका ध्यान भी रखता है, बल्कि वह एक ऐसा नेतृत्व था जो शक्ति द्वारा प्राप्त किया गया था और शक्तिके ही बल जिसका अस्तित्व बना था। नाज़ी सिद्धान्तके अनुसार कुछ लोगोका जन्म ही नेतृत्वके लिए होता है और शेषका अनुगमन करनेके लिए। हिटलर राज्यका प्रधान था, सरकारका प्रधान था और सेनाका भी प्रधान था। वह जो कहे वही विधान था—कानून था। शासन-कार्यमें उसके सभी सहयोगी उसी के द्वारा मनोनीत होते थे और बडी श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उसका समर्थन करते थे। 'तूफानी दल (Storm Troopers) और (Black Guards) जिनका सगठन प्रारम्भमें नाज़ीदलकी रक्षा और सार्वजनिक शान्ति-व्यवस्थाके लिए किया गया था और जिसके बल पर नाज़ीदल सत्तारूढ हुआ था उनका सगठन अब फौजी ढगसे किया गया और उनका प्रधान कर्त्तव्य हो गया नेता अर्थात् हिटलर की रक्षा करना। जर्मनीमें आत्म-घाती दल (Suicidal Squads) भी थे जो राज्य और दलके नाम पर हिटलर की आज्ञा पाते ही आत्महत्या करनेके लिए तैयार रहते थे। जीवनके प्रत्येक क्षेत्र पर नाज़ीदल ने अपना अधिकार जमाया था। प्रान्तीय और ज़िला अधिकारी नाज़ीदलके प्रमुख सदस्य होते थे जिनकी नियुक्ति गृह-मन्त्रीके अनुमोदनसे स्वय हिटलर करता था। श्रमिक-सघोके स्थान पर नाज़ियोके अड्डे थे जिनमें मजदूरोके बीच व्यापक प्रचार किया जाता था। मजदूर मोर्चा पूराका पूरा नाज़ी सगठन बन गया था। नाज़ियोके दूत सब कही उपस्थित थे परिवारोकी अन्ततम गोष्टियो तकमें। ऐसी घटनाए कम नही होती थीं जिनमें नाज़ी उद्देश्यके प्रति उत्साह कम होने पर लडके मा-बाप के विरुद्ध या मा-बाप अपनी सन्तानके विरुद्ध गवाही देते थे। हिटलर-युवक दल देशके युवकोका एक सगठन था और नाज़ीदल था एक शक्तिशाली सहायक।

नाज़ीदलके सत्तारूढ होने और मानव-जीवनके सभी क्षेत्रो पर उसके छा जानेका परिणाम यह हुआ कि जनताका एक निम्न कोटिका व्यापक सैन्यीकरण हो गया, यद्यपि यह सैन्यीकरण जर्मन परम्परा और प्रवृत्तिके अनुकूल ही था। राजकुमार बुलो (Prince Bulow) का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि उसके देशवासी इस अर्थ में 'अराजनैतिक' है कि उनमें नागरिक अधिकारो और नागरिक साहसकी भावनाकी कमी है। युद्ध-क्षेत्रमें जर्मन सिपाही चाहे जितना साहसी हो, जर्मन नागरिक

में अपने शासकोके विरुद्ध खडे हो सकनेकी नैतिक शक्ति नही होती। उनके सामने वह चुपचाप घुटने टेक लेता है। युद्ध और आक्रमणमें जर्मनोकी मौन-स्वीकृति और उनकी सन्दिग्ध राजनैतिक नैतिकताका भी यही कारण है। इसीसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यो एक जर्मन नागरिक वडी आसानीसे वडे कड सवाद नियत्रण और विना मुकदमा चलाये ही कारावासको स्वीकार कर लेता है। एक सुप्रसिद्ध जर्मन समाचार-पत्र (१६३६) के अनुसार 'वन्दी-शिविर कोई अपमानकी वात नही, वल्कि वह सस्कृतिके आभूषण है। इन शिविरोमे ऐसे व्यक्तियोको दृढ दयालुताके साथ सच्चे जीवनकी शिक्षा दी जाती है जिनकी देख-भाल पहले नही की गयी।' जर्मनीमें शत्रु देशोके रेडियोको सुनना एक अपराध था पर इगलैडमें (Berlin) से होने वाले लॉर्ड हॉ हॉ (Lord Haw Haw) के भाषण लोगोके मनोरजनका काम देते थे।

नाज़ियोके अनुसार राज्यकी प्रधान विशेषता, शक्ति और ओज है न कि न्याय और नैतिकता। नाज़ीवाद इस जर्मन सिद्धान्तको स्वीकार करता है कि शक्ति ही न्याय है। श्री फिश्ते (Fichte) के शब्दोमें 'राज्योके वीच शक्तिके अधिकारको छोडकर और कोई विधान नही है।' यह उन्होने उन्नीसवी सदीमे लिखा था। नाज़ीवाद विजयीकी तलवारको ही ठीक मानने वाले सिद्धान्तको व्यवहार और कार्य दोनो ही क्षेत्रोमे स्वीकार करता है। हिटलर के शब्दोमें 'जिसे जीना है उसे युद्ध करना होगा। जो युद्ध नही करना चाहता उसे जीनेका कोई अधिकार नही। यह कथन कठोर भले मालूम हो पर वस्तु-स्थिति या असलियत यही है।' मैनहीम (Mannheim) के सार्वजनिक स्कूलके प्रधानाध्यापक डॉ० क्रीक (Dr Krieck) का कहना है 'विश्वविद्यालयोका काम पदार्थ-मूलक विज्ञान पढाना नही है, वल्कि सैनिक युद्ध-सम्वन्धी और वीरता का विज्ञान पढाना है।' राइखस्वेर (Riechswehr) के भूतपूर्व प्रधान जनरल फान सीख्त ने लिखा है 'युद्ध मनुष्यकी सफलताका सवसे ऊचा शिखर है। मानव-जातिके इतिहासमे युद्ध विकासकी अन्तिम स्वाभाविक अवस्था है। युद्ध ही समस्त वस्तुओका स्रष्टा है। जीवनके अस्तित्वका सवसे अधिक सरल और पोषण करने वाला तत्त्व युद्ध ही है। युद्धको रोकनेका प्रयत्न प्रकृतिके कार्यको रोकनेके समान है। प्रकृतिके कार्य भी वडे भयानक होते है। प्रत्येक जीवित वस्तु भयानक होती है।'

युद्धके लिए व्यापक तैयारिया करते हुए भी नाज़ियोने ससारको यह विश्वास दिलाया कि वह शान्तिके परम उपासक है और जो भी सैनिक तैयारिया वह कर रहे है वह सवके हितके लिये है। १६३५ तक अपने दलकी एक सभामें हिटलर ने कहा था 'हमारे व्यवहार को परखनेकी केवल एक ही कसौटी हो सकती है और वह है शान्तिके लिए हमारा महान् अडिग प्रेम।' शान्ति-मूलक घोषणाए नाज़ी-सिद्धान्तके अनुसार शत्रुओको निष्क्रिय और असावधान वनाये रखनेके लिए की जाती रही। पर जैसे ही हिटलर ने अपने आपको इतना अधिक शक्तिशाली समझ लिया कि वह अपनी सामरिक शक्तिका प्रदर्शन कर सके, उसने एक न एक वहानेसे पडोसी प्रदेशोको हडपना प्रारम्भ कर दिया।

शक्तिका प्रयोग करनेके लिए प्रारम्भमें दो वहाने निकाले गये—वार्साई की सन्धि द्वारा किये गये अन्यायोको मिटाना और समस्त जर्मन जनताको एक झडेके नीचे एकत्र करना। एक शुद्ध राष्ट्रीयतावादी आन्दोलनसे वदलकर नाज़ीवाद वहुत जल्दी सर्वजर्मन-वादी (Pan-Germanic) आन्दोलन वन गया।

विदेशोमें रहने वाले अल्पसख्यक जर्मन लोगों को उकसाया गया कि वह वहा झगडे पैदा करें और यह आवाज उठायें कि उनके साथ विदेशी मालिको द्वारा अमानुषीय व्यवहार किया जाता है जिससे नाजियोको सम्बन्धित प्रदेश हथिया लेनेका अवसर मिले। ऑस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंडमें यही हुआ।

जिन प्रदेशोंमें काफी तादादमें जर्मन अल्पसख्यक थे उन्हें जर्मनीमें सम्मिलित कर लेने पर भी जब हिटलरको सन्तोष नही हुआ तब वह ससारको अपने अधीन करनेके लिए आगे बढा और नॉर्वे, डेनमार्क, बेल्जियम, हॉलैंड, फ्रास, यूनान और बाल्कन राज्योको उसने अपने अधीन कर लिया। दूसरे विश्व-युद्धके प्रारम्भ होनेसे कई महीने पहले ही हिटलर ने यह आवाज उठायी कि वारसाईकी सन्धिके अनुसार जर्मनीके जो उपनिवेश उससे ले लिये गए थे वह उसे लौटाये नही गए। वह बराबर यह तर्क करता रहा कि 'चुरायी हुई सम्पत्ति वापस की जानी चाहिए', पर साथ ही साथ इस बातका भी ध्यान उसने रखा कि जिन लोगोंसे प्रारम्भमें यह उपनिवेश छीने गये थे उनकी चर्चा तक भी न होने पाये। अपनी आक्रमण मूलक योजनाओंको छिपानेके लिए और अपने अनुयायियोकी भावनाओंको उत्तेजित करनेके लिए वह ऐसे ऊपरसे सच मालूम होने वाले और प्रभाव-पूर्ण तर्कोंका उपयोग करता रहा जैसे तर्क 'जीनेके लिए स्थान' और 'सब ओरसे घेरना' आदि वाक्याशो में सन्निहित हैं। इस प्रकार नाजी आन्दोलन पहले एक शुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन था, शीघ्र ही वह सर्वजर्मनवादी आन्दोलन बन गया और फिर एक बर्बर साम्राज्यवादी आन्दोलन तथा ससारकी शान्तिके लिए एक सकट बन गया।

नाजीवादका लक्ष्य था एक शक्तिशाली और ओज-पूर्ण जर्मन जाति तथा एक युद्धके लिए उद्यत जर्मन राज्य जो समूचे संसार पर अपनी सत्ताको हावी बनानेके लिए प्रयत्नशील हो, यही कारण है कि नाजीवाद बहुत अधिक जातीयतावादी था। यहूदियोमें नाजियो को जर्मनीके पिछले २० वर्षोंकी कठिनाइयोका उत्तरदायी बलिका बकरा मिल गया। आर्य जातिकी कल्पित गाथाका अन्वेषण किया गया और तथाकथित अनार्य लोगोको जर्मनीकी धरतीसे बाहर निकालनेके लिए कठोर कार्यवाही की गयी। यहूदियोके विरुद्ध जनतामें घृणा और क्रोध उत्पन्न करनेके लिए अनेक झूठी बातोका प्रचार किया गया। अपने प्रारम्भिक भाषणमें उन्होने कहा था 'आश्चर्य है! तुम जर्मन लोग, जो ससारमे सबसे उत्तम हो, तुम जिनकी नसोमें जर्मन नार्डिक आर्योका रक्त बह रहा है, तुम दीन-हीन बना दिए गए हो दरिद्र बना दिए गए हो! तुम्हें यह भी पता नही कि कल तुम्हारी रोटी तुम्हें कैसे मिलेगी! और यह सब क्यों? क्योकि तुम्हारी सेनाए युद्धमें पराजित हो गयी? नही, वह कभी भी पराजित नही हुई, कभी नही! वह सब जगह विजयी रही, पर जब अन्तिम विजय उन्हें मिलने वाली थी तब यहूदी-मार्क्सवादी देश-द्रोहियोने उनकी पीठमें छुरा भोक दिया।' एक जनप्रिय नाजी कहावत थी 'यहूदी हमारा दुर्भाग्य है, हिटलर हमारा त्राता है।' यहूदियो और अपने विरोधियोंके प्रति अपने व्यवहारमें नाजियो ने निर्दयता और अप्राकृतिक मैथुनके ऐसे काड किये जिन पर २०वी सदीमें विश्वास नही किया जा सकता।

नाजी सिद्धान्त यह था कि आर्य लोग सस्कृतिके महान् कुशल निर्माता हैं और शेष ससार निम्न कोटिकी जातियोंसे भरा हुआ है। हरमैन गाचके अनुसार 'अनार्डिक या अनार्य लोग आर्यो या नार्डिक लोगो और पशुओंके बीचकी स्थितिमें हैं। वह वनमानुषसे

कुछ आगे बढे हुए है। इन जातियोका व्यक्ति पूर्ण मनुष्य नही है। पशुओके विरोधमें वह वास्तवमें मनुष्य है ही नही। बल्कि वह सक्रमण-काल वाली बीचकी स्थितिका प्राणी है। इसलिए उसके लिए उपमानव (Subhuman) की उपाधि ही उचित है।' इन्ही महान् लेखककी सम्मति है 'यह नही सिद्ध किया जा सका कि अनार्डिक लोग वनमानुषोसे सहवास नही कर सकते।' शिक्षा अथवा बदले हुए वातावरणसे वह लाभ नही उठा सकते।

नाजियोको न तो इस वैज्ञानिक सिद्धान्तसे ही कोई परेशानी हुई कि ससारमे शायद कही भी कोई जाति शुद्ध नही है और न इस तथ्यसे ही वह विचलित हुए कि जर्मन जनता का आधेसे कुछ कम हिस्सा ही नार्डिक है, शेषका अधिकाश आल्पाइन वर्गका है। जातीय शुद्धताके नाम पर जातीय मेलमिलावट पर कडी रोक लगा दी गयी और पौर-अधिसेवको को, यदि दो या तीन पीढी तक उनके पूर्वजोमे यहूदी रक्त होनेकी बात पायी गयी तो, उनके पदोसे हटा दिया गया। यदि किसी पौर-अधिसेवककी पत्नीकी नसोमे यहूदी रक्त होनेका सदेह हुआ तो वह अपने पद पर नही रह सकता था। इस अतिवादी जातीयतावादके साथ जर्मन धार्मिक मूर्ति-पूजाके प्रति गहरी भक्ति मिला दी गयी और इस सिद्धान्त पर भी दृढ विश्वास जमाया गया कि जर्मन स्त्रीका महत्त्व केवल इस बातमे है कि वह शुद्ध नार्डिक बच्चे पैदा करे और नार्डिक जातिकी सत्ता कायम रखे। कैथोलिक और प्रोटेस्टेट धर्म दोनोकी ही निन्दा इसलिए की गयी कि वह अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे और उनकी नैतिकता 'दास-वृत्तिकी नैतिकता' थी। प्रो० अर्न्स्ट बर्गमैन ने लिखा है 'जर्मन धर्मके मानने वाले हम लोग, आज इस प्राचीन नार्डिक, भारतीय जर्मन (Indo-Germanic) ज्योतिर्पुज प्रतिमाको अपनाते है और मानव जातिको हानि पहुचानेवाली ईसाई धर्मगुरुओ और धर्म-सघ द्वारा उत्पन्न की गयी झूठी और रुग्ण ईसा की प्रतिमासे छुटकारा दिलाते है। नवीन जर्मन मूर्ति पूजावादका महापुरोहित स्वय हिटलर ही है। वही सच्चा पवित्र आत्मा है। हिटलर एक है। ईश्वर एक है। हिटलर ईश्वरके समान है। हिटलर एक नवीन, एक महत्तर और एक अधिक शक्तिसम्पन्न ईसा है।' जर्मनीकी ईसाई चर्चोका मुह बन्द कर दिया गया और बन्दी शिविरोके डरके मारे उन्हें अपना मुह खोलनेका साहस नही हुआ।

हर फॉन पॉपेनके अनुसार नाजी योजनामें 'माताओको बच्चोको जीवन-दान देनेमें अपने आपको समाप्त कर देना चाहिए। पिताओको अपने बच्चोका भविष्य सुरक्षित करनेके लिए युद्ध-क्षेत्रमें लोहा हो जाना चाहिए। लाल स्वस्तिकके महिला वर्गकी घोषणा मे यह कहा गया था . एक स्त्रीके लिए अपने बच्चोको युद्धमें भेजनेसे बढकर ऊचा और सुन्दर सम्मान और कोई नही है।' हिटलर के अनुसार जो कि स्वय एक अविवाहित व्यक्ति था, 'महिलाओको शिक्षामें मुख्यत उनके शारीरिक विकास पर अधिक जोर देना चाहिए। उसके बाद ही आत्मिक महत्ताओ पर और सबसे बादमें बौद्धिक या मानसिक विकास पर जोर देना चाहिए। स्त्री-शिक्षाका उद्देश्य निश्चित रूपसे मातृत्व ही है।'

कुछ नाजी लेखकोने पूर्णत नार्डिक बच्चोकी अभिवृद्धिके लिए यौन अनैतिकताका खुले आम समर्थन किया था—यदि ऐसी अनैतिकता इस उद्देश्यमें सहायक हो सके। इस प्रकार डा० विलीबाल्ड हैन्शेल ने लिखा था . 'लगभग एक हजार शुद्ध रक्त वाली जर्मन-लडकियोको पकड लो। उन्हे एक शिविरमें अलग रख दो, फिर उतने ही शुद्ध रक्त वाले १,००० जर्मन पुरुषोको उनके बीच डाल दो। यदि इस प्रकारके १,००० शिविर भी खोले जा सके तो हमे एक साथ लगभग १ लाख शुद्ध रक्त वाले जर्मन बच्चे मिल जायेगे।

नाजी राज्यने अपने राजकर निश्चित करनेकी नीति द्वारा तथा अन्य अनेक उपायोंसे बड़े-बड़े परिवारोंकी व्यवस्थाको प्रोत्साहित किया। वह संतति-निरोधको जातिके प्रति एक पाप मानता था और घरको ही स्त्रियोंका स्वाभाविक स्थान मानता था। पर इस दूसरी मान्यतामें आगे चल कर युद्धकी परिस्थितियोंके कारण कुछ ढिलाई करनी पड़ी।

इसमें सन्देह नहीं कि इस सबमें एक उच्च कोटिका आदर्शवाद है पर उसकी प्रेरणा और प्रगति गलत रास्ते पर हुई। बाहरी लोगोंके लिए उसमें कोई मनुष्यता या भाईचारे की भावना नहीं है। राज्य तथा समाज सम्बन्धी नाजी सिद्धान्त नेतृत्व, अनुशासन, अधिकार-सत्ता, एकता और कठोर एकरूपता पर भी बहुत अधिक जोर देता है। नाजीवाद व्यक्ति-वाद, उदारवाद, शान्तिवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, समाजवाद और साम्यवादका जानी दुश्मन है। उदारवादको नाजीवाद एक आरामतलब सिद्धान्त कह कर उसकी उपेक्षा करता है, उसे वह एक ऐसी विलासकी बात मानता है जिसे जर्मनीकी तरह अपने जीवनके लिए लड़ने वाली कोई जाति बर्दाश्त नहीं कर सकती। मार्क्सवादी वर्ग-युद्धको जातिकी आत्मिक एकताको नष्ट करनेवाला मानता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, उसकी दृष्टिमें, एक कायरका स्वप्न है। हरबख (Hurr Buch—१९३७) के शब्दोंमें 'जो कोई भी आज जर्मनीमें कोई महत्त्व-पूर्ण काम करना चाहता है वह ऐसे किसी दलका सदस्य नहीं हो सकता जो अन्तर्राष्ट्रीय गठबन्धनमें हो।'

जब हम नाजियोंके राजनैतिक सिद्धान्तोंको छोड़कर उनके आर्थिक सिद्धान्तोंकी ओर ध्यान देते हैं तो इस क्षेत्रमें भी हमें राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता पर वही जोर दिखायी देता है। सार्वजनिक कल्याणको व्यक्तिगत स्वार्थोंसे ऊंचा स्थान दिया गया है और जर्मनीकी आर्थिक आत्मनिर्भरताके उद्देश्यसे आर्थिक स्वतंत्रताकी नीतिका ठीक-ठीक अनुगमन किया गया। शुद्ध पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही अस्वीकार कर दिए गए क्योंकि उनसे जनता आपसमें लड़ने वाले वर्गोंमें बंट जाती है। राज्यके नाम पर और जनताके कल्याणके लिये पूंजीपति और मजदूर दोनोंका ही नियंत्रण किया गया और जर्मनीमें मालिकों और मजदूरों के पृथक् संगठन नहीं रहे जैसे कि सुसंस्थित इटलीमें थे क्योंकि नाजीवाद पूंजीपति और मजदूरके बीच हितोंके संघर्षकी स्थिति अस्वीकार करता है। मालिकों और मजदूरों दोनोंको मजदूर मोर्चेमें सम्मिलित होनेके लिए उत्साहित किया गया, और इसके दरवाजे अनार्योंके लिये बन्द रखे गये। भारी-भारी उद्योगोंको बराबर चलने दिया गया पर राज्य द्वारा उनका कठोर नियंत्रण किया गया। जर्मनीके बाहर किसी प्रकार भी सम्पत्ति ले जाने की आज्ञा नहीं दी गयी। राज्यकी अनुमतिसे ही नयी पूंजी प्राप्त की जा सकती थी। वित्त-मंत्रीके अधीन काम करने वाली राइख अर्थ समिति उद्योग, व्यवसाय, बैंकें, बीमा, सार्व-जनिक उपयोगिताएं और हस्तशिल्पका नियंत्रण करती थी पर व्यक्तिगत उपक्रम पर रोक नहीं लगाई जाती थी। १९३३ के बाद जर्मन सरकार देशके बैंकों पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखने लगी। वस्तुओंके आयात और निर्यातके लिए सरकारसे आज्ञा लेनी होती थी। हड़तालों और ताले-बन्दी पर रोक लगी थी। 'सामाजिक सम्मान' के भंग होने पर अर्थात् मजदूरोंके आत्मसम्मानके विरुद्ध किये जाने वाले अपराधों पर विचार किये जानेके लिए श्रमिक न्यायालयों (Courts of Labour) की स्थापना की गयी। वेतन और मूल्य निर्धारित किये गए। हिटलर निम्नकोटिके छोटे व्यक्तियोंको अवसर देनेकी नीतिका समर्थक था। राजनैतिक संगठनकी भांति समूचा आर्थिक ढांचा भी नेतृत्वके सिद्धान्त

पर सैनिक ढगसे तैयार किया गया था। फासीवादी इटलीकी अपेक्षा नाज़ी जर्मनीमें निजी सम्पत्ति और व्यक्तिगत उपक्रमके अधिकारो पर अधिक नियत्रण लगे थे।

जर्मनीकी बेकारीकी समस्याको हल करनेमें शस्त्रीकरणकी योजनाके साथ-साथ सार्वजनिक कार्योकी योजनाओंने भी बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया। इन योजनाओमें मकान बनाना, सड़कें बनाना और बेकार बरतीको उपयोगी बनाना आदि शामिल थे। कही-कही २५ वर्षसे कम उम्रके युवकोको हटा कर जवान लोगोको रखा गया। पुरुषोको स्थान देनेके लिए स्त्रियोको उद्योगोसे निकाला गया। एक विशेष आयकर-भत्ता (Income Tax allowance) देकर बडे-बडे परिवारोको आवश्यकतासे अधिक घरेलू नौकर रखनेके लिए उत्साहित किया गया।

युद्धके लिए अपने खानेकी चीजोको सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे भोजनकी अनेक सामग्रियो की कठोर राशनिंग की गयी। 'मक्खनके बदले बन्दूक' यही देशका नारा था। १९३५ में नाज़ी नीतिको स्पष्ट करते हुए गोयरिंग ने कहा था 'हमें यह निश्चय करना था कि हम अपने विदेशी विनिमयका उपयोग धातुओंके लिए करेंगे या अन्य चीज़ोंके लिये। या तो हम अपनी आज़ादी बेच कर मक्खन खरीद सकते थे या मक्खन छोड कर अपनी आज़ादी जीतनेकी कोशिश कर सकते थे। हमने कच्ची धातुओके पक्षमे अपना फैसला किया है। जर्मन जनताने यह दिखला दिया है कि वह एक महान् उद्देश्यके लिए महान् बलिदान करने के लिए तैयार है।' १९३६ में नाज़ी स्वास्थ्य विभाग द्वारा प्रसारित एक नारा यह था 'राष्ट्रीय समाजवादी खाओ।' इस सबसे यह सिद्ध होता है कि कई वर्षो तक जर्मन जनता को एक 'स्थायी युद्धकालीन अर्थ-नीति' के अधीन रखा गया था।

नाज़ी कार्य-क्रमको कार्यान्वित करने और नाज़ी सिद्धान्तको पूरा करनेमें हिटलर का शक्तिशाली व्यक्तित्व, निर्माण, सगठन और ओजपूर्ण प्रचार—इन तीनोने असाधारण काम किया। एक क्रियाशील व्यक्ति होते हुए भी हिटलर एक स्वप्नदर्शी और रहस्यवादी भी था। वह अपने आपको ससारके भाग्य-निर्माणका एक साधन मानता था। अपने देशकी सेवाके लिए अपने आपको योग्य बनाये रखनेके उद्देश्यसे उसने बड़े सयमका जीवन बिताया था, न उसने मास खाया, न शराब पी और न धूम्रपान किया। अपने अनुयायियोंसे भी वह ऐसे ही दृढ अनुशासन तथा राज्य और जनताके प्रति अनन्य निष्ठाकी माग करता था। वह एक विचारका मूर्त रूप था। अपनी अमानवीय वक्तृत्व शक्तिसे वह जनताको वशीभूत कर लेता था। यदि जर्मनीकी जनताने उसे एक देवताके स्तर तक उठा दिया तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नही। एक तत्कालीन लेखकके शब्दोमें 'वह बात नहीं करता वरन् भाषण देता है, वह विवाद नहीं करता—निर्णय देता है, वह चलता नहीं है—लम्बी छलागें भरता है।' सम्भवत इतिहास हिटलर को आधुनिक युगका सबसे अधिक प्रसिद्ध पागल व्यक्ति कहेगा।

नाज़ियोने अपने आपको सबल सगठनकर्त्ता और कुशल प्रचारक सिद्ध कर दिया। जर्मनीमें ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं था जो क़दम-क़दम पर नाज़ियोंके प्रभावको महसूस न करता हो। बच्चे, नौजवान, स्त्रिया, उद्योगपति और मजदूर सभी नाज़ी प्रचारकोंमें भर्ती किये गये थे। गोयबेल्स, गोयरिंग और ले (Ley) जैसे व्यक्ति कोई बात कहते थे और पलक मारते ही समूचे देशके कोने-कोनेमें वह बात घोषित हो जाती थी। हिटलर ने, जो स्वय ही प्रचार-कलामें दक्ष था, अपनी पुस्तक मीन कैम्फमें सफल प्रचारके लिए निम्नलिखित

सुझाव दिया है 'जनताके व्यापक स्तर पर प्रभाव, कुछ बातो पर अधिक जोर देना, लगातार उनको बार-बार कहना, निश्चयात्मक घोषणाओके रूपमें आत्मनिश्चय और आत्म-विश्वासके साथ भाषणकी रचना, प्रचारमें बहुत अधिक परिश्रम और फल-प्राप्तिमें धैर्य।' हिटलर का सूत्र यह था कि 'प्रचारका बौद्धिक स्तर जितना ही नीचा होगा उतनी ही अधिक सख्यामें लोग उसे अपना लेंगे।' इसकी व्याख्या करते हुए गोयबेल्स ने कहा था 'प्रचा साधारणीकरणकी कला है।' जर्मन जनताकी वचकताके सम्बन्धमें हिटलर ने लिखा है 'जर्मन लोगोको इस बातका कोई पता ही नही है कि जनताका समर्थन प्राप्त करनके लिए लोगोको कितना धोखा दिया जाना चाहिए।' उसका कहना था कि प्रचारका सूक्ष्म सत्य से कोई सम्बन्ध नही है। उसका विचार था कि 'साहसके साथ कही गयी एक झूठ बात पर यदि वह काफी बडा झूठ है तो, उसके बडप्पनके कारण ही, लोगोंको विश्वास हो जाता है।

धर्म-पीठ, विद्यालय, रगमच, सिनेमा, रेडियो, समाचार-पत्र, कला, विज्ञान औ साहित्य सभीको नाजीवादकी उद्देश्य-सिद्धिमें सहायक बनना पडा। पाठशालामें पढा जाने वाले प्रत्येक विषयमे नाजी प्रचार शामिल किया गया। अकगणितमें बमोंके आकार और उनकी विध्वसक शक्तिकी नाप-तौल सिखायी जाने लगी और धर्मने फ्यूरर (हिटलर) की पूजाका रूप धारण किया। जब बच्चा स्कूलसे भोजनके लिए घर लौटकर आता तो मा-बाप 'हिटलर की जय' कह कर उसका स्वागत करते। 'हिटलर की जय' का घोष एक जर्मन ५० से लेकर १५० बार तक एक दिन में करता था। प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चे के लिए कमसे कम एक नाजी सगठनका सदस्य होना आवश्यक था। प्रत्येक जर्मन बच्चे द्वारा पढी जाने वाली एक नाजी पाठ्य-पुस्तकमें निम्नलिखित बहुमूल्य भाव गूथे गये थे

'हमारे नेता, एडोल्फ हिटलर,
हम तुम्हें प्यार करते हैं,
हम तुम्हारे लिये प्रार्थना करते है,
हम तुम्हारी बात सुनना पसन्द करते हैं
हम तुम्हारे लिए काम करते है, तुम्हारी जय हो।'

३ नाजीवादका मूल्याकन (Estimate of Nazism).

इस शताब्दीके तीसरे और चौथे दशकमें नाजीवाद मानव-जातिके लिए तब तक सबसे बडा सकट बना रहा जब तक १९४५ मे वह पराजित न कर दिया गया। पराजित होने पर भी नए रूपोमें पुन जीवित और सक्रिय हो उठनेकी शक्ति उसमे है। इससे केवल यही स्पष्ट होता है कि निम्नतर भावनाओ और प्रेरणाओका सहारा लेकर किस प्रकार एक साधारणत बुद्धिमान् जनताको गलत मार्ग पर ले जाया जा सकता है।

नाजीवादमें इतनी कुशलता थी कि युद्धसे थकी हुई एक जातिकी शिकायतो—असुविधाओंसे वह अधिकसे अधिक लाभ उठा सका, उनकी समस्त बुराइयोंके लिए उत्तरदायी एक बलिका बकरा खोज निकाला, और उन सब तकलीफोकी अचूक और मोहक ओषधिया प्रस्तुत कर सका। उसका प्रारम्भ पूजीवादके अन्तिम गढ या रक्षकके रूपमें हुआ। एक बार सत्तारूढ हो जानेके बाद उसने पूजीपतियोंसे स्वतत्र होकर काम करना प्रारम्भ किया और पूजीवादको समाप्त कर देनेके लिए कदम उठाये। उसने समाजवादी पद्धतियो और समाजवादी सस्थाओका उपयोग किया—समाजवाद और सामाजिक न्यायकी स्थापना

के उद्देश्यसे नही बल्कि सर्वाधिकारवादीके आधार पर एक नैतिक राज्य स्थापित करनेके उद्देश्यसे। आर्थिक आवश्यकताओंको नैतिक सुविधाका अनुगामी बनाया गया। एक व्यापक लोकप्रिय आधार पर एक तानाशाही स्थापित की गयी और नेताको धरती पर ईश्वर समझा जाने लगा। होशियारीके साथ कुछ चोटें लगाकर उदार परम्पराए उखाड फेंकी गयी और जनता पर जादू असर कर गया। बर्बरता और हिंसा दैनिक व्यापार बन गये। इतिहासका सबसे महान् युद्ध प्रारम्भ कर दिया गया। जिसने लगभग ६ वर्ष तक अपरिमित विध्वस किया। जाति-सम्बन्धी कपोल-गाथा कुछ ऐसी रची गयी कि यहूदी लोग समस्त बुराइयोंके मूर्त-रूप बन गए। श्री हैलोवेलके शब्दोमें नाजीवाद 'आत्मिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनैतिक अराजकताकी राजनैतिक अभिव्यक्ति' था।

नाजीवाद और फासीवादकी इस तेजीके साथ होनेवाली उन्नति और उसके पतनसे बहुत सी शिक्षाए मिलती है। मनुष्य अब भी एक विचारवान् प्राणी होनेकी स्थितिमे बहुत दूर है। इसलिए उसकी अन्ध लालसाओं और प्रेरणाओंको समुचित नियत्रणमें रखना आवश्यक है। यदि उदारवाद (Liberalism) घुटने टेक देता है और लोगोके नागरिक और राजनैतिक अधिकारोकी रक्षा करनेसे डरता है तो वह फासीवादके लिए द्वार खोल देता है। एक राजनैतिक सविधानके रूपमें प्रजातत्र तब तक व्यर्थ है जब तक आर्थिक और सामाजिक न्यायके रूपमें वह दैनिक प्रयोगमें न लाया जाय, उसके पीछे परमात्मा पर अडिग विश्वासका बल न हो और उसे व्यक्ति-रूपमें मनुष्यो पर और उनके ऊचे लक्ष्य या भाग्य पर अडिग आस्था न हो।

अविवेकवाद और सैनिकवादकी प्रतिक्रिया भी देर-सवेर होती है। फासीवादी मनोवृत्तिके लिए विचार और चिन्तन अभिशाप है, क्योकि वह तो तर्क-विवेककी अस्वीकृति है। सैनिकवाद अपना पतन शीघ्र ही लाता है। जो तलवार उठाते है वह तलवारके ही घाट उतर जाते है। जातीय विद्वेषवाद एक बर्बरता है जिसे ससार अब अधिक नही सहन कर सकता, यदि वह अपनी रक्षा चाहता है। राजनैतिक और आर्थिक राष्ट्रीयता बडी तेजीसे पुरानी और युगके अनुपयुक्त होती जा रही है, इसलिए लोगोको अब विश्व-प्रजातत्र और विश्व-व्यापी नागरिकताकी नवीन धारणाओंके अनुकूल अपने आपको बनाना चाहिए।

SELECT READINGS

Works of KARL MARX, LENIN *and* TROTSKY.
BRADY, R. A.—*The Political and Social Doctrine.*
CROSSMAN, R. H S.—*Government and the Governed.*
DRUCKER, B.—*The End of Economic Man.*
FINER, H —*Mussolini's Italy*
FLORINSKY, M T.—*Fascism and National Socialism.*
GOAD, AND CURRY—*The Corporative State.*
GOBINEAW, ARTHUR LE—*The Inequality of Human Races.*
HALLOWELL, J. H.—*Main Currents in Modern Political Thought.* —Chs 11-17

HECKER, J The Communist Answer to the World's Needs
HITLER, A.—*Mein Kampf*
LASKI, H —*Communism*
LICHTENBERGER, H —*The Third Reich*
MUSSOLINI, B —*The Political and Social Doctrine of Fascism*
OAKESHOTT, M —*The Social and Political Doctrines of Contemporary Europe.*
ROBERTS, S. H —*The House that Hitler Built*
ROUCIH, J S ED —*Twentieth Century Political Thought*
SABINE, G H.—*A History of Political Theory*
SALVEMINI, G.—*Under the Axe of Fascism.*
SCHUMAN, F L —*Hitler and the New Dictatorship*
SLOAN, PAT —*Russia Without Illusion*
STRACHEY, J —*The Menace of Fascism*
WILKINSON, E & CONYA, E —*Why Fascism?*

राष्ट्रीयतावाद, साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद

(Nationalism, Imperialism and Internationalism)

राष्ट्र और राष्ट्रीयता या जातिकी परिभाषा (Definition of Terms—Nation and Nationality).

'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रीयतावाद' शब्दोंके सटीक अर्थोंके सम्बन्धमें राजनीति-शास्त्रके सभी लेखक एकमत नही है। अंग्रेजीके नेशन (Nation) शब्दकी उत्पत्ति लैटिन के नेशियो (Natio) शब्दसे हुई है जिसका अर्थ है 'जन्म' या 'जाति'। पर इसका यह अर्थ नही है कि राष्ट्रीयतावाद और जातीयतावादकी धारणाए एक है। १७वी शताब्दी में नेशन (राष्ट्र) शब्दका उपयोग किसी राज्यकी ऐसी आबादीको व्यक्त करनेके लिए किया जाता था जो अपनी जातीय एकताका प्रतिनिधित्व करती हो। बर्नार्ड जोसेफ का कहना है कि यह अर्थ अधिकाश रूपमें आज भी प्रचलित है। फ्रासीसी राज्य-क्रान्तिके समय नेशन शब्द बहुत लोकप्रिय हो गया और उसका प्रयोग देश-भक्ति (Patriotism) के अर्थमें किया जाता था। 'राष्ट्रीयता उन दिनो एक सामूहिक भावना थी (४३ २०)।'

पर १७ वी शताब्दीसे 'नेशन' (राष्ट्र) और 'नेशनैलिटी' (राष्ट्रीयता) शब्दोका एक निश्चित अर्थ बन गया है। नेशन या राष्ट्र शब्द द्वारा राजनैतिक स्वाधीनता अथवा प्रभुता का आदर्श (चाहे वह प्राप्त हो या इच्छित हो) व्यक्त होता है। इनके विपरीत राष्ट्रीयता—नेशनैलिटी—अधिकाश रूपमें एक अराजनैतिक धारणा है और विदेशी शासनमें भी उसका अस्तित्व रह सकता है। राष्ट्रीयता एक मनोवैज्ञानिक गुण है, यद्यपि उसका प्रयोग प्रायः एक नैतिक और सास्कृतिक धारणाको भी व्यक्त करनेके लिए किया जाता है। इस अर्थमें व्याख्या करने पर 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' दोनो एकरूप धारणाएं नही है। स्वय अपना शासन करनेवाले एक राज्यकी जनताके अर्थमें राष्ट्रके भीतर अनेक राष्ट्रीयताओं का समावेश हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि इगलैड एक अकेला राष्ट्र है फिर भी उसमें चार विभिन्न राष्ट्रीयताए या जातिया—अंग्रेज, स्कॉच, वेल्स और उत्तरी आयरिश—सम्मिलित है। जैसे ही किसी एक जातिको राजनैतिक एकता और सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है वैसे ही वह राष्ट्रीयता या जाति एक राष्ट्र बन जाती है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार राष्ट्रीयताकी भावना वह अनुभूति या अनुभूतियोका समन्वय है जो एक व्यक्ति-समूहको उन बन्धनोंके प्रति सजग बनाता है जो पूरी तरहसे न तो राजनैतिक होते है न धार्मिक और जो उन व्यक्तियोको एक ऐसे समाजके रूपमें सगठित कर देते है जो या तो वास्तवमें या बीज रूपमें एक राष्ट्र होता है (७. ११८)।' 'राष्ट्रीय यूथ' (National Group)' शब्दका प्रयोग एक ऐसे समाजको व्यक्त करनेके लिए किया जाता है जिसमें राष्ट्रीयताका अभी निर्माण ही हो रहा हो और जिसमें एक राष्ट्र बनने रहनेकी इच्छाकी कमी हो।

जिन दो शब्दोंके सम्बन्धमें बहुत अधिक भ्रम होता है वह है 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रीयता-

वाद'। राष्ट्रीयतावादका प्रयोग कभी-कभी एक ऐसी अत्युक्ति-पूर्ण या अतिवादी राष्ट्रीयता की भावनाको व्यक्त करनेके लिए किया जाता है जो आक्रामक या हमलावर रूप धारण करनेवाली होती है। यह एक अप्राकृतिक भावना है जो अपने राष्ट्रमे और अपने राष्ट्रके कार्य में अच्छाईके अतिरिक्त और कुछ नही देखती। यह सच्चे राष्ट्रीयतावादकी भावना नही है। ठीक-ठीक समझने पर राष्ट्रीयतावाद उस ऐतिहासिक पद्धतिको पुष्ट करनेवाला है जिसके द्वारा राष्ट्रीयताए या जातिया राजनैतिक इकाइयोमें वदल जाया करती है। सच्चा राष्ट्रीयतावाद ऐसे लोगोंके उचित अधिकारोका समर्थक होता है जो एक अलग और वलवान् राष्ट्र या जातिका निर्माण धरती पर अपना स्थान प्राप्त करनेके लिए करते है। जैसा जोसेफ़ कहते है, जो भावना राष्ट्रीयताका आधार है उसे राष्ट्रीयताकी भावना कह सकते है, पर स्वय राष्ट्रीयतावाद नही कह सकते।

राष्ट्रीयताका अर्थ (The Meaning of Nationality) आजकल विचारक प्राय इस वातको मानते है कि राष्ट्रीयता मूलरूपसे एक मानसिक प्रवृत्ति या भावना है। श्री ए० ई० ज़िमर्न (A E Zimmern) लिखते है 'धर्मकी भाति राष्ट्रीयता भी आत्मपरक (Subjective) है, मनोवैज्ञानिक है, मनकी एक स्थिति है, एक आत्मिक सम्पत्ति है, एक भावना पद्धति है, विचार और जीवन है।' उसी लेखकके अनुसार राष्ट्रीयता एक राजनैतिक धारणा न होकर शिक्षा-सम्वन्धी धारणा है। मोटे अर्थो में यदि एक जनता अपने आपको एक राष्ट्रीयता या जातिके रूपमें महसूस करती है तो वह राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयताका एक राजनैतिक प्रश्न वन जाना तो आकस्मिक घटना है, मूलरूपमें राष्ट्रीयता एक आत्मिक और शिक्षा-सम्वन्धी प्रश्न है।

इसी विचारको दूसरे शव्दोमें रखते हुए कुछ लेखक कहते है कि राष्ट्रीयता एक सहज वृत्ति या स्वाभाविक प्रेरणा है। श्री जे० एच० रोज़ राष्ट्रीयताकी परिभाषा यह देते है 'दिलोकी एक ऐसी एकता जो एक वार वनकर भी न विगडे।' एक 'राष्ट्रीय' या जातीय राज्य और 'राष्ट्रीयता' के अन्तरको स्पष्ट करते हुए श्री सी० जे० एच० हेज (C. J. H Hayes) लिखते है एक 'राष्ट्रीय राज्यकी नीव हमेशा राष्ट्रीयता पर रहती है पर राष्ट्रीयताका अस्तित्व विना एक राष्ट्रीय राज्यके हो सकता है। राज्य तत्त्वत राजनैतिक होता है, राष्ट्रीयता प्रधान रूपसे सास्कृतिक होती है और केवल सयोगवश राजनैतिक हो जाती है (२३ ५)।'

राष्ट्रीयताके तत्त्व (Factors of Nationality) यदि राष्ट्रीयता एक आत्मपरक धारणा है तो वह कौन-सी वाहरी कसौटिया है, जो उस पर लागू की जा सकती है? वह कौन सी शर्ते है जिनको पूरा करना किसी राष्ट्र द्वारा राष्ट्रीयताके पदको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक होता है? इन प्रश्नोके उत्तरके लिए राष्ट्रीयताके तत्त्वोका विवेचन आवश्यक है।

राजनीतिक विज्ञानके लेखकोने उन तत्त्वोका लम्बा विवेचन किया है जिनसे राष्ट्रीयता का निर्माण होता है। पर वह सव इस वातको स्वीकार करते है कि जितने तत्त्वोका विवेचन उन्होने किया है उनमेसे एक भी राष्ट्रीयताके लिए परमावश्यक तत्त्व नही है यद्यपि उनमें से कुछके विना सच्ची राष्ट्रीयताका अस्तित्व ही नही रह सकता। कोई ऐसा सार्वभौम नियम नही वनाया जा सकता जिससे इन तत्त्वोके आपेक्षिक महत्त्वका निर्देश किया जा सके। पश्चिमी दुनियामें काफी अर्सेसे धर्म राष्ट्रीयताका तत्त्व नही रह गया

है 'ओ जेरुसलम! यदि मैं तुझे भूल जाऊं तो मेरा दाहिना हाथ अपने कौशलको भूल जाये। यदि मै तेरा स्मरण न करू तो मेरी जिह्वा तालूमें चिपक जाये, यदि मैं जेरुसलमको अपने सर्वप्रधान सुखसे भी उच्चतर न समझू।"[1] आधुनिक राष्ट्रीयतावादके मानसिक जन्मदाता मैज़िनी ने लिखा है 'हमारा देश हमारा घर है, वह घर जो परमात्माने हमें दिया है, जिसमें उसने अनेक परिवार रखे है, जो परिवार हमें प्यार करते है और जिन परिवारोको हम प्यार करते है। एक ऐसा परिवार जिसके साथ दूसरोंकी अपेक्षा हम अधिक तत्परतासे सहानुभूति रखते है और जिन्हे हम दूसरोकी अपेक्षा अधिक आसानीसे समझ पाते है, और जो परिवार एक निश्चित प्रदेशमें इकट्ठा रहनेके कारण और अपने तत्त्वोकी सजातीय प्रगतिके कारण एक विशेष प्रकारकी क्रियाशीलताके लिए उपयुक्त हैं।

'हमारा देश हमारी कार्यशाला (Workshop) है, जहासे हमारे श्रमका उत्पादन समूचे ससारके लाभके लिए वाहर भेजा जाता है और जहा वह सभी उपकरण और औज़ार इकट्ठे किये गये है जिनका हम वहुत अधिक सफलताके साथ उपयोग कर सकते है (५६ खड ४, पृष्ठ २७६)।'

यद्यपि ऊपरके विचारोंसे एक राष्ट्रीय जन्मभूमिका महत्त्व सिद्ध होता है फिर भी यह कहना ही होगा कि ससारको प्रकृति द्वारा निर्धारित प्रदेशोंके आधार पर वाटनेका परिणाम निरन्तर सघर्ष और युद्ध ही होगा। प्रो० हेज इस धारणाकी आलोचना करते है कि भूगोल द्वारा राष्ट्रीयताका निर्माण होता है। वह कहते है कि जातियोंके बीच प्राकृतिक सीमाओकी धारणा एक कोरी कल्पना है।

जहां तक भारतका सम्वन्ध है, १९४७ के विभाजनके पहले वह शेप समस्त ससारसे पृथक् एक निश्चित भौगोलिक इकाई था। उच्चतम देश-भक्तिकी भावनाओको सजग वनानेके लिए 'देश' सबसे अधिक उपयुक्त भौगोलिक इकाई है। यदि आधुनिक ससारमें भारतको जीवित रहना है तो यह आवश्यक है कि हम ग्राम-राजनीति, जातिकी राजनीति और कवायली राजनीतिको छोडकर तुरन्त राष्ट्रीय राजनीतिको अपनायें। 'दि प्रोजेक्शन आफ् इडिया' शीर्षक अपने एक विचारोत्तेजक निवन्धमें श्री एम० रत्नस्वामी ने यह लिखा है कि वर्तमान राजनीतिक स्थितिमें भारतकी जनताको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया जा रहा है पर देशकी धरतीकी ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया जा रहा है। निर्वाचन-क्षेत्रो का निर्धारण निश्चित प्रदेशोके लिए न होकर निश्चित सम्प्रदायोके लिए किया जाता है। सस्कृतिके क्षेत्रमें भी सम्प्रदायोंके प्रति विशेप अनुरक्ति 'आन्ध्र-विश्वविद्यालय', 'हिन्दू विश्वविद्यालय' और 'मुस्लिम विश्वविद्यालय' आदि नामोंसे स्पष्टत लक्षित होती है।

श्री रत्नस्वामी का यह तर्क विल्कुल ठीक है कि यदि भारतकी जनताके अपने अधिकार है तो भारतकी भूमिके भी अधिकार है। उसके भी 'अपने अधिकार और अपनी स्वाधीनताए है, अपने हित है और अपना महत्त्व है।' भारत हमारी जन्मभूमि है, एक पुण्य-भूमि है, और मातृ-भूमिके प्रत्येक पुत्रका यह कर्त्तव्य है कि वह 'अपने देशकी ऐसी कल्पना करे, उसका ऐसा विकास करे कि लोगोको अपना देश, उसकी स्वाधीनता और उसकी उन्नति प्रिय और काम्य हो जाय। भारतकी आकृति, उसका स्वरूप, उसका सौन्दर्य, नदिया, वालुका प्रदेश उसकी वनस्पतिया और उसके पशुवर्ग इन सवसे भारतके प्रत्येक

---

[1] स्तोत्र १३७, पद्य ५ और ६।

पुरुष स्त्री और बच्चेको परिचित कराना चाहिए। देशाटन और यात्राकी आदतोको ग्राम जनताके लिए देशके सभी हिस्सोकी यात्राओका प्रबन्ध करना चाहिए। समाचार-पत्रो, सिनेमा और रेडियोको एक सुसस्थित राष्ट्र-कल्पना-समितिके निर्माणके लिए सहयोग करना चाहिए और सरकारको उसमें सहायता करनी चाहिए।' 'राजनीति हमें विभक्त करती है, धर्म हमारे बीच दीवारें खडा करता है, सस्कृति हमें टुकडोमें बाटती है, पर हमारा देश और देशकी धरतीका प्यार हमें एक सूत्रमें बाध सकता है।' इन सब तर्कोकी दृष्टिसे भारतका विभाजन एक अत्यन्त दुर्भाग्य-पूर्ण स्थिति है।'

(२) जातीय प्रकारकी एकरूपता या जातीय एकता (Identity of Racial Type or Racial Unity) कुछ लेखक राष्ट्रीयताके निर्माण और उसके सुदृढ बनानेमें जातीय एकताको महत्त्व देते हैं। श्री जिमर्न (Zimmern) उसे बहुत ऊचा स्थान देते है और ब्राइस (Bryce) उसे राष्ट्रीयताकी भावना उत्पन्न करने वाले तत्त्वोमें से एक तत्त्वमात्र मानते है। इसके विपरीत मैजिनीका कहना है कि राष्ट्रीयताके लिए जाति आवश्यक नही है। श्री रेनन (Renan) की सम्मति यह है कि 'जाति एक ऐसी चीज है जो स्वय ही बनती-बिगडती रहती है और राजनीतिमें उसका कोई प्रयोग नही है।' जे० एच० रोजका कहना है कि राष्ट्रीयता जब अत्यन्त अविकसित रूपमें रहती है तभी जाति पर निर्भर रहती है। श्री हेज कहते है, 'शुद्धताकी स्थिति यदि कही है तो आज-कल असभ्य कबायली लोगोमें ही है।' श्री पिल्जबरी (Pillsbury) लिखते है, 'साधारणत राष्ट्रीयताके निर्माणमें जातिका अब कोई महत्त्व नही है, किसी भी राष्ट्रमें कोई भी शुद्ध जाति नही है। मनुष्य आज सब कही वर्णसकर है।' मुसोलिनी तक ने एक बार कहा था 'जाति एक भावना है, वास्तविकता नही। कोई भी बात मुझे कभी इस तथ्यका विश्वास नही दिला सकती कि जीव-शास्त्रकी दृष्टिसे आज शुद्ध जातियोका अस्तित्व है।'

इस प्रकार शास्त्रीय सम्मतिका पल्ला उन लोगोके पक्षमे भारी है जो जातिको अपेक्षाकृत एक निम्न स्थान देते है। आधुनिक स्विटजरलैंड और कनाडाका उद्धरण ऐसे उदाहरणोके रूपमे किया जाता है जहा विभिन्न जातीय उद्गमके लोग एक साथ रहते है और एक सुदृढ राष्ट्रीयताका निर्माण कर चुके है। कई पीढियोंसे सयुक्त राष्ट्र अमेरिका 'जातियोका सगम' बना हुआ है। जहा तक हमारा सम्बन्ध है, हम यह विश्वास करते है कि जातीय एकता राष्ट्रीयताका एक दृढ बन्धन है, पर वह अनिवार्य नही है। राष्ट्रीयता की प्रारम्भिक अवस्थामें वह अधिक महत्त्वपूर्ण है, बादकी अवस्थामें कम। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका मे जातीय वर्गोकी बहुत अधिक विभिन्नता है पर इनके साथ ही साथ वहा एक प्रभावशाली प्रधान जातीय यूथ भी है जो पुराने प्रवासियोके वशज है और देशके राष्ट्रीय जीवनको एक निश्चित रूप देनेमें समर्थ है।

साधारणत यह कहा जा सकता है कि जातीय एकरूपता एक निश्चित मात्रामें राष्ट्रीयताके लिए सहायक होती है। जब तक जातीय विभेदोकी अनेकरूपताले साधारण विभेद ही उत्पन्न होते है तब तक कोई बडी कठिनाई नही पडती। पर यह समझनेमें कठिनाई पडती है कि आग्ल-सैक्सनी, चीनी और नीग्रो लोग, अपने बीच वर्तमान सामाजिक विभेदो के कायम रहते हुए किस प्रकार एक राष्ट्रीयताका निर्माण कर सकते है। कोई भी राष्ट्रीयता अधिक समय तक नही टिक सकती यदि उनके जातीय वर्गोमें तीव्र विभेद हो।

यदि हम ससारके इतिहासको देखते है तो हमें 'कोई भी एक अकेली जाति बनी भी

एक राष्ट्रीयताका निर्माण करते हुए नही दिखायी देती।' फिन लोगो (Finns) को एक अकेली जाति माना जा सकता है पर वह विभिन्न राष्ट्रीयताओमें बंटे हुए हैं। जाति और राष्ट्रीयता कही भी एकरूप नहीं है। श्री जोसेफ का कहना है, 'वास्तवमें राष्ट्रीयता जातियोको पार कर जाती है।' कुछ लोग तो यहा तक कहते है कि राष्ट्रीयता ही जाति की सृष्टि करती है न कि जाति राष्ट्रीयताकी। हमारे देशमें जातीय अनेकरूपता बहुत प्रधान है, पर यह कहना तो अब युगके प्रतिकूल है कि भारतके विभिन्न सम्प्रदाय पूरी तरहसे एक दूसरेसे अलग जातीय समुदाय है। उदाहरणके लिए पजाबी मुसलमानो और पजाबी हिन्दुओंके बीच बगाली या मद्रासी मुसलमानोकी अपेक्षा अधिक जातीय समानता है, इस सम्बन्धमें धार्मिक या साम्प्रदायिक वर्गीकरणकी अपेक्षा प्रादेशिक वर्गीकरण अधिक सहायक हो सकता है।

(३) विचारों और आदर्शोंकी एकता अथवा सामान्य सस्कृति (Unity of Ideas and Ideals or a Common Culture) यदि राष्ट्रीयता मूल रूपमें एक सास्कृतिक धारणा है तो विचारो और आदर्शोकी एकता निश्चय ही उसका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सस्कृतिकी एकतामें सामान्य रीतिया और व्यवहार, सामान्य परम्पराए और साहित्य, सामान्य ग्राम्य-गीत, काव्य और कला भी शामिल हैं। सस्कृति की एकता जीवनके एक निश्चित प्रधान दृष्टिकोणकी भी अपेक्षा रखती है जिसमें जीवन के सामान्य मानदड, कर्त्तव्य और निषेध सम्मिलित रहते है। विचारो और आदर्शोकी एकता लोगोको परस्पर समीप खीच लाती है और उनमें सहयोगकी एक ऐसी भावना उत्पन्न कर देती है जो आसानीसे नष्ट नही की जा सकती।

राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, सस्कृति और कला, राष्ट्रीयताके कारण और परिणाम दोन हो सकते है। राष्ट्रीय साहित्य यद्यपि अपने आप राष्ट्रीयताकी सृष्टि नही करता फिर भी वह राष्ट्रीयताकी भावनाको मजबूत अवश्य बना सकता है। आधुनिक समयमें बोहेमियन और सर्बियन (Bohemian and Serbian) राष्ट्रीयताओको फिरसे जीवित करनेमे राष्ट्रीय साहित्यने महत्त्वपूर्ण काम किया है। 'राष्ट्रीय परम्पराओको उत्पन्न करके और उन्हें प्रतिष्ठित रख कर तथा राष्ट्रीय इतिहासको प्रिय बनानेका प्रयत्न करके राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीयताके विकासमें बहुत अधिक सहायता देता है। वह राष्ट्रीय परम्पराओको क़ायम रखने वाला है (३३ ११४)।' राष्ट्रीय साहित्य राज्यके सदस्योंके लिए एक गौरव और आदरकी वस्तु है। वाल्टेयर गर्वके साथ कहता था 'हमारी भाषा और हमारे साहित्यने चार्लेमैन (Charlemagne) की अपेक्षा अधिक विजय प्राप्त की है।

जीवनके दृष्टिकोणमें समानताकी सृष्टि करने तथा एक ही या एक समान मानदड स्थिर करनेमें राष्ट्रीय शिक्षा महत्त्वपूर्ण भाग ले सकती है। 'सयुक्त राष्ट्रोंके विभिन्न जातीय और सास्कृतिक यूथोको एक अकेली शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रीयताका रूप देनेमें अमेरिकीकरण' के रूपमें नागरिकताकी शिक्षाने बहुत बडा काम किया है। पर दुरुपयोग होने पर, जैसा कि नाजी जर्मनीमें हुआ था, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय अन्ध-भक्ति और विद्वेष बडी आसानीसे उत्पन्न कर सकती है। यदि उसका ठीक-ठीक उपयोग किया जाय तो राष्ट्रीय शिक्षा एक नैतिक एकता, एक सामान्य सत्-असत्-विवेक, अधिकाश विषयोमें विचारोकी एकता तथा राष्ट्रके समस्त सदस्योमें सामाजिक सम्मिलन उत्पन्न करनेका आवश्यक उद्देश्य पूरा कर सकती है (४३ ११८)।'

राष्ट्रीय संस्कृतिके विकासमें राष्ट्रीय इतिहास और परम्पराएं भी आवश्यक तत्त्व हो जाते हैं। रैम्जेम्योर का कहना है कि 'वीरताके कार्य, धैर्य-पूर्वक झेले गये कष्ट यही तो वह सुन्दर तत्त्व हैं जिनसे राष्ट्रीयताकी भावनाका पोषण होता है।' अपने अतीत पर उचित गर्व, वर्तमान पर स्वस्थ विश्वास और भविष्यकी प्रसन्न आशा यह सभी राष्ट्रीय भावना को सजीव और सबल बनाती हैं। श्री बी० जोसेफ के कथनानुसार खेल खेलनेकी परम्परा, नौसेनाका गर्व और चाय पीनेकी आदत जैसी परम्पराए, जो बहुत कम महत्त्व-पूर्ण मालूम होती हैं, इन्होंने भी अंग्रेजी राष्ट्रीयताको सुदृढ बनानेमें योग दिया है। जैसा कि श्री जे० एस० मिल ने कहा है 'सब (तत्त्वों) से अधिक शक्तिमान् (तत्त्व) हैं राजनैतिक पूर्ववृत्तों की एकता, एक राष्ट्रीय इतिहास होना जिनके परिणाम-स्वरूप सामान्य स्मृतियां, सामूहिक गर्व, सामूहिक लज्जा, आनन्द और पश्चात्ताप होता है। इन सबका सम्बन्ध अतीत की उन्हीं घटनाओंसे रहता है।'

यदि भारतीय राष्ट्रीयताको सबल और ओज-पूर्ण बनाना है तो विचारों और आदर्शों की उस एकता पर जोर दिया जाना चाहिए जो भारतीय संस्कृतिके मूलमें है। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियोंने एक दूसरे पर इतना अधिक प्रभाव डाला है कि भारतीय और पाकिस्तानी इस्लाम आज अरब या पडोसके अन्य किसी मुस्लिम देशका इस्लाम नहीं है। इसलिए हमारे सांस्कृतिक विभेदोंकी अत्युक्ति नहीं की जानी चाहिए और यदि इन दोनों बडे सम्प्रदायोंके बीच एक समुचित समझौता हो सके तो यह अन्तर तो पीछे छूट जायेंगे। सबसे बडी आवश्यकता तो इस समय है एक राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की। हमारे इतिहासको दुबारा इस ढंगसे लिखे जानेकी बहुत बडी आवश्यकता है कि दोनों सम्प्रदायोंके बीच होने वाले रक्तपात-पूर्ण युद्धों और अत्याचारोंके अत्युक्ति-पूर्ण उल्लेख हटा दिये जायें। इस सम्बन्धमें यह ध्यान देने योग्य बात है कि योरोपके कुछ देशोंमें कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच इतने भयानक रक्तपात-पूर्ण युद्ध हुए हैं जितने भारतमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कभी नहीं हुए।

(४) भाषाकी एकता (Unity of Language). राष्ट्रीयताका सबसे अधिक स्पष्ट तत्त्व है भाषा। रैमजेम्योर का विश्वास है कि एक राष्ट्रके निर्माणमें जातिकी अपेक्षा भाषाका महत्त्व कहीं अधिक है। 'सामान्य भाषाका अर्थ है एक सामान्य साहित्य, महान् विचारोंकी एक सामान्य प्रेरणा और गीतों तथा ग्राम्य-गाथाओंकी एक सामान्य पैतृक सम्पत्ति।' श्री रोज सामान्य भाषाको सबसे अधिक शक्ति-पूर्ण राजनैतिक प्रभाव मानते हैं। जोसेफ का कहना है कि एक सामान्य भाषा लोगोंको एक ही प्रकारके विचारों और भावोंको प्रगट करनेकी शक्ति देती है, नैतिकता, आचार और न्यायके सम्बन्धमें सामान्य मानदंड स्थिर करती है, सामान्य ऐतिहासिक परम्पराओंको प्रतिष्ठित रखती है और एक सामान्य राष्ट्रीय मनोवृत्तिको उत्पन्न करती है। आधुनिक समयमें अन्य लोगोंकी अपेक्षा पोल लोगोंने राष्ट्रीय भावनाको जीवित रखनेमें सामान्य भाषाके महत्त्वको प्रदर्शित किया है। जहां लोगोंमें अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक एकता बनाये रखनेका निश्चय हो वहां भाषाकी एकता बहुत अधिक उपयोगी होती है। एक सामान्य भाषासे होने वाले अनेक लाभोंके बावजूद भी यह स्पष्ट है कि अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जिनकी एक सामान्य भाषा नहीं है। इस प्रकार स्विटजरलैंडके लोग कमसे कम तीन भिन्न भाषाएं बोलते हैं। यदि राष्ट्रीयताके अन्य तत्त्व सबल हों तो सामान्य भाषाके बिना भी काम चल सकता है। सामान्यतो

जर्मन भाषा बोलने वाली जनता जर्मनीकी अपेक्षा फ्राससे अधिक जुडी हुई है। इसी प्रकार अमेरिकन और कनाडियन लोगोमें एक भाषा-भा ी होने पर भी और एक दूसरेके पडोसी होने पर भी एक अकेली राष्ट्रीयतामें विलीन हो जानेकी कोई प्रवृत्ति नही है।

जहा तक भारतका सम्बन्ध है भाषाका विभेद राष्ट्रीय एकतामे बाधक रहा है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बना देनेसे यथासमय यह स्थिति सुधर जायेगी। प्रवृत्ति यह होनी चाहिए कि एक मातृभाषाका विकास हो। स्कूलो और सडको पर उसका प्रयोग हो, संस्कृतिके विकास और विस्तारमें उसका उपयोग किया जाय और उसे न केवल परम्परागत और आधुनिक साहित्य तथा कलाकी अभिव्यक्तिका बल्कि आधुनिक टेकनिकल और वैज्ञानिक विचारोंके प्रकाशनका भी सुन्दर माध्यम बनाया जाय। पर इसका यह अर्थ नही है कि हिन्दी से भिन्न होने पर किसीकी मातृभाषाको नष्ट कर दिया जाय जैसा कि तामिल, तेलगू आदिके सम्बन्धमें लागू होता है। अग्रेजोंके शासन-कालमें अग्रेजी भाषा जनताके एक अशकी राष्ट्र-भाषा बन गयी। पर स्वभावत वह जनताकी भाषा नही बन सकती थी। फिर भी 'उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियोंके लिए इस भाषाका एक अच्छा कामचलाऊ ज्ञान लाभदायक होगा, उन्हें विशेष जोर अग्रेजी-साहित्यकी अपेक्षा आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधानो तथा सामाजिक और आर्थिक तथ्यो पर देना चाहिए।'

(५) **धर्मकी एकता** (Unity of Religion) राष्ट्रोंके इतिहाससे यह मालूम होता है कि प्रारम्भिक अवस्थाओमें धर्मने महत्त्व-पूर्ण भाग लिया है। प्रारम्भिक सामाजिक जीवन धार्मिक रीतियो और कृत्योमें केन्द्रित था। उदाहरणके लिए यहूदियोंमें धर्म ही उनके राष्ट्रीय जीवनका प्रधान स्रोत रहा है। वही उनके जीवनका ताना-बाना रहा है। यही बात आजकलके जापानियो, पोलो और आयरिश लोगोके सम्बन्धमें कही जा सकती है। सदियोके अत्याचारमें यूनानका कैथोलिक धर्म-सघ ही एक जातिके रूपमे उन्हें जीवित रख सका। स्कॉटलैंडमे हम देखते है कि जॉन नॉक्स (John Knox) और प्रोटेस्टेंट धर्म-सुधारने स्कॉटिश राष्ट्रीयताकी उत्पत्ति और उसके स्थायित्वमे महत्त्व-पूर्ण भाग लिया है।

सामान्य धर्म अब कोई बहुत महत्त्व-पूर्ण तत्त्व नही रह गया, यद्यपि एसे अपवाद है जिनमें विशिष्ट ऐतिहासिक पूर्ववृत्तोके कारण अब भी धर्म राष्ट्रीयताका आधार बना हुआ है। श्री हेज़ (Hayes) कहते है 'अधिकाश रूपमें आधुनिक राष्ट्रीयता धार्मिक विश्वास या धार्मिक कृत्योकी एकरूपता पर जोर दिये बिना ही फूल-फल रही है।' आजकल अधिकाश राज्य धार्मिक सहिष्णुताका व्यवहार करते है और धार्मिक विभेद उनके राष्ट्रीय जीवनमे हस्तक्षेप नहीं कर पाता। सभी प्रगतिशील देशोमें धर्म अधिकाधिक रूप में एक व्यक्तिगत प्रश्न बनता जाता है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में धर्म जनताके राष्ट्रीय जीवनमें प्रवेश भी नही कर पाया। पर इसके विपरीत भारतमें धार्मिक विभेदोकी स्वार्थी दलो द्वारा अपने लाभके लिए बहुत अधिक अत्युक्ति की जाती है। इसे व्यापक रूपसे स्वीकार नहीं किया जाता कि धार्मिक कट्टरता और धर्मान्धता कभी किसी जातिको महान् नही बना सकती। 'धर्म खतरेमें है' की पुकार एक अर्थहीन पुकार है। वह समय आ गया है जब भारतके शिक्षित लोगोको यह समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रीय एकताके हितमें सहानुभूति और ज्ञानसे उत्पन्न होने वाली सच्ची धार्मिक सहिष्णुताकी आवश्यकता है, न कि एक ढुलमुल उपेक्षाकी जिसमें व्यक्ति सबके लिए सब कुछ बननेकी कोशिश करता है। कमसे कम शिक्षित लोगोको एक दूसरेके धार्मिक विश्वास और भावनाओंके प्रति गम्भीर सम्मान

उत्पन्न करना चाहिए। राजनीतिको धर्म-निरपेक्ष बनाना चाहिए। हमारे इस कथनका यह अर्थ नहीं है कि धर्म और नैतिकताके उच्चतम सिद्धान्त राजनीतिका निर्देश और नियन्त्रण न करें क्योंकि राजनीतिको एक आदर्शवादकी आवश्यकता है जो धर्म और नैतिक सिद्धान्त ही दे सकते हैं। पर हम संकीर्ण साम्प्रदायिकताके दृष्टिकोणसे राजनीतिको नहीं देखना चाहते।

(६) सामान्य आर्थिक हित (Common Economic Interest) जापानी और ऑस्ट्रेलियन राष्ट्रीयताके स्थायित्वमें सामान्य आर्थिक हित सबसे प्रबल तत्त्व रहा है। यह आर्थिक उद्देश्य अन्य तत्त्वोंके साथ निश्चित रूपमें एक जातिको सम्बद्ध बनाता है और उनमें 'एकताकी भावना' उत्पन्न करता है। 'श्वेत ऑस्ट्रेलिया-नीति', जिसका अनुगमन ऑस्ट्रेलियाके राजनीतिज्ञोंने युद्धके दौरानमें भी बड़ी तत्परताके साथ किया, इस सत्य या काल्पनिक भयकी उपज है कि यदि प्रवासियोंके विरुद्ध लगे हुए प्रतिबन्ध हटा दिए गए या ढीले कर दिए गए तो ऑस्ट्रेलियामें मंगोल और भारतीय आकर भर जायेंगे और ऑस्ट्रेलियन लोगोंके आर्थिक जीवनको संकटमें डाल देंगे।

एक जातिको संगठित रखनेमें सामान्य आर्थिक हितोंका चाहे कितना भी महत्त्व क्यों न हो हम यह नहीं मानते कि केवल यह आर्थिक हित ही राष्ट्रीयताकी भावना उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। यदि केवल आर्थिक हित ही राष्ट्रीयताके निर्माणके लिए पर्याप्त होते तो हमें केवल श्रमिकोंकी राष्ट्रीयता और केवल पूंजीपतियोंकी राष्ट्रीयता देखनेकी भी आशा हो सकती थी। युद्धकी स्थितिमें यह देखा जाता है कि राष्ट्रीयताकी भावना आर्थिक विभेदोंको पार करके विभिन्न आर्थिक हितों वाले लोगोंको एकतामें बांध देती है। रेनन का यह कथन ठीक है कि आर्थिक हितोंकी एकता एक आगत-संघ (Costoms Union) का निर्माण करती है, एक राष्ट्रका नहीं।

(७) कभी-कभी एक दृढ़ और सुव्यवस्थित सरकारकी अधीनता भी राष्ट्रीयताका एक शक्तिशाली तत्त्व सिद्ध हुई है। इंगलैंडके कठोर शासनने कुछ हद तक भारतीय राष्ट्रीयताका विकास किया है। इसी प्रकार दूसरे स्थानोंमें एक अकेले शासनकी आज्ञानुवर्तिताने भी राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की है, यद्यपि वह राष्ट्रीयता बड़ी भयावह हुई है जैसे हिटलरके अधीन जर्मनीमें और मुसोलिनीके अधीन इटलीमें। राष्ट्रीयताके सम्बन्धमें कोई सरकार चाहे जितना महत्त्वपूर्ण कार्य करे पर वह स्वयं राष्ट्रीयता उत्पन्न नहीं कर सकती। रैमजेम्योर का यह कथन बिल्कुल ठीक है, 'शासनकी एकता-मात्र, वह चाहे जितने सुन्दर ढंगकी हो, कभी भी स्वतः राष्ट्रीयताकी उत्पत्ति नहीं कर सकती।'

(८) सामान्य कष्ट (Common Suffering) कभी-कभी सामान्य आपदाओंने राष्ट्रीयतामें बड़ा शक्तिशाली योग दिया है। इतिहासमें इस बातके उदाहरण हैं कि अत्याचारोंने राष्ट्रीयताको दृढ़ कर दिया है। श्री जिमर्न का कहना है, 'योरोपमें राष्ट्रीयता एक भावना है जो राजनैतिक अत्याचारों द्वारा निर्दयता-पूर्वक सजग हो उठी है (८४-९४)। १८७० को फ्रांस और प्रशियाके बीच होने वाली लड़ाईके बाद फ्रांसकी राष्ट्रीय भावना बड़ी तीव्र हो उठी। तुर्कोंके अत्याचार और नेपोलियनके युद्धोंने स्लेव-जातियोंके बीच राष्ट्रीय भावना उत्पन्न कर दी थी। पोलैंडके विभाजनने राष्ट्रीय भावनाको तीव्र बना दिया और अत्यन्त विरोधी परिस्थितियोंमें भी उसे जीवित रखा। अंग्रेजों द्वारा अत्याचार किए जाने पर आयरलैंड की राष्ट्रीयता बहुत अधिक और अनुचित रूपमें भी बढ़ गयी। इन उदाहरणोंके होते हुए भी जैसा श्री जोसेफ ने कहा है, 'किसी एक वर्ग

पर होने वाला अत्याचार स्वत उस वर्गको एक राष्ट्रीयता या जाति नही बना देता। उससे एक जाति अनेक स्वार्थी सम्प्रदायोमें विभक्त भी हो सकती है जिनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय अत्याचारीका कृपा-पात्र बननेकी कोशिश करता है।

(९) **राजनैतिक प्रभुता** (Political Sovereignty) कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि राज्य राष्ट्रीयताकी सृष्टि करता है न कि राष्ट्रीयता राज्यकी सृष्टि करती है। यह मान्यता सिद्ध करना कठिन है। इगलैंड की एक अकेली राजनैतिक प्रभुसत्ताके अधीन होने पर भी उसमें चार पृथक् राष्ट्रीयताए या जातिया सम्मिलित है। एक सामान्य टिप्पणी इस स्थितिमें यह की जा सकती है कि यद्यपि आधुनिक राज्योके स्थायी रूप धारण करनेके पहलेसे भी राष्ट्रीयताओ या जातियोकी स्थिति रही है फिर भी राजनैतिक प्रभुताने विकास-शील राष्ट्रीयताको सुदृढ बनानेमें सहायता दी है। स्विटजरलैंड जैसे अपवादोको छोडकर जहा सम्भवत सामान्य राजनैतिक प्रभुता ने राष्ट्रीयताको जन्म दिया है राजनैतिक प्रभुता अधिकसे अधिक यही कर सकती है कि वर्तमान राष्ट्रीय चेतनाको सर्वसामान्य विधानो और राजनैतिक सस्थाओ द्वारा और अधिक सुदृढ बना दे। राष्ट्रीयताकी जैसी परिभाषा हमने की है वैसी राष्ट्रीयता राजनैतिक प्रभुता द्वारा नही उत्पन्न की जा सकती।

(१०) **सार्वजनिक इच्छा** (Popular Will) सहयोग करनेकी इच्छा और 'एक राष्ट्र बननेकी इच्छा' (जिस पर डॉक्टर अम्बेदकर भारतीय राष्ट्रीयताके सम्बन्धमें इतना अधिक जोर देते है) के महत्त्वकी हम सरलतासे उपेक्षा नही कर सकते। डॉ० अम्बेदकरके शब्दोमें, 'यह एकताकी एक सुसस्थित भावना है जो, जिन लोगोमें यह भावना होती है उन्हे, एक दूसरेका सजातीय अनुभव कराती है।' टैनबी (Toynbee) 'एकराष्ट्र बननेकी इच्छा' को राष्ट्रीयताका प्रधान तत्त्व मानते है। इसी प्रकार मैज़िनी सार्वजनिक इच्छाको राष्ट्रीयताका आधार मानते है।

राष्ट्रीयता या जातिका आत्मनिर्णय (The Self-determination of the Nationality) क्या प्रत्येक जाति या राष्ट्रीयताको स्वशासित सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बननेका वास्तविक अधिकार है?—यह एक ऐसा प्रश्न है जो राजनीति-शास्त्रके विद्यार्थी और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ दोनो ही के लिए रोचक है। वियना-काग्रेस (१८१५) के समयसे लेकर समूची १९वी सदी भर योरोपीय राजनीति पर 'एक राष्ट्रीयता, एक राज्य' का सिद्धान्त छाया रहा। १९१४-१८ के युद्धमे इस सिद्धान्तको तब और अधिक बल मिला जब जातियोके आत्मनिर्णयका सिद्धान्त सामने आया। विवाद-पूर्ण धारणा यह रही है कि विभिन्न राष्ट्रीयताके लोगोको एक साथ एक अकेले राज्यमें रख देनेसे देश-भक्तिकी भावना नष्ट हो जाती है और आन्तरिक विवादोकी उत्पत्ति होती है। यह भी कहा जाता है कि एक राष्ट्रीयता यदि विभिन्न राज्योमें बिखरी हो तो कभी भी सुखी और सन्तुष्ट नही रह सकती और ऐसी राष्ट्रीयता एक विकलाग सामाजिक सघटना (Dismembered Social Organism) के समान है। आज इन सभी धारणाओ पर गम्भीर शकाए की जाती है। अनेक लोग यह स्वीकार करते है कि और सब बातोंके समान होने पर राजनैतिक सीमाए वही खीची जानी चाहिए जहा राष्ट्रीय सीमाए हो। इस प्रकार श्री जे० एस० मिल अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि सरकार' (Representative Government) में लिखते है 'सामान्यत स्वतत्र सस्थाओकी यह एक आवश्यक शर्त है कि सरकारकी सीमाए और राष्ट्रीयताकी सीमाए एक ही हो।'

लॉर्ड ऐक्टन और अन्य अनेक विचारकोका दृष्टिकोण इससे विपरीत है। लॉर्ड ऐक्टन के अनुसार, 'राष्ट्रीयताका सिद्धान्त (अर्थात् एकजाति एकराज्य) समाजवादके सिद्धान्त से भी अधिक अर्थ-हीन और अपराध-मूलक है।' श्री जिमर्न लिखते है: 'अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय राज्यके सिद्धान्तकी वही गति होगी जो ८वें हेनरी और लूथर के राष्ट्रीय धर्म-संघ वाले सिद्धान्तकी हुई थी।' बर्नार्ड जोसेफ का कहना है कि 'एकराष्ट्रीयता' 'एकराज्य' का सिद्धान्त एक भयावह सिद्धान्त है और विश्वके विकासमे एक प्रधान बाधा है। उनका तर्क यह है कि राष्ट्रीयता और राज्य दो भिन्न धारणाए है और राष्ट्रीयताका अस्तित्व राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाने पर भी बना रह सकता है। या तो एक राज्यमे एकसे अधिक राष्ट्रीयताओ या जातियोका समावेश रहता है अथवा एक राष्ट्रीयता या जाति एकसे अधिक राज्योमे बिखरी रहती है। राष्ट्रीय निष्ठा और राज्यकी निष्ठा दो भिन्न वस्तुए है और श्री जोसेफ के अनुसार दोनोका अस्तित्व एक साथ रह सकता है। क्योकि राष्ट्रीयता केवल इतना ही चाहती है कि सास्कृतिक और सामाजिक जीवनके लिए स्वाधीनता हो और कुछ हद तक यूथ-स्वायत्तता (Group autonomy) प्राप्त हो—विशेषकर साम्प्रदायिक मामलोमें। उनका विश्वास है कि 'ससारकी शान्ति और व्यवस्थाके लिए एकमात्र आशा इस सिद्धान्तकी अन्तिम स्वीकृतिमें ही है कि अनेक राष्ट्रीयताए या जातिया एक ही राज्य के भीतर सहयोग और शान्ति-पूर्वक रह सकती है और उनमें से प्रत्येक अपने राष्ट्रीय जीवन का अनुगमन कर सकती है (४२ २३१)।'

हम प्रोफेसर हॉकिंग के इस विचारसे सहमत है कि किसी भी राष्ट्रीयताको एकराज्य बननेका जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त नही है। हमारे सभी अधिकार सोपाधिक (Conditional) अथवा आनुमानिक (Presumptive) है। श्री रैमज़े म्योर के शब्दोमें, 'यह एक अस्पष्ट बात है कि प्रत्येक जातिको स्वाधीनता और एकताका अधिकार है। व्यक्तियो की भाति जातियोको भी अपने अधिकार अर्जित करने होते है।' 'किसी जातिको तभी जीवित रहनेका अधिकार है जब इन अधिकारके प्रयोगसे सामान्य समाजका लाभ हो।' किसी विशिष्ट जाति या राष्ट्रीयताको राज्यका पद मिलना चाहिए या नही इसका निर्णय उस जातिकी परिपक्वता पर निर्भर करता है और कुछ अशोमें उसके आकार तथा उसकी दृढता पर निर्भर रहता है।

एक राष्ट्रके स्वतत्र और सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न बननेसे पहले कई एक शर्तोका पूरा होना आवश्यक है (क) उसमें अपनी सम्पत्तिकी व्यवस्था करने और अपने प्राकृतिक साधनो तथा अपनी पूजीका विकास कर सकनेकी क्षमता होनी चाहिए। (ख) उसे अच्छे कानून बनाने चाहिए और न्यायकी उचित व्यवस्था करनी चाहिए। सीमा-बाह्य न्यायालयो (Extra-territorial Courts) की आवश्यकता नही होनी चाहिए। (ग) उसे एक उपयुक्त ढगकी सरकार स्थापित करनी चाहिए। (घ) उसे व्यापार स्वीकार करने कर्ज़ अदा करने और यात्राकी अपनी अनुमति देनेका कर्तव्य स्वीकार करना चाहिए। (च) उसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलोमे अपना दायित्व स्वीकार करना चाहिए। राजदूतोका स्वागत करना चाहिए। विवादोमें मध्यस्थता स्वीकार करनी चाहिए और सन्धिया करनी चाहिए आदि। उसे ऐसे नागरिक उत्पन्न करने चाहिए जो गौरवके साथ उचित ढगसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे उसका प्रतिनिधित्व कर सकें। (छ) जब तक युद्ध एव राष्ट्रीय घटना रहती है तब तब उसे विदेशी आक्रमणोके विरुद्ध अपनी रक्षा करनेमें समर्थ होना चाहिए।

क्या राष्ट्रीयता एक वरदान है ? (Is Nationalism a Blessing ?) अनेक विचारकोंने राष्ट्रीयतावादको एक आदर्श बना दिया है, और उसमें उन्हें सद्गुणोंके अतिरिक्त कुछ नहीं दिखायी देता। पर अन्य लोगोंका अनुभव यह है कि व्यवहारके क्षेत्रमें इससे अनेक बुराइयां उत्पन्न हुई है। उन्हें इस बातका विश्वास हो गया है कि जैसी राष्ट्रीयता का उपयोग आजकल हो रहा है वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावनाके लिये सबसे अधिक घातक है। अपने निबन्धमें श्री रवीन्द्रनाथ टैगोरने बिना किसी हिचकके राष्ट्रीयता-वादको बुरा कहा है। वह उसे 'एक समूची जातिका व्यवस्थित स्वार्थ', 'आत्मपूजा,' 'राजनीति और व्यवसायका स्वार्थी उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये संगठन,' 'शोषणकी संगठित शक्ति' आदि कहते है। राष्ट्रीयता देशोंके पारस्परिक सम्बन्धोंको इतना कटु बना देती है कि एक दूसरेकी संस्कृति और सभ्यताका ठीक ठीक अध्ययन प्राय असम्भव हो जाता है। श्री हेज ऐसी राष्ट्रीयताकी निन्दा करते है जो अपनी जाति या राष्ट्रके सम्बन्धमें अभिमान और गर्वभरी एक मानसिक वृत्ति होती है और जिसमें अन्य राष्ट्रोंके प्रति तुच्छता और विद्वेषके भाव रहते है।' उनका कहना है कि १९वी और २०वी शताब्दीमें राष्ट्रीयतावाद का इतिहास गौरव-पूर्ण नही रहा। श्री शिलिटो (Shillito) के शब्दोंमें राष्ट्रीयता 'मनुष्यका दूसरा धर्म' बन गयी है। वह 'आवेश-पूर्ण भावनात्मक और प्रेरणा-मूलक है।' किसी भी जीवित धर्मकी अपेक्षा इसके कही अधिक कट्टर अनुयायी है। यह शेष संसारके लिए एक संदेश रखनेका दावा करती है। आधुनिक समयमें राष्ट्रीय अधिकारों, राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय नीतिके नाम पर लाखों व्यक्तियोंका जीवन और करोड़ोंकी सम्पत्ति बरबाद की जा चुकी है। राष्ट्रीयतावाद बड़ी सरलतासे विदेशियोंसे घृणा करना सिखाता है। इस प्रकारकी आक्रामक हेकड़ राष्ट्रीयताको 'भेड़ियों-सी आक्रामक राष्ट्रीयता' ठीक ही कहा गया है और यही राष्ट्रीयता युद्धके बीज बोती है और निम्नतम कोटिके साम्राज्यवादमें बदल जाती है। इस प्रकारकी 'भेड़ियों-सी आक्रामक राष्ट्रीयता' के उदाहरण सैनिकवादी जापान, फासीवादी इटली और नाज़ी जर्मनीमें मिलते हैं।

हम राष्ट्रीयताका पूरा पूरा अर्थ तब तक नही समझ सकते जब तक सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रोंमें भी उसकी व्याख्या न करें। सांस्कृतिक क्षेत्रमें तो राष्ट्रीयता एक एकता बढानेवाली शक्ति रही है, पर आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रोंमें वह एक विभेद उत्पन्न करनेवाली शक्ति रही है। अतिवादी आर्थिक राष्ट्रीयताका (जिसे 'आर्थिक आत्म-निर्भरता' का नाम दिया गया है), उद्देश्यपूर्ण आर्थिक आत्मनिर्भरता है। एक निश्चित सीमासे आगे बढते ही आर्थिक राष्ट्रीयता युद्धका कारण बन जाती है। यह एक ऐसा हथियार है जो चलाने वालेके सिर पर ही लौट कर घातक चोट करता है। आर्थिक आत्म-निर्भरता मूर्खता है। पिछले वर्षोंमें कनाडामें गेहूंके जलाये जाने, अमेरिकामें सेब और दूध नदियोंमें बहाये जाने और ब्राजील में कॉफी समुद्रमें फेंके जानेके दृश्य हमने देखे है जब कि उसी समय लाखों व्यक्ति भूखसे मर रहे थे। आर्थिक आत्मनिर्भरताकी इस आलोचना का यह अर्थ नही है कि हम राष्ट्रोंके आर्थिक सम्बन्धोंमें 'राम-भरोसे रहनेकी नीति' के पक्षपाती है। हम चाहते यह है कि प्रत्येक राष्ट्रके भीतर और राष्ट्रोंके बीच परस्पर एक आयोजित अर्थ नीति बरती जाय।

ऊपर जिस आक्रमण-मूलक राष्ट्रीयताका वर्णन किया गया उसमें और आत्मशोध-मूलक राष्ट्रीयतामें जिसका आदर्श है 'जियो और दूसरोंको जीनेमें सहायता दो' हमें

विभेद करना होगा। ऐसी राष्ट्रीयता अपने पडोसी राष्ट्रो या सुदूर अफ्रीका या एशिया के पिछड़े प्रदेशो अथवा समुद्रके द्वीपोको हड़पनेकी नीयत नही रखती। यह राष्ट्रीयता राष्ट्रीय आत्म-सम्मानका पर्याय है। कभी-कभी इसे 'भेडोकी आत्मरक्षा-मूलक राष्ट्रीयता' कहते है।

जहा तक भारत का सम्वन्ध है राष्ट्रीयता उसके लिए ऐश नही, आवश्यकता है। वह हमारे अस्तित्वका आधार है, जीवन-मरणका एक प्रश्न है। यद्यपि अपने सारे दुर्भाग्योके लिए विदेशियोको उत्तरदायी ठहराना मूर्खता है फिर भी इसमें कोई सन्देह नही कि एक लम्वे समय तक विदेशी आधिपत्य कुछ ऐसी दास-वृत्तिकी वुराइया उत्पन्न कर देता है जिसका वास्तविक प्रतिकार आत्मनिर्णय ही है। भय, कायरता और छलछन्द जैसी वुराइयोको राजनैतिक राष्ट्रीयता ही दूर कर सकती है।

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त हो जाने पर अव भारतको सास्कृतिक और मानवतावादी राष्ट्रीयताकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। 'मानवताका आदर्श एक लक्ष्य और एक निर्देशक या पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तके रूपमें समस्त राष्ट्रोंसे उच्चतर है(हैलोवेल)।' आर्थिक दृष्टिसे पिछडे होनेके कारण भारतको विवश होकर अगले कुछ वर्षो तक अपने उद्योगोका समर्थन करना होगा पर लक्ष्य हमारा एक ऐसी सुविचारित राष्ट्रीय योजना होना चाहिए जो ससारकी योजनाका एक अभिन्न अग हो।

राष्ट्रीयता एक लम्वी ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसे मिटाया नही जा सकता। वह प्रेरणा-मूलक है। वह मनुष्यकी सामाजिक भावना और कवायली मनोवृत्ति की उपज है। एक यहूदी अमेरिकन (Jewish American) के शब्दोमें : लोग चाहे तो अपनी राजनीति वदल सकते है, अपनी स्त्रियोको वदल सकते है, अपने धर्मको वदल सकते है और अपने दार्शनिक सिद्धान्तको वदल सकते है, पर वह अपने पूर्वजोको नही वदल सकते (३२ १०८)। पर आज जिसे हम राष्ट्रीयता कहते है वह एक 'जगलीपनकी देश-भक्ति' से अधिक और कुछ नही है, यह एक शुद्ध कट्टरपथिता दूसरो पर आक्रमण करने वाला साम्राज्यवाद है। इसलिए यदि हम श्री फ्लैन्ज ग्रिलपार्ज़र (Flanz Grillparzer) द्वारा वनाये गए 'मानवतासे राष्ट्रीयता और उससे फिर पाशविकता' वाले क्रमसे अपने आपको वचाना चाहते है तो यह आवश्यक है कि ससारके राष्ट्र एक 'अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण और सक्रिय राष्ट्रीय सद्भावना और मैत्रीका विकास करें।' यह तभी किया जा सकता है जब उपयुक्त सार्वजनिक शिक्षा हो, सस्कृतियोका अन्तर्मिलन और उनका विकास हो, जातीय असहिष्णु दूर की जाय, दूसरोको परेशान करने वाले आयात-निर्यात सम्वन्धी कानूनो और प्रवास सम्वन्धी प्रतिवन्धोको हटाया जाय, निशस्त्रीकरण हो और चरम प्रभुता (Absolute Sovereignty) के पिटेपिटाये सिद्धान्तका परित्याग किया जाय। श्री हेज के शब्दोमें : 'राष्ट्रीयता जव विशुद्ध देश-भक्तिका पर्याय वन जायगी तव वह मानवता और समस्त ससारके लिए एक अनुपम वरदान सिद्ध होगी (३२ : २७५)।'

केवल ऐसी ही राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयताका साधन वन सकती है। 'एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय ससारका अर्थ है एक ऐसा ससार जिसमें सभी राष्ट्र अपनी श्रेष्ठतम स्थिति में हो (४३ ३३८)।' विश्वके भावी कल्याणके लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के हितमें न केवल हमारे मस्तिष्कको शिक्षित किया जाय वल्कि हमारी इच्छाओं और हमारी भावनाओका भी सस्कार किया जाय। 'शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसका उद्देश्य हमारी वहिष्कार-मूलक और विभेद करने वाली वृत्तियोपर विजय पाना और हमारे भीतर

पारस्परिक सहयोग और समझौतेकी भावना उत्पन्न करना हो—ऐसी शिक्षा जो हमारी दास-वृत्तिको समाप्त कर सके, हमारे भीतर विवेक-बुद्धि जाग्रत् कर सके और स्वतत्र निर्णय देनेकी शक्ति दे सके (३२ २७२)।' पार्थक्य-मूलक राष्ट्रीयता और जातीय उच्चताका सिद्धान्त आधुनिक ससारके कुछ अभिशाप है।

साम्राज्यवाद (Imperialism)

साम्राज्यवादका अर्थ (The Meaning of Imperialism) कुछ लोग साम्राज्यवादको दुर्बल राष्ट्रोके आर्थिक शोषण और उन पर राजनैतिक प्रभुत्वका तथा शुद्ध भौतिकवादका पर्याय मानते है। दूसरे लोग उसे एक ऐसा पवित्र कर्त्तव्य मानते है जिसे ससारके प्रगतिशील देशोको पिछडे हुए देशोके साथ निभानेसे हिचकना नही चाहिए। यह दोनो ही दृष्टिकोण अतिवादी है। पिछडे हुए देशोका निर्दयता-पूर्वक शोषण करनेकी एक सावधानी-पूर्वक सुविचारित कार्य-योजना साम्राज्यवादके इतिहाससे उतनी ही परे है जितना परे दूसरोको सभ्य बनानेका सुविचारित पवित्र लक्ष्य है जिसे 'श्वेतागियोका दायित्व' बता कर उसका बहुत अधिक दुरुपयोग किया गया है।

साम्राज्यवादकी एक ऐसी परिभाषा दे सकना जो प्राचीन और आधुनिक दोनो प्रकार के साम्राज्यो पर सटीक लागू हो सके स्वभावत बहुत कठिन है। आधुनिक युगमें ही साम्राज्य-वादने अनेक रूप धारण किये है। ऐसा कोई स्वत सिद्ध साधन नहीं है जिसके द्वारा यह निश्चय किया जा सके कि 'साम्राज्यवादका झडा व्यापारका अनुगमन करता है या व्यापार झडेका अनुगमन करता है।' कुछ साम्राज्योकी उत्पत्ति तो प्राय आकस्मिक घटनाओंके रूपमें हुई है और कुछ साम्राज्य सुविचारित योजनाओके परिणाम है। प्राचीन साम्राज्य अधिकतर राज-कर सग्रह करने और सैनिक भरती करनेके घटक या एजेंसी-मात्र थे। हारे हुए राज्यो पर विजयी राष्ट्रोंके उच्चतर सैनिक बलका प्रदर्शन इन साम्राज्योंके रूपमें होता था। आधुनिक साम्राज्य अधिकतर आर्थिक और सामरिक उद्देश्योंके लिए होते है।

श्री सी० डी० बर्न्स का कहना है कि 'साम्राज्यवाद अनेक विभिन्न देशो और जातियो में विधान और शासनकी एक ही पद्धति' को प्रकट करने वाला एक नाम-मात्र है जो अन्त-र्राष्ट्रीयताके लक्ष्यका मध्य-बिन्दु है और जिसके द्वारा प्रान्तीय राष्ट्रीयताका प्रतिकार होता है। इस परिभाषाका बाद वाला अश निश्चय ही ठीक नही है। जिसे प्रो० हॉकिंग 'वाक्छल की नीति' कहते है और 'कठोरताकी नीति' के साथ जिसका विरोध दिखाते हैं, यह परिभाषा उसी नीतिके अन्दर आती है। प्रोफेसर शूमैन (Schuman) कहते है. 'अधीन देशो पर शक्ति और हिंसाके बल विदेशी राज्यकी स्थापना ही साम्राज्यवाद है, इसके विपरीत वहानेबाजी और नैतिकताका चाहे जितना राग अलापा जाय।' सामाजिक विज्ञानोंके विश्वकोषमें साम्राज्यवादकी जो काम चलाऊ परिभाषा की गई है वह यह है कि साम्राज्यवाद 'एक नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्यकी रचना, व्यवस्था और प्रतिष्ठा करना है। वह एक ऐसा राज्य है, जिसका आकार बहुत बडा होता है जिसमें अनेक और कमबेश पृथक् राष्ट्रीय इकाइया सम्मिलित रहती है और जो एक केन्द्रीकृत इच्छाके अधीन रहता है। इस परिभाषाको यदि हम अग्रेजी साम्राज्य पर लागू करते है तो हम यह देखते है कि जहा तक

साम्राज्यके स्वशासित भागोका सम्बन्ध है उनमें यद्यपि कुछ 'विशिष्ट आत्मिक सम्बन्ध' है, फिर भी कोई एक केन्द्रीकृत इच्छा नही है, क्योकि प्रत्येक उपनिवेशको पूर्ण स्वायत्त अधिकार प्राप्त है जिसे कुछ लोगोने 'औपनिवेशिक प्रभुता' (Dominion Sovereignty) कहा है। जहा तक शेष साम्राज्यका सम्बन्ध है केन्द्रीकृत इच्छा विभिन्न मात्राओ और रूपोमें अपने आपको व्यक्त करती है।

आधुनिक साम्राज्यवादका अध्ययन करनेसे हमें यह दिखाई देता है कि उपनिवेशीकरण उसका उतना महत्त्वपूर्ण अग नही है जितना ससारके पिछडे हुए भागोका आर्थिक और राजनैतिक नियत्रण है। इसलिए व्यापार, अतिरिक्त पूजीके विनियोग (Investment) और राजनैतिक नियत्रण पर अधिकसे अधिक मात्रामें ध्यान दिया जाता है। दूसरे शब्दोमें जिन उपनिवेशोमें आबादी बसाई गई है उनकी अपेक्षा उन उपनिवेशोका मूल्य अधिक है जिनका शोषण किया जा सकता है।

साम्राज्यवादके कारण (Causes of Imperialism). साम्राज्यवादकी उत्पत्ति विभिन्न कार्योंके परिणाम-स्वरूप हुई है। अपने प्रारम्भिक और आदिम रूपमें साम्राज्यवाद मनुष्यकी लुटेरी वृत्तिका मूर्त रूप था और इसके उदाहरणोका आज भी अभाव नही है। निम्नकोटिके जीवोमे भी हम देखते है कि बडी मछलिया छोटी मछलियोको निगल जाती है और बन्दरोकी एक जाति दूसरोको नया आश्रय खोजनेके लिए खदेड देती है। मनुष्योमे भी हमें यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। चरागाहो, भोजन और अन्य ऐसी ही वस्तुओ की खोजमे तथा एक कबीले द्वारा दूसरोकी विजयमें जातियोका ससारके एक भागसे दूसरे भागमे जो सचरण हुआ उनमें मनुष्यकी इस लुटेरी वृत्तिका परिचय हमें पर्याप्त मात्रामे किसी न किसी रूपमें मिलता है। कही-कही यह वृत्ति निर्दय आक्रमण और रक्तपातपूर्ण युद्धोके रूपमें व्यक्त होती है और कभी उच्चतर कौशल और चतुराई द्वारा क्रमिक ढगसे दूसरोको उनके स्थानसे हटाये जानेका रूप धारण करती है।

जब हम प्रारम्भिक साम्राज्योको छोडकर उत्तरकालीन साम्राज्यो पर दृष्टि डालते है तो हमें उनके विकासमें विजय-लालसा और शक्तिके लिए प्रतियोगिता-मूलक सघर्ष महत्त्वपूर्ण काम करता दिखाई पडता है। आधुनिक साम्राज्योंके निर्माणमें ससारके मानचित्रको लाल या किसी और रगसे रग देनेकी उत्कट इच्छाने निस्सदेह एक सबल उत्तेजनाका कार्य किया है। सिसिल रोड्स (Cecil Rhodes) को इस बातका अभिमान था कि वह महाद्वीपो की बातें सोचता था। औपनिवेशिक अधिकारो और सैनिक सफलताओंको प्राय राष्ट्रीय शक्ति और गौरव माना जाता है। प्रो० शूमैन का विश्वास है कि आधुनिक साम्राज्यवाद शक्ति-प्राप्ति की इच्छा और विजय-लालसाकी एक नई अभिव्यक्ति है। १९३२ में मुसोलिनी ने इस आदर्शको अपने इन शब्दोमें बडे सबल ढगसे व्यक्त किया था 'फासीवाद राज्यशक्ति और साम्राज्य-प्राप्तिकी इच्छा है। रोमन परम्परा ही शक्तिका विचार है। फासीवादी सिद्धान्तमें साम्राज्यवादी विचार एक प्रादेशिक, सैनिक और व्यावसायिक अभिव्यक्ति-मात्र होकर एक आत्मिक और नैतिक प्रकारका ही विचार है। फासीवाद की दृष्टिमें साम्राज्यवादी विचारकी ओर प्रवृत्तिका अर्थ है राष्ट्रका विस्तार और राष्ट्रीय ओजकी मूर्त अभिव्यक्ति। साम्राज्यवादका अर्थ है विस्तार।

औपनिवेशिक प्रदेशोंकी इच्छा देशकी अतिरिक्त आबादीको स्थान देनेके उद्देश्यसे भी की जाती है। १९४१ तक जापान बराबर यही तर्क रखता रहा और उसके बाद दूसरे देशों

पर अधिकार जैसे दूसरे उद्देश्य भी उनकी योजनाओमें शामिल हो गये। इटली भी वर्षो तक यही पुकारता रहा कि उसका 'सकीर्ण पर सुन्दर प्रायद्वीप' उसके लाखो निवासियोंके लिए पर्याप्त नही है और इसलिए उसे नए उपनिवेशोकी खोज करनी पडी। इस तर्कके सम्बन्ध में कि साम्राज्यवाद अधिक आबादीका एक प्रतिकार है एक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि व्यवहारमें यह तर्क इसी रूपमें कार्यान्वित नही होता। कोरिया, फारमोसा और मचूरिया में बसनेके लिए जो जापानी गये उनकी सख्या बहुत कम थी। तथा लीबिया और इटालियन शुमालीलेड में बसनेके लिए इटली को छोडकर जानेवालोकी सख्या नगण्य थी। इसके अति-रिक्त, जैसा कि एक लेखकने परिहास-पूर्वक कहा है, किसी विदेशमें जाकर प्रवास करनेके बदलेमें जिस देशसे प्रवासी जाते है उस देशमें प्राय स्वर्गसे नये प्रवासी आकर बस जाते है।

आधुनिक साम्राज्यवादका एक सबसे अधिक मौलिक कारण आर्थिक कारण है। आज ससारके अधिकाश साम्राज्यवादी राष्ट्र अत्यधिक औद्योगिक राष्ट्र है जो कच्चे मालके लिए पिछडे हुए देशो पर निर्भर है। डॉ० शैस्ट (Schacht) कहते है 'कच्चे मालके लिए होनेवाला सघर्ष ससारकी राजनीतिमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, युद्ध १९१४ के पहलेकी अपेक्षा भी अधिक महत्तर भाग लेता है।' पर आकडे यह सिद्ध करते है कि सम्भवत ब्रिटेनको छोडकर कोई भी दूसरा साम्राज्यवादी देश अधिकाश कच्चे माल की पूर्तिके लिए अपने औपनिवेशिक प्रदेशो पर ही निर्भर नही रह सकता। पार्कर मून (Parker Moon) का कहना है कि इस सामान्य धारणामें कोई सचाई नही है कि एक साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशोमें उत्पन्न होनेवाले कच्चे मालका बहुत अधिक भाग प्राप्त कर लेता है। वह लिखते है 'साधारणत कच्चे माल रग नही पहचानते, वह किसी राष्ट्रीय झडेको नही पहचान पाते, वह माग और पूर्तिके नियमका अनुगमन करते है, दूरी और यातायातके व्ययके अनुसार चलते है। राजनैतिक आधिपत्यके बजाय वह आर्थिक नियत्रणके अधिक आज्ञानुवर्ती होते है।

उपनिवेशोका मूल्य कच्चे मालके उत्पादकोकी अपेक्षा तैयार मालके बाजारोके रूप में और भी अधिक होता है। जोसेफ चेम्बरलेन का कहना है कि 'साम्राज्य व्यवसाय है। वरीय परियात-कर (Preferential Tariffs) और व्यावसायिक विभेदका सहारा प्राय अपने देशके तैयार मालको सुविधा देनेके लिए लिया जाता है। पर यह साधन भी पूर्ण रूपसे सफल नही सिद्ध हुए। श्री एँड्र्यू कारनेगी (Andrew Carnegie) के कथना-नुसार व्यापार किसी झडेके पीछे नही चलता, वह निम्नतम प्रचलित मूल्यके पीछे चलता है। श्री आर० एल० बुएल (R L Buell) का अनुमान है कि ससारके व्यापारका केवल पाचवा हिस्सा उन देशोंके साथ होता है जो साम्राज्यवादी आधिपत्यमें आते है, शेष ⅘ भाग व्यापार स्वतत्र देशोंके साथ होता है। फिर भी एक औद्योगिक राष्ट्रके तैयार माल की बिक्रीके लिए साम्राज्यवाद एक अतिरिक्त बाजारकी सुविधा देता है (६३ ३५१)। ध्यान देने योग्य सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साम्राज्यवादसे लाभ उठानेवाली सामान्य जनता नही होती बल्कि कुछ थोडेसे उद्योग ही उससे लाभ उठाते है, जैसे रुई, लोहा, इस्पात और तेलके उद्योग। ईरानकी वर्तमान विस्फोटक स्थिति एक मनोरजक अध्ययन की वस्तु है जिसमें साम्राज्यवाद और समाजवादका सघर्ष है, एक दरिद्र बनाया हुआ राष्ट्र अपनी सच्ची राजकीय प्रभुताके लिए और अपने प्राकृतिक साधनो—तेलके फलके

T है।

एक साम्राज्यकी उपयोगिता और उसका मूल्य केवल इसलिए नही है कि वह अतिरिक्त वस्तुओंकी बिक्रीके लिए बाजारका काम देता है बल्कि उसका महत्त्व अतिरिक्त पूजी लगानेके क्षेत्रके रूपमे भी है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका मध्य और दक्षिणी अमेरिका तथा संसारके अन्य भागोमें अपनी लगाई हुई लम्बी पूंजीके द्वारा उनकी आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो पर भी शक्तिशाली प्रभाव डालनेमे समर्थ है। इस प्रकारकी कूटनीति जिसे 'डालर-कूटनीति' कहते है प्राय उतनी ही प्रभाव-पूर्ण होती है जितनी प्रभाव-पूर्ण अधिकार करनेवाली विदेशी सेना। सरकारी एजेंसियो और कूटनीतिक साधनोका प्रयोग पिछडे हुए देशोको उन्नतिशील देशोसे धन उधार लेनेके लिए फुसलानेमें किया जाता है—दबाव चाहे न भी डाला जाये।

न केवल साम्राज्यवादी देशो द्वारा बल्कि उन देशोके व्यक्तिगत नागरिको और गैर सरकारी कम्पनियो द्वारा भी पूजी उधार दी जा सकती है। यह प्रवृत्ति उन देशोमें विशेष रूपसे देखी जाती है जहा मजदूरी सस्ती होती है और मजदूर बहुत अधिक होते है तथा मजदूर वर्ग अपनी रक्षा करनेमें अधिक समर्थ नही होता। इस प्रकारके साम्राज्यवादके समर्थनमें प्राय एक तर्क यह दिया जाता है कि यदि कोई देश अपने प्राकृतिक साधनोका पूरा प्रयोग करनेमें असमर्थ है तो किसी भी दूसरे प्रगतिशील देशको वैसा करनेका प्राकृतिक अधिकार है क्योंकि संसारके साधन उन लोगोकी सम्पत्ति है जो उनका सबसे अधिक उपयोग कर सकें। पर यह तर्क सबल राष्ट्रो द्वारा दुर्बल राष्ट्रोके पक्षमें कभी नही स्वीकार किया जाता। यदि यह स्वीकार किया जाय तो कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीकाके कुछ हिस्सोमे जो बडे-बडे भू-प्रदेश ऐसे पडे है जिनमें कोई खेती-बारी नही की जाती उनको अपनी सम्पत्ति बनानेका सहज अधिकार जापान, चीन और भारतके लाखो गरीब पर मेहनती लोगोको प्राप्त हो जाय। पर यह आशा करना व्यर्थ है कि साम्राज्यवादी अपनी शोषण-व्यवस्थामे जो तर्क दूसरो पर लागू करते है वही तर्क अपने ऊपर भी लागू करेंगे।

साम्राज्यवाद कुछ चुने हुए थोडेसे लोगोको अनेक प्रकारकी सुविधाए देता है। विदेशी पूजी लगाने और विदेशी उपप्रदूतो (Pro-consuls) और कूटनीतिज्ञो, विदेशी पौर-अधिसेवको तथा विदेशी सेनाका उपयोग करनेके बहुत अधिक अवसर वह उत्पन्न करता है। और यह सब आश्रित देशके निवासियोके मत्थे अत्यधिक व्यय करके किया जाता है। श्री एमरी का एक सन्तकी भाति रोषके साथ यह कहना कि 'भारत इंगलैंडको कोई कर नही देता' भले ही बहुत शोभन बात हो, पर यह बात वह भूल गए कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलोके सम्बन्धमें अर्ध-सरकारी प्रतिष्ठान (Institute of International Affairs) ने अपने वक्तव्यमे यह कहा है कि चार अंग्रेजोमें से एक अंग्रेजका जीवन सीधे भारत पर निर्भर रहता है। जो देश विदेशी आधिपत्यके अधीन होता है उनकी नागरिक और सुरक्षा सम्बन्धी अधिसेवाए निश्चित रूपसे सीमित—छुटी हुई रहती है और विदेशी, व्यापारी, सौदागर बगीचे लगाने वाले और संयुक्त पूजी वाली कम्पनिया सभी उन देशके स्वशासन प्राप्त करनेके प्रत्येक प्रयत्नके विरुद्ध विरोधकी एक दृढ दीवार बन जाते है। इनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग साम्राज्यवादसे लाभ उठाते है और जिनसे निहित स्वार्थो का एक वर्ग बनता है वह है जहाजोंके मालिक तथा कप्तानो, सैनिक और नेवीकी वर्दिया तथा रेलवे और देशी तथा समुद्री तार सम्बन्धी वस्तुओंके उत्पादक।

आधुनिक युगमें साम्राज्यवादका एक दूसरा महत्वपूर्ण कारण कूटनीतिक है।

साम्राज्यवादसे साम्राज्यवादकी ही उत्पत्ति होती है। स्वेज नहरमें ब्रिटेनके महत्त्वपूर्ण स्वार्थ, मिस्र पर उसके अप्रत्यक्ष नियन्त्रण, निकट पूर्वमें किसी न किसी रूपमें अपनी अधिकार-सत्ता और मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेका उसका प्रबन्ध और ईरान पर उसका आंशिक आधिपत्य आदि सबका रहस्य और महत्त्व भारत पर उसके भूतपूर्व आधिपत्यकी भूमिकामें ही समझमे आता है। सिंगापुरका अंग्रेजी जहाजी बेडा जापान को यह चेतावनी देनेके लिए था कि वह ऑस्ट्रेलिया अथवा पूर्वमें ब्रिटिश साम्राज्यके और किसी हिस्से पर कदम रखनेका साहस न करे। ऐसे ही सैनिक और जहाजी कारणोंसे फ्रांसने कुछ समय तक जिबूति (Djibuti) पर अपना नियन्त्रण रखा था। अफ्रीकाके अपने अधीन प्रदेशोको वह अपने लिए फौजोकी खान समझता था। दूसरे प्रदेशोको हस्तगत करनेके प्रधान कारणोमें से अपनी सैनिक शक्तिको बढाना भी एक है।

साम्राज्यवादियोकी श्रेणीमें सम्मिलित होने वाले दो अपेक्षाकृत नए राष्ट्र है सोवियट रूस और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, यद्यपि दोनोका साम्राज्यवाद एक ही प्रकारका नही है। सोवियट रूसका प्रारम्भ एक बडे ही सुन्दर ढगसे साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तिके रूपमें हुआ पर बहुत शीघ्र रूस राष्ट्रीयतावादी हो गया, और फिर कुछ समय, विशेषकर १९३९ के बादसे वह साम्राज्यवादी और सैनिकवादी हो गया। उसका साम्राज्यवाद सैद्धान्तिक या विचार-मूलक साम्राज्यवाद है जिसमें सोवियट रूस अपने पिछलग्गू राष्ट्रोकी नकेल अपने हाथमें रखता है। नियन्त्रणका उसका सर्वप्रिय ढग यह रहा है कि विभिन्न देशोके स्थानीय साम्यवादी दलोके माध्यमसे, जो उसके प्रभावमें आ चुके होते है या जो उसके नेतृत्वको स्वीकार करनेके लिए तैयार होते है, वह अपना नियन्त्रण रखता है। यह राज्य सोवियट रूसको कोई राज्य-कर नही देते पर सोवियट रूस द्वारा उनकी अर्थ-नीति और राजनीतिका यदि नियन्त्रण नही तो सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य होता रहता है। उनमें से कुछ का प्रयोग कभी-कभी रूसकी उद्देश्य-सिद्धिके लिए साधन रूपमें भी होता है।

सयुक्त राष्ट्र अमेरिकाने द्वितीय विश्व-युद्धके बादसे विशेष रूपमें अप्रत्यक्षत एक साम्राज्यवादी नीति अपनायी है। उसका प्रधान उद्देश्य साम्यवादको सीमित रखनेके लिए ससार भरमें महत्त्वपूर्ण जहाजी और हवाई अड्डोको प्राप्त करना तथा राष्ट्रोंसे मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना है, क्योकि साम्यवादसे अमेरिका बहुत ही भयभीत है। अमरीकी साम्राज्यवादको प्रतिनिधिक साम्राज्यवाद (Imperialism by proxy) या अप्रत्यक्ष बाधक साम्राज्यवाद कहा जा सकता है, जैसा कि हिन्दचीनमें दिखायी देता है। यदि नीदरलैंडकी सरकारको अमरीकी सहायता न मिली होती तो हिन्देशिया बहुत पहले स्वाधीन हो गया होता। अमेरिका हिन्देशियामें जो कुछ करनेमें असफल रहा वही काम हिन्दचीन, मलाया और फारमोसामें उसने सफलता-पूर्वक कर दिखाया है। यह सभी प्रशान्त महासागरके महत्त्वपूर्ण द्वीप है। अमेरिकाने पश्चिमी योरोपके साथ सैनिक सन्धि कर ली है और जापान, फिलिपाइन, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडके साथ सैनिक सम्बन्ध जोड रहा है। योरोप और एशियाके अनेक देश प्रधानत सैनिक सहायता द्वारा और दूसरे आर्थिक सहायता द्वारा अमेरिकाके प्रभावक्षेत्रमें लाये जा चुके है। इस प्रकारका नियन्त्रण स्थापित करनेमें उधार-पट्टा-समझौता (Lend-lease agreement) एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। भारतने अब तक अमरीकी प्रभुत्वका सफलता-पूर्वक प्रतिरोध किया है यद्यपि उसने कृतज्ञता-पूर्वक अमेरिकन गेहू खरीदनेके लिए क़र्ज़ स्वीकार कर लिया

है। सयुक्त राष्ट्रोका सचालन कुछ इस ढगसे किया जाता है कि उससे अमरीकी वैदेशिक नीतिको ही वढावा मिलता है। इगलैड इस दृष्टिसे अमेरिका का अव तक अन्तिम औपनिवेशिक प्रदेश वन चुका है।

अमरीकी लोग अव भी साम्राज्यवादको एक पाप-सा मान कर उससे भयभीत रहते हैं। तृतीय जॉर्जके समय अमरीकी उपनिवेशोकी जो स्थिति हुई थी वह उन्हे अव भी याद है। पर वह यह नही अनुभव कर पाते कि ससार पर आधिपत्य जमानेकी वर्तमान होडमें वह राष्ट्रीय आकाक्षाओंके कुचले जानेमें अप्रत्यक्ष रूपसे सहायक वन सकते हैं—विशेषकर एशियामें—तथा अन्य लोगोंके हित और अहितके एकमात्र निर्णायक वन वैठते है जैसा कि आज चीन और जापानमें हो रहा है।

कभी-कभी साम्राज्यवादके समर्थनमें धार्मिक और मानवतावादी तर्क भी उपस्थित किये जाते हैं। १७ वी शताब्दीमें धर्म-प्रचारका उद्देश्य साम्राज्यवादके विकासका एक महत्त्वपूर्ण कारण था। इस समय फ्रास द्वारा श्यामका हस्तगत किया जाना अधिकतर जेसुइट (Jesuit) धर्म-प्रचारकोका काम था। धर्म-प्रचारक साम्राज्य-निर्माताओमे से अफ्रीकाके डेविड लिविग्सटन (David Livingstone) का नाम सवसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। अफ्रीकामें ब्रिटिश साम्राज्यवादके विस्तारके साथ लन्दनकी धर्म-प्रचार-समितिका नाम घनिष्ठताके साथ जुडा हुआ है। अमेरिकाके एक भूतपूर्व राष्ट्रपति काल्विन कूलिज (Calvin Coolidge) का कहना था 'जो सेनाए (अमेरिका) वाहर भेजता है वह तलवारके वजाय क्रॉस (Cross) से लैस होकर जाती है।' १९४५ में जापान की सैनिक पराजयके वाद जनरल मैकआर्थर ने भी जापानके साथ ऐसी ही नीति वरतनेका समर्थन किया था। आजकल साम्राज्यवाद पिछडे हुए देशोंके निवासियोंको ईसाई वनानेकी ओरसे उदासीन है। कभी-कभी तो धर्म-प्रचारकोंके कार्योंका विरोध भी किया जाता है क्योंकि इससे अधीन देशोंके निवासियो द्वारा एक नवीन प्रतिष्ठा और स्वाधीनता प्राप्त कर लेनेका भय रहता है। जहा कही ईसाई-धर्म-प्रचारकोंके साथ साम्राज्यवादियो की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष साठ-गाठ रही, जैसा कि पिछले दिनो था वहा साम्राज्य-निर्माता उनका खुले दिलसे स्वागत करते थे। इस वातके अनेक उदाहरण है कि धर्म-प्रचारक व्यापारियो और शासकोंके अग्रदूत वन कर आये।

मानवतावादी उद्देश्यका एक विशिष्ट प्रकार, 'श्वेतागियोंके दायित्व' के पिटेपिटाये वाक्याश द्वारा व्यक्त किया जाता है;[1] इसे 'उत्तरदायित्वका साम्राज्यवाद (Imperialism of Responsibility) भी कहते हैं। इनमें जातीय उच्चता और गौरवकी भावना सूक्ष्म रूपसे छिपी रहती है। अपने सुन्दरतम रूपमें यह साम्राज्यवाद अज्ञानके स्थान पर ज्ञान, अविकसित शासनके स्थान पर व्यवस्थित और प्रगतिशील शासन और न्याय सम्बन्धी आदिम धारणाओंके स्थान पर आधुनिक विचारोंको प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न करता है। इसका उद्देश्य मनुष्य-भक्षण, दासता, अर्ध-दासता और नृशंसताओंका विनाश करना है। आज स्थिति चाहे जो कुछ हो पर मानवतावाद निश्चित रूपसे साम्राज्यवादका मूल कारण नही था। वह तो एक वादमें सोची हुई वात है। आजकल साम्राज्यवादके इस पक्ष पर वहुत जोर दिया जा रहा है यद्यपि यह सव केवल जवानी जमा-

[1] इसका प्रचलित अमरीकी समानार्थक है 'संचारण नैतिक नेतृत्व।'

खर्च है। जो लोग बड़े उत्साह-पूर्वक इसकी चर्चा करते हैं वह भूल जाते हैं कि यदि 'श्वेतागियोका दायित्व' एक ऊपरसे सत्य सिद्धान्त भी है तो भी अश्वेतागियो पर पडने वाला 'वोझ' तो एक कठोर वास्तविकता है और इसके लिये इन काले लोगोको अपनी सम्पत्ति और अपनी आत्मसहाय-शक्तिके विनाश और अपनी प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीय आत्मसम्मान की हानिकी चोट सहनी पडती है।

मानवतावादी उद्देश्योकी डीग हाकने पर भी सार्वजनिक शिक्षा, सफाई और जनता-सामान्य उत्थान पर व्यय की जाने वाली सम्पत्ति वहुत कम है। श्री जलियन हक्सले (Julian Huxley) के कथनानुसार अफ्रीकामें वच्चोकी मृत्यु-सख्या १५ से लेकर ५० प्रतिशत तक है, प्रत्येक वयस्क अफ्रीकावासी एक या एकसे अधिक प्रकारके कृमियो (Worms) का शिकार रहता है जिनमें अकुशकृमि (Hookworms) भी शामिल रहते हैं और प्राय मलेरिया भी उन्हे रहता है। कुछ क्षेत्रोमें ६० प्रतिशत जनताको रतिज रोग (Venereal disease) रहता है जिसे श्वेतागियोने ही वहा ले जाकर फैलाया है और इसके साथ-साथ पौष्टिक भोजनकी अत्यधिक कमी और जीवति (Vitamin) की कमी रहती है। अधिकाशत अफ्रीकामें १ प्रतिशत बच्चे भी स्कूल नही जाते। इन सबको देखते हुए श्री शुमैन (Schuman) के इस कथनको स्वीकार करना पडता है 'साम्राज्य का उद्देश्य अव अपने देशवासियोके कल्याण और समृद्धिकी अपेक्षा अपने अधीन लोगोकी भलाई करना बिलकुल नही रह गया (७० २६)।'

आधुनिक साम्राज्यवाद (Modern Imperialism) २० वी शतीमें साम्राज्यवादने पहलेकी अपेक्षा अधिक अप्रत्यक्ष रूप धारण किये है। अव तलवारकी अपेक्षा कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो पर अधिक भरोसा किया जाता है यद्यपि सीधे-सीधे प्रदेशोको विजय करना और हडप लेना आधुनिक युगमें भी कोई अनोखी वात नही है। जैसा कि एक लेखकने कहा है आजकल दाव व्यापार, उद्योग, रेलो, वन्दरगाहो, महत्त्व-पूर्ण अड्डो, कच्चे माल और तैयार माल तथा पूजीके लिये वाजारो पर लगाये जाते है।

ससारके अनेक भागोमे फैले हुए साम्राज्यवादके अप्रत्यक्ष रूप निम्नलिखित है

(१) **पट्टाधार (Leasehold)** व्यावसायिक अथवा सैनिक महत्त्वके कारण दुर्वल या पिछडे हुए राष्ट्रोको अपने देशके कुछ हिस्से पर से कुछ निश्चित समय—प्राय ९९ वर्षोके लिए—अपना आधिपत्य हटा लेनेके लिए तैयार या विवश कर लिया जाता है। राष्ट्रीय प्रभुता फिर भी उसी देशके हाथो रहती है जो पट्टा करता है पर वास्तविक अधिकार पट्टाधारीका हो जाता है। व्यावहारिक अर्थोमें, एक पट्टाधार पट्टेकी अवधि समाप्त होने तक पूरी तरहसे एक उपनिवेश वना रहता है (८ ४४३)' पट्टाधारके उदाहरण है चीन द्वारा १८९८ मे २५ वर्षके लिये रूसको दिये गये मचूरियाके वन्दरगाह, जापान द्वारा पहले चीनके पोर्ट आर्थर और दाएरेन (Dairen) पर अधिकार और इगलैडका वेहाइवे (Wei-hai Wai) पर अधिकार। सयक्त राष्ट्र अमेरिका पनामा नहरका पट्टाधारी है। और उसका पट्टा नहरके दोनो तरफ पाच-पाच मील तक है, इस पट्टेके वल सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने पनामाके गण-राज्यको व्यवहारत अपना एक अर्ध-रक्षित राज्य (Semi-protectorate) वना रखा है।

(२) **रक्षित राज्य और अर्ध-रक्षित राज्य (Protectorates and Semi-protectorates)** यह विभिन्न प्रकारके होते है। सभी रक्षित राज्योमें उनके वैदेशिक

सम्बन्धो और सुरक्षा-सगठनका नियत्रण साम्राज्यवादी शक्तिके हाथमें रहता है और अधिकतर आन्तरिक प्रशासनके दूसरे मामलोके साथ-साथ आर्थिक मामलो पर भी नियत्रण रखा जाता है। अंग्रेजी साम्राज्यमें तो एक रक्षित राज्यकी स्थिति वस्तुत वही है जो कि एक राज उपनिवेश (Crown Colony) की है यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनकी दृष्टिमे यह दोनो बिल्कुल भिन्न है। रक्षित राज्योके सम्बन्धमे विदेशी शक्तियोके साथ का गयो उनकी सन्धिया कायम रहती है पर उपनिवेशोके मामलेमे ऐसा नही होता। प्राय उपनिवेशो की समाप्ति अनुयोजना (Annexation) अथवा स्वाधीनतामें होती है।

आधुनिक समयमें रक्षित राज्यका सबमे सुन्दर उदाहरण मिस्र था। यद्यपि मिस्रकी स्वाधीनताकी घोषणा २८ फरवरी, १९२२, को करदी गयी थी फिर भी १९३६ में इगलैंड और मिस्रके बीच सहयोग-सन्धि होने तक वह स्वाधीनता इतनी सोपाधिक और कटी-छंटी रही कि मिस्र सभी प्रकारसे रक्षित राज्य ही बना रहा। १९२२ की घोषणाके अनुसार चार बाते अंग्रेजोने अपने लिए सुरक्षित कर ली थीं मिस्रमें अंग्रेजी साम्राज्यके सवाहन (Communication) की सुरक्षा, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विदेशी आक्रमण या हस्तक्षेपके विरुद्ध मिस्रकी रक्षा, मिस्रमें विदेशी स्वार्थोकी रक्षा, और अल्पस-ख्यकोकी रक्षा और सूडान। कुछ लेखक मिस्रको एक अर्ध-रक्षित राज्य कहना ही अधिक पसन्द करते है।

अर्ध-रक्षित राज्योके उदाहरण है क्यूबा और हैटी जो अपने नामसे कुछ सन्धिया कर सकते है पर विदेशी शक्ति जिन पर रोक लगा सकती है। रक्षित राज्योका एक दूसरा प्रकार है अन्तर्राष्ट्रीय रक्षित राज्य, जिसका एक उदाहरण, कुछ समय पूर्व अबीसीनिया था। ब्रिटेन, फास और इटलीके बीच १९०६ ई० मे हुए समझौतेके अनुसार इन तीनों शक्तियोने अबीसीनियाकी रक्षा करना और उसे सुविधाए देनेमें एक दूसरेसे होड न करना स्वीकार किया। पर यह समझौता रद्दी कागजका टुकडा ही सिद्ध हुआ।

(३) प्रभाव-क्षेत्र (Spheres of Influence) प्रभाव-क्षेत्रका अर्थ यह होना है कि जिस शक्तिके हाथोमे प्रदेश होता है 'उसे कर्ज लेने, रेलें निकालने, खानोके खोदने अथवा सार्वजनिक कार्योका विकास करनेके लिए वरीय (Preferential) अधिकार अथवा एकाधिकार दे दिया जाता है (८ ४८७)।' प्राय प्रभाव-क्षेत्र तलवारकी तेज धार के समान होते है जिसके परिणामस्वरूप वह क्षेत्र या तो रक्षित राज्य बन जाते है अथवा अनुयोजन (Annexation) हो जाता है यद्यपि वह न तो उपनिवेश होते है और न आश्रित राज्य। कभी-कभी तो सम्बन्धित पिछडे राज्योकी सहमतिके बिना भी वह प्रदेश काट-छाट कर निकाल लिए जाते है। श्री बुएल (Buell) का कहना है कि 'इस प्रथाके नियत्रणने सम्भवत सघर्ष शान्त करनेके बजाय और अधिक झगडे उत्पन्न किये है (८:४४८)।' आधुनिक युगमें एशिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागरमें प्रभाव-क्षेत्र साम्राज्यवादियोके लिए एक सुविधाजनक साधन बन गये है। इगलैंड और फ्रासके प्रभाव-क्षेत्र स्याममें रहे।

कभी-कभी एक 'प्रभाव-क्षेत्र' और 'स्वार्थ-क्षेत्र' के बीच अन्तर किया जाता है। स्वार्थ-क्षेत्र शुद्ध अर्थोमें आर्थिक होता है जब कि प्रभाव-क्षेत्रमें एक रक्षित राज्यसे कुछ कम कुछ निश्चित राजनैतिक सुविधाए भी अस्पष्ट रूपसे छिपी रहती है। एशियाकी अपेक्षा अफ्रीकामें प्रभाव-क्षेत्र अधिक रहे है।

(४) वहुराजकता (Condominium) अथवा सयुक्त शासनका अर्थ है औप-निवेशिक प्रतियोगितासे वचनेके लिए किसी विवाद-ग्रस्त प्रदेश पर दो या अधिक राज्योका नियत्रण। ऐसा नियत्रण सूडानमें नील नदीके जल पर ब्रिटेन और मिस्र का रहा है, मोरक्को में टैन्जियर शहर पर फ्रास, स्पेन और इगलैडका रहा है, और न्यू हेब्रिडीज (New Hebrides) पर फ्रास और इगलैड का रहा है। इस प्रकारका आधिपत्य न तो उन विदेशी राष्ट्रोको ही सन्तुष्ट कर पाता है जिनका आधिपत्य होता है और न उन देशवासियोको ही जो उस आधिपत्यमें रहते हैं। इस प्रकारका अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण प्राय सर्वदा असन्तोष-जनक रहता है और अन्तिम रूपमें हमेशा असफल होता है। इसका अर्थ होता है विभाजित उत्तरदायित्व।

(५) आर्थिक नियत्रण (Financial Control) 'अनेक ऐसे उदाहरण है जिनमें पूजीवादी देश सरकारी कर्मचारियो अथवा वैकोके प्रतिनिधियोके माध्यमसे पिछडे हुए देशोंकी सरकारोके आगम (Revenues) और व्ययका नियत्रण करते हैं यद्यपि अन्य अर्थोमें वह देश स्वतत्र होते है (८ ४५८)।' इस प्रकारका नियत्रण कई एक राज्यो द्वारा मिल-जुल कर अथवा एक ही राज्य द्वारा किया जा सकता है। एक ही राज्य द्वारा किये जाने वाले नियत्रणका उदाहरण है कैरीवियन (Caribbean) और मध्य अमरीकी राज्यो तथा लाइवेरिया और फारस पर सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का आर्थिक नियत्रण है।

(६) परियात नियत्रण (Tariff Control) स्वय लाभ उठानेके उद्देश्यसे पश्चिमी शक्तियोने प्राय पिछडे हुए देशोको इस वातके लिए मजबूर किया है कि वह विदेशी वस्तुओ पर अपने आयात-निर्यात-करको एक निश्चित सीमासे आगे न वढाए। इस प्रकारका नियत्रण जापान पर १९११ ई० तक रहा।

चीन, तुर्की, मोरक्को, स्याम और फारस पर भी इस प्रकारका नियत्रण रखा गया है और इसका उद्देश्य यह रहा है कि पश्चिमी राज्योको अपने यहा का माल पिछडे हुए देशो पर लादने और इस प्रकार उनके अपने देशी उद्योग-धन्धोमें वाधा डालनेकी सुविधा मिले।

(७) वहिर्देशीयता (Extra-territoriality) इसका अर्थ यह है कि एक विदेशी सरकारको एक पिछडे हुए देशमे रहनेवाले अपने देशवासियोके लिए अपनी अदालते स्थापित करना। वह इस आवार पर कि इन पिछडे देशोको अपनी कोई ऐसी विवेक-पूर्ण न्याय-प्रणाली नही है जो सव पर लागू की जा सके। इस प्रकारके वहिर्देशीय अधिकारकी माग प्राय सभी मुसलमानी देशोमें, जहा ईसाइयोको वहुत कम अधिकार दिये जाते है और जापान, स्याम, कोरिया तथा चीनमें की गई और सभी जगह यह दावा स्वीकार कराया गया, पर जव इस प्रकारके देश न्यायके पश्चिमी मानदडोको स्वीकार कर लेते है तव धीरे-धीरे यह विदेशी शक्तिया अपने वहिर्देशीय दावोको छोड देती है। इस प्रकार १८९४ में सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने जापान पर से और १९२४ में सोवियट सघने चीन पर से अपने दावोको समाप्त कर दिया। तुर्कीने अपने सभी वहिर्देशीय अधिकारोको समाप्त कर दिया है। द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो जानेके वाद ब्रिटेन और अमेरिका ने चीनमें अपने वहिर्देशीय दावोको छोड दिया। प्राय इन अधिकारोका प्रयोग प्रदूतिक न्यायालयो (Consular Courts) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो द्वारा किया जाता है और जैसी आशा की जानी चाहिए, प्राय उनका दुरुपयोग भी होता है।

मुक्त व्यापार होता है, पर दोनो ही देश अन्य देशोके साथ एक ही परियात-प्रणाली अपनाते है। कुछ दूसरे देश परियात-वरीयता (Tariff preference) की नीति अपनाते है जिसके द्वारा मातृदेश और उपनिवेशकी परियात-प्रणालिया भिन्न होती है पर एक दूसरे के मालके लिए दोनो ही विशेष रियायतें करते है।

जैसा कि श्री बुएल ने लिखा है, 'उपभोक्ताके दृष्टिकोणसे अवरुद्ध-द्वार नीतिका अर्थ है बढी हुई कीमतें, एक देशवासीके दृष्टिकोणसे यह शोषणकी नीतिका एक दूसरा रूप है, समस्त ससारके दृष्टिकोणसे इसका अर्थ है निम्न कोटिके राष्ट्रीयतावादी साम्राज्यवादका क़ायम रहना (८ ४२६)।'

नियोग (The Mandates). प्रथम विश्व-युद्धके दौरानमें श्री डब्ल्यू विल्सन ने जिस आदर्शवादकी नीव डाली थी उसने नियोगीय प्रणालीमें मूर्त रूप धारण किया जिसकी व्यवस्था राष्ट्र-सघके प्रतिश्रव (Covenant) की २२वीं धारामें किया गया था। योरोपीय राष्ट्रोके बीच होन वाले पिछले युद्धोका परिणाम प्राय यह होता था कि पराजित राष्ट्रोंके औपनिवेशिक प्रदेशोको विजयी राष्ट्र हडप कर लेते थे। पर वारसाई के शान्ति-सम्मेलनमें यह कहा गया कि पिछडी हुई जातियोके अधिकारोकी रक्षा मित्र राष्ट्रोका प्रधान कर्तव्य होना चाहिए और किसी भी मित्र राष्ट्रको पराजित शत्रु देशोके किसी भी औपनिवेशिक प्रदेशका एकमात्र स्वामी बननेका अधिकार नही दिया जाना चाहिए। इसी उद्देश्यसे नियोगीय प्रणाली (Mandatory System) की व्यवस्था की गयी जिसका उद्देश्य था (क) उपनिवेशोके देशवासियोके हितोंकी रक्षा करना और (ख) साम्राज्यवादी शक्तियोंके बीच परस्पर सघर्ष और प्रतियोगिताका अवसर न आने देना क्योकि इनके बिना भविष्यमें फिर युद्ध अनिवार्य हो जायगे। 'जो जातिया अभी अपने पैरो पर खडी होनेमें असमर्थ है उनके लिए 'न्यासधारी' (Trustee) नियुक्त करनेका विचार निश्चित रूपसे स्वीकार किया गया। राष्ट्रपति विलसन की इच्छाके विरुद्ध नियोजित प्रदेशोको प्रथम, द्वितीय और तृतीय—तीन वर्गोंमें बाटा गया और इसके लिए तर्क यह रखा गया कि भूतपूर्व देशोसे लिये गये सभी प्रदेश विकासका एक ही स्थितिमें नही है। इसलिए यह तर्क किया गया कि उनकी पृथक्-पृथक् आवश्यकताओके अनुकूल विभिन्न शासन प्रणालिया आवश्यक है। प्रथम कोटिके नियोजित प्रदेशोको निकट भविष्यमें सुशासन प्राप्त करनके लिए सबने अधिक योग्य समझा गया और तृतीय वर्गके प्रदेशोको सबसे अधिक अयोग्य और द्वितीय श्रेणीके प्रदेशोको बीचमें रखा गया। इन प्रदेशोका आधिपत्य उन्नत राष्ट्रोको सौंपा गया और उनके लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि राष्ट्र-सघकी कौंसिलके सम्मुख वह अपने कार्यकी वार्षिक रिपोर्ट पेश किया करें। राष्ट्र-सघकी कौंसिल एक स्थायी नियोगीय आयोग (Permanent Mandates Commission) के माध्यमसे कार्य कर रही थी।

यद्यपि नियोगीय प्रणालीकी रचना शुद्ध अन्त करणसे की गयी थी फिर भी जो आशाए इनकी अवधारणाके समय की गयी थी वह आशाए पूरी नही हुई। नियोगीय शक्तियो (Mandatory Powers) ने नियोजित प्रदेशोको सभ्यताका प्रन्यास (Trusts of Civilisation) माननेके बजाय उन्हे अपने अनुयोजित (annexation) प्रदेश समझना शुरू कर दिया। श्री शुमैन लिखते है 'तृतीय कोटिके नियोजित प्रदेश तो अनुयोजित प्रदेश ही समझे जा रहे है। द्वितीय कोटिके नियोजित प्रदेशोका शासन

उस शासनसे शायद ही भिन्न कहा जा सके जो सीधे-सीधे युद्धमें जीते गये प्रदेशो पर लादा जाता है। प्रथम कोटिके नियोजित प्रदेशो पर भी नियोगीय शक्तियोका प्रभाव-पूर्ण नियत्रण है (८ ६१७)।' एक अकेले 'ईराक को छोडकर सभी नियोजित प्रदेशोमें जनता की स्वतत्रता और स्वशासनकी इच्छाओको निर्दयता-पूर्वक कुचला गया। अपना नियोगी चुननेके मामलेमें भी नियोजित प्रदेशोकी इच्छाको ठुकरा दिया गया, जैसा कि सीरिया के मामलेमें किया गया था जिसने सयुक्त राष्ट्र अमेरिकाको प्रथम और हालैडको दूसरा राष्ट्र अपने नियोगी राष्ट्रके रूपमें चुना था। पर फिर भी उसे फासके हाथो सौप दिया गया। १६३२ में ईराकको एक स्वतत्र अग्रेजी रक्षित राज्य घोषित किया गया पर उसकी 'स्वाधीनता' मे वास्तविकता उससे अधिक नही थी जितनी कि मिस्र की स्वाधीनतामें थी। सीरियाकी परिस्थिति और भी अधिक बुरी थी। ऐसा लगता था कि फासीसी और सीरियन लोग एक दूसरेको समझने और एक दूसरेकी सहायता करनेमे स्वभावसे ही असमर्थ है।

नियोगीय प्रणालीमें एक अच्छाई यह थी कि उसमें प्रभाव-पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के लिए भी व्यवस्था की गयी थी। पर जैसा प्रो० शूमैन ने कहा है 'नियोगीय आयोग (Mandates Commission) ने एक स्वतत्र सस्थाके रूपमें ओज और साहसके साथ काम नही किया।' उसके सुझाव केवल एक परामर्शके रूपमें ही होते थे और कोई भी उन्हे माननेके लिए बाध्य नही होता था। नियोजित प्रदेशोकी जनताकी पहुच उस तक उतनी नही थी जितनी नियोगीय शक्तियोकी थी। उस जनताका कोई भी प्रार्थना-पत्र नियोगीय सरकारके माध्यमसे ही उस तक पहुच सकता था। १६२७ के बाद राष्ट्र-सघकी कौसिलने प्रार्थियोको मौखिक प्रमाण देनेकी सुविधा भी अस्वीकार कर दी। कभी भी आयोगने नियोजित प्रदेशोमे जाकर स्वय यह नही देखा कि नियोगीय शक्तियोने अपने अधीन रक्षित जनताको सभ्य मनुष्य बनाने और उनमें से जो अधिक उन्नत थे उन्हें सुशासनके योग्य बनानेका कार्य कहा तक पूरा किया है। उसने नियोगीय प्रथाके खुले आम दुरुपयोगोकी जाच करनेके लिए कोई समिति भी कही बाहर नही भेजी। इस प्रकार नियोजित प्रदेशोकी जनताके विरुद्ध पलडा बहुत भारी रहा।

इन बुराइयोके बावजूद भी नियोगीय प्रणालीसे एक निश्चित उन्नति हुई। यह एक ठीक दिशामें उठाया गया क़दम था, यद्यपि बहुत छोटा कदम था। नियोजित प्रदेशोके देशवासियोके हितोकी रक्षा उपनिवेशोकी अपेक्षा अधिक हो सकी। आत्मा और धर्मकी स्वाधीनता दी गयी और दास-व्यापार (Slave trade), शस्त्रास्त्रो तथा शराबका क्रय-विक्रय निषिद्ध कर दिया गया। आवश्यक सार्वजनिक कार्योको छोडकर बेगार और कामके ठेकोमें चालबाजीसे देशवासियोकी रक्षा की गयी। सरकारकी स्पष्ट सहमतिके बिना देशवासियोको अपनी भूमि विदेशियोको हस्तान्तरित करनेसे रोक दिया गया।

इनमें से अधिकाश सरक्षण कागजी सरक्षण ही रहे। पर उसमे अच्छाई एक यह थी कि नियोगीय आयोगकी रिपोर्ट राष्ट्र-सघकी असेम्बलीमें पहुचने पर उसका प्रचार हो जाता था। साम्राज्यवादी शक्तिया जो कार्य किसी समय बिना किसी भय या हानिके कर सकती थी, वही कार्य अब बिना संसारके जनमतकी कठोर आलोचनाका खतरा उठाये नही कर सकती थी। दक्षिणी पूर्वी अफ्रीकाके बाडेलवार्ट्स (Bondelzwarts) मामलेमें अपनी सम्मति देते हुए नियोगीय आयोगके सभापतिने साहस-पूर्वक कहा था: 'सबसे पहले

महत्त्व देशवासियोंके हितोको दिया जाना चाहिए। उसके बाद ही श्वेतागियोंके हितोकी बारी आती है। श्वेतागियोंके हितो पर विचार केवल उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जहा तक देशवासियोकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रक्षासे उनका सम्बन्ध हो।' इस मामलेमें नियोगीय शक्तिने अत्याचार किये थे।

दोनो विश्व-युद्धोके बीचकी अवधिमें ससारका जनमत अधिकाधिक मात्रामें उन पिछडे हुए प्रदेशो पर एक प्रभाव-पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और नियन्त्रण रखनेके पक्षमें होता गया जो स्वय अपने पैरो पर खडे होनेमें असमर्थ थे। कुछ विचारकोंके अनुसार जो प्रदेश वास्तवमें पिछडे हुए थे उन्हे एक निश्चित उद्देश्य और निर्धारित अवधिके लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियोगमें रखना उचित था। लॉर्ड लुगार्ड (Lord Lugard) जैसे एक अनुभवी औपनिवेशिक राजनीतिज्ञका तर्क इसके विपरीत यह था कि इस पद्धतिसे 'राष्ट्रीय भावना से हीन और देश-प्रेमका गला घोटनेवाली नौकरशाहीके समूचे उपक्रम (Initiative) को लकवा मार जायगा।' कुछ दूसरे लोगोंका तर्क यह था कि जब तक सरकारका सगठन राष्ट्रीय आधार पर होता है तब तक 'अन्तर्राष्ट्रीय नियोग' सम्भव नही है।

क्या साम्राज्यवाद उचित है (Is Imperialism Justified) ? साम्राज्यवादको घुमा-फिराकर बात बनानेवाले तरीकोसे उचित सिद्ध करनेका समय अब नही रहा। अब शायद ही कुछ लोग ऐसे हो जिन्हे सी० डी० बर्न्स के इस कथन पर विश्वास हो कि साम्राज्यवाद ग्रामीण राजनीतिकी सकीर्णताको तोडता है और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और विश्वबन्धुत्वकी ओर प्रेरित करता है। इसका प्रभाव यदि कुछ होता भी है तो ठीक इसका उल्टा होता है। साम्राज्यवादका मूल तत्त्व है शोषण और आधिपत्य। यह कहना कोई नास्तिकता नही है कि साम्राज्यवादका इतिहास आदरणीय नहीं रहा यद्यपि उसके विकासके इतिहासमें एक ऐसी अवस्था भी रही जिसमें निर्मम शोषणको 'न्यास' और पश्चिम द्वारा पूर्वी देशोको 'सभ्य और सद्मानव बनानेके पवित्र उद्देश्य' का जामा पहनाने की भी कोशिश की गयी। अनेक आधुनिक साम्राज्योकी उत्पत्ति समुद्री लूट और दास-व्यापारसे हुई है। श्री बार्नसका कहना है कि अग्रेजी साम्राज्य भी इसका अपवाद नही है (४ ११)।

साम्राज्यवादके औचित्य पर विचार करते समय चार प्रश्नोको ध्यानमें रखना होगा

(क) जिन लोगो पर साम्राज्यवादी शासन लादा जाता है क्या उनकी भौतिक और नैतिक अवस्थामें इससे कोई सुधार होता है ?

(ख) क्या इससे साम्राज्यवादी देशकी जनताकी भौतिक और नैतिक स्थितिमें सुधार होता है ?

(ग) क्या इससे ससारके विभिन्न देशोके बीच सघर्षकी स्थितिया कम होती है और विश्व-शाति तथा समृद्धिके लिए प्रेरणा तथा सहायता मिलती है ?

(घ) क्या साम्राज्यवादका कोई ऐसा विकल्प (Alternative) नही है जो ससार को और अधिक सुन्दर और सुखी बना सके ?

(१) क्या साम्राज्यवाद औपनिवेशिक देशोंकी जनताके लिए लाभप्रद है (Does Imperialism Benefit the Colonial People) ? वास्तविक मानवतावादी कार्योंके कुछ थोडेसे उदाहरणोंके बदलेमें हमें निर्मम शोषणके उदाहरण बहुत

अधिक दिखायी देते है। श्री लियोनार्ड वार्नेस (Leonard Barnes) का यह कथन विल्कुल ठीक है कि अंग्रेजी साम्राज्य एक भानुमतीका पिटारा है, जो कही-कही जीर्ण है, कुछ दूसरे भागोमें अत्याचारी है, अधिकाश भागोमें लक्ष्य-हीन है और वहुत थोडे स्थानो में लाभदायक है (४ २१)।' यह तथ्य अंग्रेजी साम्राज्यके इस परिचित चित्रके विपरीत है कि वह विश्व-व्यापी न्याय और उदारताका चिरन्तन स्रोत है जिस पर सूर्य कभी नही अस्त होता (४ २०)।' यह सच है कि अफ्रीकाके आन्तरिक प्रदेशोमें साम्राज्यवादने नृशसता, दासता और न्याय तथा शासनके अविकसित रूपोको समाप्त कर दिया है। पर इन इने-गिने लाभोकी तुलनामें हमें इन अनेक तथ्योका भी विचार करना होगा कि डच-ईस्ट इडीजमें हॉलैंडने अपनी सस्कृति फैलानेकी पद्धति अपनायी थी, वेल्जियम वालोने कागोमें भीषण अत्याचार किये थे, अयनवृत्तीय साम्राज्य (Tropical Empire) के अनेक भागोमें प्रतिज्ञावद्ध कुली और दासताकी प्रथाए प्रचलित है और दक्षिणी अफ्रीका तथा कीनियामें मुट्ठी भर श्वेतागियोने विस्तृत भूखड हडप लिये है। हमें ज्ञात है कि दक्षिण अफ्रीकामें १५ लाख श्वेतागियोने १८ करोड एकड भूमि हडप रखी है जव कि ५५ लाख नीग्रो लोगोंके पास केवल २ करोड ७० लाख एकड जमीन है।

अपारथीड (Apartheid) या जातीय पार्थक्यकी नीतिको कार्यान्वित करनेमें नीग्रो लोगो, भारतीयो और अन्य काले लोगोको पृथक् वाडोमें खदेडा जा रहा है।

श्री वार्नेस का कहना है कि अफ्रीकाके खानो वाले जिलोमें 'दासता की-सी स्थिति' है। देशी मजदूरोको प्राय धोखा देकर भर्ती किया जाता है और जिन अहातोकी व्यवस्थामे उनमें से अधिकाश अपना जीवन व्यतीत करते है वह स्वास्थ्य, नैतिकता और आर्थिक उन्नतिके लिए घातक है। अहातेको श्री वार्नेस 'जेल और वैरेकके वीच' की स्थिति का वताते है। अफ्रीकामें खेतिहरोकी हालत भी कुछ अच्छी नही है। जैसा कि श्री वार्नेस कहते है, दक्षिण अफ्रीकाके सघमे देशी नीतिकी एक ऐसी व्यवस्था की गयी है जो न्याय और ईमानदारीकी प्रत्येक परम्पराको जान-बूझ कर उखाड फेकनेका प्रयत्न करती है। ट्रान्सवाल और नेटालमें 'किसी भी देशी पुरुषको जिस खेत या फार्ममे वह रहता—काम करता है उसके वाहर तव तक कोई नौकरी नही दी जा सकती जव तक उस फार्मके मालिक ने नौकरी तलाश करनेका अनुमति-पत्र न प्राप्त कर ले (४ २५९)।' अत्याचारमें वर्वरता का पुट दे दिया गया है।

यह एक कुख्यात तथ्य है कि साम्राज्यवादी देश उन देशोकी जनताकी स्थिति सुधारने में वहुत ही कम पैसा खर्च करते है जिनके न्यासधारी उन्होने अपने आपको स्वय वना लिया है। लियोनार्ड वुल्फ (Leonard Woolf) का कहना है कि १९२४ में २० लाख पौंडकी निश्चित आयमें से कीनियाकी सरकारने ४८ हजार पौंड जेलो पर और ३४ हजार पौंड शिक्षा पर खर्च किया था। सरकारकी नीति यह है कि २½ लाख अफ्रीका-वासियो और ३६ हजार एशियाई लोगोंके हितोका वलिदान करके लगभग १० हजार योरोपीय लोगोका भला किया जाय। देशकी समूची उपयोगी भूमि इन योरोपीय लोगो के लिए सुरक्षित रख ली गयी है और 'देशवासियोको दरिद्रताकी राह भटकनेके लिए स्वतन्त्र छोड दिया गया है' (८३ : ८६)। दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीकाकी परिस्थितिया यह सिद्ध करती है कि देशी जनताकी स्थिति यदि उन देशमें वस जाने वाले श्वेतागी प्रवासियो के हाथमें छोड दी जाती है तो वह औपनिवेशिक विभागके अधीन रहनेकी अपेक्षा और भी

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय (National Self-determination) के स्थान पर इस व्यवस्थाको जमा देती है।

(ङ) वह स्वायत्त शासन, सुरक्षा और स्थानीय शासनमें देशवासियोंके सहयोगके अनेक रूप और प्रकार खोज निकालती है, पर इस बातका ध्यान रखती है कि शक्तिका मूल तत्त्व उसीके हाथमें रहे।

(च) वह देशी राजाओ और अन्य निहित स्वार्थोको औपनिवेशिक सरकारके घटक (एजेंट्स) बना कर उनका उपयोग करती है।

(छ) इस बातका वह सतर्कता-पूर्वक ध्यान रखती है कि कार्यकारिणी शक्ति पर व्यवस्थापिकाका नियन्त्रण न होने पावे।

(ज) अपवाद रूपमें ऐसी स्थितिया भी आती है जब एक साम्राज्यवादी शक्ति बिना युद्धके ही अधिकार त्याग कर देती है जैसा कि अंग्रेजी उपनिवेशो और भारतमें किया गया।

'विदेशी विजेताओकी अपेक्षा विदेशी शासनका विरोध करने वालोकी शक्ति जब तक कमजोर रहती है तब तक उनके प्रतिरोधका परिणाम केवल यही होता है कि विदेशी अत्याचार और विदेशी तानाशाही शासन बढ़ता ही जाता है(७० ६२९)।' सार्वजनिक अव्यवस्था, साम्प्रदायिक प्रतियोगिताए और सघर्ष, निरक्षरता, निम्नतर नैतिक स्तर आदिका उपयोग स्वशासनको अनन्त काल तक के लिए स्थगित कर रखनेके कारण रूपमें उपस्थित किया जाता है और इस बातका कभी कोई प्रयत्न नही किया जाता कि इन बाधाओको दूर किया जाय। पिछड़े हुए देशोको आत्मविकास करने और ठोकरें खाकर सीखनेका कोई अवसर नही दिया जाता। इस दृष्टिसे अफ्रीका के देशवासी सम्भवत सबसे अधिक अभागे रहे है।

एक दूसरा तथ्य जिसका स्मरण श्री शुमैन ने इस सम्बन्धमें दिलाया है यह है कि पश्चिमी सभ्यता कोई विशुद्ध वरदान ही नही है। ऐसे उदाहरण कम नहीं है जिनमें सफेद चमडी वालोंके धर्म, नैतिक आदर्श, भाषा और सामाजिक व्यवस्थाओका परिणाम देशवासियो की अपनी सस्कृतिके विनाश, सामाजिक अव्यवस्था और नैतिक पतनमें हुआ है। हमें यह बताया गया है कि साउथ सीज (South Seas) की देशी जनता पश्चिमके साथ अपने सम्पर्कके कारण या तो मर चुकी है या मर रही है, क्योकि इस सम्पर्कका निकृष्टतम अर्थ हुआ है शराबखोरी, बन्दूकबाजी और उपदश रोग। ससारके अन्य भागोमें साम्राज्यवादी शासनके अधीन रहनेवाले लोगोने अपना धर्म, अपनी कलाए, अपने नैतिक आदर्श और अपनी ग्राम्य परम्पराओको खो दिया है और 'पश्चिमी सफेद चमडी वालोंके भ्रष्ट और पतित उपहास्य-चित्र' (७० ५९२) बन गए है। प्राचीन साम्राज्यवाद अपने अधीनस्थ लोगोंके जीवन पर बहुत थोडा प्रभाव डालता था और अधिकाश रूपमें वह उन्हे अपनी मौलिक प्रतिभाके विकासके लिए मुक्त छोड देता था पर आधुनिक साम्राज्यवाद लोगोंके जीवन पर व्यापक प्रभाव डालता है और उनकी सस्कृति और सभ्यतामें जो कुछ भी श्रेष्ठ और सुन्दरतम होता है उस सबका विनाश कर देता है। अपने अधीन लोगोको वह 'तुच्छ और निम्न कोटिके विधान-हीन व्यक्ति मानता है और अपनी सैनिक श्रेष्ठता तथा उच्च शिल्प-विज्ञानकी सास्कृतिक श्रेष्ठता मानता है।'

जातीय सम्बन्धोंके विषयमें साम्राज्यवादका दायित्व बहुत अधिक है। एशिया-

वासियो और अफ्रीकियोंके सम्बन्धोको विगाडनेवाले जातीय सघर्ष साम्राज्यवादकी विरासत है। श्री सी० एफ० ऐंड्रयूज का प्रश्न है 'आप एक ऐसे व्यक्तिके मित्र कैसे वन सकते है जो हमेशा आपको अपनेसे तुच्छतर स्थितिमें रखनेके लिए वाध्य करता है?' कहा जाता है कि वार्सेस्टर के प्रधानाचार्यने भारत पर भाषण देते हुए कहा था 'हमें भारतकी अव्यवस्थाका मूल कारण खोजना चाहिए। उस देश पर हमारे शासनसे निस्सदेह उस देशवासियोका वहुत लाभ हुआ है। परस्पर सघर्षशील समुदायके वीच एक लम्वी अवधि तक हमने शान्ति कायम रखी है। हमने रेलें विछायी है, अकालसे युद्ध किया है, लोगोका स्वास्थ्य सुधारा है और देशकी उपज वढायी है, ... हमने भारत की भौतिक आवश्यकताओको पूरा करनेके लिए वहुत कुछ किया है लेकिन फिर भी हमें भारतके देशवासियोकी निष्ठा नही प्राप्त हो सकी। ऐसा क्यो हुआ? क्योकि हमने देशवासियोकी आत्माको चोट पहुँचायी है।' श्री एच० जी० वेल्स के अनुसार साम्राज्यवाद का अर्थ है 'हेकड शेखी, विश्ववन्धुत्वका विपर्याय।' सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के भूतपूर्व समाजवादी नेता श्री नारमन टॉमस (Norman Thomas) व्यग्य-पूर्वक कहते है 'अनेक ऐसे लोग है जिनके पास दफनाए जानेके लिए ६ फीट जमीन नही है पर वह इस गर्वसे फूले नही समाते कि उनका देश एक साम्राज्यका स्वामी है।' कहा जाता है कि प्रथम विश्व-युद्धके पहले जर्मनीके उपनिवेशोमें, श्वेताग लोग अपने साथ कोड़ा लेकर उसी प्रकार चलते थे जिस प्रकार रुमाल लेकर।'

जैसा कि प्रोफेसर हॉकिंग ने कहा है पश्चिमी देश यह समझ वैठे है कि जो कुछ उनके लिए अच्छा है वह सवके लिए अच्छा है। 'वह विनाश करते है पर विना यह अनुभव किए हुए कि वह विनाश कर रहे है', उदाहरणके लिये अरवी संस्कृतिका विनाश उपस्थित किया जा सकता है। उनमें यह समझनेकी सामर्थ्य नही है कि 'जीवनके सौष्ठव, विचार और भाषाकी महत्ता, शिष्टता, आतिथ्य, सम्भाषण, अन्त प्रेरणा, काव्य और दार्शनिक ज्ञानके क्षेत्रमें पूर्वीय देश उनकी अपेक्षा कही अधिक आगे वढे हुए है। (हॉकिंग)

इससे भी अधिक वुराई यह है कि युद्ध साम्राज्यवादका एक आवश्यक अग है—प्रारम्भमें पिछडे हुए देशोके साथ युद्ध और वादमें अन्य साम्राज्यवादी शक्तियोंके साथ युद्ध। ऐसा एक भी उपनिवेश नही है जो विना रक्तपातके जीता गया हो। एक आधुनिक लेखकने यह लिखा है कि साम्राज्यका मार्ग उनके अधीन आ पडने वाले लोगोंके खूनसे रंग जाता है। एक दूसरे लेखकने लिखा है कूटनीति, दवाव और सैनिक शक्ति साम्राज्य-वादके आवश्यक उपकरण है। एक पिछडे हुए देशको अपने अधीन कर लेनेके वाद भी साम्राज्यवादी देशोको एक वहुत वडी सेना रखनी पडती है। यह सेना तीन कारणोंसे रखी जाती है : अपना गौरव स्थापित करनेके लिए, देशवासियो द्वारा किये जाने वाले विद्रोह-भय के कारण और इस भयके कारण कि कही कोई प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादी शक्ति लूटके मालको हडप न ले। एक साम्राज्यवादी शक्तिका विछावन हमेशा काटो पर रहता है और उसकी मनोवृत्ति ऐसी रहती है जो साधारण स्वस्थ मानव-सम्बन्धोंके प्रतिकूल पडती है।

इन सव प्रत्यक्ष वुराइयोंके होते हुए भी साम्राज्यवादके समर्थक उनके पक्षमें यह तर्क रखते है : 'साम्राज्यवाद अराजकता और अव्यवस्थाको समाप्त करके शान्ति और व्यवस्था स्थापित करता है, एक पिछडे हुए समाजके विभिन्न सघर्षशील सम्प्रदायोंमें साम्राज्यवाद पंचका काम करता है, देशवासियो द्वारा ही देशकी जनताका शोषण किये

जानेसे उसकी रक्षा करता है, देशके उन प्राकृतिक साधनोको साम्राज्यवाद ससार भरके लिए सुलभ बनाता है जिनका उपयोग पहले नही हुआ होता, विस्तृत प्रदेशो पर साम्राज्यवाद एकरूप विधान प्रचलित करता है और आजकलके दिनोमें जब तैयार मालके लिए बाजारो और कच्चे मालके लिए भयानक प्रतियोगिता चल रही है, उन देशोके लिए जो स्वय अपने पैरो पर नही खडे हो सकते यह निश्चित रूपसे लाभदायक है कि वह एक बडे साम्राज्यके अग बन जायँ जो उन्हे व्यवस्थित जीवन और सुरक्षाकी सुविधा दे सके। हम यह स्वीकार करते है कि इन सभी तर्कोके पीछे काफी बल है पर हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि यह सब बातें साम्राज्यवादकी बुराइयोको केवल कम कर देती है पर, किसी प्रकार भी उसका औचित्य नही सिद्ध कर पाती। साम्राज्यवादका औचित्य तभी सिद्ध किया जा सकता है जब उसका उपयोग सबसे पहले सबसे अधिक मात्रामें शामिल लोगोके कल्याणके लिए किया जाय और उन्हें स्वशासन तथा स्वाधीनताके योग्य बनानेके लिए वह ऐसे उपायोको अपनाए जिनसे यह लक्ष्य जल्दीसे जल्दी पूरा हो जाय। ईमानदारी हमें यह कहनेके लिए विवश करती है कि इन दोमें से कोई भी शर्त एक उचित मात्रामें आजके साम्राज्यवादी ससारमे कही भी पूरी होती नही दिखायी देती।

(२) क्या साम्राज्यवाद मातृदेशकी जनताके लिए लाभप्रद है (Does Imperialism Benefit the People of the Mother Country)? प्राय यह अनुमान किया जाता है कि साम्राज्यवाद मातृदेशकी जनताको बहुत अधिक भौतिक लाभ पहुचाता है। पर यदि परिस्थितिका सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाय तो इस अनुमानका समर्थन नही होता। भावना-पक्ष में निस्सदेह साम्राज्यवाद हेय मनोवृत्ति वाले लोगोंके लिए एक सुन्दर रसायन है। पर इससे जनताका कोई अधिक लाभ नही होता। लीबियाके सम्बन्धमें इस तथ्यकी सत्यता सिद्ध करते हुए श्री शूमैन ने लिखा है 'लीबिया एक ऐसे औपनिवेशिक प्रदेशका एक परिपूर्ण ठोस उदाहरण है जिसे मातृदेशकी जनताको पर्याप्त हानि पहुचा कर प्राप्त किया गया है और कूटनीतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठाके कारण वैसी ही हानि उठा कर उसे अधिकारमें रखा जा रहा है। लाभ जो कुछ भी थोडा-बहुत होता है वह पूजी लगाने वाले और कुछ थोडेसे सुविधा-प्राप्त लोगोको ही होता है, समूचे राष्ट्रको कोई भी आर्थिक लाभ नही होता (७० ४०६)।'

साधारणत साम्राज्यवादी अभियानोसे जो कुछ आर्थिक लाभ होता है वह राज्यानुग्रह-प्राप्त थोडेसे लोगोको ही होता है। समूचे राष्ट्रको तो गुनाह बेलज्जत ही बनना पडता है। उदाहरणके लिए इगलैडकी आम जनताको भारत पर इगलैडके स्वामित्वसे होने वाला प्रत्यक्ष लाभ शायद बहुत ही कम था यद्यपि यह तथ्य है कि 'एक उपनिवेशके रूपमें किसी भी औद्योगिक साम्राज्यको प्राप्त होने वाले बाजारोमें भारत सबसे बडा बाजार है।' (६३ ५२०)। कुछ विशिष्ट उद्योगोको लाभ हो सकता है जैसे वस्त्र और लोहेके उद्योगोको। पर सामान्यत समूचे उद्योगोको लाभ नही होता। यदि भारत और अन्य औपनिवेशिक प्रदेशोमें लगी हुई कुल पूजी इगलैडमे ही रह गयी होती तो शायद इगलैड के मजदूर-वर्गकी स्थिति आजकी स्थितिकी अपेक्षा बहुत अधिक अच्छी होती। श्री लियोनार्ड वार्नेस लिखते है 'विशेष रूपसे उपनिवेश साधारणत कुछ वर्गोके लिए लाभप्रद होते है, वह पूजी लगाने वालो और उत्पादकोके लिए लाभदायक होते है पर वेतनभोगी मजदूरोंके लिए हानिकारक होते है (४ २१)।

साम्राज्यवादके समर्थक प्राय यह कहते हैं कि साम्राज्यवादी देशको अपने उपनिवेशों में पैदा होने वाला कच्चा माल बहुतायतसे मिल जाया करता है। पर वास्तविक तथ्योंसे इस धारणाकी पुष्टि नही होती। जैसा कि श्री पार्कर मून ने कहा है कच्चे माल रंग-भेद को नही पहचानते, वह राजनैनिक नियमोकी अपेक्षा आर्थिक नियमोका अनुगमन करते हैं। यह सोचना मूर्खता है कि एक साम्राज्यवादी देश द्वारा अपने उपनिवेशोमें लगायी गयी पूजी हमेशा प्रत्यक्ष लाभ देती है। यह विचार भी कि एक साम्राज्य कच्चे मालके मामलेमें आत्मनिर्भर बन सकता है, विशेषकर युद्धके समयमें, वैसा ही भ्रम भरा जान पडता है। इस उद्देश्यकी सिद्धि जो बलिदान चाहती है वह उद्देश्यसे कही अधिक है। देश-प्रेम के जोश में आकर एक ही साम्राज्यके भीतरके देश इस बातके लिए तैयार हो सकते है कि वह पर्याप्त आर्थिक हानि उठा कर भी आपसमें ही एक दूसरेसे क्रय-विक्रय करें। पर यह जोश बहुत जल्दी ठडा हो जाता है। व्यापार साधारणत कमसे कम मूल्यका अनुगमन करता है देश-भक्तिके प्रोत्साहनका नही।

प्रथम विश्व-युद्धके बाद अग्रेजी साम्राज्यमें दृढता-पूर्वक प्रचलित होने वाला साम्राजीय पक्षपातका विचार, जो १६३२ के ओटावा-समझौता मे अपनी चरम सीमा पर पहुचा, साम्राज्यके लिए कोई अधिक सहायता न ला सका। 'दि टाइम्स (The Times)' नामक समाचार-पत्र ने लिखा था, 'ओटावा और विश्व-युद्धके प्रारम्भके बीचके सब सात वर्षोमें ब्रिटेन और उसके उपनिवेशोने एक साथ ही यह सबक सीखा कि उनकी सबसे अधिक जटिल समस्या और उसको हल करनेकी आशाए उनके पारस्परिक व्यापार पर नही बल्कि शेष संसारके साथ उनके व्यापार पर निर्भर है।'

ऊपरके तर्कोके बावजूद भी मातृदेशके निम्न वर्णोको अप्रत्यक्ष लाभ होता ही है। विदेशी व्यापार और सस्ते कच्चे मालके आयातसे सार्वजनिक समृद्धि और क्रय-शक्ति में कुछ वृद्धि होती ही है। यह बात संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सम्बन्धमें सत्य है, यद्यपि वह उन अर्थोमें एक साम्राज्यवादी शक्ति नही है जिन अर्थोमें ब्रिटेन, फ्रास, बेल्जियम और पुर्तगाल है।

दूर तक विस्तृत साम्राज्यकी रक्षाके लिये इगलैंडको विवश होकर एक बहुत बडी स्थल, जल और नभ-सेना रखनी पड़ती थी और इसका अर्थ यह है कि अंग्रेज कर-दाता को इसका बोझ उठाना पडता था, इस प्रकार ब्रिटेनके साम्राज्यवादी विस्तारसे जो कुछ भी अप्रत्यक्ष लाभ उसे प्राप्त होता था वह करोके इस बोझसे सम्भवत और अधिक वापस छीन लिया जाता था।

यह तर्क कि साम्राज्यवाद अधिक आबादीका एक प्रतिकार है, तथ्यो द्वारा सिद्ध नहीं होता। इटली और जापान हमेशा अपनी बढती हुई आबादीकी शिकायत करते रहे पर उपनिवेश प्राप्त करने पर भी उन्हें इस समस्या का हल न मिला। उद्योग, कृषि और अर्थ-नीतिके समन्वयपूर्ण व्यवस्थापन और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा यह समस्या शायद अधिक अच्छे ढंगसे सुलझ सकती है। साम्राज्यवादका परिणाम एक यह होता है कि साम्राज्य-वादी देशकी जनताका मानदंड और उसकी मजदूरी नीचे गिर जाती है। जब पूजीपति यह देखता है कि पिछडे हुए देशोमें जहा मजदूर सस्ते और काफ़ी तादादमें मिल जाते हैं अपनी काफ़ी सम्पत्ति लगानेसे उसे शीघ्र लाभ हो सकता है तब स्वभावत वह अपनी पूजी उन्ही देशोमें लगाता है। बहुत ही शीघ्र उसे यह मालूम हो जाता है कि अपने देशकी

अपेक्षा उस पिछड़े हुए देशमें अनेक प्रकारकी वस्तुए बहुत कम लागतमें तैयार की जा सकती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि उसके मातृदेशमें श्रमिक-वर्गकी मजदूरी गिर जाती है और उन्हें बेकारीका भी सामना करना पडता है।

विजेताओ पर साम्राज्यवादका नैतिक प्रभाव निस्सन्देह बडा ही गम्भीर होता है। प्रो० हॉकिंग का यह कथन बिल्कुल सत्य है 'किसी भी जातिके लिए एक लम्बी अवधि तक ऐसी जनताके बीच रहना जिसे वह घृणाकी दृष्टिसे देखती हो विशेष रूपसे घातक होता है।' इससे नैतिकताका मानदड गिर जाता है और विवेक कुठित तथा पतित हो जाता है। यह बात कोई असामान्य नही है कि श्वेताग लोग अपने लिए एक भिन्न मानदड रखते हैं और काले लोगोंके लिये उनका मानदड अलग रहता है। देशके विधान तकको इस बिगडी व्यवस्थाका समर्थन करनेके लिए विवश किया जाता है। सफेद चमडी वाले अपने विवेकको धोखा देकर यह विश्वास करने लगते हैं कि काले लोग एक निम्न जाति के है, कि काले लोगोंको उन सुख-सुविधाओकी कोई जरूरत नही है जिन्हें एक श्वेतागी अपने लिए आवश्यक मानता है, कि काले लोग न कुछ खा-पीकर भी जीवित रह सकते है, कि उनके आचार, व्यवहार और आदर्श इस योग्य नहीं है कि उन पर ध्यान दिया जाय और उनकी भावनाओं तथा उनके विचारो पर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता नही है आदि। इस प्रकारकी आन्तरिक घृणा ही इस तथ्यका मूल कारण है कि भारतमें शायद ही कुछ अग्रेज लोग भारतीय सस्कृति और सभ्यताका वास्तविक अर्थ—महत्त्व समझ पाये हों। वह यहाके हाथियो, चीतो, सापो, सामाजिक गोष्ठियो और राजमहलोंके बारेमें तो बहुत कुछ जानते है पर जनताके आन्तरिक जीवन और लोगोकी प्रतिमाके सम्बन्धमें बहुत कम ज्ञान है। भारतीय दर्शन, काव्य, साहित्य और कलाका सौन्दर्य उनमें से बहुतो के लिए एक गूढ रहस्य है।

जहा तक तथाकथित 'पिछड़े हुए' प्रदेशोका सम्बन्ध है, साम्राज्यवाद अपने सबसे उत्तम रूपमें एक उदार तानाशाही कहा जा सकता है। दमन तो साम्राज्यवादकी सास है। अनुभव यह बताता है कि उपनिवेशोमें बरता जाने वाला दमन मातृदेशमें भी अपनी जडें जमा लेता है। सम्भवत यह बात सत्य है कि स्वाधीनता-प्रेमी अग्रेजोने स्वाधीनताके प्रति अपने मौलिक उत्साहका कुछ अश खो दिया है। इसका आशिक कारण एक तो यह है कि विदेशोमें उसके देशवासियोंने जो सैनिक अत्याचार किये उनसे उनकी मनोवृत्तिमें कुछ परिवर्तन आ गया है और अशत यह कारण भी है कि उनके आश्रित साम्राज्यके विभिन्न भागोमें स्वाधीनता पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाये गये है।

साम्राज्यवादी देश और उसके अधीनस्थ देशोंके बीच जो अस्वाभाविक सम्बन्ध चल रहे है उनसे यह बिल्कुल असम्भव हो जाता है कि दोनो एक दूसरेसे कुछ सीख सकें। जब तक दो जातियोंके बीच स्वामी और दासका सम्बन्ध रहता है तब तक नए विचारो और सुझावोका स्वीकार किया जाना और शिक्षार्थीकी आन्तरिक शक्ति-सामर्थ्यका उपयोग असम्भव है। इस सम्बन्धमें प्रो० हॉकिंग लिखते है 'एक प्रतिभावान् शिक्षक अपने शिक्षार्थीके लिए स्वय वह सब कुछ नही करता जो एक न एक दिन शिक्षार्थी स्वय कर ही लेगा, उसका ध्यान शिक्षार्थीकी आन्तरिक शक्तिको विकसित करनेकी ओर अधिक रहता है और कोई निश्चित कार्य सम्पादनकी ओर कम (४ १३९)।'

(३) क्या साम्राज्यवाद राष्ट्रोंके बीच संघर्षके कारण समाप्त करके विश्व-

शान्तिमें सहायता देता है (Does Imperialism Help to Avoid Friction Points Among Nations and Make for World Peace)? इस प्रश्नका उत्तर अधिकाश रूपमें नकारात्मक ही है। साम्राज्यवादका अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा या होड। इसका अर्थ है बाजारोके लिए, कच्चे मालके लिए और पूजी लगानेके स्थानोके लिए सघर्ष। जब तक अफ्रीका और एशिया में बसने और शोषण करनेके लिए काफी खुले हुए क्षेत्र थे तब तक पश्चिमीय राष्ट्र आपसमें बिना बहुत अधिक सघर्षके उन्हे आपसमें बाट लेनेमें समर्थ रहे। आज प्राय समस्त प्राप्य भूमि हडपी जा चुकी है और भविष्यमे इस बातकी पूरी आशा है कि साम्राज्यवादी शक्तियोंके बीच उपनिवेशो और बाजारोके लिए युद्ध होंगे। द्वितीय विश्व-युद्धमें जर्मनी और जापानने युद्ध सम्बन्धी अपने दायित्वको यह कह कर उचित सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि वह साम्राज्यवादी संसारमें समानता स्थापित करना चाहते थे। युद्धके प्रारम्भके पहले ही श्री लियोनार्ड बार्नेस ने लिखा था 'यह बिल्कुल सत्य और उचित कथन है कि वर्तमान सुविधा-प्राप्त शर्तोंके अनुसार ब्रिटेनके विस्तृत साम्राज्यके साथ शान्तिका मेल नही बैठ सकता (४·२१-२२)।'

पर विदेशी लेखक सामान्य रूपसे श्री बार्नेस की इस सम्मतिसे सहमत नही है। उनका विश्वास है कि अंग्रेजी साम्राज्य विश्व-शान्तिका सबसे बडा रक्षक है। उदाहरणके लिये प्रो० ई० बार्कर का दावा है कि यद्यपि मूल रूपमें अंग्रेजी साम्राज्यका अर्थ था बस्ती बसाने और व्यापार करनेके लिए समुद्र पारके देशोमें अपना विस्तार करना पर अब उसने अपनी पूर्णताकी एक ऐसी प्रणाली प्रकट की है जिससे वह पूरी तरहसे स्वशासन-युक्त राष्ट्रोंके स्वेच्छाजन्य सगठित समाजके नवीन आदर्श रूपमें बदलता जा रहा है, यह सगठन विधान और स्वाधीनता सम्बन्धी अंग्रेजी विचारोकी स्वेच्छाजन्य स्वीकृतिके आधार पर ही रहा है। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता नही है कि स्वशासन-युक्त राष्ट्रोंके स्वतत्र सघका यह दावा वही तक ठीक है जहा तक अधिराज्यो (Dominions) का सम्बन्ध है। पर उपनिवेशो और आश्रित प्रदेशोंके सम्बन्धमें यह कथन लागू नहीं होता और समूचे अंग्रेजी साम्राज्यका ¾ भाग इन उपनिवेशों और आश्रित प्रदेशोंको मिला कर ही बनता है।

श्री लियोनार्ड बार्नेस का कहना है कि अंग्रेजी साम्राज्यके तथाकथित उद्देश्य है:

(क) साम्राज्यके समस्त सदस्योंके बीच शान्ति,

(ख) विदेशी आक्रमणके विरुद्ध सुरक्षाकी एक सहयोग-मूलक व्यवस्था;

(ग) उसके सभी सदस्योंके लिये (१) व्यक्तिगत, (२) आर्थिक अर्थात् जीवनके सुन्दर और निरन्तर उन्नतिशील मानदंड, और (३) राष्ट्रीय स्वाधीनता।

श्री बार्नेस स्वय इस बातको स्वीकार करते हैं कि यह सब कुछ केवल स्वशासन-युक्त अधिराज्योंके सम्बन्धमें ही सत्य है।

यदि तर्कके लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि अंग्रेजी साम्राज्य विस्तृत प्रदेशों के लिए शान्ति-व्यवस्था और सन्तोषकी प्राप्ति सम्भव बनाता है तो भी इसका यह अर्थ नहीं होता कि उससे विश्व-शान्ति भी प्राप्त हो जाती है। युद्धोंमें भाग न लेने कहीं आक्रमण न करने और अपने उपनिवेशो तथा आश्रित देशोंको दबाकर और स्वशासनके अयोग्य बनानेकी इंग्लैंडकी इच्छामें ईमानदारी हो सकती है पर इस तरह इंग्लैंड संसारके अन्य पूजीवादी देशोंको यह विश्वास नहीं करा सकता है कि उसके व्यापार और

भू-प्रदेशोमें उन्हें उपयुक्त भाग नही मिला तब तक विश्व-शान्ति कच्चे धागे पर झूलती है। इसलिए हमारा निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक साम्राज्यवाद—दार्शनिकका साम्राज्य-वाद नहीं—शान्तिके लिए हितकर नही है। साम्राज्यवाद अपने सर्वोत्कृष्ट रूपमें भी एक सशस्त्र तटस्थता ही कहा जा सकता है।

(४) क्या साम्राज्यवादका कोई विकल्प है (Is There an Alternative to Imperialism)? हमारा विश्वास है कि साम्राज्यवादकी पूर्णावस्था सम्भव नहीं है। श्री शुमैन का विश्वास है कि साम्राज्योके दिन अब गिने हुए है यद्यपि अब उनका पतन भी बहुत धीरे-धीरे और क्रमश होगा। पार्कर मून का कहना है कि साम्राज्यवाद मध्य-विक्टोरिया युगका बचा-खुचा अश है जो एक नितान्त अविक्टोरिया-युगमें जीवित है। यदि सक्रमण-कालमें साम्राज्यवाद अपनी स्थितिका औचित्य सिद्ध करना चाहता है तो 'शोषण-मूलक साम्राज्यवाद' को हटा कर उसके स्थान पर उत्तरदायित्व-मूलक साम्राज्य-वाद स्थापित करना होगा। प्रो० हॉकिंग के कथनानुसार केवल साम्राज्यवादी सगठनमें कुछ परिवर्तन कर देना ही काफी नहीं है। इससे भी अधिक आवश्यक है एक नवीन मनोवृत्ति। पुरानी औपनिवेशिक और सैनिक मनोवृत्ति साम्राज्यवादी प्रश्नोके सहानुभूति-पूर्ण हलमें सहायक नही होती। इन प्रश्नोकी प्रगति मनुष्य जातिकी सुख-समृद्धि और कल्याणके प्रश्नो में होनी ही चाहिए। समस्याका हल, 'अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण' और 'अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग' में मिल सकता है। इन प्रश्नोको हल करनेके लिए सयुक्त राष्ट्र-सघ बहुत अधिक उपयोगी सस्था है पर अभी तक उसकी उपादेयता उसके भीतर छिपी ही रही है।

साम्राज्यवादको आधुनिक युगके लिए उपयोगी बनानेमें श्री बार्नेस समूचे औपनिवे-शिक साम्राज्यमें मुक्त-द्वार नीतिका प्रयोग आवश्यक मानते है। उनका कहना है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका गला नही घोटना है तो इगलैंडको अपनी परम्परागत मुक्त-व्यापार नीति अपनानी होगी। उनकी सम्मतिसे कच्चा माल सभी खरीदारोको एक ही भाव बेचा जाना चाहिए। अपवाद तभी होना चाहिए जब किसी प्रकारके अपराधी राष्ट्रोके विरुद्ध आर्थिक अनुज्ञप्तिया (Economic Sanctions) लागू करनी हो। यदि कच्चे मालकी पूर्तिको और किसी प्रकार नियन्त्रित करना हो तो उपभोक्ताओंके हितोकी रक्षा राजकीय नियत्रण द्वारा की जानी चाहिए और उपभोक्ता देशको उस नियत्रणमें सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए (४ १७)।'

उपनिवेशो और नियोजित प्रदेशो (प्रन्यासो) के शासनके सम्बन्धमें श्री बार्नेस एक बडी युक्ति-युक्त बात कहते है कि चूकि यह प्रदेश वहाके निवासियोके हैं, इसलिए उनके हितोका ध्यान सबसे पहले किया जाना चाहिए। यदि इन प्रदेशोका हस्तान्तरण किया जाता है तो वह वहाके निवासियोकी 'पूर्ण और स्वेच्छाजन्य स्वीकृति' के अनुसार ही होना चाहिए। बार्नेस का विश्वास है कि इस समस्याका सर्वोत्तम हल यह है कि नियोजित प्रदेशो (प्रन्यासो) और उपनिवेशोको एक अन्तर्राष्ट्रीय सत्ताके अधीन कर दिया जाय, यद्यपि वह यह अनुभव करते है कि सम्भवत प्रारम्भमें इस व्यवस्थाका कार्य भी सुचारु रूपमे नहीं चल सकेगा। हिन्दचीनकी भाति जो देश स्वशासनके लिए उपयुक्त हैं उन्हे जल्दीसे जल्दी अपना लक्ष्य प्राप्त करनेमें सहायता दी जानी चाहिए। यदि उन्हे अब भी पश्चिमके प्रगतिशील देशोकी सहायताकी आवश्यकता हो तो वह सहायता सयुक्त राष्ट्र जैसी एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था द्वारा विशेषज्ञो, परामर्शदाताओ और प्रशासकोके रूपमें दी जानी

चाहिए, न कि उन्हें किसी एक देशकी अनन्तकालीन दासतामें बाथ रखना चाहिए। किसी भी उपनिवेश या नियोजित प्रदेशमें वहाकी जनता या वहाके प्रदेशका सैन्यीकरण नही होना चाहिए।

साम्राज्यवादको सुधारनेके लिए जो अन्य सुझाव दिये गये है वह यह है

(क) देशके मूलवासियोका भाग्य सफेद चमडे वाले प्रवासियोंके हाथ नही सौंपा जाना चाहिए। श्री अल्फ और वार्नेस दोनो ही दक्षिणी अफ्रीका और केनियाकी कठिनाइयो का मूल कारण वहाके श्वेताग प्रवासियोकी स्वार्थ-पूर्ण और सब कुछ हडप जाने वाली नीतिको ही बताते है। रग-भेद और वर्ग-क्षेत्र विधेयक (Class Areas Bill) आदिके आधार पर यदि निर्णय किया जाय तो ऐसा मालूम होगा कि सन् १९०९ में दक्षिण अफ्रीका-सघको औपनिवेशिक पद समयसे पहले ही दे दिया गया। औपनिवेशिक विभागको नीग्रो लोगोके प्रति और अधिक सहानुभूति-पूर्ण नीति बरतनी चाहिए थी।

विशेषकर देशकी भूमिका विदेशीकरण और देशके श्रमिक-वर्गका शोषण साम्राज्य-वादी देश या किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था द्वारा निषिद्ध घोषित किया जाना चाहिए। दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीकामें सचमुच मजदूरीके लिए दासता प्रचलित है जिसमे 'अधिकार तो कमसे कम और कर्त्तव्य अधिकसे अधिक' रहते है। श्री वार्नेस का कहना है 'दासता जैसी परिस्थितियोका सुधार आज दास-प्रथाका जो अवशेषाश है उसको मिटानेकी अपेक्षा कही अधिक महत्त्व-पूर्ण व्यावहारिक समस्या बन गया है। जातीय विद्वेष और अत्याचारको 'देशवासियो' के हितमें ही उचित सिद्ध किया जा रहा है।

(ख) पिछडे हुए देशोमें व्यक्तिगत पूजीका मुक्त प्रवाह बन्द किया जाना चाहिए। किसी भी देशके विकासमें निहित स्वार्थ, विशेषकर विदेशी स्वार्थ, प्राय सबसे अधिक बाधा पहुचाते है। यदि ऐसी स्थितिसे बचना है तो यह आवश्यक है कि पूजीका सचरण सयुक्त राष्ट्र-सघके नियन्त्रणमें रखा जाय। श्री वार्नेस का सुझाव तो यह है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय औपनिवेशिक धन-विनियोग-समितिकी स्थापना की जाय जो नियोजित (अथवा न्यास) क्षेत्रोमें लगानेके लिए सम्पत्ति निर्धारित करे, कर्ज ले और सदस्य-राष्ट्रोंके लिए अनुबन्धो की एक न्याय-सगत व्यवस्था करे। जहा तक आर्थिक और प्रशासकीय विधि द्वारा सम्भव हो विकास योजनाओंके लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति-विनियोग बन्द कर दिया जाना चाहिए (४:३४)।'

(ग) प्रत्येक देशकी मौलिक परम्पराओंके आधार पर पिछडे हुए देशोको यथासम्भव शीघ्र स्वशासनके योग्य बनाया जाना चाहिए। श्री वार्नेस का विश्वास है कि भारतमें अग्रेजी शासन यद्यपि कुशल था पर उसमें कोई आत्मबल नही था। इसका कारण वह यह बताते है कि देशके सघो और सगठनोकी उपेक्षा की गई थी। 'भारतवासियोकी दृष्टिसे सरकारका समूचा ढाचा उन पर ऊपरसे लादा गया था, वह उनके आवाहनका फल नही था।' श्री एल० वूल्फ लिखते है 'यदि योरोप साम्राज्यवादी दासतासे पूर्ण स्वाधीनताकी स्थितिमें बिना सघर्ष और प्रतिरोधके पहुच जानेमें एशिया की पूरी-पूरी सहायता नही करता तो ससारमें एक ऐसा युद्ध और एक ऐसी राज्यक्रान्ति उत्पन्न होगी जिसकी तुलना में महायुद्ध एक बहुत छोटी-सी चीज दिखाई देगा (८३.५०)। आज हमें वही स्थिति दिखाई दे रही' है।

(घ) जब तक बाहरी नियन्त्रण आवश्यक हो तब तक यह स्पष्ट होना कि यह नियन्त्रण

की अपेक्षा आंशिक नियन्त्रण रखा जाय। प्रत्यक्ष नियन्त्रणकी अपेक्षा देशी परम्पराओं और देशी संस्कृति और संस्थाओंके आधार पर अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रखा जाय, किसी एक राष्ट्र के नियन्त्रणके बजाय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाय।

(ङ) श्री बार्नेस ने एक बडा उपयोगी सुझाव यह दिया है कि चूंकि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद एक दूसरे से घनिष्ठ रूपसे जुडे हुए हैं इसलिए यदि साम्राज्यवादमें व्यापक संशोधन करना अभीष्ट हो तो यह आवश्यक है कि 'मातृदेश' में पूंजीवादको हटाकर समाजवादकी स्थापना की जाय। श्री बार्नेस के ही शब्दोंमें 'साम्राज्यवादी व्यवस्था बर्दाश्त करने लायक़ बन सके इसके लिए इंगलैंडमें किसी न किसी प्रकारकी समाजवादी क्रान्ति अनिवार्य है।' 'उपनिवेशोंकी स्वाधीनता और उनका विकास और इंगलैंडका समाजीकरण एक दूसरे पर आश्रित हैं। एकके बिना दूसरा हो ही नहीं सकता। वह एक ही अन्त सम्बद्ध प्रक्रियाके दो पहलू हैं।' श्री आर० फॉक्स के कथनानुसार 'इंगलैंडके मज़दूर-वर्गके संघर्षका और इंगलैंड में समाजवादकी समस्याका निराकरण अंग्रेजी साम्राज्यके अधीन लोगोंकी आज़ादीको अलग रख कर नहीं किया जा सकता। श्री बार्नेस और फॉक्स के शब्दोंकी सत्यता आजके इंग्लैंडके समाजवाद और ईरान द्वारा अपने तैल-उद्योगका समाजीकरण किए जानेके तीव्र अंग्रेजी विरोधकी असंगतिकी भूमिकामें स्वत सिद्ध हो रही है।

मिश्रके इस्माइल ने एक पिछडे हुए देशमें विदेशियोंके कर्त्तव्योंकी एक तालिका बनाई है जो साम्राज्यवादी शासकों और राजनीतिज्ञों पर भली भांति लागू होती है 'शासन-भार तभी स्वीकार करो जब उसे स्वीकार करके तुम उस जातिका कल्याण कर सको जिस पर शासन करो।'

'जनता को एक उच्च सभ्यता तक उसका नेतृत्व करके ले जाओ, खदेड कर नहीं, अपने मातृदेशसे अपने सम्बन्ध तोड दो,'

'अन्य सरकारोंका विरोध करो और जिस राष्ट्रका अन्न-जल खाओ उसकी प्रभुसत्ता को अक्षुण्ण रखो',

'किसी भी ऐसे प्रश्न पर सम्मति देते हुए जिसे स्वयं तुम्हारी या कोई विदेशी सरकार हल करना चाहती हो तो देशवासियोंका प्रतिनिधित्व करो, और ऐसा करनेमें—

'अपना आचार और अपना निर्देशक आदर्श वही रखो जो समूचे संसारमें सार्वभौम रूपसे न्याय-संगत और उचित हो, और जो उस देशके निवासियोंके लिए सबसे अधिक कल्याणप्रद हो जिसकी सेवा तुम कर रहे हो।'

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (Internationalism)

सभी देशोंके विचारशील व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय अराजकताको समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करनेकी आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं। संसार अब उतना असीमित नहीं रह गया जितना पहले हमारी कल्पनामें था। संवाद, संवाहन और यानायातके तीव्र्रगामी साधनोंने दूरीकी समस्या समाप्त कर दी है। आर्थिक दृष्टिसे संसार एक इकाई पश्चिमके और कालकी दूरी और उससे उत्पन्न होने वाले रहस्यमय भयको रेडियोने समाप्त जैसी एक है। जैसा कि श्री मदारियागा (Madariaga) ने कहा है 'समाचारों में दी जानी दृष्टिकोणसे संसार अब बाजारकी सी एक स्थानीयता प्राप्त कर चुका है

में हम एक अन्योन्याश्रित ससारमें रह रहे है जिसमें एक देशके लोगोकी समस्याका प्रभाव देर-सवेर अन्य सभी लोगो पर पडता है। यदि मानव-जातिको उस दुर्भाग्यसे बचाना है जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा है तो उसे राष्ट्रीय पार्थक्य-भावनाको छोड कर अन्तर्राष्ट्रीय ऐक्य-भावनाको अपनाना होगा, राष्ट्रीय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तको हटाकर अन्तर्राष्ट्रीय एकताके सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीयतावादका ध्येय है आत्मसम्मान और सुशासन-पूर्ण राष्ट्रोका एक ऐसा परिवार जो समानता, शान्ति और पारस्परिक सहयोगके सम्बन्ध-सूत्रोंसे एकतामें बधा हो। कमसे कम मानव-विकासकी वर्तमान स्थितिमें एक स्वस्थ राष्ट्रीयतावाद स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीयतावादकी भूमिका बन सकता है। श्री जोसेफ के शब्दोमें . 'राष्ट्रीयता मनुष्य और मनुष्य-जातिके बीच एक आवश्यक कडी है। सैनिकवाद तथा कट्टरता और युद्ध-प्रियता अथवा जिसे पहले 'भेडियोकी सी आक्रामक राष्ट्रीयता' कहा गया है वह अन्तर्राष्ट्रीयतावादका निश्चित शत्रु है। यह तथ्य कि मै जिस वर्गका हू उसके प्रति निष्ठा रखता हू किसी प्रकार भी यह अर्थ नही रखता कि मुझे दूसरे वर्गोसे घृणा रखनी चाहिए। एक सास्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक राष्ट्रीयतावाद अन्तर्राष्ट्रीयतावादका सहायक है। श्री विलियम लॉयड गैरिसन (William Lloyd Garrison) के शब्दोमे . 'हमारा देश समूचा ससार है, हमारे देशवासी मानव-मात्र है। हम अपने राष्ट्रकी धरतीको उतना ही प्यार करते है जितना दूसरे देशोकी धरतीको।'

१६वी शताब्दीके पहले इस बातके अनेक प्रयत्न किये गये कि योरोपकी जातियोको एक दूसरेके समीप लाया जाय और एक दूसरेके बीच स्थायी शान्ति स्थापित की जाय। पर वह सब प्रयत्न असफल रहे क्योकि उनका उद्देश्य यथास्थिति कायम रखना था। इन योजनाओमें से एक योजना ड्यूक द सलॉय नामक महान् फ्रांसीसी राजनीतिज्ञकी थी जिसने १७वी शतीके प्रारम्भमें अपनी योजनाको सम्राट् हेनरी चतुर्थके नामसे प्रकाशित किया था। इस योजनाकी प्रधान विशेषता यह थी कि उसने एक विश्व-राज्यकी मध्यकालीन कल्पनाको छोडकर तत्कालीन राज्योकी स्वायत्तताको स्वीकार किया था। चाहे जितने अस्पष्ट रूपसे हो पर सलॉय ने विश्व-शान्तिकी किसी भी योजनामें राष्ट्रीय स्वाधीनताकी आवश्यकता पहले ही समझ ली थी। उसने मध्यकालीन विश्व-राज्यकी कल्पना की अव्यावहारिकता भलीभांति समझ ली थी। उसकी योजनाको महान् योजना या ग्रैंड डिजाइन (Grand Design) कहा जाता है। इस योजनाके अनुसार योरोपको एक ईसाई गणतत्र बनाया जाना था जिससे रूस बहिष्कृत रहता और तुर्की-साम्राज्य (Ottoman Empire) को सबका शत्रु समझा जाता। इस गण-राज्यमें ६ वंशानुगत राजतन्त्र, पांच निर्वाचित राजतन्त्र और चार गणतन्त्र सम्मिलित होते और स्वयं जर्मन सम्राट् उसका अध्यक्ष होता। सम्राट्की सहायताके लिए जो कौंसिल या स्थायी समिति बनती उसमें ६४ सदस्य होते जो सार्वजनिक हितके प्रश्नोंपर विवेचन करते और राष्ट्रोंके बीच होनेवाले झगडोंका फैसला करके शान्ति स्थापित करते। इस कौंसिलके पास एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थल और जल-सेना रहती। इस सुझावको [illegible] नहीं [illegible] दिए और [illegible]ने १६३२ के निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन में फिरसे पेश किया था।

दूसरी महत्त्वपूर्ण योजना 'अब्बे दि सेंट पियरे (Abbe de St. Pierre) ने उपस्थित की थी। यह योजना यूट्रेक्ट-सम्मेलन (१७१३) के बाद तुरन्त पेश की गयी थी। जिसके

ने इस सम्मेलनमें भाग लिया था। नेपोलियनके युद्धोंके समाप्त हो जानेके बाद भी यह योजना योरोपके राजनीतिज्ञोकी विचारधाराको प्रभावित करती रही। इस योजनाका मौलिक सिद्धान्त यह था कि समूचा योरोप एक अकेला समाज है और किसी भी एक राज्यको इतना शक्तिशाली नही होना चाहिए कि वह शेष योरोप पर हावी हो जाय। योरोपके सभी राजाओको ऐसे अनुबन्धमें सम्मिलित होना था जिसके अनुसार वह यह शपथ लेते कि एक दूसरेकी प्रादेशिक प्रभुताको प्रतिष्ठित रखेंगे, क्रान्तियोको दबायेंगे और राजाओको उनके सिहासनो पर कायम रखेंगे। यदि कोई राज्य इस सन्धिको तोडने का प्रयत्न करता तो उसके विरुद्ध शक्तिका प्रयोग किया जाता। राज्योंके बीच होनेवाले मतभेदोको पचायत द्वारा सुलझाया जाता। यूट्रेक्ट शान्तिनगर बनाया जाय, जहा पर राज्योंके प्रतिनिधि मिल कर 'एक ऐसी सभा बनाते जिसे शान्ति क़ायम रखने और बहुमत की स्वीकृतिसे सन्धिके उद्देश्योको पूरा करने तथा सभाके निश्चयोको कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक और उपयुक्त कानून बनानेका अधिकार प्राप्त होता' (७० २३५-३६)। यह योजना इसलिए असफल हो गयी कि इसमें सन्धियोकी अभगनीयता पहले ही से कल्पित कर ली गयी थी। इसका भी उद्देश्य केवल यथास्थिति कायम रखना था। दूसरी बात यह थी कि यह सन्धि तानाशाही राजाओंके बीच हुई थी न कि देशोकी जनता के बीच। और इसलिए इसका अर्थ था एक ऐसी व्यवस्थाको स्थायी बना देना जिसका कोई औचित्य नही था। एक अन्तिम कारण यह था कि पियरे इस राष्ट्रीय भावनाकी शक्ति नही समझ सके कि जहा तक सम्भव हो राजनैतिक सीमाओ और राष्ट्रीय सीमाओ को एकरूप होना चाहिए।

श्री पियरे की योजना जीन जैक्स रूसो (Jean Jacques Rousseau) के विवेचनका आधार बनी। रूसो इस निष्कर्ष पर पहुचे कि अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष और युद्ध स्वतत्र राज्योंके सघर्षसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए उन्होने सघीय योरोपकी योजना प्रस्तुत की जिसका सगठन विधान-राज्यके अन्तर्गत होता। राज्योको एक अलोप्य सन्धि (Irrevocable alliance) में शामिल होना था। झगडोका निबटारा पचायत द्वारा होना था। सघ सम्यक् रूपमें अपने सदस्य-राज्योकी प्रादेशिक अखडनीयताकी तथा उनकी तत्कालीन शासन-पद्धतिकी गारटी देता। राज्योंके आकारका विना विचार किये हुए सभी राज्योको काग्रेस या प्रतिनिधि-सभामें समान मत-दानका अधिकार और सदस्य-राज्योंके बीच अध्यक्ष-पदका चक्रानुवर्तन (Rotation)—यह स्वीकार किये जाने वाले कुछ अन्य सिद्धान्त थे। यदि कोई भी सदस्य राज्य अनुबन्धकी शर्तोको तोडता तो उसे सार्वजनिक शत्रु घोपित किया जाता और उसके विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की जाती। प्रतिनिधि-सभा के पूर्णाधिकार-प्राप्त प्रतिनिधियोको तीन-चौथाई मतके आधार पर ऐसे नियम बनानेका अधिकार था जो सभी सदस्योके ऊपर लागू किये जा सकते थे।

रूसो के कार्यको श्री जेरमी बेन्थम ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑफ् इन्टरनेशनल लॉ' में आगे बढाया। बेन्थम को अग्रेजी भाषामें सबसे पहले 'इन्टरनेशनल (अन्तर्राष्ट्रीय) शब्दका प्रयोग करनेका श्रेय प्राप्त है। युद्धको उन्होने 'भयानक शैतानी' बताया है। उनका विश्वास था कि रक्षात्मक सन्धियो, सार्वजनिक गारटियो, निशस्त्रीकरण और औपनिवेशिक साम्राज्यके परित्याग से युद्धको दूर किया जा सकता है। उन्हे विश्वास हो गया था कि गुप्त कूटनीति, परियात (Tariffs), सरकारी सहायता और उपनिवेश यह सब विश्व-

शान्तिके लिए घातक है और इसलिए इनका उन्मूलन किया जाना चाहिए। विभिन्न देशो के विधानोको विधिवद्ध करके श्री बेन्थम ने अन्तर्राष्ट्रीयतावादके उद्देश्यकी ओर अधिक सेवा की है।

१८वी शतीके अन्तिम महान् दार्शनिक, जिन्होने विश्व-शान्तिकी समस्याका विवेचन किया है, श्री इमैनुएल काट है। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'टूवर्ड्स इटरनल पीस' में उन्होने शान्तिकी प्रतिष्ठाके लिए एक सघ-योजना बनाई थी। श्री काट द्वारा निर्धारित सिद्धान्त है 'सभी राज्योकी स्वाधीनताकी प्रतिष्ठा, तटस्थताके सिद्धान्तकी स्वीकृति और स्थायी सेनाका क्रमिक उन्मूलन।' उन्होने सभी राज्योके लिए गणतत्रीय सविधानो और विश्व-नागरिताका भी समर्थन किया। पर उनकी शिक्षाओका घटना-चक्र पर बहुत कम प्रभाव पडा।

१९वी शतीके प्रारम्भमें नेपोलियन ने विश्व-शान्तिकी समस्या पर कुछ ध्यान दिया। यदि हम 'लेस्केसेज' (Les Cases) के उल्लेखो पर विश्वास करें तो नेपोलियन के युद्धो का उद्देश्य यह था कि वह राष्ट्रीय आधार पर योरोपका मानचित्र नए सिरेसे बनाए और इन नवनिर्मित राज्योको फ्रासके नेतृत्वमें एक सघमे सम्मिलित कर दे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधानका विकास (The Evolution of International Law) कूटनीतिज्ञ, दार्शनिक और योद्धा लोग जब विश्व-शान्ति कायम रखनेके लिए योजनाए बनानेमें जुटे हुए थे तब उसी लक्ष्यकी सिद्धिके उद्देश्यसे, पर बिल्कुल विभिन्न स्तर पर एक पृथक् विकास हुआ। यह विकास था अन्तर्राष्ट्रीय विधानका विकास। यह विकास एक डच न्याय-शास्त्री, श्री ह्यूगो ग्रोशियस के कार्यका फल था जिन्होने १७वीं शतीमें अपना काम किया और जो बादमें 'अन्तर्राष्ट्रीय विधानके स्रष्टा' रूपमें विख्यात हुए। युद्धो और आन्तरिक सघर्षोके युगमें रहनेके कारण ग्रोशियस ने शान्तिकी आवश्यकता और महत्ता अनुभव की। अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी व्यवस्था बनानेमें उन्हे परदेशी सम्बन्धी विधान (Jus Gentium) और प्राकृतिक विधान (Jus Naturale) सम्बन्धी रोमन विचारा से बडी सहायता मिली। आगे चल कर इन दोनो विधानोको प्राकृतिक विधानकी एक ही व्यवस्थामें सम्मिलित कर दिया गया। इस प्राकृतिक विधानका निर्माण राज्योमें नदिय, से आदृत प्रथाओ और राज्योके बीच जो अनेक सन्धिया परस्पर हो चुकी थी उन नव आधार पर किया गया। प्राकृतिक राज्यकी धारणासे उन्होने राज्योकी समानताका विचार ग्रहण किया और यह विचार आधुनिक युग तक चला आ रहा है। उन्होने घोषित किया कि प्रभुसत्ता न तो परम पूर्ण है और न असीमित। प्रभुसत्ता दैवी विधानके अधीन है। प्राकृतिक विधानके अधीन है, राज्योके विधानके अधीन है तथा शासको और शासितोंके, बीच होने वाले समझौतोके अधीन है।

आधुनिक युगमें एक तीसरा विकास हुआ झगडोको निबटानेके लिए योरोपीय शक्तियोंके सम्मेलनका सगठन। १८१५ और १८२५ के बीच समूचे योरोपको एक सघ बनाने के प्रबल प्रयत्न हुए। इन प्रयत्नोका प्रधान नायक था रूसका जार अलेक्जेंडर प्रथम। उसकी योजना योरोप की स्थायी शान्तिके लिए एक पवित्र सन्धि की थी। इस योजनामें पचायत और मध्यस्थता तथा विकासशील राष्ट्रीयताके सिद्धान्त सम्मिलित किए गए थे पर १८१५ से पहले यह योजना कार्यान्वित न हो सकी। तुर्की साम्राज्यको छोडकर योरोपके अन्य सभी भागोके बीच इस सन्धि-योजनाने व्यापक समझौतोका आयोजन

'इस महानुबन्धके पक्षभूतराष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगका विकास करने, और अन्त-र्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाकी सिद्धिके उद्देश्यसे,

युद्धका मार्ग न अपनानेका दायित्व स्वीकार करके,

राष्ट्रोंके बीच मुक्त न्याय-युक्त और सम्मान पूर्ण सम्बन्धोको स्थापित करके,

सरकारोके बीच पारस्परिक व्यवहारके वास्तविक नियम रूपमें अन्तर्राष्ट्रीय विधानकी विधियोको दृढता-पूर्वक स्थापित करके,

और सुसगठित जातियोके बीच पारस्परिक व्यवहारमें न्यायकी स्थिति और सन्धि-जन्य उत्तरदायित्वोकी विवेक-पूर्ण स्वीकृति और कार्यान्विति द्वारा

राष्ट्र-सघके इस प्रतिश्रवको स्वीकार करते हैं।'

प्रतिश्रवकी धाराओका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे राष्ट्र-सघके उद्देश्य निम्नलिखित जान पडते हैं·

(क) शान्ति-सम्मेलन द्वारा स्थापित यथास्थितिको स्थायी रूपसे प्रतिष्ठित रखना;

(ख) कुछ निश्चित प्रशासकीय और निरीक्षणिक (Supervisory) कर्तव्योको पूरा करना जैसे राष्ट्रीय अल्पसमुदायोकी रक्षा, डैंजिग (Danzig) के स्वतन्त्र शहरका निरीक्षण, सारघाटी (Saar Valley) का प्रशासन और नियोगीय प्रणाली (Mandate System) का कार्यान्वय,

(ग) स्वास्थ्य, सामाजिक प्रश्नो, अर्थ-व्यवस्था, आयात, सवाहन (Communication) आदिकी समस्याओ पर ध्यान देना,

(घ) युद्धोका निवारण और झगडोका शान्ति-पूर्ण निवटारा।

राष्ट्र-सघकी सदस्यता और निसृति (Membership in the League and Withdrawal) राष्ट्र सघका प्रारम्भ ४२ प्रारम्भिक सदस्योको लेकर हुआ प्रतिश्रवकी धाराओंके अनुसार नए सदस्योकी भर्तीके लिए सभाके ⅔ सदस्योकी स्वीकृति आवश्यक थी। सदस्यताकी शर्त यह थी कि सदस्य बनने वाले राष्ट्रको सघ द्वारा निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वको निभाने और निशस्त्रीकरण सम्बन्धी नियमोका पालन करने का वचन देना पडता था। सैन मैरिनो (San Marino) और आरमीनिया जैसे अत्यन्त छोटे राष्ट्रोको सदस्यतासे वचित रखा गया था यद्यपि स्विटजरलैंडको उसकी तटस्थ स्थितिके कारण सैनिक दायित्वोको पूरा करनेकी उसकी अनिच्छाके बावजूद भी भर्ती कर लिया गया था। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका सघका कभी भी सदस्य नही बना क्योंकि वहाँ की अनुपद (Senate) प्रतिश्रवको स्वीकार न कर सकी। फिर भी अमेरिकाने सघके अनेक कार्यवाहियोमें सहयोग दिया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयमें कुछ विख्यात अमरीकियों ने न्यायाधीशोंके पद पर काम किया और कुछ अमरीकी क्षति-पूर्तिकी रकमोको कम करने में भी सम्मिलित थे।

राष्ट्र-सघसे निसृतिके लिए दो वर्षकी अग्रिम सूचना आवश्यक थी। पर यदि प्रतिश्रव में होने वाला कोई सशोधन किसी सदस्यको अस्वीकार हो तो उसकी निसृतिके लिए यह सूचना अनिवार्य न थी। निसृतिके पूर्व सदस्यको अपने सभी दायित्व पूरे कर देना आवश्यक था। प्रतिश्रवका उल्लघन करने वाले सदस्यका निष्कासन किया जा सकता था। द्वितीय महायुद्धके प्रारम्भ होनेसे पहले तीन राष्ट्रो—जर्मनी, जापान और इटलीको राष्ट्र-सघसे निसृति महत्त्वपूर्ण थी।

राष्ट्र-सघके विभाग (The Organs of the League)

(क) **असेम्बली या सभा (The Assembly).** प्रत्येक सदस्यको एक वोट प्राप्त था। सिद्धान्तत इसका यह अर्थ था कि राष्ट्रसघका नियत्रण छोटे राज्योंके हाथ में था क्योंकि बहुमत उन्हींका था। प्रत्येक सदस्यको तीन प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार था, पर उनका सम्मिलित वोट एक ही होता था। इस सम्बन्धमे भारत और ब्रिटिश साम्राज्यके स्वशासन-युक्त उपनिवेशोंकी गणना पृथक् राज्योंके रूपमे होती थी। प्रतिनिधियोका चयन प्रत्येक देशकी कार्यपालिका सरकारें करती थी, और इस प्रकार वह प्रतिनिधि जनताके प्रतिनिधि न हो कर सरकारोंके प्रतिनिधि होते थे।

द्वितीय विश्व-युद्धके प्रारम्भ होने तक इस सभाकी बैठक जिनेवामे प्रतिवर्ष एक बार होती थी। विशेष अधिवेशनोंके लिए भी व्यवस्था थी। कार्यवाही अग्रेजी और फ्रेंच भाषामें होती थी। अधिकाश कार्य समितियोंके माध्यमसे होता था। ६ स्थायी समितिया थी जो राष्ट्र सघके महत्त्वपूर्ण कार्योंको संभालती थी। निर्णायक विवाद सभाके पूर्ण अधिवेशनमें होते थे। सभाकी कार्य-सूची सघका महामत्री कौंसिलके परामर्शसे तैयार करता था। पिछले अधिवेशनमें उठाये गये प्रश्न अथवा कौंसिल द्वारा उठाये गये प्रश्न या सघके किसी सदस्य द्वारा किये गये प्रश्न कार्य-सूचीमें सम्मिलित किये जाते थे। सभाका सभापतित्व एक निर्वाचित सभापति करता था। १२ उपसभापति उसकी सहायता करते थे जिनमें से ६ उपसभापति स्थायी समितियोंके अध्यक्ष होते थे।

सभाके कर्त्तव्योंमें से एक कर्त्तव्य था दो-तिहाई बहुमतसे नये सदस्योंको भर्ती करना। कौंसिलके ९ स्थायी सदस्योंमें से ३ का निर्वाचन भी प्रतिवर्ष सभा बहुमतसे करती थी। प्रति ९ वर्षके बाद यह सभा कौंसिलके सहयोगसे स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके १५ न्यायाधीशों और उपन्यायाधीशोंका निर्वाचन भी बहुमतसे करती थी। कौंसिल द्वारा महामत्रीके पदके लिए मनोनीत व्यक्तिकी स्वीकृति भी यह सभा बहुमतसे देती थी। धारा २६ के अनुसार प्रतिज्ञापत्रमे सशोधन करनेका अधिकार इस सभाको था। एक विचारक सस्थाके रूपमें इस सभाका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। राष्ट्र-सघकी कार्य-परिधिके भीतर आनेवाले और ससारकी शान्तिको सकटमें डालने वाले किसी भी प्रश्नपर विचार करनेका अधिकार सभाको था। राष्ट्र-सघका कोई भी सदस्य सभा या कौंसिलका ध्यान ऐसे किसी भी मामलेकी ओर आकर्षित कर सकता था जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको सकटमें डालने या राष्ट्रोंके बीच स्थापित सद्भावना—जिस पर विश्व-शान्ति टिकी थी—नष्ट करनेका खतरा उत्पन्न कर रहा हो। सभाको यह अधिकार था कि सदस्योंको ऐसी सन्धियों पर फिरसे विचार करनेकी सलाह दे जो अव्यवहार्य हो चुकी हों।

सभाका एक विशेष कर्त्तव्य था प्रतिवर्ष आय-व्ययके या बजटको स्वीकार करना। यह बजट एक आधुनिक युद्ध-पोतकी लागतके लगभग पचमांश बराबर होता था। श्री [illegible] के कथनानुसार १९३९ में सभाने [illegible] पर एक सौ [illegible] सम्मति [illegible]। इसके विपरीत राष्ट्र-सघका औसत बजट ८० लाख डालर [illegible] सम्पत्तिका [illegible] का भाग था। बजट राष्ट्र-सघका महासचिव तैयार करता था [illegible] सभा उसमें संशोधन कर सकती थी और [illegible] राष्ट्रोंके बीच व्यय बंटवारा करती थी। समूचे व्ययको एक हजार इकाइयोंमें बांटा जाता था और प्रत्येक सदस्यके भाग [illegible]

आकार, उसकी जन-संख्या और उसके राजनैतिक महत्त्वके अनुसार कुछ संख्या निश्चित कर दी जाती थी। समूची आयका लगभग आधा भाग सचिवालय पर व्यय हो जाता था। तिहाई भाग अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय पर और दशमाश अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पर व्यय होता था।

सभाका सगठन ही कुछ ऐसा था कि उसका कार्य साधारण ढगका ही रहा। उसका आकार और उसकी महत्ताने उसके लिये एक समितिकी भाति तेजीसे काम कर सकना कठिन कर दिया। फिर भी सभा कौसिलके कार्योका सामान्य निरीक्षण करती रही।

सभा तथा कौसिलको कई एक प्राविधिक सगठन (Technical Organisations) सहायता देते थे। सभाके कार्योमें एक बाधा यह थी कि वह अधिवेशनमें उपस्थित सदस्योकी सर्व-सम्मतिके बिना कोई भी निर्णय नही कर सकती थी। पर चूकि उसके अधिकाश कार्य सुझाव या सिफारिशोके रूपमें होते थे इसलिए सीधे-सादे बहुमतसे काम चल जाता था। सभामें बैठने वाले प्रतिनिधि अपनी-अपनी सरकारोंके प्रतिनिधि होते थे इसलिए वह लोग स्वतत्र रूपसे अपना मत नही दे सकते थे, बल्कि उन्हें अपने अपने देशके वैदेशिक विभागके निर्देशोके अनुसार काम करना होता था।

इन प्रतिबन्धोंके होते हुए भी सभा एक अत्यन्त उपयोगी सस्था थी। अन्तर्राष्ट्रीय शिकायतो और झगडो पर विवाद करनेके लिये वह एक अच्छे मचका काम करती थी। ११वी धाराके अनुसार किसी देशके ऐसे आन्तरिक मसलोपर भी सभा द्वारा विचार किया जा सकता था जिनके सम्बन्धमें राष्ट्र-सघकी कोई भी सस्था पचायतका काम नही कर सकती थी। और यदि ऐसे मसलेका कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी होता था तो उसके आधार पर एक ऐसी सन्धि करायी जा सकती थी जो उस सन्धिको स्वीकार करने वाले राष्ट्रो पर लागू हो सकती थी। यद्यपि जापान द्वारा मचूरिया को हडपनेके मामलेमें कौसिल सभाकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई फिर भी सभा परिस्थितिका निराकरण बहुत अधिक प्रभाव-पूर्ण ढगसे कर सकनेमें समर्थ थी।

(ख) कौंसिल या परिषद् (The Council). इसके सदस्य तीन कोटिके होते थे (१) स्थायी सदस्य, (२) अस्थायी सदस्य और (३) विशेष सदस्य। स्थायी सदस्य वह मित्रराष्ट्र थे जिन्होने १९१८ में युद्ध जीता था। जर्मनीको परिषद्की स्थायी सदस्यता १९२६ में दी गई पर राष्ट्र-सघका परित्याग करने पर उसने वह सदस्यता भी खो दी।

प्रतिवर्ष परिषद्की चार नियमित बैठकें होती थी, और विशेष अधिवेशनोंके लिए भी व्यवस्था की गयी थी। प्रत्येक अधिवेशनके प्रारम्भमें राष्ट्र-सघका महामत्री परिषद्के पिछले निर्णयोको कार्यान्वित करनेके लिए उठाये गये कदमोंका विवरण पेश करता था। परिषद्के अध्यक्ष और उपाध्यक्षका निर्वाचन प्रतिवर्ष बहुमत द्वारा होता था। निर्वाचित व्यक्ति लगातार दो वर्ष निर्वाचनके लिए नही खडे हो सकते थे।

परिषद्का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था अन्तर्राष्ट्रीय झगडोका सुलझाना। जिन झगडो में दोनो पक्ष पचायती फैसले अथवा अदालती फैसलेको अस्वीकार कर देते थे और जिन झगडोमें समझौतेकी यह पद्धतिया अव्यवहार्य होती थी उनके लिए प्रतिश्रवमें यह व्यवस्था थी कि उन्हे परिषद्के पास उचित कार्यवाहीके लिए भेजा जाय। इसका अर्थ यह था कि जिन झगडोका अदालती फैसला न हो सकता था वह अथवा राजनैतिक झगडे परिषद्के अधिकार-सीमाके अन्दर आते थे। जब तक कोई भी विवाद परिषद् या सभाके विचारा

धीन होता था तब तक सम्बन्धित पक्षोंके लिए यह आवश्यक था कि वह युद्ध न करें।

सदस्य राष्ट्रोंके बीच सन्धियों द्वारा परिषद्की शक्तिको बढ़ाया जा सकता था। परिषद्को यह अधिकार प्राप्त था कि प्रतिश्रव भंग करनेवाले राज्यके विरुद्ध अनुज्ञप्ति-मूलक कदम उठाये। परिषद् और असेम्बली दोनों मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके न्यायाधीशों का निर्वाचन, महामंत्रियोंकी नियुक्ति और कौंसिलके सदस्योंकी संख्या बढ़ाती थी। सभा के सभी निर्णयों और सभी समझौतोंके लिए सर्व-सम्मत स्वीकृति आवश्यक थी। पर कार्यविधि तथा अन्य ऐसे ही मामलोंमें बहुमत ही काफी था।

सभा और परिषद्के बीचके सम्बन्धकी कोई स्पष्ट व्याख्या प्रतिश्रवमें नहीं की गई थी। कुछ लोगोंने उन दोनों संस्थाओंकी तुलना एक आधुनिक व्यवस्थापिकाके दोनों सदनोंसे की है और कुछ लोगोंने सभाकी तुलना संसदसे और परिषद्की तुलना मंत्रिमंडल से। यह दोनों ही तुलनाएं भ्रमात्मक हैं, सभाका कार्य अधिकांश रूपमें व्यवस्थापक नीति सम्बन्धी प्रश्नोंसे रहता था और परिषद्का कार्य अधिकांश रूपमें अर्ध-न्यायिक और प्रशासकीय होता था।

(ग) सचिवालय (The Secretariat) राष्ट्र-संघके संगठनका यह स्थायी प्रशासकीय विभाग था। उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय पौर अधिनेशा कहा जा सकता है। स्वयं कार्यकारिणी न होते हुए भी उसे प्रशासकीय अधिकार प्राप्त थे। इसका अध्यक्ष राष्ट्र-संघ का महामंत्री होता था जिसकी नियुक्ति सभाके बहुमतके अनुमोदनसे परिषद् करती थी। अन्य मंत्रियों और सदस्योंकी नियुक्ति परिषद्के अनुमोदनसे महामंत्री स्वयं करता था। सचिवालयकी नौकरीके लिए कोई प्रतियोगी परीक्षा नहीं होती थी पर नियुक्ति करनेमें इस बातका ध्यान रखा जाता था कि व्यक्तिमें अपने पदके अनुकूल योग्यता हो और सचिवालय की नौकरीका अनुपात राष्ट्रसंघके सदस्य राष्ट्रोंके बीच उचित रूपमें बना रहे। नियुक्ति हो जाने पर नियुक्त व्यक्तिको अपने आपको राष्ट्र-संघका सेवक मानना होता था न कि उस राष्ट्रका जिसका वह नागरिक होता था। सचिवालयके सदस्योंके कर्तव्य राष्ट्रीय न हो कर अन्तर्राष्ट्रीय होते थे। अपने कार्य-कालमें उन सचिवालयके सदस्योंको अपने राष्ट्रोंकी सरकारोंसे किसी प्रकारका सम्मान या पदवी आदि प्राप्त करनेकी आज्ञा नहीं थी।

सचिवालयका कार्य था आंकड़े एकत्रित करना, परिषद् और सभाके अधिवेशनोंके लिए कार्य-सूची बनाना, अधिवेशन बुलाना, लेख (Records) रखना, सदस्य राज्यों को उनकी स्वीकृतिके लिए निर्णयों और समझौतोंकी सूचना देना, सूचना और कार्यवाही के लिए सुझाव भेजना, मसविदे तैयार करना और तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंके सुलझावके लिए सुझाव देना। सचिवालय राष्ट्र-संघका आधिकारिक-पत्र प्रकाशित करता था जिसमें सभा तथा परिषद्की कार्यवाहीके विवरण रहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें सचिवालय एक स्थायी सलाहकारका काम करता था।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायका स्थायी न्यायालय (The Permanent Court of International Justice). १९२० में इस न्यायालयकी स्थापनासे पहले सही मामलोंमें कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय था ही नहीं, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयकी तो बात ही क्या। इस न्यायालयको उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर निर्णय देनेका अधिकार प्राप्त था जो सम्बन्धित पक्षों द्वारा निर्णयके लिए इसके सामने पेश किये जाते। परिषद् अथवा सभा द्वारा भेजे गए सभी मामलों पर न्यायालय परामर्शात्मक सम्मति भी

देता था। यद्यपि इस सम्मतिका कोई अनिवार्य प्रभाव नही था पर वह प्राय स्वीकार कर ली जाती थी। राष्ट्र-सघके प्रतिश्रवकी व्याख्या करना न्यायालयके कार्य-क्षेत्रसे बाहर था, यह कार्य सदस्य राष्ट्र करते थे।

पूर्ववर्ती हेग न्यायालय (Hague Tribunal) की अपेक्षा इस न्यायालयकी शक्तिया बहुत अधिक व्यापक थी। न्यायालयको सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय विधानसम्बन्धी प्रश्नोकी व्याख्या करने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व भग करनेके दड-रूप क्षति-पूर्तिकी मात्रा और स्वरूप निर्धारित करने और यह निर्णय करनेका अधिकार था कि ऐसी कोई स्थिति है या नही जिसके प्रतिष्ठित हो जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व भग हो जायगे। पर इन मामलो में न्यायालयका अधिकार-क्षेत्र केवल उन्ही सदस्य राष्ट्रो पर लागू होता था जो वैकल्पिक धारा पर हस्ताक्षर कर देते थे। राष्ट्र-सघके सदस्य न्यायालय द्वारा तय न किए जा सकनेवाले मामलोको ही परिषद्के सम्मुख जाच-पडताल अथवा पचायती फैसलोंके लिए पेश करते थे। बन्दरगाहो, जलमार्गो, रेलो तथा अन्य ऐसे ही विषयोंके प्रश्नो पर न्यायालय का अनिवार्य पचायती फैसला होता था।

निर्णय बहुमत द्वारा दिये जाते थे और उनके विरुद्ध कोई अपील नही होती थी। पर यदि विवादके किसी पक्षको कोई ऐसा नया तथ्य मालूम हो जाये, जिसका उस मामलेसे सम्बन्ध हो तो वह निर्णय पर फिरसे विचार करनेके लिए 'तथ्य ज्ञात होनेसे छै महीनेके भीतर और निर्णयके दस वर्षके अन्दर अपील कर सकता था (८ ५८८)'। निर्णय देनेमें न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओ और उन नियमोंका उपयोग करता था जो समझौता करनेवाले राज्योंकी स्वीकृतिमे उन परम्पराओंके अनुसार बनते थे, तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओ, सभ्य राज्यो द्वारा स्वीकृत विधानके सामान्य सिद्धान्तो और विख्यात न्याय-शास्त्रियोंके निर्णयो तथा प्रसिद्ध लेखकोकी सम्मतियोका भी उपयोग करते थे।

१९३० में न्यायाधीशोकी सख्या १५ थी और उनकी कार्यविधि ९ वर्षकी थी। निर्वाचनकी प्रथा कुछ ऐसी थी कि छोटे और बडे सभी राष्ट्रोंका प्रतिनिधित्व न्याय-पीठो (Bench) पर हो जाता था। यदि किसी विवादके पक्ष या विपक्षके किसी राष्ट्रका नागरिक न्यायाधीश रूपमें न्याय-पीठो पर नही होता था तो उसे एक न्यायाधीश चुननेकी आज्ञा दी जाती थी। नियुक्तिकी शर्तोको पूरा न करने पर अपने सहयोगियोकी सर्वसम्मत स्वीकृतिसे किसी भी न्यायाधीशको उसके पदसे हटाया जा सकता था।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन (The International Labour Organisation) इसमें (१) सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सम्मेलन, (२) शासिका परिषद् और (३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय शामिल थे। सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालयमें प्रत्येक सहयोगी सरकारके चार प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। इनमें से दो सरकारके प्रतिनिधि होते थे, एक पूजीपति-वर्गका और एक मजदूर-वर्गका प्रतिनिधि होता था। यद्यपि पूजीपति और मजदूर-वर्गके प्रतिनिधियोका चुनाव भी प्रत्येक-देशकी सरकार ही करती थी फिर भी यह चुनाव सम्बन्धित औद्योगिक सगठनके परामर्शसे होता था। प्रतिनिधियोको व्यक्तिगत रूपमें अलग अपना मत देनेका अधिकार प्राप्त था। इस से यह सम्भव था कि, उदाहरणार्थ, सम्मेलनके सभी श्रमिक-वर्गके प्रतिनिधि पूजीपतियोंके प्रतिनिधियोंके विरुद्ध वोट दे सकें। जो राज्य राष्ट्र-सघके सदस्य नही थे उन्हें भी प्रतिनिधि भेजनेकी अनुमति थी।

सम्मेलन दो तिहाई मतसे प्रस्तावोको स्वीकार करता था जो सिफारिशो अथवा कार्य-क्रमोके रूपमें होते थे। दोनो ही अवस्थाओमे उन्हे लागू करनेके लिए सम्बन्धित सरकारो की स्वीकृति आवश्यक थी। सरकारो द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर वह देशी कानूनो की भाति ही शक्तिमान् हो जाते थे। सभी सिफारिशो या कार्य-क्रमोको सम्बन्धित देशोंकी राष्ट्रीय व्यवस्थापिकाओ अथवा अन्य उपयुक्त सस्थाओके सम्मुख कार्यवाहीके लिए एक वर्षके भीतर ही पेश करना होता था, भले ही उस देशके प्रतिनिधियोने सम्मेलनमे उनके विरुद्ध ही अपना मत दिया हो। इस धाराका दृढता-पूर्वक पालन नही किया गया।

शासिका परिषद्में २४ सदस्य होते थे। १२ सरकारी प्रतिनिधि, ६ मजदूर-वर्गके प्रतिनिधि और ६ पूजीपतियोंके प्रतिनिधि। इनका कार्य-काल ३ वर्षका होता था। १२ सरकारी प्रतिनिधियोमें से ८ की नियुक्ति ससारके प्रधान औद्योगिक देशों द्वारा की जाती थी और ४ सम्मेलन द्वारा चुने जाते थे। पूजीपतियो और श्रमिकोंके प्रतिनिधियोंका चुनाव सम्मेलनके पूजीपतियो तथा श्रमिकोंके प्रतिनिधि करते थे।

शासिका परिषद्का अधिवेशन प्रति तीसरे मास होता था। परिषद् सम्मेलनकी कार्य-सूची तैयार करती थी, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-कार्यालयके सचालककी नियुक्ति और कार्यालयके कामका निरीक्षण करती थी। सचालककी देख-रेख में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-कार्यालय 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धी सूचनाए एकत्रित करता है और उन्हे अनेक रूपोंमें प्रकाशित करता है, वार्षिक सम्मेलनोंके लिए कार्य-सूची तैयार करता है, श्रमिक सन्धियो को स्वीकार करनेके लिए राज्यो पर दवाव डालता है और उनके कार्यान्वयका निरीक्षण करता है (८ १५६)।' इसने बडा महत्त्व-पूर्ण सहायक कार्य किया है और ऐसी कठिनाइयो को हटानेमें सहायता की है जिनके हटनेसे श्रमिक-सन्धिया स्वीकार की जा सकी।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-सगठनका प्रधान उद्देश्य समूचे ससारमे एक जैसा श्रमिक-विधान विकसित करानेका था, यद्यपि जापान, चीन और भारतके मामलेमे उनके विभिन्न जल-वायु तथा अन्य परिस्थितियोंके कारण कुछ अपवाद भी किये गए। जो उपयोगी परम्पराए स्वीकार की गयी उनमेंसे एक है आठ घटे प्रतिदिन और ४८ घटे प्रति सप्ताह कार्यका निश्चय। ऐसी ही एक दूसरी परम्परा थी—१४ वर्षसे कम उम्रके बच्चोंको [illegible] कार्योंमें नौकर रखनेका निषेध। जहा तक भारतका सम्बन्ध है, १४ वर्षसे कम उम्रके बच्चोंको केवल खानों, फैक्ट्रियोंमें काम करने तथा विदेश भेजनेका ही निषेध किया गया।

प्राय परम्पराओंको स्वीकार कर लेने वाले राष्ट्रो ने भी इनका पालन नहीं किया। शासिका परिषद्को इस बातका अधिकार था कि वह [illegible] उनका [illegible] करे और राष्ट्र-सघके महामन्त्रीसे ऐसे [illegible] जाच करनेके लिए आयोगों (Commissions) की नियुक्तिके लिए कहे। यदि आयोगकी रिपोर्टसे [illegible] असन्तुष्ट हो तो उसे स्थायी न्यायालयमें अपील करनेका अधिकार था और इस न्यायालयका निर्णय अन्तिम होता था। [illegible] जाच-पडताल करनेवाला [illegible] राष्ट्रके विरुद्ध आर्थिक कार्यवाहीका आदेश दे सकता था [illegible] नहीं [illegible]।

अपनी अक्षमताओं या सीमाओं (Limitations) [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-सगठन एक उपयोगी सस्था थी और [illegible] था। श्री लास्की ने इस [illegible] : (१) यह परम्पराए ससारके सम्मुख औद्योगिक [illegible]

करती है जो अब और घटाया नही जा सकता और जो आधुनिक राज्योकी साधारण वृद्धिको स्वीकार है। (ख) प्रत्येक सम्बन्धित राष्ट्रके मजदूर-आन्दोलनके हाथोमें वह एक यथार्थ शक्ति है। (ग) समूचे ससारमें दरिद्रवर्गोंके कल्याणके लिए जो व्यवस्थापनका मानदड आवश्यक है उसे स्वीकार करनेके लिए राज्यो पर दबाव डालनेका वह एक साधन है।

राष्ट्र-सघका मूल्याकन (Appraisal of the League of Nations)-राष्ट्र-सघके सबसे अधिक उत्साही समर्थक भी यह नही कह सकते कि उसे निरुपाधिक सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि राष्ट्र-सघने बहुत अधिक भलाई की पर अनेक मामलोमे वह युद्ध और अन्यायको रोकनेमें असमर्थ रहा, विशेषकर चीन, अबीसीनिया और स्पेनमे, फिर भी उसकी प्रगति ठीक लक्ष्यकी ओर थी। उसकी असफलता अधिकतर 'उच्च राजनैतिक' क्षेत्रो में रही। राजनैतिक मामलोमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करनेमे उसे काफी सफलता प्राप्त हुई, विशेषकर श्रम सम्बन्धी मामलोमें। वह प्रभु-शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रोका सगठन था। आवश्यकता इस बातकी है कि जनताका सगठन हो। केवल सरकारोका महासघ, जिसमें प्रत्येक सरकार अपना अपना उल्लू सीधा करनेकी ताकमें रहे, कभी भी सफल नही हो सकता।

जिन लोगोने लीगका महत्त्व आकनेका प्रयत्न किया है उनमें से अधिकाशने अन्तर्राष्ट्रीय झगडोको शान्ति-पूर्ण साधनोसे सुलझाने और युद्ध रोकनेकी उसकी सामर्थ्यके आधार पर उसका मूल्य आका है। इस दृष्टिकोणसे राष्ट्र-सघ बहुत अधिक असफल रहा है। एक दुर्भाग्यकी बात यह है कि राष्ट्र-सघका अस्तित्व वारसाईकी सधिके साथ जुडा हुआ था जिसकी एक धाराके अनुसार 'युद्धका दोष' जर्मनीके ऊपर लादा गया था और उसे युद्ध के समूचे न्यायका उत्तरदायी बनाया गया था। क्षति-पूर्तियोकी कलुषित कहानी और रूर प्रान्त पर अधिकार करनेकी कथाने राष्ट्र-सघको बहुत बदनाम कर दिया था। जिन अन्य कारणोने लीगको बदनाम किया उनमें से कुछ यह है फ्रासके हितमें सार घाटी पर राष्ट्र-सघ का न्यास (Trusteeship) स्थापित करना, डेंजिगको राष्ट्र-सघ और पोलैंडका सम्मिलित रक्षित राज्य बनाना, मेमेल बन्दरगाह पर, जो कि लिथवानियाको दिया गया था, राष्ट्र सघका शासन स्थापित करना।

राष्ट्र-सघके प्रतिश्रवका एक बहुत बडा दोष यह है कि उसमें शान्ति-पूर्ण उपायोसे सन्धियो पर फिरसे विचार करनेकी कोई उचित व्यवस्था नही की गयी थी। उसकी १९वी धारा प्रारम्भसे अन्त तक निर्जीव ही बनी रही। अन्तर्राष्ट्रीय झगडोको शान्ति-पूर्वक सुलझानेके लिए बडी सावधानीसे एक सस्था बनायी गयी थी पर सदस्य राज्योने उसका उपयोग करनेमें कोई उत्साह नहीं दिखाया। मामलोको दो भागोमें बाटा गया था (क) अन्तर्राष्ट्रीय और (ख) घरेलू। अन्तर्राष्ट्रीय मामलोको दो उपविभागोमे बाँटा गया था (१) वैधानिक और (२) राजनैतिक। वैधानिक झगडे पचायती और अदालती फैसलोकी परिधिमें आते थे पर 'राजनैतिक अथवा न्यायाधिकरणके क्षेत्रमे न आने वाले मामले जिनका सम्बन्ध देशके राष्ट्रीय सम्मान, महत्त्व-पूर्ण स्वार्थो, आदिसे होता था वह मामले जाच-पडताल तथा पारम्परिक समझौते या अन्य उचित कार्यवाहीके लिए परिषद्के पास और कभी-कभी सभा या असेम्बलीके पास भेजे जाते थे।

प्रतिश्रवके अनुसार यदि कोई झगडा कौसिल या सभाके सामने अथवा सौमनस्य आयोग (Commission of Conciliation) के सम्मुख विचाराधीन होता था तो उस समय दोनो पक्षोको युद्ध बन्द रखना पडता था। उचित जाच-पडताल करनेके

बाद परिषद् दोनो पक्षोमें सौमनस्य स्थापित करनेकी कोशिश करती थी और यदि अपने प्रयत्नमें असफल होती थी तो झगडा उसके सम्मुख उपस्थित किये जानेके ६ महीनेके अन्दर ही वह अपनी रिपोर्ट और सुझाव उपस्थित कर देती थी। यदि झगडेसे सम्बन्धित राष्ट्रोको छोड कर रिपोर्ट सर्वस्वीकृत होती थी और यदि झगडालू राष्ट्रोमें से एक राष्ट्र उसे स्वीकार कर लेता था तो दूसरे पक्षके लिए यह आवश्यक था कि वह युद्धका सहारा न ले। प्रत्येक परिस्थितिमें परिषद्के सप्रदान (Award) या निर्णय अथवा रिपोर्ट के बाद तीन महीने तक दोनो ही पक्षोंके लिए आवश्यक था कि युद्ध न प्रारम्भ करे।

अपेक्षाकृत छोटे-छोटे झगडोके सुलझानेमें राष्ट्र-सघको सफलता मिली, उदाहरण के लिए आलैंड द्वीपो (Aaland Islands) और १९२५ के यूनानी-बलगेरियाके सीमाके मामलोमें। पर १९३१-३२ के चीन-जापान सघर्षमे राष्ट्र-सघ युद्ध न रोक सका। इस सम्बन्धमें राष्ट्र-सघ ने एक दीर्घ-सूत्री प्रपचका मार्ग अपनाया और जब आखिरकार 'लिटन-आयोग (Lytton Commission)' ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित भी की तो तब जब सम्पत्ति पर चोरका अधिकार हो चुका था। और रिपोर्टमें जापानके विरुद्ध किसी प्रकार की अनुज्ञप्ति (Sanction) की भी सिफारिश नही की गई।

राष्ट्र-सघकी सबसे अधिक दुःखद असफलता हुई इटली और अबीसीनियाके युद्धमें। बहुत लम्बे विलम्बके बाद इटलीके विरुद्ध आर्थिक अनुज्ञप्तिया (Economic Sanction) लागू की गयी, पर तेलके सम्बन्धमें नही। फ्रास इस सम्बन्धमें अपने दायित्वको पूरा करनेमें सबसे अधिक अनिच्छुक रहा, क्योकि वह जर्मनीके विरुद्ध किसी भी भावी सघर्षके लिए इटलीको अपना एक शक्तिशाली मित्र बनाये रखना चाहता था। इग्लैंड ने अनुज्ञप्तियोका प्रयोग आधे मनसे किया और इस बातको स्पष्ट कर दिखाया कि वह इटलीसे युद्ध मोल लेनेके लिए तैयार नही है। अमेरिका यद्यपि राष्ट्र सघका सदस्य नहीं था फिर भी वह इटलीके विरुद्ध अनुज्ञप्तिया लागू करनेके लिए तैयार था और लागू किया भी। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह घोषणा कर दी थी कि व्यक्तिगत अमरीकी व्यापारी स्वय अपने खतरे पर यदि इटलीको तेल भेजना चाहें तो अमरीकी सरकार उसमें बाधा नही डालेगी। इस बेमन और अनुत्तेजक ढगसे अनुज्ञप्तियोको लागू करनेका परिणाम यह हुआ कि अबीसीनियाको तो आर्थिक सहायता भी न मिल सकी पर इटलीने शीघ्र विजय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे और क्रुद्ध हो कर युद्धको और भी बर्बर बना दिया। इस प्रकार 'सामूहिक सुरक्षा' 'सामूहिक सकट' बन गई।

युद्धकी विधान-बहिष्कृति (The Outlawry of War). राष्ट्र-सघके सदस्यों तथा बाहरी राष्ट्रों द्वारा युद्धका परित्याग कर देनेके लिए और स्थायी शान्ति स्थापित करनेके लिए अनेक प्रयत्न किए गए पर ऐसे प्रयत्न [illegible] राष्ट्र-सघके सदस्योंका समर्थन प्राप्त करनेमें असफल रहे, उदाहरणके लिए, पारस्परिक सहायताकी प्रारूप सन्धि (Draft Treaty of Mutual Assistance 1923) और जिनेवा-प्रोटोकल (Geneva Protocol 1924), लोकार्नो सन्धियां (Locarno Treaties) इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकियाके बीच १९२५ में हुईं। यह सन्धियां पारस्परिक प्रत्याभूति (Mutual guarantee) की सन्धियां थीं। पर जिनेवा-प्रोटोकलकी भांति इन सन्धियोंके सम्बन्धमें भी कठिनाई [illegible]

(Status quo) को परिवर्तित करनेके लिए किसी शान्ति-पूर्ण साधनकी व्यवस्था नही की गयी थी। अमेरिका और फ्रास द्वारा प्रारम्भ किये गए १९२८ के केलॉग-ब्रैड समझौते (Kellog-Briand Pact) मे राष्ट्रीय नीतिके रूपमें युद्धका परित्याग करने और समझौतेके शान्ति-पूर्ण उपायोको ही अपनानेका उपक्रम किया गया। इसमें हस्ताक्षर करने वाले हमेशाके लिए युद्धका परित्याग करनेकी शपथ लेते थे। इस समझौतेका स्वरूप बहुत अधिक व्यापक और सामान्य या अनिर्दिष्ट था। यह समझौता निषेधात्मक भी था और इसे लागू करनेके लिए किसी प्रकारकी कोई व्यवस्था नही की गई थी। हमारा पिछला अनुभव यह सिद्ध करता है कि चिरकालिक मैत्रीकी शपथें और युद्ध न करनेके समझौते असफल रहे हैं। जब राज्यकी सुरक्षा खतरेमें पडती है तब अनेक राष्ट्र अपनी शपथोको तोड देते है और सन्धियोको 'रद्दी कागजका टुकडा' समझते हैं। इसके अलावा भूतकालमें सश्लिष्ट सरक्षण ऐसे थे कि आत्मरक्षा अथवा पारस्परिक सहायताके अधिकारोको —जो लोकार्नो-सन्धियोमें दिए गए थे—अलग नही किया जाना चाहिए था। सभी आधुनिक युद्धोको युद्धके दोनो पक्षो द्वारा 'रक्षात्मक' ही बताया जाता है। उदाहरणके लिए जापानका यह कहना था कि मचूरियामें उसकी सैनिक कार्यवाही और अन्तत उस प्रदेशका अनुयोजन (Annexation) न तो लीगके प्रतिश्रवका उल्लघन था और न केलॉग-ब्रैड-समझौतेका, इन दोनो ही पर जापान अपने हस्ताक्षर कर चुका था, पर उसका दावा यह था कि न तो मचूरियाने और न स्वय जापानने ही एक वैधानिक युद्ध-स्थिति की घोषणा की थी और यह कि जापान अपने स्वार्थोकी रक्षाके लिए कार्यवाही कर रहा था। इसलिए केलॉग-ब्रैड-समझौतेका महत्त्व युद्धका बहिष्कार करनेके अर्थमें केवल प्रतीकात्मक, नैतिक, शिक्षात्मक और प्रचारात्मक ही था (७० ६६७)।' व्यावहारिक राजनीतिकी कठोर वास्तविकताओका स्पर्श उसने नही किया।

निःशस्त्रीकरण (Disarmament) यदि युद्धको वैधानिक बहिष्कार करनेके प्रयत्न असफल हुए तो निःशस्त्रीकरणके प्रयत्नोमें भी अधिक सफलता नही मिली वाशिंगटन सम्मेलन से कुछ परिणाम अवश्य निकला यद्यपि इसका आयोजन सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकारने किया था, राष्ट्र-सघने नही। राष्ट्र-सघने निःशस्त्रीकरणके लिए स्थायी सलाहकार समिति और अस्थायी मिश्रित आयोगके माध्यमसे प्रयत्न किया, पर दोनो ही प्रयत्न असफल रहे। १९३२ में राष्ट्र-सघका एक सामान्य निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन जिनेवामें हुआ। सम्मेलनके सम्मुख बहुसख्यक प्रस्ताव आये पर हुआ कुछ भी नही। सम्मेलनमें एक बार रूस ने पूर्ण और तात्कालिक निःशस्त्रीकरणका प्रस्ताव रखा, पर अन्य सदस्योको वह प्रस्ताव स्वीकार न हो सका।

अनुज्ञप्तिया (Sanctions) राष्ट्र-सघके प्रतिश्रवमें आर्थिक, सैनिक और राजनैतिक अनुज्ञप्तियोकी व्यवस्था की गई थी। इटली और अबीसीनियाके युद्धके दौरान में अनेक राज्योने अनेक वस्तुओंके सम्बन्धमें आर्थिक अनुज्ञप्तिका प्रयोग किया था पर तेल के सम्बन्धमें नहीं। राष्ट्र-सघ अपने किसी भी सदस्यको अनुज्ञप्तिया लागू करने के लिए विवश नही कर सकता। सैनिक अनुज्ञप्तियोका कभी भी प्रयोग नहीं किया गया। इसके अनुसार परिषद्के सुझाव पर राष्ट्र-सघके सदस्य राष्ट्रोकी सैनिक शक्तिका प्रयोग किया जाना था। राजनैतिक अनुज्ञप्तिका अर्थ था राष्ट्र-सघके प्रतिश्रवको भग करने पर सघ की सदस्यतासे बहिष्कृत किया जाना।

राष्ट्र-संघकी सफल कार्यवाहियां (Successful Activities of the League) यद्यपि राष्ट्र संघको न तो युद्ध रोकनेमें सफलता मिली, न बड़े राज्योंको छोटे राज्यों अथवा अव्यवस्थित राज्योंके भू-प्रदेश हड़पनेसे रोकनेमें, न निःशस्त्रीकरण पूरा करनेमें और न सुरक्षाकी व्यवस्थाके लिए अनुज्ञप्तियां लागू करनेमें ही वह सफल हो सका; फिर भी अन्य क्षेत्रोंमें उसे पर्याप्त सफलता मिली।

(१) अल्प समुदायोंका संरक्षण (Protection of Minorities). अल्प-समुदाय-आयोग (Minority Commission) और परिषद्के माध्यमसे अल्प-समुदायोंके अधिकारोंकी रक्षा करनेमें राष्ट्र-संघने सफल कार्यवाही की। जिन अधिकारों की रक्षा की गई वह थे (क) समान राजनैतिक और नागरिक अधिकार, (ख) जिन राज्योंके वह नागरिक हों उनके सार्वजनिक कार्यालयोंमें उनकी भर्ती, (ग) व्यक्तिगत बातचीत या पत्र-व्यवहारमें, व्यवसायमें, धार्मिक स्थानोंमें, समाचार-पत्रों और प्रकाशनोंमें अपनी मातृभाषाका प्रयोग, (घ) जिन जिलोंमें सम्बन्धित अल्प-समुदायके लोग पर्याप्त संख्यामें अधिक हों उनमें उनकी भाषाके माध्यमसे स्कूलोंमें शिक्षा दिलाना।

अल्प-समुदायोंके अधिकारोंके उल्लंघन या उनमें हस्तक्षेपकी धमकी या आशंकाकी सूचना परिषद्का कोई सदस्य उसे दे सकता था। परिषद्को इन मामलोंमें बड़ी सावधानी से काम करना होता था जिससे सरकारोंकी भावनाओंको ठेस न पहुंचने पाए। अल्प-समुदायों के प्रार्थना-पत्रोंका स्वागत शिकायतोंके रूपमें न करके उन्हें सूचना-सूत्रोंके रूपमें स्वीकार किया जाता था। सभी प्रार्थना-पत्रों पर हस्ताक्षर होना आवश्यक था। प्रार्थना-पत्रकी भाषा कठोर नहीं हो सकती थी। कोई प्रार्थना-पत्र स्वीकार किए जाने योग्य है या नहीं इसका निर्णय महामन्त्री करता था।

(२) वैधानिक कार्य-कलाप (Legal Activities). अनेक महत्वपूर्ण और उपयोगी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौतों तथा सम्मत कार्य-क्रमोंके पूरा करनेका श्रेय राष्ट्र-संघको है। यदि वह सब राष्ट्रों द्वारा स्वीकार नहीं की गई तो इससे उनके महत्त्वमें कोई कमी नहीं आती। राष्ट्रीयताके प्रश्न पर प्रदेशस्थ समुद्र (Territorial waters) के प्रश्न पर और राजकीय उत्तरदायित्वके प्रश्न पर विधि-संग्रह (Codification) का भी प्रयत्न किया गया। राष्ट्र-संघका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वैधानिक कार्य स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके माध्यमसे सम्पन्न हुआ।

(३) प्राविधिक कार्य-कलाप (Technical Activities). (क) आर्थिक तथा अर्थ-नीति-मूलक — जब १९३१-३२ में आस्ट्रियाका आर्थिक पतन होने वाला था तब राष्ट्र-संघने उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय ऋणकी व्यवस्था की और उसे अपने पैरों पर खड़े होनेमें सहायता दी। इसी प्रकारकी सहायता हंगरी, यूनान और बल्गेरियाको दी गई। यूनान और बल्गेरियाकी सीमाओंके इधर उधर परिवर्तन होनेके कारण जो लोग बेघर-बारके हो गए थे उन शरणार्थियोंको बसानेके लिए धन-व्यवस्था की गई थी। १९२० के ब्रुसेल्स-सम्मेलनमें, १९२७ के जेनेवा-सम्मेलनमें और १९३३ के लन्दन-सम्मेलनमें राष्ट्र-संघने अर्थ-नीति-विषयक समझौते कराने [illegible] किए थे। [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय थे। राष्ट्रीय समस्याओंका [illegible] में राष्ट्र-संघ ने सहायता पहुंचाई (पृ. ४३८)। चुंगी-शुल्क (Customs), [illegible]

निश्चित वस्तुओंके निर्यात तथा जाली सिक्कोको समाप्त करने आदिके सम्बन्धमें राष्ट्र-सघ ने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाए स्थापित की।

(ख) सवहन और सक्रान्ति (Communications and Transit). राष्ट्र-सघने प्रशासकीय औपचारिकताओ (Administrative Formalities) को बहुत सरल बना दिया जिससे यात्रियो और मालके यातायातमें सुविधा हो जाए। १९२० में सार्वजनिक उपयोगके लिए एक आदर्श पार-पत्र (Passport) स्वीकार किया गया और पार-पत्रो (Passports) तथा अनुवेश-पत्रो (Visa) के सम्बन्ध में प्रचलित कठोर नियमोको हटानेकी माग की गई। अन्तर्राष्ट्रीय नदियोमें यातायात, सामुद्रिक सकेतो (Maritime Signals), बोह-कर (Buoyage), समुद्री तटो पर प्रकाशकी व्यवस्था तथा सडको पर के यातायात आदिके सम्बन्धमें कुछ सम्मति-पत्रो की रचना की गई। इन सब मामलोमें राष्ट्र सघका उद्देश्य यह था कि विभिन्न देशोकी पृथक् परम्पराओ, रीतियो और नियमोको सम्बद्ध, एकरूप और सरल बना दिया जाय जिससे सभी देशोके नागरिकोका लाभ हो। अन्तर्देशीय पोताधिगम (Inland shipping) सम्बन्धी कुछ प्रश्नोको सुलझानेके लिए पोलैडकी सरकारको तथा सडको और कुछ जल-मार्गोके सुधार और विकासके सम्बन्धमें चीन की सरकारको विशेषज्ञोकी सहायता दी गई।

(ग) स्वास्थ्य (Health) प्रथम विश्व युद्ध समाप्त होते ही, राष्ट्र-सघको टाइफस (Typhus) ज्वर और हैजेके प्रकोपका सामना पूर्वी योरोपमें करना पडा और एशिया माइनरसे लौटे हुए यूनानी शरणार्थियोमें फैली हुई चेचककी बीमारीसे उन्हे बचाने का प्रबन्ध करना पडा। तब राष्ट्र-सघकी स्वास्थ्य सगठन शाखाकी स्थापना भी न हो पाई थी। फिर भी उसने इन विपत्ति-ग्रस्त लोगोकी पुकार सुनी और उन्हें टेक्निकल तथा साजो-सामानकी सहायता पहुचाई। सिंगापुरका पतन होनेसे पहले ही राष्ट्र-सघने वहां पर एक महामारी-शोधक स्थायी कुशल-अविसेवाकी स्थापना कर दी थी। यह लोग बीमारियोंके फैलने और उनसे होने वाली घटनाओंके आकडे एकत्रित करके उनकी सूचना राष्ट्र-सघके सचिवालयको भेजते थे जहा उनका सशोधन-सकलन होता था और साप्ताहिक तथा त्रैमासिक स्वास्थ्य-समाचारोके रूपमें प्रकाशित किया जाता था।

स्वास्थ्य-सगठनने प्रधान लसी-जीवति (Principal sera vitamins), लैंगिक न्यासर्गा (Sex harmones) और ग्रन्थि-निस्सारो (Gland-extracts) आदिके सम्बन्धमे अन्तर्राष्ट्रीय मानदडो और मात्राओको निर्धारित किया। अनेक रोगोंके सम्बन्धमें शोध-कार्य किया गया, विशेषकर हिमज्वर या शीतज्वर (Malaria) के सम्बन्ध में। यक्ष्मा, कुष्ठ और उपदश जैसे अन्य रोगो तथा ग्रामीण क्षेत्रोंके स्वास्थ्य, सार्वजनिक पौष्टिक भोजन और शहरी ग्रामीण मकानोंके सम्बन्धमें भी स्वास्थ्य सगठनने ध्यान दिया। राष्ट्र-सघके प्राविधिक कार्य-कलापोका निष्कर्ष देते हुए यह कहा जा सकता है कि 'अन्य किसी भी क्षेत्रमे राष्ट्र-सघके उद्योगोका परिणाम इतना सफल नहीं रहा जितना इस नितान्त प्राविधिक क्षेत्रमे जिसमे बरबस सभी प्रकारके राजनैतिक विचार और दाव-पेंच अलग रहते हैं और जिसमें मानव-एकताके लक्ष्यकी ओर प्रेरित और प्रगतिशील होनेमें कोई बाधा नहीं है (८५ १५१)।'

(४) बौद्धिक सहयोग (Intellectual Co operation) १९२८ में राष्ट्र-

सघ द्वारा स्थापित बौद्धिक सहयोग-समितिने शान्ति स्थापित करनेमें, बौद्धिक विषयोंका निरपेक्ष विवेचन प्रोत्साहित करनेमें और राज्योंकी शिक्षा-व्यवस्थाके सुधार और सगठन मे सहायता देकर बहुत अधिक उपयोगी कार्य किया। इस समितिने राज्योकी सरकारोंको इस बातके लिए तैयार किया कि पाठ्य पुस्तकोंमे ऐसे अवतरण निकाल दिए जायें जिनमे विदेशियो और पडोसी राष्ट्रोंके प्रति उपेक्षा और तिरस्कारके भाव हैं। नवयुवकों और युवतियोको इस समितिने विदेशोंका भ्रमण करनेके लिए उत्साहित किया जिसमे कि वह विभिन्न सस्कृतियो और सभ्यताओंमे जो कुछ सर्वोत्तम है उसे समझें और ग्रहण करें। इस समिति द्वारा प्रस्तुत किया गया रेडियो-भाषण और शान्ति सम्बन्धी एक प्रारूप कार्यक्रम अनेक सरकारो द्वारा स्वीकार किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंका वैज्ञानिक अध्ययन करनेकी व्यवस्था की गई। कला-कृतियो और ऐतिहासिक स्मारकोंकी सुरक्षाके लिए सुझाव दिए गए। समय-समय पर दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंके सम्मेलनोंको प्रोत्साहित किया गया।

(५) सामाजिक और मानव-दयामूलक कार्य (Social and Humanitarian Work). युद्धके बादके वर्षोंमें राष्ट्र-सघ ने डॉक्टर नानसेन (Dr. Nansen) के निर्देशनमे ५,००,००० युद्ध-बन्दियोंको उनके अपने-अपने पितृदेशमे पहुंचा कर बडा प्रशसनीय कार्य किया। शरणार्थियोंके साथ भी ऐसी ही सेवा की गई। १९२६ में राष्ट्र-सघ ने एक सप्रतिज्ञा स्वीकार की जिसके अनुसार दास-प्रथाके सम्बन्धमें किए गए पूर्ववर्ती समझौतोंको और अधिक दृढतासे लागू किया गया। दासताकी परिभाषा इतनी व्यापक की गई कि उसमे अर्ध-दासता, वैयक्तिक चाकरी, बलात् श्रम और कन्या-क्रय आदि भी सम्मिलित हो गए। दासताकी परिभाषा इस प्रकार की गई 'एक ऐसे व्यक्तिकी स्थिति या दशा जिसके ऊपर स्वामित्वके अधिकारोंसे किसी एक या समस्त शक्तियोंका उपयोग किया जाता हो।' जिन देशोंमें दास-व्यापारको समाप्त करनेकी सप्रतिज्ञा स्वीकार की थी उनके लिए यह आवश्यक था कि 'क्रमिक रूपमें और यथासम्भव शीघ्र दासताका पूर्ण विनाश उसके सभी रूपोंमें कर दें।' सार्वजनिक उद्देश्योंके कुछ मामलों को छोडकर बलात् श्रमकी उन सभी स्थितियोंका निषेध कर दिया गया जिनकी समता दासतासे की जा सकती थी। १९३२ में राष्ट्र-सघकी एक स्थायी परामर्शदात्री समिति ने अपना कार्य प्रारम्भ किया जिसका उद्देश्य दासताके अन्तिम गढोंको तोडना था।

बच्चो और स्त्रियोंका क्रय-विक्रय एक दूसरी गम्भीर सामाजिक समस्या थी जिसे राष्ट्र-सघने हल किया। १९२१ में एक सप्रतिज्ञा स्वीकार की गई जिसके अनुसार कोई भी स्त्री २० या २१ वर्षकी अवस्थाके पहले अपने आपको व्यापारके लिए भर्ती करनेकी अनुमति नही दे सकती। उसके इस प्रबन्धमें ऐसा कार्य नितान्त वर्जित था। स्त्रियोंको व्यापारके लिए सुलभ बनाना और उनको [illegible] दोनों ही दडनीय घोषित किए गए। सप्रतिज्ञाको स्वीकार करने वाले [illegible] कि वह राष्ट्र-सघको अपनी वार्षिक रिपोर्ट भेजें जिसमें [illegible] सप्रतिज्ञा उनके देशमें किस प्रकार कार्यान्वित की जा रही है।

राष्ट्र-सघकी परिषद्को परामर्श देनेके लिए स्त्रियों और बच्चोंके [illegible] समस्याके सम्बन्धमें एक समिति स्थापित की गई। समय-समय विभिन्न भागोंमें [illegible] के स्वरूप और उसकी व्यापकताके सम्बन्धमें [illegible] की गई।

१९३३ में स्वीकार की गई एक सप्रतिज्ञाके अनुसार 'दूसरे देशोमें अनैतिक कार्योके उद्देश्यसे वयस्क स्त्रियोका अन्तर्राष्ट्रीय क्रय-विक्रय दडनीय होगा, भले ही यह क्रय-विक्रय उनकी स्वीकृतिसे ही हो रहा हो।' राष्ट्र-सघने वेश्या-वृत्तिके उन अड्डोकी समस्या पर भी ध्यान दिया जिनका अस्तित्व समाजके लिए सह्य था और सरकारो पर इस बातके लिए जोर दिया कि वह उन्हे समाप्त कर दें।

अभद्र साहित्यकी समस्या पर भी राष्ट्र-सघने ध्यान दिया। १९२३ में एक सप्रतिज्ञा (Convention) पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अनुसार अभद्र प्रकाशनोके क्रय-विक्रय और प्रचार पर रोक लगानेका निश्चय किया गया। इस सप्रतिज्ञा पर ४० से अधिक राष्ट्रो ने हस्ताक्षर किए। अभद्र साहित्यका प्रकाशन, व्यावसायिक उद्देश्यसे उसका रखना, उसका आयात-निर्यात आदि सभी कानूनसे दडनीय घोषित किए गए।

राष्ट्र-सघ ने एक 'शिशु-कल्याण-समिति' की स्थापना की जिसने एक आदर्श समझौता कराया। इस समझौतेके अनुसार बच्चो और युवको तथा युवतियोको उनके घरोमें वापस पहुचाना स्वीकार किया गया। इस समितिके प्रयत्नोसे एक ऐसी सप्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अनुसार विदेशी अल्पवयस्कोंके साथ देशके अल्पवयस्कोके समान ही व्यवहार किया जाने लगा। राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा विवाहकी वैध अवस्थाको बढाने, अवैध सन्तानो की वैधानिक स्थिति सुधारने और उनके लिए अनिवार्य सरक्षणकी व्यवस्था करने तथा अन्धे बालकोकी शिक्षा तथा उनकी रक्षा करनेके सफल प्रयत्न किए गए।

सामाजिक और मानव-दया-मूलक क्षेत्रोमे राष्ट्र-सघका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था अफीम तथा अन्य घातक औषधियोंके क्रय-विक्रयका निरीक्षण। १९२१ के हेग-समझौतेके होते हुए भी बडी आसानीसे औषधिया एक देशसे दूसरे देशको भेजी जाती थी। १९२३ में राष्ट्र-सघने एक प्रथा निर्धारित की जिसके अनुसार उपयुक्त प्रमाण-पत्रके अभावमें औषधियोका आयात नही हो सकता था। औषधियोके निर्माणका भी नियत्रण किया गया और औषधियोंके राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्रय-विक्रयके कठोर निरीक्षण की व्यवस्था की गई। केवल अफीमके व्यापारका ही नियत्रण और निषेध नही किया गया बल्कि नवीन प्रमीली रसायनो (New Chemical based on Morphine) के व्यापार पर भी रोक लगाई गई। एक स्थायी केन्द्रीय अफीम-समिति स्थापित की गई। इस समितिमें सम्मिलित राष्ट्रोको समितिके पास इस बातका त्रैमासिक विवरण भेजना पडता था कि उनके यहा इस अवधिमें प्रमीलको (Narcotics) का कितना आयात, निर्यात और उत्पादन हुआ। इसका उद्देश्य यह था कि इस बातका पता लगाया जाय कि ऐसी वस्तुए वहासे लुक-छिपकर आती-जाती है। लगभग चालीस राष्ट्रोने इस सप्रतिज्ञा को स्वीकार किया और इस प्रकार अपने ऊपर कठोर दायित्व स्वीकार किए। १९३१ में एक दूसरी सप्रतिज्ञा और अधिक राष्ट्रो द्वारा स्वीकार की गई जिसके फलस्वरूप अफीम तथा अन्य सम्बन्धित औषधियोके पश्चिमी देशोमें भेजे जाने पर रोक लगा दी गई। जो मान-दड निर्धारित किया गया वह वही था जो आयुर्वेदीय (Medical) और वैज्ञानिक प्रयोजनोंके लिए आवश्यक था। इन औषधियोंके उत्पादन पर भी रोक लगाई गई।

१९३१ की सप्रतिज्ञाका महत्त्व इस बातमें था कि सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रोने पहली बार एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था द्वारा 'अपनी आर्थिक कार्यवाहीकी एक समूची शाखा पर कच्चे मालके उत्पादनसे लेकर तैयार वस्तुओंके उपयोग तक, निरीक्षण करनेकी व्यवस्था' को

स्वीकार कर लिया (८५ १७६)। उत्पादन और उपभोगके बीच पूरा-पूरा सहयोग स्थापित किया गया। इतना सब होने पर भी प्रमीलको (Narcotics) का अवैध उत्पादन बिल्कुल बन्द नही हो सका, यद्यपि यह समस्या ऐसी है कि इसे हल किया जा सकता है।

भावी रूप-रेखा (What Next)?

पिछले दिनोमें राष्ट्र-संघकी आलोचना करते हुए उसे कल्पना-संघ, नाहनिक-संघ (League of robbers) और दीर्घसूत्री संघ (League of Procrastination) कहा गया है। कुछ अन्य लोगोका कहना रहा है कि यह संघ भूक सकता था, पर काट नही सकता था। पर इस प्रकारकी आलोचनाके बावजूद प्रभाव-पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और नियंत्रणके पक्षमें भावना बढ रही थी।

१९३८ के बाद विश्व-संघकी समस्या पर साहित्यकी एक बाढ-सी आ गई थी। श्री क्लेयरेंस स्ट्रीट (Clarence Streit) ने अमरीकी और पश्चिमी यूरोपीय प्रजातंत्र राज्योकी एक संघीय संयुति (Federal Union) की रूप-रेखा प्रस्तुत की। इस संघीय संयुतिकी एक संघीय व्यवस्थापिका होती, एक संघीय राष्ट्रपति होता, एक संघीय प्रधान मंत्री होता और मंत्रिपरिषद् होती और उसे सन्धि विग्रह, सुरक्षा और वैदेशिक सम्बन्ध डाक-व्यवस्था और मुद्रा आदि ऐसे प्रश्नो पर पूरा-पूरा नियन्त्रण प्राप्त होता। इस संघीय संयुतिकी सीमाके भीतर 'एक नागरिकता, एक रक्षात्मक सेना, एक मुक्त व्यापार-क्षेत्र, एक ही मुद्रा और एक ही टिकट-व्यवस्था' होती। सदस्य-राष्ट्रोके उपनिवेशोको उनसे ले लिया जाता, उनका शासन सम्मिलित रूपसे संघीय संयुति द्वारा किया जाता, और उस शासनका उद्देश्य यह होता कि यथासम्भव शीघ्र उन प्रदेशोको संयुतिका सदस्य बननेके योग्य बना दिया जाय। यह संघ आत्मनिरूपित सन्तोल्न संघ होता।

श्री मदारियागा (Senor de Madariaga) एक विश्व-समाज और विश्व-गण-संघ (World Federation) के प्रबल समर्थक थे। उन्होने अपने विश्व-संघको कुछ विशिष्ट देशो तक ही सीमित नही रखा। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय जैसी तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओके अतिरिक्त उन्होने एक विश्व-बैंक, एक विश्व-व्यापार-आयोग (World Trade Commission), उपनिवेशोंके लिये एक विश्व-प्रन्यास-समिति अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस और एक अन्तर्राष्ट्रीय पौर-[illegible]—इन सबकी आवश्यकता अनुभव की थी।

'वर्ल्ड फेडरेशन' (विश्व-गण-संघ १९३९) के लेखक श्री ऑस्कर नाउफंग (Oscar Nowfang) के अनुसार राष्ट्र-संघका संगठन ऐसा था कि उसे बड़ी सरलतासे एक विश्व-गण-संघमें परिणत किया जा सकता था। राष्ट्र संघकी सभा विश्व-व्यवस्थापिका बन जाती और परिषद् मन्त्रिपरिषद्। विश्व-न्यायालयको अनिवार्य [illegible] (Compulsory Jurisdiction) दे दिया जाता। [illegible] समस्त केन्द्रीय [illegible] सौंप दी जाती। [illegible] किया जाता और एक [illegible] की जाती।

[illegible]

की स्थापना [illegible] थी। [illegible] (प्रजातंत्रीय) [illegible]

उपनिवेशो तक ही सीमित रखा था। केन्द्रीय नियन्त्रणमें दिये जाने वाले कमसे कम विषय थे सुरक्षा और वैदेशिक नीति। आश्रित प्रदेशोको व्यवस्था, मुद्रा, व्यापार और प्रवास आदि विषयोको क्रमश केन्द्रके हाथो सौंपनेकी व्यवस्था थी।

डॉ० डब्ल्यू० आर० इजे (Dr W R Inge—सेंट पाल के भूतपूर्व डीन) ने ससारके अग्रेजी बोलने वाले देशोका सघ बनानेकी योजना प्रस्तुत की। इसका अर्थ यह था कि ब्रिटेन, उसके स्वशासक उपनिवेशो और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का सघ बनता। कलकत्तेसे प्रकाशित होने वाले अग्रेजी दैनिक स्टेट्समैन के एक भूतपूर्व सम्पादक सर ए० वाट्सन (Sir A Watson) एक ब्रिटिश-साम्राज्य-सघ बनानके पक्षमें थे। 'ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड दि ईस्ट' में उन्होने लिखा था 'भविष्यकी कल्पनामे एक ऐसा साम्राज्य-सघ (Empire Federation) आता है जिससे पृथक् रहनेका साहस उनमें से कोई भी देश न कर सकेगा जो आज अपनी ओछी स्थितिकी शिकायत करते है, क्योकि उनकी सुरक्षा और उनका अस्तित्व ही राष्ट्रोके एक एसे समुदायके सहयोग पर निर्भर होगा जो सम्मिलित रूपसे अजेय होगा, पर पृथक् रहनेसे उनकी स्वाधीन स्थितिकी कोई आशा ही न रहेगी।' उस समय श्री विन्स्टन चर्चिल भी अमेरिका, ब्रिटेन और उपनिवेशोंके बीच कुछ ऐसी ही सघ-व्यवस्थाकी कल्पना कर रहे थे।

डॉ० आइवर जेनिग्स (D Ivor Jennings) ने पश्चिमी योरोपीय देशोंके सघ की एक सीमित योजना व्यापक विवरण व रूप-रेखाके साथ प्रस्तुत की थी। उनका तर्क यह था कि 'योरोप ही वह कडाही है जिसमें अधिकाश युद्धोका मसाला पक कर तैयार होता है' और इसलिए, एक सघीय सयुति (Federal Union)—विशेषकर पश्चिमी योरोपके राष्ट्रोकी—इन युद्धप्रिय प्रवृत्तियो पर प्रभाव-पूर्ण नियन्त्रण कर सकेगी। इन डॉक्टर साहबका उद्देश्य समस्त विश्वकी शान्ति और समृद्धिकी सुरक्षा उतना अधिक नही जान पडता जितना यह कि अफ्रीका तथा एशियाके कुछ भागोंके शोषणमें योरोपीय राष्ट्रो की प्रतिस्पर्धा या पारस्परिक होडको समाप्त किया जाय। उन्हींके शब्दोमें इस सघका प्रधान उद्देश्य था 'पश्चिमी योरोपके राष्ट्रोंमें परस्पर युद्ध नितान्त और अक्षरश असम्भव बना देना।'

डॉक्टर जेनिंग्स की योजना यदि कभी कार्यान्वित होती तो उनका मशा अग्रेजी साम्राज्य और राष्ट्र-सघ दो में से किसी एक का भी तिरस्कार करनेका नही था। इस नवीन सघमें अग्रेजी साम्राज्य एक इकाईके रूपमें सम्मिलित रहता। उसके उपनिवेशो और आश्रित प्रदेशोंसे होने वाले हानि-लाभमें सघीय भाईबन्द साझीदार होते और पिछडे हुए प्रदेश सभी सघीय नागरिकोको पूजी और उद्योगशीलताके लिए खुले रहते। एक सघीय आयोग (Federal Commission) होता जिसका अधिकार-क्षेत्र सभी औपनिवेशिक प्रदेशो पर रहता और सघके सभी सदस्य औपनिवेशिक अधिसेवाके लिए उम्मीदवार हो सकते। राष्ट्र-सघका अस्तित्व उन राष्ट्रोके कल्याणके लिए बना रहता जो पश्चिमी योरोपीय सघके सदस्य न होते। यह सघ स्वय राष्ट्र-सघकी परिषद्में एक अकेली इकाईके रूपमें अपना प्रतिनिधि भेजता। राष्ट्र-सघको वह सघके तमाम उत्तर-दायित्वोंसे मुक्त रखता और शेष ससारके कल्याणमें और अधिक ध्यान देनेका अवसर, इस प्रकार, राष्ट्र-सघको मिल सकता। सघीय विषय, प्रधान रूपमे, सुरक्षा और वैदेशिक मामले होते और कुछ हद तक आर्थिक सम्बन्ध और उपनिवेश भी। अवशिष्टाधिकार (Residuary Powers) राज्योंके हाथोमें रहते।

संसारका आंशिक संघ बनानेकी सभी योजनाओंकी सबसे अधिक कठोर आलोचना श्री डी० एन० प्रिट ने की। समाजवादी आधार पर तर्क करते हुए उन्होंने कहा कि जब तक पूंजीवाद और साम्राज्यवादको बनाये रखनेकी कोशिश की जायगी, तब तक संसार का एक संघ धोखा-मात्र है। उन्होंने कहा कि वास्तविक शक्ति उस छोटेसे गुटके हाथोंमें है जिसके हाथमें पूंजी है और उद्योग है, और उद्योगोंका नियंत्रण करने वाले प्रायः वही या वैसे ही हैं जैसे सरकारोंका नियंत्रण करने वाले। इसलिए, इन परिस्थितियोंमें एक संघ बनानेका अर्थ होगा विभिन्न देशोंके निहित स्वार्थ वाले गुटोंका एकीकरण जिससे वह स्वयं अपने देशकी जनताका और उपनिवेशोंकी जनताका और भी अधिक शोषण कर सकेंगे। कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों और उनके पिछलगुआ राज्योंकी यह एक 'पवित्र सन्धि' हो जायगी। श्री प्रिट के ही शब्दोंमें 'आधुनिक औद्योगिक राज्योंमें वास्तविक शक्तिके केन्द्र कुछ थोड़ेसे धनी व्यक्ति होते हैं। राज्योंके इस स्वरूपको पहले बिल्कुल उलट देना होगा, तभी एक विश्व-राज्य-संघ सम्भव हो सकता है।'

विश्व संघकी विभिन्न योजनाओंकी आलोचना उन्होंने इस आधार पर भी की है कि उनमें समूचे संसारको नहीं सम्मिलित किया गया। ऐसे आंशिक संघको वह किसी प्रकार का संघ न होनेसे भी बुरा मानते हैं, यह तो एक साम्राज्यसे भी अधिक घातक है क्योंकि अन्य राष्ट्रोंके विरुद्ध इसका उपयोग एक भालेकी नोककी भांति किया जा सकता है। ऐसे संघसे बाहर रखे जाने वाले राज्य अपने पृथक् गुट बना सकते हैं और तब इस संघ और इन गुटोंके बीच निरन्तर संघर्ष और ईर्ष्याकी स्थिति बनी रहेगी।

जो लोग विश्व-संघकी योजनाओंका समर्थन करते हैं वह भी यह अनुभव करते हैं कि ऐसी योजनाओंकी व्यापकता और विशालता ही ऐसी होती है जिससे वह योजनाएं असाध्य बन जाती हैं इसलिए ऐसे लोग प्रादेशिक संघों (Regional Federations) की योजनाका समर्थन करते हैं। इन संघोंके ऊपर एक दूसरा संघ या महासंघ (Confedera-tion) हो सकता है जिसे कुछ सीमित अधिकार व शक्तियां प्राप्त हों।

प्रो० कैटलिन ने चरम राष्ट्रीय शक्तिके पिटे-पिटाये सिद्धान्तके स्थान पर समन्वित प्रभु-शक्ति (Pooled sovereignty) के नये सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेका समर्थन किया। उनके अनुसार तीन पृथक् क्षेत्र होंगे जो तीन पृथक् अधिकार-सत्ताओंके अधीन होंगे। पहले क्षेत्रमें समूचा विश्व आता जिसकी अपनी एक विश्व सरकार होती। इस सरकारके उत्तरदायित्व और अधिकार-क्षेत्रमें डाक-व्यवस्था, हवाई यातायात, विश्व-मुद्रा कुछ कच्चे मालोंका उपयोग और वुल्फ्राम (Tungsten), टिटेनियम (Titanium) तथा निकल (Nickel) जैसे महत्व-पूर्ण पदार्थोंका अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण रहता। [illegible] शान्ति स्थापित रखनेके लिए एक विश्व-न्यायालय और पुलिस भी होती।

द्वितीय क्षेत्रमें एक प्रादेशिक [illegible] होती [illegible] भू-भाग रहता। इसका कार्य एक [illegible] क्षेत्रमें होता [illegible] तुरन्त सम्भव हो सकता। श्रम और व्यापार सम्बन्धी नियमों [illegible] तथा प्रवास-सम्बन्धी नियमन उनके अधीन रहते। प्रादेशिक भू-भागोंमें [illegible] आदतों और सामान्य जीवन-पद्धतियों वाले लोग रहते। इन प्रादेशिक भू-भागोंके निर्धारण और स्थायित्वमें भौगोलिक राजनीति (Geo-Politics) का [illegible] रहता। इन प्रादेशिक भू-भागोंके ऊपर एक संघ-सम्मेलन (League of Unions)

होता—जो न तो राष्ट्र-संघ (League of Nations) होता और न विश्व-गण-संघ (Federal Union of World)।

लॉर्ड डेविज़ के अनुसार निम्नलिखित संघ बन सकते थे अंग्रेजी भाषा-भाषी देशोंका संघ, रूसको केन्द्र बना कर स्लाव देशोंका संघ, दक्षिण अमेरिकाके लातीनी (Latin) गण-राज्योंका संघ, भारत और उसके पड़ोसी राज्योंको मिलाकर मध्य एशियाई देशोंका संघ, सुदूर पूर्वीय देशोंका संघ और योरोपके संयुक्त राष्ट्रोंका संघ। अफ्रीकाका नाम बड़ी सुविधाके साथ छोड़ दिया गया था सम्भवत अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों द्वारा शोषण किए जाने के लिए। लॉर्ड डेविज के अनुसार इन संघोंका उद्देश्य था युद्धको समाप्त कर देना, विधान-राज्यकी स्थापना करना, एक सामान्य वैदेशिक नीति निर्धारित करना, न्यायाधिकरणके लिए एक विश्व अधिकार-सत्ताकी स्थापनाके उद्देश्यसे विश्व-महासंघमें सम्मिलित होना, शान्ति स्थापित रखना और आर्थिक समस्याओंके निराकरणमें सहयोग देना। नवीन राष्ट्र-संघमें पचास या अधिक राज्योंके बजाय पाँच या छै सदस्य होते और उनके बीच होनेवाले विवादोंका निराकरण समझौते और परामर्शके द्वारा किया जाता।

संगठनोंकी शृंखलामें तीसरी श्रेणी थी राष्ट्रीय क्षेत्रोंकी जिनकी एक राष्ट्रीय सरकार होती। श्री कैटलिन इस क्षेत्रको शिक्षा और संस्कृतिके विकासके लिए एक उपयुक्त क्षेत्र मानते हैं। राष्ट्रीय भावनाके लिए यह क्षेत्र माना गया। इस सीमाके भीतर राष्ट्रीयता-वाद 'कल्याणकारी' समझा गया, इस सीमाके बाहर उसे कल्पना-मूलक, प्रतिक्रियावादी और अनन्त युद्धोंका सक्रिय कारण माना गया।

इन प्रस्तावोंका लक्ष्य था सांस्कृतिक क्षेत्रमें राष्ट्रीयतावाद, आर्थिक क्षेत्रमे प्रादेशिकता-वाद और उच्च राजनीतिके क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद।

अटलांटिक-अधिकार-पत्र (Atlantic Charter) में हमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेनकी सरकारोंको अभीष्ट युद्धके बाद संसारकी विश्व-व्यवस्थाका संकेत मिलता है। इस घोषणा-पत्रको विंस्टन चर्चिलके यथार्थवाद और कार्डेल हल (Cordell Hull) के आदर्शवादका रूज़वेल्टीय (Rooseveltian) समन्वय कहा जाता है। वाइकाउंट सैमुएल (Viscount Samuel) का कहना है कि इस अधिकार-पत्रकी प्रथम तीन धाराएं बाइबिलके दशम आदेशकी व्याख्या-मात्र हैं। यह आदेश है 'तुम्हें लालच न करना चाहिए।' संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन—इन दोनों राष्ट्रोंने इस बातकी घोषणा की कि उन्हें किसी प्रकारके भी विस्तारकी महत्त्वाकांक्षा नहीं है—न प्रादेशिक न अन्य किसी विस्तारकी। स्पष्ट बात यह है कि इस धारासे किसीके भी हृदयमें कोई उत्साह नहीं उत्पन्न होता। यह तो 'उच्च रक्त-निपीड' (High blood pressure) से पीडित एक पेटूकी स्वत अपने ऊपर लागू की हुई आत्मनिषेध-मूलक आज्ञा है। इस धाराने तो युद्धके पहलेकी हिटलर की इन झूठी घोषणाओंको और भी बल दे दिया कि वह जो युद्ध प्रारम्भ करने जा रहा था वह समृद्ध देशों और निर्धन देशोंके बीच होनेवाला युद्ध है। श्री चर्चिल के वक्तव्योंमें यह स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई पडती थी 'जो हमारे अधिकारमें है उसे हम अपनी मुट्ठीसे न जाने देंगे।' हम श्री प्रिट (Pritt) के इस विश्वासमें सहमत हैं कि 'जब तक साम्राज्यवादका जड-मूलसे नाश नहीं होता तब तक एक सुन्दरतर विश्व-व्यवस्था' नहीं स्थापित की जा सकती।

इस अधिकार-पत्रकी दूसरी धारामें यह इच्छा व्यक्त की गई है कि 'ऐसा कोई

प्रादेशिक परिवर्तन नही होगा जो उस प्रदेशकी सम्बन्धित जनताकी स्वतन्त्र सम्मतिसे मेल न खाता हो।' तो क्या इसका यह अर्थ है कि फिनलैंड, पोलैंड और बाल्टिक राज्योंको उनके वह प्रदेश वापस दिलाए जायगे जो युद्धके पूर्व उनके अधिकारमें थे? इस व्यवस्थाके प्रति रूसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? पाकिस्तानका क्या होगा? यदि जन-मत-गणना होगी तो क्या उस क्षेत्रके केवल मुसलमानोंकी ही होगी जैसा कि श्री जिन्ना साहब चाहते थे या उस क्षेत्रके प्रत्येक व्यक्तिकी सम्मति ली जायेगी।

तीसरी धारा में यह घोषणा की गई है 'सभी जातियोंके इस अधिकारका सम्मान किया जायगा कि वह स्वय यह निर्णय करे कि किस प्रकारकी सरकारके अधीन वह रहना चाहती है, और यह इच्छा भी व्यक्त की गई कि जिन लोगोंके सर्वप्रभुत्व सम्बन्धी अधिकार और जिनका स्वशासन उनसे बलात् छीन लिया गया है वह उन्हे वापस दिलाये जाये।' तो क्या इसका अर्थ यह है कि केवल बहुमतका शासन होगा या इसमे उपजातियों द्वारा अपने पृथक् राज्य स्थापित करनेका अधिकार भी निहित है। यदि उसका दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है तो इस प्रकार बनाए जाने वाले नये राज्योंमें अल्पसख्यकोंके अधिकारों की क्या व्यवस्था होगी? क्या इस धारामें भारत भी सम्मिलित था? श्री चर्चिल ने तो यह कहा था कि वह भारत पर लागू नही होती।

चौथी और पाचवी धाराए आर्थिक पक्षका विवेचन करती है। इन धाराओंमें इस बातका वायदा किया गया है कि कुछ विशेष प्रतिबन्धोंके साथ सभी राज्योंको समान शर्तोंके आधार पर व्यापार और ससारके ऐसे कच्चे मालकी प्राप्तिकी सुविधाए दी जायगी जो उनकी आर्थिक समृद्धिके लिए आवश्यक होगे। एक प्रश्न जो सम्भवत हमारे मनमें उठता है, यह है 'क्या यह आवश्यक था कि ऐसी घोषणा करनेके लिए युद्ध हो जानेके बाद भी दो वर्षो तक प्रतीक्षा की जाती। यदि यह घोषणा युद्धके पहले भी कर दी गई होती तो क्या उपनिवेशके लिए हिटलर के दावोंका आधार समाप्त न हो जाता। इस बात का निहित अर्थ यह है कि १९३२ का ओटावा-समझौता (Ottawa Agreement), जिसके अनुसार साम्राज्यके बाहर वाले देशोंके विरुद्ध एक कठोर परिमाण भित्ति (Tariff wall) खडी की गई थी, एक भयकर भूल थी। चौथी और पाचवी धाराओंमें इस बात का वायदा किया गया है कि ससारके सभी देशोंके लिए श्रमके विकसित मानदड, आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा सुलभ और सुरक्षित बनानेके उद्देश्यसे सभी राष्ट्रोंमें परस्पर घनिष्ठ सहयोग होगा।

अन्तिम तीन धाराओमे उन साधनोंको स्पष्ट बताया गया है जिनके द्वारा नात्सी अत्याचारोंके समाप्त हो जानेके बाद स्थायी शान्तिकी प्रतिष्ठा की जाती। इन साधनोंमें आक्रमण करने वाले राष्ट्रोंका निःशस्त्रीकरण, सामुद्रिक स्वातन्त्र्य और भय तथा अभावसे मुक्ति भी सम्मिलित थी।

इन धाराओंका मूल-महत्त्व आज प्रकट हो रहा है—इसे सभी स्वीकार करेंगे। जनरल स्मट्स की इस घोषणाने उन सारे भ्रमको पर्याप्त कर दिया कि अटलाटिक-अधिकार-पत्र उत्तरी अफ्रीकाके इटलीके उन प्रदेशों पर नहीं लागू हो सकता जो युद्धके दौरानमें संयुक्त राष्ट्र-सघके अधिकारमें आ गये है।

कहा जाता है कि श्री रूजवेल्ट द्वारा घोषित चार स्वाधीनताओंसे प्रत्येक व्यक्तिके लिए स्वाधीनताका एक अधिकार-पत्र प्राप्त हो गया है। चारों स्वाधीनताए ये है भाषण

आक्रमणके भयसे मुक्ति और बिना किसी प्रकारकी बाहरी बाधा या दबावके अपना राष्ट्रीय जीवन बितानेकी स्वाधीनता। अभावसे मुक्तिमें दरिद्रतासे मुक्ति और सामूहिक बेकारी से मुक्ति तथा काम पानेका अधिकार और प्रत्येक व्यक्तिके लिए जीवनका एक न्यूनतम मानदंड सम्मिलित है। शेष दो स्वाधीनताएं—विवेक-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्तिकी स्वाधीनता—अपने आप स्पष्ट हैं। इस सूचीसे एक महत्त्व-पूर्ण स्वाधीनताको बाहर रखा गया है और वह है जातीय और सामाजिक अत्याचारोंसे मुक्ति। श्री रूजवेल्ट की मंत्रिपरिषद्में गृह-विभागके मंत्री श्री आइक्स (Mr Ickes) ने कहा था कि अमेरिकामें अल्पसमुदायोंके साथ, विशेषकर नीग्रो लोगोंके साथ, जो व्यवहार किया जाता है वह उस व्यवहारकी अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ कोटिका है जो रूसमें अल्पसमुदायोंके साथ किया जाता है।

हम भारतवासी जो चार स्वाधीनताएं चाहते हैं वह यह हैं (१) अकारण आक्रमण से मुक्ति और राजनैतिक स्वाधीनता, (२) आर्थिक अरक्षासे मुक्ति, (३) सामाजिक अत्याचार (वर्ण, वर्ग, समाज और जाति द्वारा होने वाले) से मुक्ति और (४) पूर्ण आत्माभिव्यक्तिकी स्वाधीनता जिसमें विवेक-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्तिकी स्वाधीनता सम्मिलित है।

युद्ध समाप्त होनेके बाद अन्तर्राष्ट्रीयतावाद चाहे जैसा संगठित स्वरूप धारण करे, चार शर्तें उसके लिए अनिवार्य हैं (१) चरम राष्ट्रीय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तका छोड़ा जाना, (२) रचना-मूलक शान्तिकी स्थापना और उसके स्थायित्वके लिए एक उपयुक्त साधन-संस्थाकी स्थापना, (३) जातियों और जाति-समूहोंके बीच आर्थिक न्याय, और (४) बेवेरिज योजना (Beveridge Scheme) के अनुसार व्यक्तियोंके लिए सामाजिक सुरक्षा।

इस समय अपने आपको केवल दूसरी शर्त तक ही सीमित रखते हुए हम श्री वाइखम स्टीड (Wickham Steed) के इस कथनसे सहमत हैं कि शान्तिका अर्थ केवल युद्धका अभाव ही नहीं होता। शान्ति कोई नकारात्मक लक्ष्य नहीं है। वह एक 'रचना-मूलक गतिशील और हानि-भयापन्न है और इसीलिए वह एक आकर्षक उपक्रम है।' श्री लिटविनाफ के शब्दोंमें 'शान्ति अविभाज्य है।'

शान्तिकी प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब हम अध्यवसायपूर्वक एक विश्व-समाजकी भावनाको विकसित करें। हम यह नहीं चाहते कि एक आंग्ल-सैक्सनी संघ शेष समस्त संसारके लिए विधायकका काम करे। कौन जानता है वह विधान कितने दिन चले। और हम शक्ति-सन्तुलनके बदनाम सिद्धान्तकी पुनरावृत्ति भी नहीं चाहते।

युद्धके बाद कुछ वर्षों तक जर्मनी को निःशस्त्र करना चाहे जितना आवश्यक रहा हो, एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण युद्ध और शान्तिकी समस्याका निराकरण कभी भी नहीं कर सकता। एकपक्षीय निःशस्त्रीकरणका प्रयत्न प्रथम विश्व-युद्धकी समाप्ति पर किया गया था पर योरोपीय सरकारें परस्पर वाक्-युद्ध ही करती रहीं और किसी एक सामान्य नीति के सम्बन्धमें एकमत न हो सकीं। प्रत्येक सरकार अपने राष्ट्रीय शस्त्रास्त्रोंको अपने पास सुरक्षित रखना चाहती थी और उनका एकत्रीकरण सभीने अस्वीकार कर दिया। वाइकाउंट सैमुएल का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि एकपक्षीय शस्त्रीकरणसे निरपराध राष्ट्रोंकी अपेक्षा अपराधी राष्ट्रोंको एक बहुत बड़ी आर्थिक सुविधा मिल जायगी। इसके अतिरिक्त इसमें सद्भावना नहीं स्थापित हो सकती और न यह निःशस्त्रीकरण अधिक दिन टिक ही सकता है।

इस समस्याका एक अकेला हल है सब राष्ट्रोका एक साथ निःशस्त्रीकरण और एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार-सत्ताकी स्थापना जिसे विश्व-न्यायालय और एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस या शान्ति-रक्षक दलका बल प्राप्त हो। इन शक्तिका एक प्रधान सेनापति होना चाहिए और उसे कुछ ऐसी शक्तियोकी सैनिक-मैत्रीमे पडकर भ्रष्ट न होना चाहिए जो किसी दूसरे सैनिक-मैत्री वाले गुटके साथ शस्त्रीकरणकी होडमें लगे हो। इसमें जर्मन, इटालियन और जापानी लोगोको ठीक उसी प्रकार सम्मिलित किया जाना चाहिए, जिस प्रकार अंग्रेजो, अमरीकियो तथा रूसी और चीनी लोगोको। यदि इनने राष्ट्रीय देश-भक्ति समाप्त हो जाती है तो उससे कोई हानि नही होती क्योकि ऐसी देश-भक्ति स्थायी बनाने योग्य नही होती। इस दलको यथार्थ रूपमे एक सच्चे राष्ट्र-संघका पुलिस-दल बनना होगा। हम यह नही चाहते कि संसारका आधा हिस्सा दूसरे आधे हिस्सेमें अपना पुलिस-दल रखे। 'हमे वास्तवमें संसारके कल्याणके लिए समूचे संसार द्वारा समूचे संसारका व्यवस्थापन करना होगा।' राष्ट्रीय सैन्य-दलोके स्थान पर एक वास्तविक विश्व-पुलिस-दल होगा जो जाने-बूझे अपराधियोके विरुद्ध, जाने-बूझे अपराधोके लिए सीमित शक्तिका प्रयोग करेगा।

SELECT READINGS

Aims, Methods and Activity of the League of Nations, 1935
ASIRVATHAM, E —*A New Social Order*--Chs. IX, X, and XI.
BARNES, LEONARD—*The Duty of Empire*
BARNES, LEONARD—*The Future of Colonies*.
BARNES, LEONARD—*Empire or Democracy*.
BRYCE, LORD—*International Relations*.
BUELL, R. L —*International Relations*
GURTIS, L —*Civitas Dei*
GIBBONS, H A —*Introduction to World Politics*.
GILCHRIST, R N —*Indian Nationality*.
GOOCH, G. P —*Nationalism*
HALLOWELL, J. H —*Main Currents in Modern Political Thought* —Ch 16
HAYES, C. J. H —*Essays on Nationalism*.
HOBSON, J A.—*Imperialism, A Study*.
HOCKING, W. E —*The Spirit of World Politics*.
JENNINGS, IVOR—*A Federation for Western Europe*.
JOSEPH BERNARD—*Nationality*
KOHN, HANS—*Nationalism in the East*.
LASKI, H J.—*A Grammar of Politics*
MADARIAGA, SALVADOR DE—*The World's Design*.
MAZZINI—*Selected Writings*

MAZZINI—*The Duties of Man and other Essays.*
MILL, J S —*Representative Government*
MOON, P T —*Imperialism and World Politics.*
MOON, P T —*Syllabus on International Relations*
MORGENTHAV, H J —*Politics Among Nations*
MUIR, R —*Nationalism and Internationalism*
PILLUSBURY, W B —*The Psychology of Nationality and Internationalism*
PRITT, D N —*Federal Illusion*
ROSE, J H —*Nationality in Modern History.*
SCHUMAN, F L —*International Politics, (4th ed , 1948).*
SITTARAMAYYA—*History of the Indian National Congress.*
TOYNBEE, A —*Nationality and the War.*
TOYNBEE, A —*Study of International Affairs.*
TAGORE, R —*Nationalism*
VON TREITSCHKE—*Politics—(2 Vols)*
WOOLF, L —*Imperialism and Civilisation*
WOOLF, L S —*International Government*
ZIMMERN, A E —*Nationality and Government*
ZIMMERN, A E —*The Third British Empire*

१७

आधुनिक विश्व-साम्यवाद

(World Communism Today)

आधुनिक साम्यवादका जन्म रूस में सन् १९१७ में ज़ारशाही शासनके बोल्शेविकों द्वारा समाप्त किये जाने पर हुआ था। यद्यपि साम्यवाद केवल ३५ वर्ष ही पुराना हुआ है फिर भी उसने अपनी शाखाएं संसारके लगभग प्रत्येक भागमें फैला ली है। इतना तीव्र विस्तार एक आश्चर्यकी बात है।

बोल्शेविकोंके सत्तारूढ होनेके बाद तुरन्त ही देशके भीतर और देशके बाहरसे उन्हें बहुत अधिक विरोधका सामना करना पडा। बाहरसे श्वेत रूसियोंके समर्थनके बहाने कुछ पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राज्योंने, उनका सक्रिय सैनिक विरोध किया। जब वह आत्मनिर्भर बननेके लिए संघर्ष कर रहे थे उस समय उनके शत्रुओंको यह जो सहायता दी गयी उसे रूस के साम्यवादी आज भी नही भूले और यदि आज भी पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राज्योंके प्रति वह सशंक है तो उसका आंशिक कारण भी यही है।

प्रथम विश्व-युद्धके बाद तात्कालिक वर्षोंमें रूसी साम्यवादके प्रति पश्चिमी देशोंकी प्रतिक्रिया चाहे जो कुछ रही हो पर पूर्वी देशोंमें अनेक लोगोंको इस बातका विश्वास था कि उसमें एक नई विश्व-व्यवस्थाके बीज विद्यमान है। वह लोग उसे ईश्वरका वरदान मानते थे। साम्यवादके जिस तत्त्वने उन्हें बहुत अधिक आकर्षित किया वह था आर्थिक और सामाजिक न्यायके प्रति उसकी लगन और साम्राज्यवाद तथा जातीय विभेदके विरुद्ध बराबर युद्ध करनेका उसका संकल्प। इन दोनों ही बुराइयोंका व्यवहार पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राज्यों द्वारा विभिन्न मात्राओंमें किया जाता रहा है। रूसकी क्रमानुगत (Consecutive), पंचवर्षीय योजनाओंका जिनका, उद्देश्य कृषि और उद्योगोंका विकास था, रूस की सीमाके भीतर निरक्षरताकी समाप्ति करना, सोवियट-संघके भीतरके विभिन्न जातीय और भाषा-मूलक संघोंको सांस्कृतिक स्वायत्तताका अधिकार, जातीय विभेदको देश-द्रोहके रूपमें दण्डनीय घोषित करना और चीनमें अपने सीमा-बाह्य अधिकारों (Extra-territorial rights) का परित्याग करना—इन सब बातोंका प्रभाव पूर्वीय देशों पर बहुत अधिक पडा। पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राज्य चीनमें अपने सीमा-बाह्य अधिकारोंको छोडनेके लिए तैयार नही थे। पूर्वीय देशोंको इस बातका भी विश्वास था कि सोवियट रूस विश्व-शान्ति और निःशस्त्रीकरणके लिए एक सबल आन्दोलन करनेके लिए कृत-संकल्प है।

रूसी साम्यवादमें यह जो अनेक कल्याणकारी तत्त्व पूर्वके लोगोंको दिखायी दिये वह अनेक पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राज्यों द्वारा तमाम पूर्वी देशके निर्दय आर्थिक शोषण और राजनैतिक प्रभुत्वके ठीक विपरीत पडते थे। उदाहरणके लिए १९१८-१९१९ में वार्साई के सन्धि-सम्मेलनमें जापानने जातीय समानताकी जो मांग की थी उसका इन पश्चिमीय राज्योंने जो डट कर विरोध किया था उसे पूर्वके लोग आसानीसे नही भूल सकते थे।

MAZZINI—*The Duties of Man and other Essays*
MILL, J S —*Representative Government*
MOON, P T —*Imperialism and World Politics.*
MOON, P T —*Syllabus on International Relations.*
MORGENTHAV, H J —*Politics Among Nations*
MUIR, R —*Nationalism and Internationalism*
PILLUSBURY, W B —*The Psychology of Nationality and Internationalism*
PRITT, D N —*Federal Illusion*
ROSE, J H —*Nationality in Modern History.*
SCHUMAN, F L —*International Politics, (4th ed , 1948)*
SITTARAMAYYA—*History of the Indian National Congress.*
TOYNBEE, A —*Nationality and the War*
TOYNBEE, A —*Study of International Affairs.*
TAGORE, R —*Nationalism*
VON TREITSCHKE—*Politics—(2 Vols)*
WOOLF, L —*Imperialism and Civilisation*
WOOLF, L S —*International Government*
ZIMMERN, A E —*Nationality and Government.*
ZIMMERN, A E —*The Third British Empire*

१७

आधुनिक विश्व-साम्यवाद
(World Communism Today)

आधुनिक साम्यवादका जन्म रूस में सन् १९१७ में जारशाही शासनके बोल्शेविकों द्वारा समाप्त किये जाने पर हुआ था। यद्यपि साम्यवाद केवल ३५ वर्ष ही पुराना हुआ है फिर भी उसने अपनी शाखाएं संसारके लगभग प्रत्येक भागमें फैला ली हैं। इतना तीव्र विस्तार एक आश्चर्यकी बात है।

बोल्शेविकोंके सत्तारूढ होनेके बाद तुरन्त ही देशके भीतर और देशके बाहरसे उन्हें बहुत अधिक विरोधका सामना करना पड़ा। बाहरसे श्वेत रूसियोंके समर्थनके बहाने कुछ पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राज्योंने, उनका सक्रिय सैनिक विरोध किया। जब वह आत्मनिर्भर बननेके लिए संघर्ष कर रहे थे उस समय उनके शत्रुओंको यह जो सहायता दी गयी उसे रूस के साम्यवादी आज भी नहीं भूले और यदि आज भी पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राज्योंके प्रति वह सशंक हैं तो उसका आंशिक कारण भी यही है।

प्रथम विश्व-युद्धके बाद तात्कालिक वर्षोंमें रूसी साम्यवादके प्रति पश्चिमी देशोंकी प्रतिक्रिया चाहे जो कुछ रही हो पर पूर्वी देशोंमें अनेक लोगोंको इस बातका विश्वास था कि उसमें एक नई विश्व-व्यवस्थाके बीज विद्यमान हैं। वह लोग उसे ईश्वरका वरदान मानते थे। साम्यवादके जिस तत्त्वने उन्हें बहुत अधिक आकर्षित किया वह था आर्थिक और सामाजिक न्यायके प्रति उसकी लगन और साम्राज्यवाद तथा जातीय विभेदके विरुद्ध बराबर युद्ध करनेका उनका संकल्प। इन दोनों ही बुराइयोंका व्यवहार पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राज्यों द्वारा विभिन्न मात्राओंमें किया जाता रहा है। रूसकी क्रमानुगत (Consecutive), पंचवर्षीय योजनाओंका जिनका, उद्देश्य कृषि और उद्योगोंका विकास था, रूस की सीमाके भीतर निरक्षरताकी समाप्ति करना, सोवियट-संघके भीतरके विभिन्न जातीय और भाषा-मूलक संघोंको सांस्कृतिक स्वायत्तताका अधिकार, जातीय विभेदको देश-द्रोहके रूपमें दण्डनीय घोषित करना और चीनमें अपने सीमा-बाह्य अधिकारों (Extra-territorial rights) का परित्याग करना—इन सब बातोंका प्रभाव पूर्वीय देशों पर बहुत अधिक पड़ा। पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राज्य चीनमें अपने सीमा-बाह्य अधिकारोंको छोड़नेके लिए तैयार नहीं थे। पूर्वीय देशोंको इस बातका भी विश्वास था कि सोवियट रूस विश्व-शान्ति और निःशस्त्रीकरणके लिए एक सबल आन्दोलन करनेके लिए कृत-संकल्प है।

रूसी साम्यवादमें यह जो अनेक कल्याणकारी तत्त्व पूर्वके लोगोंको दिखायी दिये वह अनेक पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राज्यों द्वारा तमाम पूर्वी देशके निर्दय आर्थिक शोषण और राजनैतिक प्रभुत्वके ठीक विपरीत पड़ते थे। उदाहरणके लिए १९१८-१९१९ में वारसाई के सन्धि-सम्मेलनमें जापानने जातीय समानताकी जो मांग की थी उसका इन पश्चिमीय राज्योंने जो डट कर विरोध किया था उसे पूर्वके लोग आसानीसे नहीं भूल सकते थे।

करना पडा। इस निस्सकोच विस्तारका श्रौचित्य रूस के प्रति सहानुभूति रखनेवालोने इस श्राधार पर सिद्ध किया कि यह महत्त्व-पूर्ण क्षेत्र रूसकी श्रात्मरक्षाके लिए श्रावश्यक थे। पर यह तो गन्दे बुरे साधनो द्वारा श्रच्छे उद्देश्यकी सिद्धिको उचित सिद्ध करना हुश्रा।

यदि यह सफाई स्वीकार करना सम्भव भी हो तो जिस प्रकार रूस ने श्रपनी जडें हगरी, बल्गेरिया, रूमानिया, यूगोस्लाविया (मार्शल टिटो के पृथक् होने तक) चेकोस्लोवाकिया श्रौर पूर्वी जर्मनीमें फैलायी उसका कोई श्रौचित्य नही दिखायी देता। यद्यपि इन सभी राज्योकी एक नाम-मात्रकी स्वाधीनता प्रतिष्ठित है। पर इन सबने राज्यके उस एक-दलीय सिद्धान्तको श्रपना लिया है जिसे मुसोलिनी श्रौर हिटलर श्रपने पतन श्रौर पराभव तक श्रौर स्टालिन श्रादिसे श्रन्त तक व्यवहारमें लाते रहे। यह एक ध्यान देने योग्य महत्त्व-पूर्ण वात है कि इन सभी देशोमें रूस ने विना एक भी गोली दागे श्रपना लक्ष्य सिद्ध कर लिया यद्यपि सैनिक दवाव सर्वदा वर्तमान रहा। उसकी कार्य-पद्धति रही है स्थानीय साम्यवादियोको उत्साहित, प्रेरित श्रौर सगठित करना या साम्यवादी सिद्धान्त तथा साम्यवादी शासनके प्रति जनताका समर्थन प्राप्त करनेके लिए धोखा श्रौर गुप्त प्रचार तथा प्रभावकी चालोको श्रपनाना।[१]

स्थानीय साम्यवादी पार्टिया इतनी दृढ़तासे जम गई है कि विना किसी प्रकारकी विश्व-क्रान्तिके उन्हें उखाड सकना श्रसम्भव जान पडता है।

इसी प्रकारके धावे उत्तरी कोरिया श्रौर चीनमें किये गये है। जापान से युद्ध करनेके लिए तैयार होनेके लिए श्रन्तिम क्षण तक रूस ने प्रतीक्षा की पर जब वह युद्धके लिए तैयार हुश्रा तो कोरिया श्रौर चीन, विशेषकर मचूरिया के लोगो द्वारा वहुत वडा मूल्य श्रदा किये जाने पर। यह मूल्य युद्ध समाप्त होनेके वादसे श्रदा किया गया है।

चीनके साम्यवादी दलका सगठन १९२२ ई० में माउत्सेतुग जैसे लोगोके नेतृत्वमें सघाईमें हुश्रा था। प्रारम्भमे ही यह एक क्रान्तिकारी दल था श्रौर इसकी एक सुदृढ़ कृषि-नीति श्रौर कृषि सम्बन्धी कार्य-क्रम था। श्राधुनिक चीनके निर्माता श्री सनयात्सेन श्रपने जीवनके श्रन्तिम दो वर्षोमें साम्यवादके प्रति सहानुभूति रखने लगे थे श्रौर श्रपने कोमिनतान दलका सगठन उन्होने साम्यवादी दलके श्रादर्श पर किया था। पर उनकी मृत्युके वाद उनके दलके समर्थकोने उनकी क्रान्तिकारी शिक्षाश्रोको भुला दिया श्रौर सैन्यवादी हो गए तथा श्रार्थिक व राजनैतिक दोनो ही क्षेत्रोमें प्रतिक्रियावादी वन गए। च्यागकाई शेक कोमिनतान दलका एकछत्र नेता वन गया श्रौर साम्यवादियोकी सहायतासे युद्धके वलपर वने हुए श्रपने स्वामियोको हरा कर वह १९२७ में उनसे पृथक् हो गया। 'वोरोदिन के श्रधीन एक श्रधि-सरकार' (Super-government) वनानेके प्रस्तावको उसने श्रस्वीकार कर दिया। यह वोरोदिन सोवियट-सघसे एक सलाहकारके रूपमें चीनमें रह रहे थे। च्यागकाई शेक श्रौर चीनी साम्यवादियोके वीच एक दशक तक युद्ध चलता रहा श्रौर च्याग ने निर्दयता-पूर्वक श्रनेक साम्यवादियोको कुचला। पर १९३७ में जापानी श्राक्रमण पूरा होने पर दोनो विरोधी एक हो गए श्रौर जापानियोके विरुद्ध पूरा युद्ध कधे से कधा भिडाकर लडे यद्यपि दोनोके मनमें एक दूसरेके प्रति सन्देह श्रौर शकाए वनी

---

[१] श्री जस्टिस जैक्सन ने लिखा है कि पूर्वी योरोपमें साम्यवाद छल-कपट, दवाव श्रौर वल-प्रयोग, श्राकस्मिक राज्य विप्लव, श्रातकवाद श्रौर हत्याके द्वारा फैला है।

रही। प्रारम्भसे अन्त तक साम्यवादियोने इस रण-विरामको एक 'अस्थायी समझौता-मात्र माना। इसलिए जब युद्ध समाप्त हो गया तब दोनोमें फिर सघर्ष प्रारम्भ हो गया और कोई भी पक्ष झुकनेके लिए तैयार नही था। राष्ट्रपति ट्रूमन ने जनरल जॉर्ज मार्शल को यह देखनेके लिए भेजा कि चीनके विक्षुब्ध वातावरणको शान्त किया जा सकता है या नही। पर विलम्ब पहले ही हो चुका था। च्यागकाई शेक की सरकार और उनका कोमिनतान दल बडी तेजीसे अपनी प्रतिष्ठा खोता जा रहा था। इसके कई कारण थे उनकी अयोग्यता और भ्रष्टाचार, जनताकी दयनीय आर्थिक स्थिति और सिपाहियोकी काम करने की शोचनीय परिस्थितिको सुधारनेमें उनकी असफलता। इस सबका परिणाम यह हुआ कि चीनी लोगोकी सहानुभूति साम्यवादियोके प्रति अधिक हो गई। च्याग के अनेक सैनिक साम्यवादियोकी तरफ चले गये, अमेरिका द्वारा राष्ट्रवादियोको दिये गये युद्धके हथियार विना किसी सकोचके साम्यवादियोके हाथ बेचे गये। कहा जाता है कि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने साम्यवादियोके विरुद्ध च्यागकाई शेक को सहायता देनेके लिए तीस अरब डालरसे अधिक सम्पत्ति व्यय की। फिर भी युद्ध बन्द होनेके बाद पाच वर्षके भीतर ही समूचा चीन देश एक पके फलकी भाति साम्यवादियोकी मुट्ठीमें आ गिरा और अब फारमोसामें शरणार्थी बने च्यागकाई शेक और उनके दलके पक्षमें अमरीकी सम्पत्ति, अमरीकी सिपाहियो और अमरीकी हथियारोके अतिरिक्त और कोई भी लडने वाला शेष नही।

चीनी साम्यवाद जैसा कि सामान्यत सोचा जाता है उस रूपका एक खेतिहर सुधारकोका दल-मात्र नही है। इस दलमें विभिन्न कोटिके मार्क्सवादी सम्मिलित है। दलके नेता माउत्सेतुग का जन्म १८९३ ई० में एक समृद्ध कृषक-परिवारमें हुआ था। वह एक स्वत. शिक्षित व्यक्ति है। साम्यवादके सिद्धान्त और कृषिके क्षेत्रमें उसके व्यवहार दोनो ही को माउत्सेतुग की अपनी देन है। चीनी साम्यवाद अभी विकासकी अवस्थामें है। श्री लिली सैन (LiLi-San) जो श्री माउ के एक प्रधान सहायक और भूतपूर्व प्रतिस्पर्धी है, रूसमें शिक्षा पाये हुए व्यक्ति है और यह सम्भव है कि जब उन्हें अवसर मिले तब वह चीनी साम्यवादको रूसी साम्यवादके रूढिवादी ढर्रे पर ले जायें।

अब तक श्री माउत्सेतुग अपने देशकी जनतामें सामान्यत लोकप्रिय रहे है। उनके सिपाहियोका व्यवहार उनके साथ प्रशसनीय रहा है। किसानो द्वारा दिये जानेवाले भूमि-कर और टैक्सोमें पर्याप्त कमी हुई है। जनताके लिए शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओकी व्यवस्था की जा रही है पर अधिक समृद्ध लोगोके लिए यह समय आरामदेह नही है। भू-स्वामियो के साथ रूखा व्यवहार होता है। कोरियाई युद्ध प्रारम्भ होनेसे ऐसे लोगोकी सामूहिक हत्याए हुई है जिन पर शासन-सत्ताका विरोधी होने या शत्रुकी सहायता करनेका सन्देह हुआ है। धर्म और धर्म-विरोध दोनोको ही खुली छूट मिली है। रोमन-कैथोलिक मत, जो आधिकारिक रूपमें साम्यवादका पक्का विरोधी है और अन्धविश्वासोसे भरे हुए धर्म टैविज्म (Tavism) को साम्यवादियोसे कोई प्रोत्साहन नही मिलता। जनताके सभी वर्गोको, घरकी स्त्रियो समेत, साम्यवादके सिद्धान्तोमें बडी तेजीसे दीक्षित किया जा रहा है।

भारतके प्रति पश्चिमके देशोमें कोई अधिक उत्साह नही है क्योकि उसने चीनमें माउत्सेतुग के शासनको स्वीकार कर लिया है और अमेरिका तथा सोवियट रूसके नेतृत्वमें प्रतिस्पर्धी दोनो शक्तिशाली दलोंके विवादमें वह एक तटस्थ स्थिति अपनाये हुए है। कई

सप्ताहोकी वातचीतके वाद माउत्सेतुग स्टालिनसे ऐसी शर्तें प्राप्त कर सके जो अपने सम्यक् रूपमें चीनके लिए लाभदायक मालूम होती थी। पर यह भविष्यवाणी करना कठिन है कि इन दोनोमें से कौन अन्तत बाजी मार ले जायेगा। सम्भव है कि माउ पूर्वका टिटो वन जाये और एक सवल राष्ट्रीयतावाद और साम्यवाद दोनोंको ही साथ-साथ अपना ले। यह भी उतना ही सम्भव है कि चीन शक्तिशाली रूसका अनुयायी राष्ट्र बन जाये। इस दूसरे विकल्पमें बाधा डालने वाले तत्त्व है चीनी लोगोकी दृढ स्वाधीनता, उनका पाडित्य-पूर्ण प्रगतिशील दृष्टिकोण जो सैद्धान्तिक विभेदोको अधिक महत्त्व नही देता, देश की विशालता, यातायातकी न्यूनतम सुविधाए और ऐसे शासकोसे विमुख हो जानेकी चीनी परम्परा जो अपनी 'ईश्वरीय अनुकम्पा' को भी खो बैठते है। चीनी साम्यवाद यदि अपने सुधारोमें सयमसे काम लेता है, उन मन्द-मलिन परिस्थितियोको भ्रष्टाचारसे मुक्त कर सकता है और विश्व-शान्ति तथा साम्राज्यवादी आधिपत्यके विवेक शून्य और घातक विचारोको छोडकर जनताकी सेवामें दत्तचित्त होकर लग जाता है तो वह अब भी एशिया का त्राता वन सकता है।

कोरियाई युद्धमें चीनके सम्मिलनको अमेरिका ने बहुत ही बुरा माना है। पर चीन की स्थितिको भली भाति समझनेके लिए यह कल्पना करना आवश्यक है कि यदि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का विरोधी कोई राष्ट्र मेक्सिको में अपना अड्डा जमाये और वहासे सैनिक कार्यवाही करे तो उसके प्रति अमेरिकाकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इसमे भी अधिक यह स्मरण रखना चाहिए कि चीनकी जनता द्वारा साधारणत अपमानित और त्यक्त होने पर भी च्यागकाई शेक और उनके दलको निरन्तर मिलने वाली अमरीकी सैनिक और आर्थिक सहायताका परिणाम यह तो नही हो सकता कि चीनके लोग अमेरिका को अपना मित्र और शुभचिन्तक समझें। फारमोसाके सम्बन्धमें अमेरिकाने जो नीति अपनाई है वह, प्राविधिक रूपमें चाहे सही भी हो, बिल्कुल ही अनैतिक है। पूर्वीय देशोमें आजकल यह एक व्यापक धारणा है कि चीनके सम्बन्धमें अमेरिका की नीति शान्ति और समझौतेको प्रोत्साहन देनेके बजाय गृह-युद्धको ही भडका रही है और इसलिए पूर्वीय देशोके लोग अमेरिका के प्रति सशक हो उठे है।

प्रवल प्रचारके माध्यमसे, स्थानीय साम्यवादी दल स्थापित करके और अशान्ति तथा कठिनाइया उत्पन्न करके एशियाके अन्य भागोमें भी साम्यवाद अपना प्रभाव बढा रहा है। फिलिपाइन्सके हुक लोग (Huks), जिन्होने जापानियोके विरुद्ध छापामार युद्धके द्वारा उनसे लोहा लिया था, कम्युनिस्टोके नेतृत्वमें है पर निश्चित रूपसे वह कम्युनिस्ट नही है। उनकी अपनी यथार्थ आर्थिक कठिनाइया है, जो यदि समय रहते दूर न की गयी तो साम्यवादका रास्ता खोल देंगी। मलायाके सम्बन्धमें यही वात सत्य है। वहा पर चीनी प्रभाव वहुत प्रवल है। हालमें अग्रेज प्रभुओका साम्यवादियोके प्रति व्यवहार वहुत ही निर्दय हो गया है। पर इससे होता यही है कि वह साम्यवादी अपने देशवासियोकी दृष्टि में शहीद वन जाते हैं।

सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन की सक्रिय सहायतासे फ्रास हिन्दचीन पर फिर से अपना साम्राज्यवादी शासन लादना चाहता है। वाओ दायी (Bao Dai), जो एक कठपुतली-मात्र है, नेता वनाया गया है, और हो ची मिन्ह (Ho Chi Minh), जो राष्ट्रीय नेता और एक कट्टर राष्ट्रीयतावादी तथा साम्यवादी है, वदनाम किया जाता है।

उसके द्वारा स्थापित वीत नाम (Viet Nam) गण-राज्य फ्रासीसियोको खटकता है। फ्रासीसियोका वीत नाम तीन 'स्वतत्र' राज्योको मिलाकर वनता है—अनाम, कम्वोडिया और लाओस। साम्यवादियोका दमन करनेके लिये अमरीकी सरकार सैनिक और आर्थिक सहायता दे रही है। जिस सीमा तक यह सहायता राष्ट्रवादी शक्तियोको क्षीण और फ्रासीसी साम्राज्यवादको सवल वनाती है उस हद तक एशियाई नेताओकी दृष्टिमें सयुक्त राष्ट्र अमेरिका अप्रिय होता जाता है। सम्भव है साम्यवादियोको भी देशकी सीमा पर एकत्रित चीनी लोगो और रूससे सहायता मिलती हो। पर इसे सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नही है।

साम्यवाद न केवल हिन्दचीन और मलायाके द्वार खटखटा रहा है वल्कि वह समूचे दक्षिणी और दक्षिण-पूर्व एशियामें अपना प्रसार वढा रहा है। इस क्षेत्रके अनेक नेताओ का आर्थिक दृष्टिकोण भी वामपथी है। इस प्रदेशमें स्वाधीनता प्राप्त करने वाला अन्तिम देश इन्डोनेशिया अभी पूरे तौरसे स्वय अपने देशका स्वामी नही वन सका। अव भी आन्तरिक सघर्ष है जिन पर विजय पाना शेष है। इन परिस्थितियोमें यदि हिन्दचीन साम्यवादियोके हाथमें आ जाता है तो हिन्देशिया भी उसका अनुयायी वन सकता है। पर सम्भावना यही है कि हिन्देशिया अपने आपको सगठित कर लेगा और एक मिश्रित अर्थ-नीतिके लक्ष्यकी ओर प्रगतिशील होगा।

स्याममें एक सैनिक-शासन है जो वहुत कठोर नही है और जिसके सभी उपकरण प्रजातत्रवादी है। पर अभी तक वहा कोई यथार्थ प्रजातत्रवादी शासन नही है यद्यपि वहा के लोग स्वभावत शान्तिप्रिय है, क्रान्तिकारी नही। वर्तमान सरकारने सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के आर्थिक और सैनिक दवावके सामने घुटने टेक दिये है। एशियाई मामलोमें अमेरिका वरावर अधिकसे अधिक प्रभाव-पूर्ण भाग लेता जा रहा है। स्याम यदि साम्य-वादका कतई विरोध कर भी सकता है तो केवल विदेशी शक्तियोकी सहायतासे ही। पर इसके साथ-साथ यह भी कहना होगा कि क्रान्तिका उत्तर दमन और प्रतिक्रियावाद नही है।

जनवरी १९४८ में राजनैतिक स्वाधीनता पानेके वादसे वर्मा एक दु खी देश रहा है और उसे शान्ति नही मिली है। सरकारकी समूची शक्ति करेन लोगोके विरुद्ध गृह-युद्धमें और साथ ही साथ देशव्यापी विगडी हुई आर्थिक स्थितियोको सुधारनेमें लगी रही है। वर्तमान प्रधान मत्री, श्री थाकिनन्, अपने पूर्ववर्ती श्री आग्सैन के समकक्ष नही है। अभी हाल ही में उन्होने घोषणा की है कि वह तपस्वी प्रधान मत्री होने जा रहे है जिसे अपने देशके दैनिक शासनकी अपेक्षा व्यक्तिगत साधनाके जीवनमें अधिक रुचि होगी। आर्थिक क्षेत्रमें वर्मा समाजवादी मार्ग अपनाना चाहता है।

चीनकी साम्यवादी सेनाओके आक्रमणके वाद तिव्वतकी स्वायत्त अधिकार-पूर्ण स्थिति समाप्त हो गयी है। चीनकी तात्कालिक आवश्यकता यह है कि वह अपने मध्यकालीन आवरणसे और आधुनिक युगके अनुपयुक्त धर्म-राज्यसे अपने आपको मुक्त करे। स्वतत्र राजनीतिक सस्थाए और क्रान्तिकारी आर्थिक सुधार ही उसे जीवित रख सकते है।

१९२२ में सगठित भारतीय साम्यवादी दल एक ऐसी शक्ति है जिसके साथ इस देशकी सरकारको निपटना है। यद्यपि सख्यामें यह दल छोटा है पर वडा ही शक्ति-पूर्ण है। अखिल भारतीय श्रमिक-सघ कांग्रेसको उसने अपने पक्षमें कर लिया है जिसकी वर्तमान सदस्य-सख्या ३ लाख है। कुछ वडे-वडे शहरोमें और भारतके अनेक भागोमें

सप्ताहोकी बातचीतके बाद माउत्सेतुग स्टालिनसे ऐसी शर्तें प्राप्त कर सके जो अपने सम्यक् रूपमें चीनके लिए लाभदायक मालूम होती थी। पर यह भविष्यवाणी करना कठिन है कि इन दोनोमें से कौन अन्तत बाजी मार ले जायेगा। सम्भव है कि माउ पूर्वका टिटो बन जाये और एक सबल राष्ट्रीयतावाद और साम्यवाद दोनोंको ही साथ-साथ अपना ले। यह भी उतना ही सम्भव है कि चीन शक्तिशाली रूसका अनुयायी राष्ट्र बन जाये। इस दूसरे विकल्पमें बाधा डालने वाले तत्त्व है चीनी लोगोकी दृढ स्वाधीनता, उनका पाडित्य-पूर्ण प्रगतिशील दृष्टिकोण जो सैद्धान्तिक विभेदोंको अधिक महत्त्व नही देता, देश की विशालता, यातायातकी न्यूनतम सुविधाए और ऐसे शासकोंसे विमुख हो जानेकी चीनी परम्परा जो अपनी 'ईश्वरीय अनुकम्पा' को भी खो बैठते हैं। चीनी साम्यवाद यदि अपने सुधारोमें सयमसे काम लेता है, उन मन्द-मलिन परिस्थितियोको भ्रष्टाचारसे मुक्त कर सकता है और विश्व-क्रान्ति तथा साम्राज्यवादी आधिपत्यके विवेक शून्य और घातक विचारोको छोडकर जनताकी सेवामें दत्तचित्त होकर लग जाता है तो वह अब भी एशिया का त्राता बन सकता है।

कारियाई युद्धमें चीनके सम्मिलनको अमेरिका ने बहुत ही बुरा माना है। पर चीन की स्थितिको भली भाति समझनेके लिए यह कल्पना करना आवश्यक है कि यदि सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का विरोधी कोई राष्ट्र मेक्सिको में अपना अड्डा जमाये और वहासे सैनिक कार्यवाही करे तो उसके प्रति अमेरिकाकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इससे भी अधिक यह स्मरण रखना चाहिए कि चीनकी जनता द्वारा साधारणत अपमानित और त्यक्त होने पर भी च्यागकाई शेक और उनके दलको निरन्तर मिलने वाली अमरीकी सैनिक और आर्थिक सहायताका परिणाम यह तो नही हो सकता कि चीनके लोग अमेरिका को अपना मित्र और शुभचिन्तक समझें। फारमोसाके सम्बन्धमें अमेरिकाने जो नीति अपनाई है वह, प्राविधिक रूपमें चाहे सही भी हो, बिल्कुल ही अनैतिक है। पूर्वीय देशोमें आजकल यह एक व्यापक धारणा है कि चीनके सम्बन्धमें अमेरिका की नीति शान्ति और समझौतेको प्रोत्साहन देनेके बजाय गृह-युद्धको ही भडका रही है और इसलिए पूर्वीय देशोके लोग अमेरिका के प्रति सशक हो उठे है।

प्रबल प्रचारके माध्यमसे, स्थानीय साम्यवादी दल स्थापित करके और अशान्ति तथा कठिनाइया उत्पन्न करके एशियाके अन्य भागोमें भी साम्यवाद अपना प्रभाव बढा रहा है। फिलिपाइन्सके हक लोग (Huks), जिन्होंने जापानियोके विरुद्ध छापामार युद्धके द्वारा उनसे लोहा लिया था, कम्युनिस्टोके नेतृत्वमें है पर निश्चित रूपसे वह कम्युनिस्ट नहीं है। उनकी अपनी यथार्थ आर्थिक कठिनाइया है, जो यदि समय रहते दूर न की गयी तो साम्यवादका रास्ता खोल देंगी। मलायाके सम्बन्धमें यही बात सत्य है। वहा पर चीनी प्रभाव बहुत प्रबल है। हालमें अग्रेज प्रभुओका साम्यवादियोके प्रति व्यवहार बहुत ही निर्दय हो गया है। पर इससे होता यही है कि वह साम्यवादी अपने देशवासियोकी दृष्टि में शहीद बन जाते है।

सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन की सक्रिय सहायतासे फास हिन्दचीन पर फिर से अपना साम्राज्यवादी शासन लादना चाहता है। बाओ दायी (Bao Daı), जो एक कठपुतली-मात्र है, नेता बनाया गया है, और हो ची मिन्ह (Ho Chı Mınh), जो राष्ट्रीय नेता और एक कट्टर राष्ट्रीयतावादी तथा साम्यवादी है, बदनाम किया जाता है।

उसके द्वारा स्थापित वीत नाम (Viet Nam) गण-राज्य फ्रासीसियोको खटकता है। फ्रासीसियोका वीत नाम तीन 'स्वतत्र' राज्योको मिलाकर बनता है—अनाम, कम्बोडिया और लाओस। साम्यवादियोका दमन करनेके लिये अमरीकी सरकार सैनिक और आर्थिक सहायता दे रही है। जिस सीमा तक यह सहायता राष्ट्रवादी शक्तियोको क्षीण और फ्रासीसी साम्राज्यवादको सबल बनाती है उस हद तक एशियाई नेताओकी दृष्टिमें सयुक्त राष्ट्र अमेरिका अप्रिय होता जाता है। सम्भव है साम्यवादियोको भी देशकी सीमा पर एकत्रित चीनी लोगो और रूससे सहायता मिलती हो। पर इसे सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नही है।

साम्यवाद न केवल हिन्दचीन और मलायाके द्वार खटखटा रहा है बल्कि वह समूचे दक्षिणी और दक्षिण-पूर्व एशियामें अपना प्रसार बढा रहा है। इस क्षेत्रके अनेक नेताओ का आर्थिक दृष्टिकोण भी वामपथी है। इस प्रदेशमें स्वाधीनता प्राप्त करने वाला अन्तिम देश इन्डोनेशिया अभी पूरे तौरसे स्वय अपने देशका स्वामी नही बन सका। अब भी आन्तरिक सघर्ष है जिन पर विजय पाना शेप है। इन परिस्थितियोमें यदि हिन्दचीन साम्यवादियोके हाथमें आ जाता है तो हिन्देशिया भी उसका अनुयायी बन सकता है। पर सम्भावना यही है कि हिन्देशिया अपने आपको सगठित कर लेगा और एक मिश्रित अर्थ-नीतिके लक्ष्यकी ओर प्रगतिशील होगा।

स्याममें एक सैनिक-शासन है जो बहुत कठोर नही है और जिसके सभी उपकरण प्रजातत्रवादी है। पर अभी तक वहा कोई यथार्थ प्रजातत्रवादी शासन नही है यद्यपि वहा के लोग स्वभावत शान्तिप्रिय है, क्रान्तिकारी नही। वर्तमान सरकारने सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के आर्थिक और सैनिक दबावके सामने घुटने टेक दिये है। एशियाई मामलोमें अमेरिका बराबर अधिकसे अधिक प्रभाव-पूर्ण भाग लेता जा रहा है। स्याम यदि साम्य-वादका कतई विरोध कर भी सकता है तो केवल विदेशी शक्तियोकी सहायतासे ही। पर इसके साथ-साथ यह भी कहना होगा कि क्रान्तिका उत्तर दमन और प्रतिक्रियावाद नही है।

जनवरी १९४८ में राजनैतिक स्वाधीनता पानेके बादसे बर्मा एक दुखी देश रहा है और उसे शान्ति नही मिली है। सरकारकी समूची शक्ति करेन लोगोके विरुद्ध गृह-युद्धमें और साथ ही साथ देशव्यापी बिगडी हुई आर्थिक स्थितियोको सुधारनेमें लगी रही है। वर्तमान प्रधान मत्री, श्री थाकिनन्, अपने पूर्ववर्ती श्री आग्सैन के समकक्ष नही है। अभी हाल ही में उन्होने घोषणा की है कि वह तपस्वी प्रधान मत्री होने जा रहे है जिसे अपने देशके दैनिक शासनकी अपेक्षा व्यक्तिगत साधनाके जीवनमें अधिक रुचि होगी। आर्थिक क्षेत्रमें बर्मा समाजवादी मार्ग अपनाना चाहता है।

चीनकी साम्यवादी सेनाओके आक्रमणके बाद तिब्बतकी स्वायत्त अधिकार-पूर्ण स्थिति समाप्त हो गयी है। चीनकी तात्कालिक आवश्यकता यह है कि वह अपने मध्यकालीन आवरणसे और आधुनिक युगके अनुपयुक्त धर्म-राज्यसे अपने आपको मुक्त करे। स्वतंत्र राजनीतिक सस्थाए और क्रान्तिकारी आर्थिक सुधार ही उसे जीवित रख सकते है।

१९२२ में सगठित भारतीय साम्यवादी दल एक ऐसी शक्ति है जिसके साथ इस देशकी सरकारको निपटना है। यद्यपि सख्यामें यह दल छोटा है पर बडा ही शक्ति-पूर्ण है। अखिल भारतीय श्रमिक-सघ कांग्रेसको उसने अपने पक्षमें कर लिया है जिसकी वर्तमान सदस्य-सख्या ३ लाख है। कुछ बडे-बडे शहरोमें और भारतके अनेक भागोमें

किसानो और मजदूरोके बीच उसे शक्तिशाली समर्थन प्राप्त है। मद्रास और पश्चिमी बगालमें साम्यवादी दलको गैर कानूनी घोषित कर दिया गया है, पर केन्द्रीय सरकारने ऐसा कोई कदम नही उठाया है।

भारतीय साम्यवादियो द्वारा व्यवहारमें लाई जाने वाली नीति निस्सकोच और खुलेआम अवसरवादी रही है। यह नीति दूसरोकी कठिनाइयोसे लाभ उठानेकी नीति है। जब युद्ध चल रहा था और भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस ब्रिटेनके अनिच्छुक हाथोंसे आजादी छीन लेनेका प्रयत्न कर रही थी तब भारतीय साम्यवादियोने अपनी पूरी शक्ति ब्रिटेनके पक्ष में लगा दी। जब राष्ट्रीय नेता देशका विभाजन रोकनेके लिए भरपूर प्रयत्न कर रहे थे तब साम्यवादियोने विभाजनके पक्षमें ऊपरसे ठीक मालूम होनेवाले थोथे तर्क रखे। और जब विभाजन हो गया तब वह तुरत पलट गये और एकीकरणके लिए आन्दोलन करने लगे। जिन दिनों हैदराबादमें रज़ाकार लोग अपना आतक-पूर्ण शासन जमा रहे थे तब साम्यवादियोने उनके साथ मिलकर अनेक गावोमें समानान्तर सरकारें स्थापित की जो अब तक मिटायी नही जा सकी। युद्ध समाप्त होनेके बादसे साम्यवादियो द्वारा प्रेरित हडतालें और अनेक ध्वसात्मक कार्य हुए हैं जिनमें रेलोका गिराया जाना भी सम्मिलित है। इस सबने मिलकर सरकारकी समस्याओंको और अधिक बोझिल बना दिया है। सरकार स्वय ही बडी तेजीसे जनताका समर्थन खोती जा रही है।

समूचे रूपमें मुस्लिम देशोंको साम्यवादका कोई बहुत बडा खतरा नही है। श्री मार्टिन एबन लिखते हैं 'मार्क्स अल्लाहसे होड नही ले सकता और न स्टालिन मोहम्मद से'। लेकिन बर्मा और आसाममें जो कुछ होता है उसका प्रभाव पूर्वी पाकिस्तान पर पडेगा ही, और बर्मा तथा आसाममें साम्यवादी प्रभाव प्रबल है। इसी प्रकार कलकत्ता, दिल्ली और बम्बईमें जो कुछ होता है उसका प्रभाव लाहौर और कराची पर पडेगा। अभी हाल ही में पाकिस्तानके प्रधान मन्त्री महोदय अपने देशकी प्रादेशिक अखडताकी सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता मागने अमेरिका पधारे थे पर उन्होने इस बातकी पूरी सावधानी रखी कि इस बातका ज़िक्र न आने पाए कि यह सहायता किसके विरुद्ध प्रादेशिक अखडता की रक्षा करनेके लिये चाहिए।

अफगानिस्तानमें सगठित साम्यवादका प्राय अभाव ही है। पर साम्यवादी रूस और साम्यवादी चीन दोनो ही के समीप होनेके कारण यह सौभाग्य-पूर्ण स्थिति सम्भवत हमेशा न रह सके। अपनी स्वाधीनता पर होने वाले किसी आक्रमणका विरोध अफगान लोग बडी दृढतासे करेंगे क्योकि वह लोग उत्कट राष्ट्रीयतावादी, सुदृढ शरीर और धर्मके प्रति अन्धश्रद्धालु होते हैं। (इबन) मिस्रमें समय-समय पर साम्यवादका उदय होता आया है पर अभी तक वहा कोई प्रबल शक्तिका रूप वह नही धारण कर सका। समूचे अरब देशोमें सामन्तवाद और विदेशी पूजीपतियोने साम्यवादको दबा रखा है। पर वह भी एक ऐसे विचार और दार्शनिक सिद्धान्तके वेगको रोक नहीं सकते जिसमें मनुष्यके आदर्शवाद का और उसकी प्राप्तिके लिए व्यवहारमें नितान्त सकोच-शून्यताका अद्‌भुत मेल हुआ है। तुर्कीमें साम्यवाद गैर कानूनी है और वहा कोई साम्यवादी दल नही है। तुर्की अब तक अमेरिकन सम्पत्ति और सैनिक सज्जाके सहारे साम्यवादको रोकनेमें सफल रहा है। दर्रे-दानियालके सम्मिलित नियत्रणके लिये रूस आन्दोलन करता रहा है। यद्यपि कार्य-साधकताके विचारसे वह अभी इस दावे पर कोई ज़ोर नहीं दे रहा है पर अधिक उपयुक्त

परिस्थितियोंके आने पर वह और अधिक दृढ निश्चयके साथ अपनी इस मागको पेश कर सकता है।

अफ्रीका महाद्वीपके भी अनेक भागोमें साम्यवादका प्रसार हो रहा है। दक्षिणी अफ्रीका की यूनियनमें नौजवान अफ्रीकियोंमें अनेक साम्यवादी दलके दृढ समर्थक हैं। सम्भव है इस क्षेत्रमें साम्यवाद एक प्रच्छन्न वरदान (Blessing in disguise) सिद्ध हो और नाजियोंके पतनके बाद बरते जानेवाले जातीय भेद-भावको दूर कर दे। श्री मार्टिन एबन का कहना है, दक्षिण अफ्रीका के साम्यवादी दलको योरोपियनोंके ऐसे समूहका समर्थन प्राप्त है जो प्रमुख दलोंकी जातीय नीतिसे असहमत है। साथ ही साथ उसे काफी तादादमें भारतीयोंका भी समर्थन प्राप्त है।'

योरोपके अनेक देशो पर साम्यवाद हावी हो चुका है। फ्रास और इटली में भी वह बहुत प्रबल रहा है और यदि प्रबल विदेशी प्रभाव उसके विरोधमें न होता तो हालके कुछ चुनावोंमें से कुछमें उसे विजय मिली होती।

साम्यवादकी चुनौतीका उत्तर कैसे दिया जाय ?
(How is the Challenge of Communism to be Met?)

साम्यवाद निस्सन्देह सर्वाधिकारवादी तानाशाही और अत्याचारी है। प्रजातान्त्रिक पद्धतियो अथवा ससदीय कार्य-विधिको साम्यवाद बहुत कम या बिल्कुल ही महत्त्व नही देता, यद्यपि सोवियटको जनताका गण-राज्य कहा जाता है। 'न्यूयार्क टाइम्स' के २१ मई १९५० वाले सस्करणमें अमरीकी सर्वोच्च न्यायालयके न्यायाधीश जस्टिस राबर्ट एच० जैक्सन ने अमरीकी साम्यवादी दलकी अप्रजातान्त्रिक पद्धतियोका निचोड इन शब्दोमें दिया है: (१) 'साम्यवादी दलका उद्देश्य एक स्वतत्र निर्वाचक मडलके मत-दान द्वारा शक्ति प्राप्त करनेके बजाय एक अल्प समुदायकी सहायतासे और उसीके हितके लिए शासन-शक्तियो पर कब्जा करना है।' (२) 'अमेरिका के भतपूर्व या वर्तमान राजनैतिक दलोमें केवल साम्यवादी दल ही ऐसा दल है जिसका नियत्रण और जिस पर आधिपत्य एक विदेशी सरकारका है।' साम्यवादी विचार-धारामें व्यक्तिको अपने देश अथवा अपने विवेकसे भी अधिक अपने दल और विश्व-साम्यवादके प्रति निष्ठावान् होना पडता है। (३) 'साम्यवादी दल द्वारा लक्ष्य प्राप्त करनेके लिए हिंसा और अप्रजातान्त्रिक साधन सुनिश्चित और अनिवार्य पद्धतिया है।' यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जैसा कि श्री जैक्सन कहते है, पूर्वी योरोप के किसी भी ऐसे राज्यमें जहा साम्यवाद सत्तारूढ है वह एक स्वतत्र और प्रतियोगिता-पूर्ण निर्वाचनमें नही चुना गया और किसी भी देशमें उसे निर्वाचन द्वारा अधिकारके पदसे अलग नही किया जा सकता। (४) 'अमरीकी जनता पर अपना प्रभाव स्थापित करनेके लिए साम्यवादी दलने श्रमिक आन्दोलन पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहा है। (५) साम्यवादी दलका प्रत्येक सदस्य साम्यवादी कार्य-क्रमको कार्यान्वित करनेके लिए एक घटक या एजेन्ट है।' ऊपरकी बातोमें चाहे जितनी सच्चाई हो पर चौथी बात तो निश्चित रूपसे झूठ है। साम्यवादके विरुद्ध जो एक राष्ट्रीय उन्माद सा आया उसके परिणामस्वरूप हालमें जो मुकदमे चलाये गये उनमें अनेक निरपराध देश-भक्त नागरिकोके साथ दुर्व्यवहार किया गया। श्री जैक्सन के आरोपोके बावजूद भी आधुनिक साम्यवाद मानव आदर्शवादसे हीन नग्न शक्ति मात्र नही है, जैसा फासीवाद और नाजीवाद

के सम्बन्धमें कहा जा सकता था। साम्यवादकी जडें निराशामें है और उसे 'सगठित निराशा' कहा जा सकता है। प्रथम विश्व-युद्धने उसे प्राथमिक सफलता दी और द्वितीय विश्व-युद्धने उसे ससारके एक बडे भू-भाग पर फैल जानेका अनुपम अवसर दिया। तृतीय विश्व-युद्ध, यदि और जब कभी वह आएगा, तब विश्व-व्यापी दरिद्रताकी स्थिति उत्पन्न करेगा और तब साम्यवादको बिना स्वय कोई उद्योग या बलिदान किए हुए ससार पर अधिकार जमानेका अपना लक्ष्य पूरा करनेका अवसर मिलेगा। जो युद्ध-व्यवसायी आज सोवियट रूसके विरुद्ध तत्काल युद्ध छेडनेके लिए आन्दोलन मचा रहे है वह साम्यवादको पराजित करनेके बजाय उसे स्वय अपने ही कधो पर चढाकर सफलताके शिखर तक पहुचनेमें सहायता देंगे।

साम्यवादको उसकी बुराइयोकी अत्युक्ति करके या उसे भयानक चित्रित करके नही रोका जा सकता। तर्कके बल साम्यवादको नीचा नही दिखाया जा सकता और न हो-हल्ला मचाकर नारोके बलसे ही उसे दबाया जा सकता है। उसे व्यावहारिक जीवन-दर्शनके बलसे ही दबाया जा सकता है और उसीसे उसे दबाया भी जाना चाहिए। और ऐसा करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि सभी प्रकारके सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अन्यायको दूर करनेके लिए तुरन्त कदम उठाए जायें। पडित नेहरू इस युगके सच्चे मसीहा हैं जब वह यह कहते है, 'राजनैतिक अधीनता, जातीय असमानता, आर्थिक असमानता और दरिद्रता यही वह बुराइया है जिन्हें, यदि हम शान्ति स्थापित करना चाहते हैं तो हमें दूर करना होगा। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एक भूतपूर्व उपराष्ट्रपति श्री हेनरी वैलेस का यह कथन भी उसी प्रकार सच है, 'कोई भी शक्तिशाली विचार—और साम्यवाद एक शक्तिशाली विचार है—बन्दूको और सिक्कोके बलसे नही जीता जा सकता है।'

साम्यवादके सर्वाधिकारवादके कारण उसके विरुद्ध हथियार उठानेका जो नारा रोमन कैथोलिक लोगोने दिया वह अपनी ही छायाके साथ युद्ध करनेके समान है। बात वास्तवमें ऐसी नही है कि साम्यवाद बिल्कुल भौतिकवादी और निरीश्वरवादी है और उसके विरुद्ध जितनी पद्धतिया है वह सब आध्यात्मिक है और परमात्मासे डरनेवाली है। आधुनिक पूजीवादकी कुछ बातें अच्छी है, उदाहरणके लिए बडे परिमाणमें उत्पादन, व्यक्तिगत उपक्रम और नेतृत्वके लिए पर्याप्त अवसरकी व्यवस्था, और कुछ सीमा तक मानव-दयावाद। पर कोई भी यह कहनेका साहस नही करेगा कि पूजीवाद नितान्त ईश्वर-भक्त या ईश्वरसे डरनेवाला और पवित्र है। यदि साम्यवादमें बहुत कुछ स्पष्टत ईश्वर-विरोधी है तो पूजीवाद धार्मिक होनेका दावा करता है पर प्राय व्यवहारमें उसे कार्यान्वित नही करता। असीमित व्यक्तिगत लाभ उसकी नीव और आधारशिला है। कभी-कभी मानवीय मूल्य-महत्त्वोंके प्रति वह बहुत अधिक उदासीन हो जाता है, विशेषकर जब उसके कार्य व्यापार अमानवीय हो जाते है जैसे स्कन्धो (Stocks) और भागो (Shares) तथा विदेशी सम्पत्तिके विनियोगो (Investments) के नियत्रणके माध्यमसे होनेवाले कार्य-कलाप। यदि शक्ति मनुष्यको भ्रष्ट करती है तो सम्पत्ति उससे भी अधिक भ्रष्ट कर देती है।

यदि ससारको साम्यवादके सकटसे बचाना है तो यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत मुनाफ़ेके स्थान पर सामाजिक कल्याणका उद्देश्य प्रतिष्ठित किया जाय। ससारके प्रत्येक देशको और अधिक सहयोग-समितियो तथा समाज-सरक्षक अधिसेवाकी आवश्यकता है।

वह दिन दूर नही है जब सभी देशोमें प्रगतिशील जनमत इस बातकी माग करेगा कि एक न्यूनतम नागरिक मानदड हो जिसके नीचे किसी भी व्यक्तिको न गिरने दिया जाय और सम्भवत यह माग भी की जाय कि एक अधिकतम नागरिक मानदड हो जिसके ऊपर किसी भी व्यक्तिको न जाने दिया जाय, सिवाय उन लोगोके जो अपनी सम्पत्तिका उपयोग और अधिक सम्पत्तिके उत्पादनमें करें जिससे प्रत्यक्षत जनताके एक बहुत बड़े अगका कल्याण हो। यदि अत्यन्त दरिद्रता परमात्मा और मनुष्यके विरुद्ध पाप है तो अत्यधिक सम्पत्ति भी ऐसा ही पाप है। अब उपयुक्त समय आ गया है कि इस रोमन आदर्श वाक्यको व्यवहार-सिद्ध किया जाय, 'व्यक्तिगत सम्पत्ति कम, सार्वजनिक सम्पत्ति अधिक।'

पूजीवादमें एक बुराई यह भी है कि उसमें बरबादी होती है, फिजूलखर्ची होती है और औद्योगिक व्यवस्था को चालू रखनेके लिए ही झूठी और बनावटी आवश्यकताओकी सृष्टिकी जाती है। पूजीवादमें कोई विवेक-पूर्ण राष्ट्रीय योजना या विश्व-योजना नहीं होती। योजना जो कुछ होती है वह पूजीपति और बैंकरकी अनुमतिसे होती है, और वह योजना एकपक्षीय होती है। हमारे युगकी नवीन व्यवस्था, 'सामाजिक उपयोगके लिए आयोजित उत्पादन' की माग करती है। यदि ऐसी योजनाको अमानवीय या यान्त्रिक, अत्याचारी और आत्माको कुचलने वाली नही होने देना है तो यह आवश्यक है कि उत्पादन और उपयोगके प्रारम्भिक स्तरसे आरम्भ किया जाय और क्रमश उच्च स्तरोकी ओर उठाया जाय। राष्ट्रीय और विश्व-योजनाका विकास स्थानीय सामाजिक आधार पर बनी हुई योजनाओकी एक शृखलाके अनुसार होना चाहिए।

विशेषकर पूर्वके देश न तो शुद्ध पूजीवाद चाहते हैं और न वर्तमान रूसी ढगका साम्यवाद। एशियामें भविष्य किसी न किसी रूपमें समाजवादका है। विचारशील व्यक्तियोको सब जगह यह अनुभव करना चाहिए कि ऐसी कोई एक आर्थिक व्यवस्था नही है जो सब देशो और सब समयोके लिए उपयुक्त हो। प्रत्येक देशके लिए अपनी एक व्यवस्था विकसित करना आवश्यक है। इस विकास-क्रममें दूसरी व्यवस्थाओके महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी अशोको लेकर उन्हें राष्ट्रीय परम्परा और राष्ट्रीय प्रतिभाके साथ समन्वित करना होगा।

भारत जैसे विस्तृत और आर्थिक दृष्टिसे पिछडे हुए देशोके लिए यही अच्छा होगा कि वह स्वीडेन, स्विटज़रलैंड और न्यूज़ीलैंड जैसे देशोकी मध्यवर्ती अर्थ-नीतिका अनुसरण करे और उसमें आवश्यक स्थानीय परिवर्तन और सशोधन कर ले। दूसरो पर आक्रमण न करने वाले और असाम्राज्यवादी स्कैंडिनेवियाके देश ससारके आर्थिक जीवन और आर्थिक चिन्तनमें पूजीवाद अथवा साम्यवादकी अपेक्षा अधिक योग दे सकते है।

भारतके लिए एक मिश्रित अर्थ-नीतिका नेहरू का विचार बिल्कुल ठीक विचार है। सबसे ऊचे स्तर पर—बडे-बडे उद्योगो और एकाधिकारी स्वरूप वाले उद्योगो तथा अधि-सेवाओ—जैसे रेलो, डाक-तार-व्यवस्था और सवाहन आदिके स्तर पर—राष्ट्रीय प्रभुत्व और राष्ट्रीय नियन्त्रण होना चाहिए। जो उद्योग देशमें अच्छी प्रकार स्थापित हो चुके हैं और सन्तोष-जनक ढगसे देशकी अच्छी सेवा कर रहे है, उदाहरणके लिए वस्त्र व्यवसाय, उनके लिए यह आवश्यक है कि राजकीय नियन्त्रणके साथ व्यक्तिगत स्वामित्व रहे। जहा व्यक्ति-गत उद्योग देशकी आवश्यकताओकी पूर्ति न कर सके, जैसे भारतमें इस्पातका उद्योग, वहा

यह उचित है कि राज्य व्यक्तिगत उद्योगके स्थान पर अपने उद्योगोका सगठन करे या व्यक्तिगत स्वार्थोंके साथ साझीदार हो जाये। जहा तक भूमिके स्वामित्वका सम्बन्ध है इस सम्बन्धमें दो धारणाए हो ही नही सकतीं कि जमीदारी प्रथाका उन्मूलन होना चाहिए। यद्यपि कुछ क्षेत्रोमें बडे पैमाने पर सामूहिक खेतीके लिए अवसर है फिर भी देशमें प्रचलित व्यवस्था, कृषक स्वामित्वकी होनी चाहिए किसी भी अवस्थामें यह उचित नही हो सकता कि ऐसी जमीदारी व्यवस्था रहे जिसमें जमीदार अपनी जमीनसे अलग रहता हो।

भारतके लिए उपयुक्त मिश्रित नीतिकी एक दूसरी व्यवस्था है गृह-उद्योगोको कायम रखना, उनका विकास और सगठन करना। जब हम यह देखते है कि लगभग ६० लाख ऐसे शिल्पी भारतमें है जो औद्योगीकरणसे उत्पन्न विरोधी परिस्थितियोमें भी टिके रहे हैं तब उन्हें काम अथवा प्रोत्साहनकी कमीसे बेकार और कष्टमें पडे रहने देना एक भूल मालूम देती है। भारतको पश्चिमी राष्ट्रोंका अनुकरण नही करना चाहिए, उसे एक बडे पैमाने पर यान्त्रिक उत्पादनके लोभमें आकर हस्त-शिल्पका बलिदान नही करना चाहिए।

पूजीवादी देशोमें भी अब विशुद्ध पूजीवाद नही रह गया। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें हालके वर्षोमें एकाधिकारो पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए है। कमसे कम एक निश्चित सीमा तक सम्पत्ति और अवसरकी समानता स्थापित करनेके उद्देश्यसे एक नवीन राजस्व-व्यवस्था और सामाजिक सुरक्षा अधिसेवाकी व्यवस्था अपनाई गई है। यद्यपि सहयोग-समितियोका अधिकतर प्रसार अभी नही हुआ फिर भी जैसे-जैसे समय बीतेगा उनका विकास अवश्यम्भावी है।

इगलैंडमें रेलो, कोयलेकी खानो और बैंको आदिके राष्ट्रीयकरणकी दिशामें बहुत अधिक प्रगति हो चुकी है लेकिन अभी वहा पूरा-पूरा समाजवाद नही स्थापित हो सका। व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत लाभकी भावनाका विनाश नही किया गया बल्कि उनका नियत्रण किया गया है।

इसी प्रकार सोवियट राष्ट्र-सघमें परिपूर्ण साम्यवादकी स्थापना नही हुई। सोवियट अर्थ-नीतिको राज्य समाजवाद कहनेके बजाय सरकारी पूजीवाद कहना अधिक ठीक होगा। एक निश्चित सीमाके भीतर व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रचलित है। विभिन्न कार्यों और उत्पादनकी विभिन्न मात्राओंके लिए सापेक्ष पुरस्कारोंका भी प्रचलन है।

इस प्रकार ऐसा दिखायी देता है कि मानो समूचा ससार एक प्रकारकी मध्यवर्ती या मिश्रित अर्थ-नीतिकी दिशामें प्रगति कर रहा है। यदि विभिन्न व्यवस्थाओके पारस्परिक विभेदोको बढा-चढा कर न देखा-कहा जाय, जैसा कि प्राय प्रचारके उद्देश्यसे किया जाता है तो यह सम्भव है कि सोपाधिक पूजीवाद और सोपाधिक साम्यवाद दोनो शान्ति-पूर्वक साथ-साथ रह सकें और एक दूसरेको अधिक उत्पादन, उत्तम विभाजन और उपयोगकी दिशामें प्रेरित कर सकें।

साम्यवादने केवल आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रोमें ही नही वरन् सामाजिक क्षेत्रमें भी आधुनिक ससारको चुनौती दी है। तथाकथित पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राज्य न केवल जातीय भेद-भाव बरतनेके दोषी रहे है बल्कि एक उद्धत साम्राज्यवादका भी टीका उनके मत्थे पर है। इन प्रजातन्त्रवादी राज्योमें से दक्षिणी अफ्रीकाकी यूनियनके कारनामोका लेखा सबसे अधिक निकृष्ट है। न केवल उस देशके वास्तविक न्याययुक्त कानूनी मालिको—

बहुसंख्यक नीग्रो लोगो—का अपमान किया जाता है बल्कि भारतीय अल्पसंख्यकोका भी जिन्हें प्रारम्भमें उस देशके साधनोका स्वयं उसीके हितके लिए विकास करनेके उद्देश्यसे बुलाया गया था। उसकी शासन-व्यवस्थाकी विशेषता है लज्जा-हीन जातीय भेद-भाव (और साम्यवाद उसे एक खुली चुनौती दे रहा है)। ब्रिटेन, फ्रास, पुर्त्तगाल और बेल्जियम द्वारा अफ्रीका का साम्राज्यवादी शोषण—और अब अमेरिकन सम्पत्ति और अमेरिकन कौशल या प्रविधिक सहायताका इस शोषणमें सहयोग—प्रन्यास-व्यवस्थाके बावजूद साम्यवादके लिए एक बडा उपजाऊ और अनुकूल क्षेत्र बना रहा है। कागोनिवासियोके प्रति बेल्जियम वालोका व्यवहार, दक्षिणी-पूर्वी अफ्रीकाके साथ दक्षिणी अफ्रीका का व्यवहार, हिन्द चीनके साथ फ्रासका व्यवहार और मलायाके साथ अगेज़ोका व्यवहार विशेष रूपसे साम्यवादको अपने प्रचारके लिए वह वाछित अवसर, जिसकी उसे बडी आवश्यकता है, दे रहा है। साम्यवादमें इतनी बौद्धिक चतुरता ता है कि जहा तक सम्भव हो वह युद्ध न उभडने दे। पर पश्चिमी प्रजातत्रवादी राज्यो द्वारा बरती जाने वाली जातीय उद्धतता और शोषणसे उसे अपने विकास-विस्तारके लिए जो अवसर मिलता है उसका वह पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है। इसका यह अर्थ नही है कि साम्राज्यवादके सम्बन्धमें सोवियट रूसका इतिहास कुछ ऐसा है जिस पर उसे गर्व हो सके। उसका प्रारम्भ ससार भरके दलितोके मित्रके रूपमें हुआ था। बादमें वह अत्यधिक राष्ट्रीयतावादी हो गया। आज-कल रूस राष्ट्रीयतावादी और आक्रामक साम्राज्यवादी है।

साम्यवादकी एक दूसरी चुनौती राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रोमें है। प्रजातत्र-वादी राज्योकी यह एक सामान्य भूल है कि वह अपने आपको मौलिक अधिकारो और लोकप्रिय प्रभुसत्ताके एकमात्र सच्चे समर्थक और पोषक मानते है। तथ्य यह है कि साम्यवादकी तुलनामें वह नागरिकोको ऐसे अनेक अधिकार देते है जिन्हें साम्यवादी अस्वीकार करते है। पर इसके साथ ही साथ अनेक भ्रष्टाचार भी रहते है। यह सच है कि समाचार-पत्रोको साम्यवादी देशोकी भाति दबाया नही जाता। पर एक न एक प्रकार के निहित स्वार्थ द्वारा उनके ऊपर अप्रत्यक्ष दबाव डाला ही जाता है। यद्यपि विभिन्न समाचार-पत्र एक दूसरेके प्रचारका प्रतिरोध करते है और उसे असत्य सिद्ध करते है फिर भी सब ले-दे कर समाचार-पत्र स्वाधीन नही है। समाचार-पत्र चुने हुए होते है। वह कुछ विशिष्ट दृष्टिकोणो पर अत्यधिक ज़ोर देते है और उन्हीको महत्त्वपूर्ण मानते है और अन्य दृष्टिकोणो तथा विचार-धाराओकी उपेक्षा करते है, भले ही यह उपेक्षित विचार और दृष्टिकोण कही अधिक उपयुक्त और महत्त्वपूर्ण क्यो न हो। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नागरिकोके व्यक्तिगत जीवन पर प्रभाव डालनेमें सरकारका हाथ भले ही हमेशा प्रत्यक्ष रूपसे न दिखाई दे, पर एक राष्ट्रीय उन्मादके दिनोमें स्थानीय समाज, एक अल्पसूचित और कुशलता-पूर्वक सचालित जन-मत तथा अपनी सुरक्षाका ध्यान रखने वाली नौकरी देने वाली एजेंसिया सचमुच अत्याचारी बन सकती है। ऐसे व्यक्तियोकी कथा मालूम है जिन्होने १६४८ के राष्ट्रपतिके चुनावमें हेनरी वैलेस के पक्ष में अपना मत दिया था और जो सर्वदा इस भयसे त्रस्त रहते थे कि कही यह बात खुल न जाय।

इससे भी अधिक बात यह है कि कुछ प्रगतिशील देशोमें प्रजातत्र अपव्ययी सिद्ध हुआ है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें प्राथमिक चुनावो और निर्वाचनोकी जो सख्या देखनेको मिलती है उसके बोझसे भारत जैसे एक निर्धन देशकी कमर टूट जाना तो निश्चित है और

इन निरन्तर वढते हुए व्ययके वावजूद भी प्राय प्रजातन्त्रको इस वातमें सफलता नही मिलती कि राष्ट्रका शासन-सूत्र सभालनेके लिए सत्यवादी, जन-सेवाकी भावनासे प्रेरित और परमात्मासे डरने वाले व्यक्तियोको नेतृत्व सौंपे। जटिल और भ्रष्ट दलगत सगठन और चुनाव-आन्दोलनोके अपरिमित व्ययका परिणाम यह होता है कि प्राय विवेक-शून्य यान्त्रिक राजनीतिज्ञ ही हावी हो जाते है। यदि निर्वाचक मडल पर्याप्त रूपसे स्वस्थ समझदार हो तो वह प्राय इन यान्त्रिक राजनीतिज्ञोको पराजित कर सकता है, पर ऐसा होता नही। इसका इलाज यह नही है कि प्रजातन्त्रको उखाड फेंका जाए वल्कि इसका इलाज यह है कि प्रजातन्त्रीय पद्धतियोको सरल वनाया जाए और जहा तक सम्भव हो व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि राजनीतिज्ञोकी पहुँचसे वाहर कर दी जाए। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में व्यवस्थापिका समितियोके सदस्यो और अध्यक्षोको दिए गए व्यापक अधिकारोको सीमित करना और चरित्र-हत्या (Character assassination) तथा रहस्य-सृष्टिके अवसरोका नियन्त्रण भी इतना ही आवश्यक है। यदि इन वुराइयोका इलाज तुरन्त वैधानिक रीतिसे नही किया जाता तो प्रजातन्त्र और सर्वाधिकारवादमें कोई अधिक अन्तर नही रह जाता।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें जो राष्ट्र आज विश्वकी वर्तमान राजनीतिमें तटस्थ है वह इस वातको स्पष्टत समझ सकते है कि किस प्रकार पश्चिमी दुनियाने अपनी सामर्थ्य भर सोवियट रूसको सवसे अलग काट रखनेकी नीति वरती है। युद्धके दौरानमें भी जव रूस अपना खून पानीकी तरह वहा रहा था और अपरिमित धन-जनकी हानि उठा रहा था तव भी अमरीकी और अग्रेज़ी राष्ट्र-नेताओ द्वारा उस पर कभी भी पूरा पूरा विश्वास नही किया गया। दूसरी ओर इसके वदलेमें रूस भी कभी-कभी कौशल-छल द्वारा अपने ही उद्देश्योकी सिद्धिमें लगा था। युद्धके दौरानमें और तवसे ले कर अव तक अपने श्रेष्ठतर भौतिक साधनोके वलसे अमेरिका ने समूचे ससारमें प्राय प्रत्येक सैनिक महत्त्व वाले स्थान पर अपने जहाजी और हवाई अड्डे स्थापित कर लिए और इस प्रकार रूस पर वरवस यह प्रभाव पडा है कि वह अपने आपको चारो ओरसे घिरा हुआ समझने लगा है। और उसकी दृष्टिमें तृतीय विश्व-युद्धकी पृष्ठभूमि तैयार की जा रही है। अटलाटिक अधिकार-पत्रकी एक प्रधान शर्तको हमेशाके लिए दफना दिया गया है और वह शर्त थी कि ससारके सभी देशोको, शत्रु राष्ट्रोंको भी, कच्चे मालकी प्राप्ति और विश्व-व्यापारमें समान सुविधा दी जाएगी। जव कभी सोवियट रूस निकट और मध्य पूर्वके तेलकी प्राप्तिके लिए आगे वढता है तभी उसे उसके अधिकार-पूर्ण स्थानसे ढकेल दिया जाता है। दर्रे दानियाल जैसे हिममुक्त वन्दरगाहो तक उसे नही पहुँचने दिया जाता।

यह तर्क किया जा सकता है कि यह सभी शिकायतें समझौतेकी वातचीत द्वारा दूर की जा सकती है पर सोवियट ऐसा नहीं चाहता। यह सम्भव है कि अपनी वर्तमान मन -स्थितिमें रूस इन अन्यायोको दूर करानेके लिए समझौतेकी वात-चीत करना पश्चिमी राष्ट्रोंका अनुतोपण समझे। पर जो लोग न्याय, सुनीति और समानताके समर्थक हैं उन्हें 'अनुतोपण' (Appeasement) शब्दसे ही नही डर जाना चाहिए। उन्हें चाहिए कि साहस-पूर्वक वातचीत और समझौतेका रास्ता खोलें। तृतीय विश्व युद्धका खतरा उठाने की अपेक्षा यह कही अधिक वुद्धिसगत और कम खर्चीला मार्ग है।

चीन जैसा देश भूतकालमें अनेक राजवशो और अनेक विचारधाराओको पचा कर अपना वना लेनेकी अपनी शक्तिके लिए प्रसिद्ध रहा है। अपने धार्मिक जीवनमें भी चीनकी

जनता इतना अधिक सहिष्णु और पारस्परिक सहानुभूति-पूर्ण हो गयी है कि चीनी लोग कुछ समय काफ्यूशियनवादी, कुछ समय टाओइस्ट (Taoists) और कुछ समय बौद्ध रह सकते है। उनकी इस विश्व-बन्धुत्व-पूर्ण प्रतिभाको देखकर यह सोचना पडता है कि यदि विदेशी लोग उन्हें बहुत अधिक न घेरें-दबाए तो क्या यह सम्भव नही है कि चीनकी जनता कुछ समय साम्यवादी और कुछ समय पूजीवादी बनी रहे। हो सकता है कि माउत्सेतुग को मार्क्सवादी तीरसे चीनी लक्ष्य भेदनेमें सफलता मिले। ससारको दो परस्पर विरोधी गुटोमें एक तेज धारसे बाट देनेका परिणाम यह होगा कि वर्तमान विभेद दृढ और स्थायी हो जायेंगे और इन वर्गोंको स्वाभाविक विकास, उन्नति और परिवर्तनका अवसर न मिलेगा।

ससारकी वर्तमान विस्फोटक स्थितिमें श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा घोषित दोनो शक्तिशाली गुटोमें से किसी एकमें भी सम्मिलित न होनेकी नीति बिल्कुल ठीक है।[1] इन दोनो गुटोमें से पूर्ण सत्य किसीके भी पक्षमें नही है। अमेरिका और रूस दोनो ही भ्रान्त महाशक्तिया जान पडती है। सभी देशोके राष्ट्रीय नेताओका इस बात पर जोर देना चाहिए कि किसी भी देशके युद्ध प्रारम्भ करने या युद्धमें घसीटे जानेसे पहले सयुक्त राष्ट्र-सघके व्यापक-शान्ति साधनोका पूरा-पूरा उपयोग किया जाये। हालके कुछ वर्षों और महीनोमें ससारकी शान्ति पर प्रभाव डालनेवाले अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय राष्ट्र-सघकी परिधिसे बाहर किये गये है, यद्यपि विनम्रताके दृष्टिकोणसे हमेशा इस बातकी सावधानी बरती गई है कि राष्ट्र-सघके प्रति मौखिक निष्ठामें कमी न आने पाये, और जब कभी राष्ट्र-सघका उपयोग किया भी गया है तो अपने राष्ट्रीय स्वार्थकी सिद्धिके लिए उसका नियत्रण करने के उद्देश्यसे ही।

साम्यवादसे निपटनेकी रचनात्मक विधिया
(Constructive Ways of Dealing with Communism)

सन् १९४८ के राष्ट्रपतिके निर्वाचनमें राष्ट्रपति ट्रूमन ने यह कहा था 'साम्यवादको तभी सफलता मिलती है जब दुर्बलता, दैन्य और निराशा होती है। एक सबल और स्वस्थ समाज में साम्यवादको सफलता नही मिल सकती।' अमेरिकामें विश्रुत रिपब्लिकन जॉन फॉस्टर डुले जो जापानी शान्ति-सन्धिके प्रधान स्रष्टा है, यह कहते है कि साम्यवादका विरोध केवल इसलिए करना कि वह गतिशील है और परिवर्तन चाहता है 'गलत और मूर्खतापूर्ण' है। गलत इसलिए है कि वर्तमान सस्थाए कभी भी पूर्ण नही होती। और मूर्खतापूर्ण इसलिए कि परिवर्तन चाहने वाली शक्तियोके विरुद्ध राज्यको कभी सफलता नही मिलती। श्री डुले आगे चल कर कहते है 'अपनी वर्तमान चुनौतीमें साम्यवाद स्वतत्र समाजोको यथास्थितिके रक्षक सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है और स्वय वह परिवर्तनका पोषक बन जाना चाहता है। हमें अपने आपको इस मृत्यु-जालमें नही फँसने देना चाहिए।'

साम्यवादको रोकनेका सबसे उत्तम उपाय है गरीबीको दूर करना। पूर्वीय देशोको विशेष

---

[1] अभी हाल ही में श्री नेहरू ने कहा था कि भारतकी वैदेशिक नीति है 'शान्तिका अनुगमन, किसी प्रधान शक्ति या शक्तियोके गुटमें सम्मिलित हो करके नही बल्कि प्रत्येक विवादास्पद या सघर्ष-मूलक समस्या पर स्वतत्र दृष्टिकोणसे विचार करके।'

रूपसे एक समृद्ध मध्यवर्गकी आवश्यकता है। जीवनके मानदडोको पर्याप्त रूपसे ऊपर उठाया जाना चाहिए। मजदूरो और किसानोको निर्वाहके योग्य वेतन देना चाहिए। सामाजिक विभेदकी खाइयोको सशोधित राजस्व व्यवस्था द्वारा पाट दिया जाना चाहिए। श्रमिक सघोको मजबूत बनाना चाहिए। ससारके अवसर-वचित समाजको आर्थिक और सामाजिक दासतासे मुक्त और शिक्षित किया जाना चाहिए।[१] सामाजिक सुरक्षा-कानूनो को इस प्रकार विस्तृत किया जाना चाहिए कि बेकारी, खडित नियुक्ति या सविराम नियुक्ति (Intermittent Employment), वृद्धावस्था, आकस्मिक दुर्घटना, बीमारी तथा मृत्युके विरुद्ध बीमा भी उसमें सम्मिलित हो जायें। यदि सशोधित पूजीवाद को प्रचलित अर्थ-नीति बनाना है तो समय-समय पर होनेवाले 'अभिवृद्धियो और अभावो' के दौरको रोकनेके साधन खोजे जाने चाहिए। व्यापारिक अवरोधोको कम किया जाना चाहिए जिससे भविष्यमें समूचा ससार एक मुक्त-व्यापार-क्षेत्र बन जाय। व्यापारी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग दोनोको ही ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपने वर्गगत स्वार्थोसे ऊपर उठ सके और अपने आपको एक दूसरेका साझीदार और विस्तृत उपभोक्ता समाज के न्यासधारी (Trustees) समझ सकें। समाचार-पत्रोके अनुत्तरदायित्व और एकागी-पन और व्यावसायिक तथा सैनिक वर्गोकी लुटेरी वृत्ति पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए जाने चाहिए। सरकारी नौकरीमें लिए जाने वाले व्यक्तियोका निर्वाचन होना चाहिए और सेवा तथा चारित्रिक दृढताकी शिक्षा उन्हें दी जानी चाहिए। पौर-अधिसेवाका भ्रष्टाचार और उसकी स्वार्थपरता वह कीडे है जो सबसे अधिक शक्तिमान् सगठनको मिट्टीमें मिला सकते है। जब पौर-अधिसेवकोका वेतन और उन्हें मिलने वाले भत्ते जनताकी औसत आमदनीसे काफी उच्च स्तरके हो तब उनकी काट-छाट और उन पर होने वाले नियत्रण में कोई सकोच या कमी न होनी चाहिए। अर्थ-नीति और राजनीति दोनोका ऐसा विकेन्द्रीकरण होना चाहिए जिससे स्थानीय समाजोमें नवजीवन और क्रिया-शक्तिका सचार हो। कृषक-आन्दोलनोको मजबूत बनाया जाना चाहिए और रचना-मूलक लक्ष्योंकी ओर उन्हें प्रेरित किया जाना चाहिए। वर्गो और वर्गोके अभद्र विभागो तथा निकृष्ट जातीय भेद-भावोको मिटा कर उनके स्थान पर बन्धुत्वकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। धर्म और पूजाका सम्बन्ध जीवनकी प्रत्येक अवस्था और मानव-जातिकी आवश्यकताओसे स्थापित किया जाना चाहिए। नि शस्त्रीकरण पूरी शक्तिसे लागू किया जाना चाहिए। अनुभव स्पष्ट रूपसे सिद्ध करता है कि युद्धकी तैयारीका अर्थ है युद्धका आह्वान।

इन सभी परिवर्तनोकी सिद्धि बडी धीमी या मन्द मालूम हो सकती है लेकिन सफलता अथवा न्याय-युक्त शान्तिके लिए कोई तुरन्त सिद्धिका मार्ग नहीं है। रूसके साथ युद्ध एक छोटा और सरल मार्ग मालूम पडता है, पर अनुभव यह बताता है कि प्राय सरल और छोटे मार्ग सबसे अधिक दुर्गम और जटिल सिद्ध हुए है और लक्ष्य बहुत दूर पड गया है। श्री मार्टिन इबन (Martin Ebon), जिनके प्रति उपरिलिखित सुझावोमें कुछके लिए हम

---

[१] फिलिपाइन्स के हक लोग (Huks) इसलिए असतुष्ट है कि वहाकी सरकारने जो कि प्रधानत बडे-बडे भूस्वामियों द्वारा नियन्त्रित रहती है, किसानोकी हालत सुधारने के लिए कोई कदम नही उठाया। समृद्ध लोगो पर लगाया आय-कर नगण्य है, इसका अर्थ यह है कि सरकारका बोझ अधिकाश रूपमें गरीबोको ही उठाना पडता है।

ऋणी हैं बिल्कुल ठीक कहते हैं, 'आखिरी स्थितिमें एक ट्रैक्टर टैंककी अपेक्षा श्रेष्ठतर शस्त्र है। एक अग्निवर्षककी अपेक्षा अगीठीमें जलने वाली आग जीवनमें अधिक ऊष्णता लाती है।'

Select Readings

Bazilevich, K. V.—*A History of the U. S. S. R.*
Berdyaev, N.—*The Russian Idea.*
Beuer, G.—*New Czechoslovakia.*
Bothereau, R.—*Histoire du Syndicalisme Francais.*
Burns, E.—*What is Marxism.*
Carr, E. H.—*The Twenty Year's Crisis*, 1919-1939.
Cole, G. D. H.—*What Marx Really Meant.*
Crankshaw, E.—*Russia and the Russians.*
Dallin, D. J.—*The Rise of Russia in Asia*
Dobb Maurice—*Studies in the Development of Capitalism.*
Gorer, G. & J. Rickman—*The People of Great Russia*
Hunt, R. N. C.—*The Theory & Practice of Communism.*
Koestler, A.—*The Yogi & the Commissar.*
Plamenatz, J.—*What is Communism.*
Marx, Karl—*Selections from his Writings*
Stalin, J.—*Leninism*
Schlesinger, R.—*The Spirit of Post-war Russia.*
Stratchey, J.—*The Theory & Practice of Socialism.*
Timasheff, N. S.—*Religion in Soviet Russia*
Towster, J.—*Political Power in the U. S. S. R*
Trotsky, L.—*Stalin*
Webb, S. & B.—*Soviet Communism*

१८

संयुक्त राष्ट्र-संघ
(The United Nations)

१ सगठन (Organisation)

सयुक्त राष्ट्र-सघके निर्माणकी तैयारीमें राष्ट्र-सघकी अपेक्षा वहुत अधिक कार्य किया गया। उसका प्रारम्भ १९४१ में अटलाटिक-अधिकार पत्रसे हुआ और उसकी पूर्णता १९४५ में सैनफ्रेंसिस्को-सम्मेलनमें हुई। सयुक्त राष्ट्र-सघके अधिकार-पत्रकी सामान्य रूप-रेखा १९४४ के डम्बर्टन ओक्स-सम्मेलन (Dumbarton Oaks Conference) में तैयार की गई। सैनफ्रेंसिस्को-सम्मेलनमें इस रूप-रेखामें काफी परिवर्तन किए गए। इसी सम्मेलनने ससारको वर्तमान सयुक्त राष्ट्र-सघका अधिकार-पत्र दिया।

इस अधिकार-पत्रमें १११ छोटी धाराए है। अधिकार-पत्रकी प्रस्तावनामें सयुक्त राष्ट्र-सघके मौलिक उद्देश्य निर्धारित किए गए है। इसका प्रारम्भ बडे महत्त्वपूर्ण शब्दो से हुआ है। 'महानुवन्धके पक्षभूत राष्ट्रो' के स्थान पर 'हम सयुक्त राष्ट्रोंके लोग' शब्दोका प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्र-सघ (League of Nations) की अपेक्षा सयुक्त राष्ट्र-सघ (United Nations Organisations) ससारके जन-समाजके नाम पर काम करता है। पर इस शाब्दिक अन्तरको वहुत अधिक महत्त्व नही देना चाहिए क्योकि राष्ट्र-सघके सदस्य अव भी सदस्य-राज्य है जो सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतत्र है। राष्ट्र-सघकी भाति सयुक्त राष्ट्र-सघ भी सदस्य-राज्योसे अपनी प्रभुता समर्पित करनेकी कोई माग नही करता। सयुक्त राष्ट्र-सघ 'सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्योका ऐच्छिक सगठन है।' यह अविश्वासके विरुद्ध एक अभियान है। यह एक अधिराज्य (Super-state) नही है।

सदस्यता (Membership)

सयुक्त राष्ट्र सघके सदस्योकी प्रारम्भिक सख्या ५० थी। तवसे १० सदस्य और बढे है। हिन्देशिया अभी तक अन्तिम सदस्य है। सदस्यताका द्वार सभी शान्तिप्रिय राज्योके लिए खुला हुआ है। उन्हें वर्तमान अधिकार-पत्रमें उल्लिखित सभी दायित्वोको स्वीकार करना चाहिए और सदस्यताके सभी उत्तरदायित्वोको पूरा करनेके लिए तैयार और समर्थ होना चाहिए। नए सदस्योकी भर्ती सुरक्षा-परिषद्के अभिस्ताव (Recommendation) पर राष्ट्र-सघकी आम सभाके दो तिहाई वहुमतसे की जाती है। सुरक्षा-परिषद्में 'पाच वडे राज्यो' (चीन, फ्रास, ब्रिटेन, अमेरिका और रूस) में से कोई भी अपने निषेधाधिकार (Veto power) का प्रयोग कर सकता है। पिछले पाच वर्षोमें सोवियट रूस द्वारा कई वार इस सम्वन्धमें निषेधाधिकारका प्रयोग किया गया है।

सदस्योंके निकाले जाने और सदस्यता स्थगित करनेके सम्वन्धमें भी व्यवस्था की गई

एक स्थगित राज्य सयुक्त राष्ट्र-सघकी जिन सस्थाओंका सदस्य हो उनकी बैठकोमें
मलित नही हो सकता। वह न्याय (Trust) का सचालन नही कर सकता। सदस्यों
न:सृति अर्थात् संघसे बाहर निकल जानेके सम्बन्धमें कोई निश्चित विधान नही बनाया
।

संयुक्त राष्ट्र-संघके अग (The Organs of the United Nations)

ट्र-सघके तीन प्रधान अग थे—सभा, परिषद् और सचिवालय। सयुक्त राष्ट्र-सघके
धान अग है—ग्राम सभा, सुरक्षा-परिषद्, आर्थिक परिषद् और सामाजिक परिषद्,
ास-समिति और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय + सचिवालय।

ग्राम सभा (The General Assembly)

म सभा सयुक्त राष्ट्र-सघका ऐसा एकमात्र अग है जिसमें सघके सभी सदस्योको
ानिधित्व प्राप्त है। प्रत्येक सदस्यको पाच प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार है। इन पाच
ानिधियोमें से एक प्रतिनिधिको वोट देनेका अधिकार था। सभाका अधिवेशन निय-
ा रूपसे प्रतिवर्ष एक बार होता है। सभाके विशेष अधिवेशन सुरक्षा-परिषद् अथवा
ट्र-सघके सदस्योंके बहुमतकी प्रार्थना पर बुलाए जा सकते हैं। सभा तात्त्विक रूपसे एक
र्श-मूलक सस्था है और केवल अभिस्ताव (Recommendation) कर सकती है।
न्ति और सुरक्षाके मामले प्राय अपवर्जित रूपसे (Exclusively) सुरक्षा परिषद्
सौंपे गए हैं और जब सुरक्षा-परिषद् इन मामलो पर विचार कर रही हो तब सभा
उनके सम्बन्धमें अभिस्ताव करनेका भी अधिकार नही है। अपने विमर्षात्मक अधिकारो
अतिरिक्त सभाको प्रशासकीय, निर्वाचन सम्बन्धी और बजट या आय-व्ययक सम्बन्धी
धिकार भी प्राप्त है। सभा अधिकार-पत्रमें सशोधन किए जानेके प्रस्ताव करनेका भी
धिकार रखती है।

सभाके मत-दानकी पद्धतिमे राष्ट्र-सघकी पद्धतिकी अपेक्षा कुछ प्रगति की गई है।
ष्ट्र सघकी ग्राम सभा (League Assembly) में निर्णयोके लिए सर्वसम्मत मत-
न आवश्यक था अर्थात् उपस्थित और वोट देनेवाले सदस्योकी सर्वसम्मति आवश्यक थी,
अब सयुक्त राष्ट्र-सघकी ग्राम सभामें महत्त्वपूर्ण प्रश्नोके सम्बन्धमें उपस्थित और
ट देनेवाले सदस्योंके दो तिहाई बहुमतसे निर्णय किए जाते हैं।

राजनीतिके क्षेत्रमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके उत्थान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधानके प्रगति-
ील विकास और उसके सग्रहण (Codification) के सम्बन्धमें अभिस्ताव (Re-
ommendation) करने तथा अध्ययनका उपक्रम करनेके व्यापक अधिकार सभाको
ए गए हैं। 'नि शस्त्रीकरणका सचालन और शस्त्रास्त्रोका नियमन करनेवाले सिद्धान्तों'
र विचार करने तथा उनके सम्बन्धमें अभिस्ताव करनेका अधिकार भी सभाको प्राप्त है।
४वी धाराके अन्तर्गत सभाको यह अधिकार दिया गया है कि 'ऐसी किसी भी परि-
यतिके शान्ति-पूर्ण सुलझावके लिए बिना उस स्थितिकी उत्पत्तिको ध्यानमें रखते हुए
ो, उपायोको अभिस्तावित करे, जिसे वह सार्वजनिक कल्याण अथवा राष्ट्रोंके पारस्परिक
त्रीपूर्ण सम्बन्धोके लिए बाधक समझती है।'

अपने सगठनात्मक कर्त्तव्योमें सभा सुरक्षा परिषद्के अस्थायी सदस्योका निर्वाचन करती

है, आर्थिक और सामाजिक परिषद्के सदस्योको चुनती है और प्रन्यास-परिषद्के निर्वाचित सदस्योको चुनती है। सुरक्षा-परिषद्के अभिस्ताव पर वह राष्ट्र-सघके महामत्रीको नियुक्त करती है। सुरक्षा-परिषद्के साथ स्वतत्र रूपसे वोट देकर वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशोका निर्वाचन करती है।

आम सभा राष्ट्र-सघके अन्य अगोसे रिपोर्ट प्राप्त करती है और उन पर विचार करती है। महामत्री अपनी वार्षिक रिपोर्ट भी सभाके सम्मुख पेश करता है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा प्रन्यास-परिषद् उसके अधीन काम करती है। समूचे सगठन के आय-व्ययक (वजट) पर सभा विचार करती है और उसे स्वीकार करती है तथा सदस्य-राष्ट्रोमें व्ययका बटवारा करती है।

अधिकार-पत्रमें सशोधन आम सभा द्वारा या राष्ट्र-सघके सदस्योंके सार्वजनिक सम्मेलन द्वारा किए जा सकते है। आम सभाके कुल सदस्यो (केवल उपस्थित और वोट देनेवाले नही) के दो तिहाई मत-दान द्वारा स्वीकृत सशोधनोके लिए यह आवश्यक होता है कि सुरक्षा-परिपद्के सभी स्थायी सदस्यो समेत राष्ट्र-सघके सदस्य राष्ट्रोके दो तिहाई बहुमत द्वारा वह स्वीकार कर लिए जायें तभी वह प्रभाव-पूर्ण हो सकते है। अधिकार-पत्रमें सशोधन करनेका एक दूसरा मार्ग यह है कि आम सभाके दो तिहाई मतसे तथा सुरक्षा-परिषद्के किन्ही सात सदस्योके मतसे सार्वजनिक सम्मेलन बुलाया जाये और वह सशोधन स्वीकार करे। यदि आम सभाके १०वें वार्षिक अधिवेशन तक ऐसा कोई सम्मेलन नही बुलाया जाता तो आम सभाके १०वें अधिवेशनकी कार्य-सूचीमें ऐसा सम्मेलन बुलानेका प्रस्ताव अपने आप सम्मिलित कर लिया जाता है। यदि आम सभाके दो तिहाई वोट और सुरक्षा-परिषद्के किन्ही सात सदस्योके वोटसे ऐसे सम्मेलनके बुलानेका निश्चय हो जाता है तो सम्मेलन बुलाया जाता है।

कोई सशोधन, चाहे वह दोमें से किसी भी पद्धतिसे स्वीकार किया गया हो, सुरक्षा-परिषद्के सभी स्थायी सदस्यो समेत राष्ट्र-सघके दो तिहाई सदस्यो द्वारा स्वीकृत किया जाना चाहिए।

आम सभाकी प्रभविष्णुता (Effectiveness of the General Assembly). यद्यपि सभाका प्राथमिक कार्य 'विचार करना, विमर्श करना और अभिस्ताव करना' है फिर भी उसे किसी प्रकार भी प्रभाव-हीन सस्था नही कहा जा सकता। उसकी नैतिक अधिकार-सत्ता निरन्तर बढती गयी है। यह 'ससारका नगर सम्मेलन' है। एक दूसरे समकालीनके शब्दोमें यह 'ससारकी मुक्त चेतना' है। यह 'आलोचक, पर्यालोचक और अतिदर्शक (Overseeing) विभाग है, पर वह कार्यकारिणी नही है।' सुरक्षाके मसलो में कार्यपालक विभाग सुरक्षा-परिषद् है और सभा केवल 'एक विमर्शक और आलोचक सस्थान' है। पर सुधार और कल्याणके मामलोमें सभा सर्वोपरि है।

सुरक्षा-परिषद् (The Security Council)

सुरक्षा-परिषद् प्राय अपवर्जित ढगसे ऐसी समस्याओको या ऐसे मसलोको हल करती है जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके स्थायित्वसे होता है। इस सम्बन्धमें परिषद्के अधिकार राष्ट्र-सघकी परिषद् (League Council) के अधिकारोकी

अपेक्षा अधिक व्यापक और अधिक सुनिश्चित हैं। इसकी निश्चित सदस्य-संख्या है, कुल ११ सदस्य होते हैं जिनमें पाच स्थायी सदस्य होते हैं 'जो पाच बड़े राष्ट्रो' के प्रतिनिधि होते हैं। इन पाचो स्थायी सदस्योंमें से प्रत्येकको सभी तात्त्विक प्रश्नोंके सम्बन्धमें निषेधाधिकार प्राप्त रहता है। अस्थायी सदस्य आम सभा द्वारा चुने जाते है। इनका कार्य-काल दो वर्षका होता है और तीन सदस्य प्रतिवर्ष चुने जाते हैं। यह सदस्य तुरन्त ही दुबारा चुनावके लिये नही खडे हो सकते। परिषद्का अधिवेशन निरन्तर चलता रहता है। १४ दिनसे अधिकका अन्तर परिषद्की बैठकोमें नही पडना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके स्थायित्वका उस पर प्रधान उत्तरदायित्व है, पर यह उत्तरदायित्व अपवर्जित (Exclusive) नही है। राष्ट्र-सघके सदस्य पहलेसे ही इस बातको स्वीकार कर लेते है कि वह सुरक्षा-परिषद्के प्रतिनिधित्व और उसके निर्णयोसे बाध्य होगे यद्यपि परिषद्में उन्हे प्रतिनिधित्व नही प्राप्त है।

राष्ट्र-सघके सदस्यो पर एक दूसरेकी प्रादेशिक अखडता और राजनीतिक स्वाधीनता की रक्षा करनेका कोई निश्चित उत्तरदायित्व नही लादा गया जैसा कि राष्ट्र-सघके सदस्यो पर लादा गया था।

सुरक्षा-परिषद्का प्रधान कर्त्तव्य शान्ति पूर्ण समझौता कराना है और इसलिये अनुज्ञप्तियो (Sanctions) का सहारा लेनेके पहले वह समझौता-वार्ता जाच-पडताल, मध्यस्थता, परामर्श, पचायती फैसला, अदालती निर्णय और प्रादेशिक एजेंसियो या व्यवस्थाओ का सहारा लेती है। सुरक्षा-परिषद्की सहायताके लिये एक सैनिक अधिकारि-समिति (Military Staff Committee) स्थापित की गयी है जो पूर्व योजना और बहित्र-कार्य (Staff Work) से परिषद्की सहायता करती है। इसमें परिषद्के पाच स्थायी सदस्य-राष्ट्रोंके महाबलाधिकृत (Chiefs of Staff) सम्मिलित होते हैं पर जब तक पाचो बडे राष्ट्र स्वीकार न कर लें तब तक कोई भी सैनिक कार्यवाही मान्य नही होती।

अधिकार-पत्रकी ५२वी धारामें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके स्थायित्वमें सहायता देनेके लिये प्रादेशिक व्यवस्थाकी आयोजना की गयी है। आक्रमण होने पर सदस्योको तब तक व्यक्तिगत और सामूहिक आत्मरक्षाका अधिकार है जब तक सुरक्षा-परिषद् कोई कार्यवाही नही करती, पर आत्मरक्षाके लिए जो भी कार्यवाही की जाय उसकी सूचना सुरक्षा-परिषद्को पर्यालोचन और उचित कार्यवाहीके लिये तुरन्त दी जानी चाहिए। आत्मरक्षाके अधिकारसे सुरक्षा-परिषद्का यह अधिकार और उत्तरदायित्व नही समाप्त हो जाता कि वह 'अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके स्थायित्व अथवा पुनर्स्थापनके लिए किसी भी समय ऐसी कार्यवाही, जो उसे आवश्यक समझ पडे, करे।'

ऐसे न्याय-क्षेत्रोंके निरीक्षणका अधिकार भी सुरक्षा-परिषद्को प्राप्त है जिन्हे 'सामरिक महत्त्व' का माना गया है। सुरक्षा-परिषद्के स्थायी सदस्य प्रन्यास-परिषद्के भी अपने आप ही सदस्य हो जाते है।

सुरक्षा-परिषद्के अन्य कर्त्तव्य (Other Functions of the Security Council). एक साथ ही पर स्वतन्त्र रूपसे वोट देकर सुरक्षा-परिषद् और आम सभा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके न्यायाधीशोका निर्वाचन करती हैं। राष्ट्र-सघके महामन्त्रीकी नियुक्ति आम सभा सुरक्षा-परिषद्के अभिस्ताव (Recommendation) पर करती है।

सुरक्षा-परिषद् आम सभाको वार्षिक और विशेष रिपोर्टें भेजती है। परिषद् आर्थिक और सामाजिक परिषद्की सहायताके लिये भी प्रार्थना कर सकती है। सैनिक महत्त्व वाले क्षेत्रोंके सम्बन्धमें वह न्यास-परिषद्की सहायताके लिए भी प्रार्थना कर सकती है। किसी भी वैधानिक मसले पर वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयसे परामर्श-मूलक सम्मति माग सकती है।

सुरक्षा-परिषद्का सगठन (Organisation of the Security Council). अंग्रेज़ी वर्णमालामें अपने नामोंके क्रमके अनुसार सदस्य-राष्ट्रोंके बीच परिषद्के सभापतित्वका मासिक चक्रानुवर्तन होता है। परिषद् अपनी कार्य-पद्धतिके नियम स्वय ही बनाती है और अपने कर्त्तव्योंकी पूर्तिके लिये वह आवश्यकतानुसार सहायक उपांगो (Subsidiary organs) की स्थापना करती है।

सुरक्षा-परिषद्को अपनी रिपोर्ट भेजने वाले अग है—सैनिक अधिकारि-समिति (Military Staff Committee), परम्परागत आयुध-समिति, स्थायी समितिया (Standing Committees) और तदर्थ समितिया अथवा आयोग (Ad hoc Committees or Commissions)। परम्परागत आयुध-आयोग शस्त्रास्त्रों तथा सज्जित सेनाओंके सामान्य नियत्रण तथा उनके कम करनेके सम्बन्धमें परिषद्के सम्मुख अपने प्रस्ताव पेश करता है।

दो स्थायी समितिया है। यह परिषद्के ११ सदस्योंके प्रतिनिधियोंको मिला कर बनती हैं। इनमेंसे एक प्रवर-समिति (Committee of Expert) है जो कार्यविधिके नियमोंसे सम्बन्धित है। दूसरी स्थायी समिति नए सदस्योंकी भर्तीसे सम्बन्धित है।

जनवरी, सन् १९४६ में आम सभा द्वारा स्थापित 'अणुशक्ति-आयोग (Atomic Energy Commission)' सुरक्षा-परिषद्को अपनी रिपोर्टें भेजता है और शान्ति तथा सुरक्षाके स्थायित्व पर प्रभाव डालने वाले मामलोंके सम्बन्धमें उससे निर्देश प्राप्त करता है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(The Economic and Social Council)

यदि सुरक्षा-परिषद्का उद्देश्य ससारको भयसे मुक्त करना है तो आर्थिक और सामाजिक परिषद्का उद्देश्य उसे अभावसे मुक्त करना है। जैसा कि किसी ने ठीक ही कहा है, 'यह परिषद् वाचाल,सुरक्षा-परिषद्की मौन जोडी (Silent twin) है।' इसके १८ सदस्य होते है जो आम सभा द्वारा तीन वर्षके लिए चुने जाते है। साधारण स्थितियोंमें प्रतिवर्ष इसकी तीन बैठकें सयुक्त राष्ट्र सघके केन्द्र-स्थानमें होती है। अपने निर्णयके अनुसार यह परिषद् अन्यत्र भी अपने अधिवेशन कर सकती है। अपनी कार्य-पद्धतिके नियम यह परिषद् स्वय ही बनाती है और अपने सभापति और उपसभापतिका निर्वाचन करती है। यह परिषद् केवल अभिस्ताव ही कर सकती है।

अधिकार-पत्रकी ५५वी धारामें यह व्यवस्था है कि परिषद् आम सभाके अधिकारमें काम करती हुई निम्नलिखित बातोंके विकास और उत्थानके लिये उत्तरदायी है

'(क) जीवनके उच्च मानदड, पूर्ण नियोजन या सबके लिए कामकी व्यवस्था (Full Employment) और आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति और विकासके लिये उपयुक्त परिस्थितिया,

'(ख) अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य-विषयक तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओंका सुलझाना, और अन्तर्राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा शिक्षा-मूलक सहयोग,

'(ग) विना जाति, लिंग, भाषा और धर्मका कोई विभेद किये सबके लिए मानव-अधिकारों और मौलिक स्वाधीनताओंकी विश्वव्यापी स्वीकृति और उन अधिकारोंका सम्मान।'

आर्थिक और सामाजिक परिषद्के कुछ विशेष कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं

(१) अपनी विषय-सीमाके भीतर आने वाले सभी विषयों—आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी, स्वास्थ्य-विषयक तथा सम्बन्धित मामलों—का यह परिषद् अध्ययन या उसका उपक्रम करती है और उनके सम्बन्धमें रिपोर्ट देती है।

(२) यह परिषद् आम सभाको अथवा सदस्य-सरकारों अथवा प्रौढ समितियों या एजेंसियोंको अभिस्ताव भेजती है।

(३) यह आम सभाके सम्मुख प्रारूप-प्रतिश्रव (Draft Conventions) उपस्थित करती है जो स्वीकार किये जानेके बाद सदस्य-राज्योंके पास स्वीकृति और कार्यान्वितिके लिए भेजे जाते हैं।

(४) अपने कर्त्तव्योंकी पूर्तिके लिए वह आयोगोंको संगठित करती है।

(५) अपनी अधिकार-सीमाके भीतर आने वाले विषयोंके सम्बन्धमें वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनोंका प्रबन्ध करती है।

इसके प्रधान कर्त्तव्य हैं सुरक्षा-परिषद्को सूचना देना और प्रार्थना किये जाने पर अन्य प्रकारसे सहायता करना। प्रन्यास-परिषद्को परिषद् तथा विशिष्ट एजेंसियोंसे सहायता प्राप्त करनेका अधिकार है।

परिषद्का काम अनेक आयोगोंकी स्थायी समितियों, तदर्थ समितियों और विशिष्ट संस्थाओंके माध्यमसे होता है। यह सभी परिषद्को अपनी रिपोर्ट देती हैं। आयोग दो प्रकारके होते हैं कार्यात्मक और प्रादेशिक। प्रथम प्रकारके आयोगोंके अन्तर्गत निम्न-लिखित आयोग आते हैं आर्थिक और नियोजन सम्बन्धी आयोग, यातायात और संवाहन-आयोग, सांख्यकीय आयोग (Statistical Commission), मानव-अधिकार-आयोग, महिलाओंकी सामाजिक स्थिति, प्रमीलीय औषधियों (Narcotic Drugs), राजकोषीय और जन-संख्या सम्बन्धी आयोग। इनमें से कुछ आयोगोंके अधीन उप-आयोग (Sub commissions) होते हैं। प्रादेशिक आयोग निम्नलिखित हैं :

योरोपके लिए आर्थिक आयोग, एशिया और सुदूर-पूर्वके लिए आर्थिक आयोग और लातीनी अमेरिका (Latin America) के लिए आर्थिक आयोग। मध्य-पूर्वके लिए एक आर्थिक आयोगकी प्रस्तावना की गयी है।

चार स्थायी समितियां निम्नलिखित हैं. समझौता-वार्ता सम्बन्धी समिति—इसकी अपनी अन्तरशासकीय (Inter-Governmental) एजेंसियां हैं। गैरसरकारी संस्थाओंसे परामर्शकी व्यवस्था करने वाली समिति, कार्य-सूची-समिति और संयुक्त राष्ट्र की बच्चोंके लिए अपील करने वाली समिति।

प्रवर-समितियां (Specialised Agencies).

अधिकार-पत्रकी ५७वी धारामें विभिन्न प्रवर-समितियोंकी व्यवस्था की गयी है जो

अन्तरशासकीय समझौतेके आधार पर स्थापित की गयी है। इन समितियोको उनके मौलिक अधिकार-पत्रकी व्याख्याके अनुसार आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी, सास्कृतिक, स्वास्थ्य तथा अन्य सम्बन्धित क्षेत्रोमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व दिये गये है। यह समितिया अधिकार-पत्रकी ६३वी धाराके अनुसार सयुक्त राष्ट्र-सघसे सम्बन्धित की जायगी।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् इन एजेंसियोके साथ समझौता-वार्ता करती है और उन शर्तोको निश्चित करती है जिनके अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघके साथ उनका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। पर इसके इन कार्योंके लिए आम सभाकी स्वीकृति आवश्यक होती है। परिषद् इन प्रवर-समितियोंके कार्योको इन समितियोके साथ परामर्श करके और आम सभा तथा राष्ट्र-सघके सदस्योके पास अभिस्ताव भेज करके समन्वित करनेका प्रयत्न करती है। जो प्रवर-समितिया या सगठन स्थापित हो चुके है या स्थापित हो रहे है वह यह है

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन (The International Labour Organisation)।

(२) खाद्य और कृषि-सगठन (The Food and Agriculture Organisation)।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि (The International Monetary Fund)।

(४) पुनर्निर्माण और विकासके लिए अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष या बैंक (The International Bank for Reconstruction and Development)।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन-सघ (The International Civil Aviation Organisation)।

(६) सयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान और सस्कृति-सघ (The United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation)।

(७) विश्व-स्वास्थ्य सघ (The World Health Organisation)।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी-सगठन (The International Refugee Organisation)।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सगठन (The International Trade Organisation)।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्र परामर्श-सगठन (The International Maritime Consultative Organisation)।

(११) विश्व-प्रेष-सघ (The Universal Postal Union)।

(१२) अन्तर्राष्ट्रीय दूर-सवाहन-सघ (The International Telecommunications Union)।

(१३) विश्व-अन्तरिक्ष-विज्ञान-सघ (The World Meteorological Organisation)।

कुछ गैरसरकारी सगठनोको भी आर्थिक और सामाजिक परिषद्के साथ परामर्श-मूलक सगठनोकी स्थिति दी गयी है। यह सगठन तीन श्रेणियोके है

(क) वह सगठन जिन्हें परिषद्के अधिकाश कार्योंसे मौलिक अभिरुचि है और जो

उन क्षेत्रोंके मौलिक, आर्थिक और सामाजिक जीवनसे घनिष्ठ रूपमें सम्बन्धित हैं जिनका वह प्रतिनिधित्व करते है। उदाहरणके लिए अमेरिका का श्रमिक सघ।

(ख) वह सगठन जिनमें एक विशेष क्षमता है जो प्रधानत परिषद्के कार्य-क्षेत्रमे आने वाली कुछ थोडी सी कार्यवाहियोंसे ही सम्बन्धित है। ऐसे सगठनोके कुछ उदाहरण है अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिके लिए कारनेगी प्राभृत (Carnegie Endowment for International Peace); अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर चर्च-आयोग (Commission of the Churches on International affairs), अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास-समिति, प्रजातत्रीय युवक-सगठनका विश्व-सघ (World Federation of Democratic Youth) और विश्व-यहूदी सम्मेलन (World Jewish Congress)।

(ग) वह सगठन जो प्रधानतः जन-मतके विकास और समाचारोके प्रचारसे सम्बन्धित हैं। इस प्रकारके सगठनोंके उदाहरण है माध्यमिक अध्यापकोका विश्व-सघ और अन्तर्राष्ट्रीय चक्रगोष्ठी (Rotary International)।

प्रन्यास-परिषद् (The Trusteeship Council)

न्यास-प्रदेश और स्वशासन वचित क्षेत्र (Trust Territories and Non Self-Governing Areas)

स्वशासन-वचित क्षेत्रोका शासन करने वाले सयुक्त राष्ट्र-सघके सदस्य, चाहे वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रन्यास-व्यवस्थाके अधीन हो या नही, इस बातको स्वीकार करते है कि वह इन प्रदेशोका शासन इस ढगसे करेंगे कि 'उन प्रदेशोके निवासियोंके सुधार व कल्याण' अधिकसे अधिक सिद्ध हो सके। इस उद्देश्यसे वह वायदा करते हैं कि

(१) इन प्रदेशोके निवासियोकी अपनी देशीय सस्कृतियोको किसी प्रकार भी हानि पहुचाए बिना उनका राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी विकास व उत्थान सिद्ध व सुरक्षित करेंगे,

(२) उनके साथ न्यायका व्यवहार करेंगे और दुरुपयोगसे उनकी रक्षा करेंगे,

(३) स्वशासनका विकास करेंगे और वहाके निवासियोको अपने स्वतत्र राजनैतिक सस्थाओका विकास करनेमें सहायता देंगे,

(४) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाकी अभिवृद्धि करेंगे,

(५) सम्बन्धित प्रदेशोके आर्थिक, सामाजिक और वैज्ञानिक विकासकी सिद्धिके लिए रचनात्मक विकास-योजनाओको प्रोत्साहित करेंगे। शोध-कार्योको सहायता और प्रोत्साहन देंगे और परस्पर एक दूसरेके साथ तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रवर-सस्थाओके साथ सहयोग करेंगे, और

(६) सम्बन्धित प्रदेशोकी सुरक्षा और साविधानिक दृष्टिकोणसे जो प्रतिबन्ध आवश्यक जान पडें उनको मानते हुए प्रन्यास-व्यवस्थासे बाहर जो स्वशासन-वचित देश हैं उनकी आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी परिस्थितियोंके सम्बन्धमें सांख्यिक और अन्य प्राविधिक सूचना नियमित रूपसे महामन्त्रीके पास उनकी जानकारीके लिए भेजेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रन्यास-व्यवस्था (International Trusteeship System)

यह व्यवस्था उन प्रदेशो पर लागू होती है जो न्यासधारी देशो और सयुक्त राष्ट्र-सघके बीच व्यक्तिगत रूपमें किये गए समझौतोके अनुसार इस व्यवस्थाके अधीन रखे गए है। इस प्रकारसे शासित होने वाले क्षेत्रोको प्रन्यास-प्रदेश कहा जाता है। यह व्यवस्था उन प्रदेशो पर नही लागू होती जो सयुक्त राष्ट्रके सदस्य होते है।

इस व्यवस्थाके चार उद्देश्य है

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाकी अभिवृद्धि करना,

(२) जनताका राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उत्थान करना और स्वशासन अथवा स्वाधीनताकी दिशामें उनका निरन्तर क्रमिक विकास करना ,

(३) मौलिक मानव-अधिकारोंके प्रति सम्मान बढाना और ससारकी जातियोंके बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्धकी स्वीकृतिको प्रोत्साहित करना, और

(४) राष्ट्र-सघके सभी सदस्य राष्ट्रोके बीच समानताके व्यवहारको सुरक्षित करना और उन देशोके नागरिकोके बीच सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक मामलो तथा न्यायाधिकरणमें उस हद तक समानताका व्यवहार सुरक्षित रखना जिस हद तक प्रन्यास-व्यवस्थाके अन्य उद्देश्योकी सिद्धिसे उसका मेल बैठता हो।

प्रन्यास-परिषद् (The Trusteeship Council)

इस परिषद्में निम्नलिखित सम्मिलित रहते है

(१) सुरक्षा-परिषद्के स्थायी सदस्य चाहे वह न्यास-क्षेत्रो पर शासन करते हो या नही ,

(२) राष्ट्र-सघके वह सदस्य-राष्ट्र जो न्यास-क्षेत्रो पर शासन करते है ,

(३) अन्य वह सदस्य राष्ट्र जो आम सभा द्वारा न्यासधारी सदस्यो और अन्यास-धारी सदस्योमें समानता बनाये रखनेके लिए चुने जाते है। इस परिषद्की बैठकें प्रतिवर्ष दो बार होती है। सदस्योके बहुमतकी प्रार्थना पर विशेष अधिवेशन होते है। उपस्थित और वोट देने वाले सदस्योके बहुमतसे निर्णय किये जाते है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice)

अनेक दृष्टियोसे यह न्यायालय राष्ट्र-सघ (League of Nations) के तत्त्वावधान में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालयका ही अनुवर्तन (Continuation) है। स्थायी न्यायालय राष्ट्र-सघ (League) का एक 'स्वायत्त अधिकार-पूर्ण अग' था, वर्त्तमान न्यायालय सयुक्त राष्ट्र-सघका एक प्रधान अग है। इसका कार्य इसकी सविधि (Statute) के अनुसार होता है और इस सविधिका आधार राष्ट्र-सघके स्थायी न्यायालयकी सविधि है।

सयुक्त राष्ट्र-सघके सभी सदस्योकी पहुच स्वय सीधे न्यायालय तक है। सुरक्षा-परिषद् द्वारा अभिस्तावित (Recommended) और आम सभा द्वारा स्वीकृत शर्तोके अनुसार वह राष्ट्र भी न्यायालयमे काम ले सकते है जो राष्ट्र-सघके सदस्य नही है। केवल राष्ट्र ही न्यायालयसे काम ले सकते है।

किसी राष्ट्रके विरुद्ध कोई अभियोग लगाये जानेसे उसे बरबस न्यायालयके सम्मुख नही लाया जा सकता। प्रतिवादी राज्यको न्याय-विचारके लिए सहमत होना चाहिए। न्यायालयको राष्ट्रो पर अनिवार्य न्यायाधिकार नही प्राप्त है। राष्ट्र-सघके सदस्य इस बातके लिए बाध्य नही है कि वह अपने अभियोग न्यायालयके सम्मुख ले जायं। पर, वह इस बातके लिए स्वतत्र है कि परस्पर कोई सन्धि करते समय पहलेसे ही यह शपथ कर लें कि जब कभी सन्धिकी व्याख्याके सम्बन्धमें कोई विवाद उठेगा तो वह इस न्यायालयका सहारा लेंगे।

'वैकल्पिक धारा (Optional Clause)' पर हस्ताक्षर करके राष्ट्र इस बातके लिए अपनेको वचनबद्ध कर सकते है कि कुछ विशेष प्रकारके अभियोगोंके लिए वह न्यायालयका उपयोग करेंगे। ऐसे अभियोगोका सम्बन्ध निम्नलिखितसे रहता है ·

(क) 'सन्धिकी धाराओकी व्याख्या,

(ख) 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान-क्षेत्रसे सम्बन्ध रखने वाले सभी अभियोग,

(ग) 'किसी ऐसे तथ्यका अस्तित्व या स्थिति जो, यदि प्रतिष्ठित या स्थापित हो जाये तो, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व और कर्त्तव्यको भग कर देगी,

(घ) 'किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या कर्त्तव्यका उल्लघन करनेके अपराधमें की जाने वाली क्षति-पूर्तिका स्वरूप और उसकी मात्रा।'

न्यायालयके अधिकार-क्षेत्रमें वह सभी अभियोग आते है जिन्हे सम्बन्धित पक्ष उसके सम्मुख उपस्थित करना चाहे और वह मामले भी जिनकी सयुक्त राष्ट्र-सघके अधिकार-पत्रमें, प्रचालित सन्धियो या सप्रतिज्ञाओ (Conventions) में स्पष्ट व्यवस्था की गई है। जहा तक और चूकि इस न्यायालयकी सविधि स्थायी न्यायालयकी सविधि पर आधारित है इसलिए, उसी हद तक, सन्धियो और सप्रतिज्ञाओमें जिन मामलोको स्थायी न्यायालयके सम्मुख उपस्थित करनेकी शर्त थी वह मामले अब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके अधिकार-क्षेत्रमें आते है। राष्ट्र-सघमें सदस्योके बीच होने वाले झगडोंके लिए यह आवश्यक नही है कि हमेशा उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयके सम्मुख उपस्थित किया ही जाय। उन्हे ऐसे न्यायालयोंके सम्मुख भी उपस्थित किया जा सकता है जो पहलेसे ही वर्तमान है या जो भविष्यमें स्थापित किये जायेंगे।

न्यायालयके निर्णयका आधार (Basis of the Court's Decision)

अभियोगोका निर्णय करनेमें न्यायालय निम्नलिखितका प्रयोग करता है

(१) अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराए, चाहे वह सामान्य हो और चाहे विशिष्ट,

(२) अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा;

(३) सभ्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत विधानके सामान्य सिद्धान्त, और

(४) न्यायिक निर्णय (Judicial decisions) तथा विभिन्न राष्ट्रोंके योग्यतम लेखकों-विचारकोंके उपदेश।

जहा दोनो सम्बन्धित पक्ष सहमत हो वहा न्यायालय न्यायके सिद्धान्तो और सम्बन्धित राज्योके सार्वजनिक कल्याणके विचारोका प्रयोग कर सकता है।

न्यायालयके निर्णय (Decisions of the Court). सयुक्त राष्ट्र-संघके अधिकार-पत्रके अनुसार प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र स्वीकार करता है कि जिस किसी अभियोग

से एक पक्ष-रूपमें वह सम्बन्धित होगा उसके सम्बन्धमें न्यायालयके निर्णयका वह पालन करेगा। न्यायालय द्वारा किये गये निर्णयके अनुसार यदि एक पक्ष अपने दायित्व और कर्त्तव्यको पूरा करनेके लिए तैयार है और दूसरा पक्ष उससे इन्कार करता है या वैसा करनेके लिए अनिच्छुक है तो जो पक्ष अपना दायित्व पूरा करनेके लिए तैयार है वह इस मसलेको सुरक्षा-परिषद्के सम्मुख उपस्थित कर सकता है। सुरक्षा-परिषद् न्यायालयके निर्णयको कार्यान्वित करनेके लिए स्वय कदम उठा सकती है या अभ्यस्ताव कर सकती है। न्यायालय इस बातका भी सकेत कर मकता है कि किसी पक्षके अधिकारोकी रक्षा के लिए कौनसे अस्थायी उपाय किये जाने चाहिए। न्यायालयके निर्णय केवल उन्ही राष्ट्रो पर लागू होते है जो निर्णीत अभियोगके वादी और प्रतिवादी होते है। न्यायालयका निर्णय अन्तिम निर्णय होता है।

परामर्श मूलक सम्मतिया (Advisory Opinions) जब कभी उससे कहा जाता है, न्यायालय वैधानिक समस्याओंके सम्बन्धमें अपनी परामर्श-मूलक सम्मति देता है। आम सभा और सुरक्षा-परिषद् सीधे प्रत्यक्ष रूपमें ऐसी प्रार्थना कर सकती है। राष्ट्र-सघके अन्य अगो और विशेषज्ञ या प्रवर-समितियोके लिए यह ज़रूरी होता है कि अपने कार्य-क्षेत्रमें आने वाले वैधानिक प्रश्नोको हाथमें लेनेसे पहले आम सभासे उसके लिए अधिकार प्राप्त कर ले।

सचिवालय (The Secretariat)

महामत्रीकी नियुक्ति सुरक्षा-परिषद्के अभ्यस्ताव पर आम सभा करती है। आम सभा, सुरक्षा-परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा प्रन्यास-परिषद्की बैठकोमें वह इसी हैसियतसे काम करता है। सुरक्षा-परिषद्, आम सभा तथा आम सभाके विशेष अधिवेशन बुलानेके सम्बन्धमें, स्वशासन वचित प्रदेशोका शासन करने वाले देशोसे रिपोर्ट प्राप्त करने व सन्धियोके पजीवद्ध करने (Registration) और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशोके चुनावके सम्बन्धमें महामत्रीको अनेक कर्तव्य पूरे करने होते हैं। उसके विशिष्ट विशेषाधिकारोमें से एक यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षाके स्थायित्वके लिए जिस किसी भी समस्याको घातक समझता हो उसकी सूचना सुरक्षा-परिषद्को दे सकता है। सयुक्त राष्ट्र-सघके अधिकार-पत्रके अनुसार सगठनके कार्य-कलापोंके सम्बन्धमें आम सभाके सम्मुख एक वार्षिक रिपोर्ट पेश करना उसके लिए आवश्यक है। प्रथम महामत्रीकी नियुक्ति पाच वर्षकी अवधिके लिए हुई थी। अवधि समाप्त होने पर वह फिर चुना जा सकता है।

कर्मचारीवर्ग (The Staff)

आम सभा द्वारा निर्धारित आनियमो (Regulations) के अनुसार महामत्री सचिवालयके कर्मचारियोकी नियुक्ति करता है। नियुक्ति करते समय कुशलता, योग्यता और चारित्रिक दृढताके उच्चतम मानदडोका ध्यान रखा जाता है। न्यायोचित भौगोलिक विभाजन का भी ध्यान नियुक्तिया करते समय रखा जाता है। महामत्री और कर्मचारीवर्गमें से किसीको भी किसी भी सरकार या ऐसी अधिकार-सत्तासे कोई भी निर्देश प्राप्त करने या मागनेकी अनुमति नही है जो राष्ट्र-सघके सगठनसे बाहर हो।

दूसरी ओर राष्ट्र-सघके सदस्य-राष्ट्र भी अपनी ओर से इस बातका वायदा करते है कि वह महामन्त्री और उसके कर्मचारीवर्गके अनन्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूपका सम्मान करेंगे और अपने कर्त्तव्यो और दायित्वोकी पूर्तिमे उन्हे किसी प्रकार भी प्रभावित नही करेंगे।

२. कार्य-निष्पादन (Operation)

सयुक्त राष्ट्र-सघके कार्योका मूल्यांकन करते समय यह अच्छा होगा कि हम निन्दा-वृत्ति और अत्यधिक आशावादिता दोनोसे ही अपनेको अलग रखें। निन्दा-वृत्ति वाले कहते है कि सयुक्त राष्ट्र-सघको वास्तवमें विभाजित राष्ट्र-सघ कहना चाहिए। यदि हम राष्ट्र-सघको केवल उस सख्याके आधार पर परखें जितनी बार सुरक्षा-परिषद्में निषेधाधिकारका प्रयोग प्रमाद-पूर्वक किया गया है तब तो यह आलोचना निश्चित रूपसे सही दिखायी देगी। पर दूसरी ओर अनेक राजनैतिक कठिनाइयोको हल करनेमें सुरक्षा-परिषद्के माध्यमसे भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण पर दिखावटसे शून्य काम किया गया है। सयुक्त राष्ट्र- सघके कुछ उत्साही समर्थक दूसरी ओर उसे एकदम प्रशसाका पात्र बता कर बिल्कुल दूसरे छोर पर पहुच जाते हैं। उन्हे भी इस बातको स्वीकार करना होगा कि अब तक सयुक्त राष्ट्र-सघको सीमित और सोपाधिक सफलता ही मिली है। यद्यपि राष्ट्र-सघकी सफलताओ पर विचार करते समय इस बातका भी ध्यान रखा जाता है कि उसके सदस्योंने उसका कैसा प्रयोग किया फिर भी कुछ लोगोको, परिणाम-स्वरूप, यह विश्वास होने लगता है कि यह सयुक्त राष्ट्र-सघ भी उसी सकटमें पड सकता है जिसमें पिछला राष्ट्र-संघ (League of Nations) फस गया था।

१ राजनैतिक और सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र (Political and Security Fields).

जिस प्रकार राष्ट्र-सघको प्रधान सफलताए अराजनैतिक क्षेत्रमें ही प्राप्त हुई थी, उसी प्रकार इस समय तक सयुक्त राष्ट्र-सघको भी विशेषज्ञ या प्रवर-समितियो और आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओके सुलझावमें लगे हुए कुल आयोगोंके कार्योमें ही अधिक सफलताए प्राप्त हुई है। फिर भी राजनीति और सुरक्षाके अपेक्षाकृत कठिन क्षेत्रोमें भी कुछ महत्त्वपूर्ण लाभ हुए हैं। हिन्देशिया, फिलिस्तीन, काश्मीर और सम्भवत ईरानमें भी सयुक्त राष्ट्र-सघको युद्धका निवारण करने, उसे बन्द करने अथवा उसे कम कर देनेमें सफलता प्राप्त हुई है। कोरिया में वह उत्तरी कोरिया और चीनके विरुद्ध युद्ध करता रहा है। अन्य स्थानो पर उसे झगडो और अशान्तियोको सीमाबद्ध करनेमें और इस प्रकार एक सार्वजनिक युद्धकी सम्भावनाका निवारण करनेमें सफलता मिली है। पर यह तर्क भी किया जा सकता है कि ससारकी महाशक्तियोने अभी तक युद्ध प्रारम्भ नही किया तो इसलिए नही कि सयुक्त राष्ट्र-सघकी सत्ता उन्हे रोकती है बल्कि इसलिए कि किसी न किसी रूपमें वह अपने आपको युद्धके लिए पूरी तरहसे तैयार नही समझ पा रहे।

राजनैतिक तथा सुरक्षा सम्बन्धी क्षेत्रोमें अब तक पूरे किये गये कार्योंके ठीक-ठीक मूल्याकनके लिए पर्याप्त स्थान नही है फिर भी नीचे दी हुई तालिका यह स्पष्ट कर देगी कि सयक्त राष्ट्र-सघके अब तकके उद्योग बिल्कुल तुच्छ ही नही रहे, इस तालिकाका प्रत्येक

विषय सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा पूरे किए गए एक तात्त्विक कार्यका प्रतिनिधित्व करता है '

(१) ईरानकी समस्या, (२) सीरिया और लेबोनान, (३) यूनान, (४) फिलिस्तीन, (५) हिन्देशिया, (६) भारत-पाकिस्तान-समस्या, (७) बर्लिन, (८) कॉरफू चैनेल समस्या (The Corfu Channel Question), (९) स्पेन, और (१०) कोरिया।

ऊपर लिखे गये सभी मामलोमें सयुक्त राष्ट्र-सघको ऐसी समस्याओमें मध्यस्थता करनेमें काफी सफलता मिली जो अन्यथा बहुत अधिक भयानक स्थितिया उत्पन्न कर सकते थे।

लिखते समय तक कोरिया की समस्या हल नही की जा सकी। सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा भेजे गये कोरियाई आयोगके अनुसार, जिसने मौके पर जा कर जाच की थी, उत्तरी कोरिया ने २५ जून, सन् १९५०, को दक्षिणी कोरिया पर हमला किया था। सुरक्षा-परिषद्ने उत्तरी कोरिया को युद्ध बन्द करने, ८० अश उत्तरी अक्षाशसे उत्तर अपनी सेनाए वापस ले जाने की आज्ञा दी। चूंकि उत्तरी कोरिया ने इसे अनसुना कर दिया इसलिए सुरक्षा-परिषद्ने राष्ट्र-सघके सदस्य-राष्ट्रोको शक्तिका प्रतिरोध शक्ति द्वारा तथा अन्य सम्भव उपायो द्वारा करनेके लिए आज्ञा दी। सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने इस सम्बन्धमें अगुआका काम किया और जनरल मैक आर्थर को सयुक्त राष्ट्र सघका सेनापति बनाया गया। अभी हाल ही में राष्ट्रपति ट्रूमन ने उनके स्थान पर जनरल रिजवे को भेजा था।

एक वर्षसे अधिक हुआ कि युद्ध चल रहा है। राष्ट्र-सघके १५ सदस्य सैनिक युद्धमें लगे हुए हैं और २५ अन्य सदस्य दूसरे रूपोमें सहायता कर रहे हैं। दूसरे पक्षमें चीन प्रधान शक्ति है। उसका दावा यह है कि मचूरिया के इतने निकट कोरिया में युद्ध होना चीनकी सुरक्षा और अखडताके लिए एक खतरा है।

युद्धमें दोनो ही पक्षोको सैनिक विजयो और पराजयोका स्वाद मिला है। लिखते समय शान्ति है। युद्ध-विराम-सन्धिकी व्यवस्था करनेके लिए कई सप्ताहोसे एक सम्मेलन हो रहा है पर अभी तक उसका कोई परिणाम नही निकला। कुछ ऐसा नही मालूम होता कि दोमें से कोई पक्ष भी शान्तिके लिए उत्सुक हो। दोनों ही इस बातकी घातमें है कि अपना अधिकतम सम्भव लाभ सिद्ध कर लें।

एक दृष्टिसे यह युद्ध महाशक्तियोके सघर्षमें एक घटना-मात्र है। दूसरी दृष्टिसे उसे प्रजातन्त्र और साम्यवादका सघर्ष कहा जा सकता है।

२. राजनैतिक गत्यावरोध (Political Impasses).

सयुक्त राष्ट्र-सघके सम्मुख आने वाले कई प्रश्न गत्यावरोधकी स्थितिमें पहुच गये हैं। इन समस्याओका हल न मिलनेका कारण यह नहीं है कि उनका समाधान करने वाली कोई आवश्यक समर्थ सस्था नही है। इससे अधिक इसके कारण है राज्यों द्वारा अपनी प्रभुता पर और निहित स्वार्थ वाले वर्गोंके अधिकारो पर जोर देने वाले पुराने प्रश्न। स्थान-सकोचके कारण हमें फिर इन प्रश्नोकी सक्षिप्त सूची-मात्र देनी पडेगी

(१) दक्षिण अफ्रीका की यूनियनमें भारतीयोके साथ होने वाला व्यवहार, (२) ...ी-पूर्वी अफ्रीका, (३) अणुशक्ति-आयोग, (४) शस्त्रास्त्रोका नियन्त्रण और उनमें

कमी करना, (५) सयुक्त राष्ट्र-सघका सज्जित सैन्य-वल (कोरियाकी समस्याने इस प्रश्नको वहुत कुछ सरल कर दिया है), (६) नए सदस्योकी भर्ती, (७) निषेधाधिकारके प्रयोगका परिसीमन।

३. आर्थिक क्षेत्रमें संयुक्त राष्ट्र-संघकी विशेषज्ञ समितियां (Specialised Agencies of the U. N. in the Economic field)

जून सन् १९४६ में आर्थिक और सामाजिक परिषद्ने वरवाद क्षेत्रोके आर्थिक पुनर्निर्माणके सम्वन्धमें एक अस्थायी उप-आयोग (Temporary Sub-Commission) स्थापित किया। इस आयोगकी वैठकें २९ जुलाईसे १३ सितम्वर तक लन्दनमें हुई। इसी वर्ष वादमें इस आयोगने परिषद्के सम्मुख एक रिपोर्ट उपस्थित की। इस रिपोर्टमें आयोगने जन-शक्ति, खाद्यान्न, कृषि, ईन्वन और विद्युत् शक्ति, प्रधान उद्योग, मकान, यातायात, अर्थ-नीति और मुद्रा तथा व्यापार सम्वन्धित दीर्घकालीन और अल्पकालीन समस्याओका विवेचन किया। आयोगने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके लिए कुछ उपायो का भी अभिस्ताव किया जिनमें योरोपके लिए एक आर्थिक आयोग स्थापित करनेका भी सुझाव था। इस अस्थायी उप-आयोग तथा उसके अन्तर्गत काम करने वाले गुटोकी उपपत्तियो (Findings) के परिणाम-स्वरूप एशिया तथा सुदूर-पूर्वके वरवाद इलाको का अध्ययन करनेके लिए भी आयोगोकी स्थापना की गई। अफ्रीकाके लिए भी एक आयोग स्थापित करनेकी योजना थी पर वह कभी कार्यान्वित न हो सकी। आम सभाके अभिस्ताव पर आर्थिक और सामाजिक परिषद्ने निम्नलिखित समितियोकी स्थापना की योरोपके लिए आर्थिक आयोगकी विशेषज्ञ-समिति, एशिया और सुदूर-पूर्वके लिए आर्थिक आयोग, और वादमें, लातीनी अमेरिकाके लिए आर्थिक आयोग। मध्य-पूर्वके लिए एक आर्थिक आयोगकी स्थापनाके प्रश्न पर विचार करनेके लिए ७ मार्च, सन् १९४८ ई०, को परिषद् ने एक तदर्थ-समिति (Ad hoc Committee) स्थापित की।

इन तीनो सम्वद्ध आयोगोंमें से प्रत्येकने विशेष रूपसे अध्ययन किया है और सम्वन्धित देशोको वहुत सुन्दर सुझाव दिये हैं। योरोपमें इसके परिणाम-स्वरूप सहयोग-मूलक व्यवस्थाओंके द्वारा उत्पादनका मानदड काफी ऊचा हो गया है, उदाहरणके लिए इस्पात का उत्पादन १५ लाख टन वढ गया। कोयला, लकडी और कच्ची धातुओ जैसे प्राकृतिक साधनोको यह आयोग सदस्य-राष्ट्रोमें विभाजित करता है। वह योरोपीय राज्य भी, जो सयुक्त राष्ट्र-सघके सदस्य नही है इस आयोगसे परामर्श ले सकते है। इसके सहयोगमूलक उद्योगोके कुछ उदाहरण यह है : इगलैंडने अपने कुछ भाडयान (Freight Cars) जर्मनीके फ्रासीसी क्षेत्रको दिए, इटलीसे कुशल श्रमिक लाये गये, जर्मनी के अमेरिकन क्षेत्रसे वाष्प-परावप (Steam-shovels) और वुल्डोजर (Bulldozers) भेजे गये। अमेरिका ने प्रविधिज्ञो (Technicians) को भेज कर एक और सहायता की। अन्तर्राष्ट्रीय वैक द्वारा प्राप्त कर्जोसे योरोपके एक वहुत वडे भागके आर्थिक पुनर्निर्माणमें वहुत वडी सहायता मिली है।

एशिया और सुदूर-पूर्वके आर्थिक आयोगका प्रधान कार्यालय वैकॉकमें है। अन्य सयुक्त राष्ट्रीय सगठनोकी भाति इस आयोगको भी अपनी इच्छाओ या सम्मतियोको

लागू करानेके लिए कोई वैधानिक अधिकार नही प्राप्त है। आर्थिक और सामाजिक परिषद्के सामान्य निरीक्षणके अन्तर्गत जो कुछ भी निर्णय यह आयोग करता है उन्हें सम्बन्धित राज्योकी स्वीकृतिसे ही कार्यान्वित किया जा सकता है। यह आयोग अपने प्रदेशके राज्योको एकत्रित करता है और अपने क्षेत्रकी समस्याओंका विवेचन करनेके लिए उन्हें प्रेरित करता है, और यह एक ऐसा काम है जिसे इन राज्यो ने पहले कभी नही किया। यह एक ऐसा फड या मच (Forum) है जिस पर उस प्रदेशकी सरकारे सामूहिक रूपसे अपनी सामान्य आर्थिक समस्याओंका विवेचन कर सकती है। इस आयोगके निर्धारित कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं

(१) सम्मिलित कार्योंका उपक्रम करना और उनमें सम्मिलित होना,

(२) आर्थिक और प्रौद्योगिक (Economic and technological) समस्याओ तथा विकास-सम्बन्धी प्रश्नोंके सम्बन्धमें खोज और अध्ययन-कार्योंको स्वय करना या और लोगोको उन्हें करनेके लिए प्रेरित करना, और

(३) आर्थिक, औद्योगिक और सांख्यिक (Statistical) सूचनाओंके सग्रह, मूल्याकन और प्रसारका कार्य स्वय करना या प्रोत्साहित करना।

इस आयोगका कार्य निम्नलिखित विभागोमें होता है—कृषि, औद्योगिक विकास, प्राविधिक शिक्षण (Technical training) और सहायता, व्यापारकी उन्नति बाढ़का नियत्रण और शोध-कार्य।

लातीनी अमेरिकाके लिए स्थापित आर्थिक आयोगका कार्य भी वैसा ही है जैसा अन्य दोनो आयोगोका। यह आयोग भी उस प्रदेशके विभिन्न राष्ट्रोंके बीच परस्पर उनके आर्थिक साधनोंके क्षेत्रमें और अधिक अच्छा सहयोग और सन्तुलन स्थापित करनेके कार्य में मुख्य रूपसे लगा हुआ है।

अर्थ तथा वृत्ति (Employment) सम्बन्धी आयोग ससारकी आर्थिक स्थितियो तथा गति-विधिके सम्बन्धमें नियमित रूपसे अपनी रिपोर्ट देता है। प्रार्थना किये जाने पर राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) राष्ट्र-सघके विभिन्न विभागोको राजकोषीय मामलोंके सम्बन्धमें प्राविधिक परामर्श, सूचना और सहायता देता है। इस क्षेत्रमें दो अक प्रकाशित हो चुके हैं।

अन्य विशेषज्ञ विभाग है साख्यिक आयोग जो अपने नामानुसार साख्यिक सूचनाओ का सग्रह करता है, यातायात और सवाहन-आयोग जिसकी कार्य-परिधिके भीतर उड्डयन (Aviation), दूर-सवाहन (Tele-communications), डाक, जहाजी और देशी यातायात-सम्बन्धी मसले आते हैं।

हमारे पास इतना स्थान नही है कि आर्थिक क्षेत्रमें उपरिलिखित तथा अन्य विशेषज्ञ समितियोंके कार्योका विवेचन करें, यद्यपि इतना कहना ही पडेगा कि इस क्षेत्रमें तथा सामाजिक, मानवतावादी तथा सास्कृतिक क्षेत्रोमें सयुक्त राष्ट्र-सघने बहुत ही उत्तम कार्य किया है। विशेष रूपसे उल्लेखनीय कार्य, पुनर्निर्माण और विकासके लिए स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय बैंकका है जिसका उद्देश्य है पुनर्निर्माण और विकासके लिए-पूजी सुलभ बनाना और व्यक्तिगत वैदेशिक धन-विनियोग (Investment) को प्रोत्साहित करना आदि। इस बैंककी प्राधिकृत पूजी (Authorised capital) एक सौ अरब डालर है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि (International Monetary Fund), कृषि और खाद्य-सगठन,

विश्व-अन्तरिक्ष-विज्ञान सगठन (Meteorological Organisation) तथा अन्य सगठनोने उल्लेखनीय कार्य किये है।[1]

४ सामाजिक, मानवतावादी तथा सास्कृतिक क्षेत्रोकी विशेषज्ञ समितियां (Specialised Agencies in the Social Humanitarian and Cultural Fields).

यदि सभी सरकारोका तथा सयुक्त राष्ट्र-सघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनका प्रधान कर्त्तव्य मनुष्यके सुधार और कल्याणमें उन्नति करना है तो मानव-अधिकारोका प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। राष्ट्र-सघ (League of Nations) ने सभ्य जीवनके लिए कुछ विशिष्ट अधिकारो पर विचार किया था पर सयुक्त राष्ट्र-सघने अनेक सास्कृतिक अधिकारोको भी सम्मिलित कर लिया है।

इन तथाकथित सास्कृतिक अधिकारोके सम्वन्धमे आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् द्वारा कई वार अध्ययन-कार्य कराया गया। परिणाम-स्वरूप मानव-अधिकारोका अन्तर्राष्ट्रीय विधेयक तैयार किया गया। सावधानी-पूर्वक विचार करनेके बाद आम सभाने १० दिसम्बर, सन् १६४८, को मानव-अधिकारोका एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया। इस घोषणामें एक अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर मानव-जातिकी जन्मजात स्वाधीनताओ तथा उसके अधिकारो की परिभाषा की गयी है। इनकी सूचीमें निम्नलिखित सम्मिलित है जीवनका अधिकार, व्यक्तिकी स्वाधीनता और सुरक्षा, निष्पक्ष न्याय-विचारका अधिकार, अकारण गिरफ्तारी से मुक्तिका अधिकार, न्यायके समक्ष समानता और उससे समान सरक्षणका अधिकार, आवागमनकी स्वाधीनताका अधिकार, राष्ट्रीयताका अधिकार, सम्पत्तिके स्वामित्वका अधिकार, विचार, विवेक और धर्मकी स्वाधीनताका अधिकार, सम्मति और और अभि-व्यक्तिकी स्वाधीनताका अधिकार, सभा और सगठनकी स्वाधीनताका अधिकार, अपने देशकी सरकारमें भाग लेनेका अधिकार, सामाजिक सुरक्षाका अधिकार, काम पाने, स्वतत्रता-पूर्वक काम चुननेका और समान कार्यके लिए समान वेतन पानेका अधिकार, विश्राम और अवकाश-प्राप्तिका अधिकार, जीवनके एक उपयुक्त मानदडका अधिकार; और शिक्षा पाने तथा अपने देशके सास्कृतिक जीवनमें भाग लेनेका अधिकार।

इनमें से अनेक अधिकारोको 'शब्द-मात्र' कहा गया है पर शब्दोमे जैसे-जैसे समय बीतता है वैसे-वैसे शक्ति और अर्थ-सम्पन्न होते जानेकी प्रवृत्ति होती है। आर्थिक और सामाजिक आयोगने मानव-अधिकार-आयोगसे मानव-अधिकारो तथा उन्हे कार्यान्वित करनेके लिए प्रारूप उपायो (Draft measures) के सम्बन्धमें एक प्रारूप प्रतिश्रव तैयार करनेके लिए कहा। यदि इन मानव-अधिकारोको अन्तर्राष्ट्रीय विधान द्वारा प्राप्त और सुरक्षित किया जा सके और यदि यह अधिकार न्यायालयो द्वारा कार्यान्वित किया जा सके तो ससारकी जनताके लिए न्यायको सुलभ बनानेकी दिशामें यह हमारा बहुत बडा कदम होगा।

---

[1] इन समितियो या विभागो, उनके कर्त्तव्यो और उनकी सफलताओका सम्यक् अध्ययन करनेके लिए पाठकको सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा प्रकाशित बैकग्राउड-पेपर्स (Background Papers) देखना चाहिए।

इन स्वाधीनताओंके प्रश्नोंसे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट मामलोंमें कई एक कदम उठाये गये हैं और अब भी प्रगति हो रही है। निम्नलिखित समस्याओंके सम्बन्धमें इसी तालिकाके अन्तर्गत अध्ययन हो रहा है अल्पसंख्यकोंके अधिकार, बलात् श्रम और दास-प्रथा, वृद्धावस्थाके अधिकार, जाति-हत्या, स्त्रियोंकी सामाजिक स्थिति, स्त्रियोंके लिए शिक्षाके अवसर, विवाह तथा सामाजिक प्रश्न। संयुक्त राष्ट्र-संघका अन्तर्राष्ट्रीय शिशु-आपातिक-कोष (International Children's Emergency Fund) और शिशुओंके लिए की गयी संयुक्त राष्ट्र-संघकी अपील, संसारके सुविधा-वंचित शिशुओंको सहायता देने वाले उद्योगोंमें से है।

सामाजिक, मानवतावादी तथा सांस्कृतिक क्षेत्रोंमें किये गये संयुक्त राष्ट्र-संघके कार्योंका मूल्यांकन करते समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन, संयुक्त राष्ट्र-संघके शिक्षा सम्बन्धी सामाजिक तथा सांस्कृतिक संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी-संगठन द्वारा किये गये कार्योंका भी विचार करना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संगठनका विकास राष्ट्र-संघ (League of Nations) से सम्बन्धित स्वायत्त-अधिकार-प्राप्त संस्थासे हुआ है। इसका मूल संविधान वारसाईकी सन्धि तथा अन्य शान्ति-सन्धियोंका अंग था। युद्धकालीन वर्षोंमें भी इसका कार्य बराबर चलता रहा और अब यह संयुक्त राष्ट्र-संघका एक विशिष्ट विभाग है।

संयुक्त राष्ट्र संघके शिक्षा-समाज-संस्कृति-संगठनका विकास राष्ट्र-संघके अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग-संगठन (International Intellectual Co-operation Organisation) से हुआ है, यद्यपि इसका कार्य-क्षेत्र अधिक व्यापक और इसकी प्रभावात्मिकता अधिक है। इस संगठनकी पृष्ठ-भूमि १९४५ में लन्दनमें होने वाले एक सम्मेलनमें तैयार की गई थी और इस संगठनका जन्म नवम्बर १९४६ में हुआ। इसका सम्बन्ध शिक्षा-सम्बन्धी, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक जीवनके पुनर्निर्माणसे तथा राष्ट्रीय सीमाओंका बन्धन तोड़ कर समाचार, यात्रा, शिक्षा, सांस्कृतिक विचार-विनिमय, मानव सम्बन्धों तथा सामाजिक सम्बन्धों और प्राकृतिक विज्ञानों आदिके मुक्त प्रवाहसे है।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठन (The World Health Organisation) राष्ट्र-संघ (League of Nations) के स्वास्थ्य विभागोंका आधुनिक प्रतिरूप है। इस संगठनका जन्म ७ अप्रैल १९४८ में हुआ था और इसके ६७ सदस्य हैं। सोवियट रूस भी पहले कुछ दिनों तक इसका सदस्य रहा है पर बादमें वह इस संगठनसे बाहर निकल गया है। इसके कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्योंमें सहयोग और सन्तुलन स्थापित करना, इन कार्योंको प्रोत्साहित करना, महामारी, स्थानिक रोगों (Endemic) तथा अन्य बीमारियोंको दूर करना, पोषक भोजन, रहनेके मकानोंकी व्यवस्था, सफाई, मनोरंजन, आर्थिक परिस्थितियां और काम करनेकी परिस्थितियां तथा परिस्थिति-मूलक स्वास्थ्यसे अन्य पक्षोंके विकासको प्रोत्साहित करना, भोजन तथा जीव-विज्ञानीन (Biological) और भेषजीय (Pharmaceutical) तथा अन्य ऐसे ही उत्पादनों के सम्बन्धमें अन्तर्राष्ट्रीय मानदंडोंको निश्चित, स्थापित और उत्साहित करना।

अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी-संघकी स्थापना युद्धके बाद संसारमें शरणार्थियोंके दुबारा अपने देश लौटने तथा उनके पुनर्वास सम्बन्धी तात्कालिक और महत्त्व-पूर्ण समस्याओंको हल करनेके लिए की गई थी। यू० एन० आर० आर० ए० (U N R R. A.) ने इन

समस्याओंको स्थायी रूपसे न मानना, पर अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी-सगठन आनेवाले वर्षोंमें इस महान् शरणार्थी-समस्याको हल करनेके लिए चुनौती भरी स्थायी संस्था है। इसके प्रधान कर्त्तव्य निम्नलिखित है

शरणार्थियो और विस्थापित लोगोंको फिर उनके स्वदेश वापस लाना, उनका अभिज्ञान (Identification), पजीयन (Registration) और वर्गीकरण (Classification) करना, उनकी देख-भाल और सहायता, कानूनी और राजनैतिक रक्षा, तथा यातायातकी व्यवस्था करना, और जो देश उनका स्वागत करनेके लिए इच्छुक और समर्थ हो उनमें उनके पुनर्वास और उनकी पुनर्प्रतिष्ठाकी व्यवस्था करना। सयुक्त राष्ट्र-सघका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थीको यह स्पष्ट दिखायी देगा कि ऊपर बताये गये कार्य-कलापोके अतिरिक्त भी मानव-जातिके हित और कल्याणका शायद ही कोई ऐसा कार्य हो जिसके सपादनमे सयुक्त राष्ट्र-सघ किसी न किसी रूपमें व्यस्त न हो। सयुक्त राष्ट्र-सघके कार्य-कलापोका सूक्ष्म अध्ययन ही पाठकके सम्मुख सघकी सफलताओ और उनकी अपूर्णताओंका सही-सही चित्र उपस्थित कर सकता है।

३ संयुक्त राष्ट्र-संघ और विश्व-सरकार
(The United Nations and World Government)

समय-समय पर लोग एक ऐसी विश्व-सरकारकी सभावनाका सपना देखते रहे है जो राष्ट्रीय राज्योको स्थानीय सरकारोके स्तर पर उतार लाए। ऐसे लोगोमें विश्व-विजेता और साम्राज्य-निर्माता भी रहे है पर जिन लोगोका यह दृष्टिकोण प्रजातत्रवादी है और राष्ट्रीय अधिकारो तथा राष्ट्रीय दाय या विरासतके प्रति जिन्हे कुछ सम्मान है वह लोग एक विश्व-सघका सपना देखते है। यदि नेपोलियन की चल पाती तो उसने १८ वी शताब्दीमें कमसे कम योरोप पर एक एकात्मक विश्व-सरकार स्थापित कर दी होती। हिटलर के भी विचार और कार्य इसी ओर अग्रसर हो रहे थे।

प्रजातत्रवादी दृष्टिकोणसे इस समस्या पर विचार करनेवालोमें १९ वी शताब्दीके एक अग्रेज कवि श्री अलफ्रेड टेनीसन का नाम लिया जा सकता है जिन्होने 'मानव-जातिकी एक ससद और एक विश्व-सघ' की कल्पना की थी। हमारे युगके एक दूसरे अग्रेज श्री एच० जी० वेल्स भी विश्वको एक इकाई मानकर सोचते और लिखते थे।

राजनैतिक साधनोसे ससारकी एकताके प्रति यह उत्कठा अपेक्षाकृत रूपसे नई है। द्वितीय विश्व-युद्धके पहले स्पेन के श्री मदारियागा ने विश्व-सघके सम्बन्धमें लिखा था। अन्य अनेक अमरीकियोकी भाति इस क्षेत्रके एक अमरीकी अग्रदूत श्री क्लेरेंस स्ट्रीट (Clarence Streit) ने, पश्चिमी प्रजातत्रवादी राज्योकी एक सघ-सयुक्ति (Federal union) का समर्थन करते हुए अमरीकी सघवादके इतिहासका सहारा लिया है।

युद्ध समाप्त होनेके बादसे विश्व-सरकारके सम्बन्धमें लोगोकी अभिरुचि बहुत बढ गयी है। सयुक्त राष्ट्र-सघके अधिकार-पत्रकी स्याही सूखने भी न पायी थी कि आलोचकोने यह दावा करना शुरू कर दिया कि सयुक्त राष्ट्र-सघ शान्ति और सुरक्षाकी अन्तिम समस्याओको हल करनेमें विशेषकर निषेधाधिकारकी व्यवस्था होनेके कारण व्यर्थ है। राष्ट्रीय प्रभुसत्ताके सिद्धान्तको बार-बार शान्तिके लिए घातक बताया जाता

है और यह तर्क किया जाता है कि जब तक इसका नियत्रण नही कर लिया जाता तब तव किसी प्रकारकी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था असम्भव है। यह एक ध्यान देनेकी वात है वि किसी न किसी प्रकारकी विश्व-सरकारके प्रति जो उत्साह है उसका कमसे कम एक अश उस निराशाकी भावनासे उत्पन्न हुआ है जिसका कारण सयुक्त राष्ट्र-सघकी कार्य वाहियोमें रूसका निषेध-मूलक या ऋणात्मक और उत्तेजक रवैया रहा है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि विश्व-सरकारके प्रति जो धार्मिक उत्साह दिखायी देता है वह कभी-कभी अपने भीतर रूस-विरोधी भावनाको छिपाए रखता है।

एक विश्व-सरकारके सफल कार्यान्वयके लिए यह आवश्यक है कि विश्व-समाजकी एक प्रवुद्ध चेतना और भावना हो। इसका यह अर्थ नही है कि पहले एक परिपूर्ण समाजकी स्थापना हो जाय तभी एक विश्व-सरकार सतोषजनक ढगसे कार्य कर सकती है। दोन एक दूसरेकी सहायता करेंगे ही। पर एक विश्व समाजकी स्थापनाकी दिशामें पहले कुछ प्रारम्भिक कदम उठाये जाने चाहिए तभी शकाशील राष्ट्र और व्यक्ति एक विश्व-सरका के हाथोमें अपना भविष्य सौंपनेके लिए तैयार होगे। आजके ससारमें एक विश्व-समाज की कोई प्रवुद्ध चेतना नही है। ससारके प्रभावपूर्ण राष्ट्रोमें उपनिवेशवाद और साम्राज्य वादी शोषण तथा जातीय विभेदको दूर करनेका कोई सकल्प नही दिखायी देता। मानव अधिकारो तथा व्यक्तिके गौरवके प्रति सम्मानकी भावना अधिकाश रूपमें अभी तक स्वप्न ही वनी हुई है। पिछड़े हुए राष्ट्रोकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रगतिमें सहायत देनेकी इच्छा भी अधिक गम्भीर नही है। जहा कही ऐसी इच्छा दिखाई भी देती है वह वह वाह्य राजनैतिक और सामाजिक विचारोंसे दूषित दिखायी देती है।

एक प्रसिद्ध अमेरिकन विचारक श्री रेनहोल्ड नेवर (Reinhold Neibuhr) का कहना है कि विश्व-सरकारके लिए विश्व-समाज अत्यन्त आवश्यक है। उनका यह कथन विल्कुल सही है कि एक विश्व-समाजकी स्थापना कानूनी, सविधानिक और सरकारी साधनो द्वारा आज्ञाके वल पर नही की जा सकती। उन्हीके शब्दोमें, 'समाज पर दवाव डालकर उसमें मौलिक व्यवस्था नही स्थापित की जा सकती, मौलिक व्यवस्था तो आतरिक ससक्ति (Innate Cohesions) से ही उत्पन्न हो सकती है। अभी तक ससारमें 'समष्टि भावना' नही दिखाई देती।

एक विश्व-समाजकी उत्कट भावनाके अभावमें विश्व-सरकार आसानीसे एव अत्याचार और दमनका अन्त्र वन जायेगी और यथास्थितिको कायम रखनेका प्रयत्न करेगी उसके वादकी स्थिति पहलेकी स्थितिसे और भी वुरी होगी। कुछ वैधानिक परिवर्तन मात्र हो जानेसे मानव-प्रकृतिमे एकाएक कोई आश्चर्यजनक परिवर्तन नही हो जाता। यह आशा नहीं की जा सकती कि जो लोग विश्व-सरकारका सचालन करेंगे वह उन लोगोंसे वहुत अधिक अच्छे होगे जो आज सयुक्त राष्ट्र-सघका अथवा सयुक्त राष्ट्रोका सचालन कर रहे हैं। अपने व्यक्तिगत, वर्गगत, जातीय, राष्ट्रीय अथवा सैद्धान्तिक स्वार्थोकी सिद्धिके लिए एक विश्व-सरकारके सगठनके भीतर भी अपनी सुसम्वद्ध समितिया स्थापित कर लेना उनके लिए वहुत सम्भव होगा। 'जैसा हमारा ससार है और जो साधन हमें प्राप्त हैं उन्ही मे हमें काम करना होगा।'

एक विश्व सघमें मत-दान स्पष्टत जनसख्याके आधार पर नही होगा। यदि जन सख्याको मानदड माना जाय तो सयुक्त राष्ट्र अमेरिका को केवल ६ प्रतिशत ही वोट

मिलेंगे। यदि आर्थिक उत्पादनशीलताको आधार माना जाय तो ससार २० प्रतिशत से भी कम जन-समाजको ७५ से ८० प्रतिशत तक वोट मिल जायेंगे और तव शेष ससार को वह एक साम्राज्यवादी षड्यन्त्र मालूम हो सकता है। साक्षरता, राजनैतिक परिपक्वता और आर्थिक विकासके पक्षमें कुछ भारीकृत या अधिक प्रतिनिधित्व (Weighted representations) उचित मालूम होता है। पर एक विश्व-समाजकी भावनाके अभावमें इस प्रकारके विचारोंको एक परदा वनाकर उसके पीछे स्वार्थपरताको छिपाया जा सकता है। एक विश्व-समाजकी उत्कट भावनाके अभावमें एक विश्व-पुलिस-दल (World Police Force) अत्याचारी सिद्ध हो सकता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रजातन्त्रके कन्धों पर चढकर शक्ति पानेके वाद हिटलर ने प्रजातन्त्रका विनाश किया था। 'दूसरे भावी अत्याचारी अथवा असीमित अहकार तथा महत्त्वाकाक्षा वाले व्यक्ति ऊपरसे दिखावेके तौरपर प्रजातान्त्रिक पद्धतियोंसे काम करते हुए भी एक विश्व-सरकारके साथ वही कर सकते है जो हिटलर ने प्रजातन्त्रके साथ किया था।

विश्व-सरकारके समर्थक वडी सरलतासे यह कल्पना कर लेते है कि यदि रूस और उसके अनुवर्ती राज्य वाहर ही रहे तो भी शेष ससार उनके साथ आ जायेगा। पर आज भी यह स्पष्ट दिखाई देता है कि रूसी और आग्ल-अमेरिकी गुटोंके अलावा ऐसी शक्तियो का एक तीसरा गुट भी वन रहा है जिन्हे तटस्थ तथा सकोचशील और कभी-कभी अवसर-वादी भी कहा जा सकता है। पूर्वी देशोंमें अनेक लोग इस वातको समझने और माननेमें असमर्थ है कि समस्त नैतिक और राजनैतिक सद्‌गुण वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विवादके एक पक्षमें और सभी दुर्गुण दूसरे पक्षमें है। पूर्वके कुछ राष्ट्र, जिन्हे साम्राज्यवादी शृखलासे अभी हाल ही में मुक्ति मिल पाई है, फिरसे अपने आपको उस शृखलामें वधानेके लिए वहुत उत्सुक नही है। रूस के विना एक विश्व-सरकारको उसकी आधी भी सफलता नही मिल सकती जितनी सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विना राष्ट्र-सघको मिली थी। रूस और तटस्थ राज्योंके विना एक विश्व-राज्य आखिरकार एक भारी-भरकम असफलता ही सिद्ध होगी।

सयुक्त राष्ट्र-सघके आलोचकोंने उसे इस वातका पर्याप्त अवसर ही नही दिया कि वह अपना पक्ष सिद्ध कर सके। पौधेको वार-वार उखाडकर यह देखना कि उसकी जड़ें कितनी जमी उसको पनपने देनेका वहुत अच्छा उपाय नही है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार १६० वर्षोंसे अधिक पुरानी है फिर भी वहाकी अनुषद (Senates) ने १९४९ ई० में नागरिक अधिकार-योजना (Civil Rights Programme) के सम्वन्धमें अनावश्यक वाधा डाली है। जव ऐसी स्थिति है तव जो काम सयुक्त राष्ट्र अमेरिका १६७ वर्षोंमें नही कर सका उसे सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा पाच वर्षोंमें पूरा किए जानेकी आशा कोई क्यो करे?

सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा विश्व-सरकार
(World Government via the United Nations)

इसी शीर्षकमें लिखते हुए श्री क्लार्क एम० ईचेलवर्गर (Clark M. Eichelberger)[1]

---

[1] *The Annals of the American Academy of Social and Political Sciences*, July, 1949.

कहते है किसी न किसी हद तक विश्व-सरकारकी आवश्यकता पर सभी लोग स
है। अन्तर समय, स्वरूप और मात्राके सम्बन्धमें है। सयुक्त राष्ट्र-सघने राज
सुरक्षा, आर्थिक विकास और मानव-अधिकारोकी प्रत्याभूति (Guarantee) वे
दिशामें पहलेसे ही कदम बढाये है। इसलिए श्री ईचेलबर्गर की सम्मतिमें, सयुक्त र
सघ अधिकार-पत्र पर पुर्नविचार करनेका यह उचित समय नही है। उनके कुछ
निम्नलिखित है

(१) एक अच्छी सरकारके लिए आवश्यक है कि वह स्वार्थो और विचारोवे
सामाजिक समन्वय पर आधारित हो। सयुक्त राष्ट्र-सघमे आज हमें एक बढती
विचारोकी एकता दिखायी देती है। यही विश्व-सरकारका प्रारम्भ है। अधिकसे अ
सख्यामें एशियाई लोग सयुक्त राष्ट्र-सघकी परिषदोमें आ रहे है और एक विश्व-स
की स्थापनामें इससे व्यावहारिक सीख मिल रही है। उनका (ईचेलबर्गर का) विश्वास
ऐसे सम्बन्धोसे, जिनके परिणाम-स्वरूप पारस्परिक भरोसा और विश्वास उत्पन्न हो
सयुक्त राष्ट्र-सघ क्रमश एक विश्व-सरकारके रूपमें विकसित हो सकता है। उन्हीके
में 'विश्व-सरकारका उद्देश्य हो चुका और सयुक्त राष्ट्र-सघके माध्यमसे उसका वि
होता ही रहेगा क्योकि लोग उसे विकसित करनेके लिए उत्सुक है।'

(२) सयुक्त राष्ट्र-सघका अधिकार-पत्र लचीला है और उसमें विकासके
पूरा अवसर है। वह एक विकासशील प्रालेख है और इसलिए यह सम्भव है कि उसकी
धाराओ पर पर्याप्त भावी रचना की जाय जैसा कि सर्वोच्च न्यायालयके निर्णयोके स
में किया जाता है। सैन फ्रासिस्को सम्मेलनके समय शायद ही कोई व्यक्ति अणुशक्तिक
जानता रहा हो फिर भी जब वह शक्ति एक तथ्य बन गई तब उसके नियत्रणक
व्यवस्था की गई यद्यपि रूस ने उसे स्वीकार नही किया है। इसी प्रकार श्री बन
(Bernadotte) की दुर्भाग्य-पूर्ण हत्याके बाद सयुक्त राष्ट्र-सघके महामत्रीक
अधिकार दिया गया कि वह सयुक्त राष्ट्र-सघका एक रक्षक दल रखें जो राष्ट्र-स
वर्दी पहने और उसके झडेका अनुगमन करे। यदि राष्ट्र-सघका कोई घटक या प्रति
किसी देशकी सीमाके भीतर उसकी असावधानीसे या उसकी गुप्त सहमतिसे मारा
है या घायल होता है तो राष्ट्र-सघ उस पर क्षति-पूर्तिका दावा कर सकता है।
राष्ट्र-सघ एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-दल स्थापित कर सकता है। आम
अभिस्तावो (Recommendations) को निरन्तर अधिकसे अधिक अधिकार
दी जा रही है और उसके प्रस्तावोको बराबर अधिक अधिकार-सत्ता प्राप्त होती ज
है। विवादो और सघर्षोमें मध्यस्थता तथा समझौता करानेके लिए अधिकसे अधिक
सघीय नियोग (U. N Missions) स्थापित किए जा रहे है। इन सब बातो
श्री ईचेलबर्गर के साथ विश्वास करना होता है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालि
साधनोकी अपेक्षा प्रशासकीय शासनके माध्यमसे विश्व-सरकारकी स्थापना हो सकत

कोरियाई युद्धके बाद सयुक्त राष्ट्र-सघकी निरन्तर बढती हुई नैतिक अधिकार
का कुछ पतन हो रहा है। यद्यपि यह तर्क किया जा सकता है कि सुरक्षा-परिषद
२७ जून १९५० को उत्तरी कोरियाके सम्बन्धमें की जाने वाली तात्कालिक कार्य
सयुक्त राष्ट्र-सघकी रक्षा की है फिर भी यह एक खेद-जनक बात है कि जो शान्ति
कार्य सयुक्त राष्ट्र-सघके अधिकार-पत्रके अनुसार सघका प्रधान उद्देश्य था